हम

और

हमारा स्वास्थ्य

लोकोपयोगी विज्ञान

हम और हमारा स्वास्थ्य

संपादन :

डा. वी. एन. भावे, एम.बी.बी.एस.

डा. एन. एस. देवधर, एम.एस., डी.पी.एच., डी.एच.वाई.

डा. एस. वी. भावे, एफ.आर.सी.एस.

प्रस्तावना :

डा. आर. वी. साठे, एम.डी., एफ.आर.सी.पी.

अनुवादक :

डा. आर. प्रसाद, एम.बी.बी.एस., एम.आर.सी.पी., डी.पी.एम.
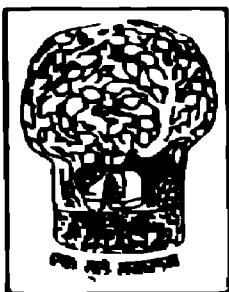
नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

प्रस्तावना

"हम और हमारा स्वास्थ्य" नामक पुस्तक की प्रस्तावना लिखने का श्रीगणेश करते हुए मुझे संस्कृत की उस सुप्रसिद्ध उक्ति का स्मरण हो रहा है कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्', जिसका अर्थ है जीवन में अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए उत्तम स्वास्थ्य की प्राथमिक रूप से महत्वपूर्ण आवश्यकता है। लैटिन की 'मेन्स साना इन कॉरपोरी सानो' नामक उक्ति का अर्थ भी यही है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क होता है और इस तरह यह उक्ति भी प्रत्येक व्यक्ति के सुचारु कार्य संचालन के लिए शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के महत्व पर जोर देती है। विश्व की दो प्राचीन भाषाओं की ये उक्तियां इसी बात का संकेत देती हैं कि प्राचीन समय से ही उन्नत समाज में वैयक्तिक रूप से अपनी प्रगति, अपने परिवार के प्रति, अपने कर्त्तव्यों तथा अपने समाज के प्रति दायित्वों को निभाने में मानव उत्तम स्वास्थ्य के महत्व का अनुभव करता चला आया है। ये कार्य यदि भली-भांति संपन्न होते हैं तो समाज उसकी क्षमताओं से अवश्य ही लाभ उठाता है। औद्योगिक क्षेत्र में उसकी दक्षता से उस संस्था की उत्पादकता में भी वृद्धि होती है और इसके परिणामस्वरूप समाज की समृद्धि और साथ ही साथ देश की संपदा में भी वृद्धि होती जाती है। प्रशासनिक सेवाओं, कानून और व्यवस्था बनाये रखने वाली पुलिस सेवाओं और रक्षा सेवाओं आदि को ऐसे व्यक्तियों की जरूरत होती है जो शारीरिक रूप से सक्षम और मानसिक रूप से भी चुस्त व चौकन्ने हों। इस प्रकार स्वास्थ्य साध्य नहीं बल्कि स्वयं अपने और अपने समाज के प्रति सभी महत्वपूर्ण लक्ष्यों की प्राप्ति के निमित्त एक साधन है।

मानव और उसका समाज निरंतर परिवर्तित होते रहते हैं। पिछली कुछ शताब्दियों में मानव ने विज्ञान में बहुत प्रगति की है, विशेषकर भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान और जीव विज्ञान के मूलभूत क्षेत्रों में। स्वाभाविक रूप से उसकी खोजें विज्ञान के पहलुओं की ओर ही उन्मुख रही हैं और इस कारण कई क्षेत्रों में उसने प्रकृति पर भी विजय पाई है और इंजिनों, कारों, रेलगाड़ियों, जहाजों, पनडुब्बियों, हवाई जहाजों, अंतरिक्ष यानों, दूरसंचार साधनों और ऐसे ही अन्य आविष्कारों से इस बात की पुष्टि हो जाती है। इन आविष्कारों के परिणामस्वरूप कई मशीनी औजारों की खोज से ही भारी औद्योगिक प्रगति हुई है और इसका परिणाम यह हुआ कि मानव का दृष्टिकोण बदलकर आध्यात्मिकता से भौतिकता की ओर अग्रसर हो गया। इसलिए अब वह अधिक विकसित शिल्पविज्ञानीय उपकरणों का संचालन करने वाले कार्मिकों की अधिक शारीरिक दक्षता और आवश्यकता के महत्व को अच्छी तरह समझता है। उद्योगों में अतिविकसित शिल्पविज्ञान के अर्थव्यवस्थित संचालन के लिए अधिक दक्षतापूर्ण कार्य के अधिक घंटों के महत्व को भी अब वह भली-भांति समझता है। इस तरह वैज्ञानिक व औद्योगिक विकास के स्पर्धा वाले पहलू भी दक्षता के महत्व की ओर संकेत करते हैं और दक्षता का दूसरा नाम है उत्तम स्वास्थ्य।

परिवहन और संचार सुविधाओं के कारण संसार के वर्ग, समाज और लोग परस्पर एक दूसरे के बहुत निकट हो गये हैं और इस तरह आर्थिक, सामाजिक और शैक्षिक विकास की दृष्टि से भविष्य में कोई भी वर्ग अब अलगाव की स्थिति में नहीं रह सकता। अविकसित समाज के लोगों को भी अब

विकसित क्षेत्रों के स्तर के निकट पहुंचना है। विकास की दृष्टि से पिछड़े क्षेत्रों की परिस्थितियों का प्रभाव विकसित क्षेत्रों पर भी पड़ता है। इस प्रकार आने-जाने के सरल, द्रुत साधनों और घनिष्ठ संपर्क के कारण ऐसे किसी क्षेत्र के संक्रमण और रोगों का दूसरे क्षेत्रों व देशों में पहुंच जाने की संभावनाएं अधिक हो जाती हैं। इसीलिए मलेरिया सरीखे रोगों के उन्मूलन के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर वाले उपाय जरूरी हैं। इसी तरह दुनिया के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में संचारणशील रोगों के फैलने पर रोक रखने के लिए आज जहाज या हवाई जहाज से यात्रा करने वालों के प्रति अंतर्राष्ट्रीय उपायों का अपनाया जाना आवश्यक है। इसीलिए अंतर्राष्ट्रीय यात्राओं पर जाने वाले लोगों के लिए विनियमों के आधार पर चेचक, हैजा और टायफायड के टीके जरूरी हैं। जो लोग पीत ज्वर (यलो फीवर) के स्थानिक क्षेत्रों में जाने वाले होते हैं उनके लिए प्रतिरक्षा उपाय जरूरी हैं। दुनिया के लोगों के स्वास्थ्य के प्रश्न को एक अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर लाना जरूरी है। संयुक्त राष्ट्र संगठन (यू. एन. ओ.) की एक शाखा संगठन, विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यू. एच. ओ.), इन पहलुओं में से कुछ पहलुओं का ध्यान रखता है और दुनिया के लोगों के स्वास्थ्य और स्वच्छता में सुधार लाने का कार्य करता चला आ रहा है। विश्व स्वास्थ्य संगठन की परिभाषा के अनुसार, "पूरी तरह से शारीरिक, मानसिक और सामाजिक कुशल क्षेम की स्थिति ही स्वास्थ्य है न कि केवल रोग या अशक्तता की अनुपस्थिति"।

यदि कोई समाज अपने स्वास्थ्य के स्तर में सुधार लाना चाहता है तो उसे इन कारकों और प्रवृत्तियों को अच्छी तरह से समझना होगा। स्वास्थ्य का अच्छा स्तर बनाए रखने वाले कार्यक्रमों की सफलता कई कारकों पर निर्भर करती है, जैसे दक्ष प्रशासनिक तंत्र, समुचित वित्तीय व्यवस्था, पर्याप्त चिकित्सीय, पराचिकित्सीय तथा तकनीकी कार्मिकों की सुविधा, तकनीकी ज्ञान व कौशल तथा आवश्यक उपकरण व यंत्र। इनके अतिरिक्त एक और आवश्यकता है और वह है जनता, जो सहयोग देने वाली और कार्यक्रमों को अमल में लाने वाली हो। अंततः जनता को ही इन प्रभावित उपायों में सक्रिय रूप से भाग लेना है और लक्ष्यों की पूर्ति में सहायता पहुंचानी है। यह सक्रिय सहयोग उन्हीं लोगों के द्वारा संभव है जो इन प्रस्तावित उपायों की वांछनीयता या आवश्यकता को अपने ही हक में मानकर चलते हैं। यही विवेक किसी भी प्रकार के स्वास्थ्य उपाय की सफलता की पहली शर्त है। इसके अभाव में कभी भी इच्छित परिणाम प्राप्त नहीं हो सकते। इस संदर्भ में भारत सरकार के परिवार नियोजन आंदोलन का उदाहरण दिया जा सकता है जहां समुचित प्रशासनिक तंत्र, वित्त की प्रचुर व्यवस्था तथा कार्मिक और उपकरण की बहुत अच्छी सुविधा है लेकिन फिर भी जन्म दर में उल्लेखनीय गिरावट नहीं आयी। इस समस्या के स्वरूप का उचित ज्ञान अभी भी गांव के औसत नागरिक को नहीं हो पाया है और यहां तक कि शहरी क्षेत्र के नागरिक को भी नहीं; और इस प्रकार अभी तक असफलता वाले परिणाम ही सामने आते रहे हैं। यह ज्ञान या विवेक लोगों को उचित प्रकार की शिक्षा के माध्यम से ही आ सकता है।

जाहिर है कि ऐसा कई तरीकों से किया जा सकता है। इसका एक उपाय यह है कि स्कूलों, कालेजों और अन्य संस्थाओं में शिक्षा के विविध पहलुओं वाली पाठ्य पुस्तकों के माध्यम से समुचित जानकारी दी जाय। विभिन्न अवसरों पर जनता के विभिन्न समूहों के अनुकूल भाषणों का आयोजन भी किया जा सकता है। रेडियो और उपयुक्त फिल्में इसमें अपनी भूमिका अदा कर सकती हैं। प्रेस व समाचार-

पत्र भी बहुमूल्य सेवा कर सकते हैं। इन समस्याओं पर निष्ठा से चिंतनमनन करने वाले बौद्धिक वर्गों द्वारा अध्ययन दलों, संगोष्ठियों और सम्मेलनों की व्यवस्था की जा सकती है। लेकिन ये सब अपनी भूमिका कुछ विशेष स्थानों और अवसरों पर ही निभाएंगे। यद्यपि इसमें कोई संदेह नहीं है कि इनसे भारी लाभ पहुंचेगा तो भी इस शैक्षिक भूमिका में उपयुक्त पुस्तकों के महत्व को भी आंका जाना चाहिए। यदि अच्छी पुस्तकें उपलब्ध हैं तो अपने खाली समय में लोगों द्वारा इच्छानुसार इनका लाभ उठाया जाना चाहिए। साथ ही आवश्यकता पड़ने पर पुस्तकें पढ़ने के लिए उपलब्ध होनी चाहिए। इस प्रकार ऐसी पुस्तकों से प्राप्त ज्ञान का उपयोग स्वाध्याय, चिंतनमनन और उसे आत्मसात् करने से किया जा सकेगा। अंग्रेज कवि रॉबर्ट साउथे ने एक दूसरे ही प्रसंग में पुस्तकों और उनके लेखकों के बारे में कहा है :

"मेरे सबसे अच्छे दोस्त वे हैं
जिनके साथ मैं रोज बातें करता हूं।"

अतः ऐसी पुस्तकों के माध्यम से लेखकों और पाठकों के बीच निरंतर कथोपकथन की संभावना रहती है और ये शिक्षा के बहुत प्रभावशाली साधन हैं और इनकी निरंतर उपलब्धि कराई जाती रहनी चाहिए।

"हम और हमारा स्वास्थ्य" भी एक ऐसी ही पुस्तक है जो मूल रूप से आम जनता के लिए ही लिखी गई है और जिसमें उसके लिए महत्वपूर्ण और लाभकारी ज्ञान संपदा है। स्वास्थ्य और रोग की सामान्य संकल्पना से पुस्तक का शुभारंभ करते हुए उसमें शरीर की संरचना व कार्यों, रोग की प्रकृति, रोग के कारणों, सूक्ष्मजीवों व परजीवियों द्वारा होने वाले संक्रमणों व रोगों, पोषण की भूमिका, शैशवावस्था, किशोरावस्था और वृद्धावस्था की समस्याओं में वय की भूमिका आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। पुस्तक में स्वास्थ्य के सामाजिक पहलू को भी स्थान दिया गया है और परिवार नियोजन तथा सामुदायिक स्वास्थ्य सेवाओं सरीखे सरकारी कार्यक्रमों पर भी अच्छी जानकारी दी गई है। विभिन्न विषयों पर जो जानकारी दी गई है वह अपने क्षेत्रों के विशेषज्ञ लेखकों के अद्यतन ज्ञान, अनुभव व खोजों पर आधारित है। इनमें से कई लेखक तो अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के विशेषज्ञ हैं। दुरूह विषयों वाली यह पुस्तक सचमुच ही आम लोगों के अनुकूल लोकोपयोगी शैली व सरल भाषा में लिखी गई है। संपादकों ने भी विषय को इस तरह पिरोया है कि संपूर्ण पुस्तक में तारतम्य बना रहता है।

यद्यपि पुस्तक आम लोगों के दृष्टिकोण से लिखी गई है, तो भी इसमें डाक्टरों, परिचारिकाओं तथा स्वास्थ्य के क्षेत्र के अन्य कार्यकर्त्ताओं के लिए भी काफी उपयोगी सामग्री दी गई है। संचारणशील रोगों के प्रति अपनाए गए प्रतिरक्षीकरण-कार्यक्रमों, विभिन्न खाद्य पदार्थों के विटामिन अंश, भारतीयों के आहार में विभिन्न खाद्य पदार्थों का विधान, भारतीयों के रक्तदाब, भारतीय पुरुषों व स्त्रियों के अपेक्षित औसत वज़न आदि अनेक विषयों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

"हम और हमारा स्वास्थ्य" नामक इस महत्वपूर्ण पुस्तक के निर्माण के लिए लेखक बधाई के पात्र हैं, क्योंकि यह पुस्तक आम जनता को शिक्षित करने में उपयोगी भूमिका निभाएगी। ऐसी उपयोगी पुस्तक का भारत की अनेक भाषाओं में अनुवाद किया जाना चाहिए ताकि भारी संख्या में लोगों को भली-भांति शिक्षित किया जा सके। यह पुस्तक सचमुच इतनी उपयोगी है कि इसकी एक प्रति हर घर में रहनी चाहिए।

—आर. वी. साठे

विषय-सूची

• • •

सारणियों की सूची

(सारणी में पहला अंक-अध्याय का द्योतक है)

• • •

1

—डा० एन० एस० देवधर

स्वास्थ्य और रोग की संकल्पना

स्वास्थ्य मनुष्य के मूलभूत अधिकारों में से एक है। इस सिद्धांत का समर्थन संयुक्त राष्ट्र संघ और विश्व स्वास्थ्य संगठन जैसे अंतर्राष्ट्रीय संगठनों ने भी किया है।

दुर्भाग्यवश स्वास्थ्य कोई ऐसी चीज नहीं है जो दी जाय या बांटी जाय, इसे तो तमाम कोशिशों से हासिल किया जाता है और जीता जाता है। स्वास्थ्य को सुरक्षित रखने और अच्छा बनाने के तरीके तथा रोग के निवारण और नियंत्रण के उपाय जानने के लिये स्वास्थ्य और रोग के मूलभूत तत्वों की जानकारी रखना जरूरी है। यह जानकारी होने से ही मनुष्य अपना स्वास्थ्य बनाने के लिये आवश्यक उपाय और देखभाल कर सकता है। यह पुस्तक विभिन्न विषयों के प्रतिष्ठित अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखी गई है। इसका मुख्य उद्देश्य हमारे सभी पाठकों को रोग से बचने, स्वास्थ्य बनाने और खुशहाल और समर्थ समाज में जीवन बिताने के योग्य बनने में अधिक से अधिक सहायता देना है।

स्वास्थ्य (Health):

स्वास्थ्य की जो परिभाषा की गई है उसके अनुसार स्वास्थ्य, रोग अथवा शिथिलता की अनुपस्थिति मात्र नहीं है, बल्कि शारीरिक, मानसिक व सामाजिक सभी दृष्टियों से पूरी तरह ठीक रहने को ही स्वास्थ्य कहते हैं। यह स्वास्थ्य की बहुत व्यापक संकल्पना है जिसका तात्पर्य है मनुष्य के भीतरी वातावरण और बाहरी वातावरण के बीच, जिसमें भौतिक, रासायनिक और जैविक पर्यावरण शामिल हैं, पूर्ण संगति होना। मनुष्य के आंतरिक वातावरण की जानकारी के लिये कुछ विज्ञान, जैसे कि शरीर-रचना विज्ञान,

* * * *

डा. एन. एस. देवधर, एम. एस., डी. पी. एच., डी. एच. वाई., प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, निरोधक तथा सामाजिक आयुर्विज्ञान विभाग, बी. जे. मेडिकल कालेज तथा ससून जनरल हास्पिटल, पूना। सदस्य, संपादक मंडल, 'हम और हमारा स्वास्थ्य'।

शरीर-क्रिया विज्ञान, विकृतिविज्ञान, आयुर्विज्ञान इत्यादि महत्वपूर्ण हैं। अन्य विज्ञान, जैसे कि मानव-पारिस्थितिकी, स्वच्छता, समाज विज्ञान, जैविकी, खगोलविद्या इत्यादि वह पूरक जानकारी देते हैं जिससे मनुष्य का प्रकृति के एक अंग के रूप में संपूर्ण चित्र हमारे सामने उभरता है।

चूंकि मनुष्य प्रकृति का अभिन्न अंग है अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि वह जिस वातावरण में रहता है उसका उस पर गहरा प्रभाव पड़ता है, यद्यपि विश्व पर प्रभुता प्राप्त करने की दिशा में उसने अनेक उपलब्धियां प्राप्त की हैं। मनुष्य समेत सभी जीव अपने अस्तित्व के लिये कड़े संघर्ष में लगे हुये हैं। यही कारण है कि मनुष्य के आंतरिक वातावरण पर लगातार प्रकृति के बाह्य वातावरण का असर पड़ता रहता है। हानिकारक तत्वों और बाह्य वातावरण से मनुष्य किस तरह संबंधित है यह चित्र 1.2 में दर्शाये गये त्रिकोण से समझा जा सकता है।

अस्तित्व के इस संघर्ष में जब मनुष्य वातावरण के साथ पूरी तरह सही संतुलन में होता है और हानिकारक तत्वों, जैसे रोगजनक सूक्ष्म जीवों, कीड़ों-मकोड़ों, भौतिक तथा रासायनिक पदार्थों इत्यादि को जीत लेता है तो उसे स्वस्थ कहा जाता है। उस समय उसके शरीर और मस्तिष्क की क्रिया सामान्य होती है और वह अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक कर्तव्यों को पूरा करने में क्षमतावान होता है।

स्वास्थ्य निरपेक्ष नहीं होता। किसी निश्चित समय में आप जितने स्वस्थ हैं, उससे अधिक

चित्र 1.2—मनुष्य, वातावरण और हानिकर पदार्थों का त्रिकोण-संबंध
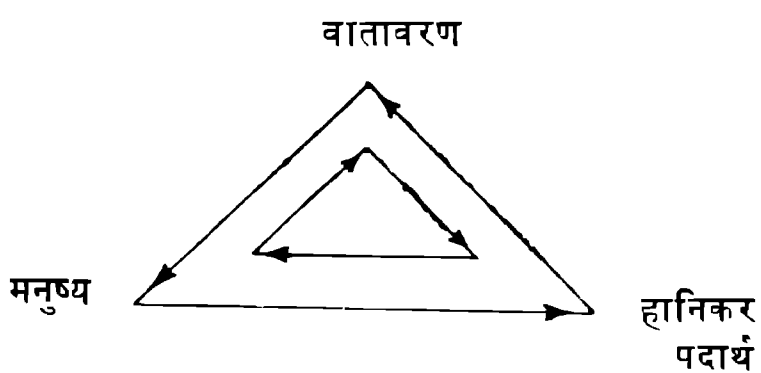
स्वस्थ आप बराबर हो सकते हैं। यह अच्छे स्वास्थ्य की संकल्पना है। किसी व्यक्ति का अच्छा स्वास्थ्य तब कहा जाएगा जब उसके शरीर के सारे अवयव शरीरक्रियात्मक रूप से सर्वोत्तम कार्य कर रहे हों और उसका संपूर्ण शरीर पूर्ण जैविक सामर्थ्य से युक्त और पूरे वातावरण से संतुलित हो। जब भी स्वास्थ्य बहुत अच्छा होता है, तब स्वास्थ्य के सामान्य नियमों की थोड़ी-बहुत उपेक्षा भी हो जाए तो जो स्वास्थ्य में अत्यंत स्थिर संतुलन स्थापित हो चुका है उसमें कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता। इसका कारण सामान्यतः हानिकर पदार्थों से प्रबल प्रतिरक्षा या अविशिष्ट रोगक्षमता (non-specific immunity) का विकसित हो जाना है।

स्वास्थ्य सिर्फ रोज-रोज दवा की एक गोली ले लेना या कुछ परहेज़ों या पाबंदियों पर अमल करने से ही नहीं बन जाता। स्वास्थ्य तो सिर्फ—वह क्या है और किन तत्वों पर निर्भर है इसकी जानकारी प्राप्त करने और उसे दृढ़ता से रोजमर्रा की जिंदगी में अमल में लाने से ही बनाया जा सकता है। आहार, स्वच्छता, व्यायाम, विश्राम, रोगों से रक्षा के उपाय इत्यादि की दृष्टि से शरीर की देखभाल, जो कि पूर्ण स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए जरूरी है, इस पुस्तक के निम्नलिखित परिच्छेदों में वर्णित है।

रोग :

एक बार स्वास्थ्य का अर्थ स्पष्ट हो जाने पर रोग को समझना बहुत आसान हो जाता है। यदि रोग की परिभाषा की जाए तो वह एक ऐसी दशा है जो जीवन को शक्ति, अवधि तथा आनंद इन सभी दृष्टियों से सीमित कर देती है। रोग स्वास्थ्य की दशा से स्खलन है। जब भी कोई व्यक्ति पारिस्थितिक अथवा प्राकृतिक संतुलन से च्युत होता है तो वह रोगी और दुखी हो जाता है। कई बार ऐसा होता है कि संतुलन की स्थिरता बहुत कम होती है और निदान करने

पूर्णस्वास्थ्य ⇒ स्वास्थ्य → ? → रोग → मृत्यु

चित्र 1.3—स्वास्थ्य और रोग का स्पेक्ट्रम

के साधन या उक्त परिवर्तन को लक्ष्य करने के जो साधन उपलब्ध होते हैं वे इतने अपर्याप्त होते हैं कि स्वास्थ्य में कमी को किसी रोग विशेष की संज्ञा दे पाना असंभव होता है। विशिष्ट रोगों का निदान आमतौर से तभी हो पाता है जब वे मनुष्य के आंतरिक वातावरण में ऐसे महत्वपूर्ण परिवर्तन उत्पन्न करते हैं जिनसे पीड़ा, ज्वर, दुर्बलता इत्यादि लक्षण प्रकट होते हैं। ऐसी दशा में स्वास्थ्य का स्खलन बहुत व्यापक होता है और रोग के कारण पड़ने वाले शारीरिक, मानसिक, आर्थिक तथा सामाजिक प्रभाव उस व्यक्ति और उसके परिवार पर अपनी गहरी छाप छोड़ जाते हैं। जो भी हो, यह एक दिलचस्प तथ्य है कि बहुत से मामलों में रोग के द्वारा उत्पन्न परिवर्तन लक्षण प्रकट करने के योग्य प्रभावपूर्ण नहीं होते। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि इस प्रकार लक्षणहीन (subclinical) अथवा अनिस्वल्प रोग का सरलता से निदान नहीं हो पाता। आयुर्विज्ञान (medical sciences) और विशेष रूप से निरोधक आयुर्विज्ञान (preventive medicine) के क्षेत्र में आधुनिक प्रगतियों के फलस्वरूप किसी प्रकार का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ने के बहुत पहले ही स्वास्थ्य से स्खलन के रूप में अधिकाधिक रोगों का निदान किया जा सकता है।

स्वास्थ्य और रोग :

यह बात आसानी से समझ में आ सकती है कि किसी मजबूत और टिकाऊ इमारत के ढहने के पूर्व या तो उसके ढांचे का काफी कमजोर हो जाना जरूरी है या फिर उस पर गहरा आघात, जैसे कि बम के विस्फोट का आघात लगना जरूरी है। जो बात इमारत पर सही उतरती है, वही स्वास्थ्य पर भी सही उतरती है। एक कमजोर इमारत चाहे खड़ी हो मगर सुरक्षित नहीं है। यह कोई जरूरी नहीं कि कोई व्यक्ति जो प्रकट रूप से रोगी नहीं है, स्वस्थ ही हो।

स्वास्थ्य और रोग के बीच कोई सटीक विभाजक रेखा नहीं है, बल्कि वे एक दूसरे से ऐसे अप्रत्यक्ष रूप से मिश्रित होते हैं, जैसे प्रकाश के स्पेक्ट्रम के रंग। मानव-जीवन का स्पेक्ट्रम चित्र 1.3 के रूप में दर्शाया जा सकता है।

अतः आमतौर पर यह जानना कठिन होता है कि कब स्वास्थ्य की अवस्था समाप्त होती है और रोग की अवस्था प्रारंभ होती है। ज्यादातर, खासतौर से चिरकारी रोगों में, शुरू-शुरू में किसी भी परिवर्तन का पता नहीं चल पाता जिससे उसकी रोकथाम करना संभव नहीं होता। इस स्पेक्ट्रम का अंतिम प्रतिकूल छोर मृत्यु है, जो स्पष्ट है। किंतु इसका दूसरा छोर जो कि पूर्ण स्वास्थ्य का है, इतना सुनिश्चित नहीं होता। जीवन जीने के लिए होता है। स्वास्थ्य के बिना जीवन न सिर्फ बहुत हद तक अपनी उपयोगिता से, वरन् अपने सुख और आनंद से भी वंचित रह जाता है। यह पुस्तक स्वास्थ्य की समस्याओं में रुचि उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करेगी और हमारे पाठकों के स्वास्थ्य के सपने को साकार करने में सहायता देगी। प्रकृति की चुनौती को स्वीकार करके हमें उत्तरोत्तर अधिक स्वस्थ बनकर विजय प्राप्त करनी होगी।

• • •

2

—डा० एस० वी० भावे

आधुनिक आयुर्विज्ञान के आधार

आधुनिक आयुर्विज्ञान के समस्त सिद्धांत को संक्षेप में एक शब्द में कहा जा सकता है और वह शब्द है : "यौक्तिकीकरण" (rationalisation)। यह विश्वास कि आयुर्विज्ञान अभी भी मुख्यतः एक 'कला' है, काफी प्रचलित है। पिछली तीन पीढ़ियों में आयुर्विज्ञान का एक प्रायोगिक विज्ञान के रूप में निखरने का कारण रहा है भौतिकी, रसायन, जीव-विज्ञान, शरीर रचना विज्ञान, शरीर क्रिया विज्ञान, भेषजगुण विज्ञान, विकृति-विज्ञान और सामाजिक विज्ञान का समाकलन। इस तरह से रूपांतरित आयुर्विज्ञान ने मानव मात्र का जितना कल्याण किया है, उतना पिछली सारी शताब्दियों में भी 'कला' नहीं कर पाई है। आधुनिक आयुर्विज्ञान की सारभूत वैज्ञानिक प्रकृति को अस्वीकार करना इस विज्ञान की प्रगति को क्षति पहुंचाना है जो कि आयुर्विज्ञान के इतिहास में कई बार हो चुका है।

विगत इतिहास :

पिछली अनेक शताब्दियों का इतिहास उसका साक्षी है कि आयुर्विज्ञान की यात्रा सदैव प्रगति की दिशा में ही नहीं रही है। जहां एक ओर कठोर परिश्रम से मालूम किए गए तथ्यों, प्राणरक्षक अवयवों तथा परिणामों एवं सत्य तथा अर्धसत्य तथ्यों से ग्रंथ के ग्रंथ भरे पड़े हैं वहीं दूसरी ओर असफलताएं, अंधविश्वास तथा भ्रांत धारणाएं भी कम नहीं हैं। यद्यपि चिकित्सा-विज्ञान की दिशा कुल मिलाकर प्रगति की ओर रही है फिर भी इसकी उन्नति अनेक अवसरों पर बाधित ही नहीं हुई वरन् पिछड़ भी गई। कठोर परिश्रम और श्रेष्ठ कृतियों की रचना से महान् व्यक्तियों ने इस विज्ञान की उन्नति में योग दिया है। उनकी प्रखर प्रतिभा तथा श्रेष्ठता ने लोगों को इतना प्रभावित किया कि किसी नई दिशा में चिंतन को भी पाप समझा गया। वस्तुतः अपनी मान्यताओं पर पुनर्विचार

* * * *

डा. एस. वी. भावे, एम. बी., बी. एस., डी आर्थो, एफ. आर. सी. एस. (लंदन) तथा (एडिन.), अवै. सहायक सर्जन, ससून जनरल हास्पिटल तथा बी. जे. मेडिकल कालेज, पूना। सदस्य, संपादक मंडल, 'हम और हमारा स्वास्थ्य'।

करने और गलत होने पर उन्हें त्याग देने के लिए काफी साहस की आवश्यकता होती है।

वर्तमान :

आज का चिकित्सक उन लक्षणों से रोगी को मुक्ति दिलाकर ही संतुष्ट नहीं हो जाता जो उसे परेशान कर रहे हैं, बल्कि वह उसके मूल कारण के विषय में जानना चाहता है। वह यह देखना चाहता है कि क्या वह उन लक्षणों को प्रायोगिक रूप से किसी अन्य व्यक्ति में उत्पन्न करके और चिकित्सा द्वारा अच्छा कर सकता है। दूसरे शब्दों में एक आधुनिक चिकित्सक किसी भी अन्य विज्ञान के समान आयुर्विज्ञान को भी वर्गीकृत करना चाहता है। सिद्धांत वही है जो एक बिजली का इंजीनियर एक रेडियो की त्रुटि के परीक्षण में प्रयुक्त करता है। यदि कोई व्यक्ति एक त्रुटिपूर्ण रेडियो लेकर किसी मरम्मत की दुकान पर जाय और मरम्मत करने वाला सिर्फ रेडियो के बाहरी केस पर जोर से मुक्का मार दे और उसी से रेडियो ठीक हो जाए और यह न पता चले कि असल में नुक्स क्या था तो एक वैज्ञानिक व्यक्ति उससे संतुष्ट नहीं होगा और न ही उसे भविष्य के मार्ग दर्शन के लिए जानकारी मिलेगी। लेकिन अगर उस आघात से त्रुटि को दूर करने के बाद मरम्मत करने वाला रेडियो को खोल भी डाले और उसकी जांच करे और तरह-तरह के प्रयोग करके उस त्रुटि को फिर से उत्पन्न करके इस प्रकार ठीक कर दे कि वह त्रुटि फिर से न उत्पन्न हो तो उसका वैज्ञानिक मस्तिष्क उससे संतुष्ट हो जाता है और भविष्य में मार्ग दर्शन के लिए उसे जानकारी मिलती है। वस्तुतः ऐसा करने के बाद उसे ठीक-ठीक मालूम हो जाता है कि उस त्रुटि को उत्पन्न करने वाली क्या चीज थी और भविष्य में इस प्रकार की त्रुटियां उत्पन्न होने पर उसे किन विशिष्ट उपायों से काम लेना होगा। दूसरे शब्दों में उसे त्रुटि उत्पन्न करने के कारण और उपचार के विषय में दृष्टि प्राप्त हो जाती है। रोगों के प्रति आधुनिक आयुर्विज्ञान का यही दृष्टिकोण होता है।

आयुर्विज्ञान का विकास :

अनुप्रयुक्त आयुर्विज्ञान से निकट संबद्ध जो आधारभूत विज्ञान हैं उनसे उसे अलग नहीं किया जा सकता। जान हंटर, बसी, क्लाड बर्नार्ड, विर्को, मेंडेल, पास्च्योर, लिस्टर जैसे अग्रणी विद्वानों ने आधारभूत विज्ञानों के सैद्धांतिक ज्ञान की वृद्धि में जो योगदान किया है वह अद्वितीय है। आज का चिकित्सक उन्हीं के कार्यों के परिणामों से लाभान्वित हो रहा है।

किसी भी रोग से मुक्ति पाने का युक्तियुक्त उपाय स्वस्थ शरीर की बनावट और कार्यप्रणाली को समझ कर ही अपनाया जा सकता है। यह बात पंद्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में जाकर ही लोगों की समझ में आई। सबसे पहले शरीररचना-विज्ञान (anatomy—शरीर की सामान्य संरचना का विज्ञान) का तेजी से विकास हुआ क्योंकि वह आयुर्विज्ञानों में सबसे सरल और सुगमता से समझ में आने वाला है। कुछ पीढ़ियों के अंदर ही वैसेलियस, फैलोपियस, फैब्रीसियस, और उनके शिष्यों ने तथा अन्य समकालीन आयुर्विज्ञानिकों ने मानव शरीर की संरचनाओं का वह सारा विवरण उपस्थित कर दिया जिसका चीर-फाड़ के द्वारा तथा आंखों से देखकर अध्ययन किया जा सकता था। विभिन्न अवयवों की क्रियाओं ने एक ऐसी समस्या को जन्म दिया जो अपेक्षाकृत अधिक जटिलताओं से भरी थी और जिसके कारण शरीर क्रिया विज्ञान (शरीर की सामान्य क्रियाओं का विज्ञान—physiology) का उतनी शीघ्रता से विकास नहीं हो सका। साथ ही शरीर-क्रिया विज्ञान की प्रगति भौतिकी तथा रसायन जैसे अन्य विज्ञानों के विकास पर निर्भर थी जब कि यह दोनों विज्ञान स्वयं ही शैशवावस्था में थे किंतु अब ये संबद्ध विज्ञान विकसित हो गए हैं, जिसके परिणामस्वरूप शरीर क्रिया विज्ञान अब

ऐसी अवस्था में पहुंच गया है कि अब वह स्वस्थ अंगों की कार्यप्रणाली का युक्तियुक्त विवरण प्रस्तुत करने में समर्थ है।

विकृति विज्ञान (रोगों का विज्ञान—pathology) तीसरा आधारभूत विज्ञान है। यह मानव के अंगों में होने वाले संरचनात्मक तथा क्रियात्मक परिवर्तन और साथ ही उन परिवर्तनों के हेतुक कारकों का अध्ययन करता है। विकृतिविज्ञान और सूक्ष्मजीव विज्ञान के विकास में अनेक वैज्ञानिकों का योगदान रहा है। विकृति विज्ञान का विकास अंगों के रोगों के स्तर से लेकर उन्हें निर्मित करने वाले ऊतकों एवं कोशिकाओं के सूक्ष्मदर्शीय स्तर तक पहुंच गया है। वस्तुतः रोग के प्रकट चिह्न और लक्षण उन परिवर्तनों की अभिव्यक्ति मात्र माने जाते हैं जो कोशिकीय स्तर पर होते हैं। (कोशिका शरीर की एक जीवित इकाई है जो अपने अतिसूक्ष्म आकार के कारण सूक्ष्मदर्शी यंत्र से ही दिखाई दे सकती है) मार्गेनी (Morgagni) ने विकृति विज्ञान की पहली पाठ्यपुस्तक लिखी। बिख़ात (Bichat) ने ऊतक विकृतिविज्ञान पर विशेष प्रकाश डाला। विर्को (Virchow) ने लगभग 100 वर्ष पूर्व कोशिका-विकृति विज्ञान पर सर्वप्रथम पुस्तक लिखी। इन सबसे शरीर की इकाइयों (जो आकार में अतिसूक्ष्म हैं) के रोगों की संकल्पना स्थापित हो गई। अब प्रत्येक रोग में शरीर के ऊतकों को कोशिकाओं में विशिष्ट परिवर्तन दिखा सकना संभव हो गया। चूंकि ये परिवर्तन अति सूक्ष्म थे अतः अनिवार्यतः इन्हें सूक्ष्मदर्शी से ही दिखाना पड़ा। पिछले लगभग 30 वर्षों में वैज्ञानिक अब इलेक्ट्रॉन माइक्रोस्कोप तथा ऊतक-रसायन (histochemistry) की सहायता से उप-सूक्ष्मदर्शी (submicroscopic) स्तर के प्रेक्षण भी करने लगे हैं। अब रासायनिक प्रक्रिया द्वारा कोशिका के भीतर की सूक्ष्मतम संरचनाओं का विश्लेषण करना भी संभव हो गया है।

चित्र 2.2—रॉबर्ट कॉख़
(1843—1910)

युक्तिसंगत दृष्टिकोण (Rational Approach):

माइक्रोस्कोप की सहायता से अनेक संक्रामक रोगों के कारणों का भी सुराग मिला। यह सिद्ध कर दिखाया गया कि सूक्ष्म जीव भी मानव को संक्रमित करके रोग उत्पन्न कर सकते हैं। यह भी सिद्ध हो गया कि इनमें से कुछ सूक्ष्मजीव (रोगाणु) व्यक्ति के शरीर पर पाये जा सकते हैं और फिर भी वे सर्वथा हानिरहित हो सकते हैं। इसलिये किसी सूक्ष्मजीव को रोग-विशेष के हेतुक कारक के रूप में अकाट्य रूप से सिद्ध करने के लिये मात्र यह दिखा देना पर्याप्त नहीं था कि अमुक सूक्ष्मजीव तथा अमुक रोग किसी व्यक्ति के भीतर मौजूद हैं। संभवतः आधुनिक आयुर्विज्ञान के युक्तिसंगत दृष्टिकोण का सर्वोत्तम उदाहरण कॉख़ (Koch—रॉबर्ट कॉख, जर्मन वैज्ञानिक थे) की स्थापनायें हैं। कॉख़ की स्थापनाओं के अनुसार किसी रोगाणु विशेष के किसी रोग के हेतुक कारक होने के लिये निम्नलिखित बातों का

होना आवश्यक था : (1) कारणमूलक जीव रोग की विक्षतियों (lesions) में अवश्य फैले हुये हों; (2) इन जीवाणुओं को शुद्ध संवर्धन (संवर्धन जीवाणुओं को उपयुक्त माध्यम से बढ़ाने की एक पद्धति है) में अलग करके इस प्रकार रखना संभव हो कि साथ में कोई अन्य जीवाणु उपस्थित न रह सके; (3) यदि उस जाति के जीवाणुओं को किसी समान प्राणी में प्रविष्ट करा दिया जाय तो उससे फिर वही रोग उत्पन्न हो जाय; (4) स्वयं रोग की विक्षतियों में फिर से कारणमूलक जीव उत्पन्न हो जायं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक आयुर्विज्ञान का आधार क्या है। वस्तुतः नये मापदंड स्थापित करने की यही यथार्थता की प्रवृत्ति महत्वपूर्ण है और यही युक्तिसंगत दृष्टिकोण इसके विकास में योग देता है।

अनेक आविष्कारों को मात्र सांयोगिक आविष्कार कह दिया जाता है, किंतु इस प्रकार का संयोग भी तो तैयार मस्तिष्क की ही उपज होता है। जो बात मस्तिष्क के लिये अज्ञात है उसे आंखें नहीं देखतीं। आंखों के सामने जो कुछ भी घटित होता है, उसका अर्थ समझने के लिये तैयार और तर्कपूर्ण मस्तिष्क की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिये, आइज़क न्यूटन ने अपने सिर पर सेब गिरते देखा। उस गिरते सेब का अर्थ समझने के लिये अत्यधिक तैयार मस्तिष्क की जरूरत थी, यही कारण था कि वे इस मामूली घटना से गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत का आविष्कार कर सके।

आधुनिक आयुर्विज्ञान प्रगति के पथ पर अग्रसर है और जब भी और जहां भी युक्तियुक्त चिंतन होगा वहीं नये-नये आविष्कार होते चलेंगे। आयुर्विज्ञान के आविष्कारों के लिये कोई विशेष 'जलवायु' नहीं होती। लगभग सभी स्थानों पर और कहीं भी, महान् आविष्कार होते रहे हैं। न तो कोई एकांत सैनिक चौकी या सामान्य पेशेवर चिकित्सक का साधारण दवाखाना इस दृष्टि से

1. जिन जीवाणुओं के द्वारा रोग के उत्पन्न होने का विश्वास हो, उनका रोगी अथवा मृत प्राणी में मौजूद होना आवश्यक है।
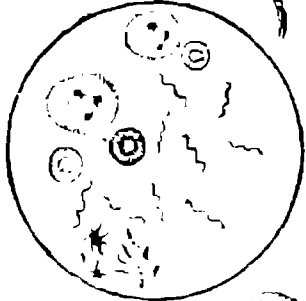
2. जीवाणु को उस प्राणी से, जिसमें वह पाया गया है, अलग, शुद्ध संवर्धन की स्थिति में किया जा सके।
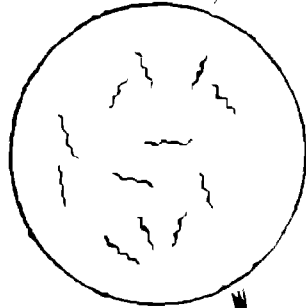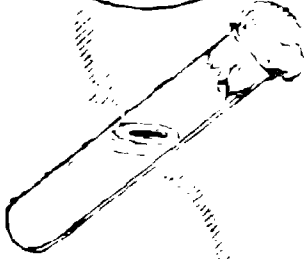
3. संवर्धन से जीवाणु को लेकर उसे उसी जाति के अन्य स्वस्थ प्राणी में इंजेक्शन द्वारा प्रविष्ट कराने पर उसमें भी उसी रोग का उत्पन्न हो जाना आवश्यक है।

4. वही जीवाणु फिर से उस प्राणी से, जिसमें उसे प्रविष्ट कराया गया था, शुद्ध संवर्धन में अवश्य अलग किया जा सके।

चित्र 2.3—कॉख की स्थापनाएं

वहुत छोटा या अव्यवस्थित है और न ही कोई अनुसंधान-केंद्र इतना बड़ा और व्यवस्थित है कि आविष्कार न हो सकें। संसार के किसी भी कोने में जहां भी युक्तियुक्त चिंतन होगा वहीं आविष्कार होगा और एक नये सिद्धांत का प्रतिपादन होगा।

इस प्रकार इन सभी आधारभूत विज्ञानों का ही अंतिम परिणाम या निष्पत्ति आधुनिक रोगलक्षण अनप्रयुक्त आयुर्विज्ञान और शल्यविज्ञान हैं। आधुनिक आयुर्विज्ञान किसी देश-विशेष द्वारा विकसित विज्ञान नहीं है; वरन् आधुनिक आयुर्विज्ञान एवं सभी आधारभूत विज्ञान अंतर्राष्ट्रीय हैं। इनका वर्तमान विकास सारे विश्व के अनेक राष्ट्रों के वैज्ञानिकों के योगदान के फलस्वरूप हुआ है। विज्ञान के मनीषियों ने प्रकृति की चुनौती को स्वीकार किया है और अनुप्रयुक्त आयुर्विज्ञान की असाधारण प्रगति से मनुष्य मात्र का अत्यधिक कल्याण हुआ है।

• • •
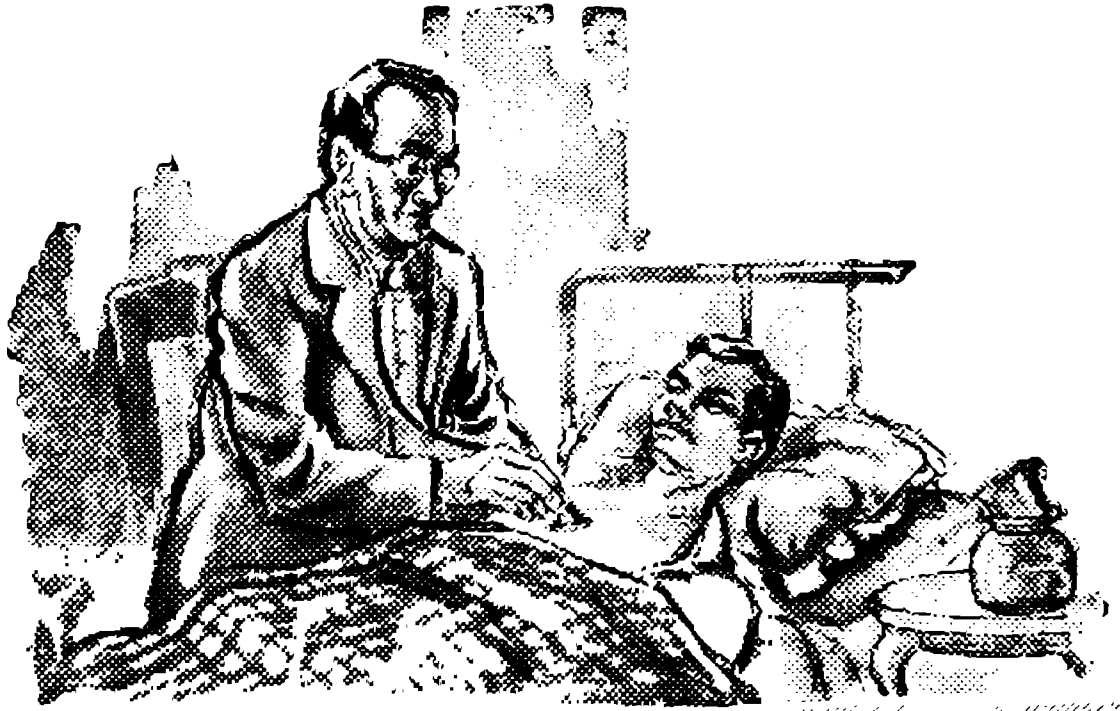
3

—डा० जी० एस० मुतालिक

रोग—प्रकृति और कारण

'रोग' का शाब्दिक अर्थ है आराम अथवा सुख का अभाव, जिससे यह तथ्य महत्वपूर्ण हो जाता है कि स्वास्थ्य का मुख्य लक्षण अच्छी तरह लगना अथवा वातावरण के साथ पूर्ण संगति की अनुभूति करना है। यह अनुभूति अविश्वसनीय रूप से शरीरक्रिया तंत्रों के कार्य का परिणाम है। ये तंत्र भीतरी वातावरण की गतिविधि तथा कार्यक्षमता को सुरक्षित रखते हैं। बाहर के तत्व जो कि मूलतः शत्रु होते हैं उनका सामना प्रभावपूर्ण तरीके से जिन संकुचित सीमाओं में रहकर कोई जीव जीवित रहता है उन्हीं सीमाओं में आंतरिक समायोजन करने वाले तंत्र शरीर की सभी प्रणालियों के ज़रिये काम करते रहते हैं, खास तौर पर केंद्रीय तंत्रिकातंत्र (central nervous system) तथा अंतःस्रावी ग्रंथियों (endocrine glands) द्वारा निःसृत हार्मोनों के जरिये काम करते हैं। इस प्रकार यदि जीव को जीवित रहना है तो उसके शरीर का तापमान एक संकुचित परिसर के बीच रहना चाहिये और यदि उसे अधिकतम शरीरक्रियात्मक क्षमता के साथ अर्थात पूर्णतम स्वास्थ्य की अवस्था में रहना हो तो उसके शरीर का तापमान और भी संकुचित परिसर के भीतर रहना चाहिए। इसी प्रकार शरीर के द्रवों की अम्लता, हृदय का निकाम तथा विभिन्न अंगों में रक्त का प्रवाह, आक्सीजन की शरीर के भीतर प्रवेश करने वाली मात्रा तथा कार्बन डाई-आक्साइड का बाहर निकलना, आंतों का संचालन तथा शरीर के अन्य कार्यों का एक निश्चित परिसर के भीतर होते रहना आवश्यक है।

ऊपर हम यह बता चुके हैं कि जिस वातावरण में मनुष्य या कोई भी जीव रहता है वह विरोधी वातावरण होता है। बाहर ऐसे असंख्य प्रभाव होते हैं जो शरीर के भीतर के नाजुक संतुलन और

* * * *

डा. जी. एस. मुतालिक, एम. डी., प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष, आयुर्विज्ञान विभाग, मेडिकल कालेज तथा ससून जनरल हास्पिटल, पूना।

तालमेल को नष्ट करने के लिए तैयार रहते हैं और उन्हीं के कारण रोग होते हैं। बहुत अधिक या कम तापमान, उचित पौष्टिक तत्वों की कमी और ऊर्जा प्रदान करने वाले ऐसे पदार्थों का अभाव, जो शरीर के सामान्य कार्यों के लिए जरूरी होते हैं, भौतिक तथा रासायनिक घटकों का ऐसा संयोग जो शरीर के लिए हानिकारक है, परजीवी सूक्ष्म तथा अतिसूक्ष्म जीवाणुओं का संसार जो जीवित प्राणियों पर आक्रमण करते रहते हैं और अंत में अनिवार्य रूप से घटने वाली वह जैविक घटना जिसके अंतर्गत शरीर में व्यपजनन (degeneration) तथा वयोवृद्धि (aging)—ये सभी शरीर के संतुलन को बिगाड़ने के लिए बहुत हद तक उत्तरदायी होते हैं। इस प्रसंग में रोग का अर्थ शरीर के भीतर के समायोजन (अंतस्थैंतिकी; Homeostasis) वाले तंत्र की पूर्ण विफलता है जिसका काम स्वास्थ्य के लिए आवश्यक अवस्थाओं को बनाए रखना है। अतः रोगों को, उपर्युक्त संतुलनों को बिगाड़ने में मुख्य भूमिका निभाने वाले महत्वपूर्ण कारणों के अनुसार, निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) संक्रमी रोग अथवा विकार : यथा टाइफायड, चेचक तथा इंफ्लुएंजा।

(2) भौतिक तथा रासायनिक कारकों से उत्पन्न रोग, जैसे जल जाना या विष का प्रभाव।

(3) क्षति या चोटों से उत्पन्न रोग।

(4) पोषक तत्वों की कमी से उत्पन्न रोग, जैसे रिकेट्स।

(5) व्यपजनन से उत्पन्न रोग, जैसे धमनीकाठिन्य तथा यकृत सिरोसिस।

(6) अर्बुद अथवा नववृद्धियों से उत्पन्न रोग, जैसे कैंसर।

(7) विभिन्न प्रकार के अन्य रोग, जैसे एलर्जी से उत्पन्न रोग।

(8) अनुवंश-परिवारगत (heredofamilial) रोग तथा अज्ञात कारणों से होने वाले रोग।

1. संक्रमी रोग :

ऐसे रोग किसी जीवित परजीवी जीव द्वारा शरीर पर आक्रमण करने से उत्पन्न होते हैं। यह प्राणी अविश्वसनीय रूप से इतने सूक्ष्म आकार का भी हो सकता है जो एक सामान्य माइक्रोस्कोप से भी न दिखाई दे सके, उदाहरण के लिए कोई वाइरस, या फिर यह प्राणी बहुकोशिक परजीवी प्राणी भी हो सकता है, जैसे कि आंत्रकृमि। इन दोनों प्रकार के जीवों के बीच की किस्मों के अनेकानेक अन्य जीव भी होते हैं, जैसे कि बैक्टीरिया, स्पाइरोकीट, विब्रियो, रिकेट्सिया, फंगाई (कवक) तथा प्रोटोज़ोआ। इन सब जीवों में शरीर पर आक्रमण करने और उसकी कोशिकाओं पर हानिकर प्रभाव छोड़ने अथवा शरीर के ऊतकों से पोषक तत्व समाप्त करने या शरीर के लिए हानिकर विषालु पदार्थ उत्पन्न करने का गुण होता है। इस वर्ग के जीवों से होने वाले रोगों के कुछ सामान्य उदाहरण हैं : यक्ष्मा, निमोनिया, टाइफायड, हैज़ा, अमीबाजन्य संक्रमण, मलेरिया, चेचक, संक्रमी यकृत्शोथ इत्यादि। कभी-कभी इस प्रकार का संक्रामक रोग बहुत बड़े पैमाने पर पूरी की पूरी बस्ती में ही फैल जाता है, इसे महामारी कहते हैं। ये महामारियां अनेक कारकों पर निर्भर करती हैं जिनमें जीवों की उग्रता, कीटाणुओं के फैलने की संभावनाएं, पूरी बस्ती के लोगों की रोग से लड़ने की क्षमता (इम्यूनिटी) इत्यादि इत्यादि शामिल हैं। इस विषय का अध्ययन करने वाली शाखा को जानपदिक रोगविज्ञान (epidemiology) कहते हैं। इन महामारियों अथवा जानपदिक रोगों का नियंत्रण पश्चिम के उन्नत देशों तथा अमेरिका की सबसे महत्वपूर्ण तथा प्रशंसनीय उपलब्धियों में से एक है। हम लोगों की तुलना में उनकी दीर्घजीविता के लिए यही तत्व प्रत्यक्ष रूप से उत्तर-

दायी है। आगे के परिच्छेदों में इन रोगों के विषय में विस्तार से चर्चा की गई है।

2. भौतिक तथा रासायनिक कारकों से उत्पन्न रोग :

जिस प्रकार बैक्टीरिया, वाइरस और कवक (फंजाइ) जैसे जैव कारक रोग उत्पन्न कर सकते हैं, ठीक उसी प्रकार ताप, शीत, एक्सरे, ऐक्टिनिक किरणें, अधिक तुंगता अथवा समुद्र की सतह से काफी ऊंचाई, विभिन्न प्रकार के रासायनिक पदार्थ तथा विष जैसे शारीरिक तथा रासायनिक कारक भी शरीर में अत्यधिक असंतुलन उत्पन्न करके रोग को जन्म दे सकते हैं।

3. क्षति (चोट) से होने वाले रोग :

ये रोग चोटों से उत्पन्न होते हैं, जैसे कि कट जाना, घाव हो जाना, कोई नुकीला पदार्थ शरीर में घुस जाना, अस्थि भंग, सिर में चोट इत्यादि। इस प्रकार के रोग शल्यक्रिया विज्ञान के अंतर्गत आते हैं।

4. पोषणज विकार(Nutritional Disorders) :

पहले हम पूर्ण स्वास्थ्य की जिस संकल्पना का वर्णन कर चुके हैं वह शरीर के समस्त जटिल एवं असंख्य चयापचयी प्रक्रियाओं के सुचारू संचालन पर निर्भर करती है। ये प्रक्रियाएं शरीर में पहुंचने वाले खाद्य पदार्थों से आवश्यक ऊर्जा प्राप्त करके शरीर के भीतर यथा स्थान भेजने का काम करती हैं। अतः स्वास्थ्य की मुख्य आवश्यकता है—संतुलित आहार। संतुलित आहार का अर्थ है खाद्य पदार्थ के सभी प्रमुख तत्वों—प्रोटीनों, कार्बोहाइड्रेटों, वसाओं, खनिजों तथा विटामिनों की श्रेष्ठ किस्मों का शरीर में उचित मात्रा में पहुंचना। पोषण तत्वों की कमी से न केवल वृद्धि और विकास में कमी आ जाती है बल्कि इससे रोग भी उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार प्रोटीन की कमी से यकृत् रोग, लौह की कमी से अरक्तता, विभिन्न विटामिनों की कमी से स्कर्वी (विटामिन **सी** की कमी), रिकेट्स (विटामिन **डी** की कमी), रतौंधी (विटामिन **ए** की कमी), बेरीबेरी (विटामिन **बी** की कमी) इत्यादि जैसे रोग हो सकते हैं।

5. व्यपजननकारी रोग (Degenerative Diseases) :

जैव विकास का यह नियम है कि प्रत्येक जीवित कोशिका अपने स्वाभाविक रूप में एक निश्चित पद्धति जन्म→विकास→चरम आकार ग्रहण तथा अधिकतम कार्यकारी क्षमता→कार्यक्षमता का ह्रास तथा अंत में→मृत्यु का अनुसरण करती है।

यह नियम सिर्फ किसी कोशिका पर ही लागू नहीं होता वरन पूरे जीव पर भी लागू होता है। वृद्धि वक्र का अंतिम भाग, जहां ह्रासमान प्रक्रियायें मृत्यु की दिशा में अग्रसर होती हैं, प्रायः व्यपजनन कहलाता है। वृद्ध व्यक्ति की धमनियां मोटी और कड़ी हो जाती हैं (जिसे धमनीकाठिन्य arterio-sclerosis कहते हैं) त्वचा सिकुड़ जाती है, विशिष्ट अंग जैसे आंख, कान आदि मोतियाबिंद (opacity of the lens) अथवा कर्णगहन संपुटकाठिन्य (otosclerosis—कान की अस्थिकाओं (ossicles) का मोटा हो जाना जिससे बहरापन हो जाता है) के कारण अपनी कार्यक्षमता खो बैठते हैं। ये जरावस्था की अनेकानेक व्यपजनन प्रक्रियाओं के अंश-मात्र हैं। इन परिवर्तनों के आधार हैं मात्रा तथा कोटि दोनों ही दृष्टियों से विभिन्न चयापचयी प्रक्रियाओं में कुछ निश्चित परिवर्तन।

किंतु यह जरूरी नहीं है कि व्यपजननकारी विकार वृद्धावस्था में ही हों। कुछ ज्ञात एवं अज्ञात कारणों से चयापचयी दोष अपेक्षाकृत अल्पवय-समूहों में भी इस वर्ग के रोग उत्पन्न कर सकते हैं, उदाहरण के लिये, मेरूदंड की कतिपय कोशिकाओं का विटामिन B_{12} की कमी से व्यपजनन, मधुमेह अथवा सीसाविषाक्तता में तंत्रिका कोशिकाओं (nerve cells) का व्यपजनन अथवा

आनुवंशिक कारकों के फलस्वरूप अनुमस्तिष्क (cerebellum) के व्यपजनन के परिणामस्वरूप गतिविभ्रम (ataxia) इस प्रकार के रोगों के कुछ उदाहरण हैं। आयुर्विज्ञान में प्रगति के साथ-साथ ज्यों-ज्यों इन रोगों के मूल कारणों का पता लगता जायेगा त्यों-त्यों इनकी सफल रोकथाम अथवा निवारण के लिये प्रभावकारी चिकित्सा संभव होती जायेगी।

6. अर्बुद (New Growths) :

शरीर में अनेक प्रकार के अर्बुद विकसित हो जाते हैं। कैंसर उनमें से एक है।

'कैंसर' शब्द से हमारे सामने एक ऐसे निर्मम प्राणांतक रोग की तस्वीर उभर कर आती है जिसमें दारुण कष्ट सहना पड़ता है। आयुर्विज्ञान में असाधारण प्रगति होने के बावजूद कैंसर का इलाज मनुष्य के वश में नहीं है। यहां तक कि इसका ठीक-ठीक कारण भी मालूम नहीं किया जा सका है, यद्यपि समय-समय पर इसके संबंध में नई-नई स्थापनायें होती ही चली जा रही हैं। फिर भी कैंसर की पहेली को समझना मूलतः आसान है।

यदि किसी एक कोशिका के जीवन के इतिहास का अध्ययन किया जाये तो पता चलेगा कि उस कोशिका को वंशागति से कुछ ऐसी विशेषतायें प्राप्त हुई हैं जो इसकी आकृति, आकार, वृद्धि-दर, कार्य, प्रत्याशित आयु तथा विभाजन (जनन) का नियमन करती हैं। इनमें से कई कार्य पोषण अथवा रक्त-संभरण से प्रभावित होते हैं। चूंकि किसी निश्चित वंशागति (जीन-प्ररूप) से आने वाली कोशिकायें एक निश्चित प्रकार से आचरण करती हैं, अतः उनकी वृद्धि और कार्य की प्रक्रियायें अत्यंत सुनियोजित और निश्चित तरीके से होती चली जाती हैं।

अब अनेक ऐसे कारकों का पता चल चुका है, जो कोशिकाओं में अंतर्निहित तंत्रों या नियामक तत्वों को नष्ट कर देते हैं और जो वृद्धि और कार्य की उपर्युक्त प्रक्रियाओं को अस्त-व्यस्त कर देते हैं। ये कारक, जिनका वर्णन अध्याय 44 में 'कैंसर' पर विस्तार से किया गया है, अपसामान्य वृद्धियां अथवा अर्बुद उत्पन्न करते हैं। ऐसे ही एक अर्बुद को हम कैंसर के नाम से जानते हैं।

सभी प्रकार के अर्बुद एक से नहीं होते और न ही सभी प्राणांतक (दुर्दम) होते हैं। कुछ तो उस क्षेत्र में ही सीमित रहते हैं जहां वे उत्पन्न होते हैं। अतः उनका जीवन के साथ कोई विरोध नहीं होता (सुदम्य)। तंतु-अर्बुद (fibroma) सुदम्य अर्बुद का ही एक उदाहरण है।

आयुर्विज्ञान के किसी भी अन्य क्षेत्र में इतने संगठित रूप में अनुसंधान के प्रयास नहीं हुए हैं और न ही उसमें इतने अधिक विज्ञानों, जैसे कि रसायन, भौतिकी, जैविकी, आयुर्विज्ञान, भेषज-गुणविज्ञान (Pharmacology) आनुवंशिकी (genetics) तथा शल्यविज्ञान (Surgery) का समावेश हुआ है, जितना कैंसर के अध्ययन में हुआ है। वास्तव में यह चुनौती भरा और आकर्षक विषय है।

7. विविध रोग :

अनेक रोग ऐसे हैं जो ऊपर वर्णित किसी भी श्रेणी के अंतर्गत नहीं आते क्योंकि उनकी प्रक्रिया भिन्न होती है। इनमें सबसे अधिक सामान्य एलर्जी वाले रोग हैं। 'एलर्जी' शब्द का अर्थ है शरीर की बाह्य पदार्थों, विशेषतः प्रोटीन, के प्रति सुग्राहिता (sensitivity)। पूर्व संपर्क से शरीर बाह्य प्रोटीनों (एंटिजनों) के प्रति सुग्राहिता विकसित कर लेता है और परिणामस्वरूप उसके भीतर कतिपय रासायनिक सम्मिश्र बन जाते हैं, जिन्हें प्रतिपिंड या ऐंटिबॉडी कहते हैं। इन विशिष्ट प्रोटीनों से पुनः संपर्क होने पर प्रतिजन प्रतिपिंड प्रतिक्रिया (antigen antibody reaction) उत्पन्न होती है जो कि इन दोनों सम्मिश्रों के परस्पर मिलने का परिणाम है। इस प्रकार की प्रतिक्रिया का परिणाम हल्के-शीतपित्त (चर्म पर

निकलने वाली छपाकी जिसमें खुजली होती है) से लेकर प्राणांतक स्तब्धता (shock) तक हो सकती है। इस प्रकार के रोग, उदाहरण के लिए, दमा, शीतपित्त, आमवातज्वर (rheumatic fever) तथा कतिपय वृक्क के रोग, मूलत: एलर्जी के कारण उत्पन्न होते हैं। अक्सर कोई खास खाद्य पदार्थ या दवा किसी एलर्जी का कारण बन सकता है। अब यह पता चल चुका है कि प्रतिपिंड किसी व्यक्ति के अपने ऊतक (tissue) प्रोटीनों के विरुद्ध भी बन सकते हैं और रोग का कारण बन सकते हैं। इस प्रकार के रोगों को स्वत: प्रतिरक्षी रोग (auto immune diseases) कहते हैं।

8. आनुवंशिकता तथा रोग (Heredity and Disease) :

सामान्यत: सभी जानते हैं कि रोग वंशागत भी हो सकते हैं। वंशागति मेंडेल के सुप्रसिद्ध वंशागति सिद्धांत (Mendel's laws of inheritence) के अनुसार ही सामान्यत: कार्य करती है। मधुमेह, दमा, मानसिक हीनता, हीमोफीलिया (रक्तस्राव का रोग), वर्णांधता इत्यादि रोग वंशागति वाले रोगों के ही उदाहरण हैं। किंतु एक बात जो सबको ज्ञात नहीं है यह है कि वंशागति के कारक वास्तव में सभी रोगों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आनुवंशिकता का योगदान भले ही स्पष्ट न हो, पर पूर्वप्रवृत्ति (predisposition) तथा प्रवणता (Proclivity) निर्धारित करने में इसका सदैव हाथ होता है। इस बात को समझ लेना चाहिए कि जैविक प्रक्रिया से उत्पन्न होने वाला कोई भी जीव वंशागत जीनों की निर्मिति (जीनोटाइप) और वातावरण का परिणाम होता है। अत: रोग की अवस्था हो या स्वास्थ्य की, जीनोटाइप का सदैव ही योगदान होता है।

आज भी अनेक ऐसे रोग हैं, जिनका कोई स्पष्ट कारण अभी तक ज्ञात नहीं है। इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए क्योंकि वास्तव में रोग का सांयोगिक संबंध असंख्य कारकों से हो सकता है और वर्तमान आयुर्विज्ञान के पास जो विधियां उपलब्ध हैं उनसे उनके विषय में जानकारी प्राप्त करने के मार्ग में जो कठिनाइयां हैं, वे सर्वविदित हैं।

रोग का अध्ययन :

अगले पृष्ठों में आम रोगों का वर्णन किया जाएगा ताकि पाठक यह अच्छी तरह समझ सकें कि किस प्रकार एक आधुनिक चिकित्सक युक्तियुक्त तरीके से अपने रोगी के रोग का अध्ययन, किसी निदान पर पहुंचने से पहले, करता है (चित्र 3.2) और फिर यह निर्णय करता है कि किस पद्धति से चिकित्सा की जाए। यह जानना भी उपयोगी होगा कि एक चिकित्सक रोग का अध्ययन किस पद्धति से करता है।

रोगों के विषय में निम्नलिखित तथ्य अध्ययन करने योग्य हैं—

हेतुकी (Etiology) :

इसके अंतर्गत रोग का कारण बनने वाले कारकों का तथा रोगों के साथ आयु, लिंग, व्यवसाय आदि कारकों के संबंध का अध्ययन किया जाता है।

विकृतिविज्ञान (Pathology) :

यह रोग के परिणामस्वरूप शरीर में होने वाले सूक्ष्मदर्शी और आंख से दिखाई देने वाले स्थूल परिवर्तन का अध्ययन है।

लक्षण तथा चिह्न (Symptoms and Signs) :

लक्षण, रोगी द्वारा अनुभूत रोग के वैयक्तिक अनुभवों को कहते हैं। दर्द, सिरदर्द, दिल की धड़कन इसी प्रकार के उदाहरण हैं। चिह्न रोग की यथार्थ अभिव्यक्ति (objective manifestations) को कहते हैं जिसे परीक्षण करने वाला
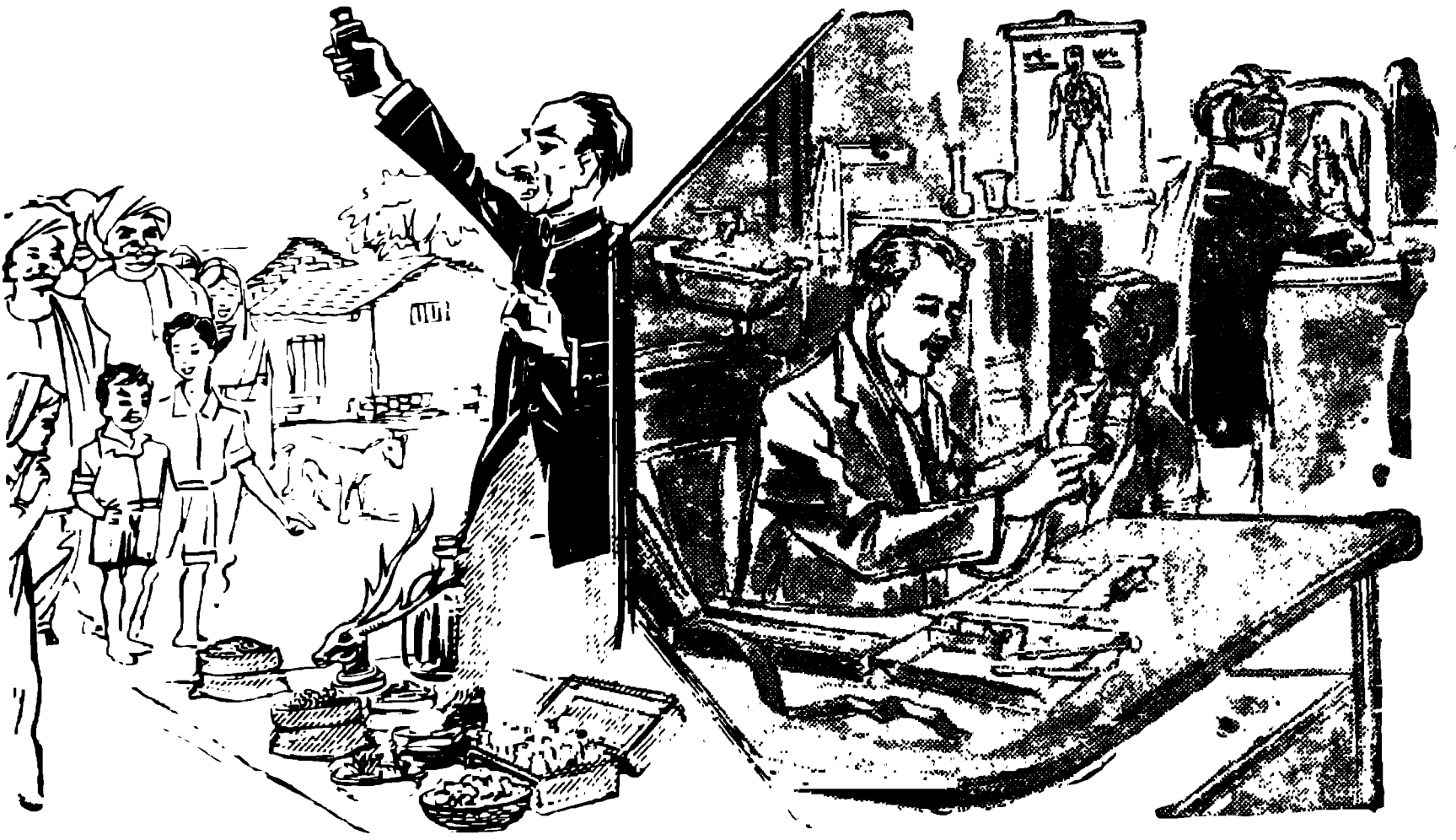
चित्र 3.2—एक नीम हकीम बिना अपने मरीज को देखे ही अपनी दवाओं के चमत्कार का विज्ञापन कर रहा है। एक आधुनिक चिकित्सक रोग का निदान करने के पहले अपने रोगी का यौक्तिक परीक्षण करता है।

चिकित्सक लक्षित कर सकता है। इस कार्य में चिकित्सक अनेक तरीकों का इस्तेमाल कर सकता है, जैसे निरीक्षण (आंखों का प्रयोग), परिस्पर्शन (हाथों से टटोल कर देखना), परिताड़न (अंगुलियों से बजाकर देखना) तथा परिश्रवण (स्टेथेस्कोप लगाकर सुनना) का। बहुत से रोगियों का अध्ययन करने के बाद चिकित्सक को रोग की प्रक्रिया के सूक्ष्म भेदों का अनुभव हो जाता है।

प्रयोगशाला परीक्षण :

भौतिकी, रसायन तथा अन्य विज्ञानों में जो प्रगति हुई है उनके फलस्वरूप अब ऐसी अनेक सहायक युक्तियां सुलभ हैं जिनसे चिकित्सक अपने निदान संबंधी धारणाओं की पुष्टि कर सकता है। जटिल से जटिल यंत्रों की कतार की कतार, प्रभावपूर्ण प्रयोगशाला तकनीकें, रासायनिक परीक्षण तथा प्रक्रियाएं आज के चिकित्सक को रोगों की जांच पड़ताल के लिए सहज ही सुलभ हैं। इस प्रयोजन के लिए एक्सरे मशीनों, इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम तथा रेडियो-सक्रिय आइसोटोपों (radio-active isotopes) का प्रयोग एवं जीवरासायनिक परीक्षण तथा सूक्ष्मदर्शीय अध्ययन सभी आधुनिक अस्पतालों में किए जाते हैं।

निदान (Diagnosis) :

इन सारी प्रक्रियाओं और विचारणाओं का लक्ष्य चिकित्सक को रोगी की बीमारी के संबंध में सही निष्कर्ष तक पहुंचाना ही है। यही निदान कहलाता है। अतः यह अतिआवश्यक है कि रोगी अपने रोग के विषय में चिकित्सक को पूरे इतिहास से ठीक-ठीक अवगत कराये और उसे आवश्यक जांच करने में पूरा-पूरा सहयोग दे। अक्सर ऐसा होता है कि अनेक रोगों के लक्षण एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं और चिकित्सक को ठीक-ठीक रोग का पता लगाने के लिए इन समान रोगों के स्पेक्ट्रम का अध्ययन करना पड़ता है। इसे 'सापेक्ष निदान' (differential diagnosis) कहते हैं।

पूर्वानुमान (Prognosis) :

रोगी चिकित्सक से यह आशा करता है कि वह रोग के परिणाम और भावीस्वरूप के विषय में पूर्वकथन कर सकेगा। वस्तुतः यह रोग के प्राकृतिक अथवा सामान्य इतिहास के विषय में उसके ज्ञान तथा उसके व्यक्तिगत अनुभव पर निर्भर करता है। इसे 'पूर्वानुमान' कहते हैं।

प्रबंध (Management) :

संपूर्ण आयुर्विज्ञान का लक्ष्य स्वास्थ्य की वृद्धि, रोग का निवारण और रोग हो जाने पर उसकी चिकित्सा, रोग के लक्षणों से मुक्ति और रोगियों के कष्ट का मोचन होता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति सही ढंग से और सही समय पर सलाह देकर स्वास्थ्य में वृद्धि करके रोग से बचकर तथा रोग हो जाने पर सुविचारित ढंग से उसके उपचार की कारवाई करके की जाती है। रोग के उपचार की कारवाई में निम्नलिखित कार्य सम्मिलित हैं : (1) विश्राम अथवा शारीरिक क्रिया को कम करना, (2) आहार संबंधी कार्यक्रम का पालन, (3) परिचर्या संबंधी सावधानी बरतना, (4) उपयुक्त औषधियों द्वारा लक्षणों से मुक्ति, (5) रोग की प्रगति को कम करने के लिए औषधियों का प्रयोग और उसकी सहायता से धीरे-धीरे रोगी का स्वास्थ्य वापस लाना, (6) धीरे धीरे रोगी को वापस सामान्य कार्य की अवस्था में लाना और उसे उपयोगी क्रियाकलापों में लगाना जो कि इस कार्यक्रम की अंतिम अवस्था है।

ये उपाय यद्यपि बहुत सरल प्रतीत होते हैं तथापि इनकी योजना अत्यधिक सावधानी से ब्यौरेवार बनानी पड़ती है और इनका कार्यक्रम तैयार करने में अत्यधिक कौशल, धैर्य, सभी साधनों का प्रयोग, प्रशिक्षण अनुभव और ज्ञान की आवश्यकता होती है जो कि किसी चिकित्सक के द्वारा रोग के उपचार के लिए आवश्यक गुण होते हैं।

रोग की दुनिया बड़ी आकर्षक, बड़ी विस्तृत है। समाज यह आशा करता है कि रोग से मनुष्य के अथक संघर्ष के लिए चिकित्सक पूरी तरह हथियारबंद और साज-सामान से लैस होगा। एक चिकित्सक के ज्ञान के पीछे सदियों की निदानशाला-परंपरा होती है जो अनुभव सिद्ध ज्ञान पर आधारित होती है। उसके पास आधुनिक आयुर्विज्ञान के सभी विलक्षण उपकरण उपलब्ध होते हैं। उसके सामने भविष्य का आशा भरा सपना होता है जिसमें आधुनिक आयुर्विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ पृथ्वी से सभी प्रकार के रोग-क्लेश तिरोहित हो जाते हैं।

* * * *

स्वास्थ्य और रोग के बदलते प्रतिरूप

उन सामान्य कारणों और उनकी प्रकृति का, जो रोग उत्पन्न करते हैं, ऊपर वर्णन किया गया है किंतु यह बात ध्यान में रखना जरूरी है कि निम्नलिखित विविध कारकों के फलस्वरूप रोग तथा स्वास्थ्य के प्रतिरूप समय-समय और स्थान-स्थान पर बदलते रहते हैं।

(1) बहतर पोषण तथा रहन-सहन के स्तर में सुधार के कारण औसत कद, वजन और स्वास्थ्य के सामान्य स्तर में सुधार हुआ है। जापान इसका अच्छा उदाहरण है।

(2) संक्रामक रोगों के कारण होने वाले रोगों तथा मृत्यु संख्याओं में ह्रास हुआ है। इसका कारण है संक्रमणों के विषय में अधिक ज्ञान और फलतः उनका अधिक अच्छा इलाज और रोकथाम के ज्यादा प्रभावकारी तरीके। नीचे एक उदाहरण प्रस्तुत है :

भारत में मलेरिया	प्रतिवर्ष रोगियों की संख्या	प्रतिवर्ष मृत्यु-संख्या
1945	100,000,000	1,000,000
1957	50,000,000	500,000
1962	59,575	लगभग 6,000

(3) तीव्र संक्रामक के नियंत्रण के साथ ही अब अधिकाधिक संख्या में लोग वृद्धावस्था को प्राप्त हो रहे हैं जिसके परिणामस्वरूप चिरकारी (chronic) तथा व्यपजननिक (degenerative) रोगों जैसे हृदवाहिका विकार (cardiovascular disorders) कैंसर आदि में निरंतर वृद्धि हो रही है। ग्राफ़ (चित्र 3.3) द्वारा यह बात सिद्ध हो जाएगी।

जीवन की प्रत्याशा अथवा औसत जीवन-विस्तार में वृद्धि हो रही है। भारत में जन्म के समय जीवन की प्रत्याशा विषयक आंकड़े वर्षों में इस प्रकार है :

1941-50	1951-56	1956-61	1961-66
32.5	37.5	41.9	46.5

प्रति हजार की जनसंख्या पर प्रति वर्ष मृत्यु-दर तेजी से गिर रही है :-

1911-20	1931-40	1951-55	1956-60
48.6	31.2	25.9	21.5

(4) आयुर्विज्ञान तथा अन्य सभी विज्ञानों की प्रगति तथा तकनीकी कौशलों की उन्नति तथा प्रशिक्षण के फलस्वरूप रोगों के निदान अब शीघ्र हो जाते हैं और आपात् स्थिति में चिकित्सा तथा शल्य कर्म का श्रेष्ठतर प्रबंध संभव हो गया है। शल्यविज्ञान तथा संज्ञाहरण-विज्ञान (anaesthesiology) की उन्नति के कारण शल्यक्रिया में जोखिम अब बहुत कम हो गया है।

(5) जीवन के बदलते हुए ढंग, बढ़ता हुआ नागरीकरण और विकासमान औद्योगिक समाज—इन सभी के फलस्वरूप मानसिक स्वास्थ्य में ह्रास हुआ है और मानसिक विकारों में वृद्धि हो रही है। आधुनिक जीवन की तेजी तथा बढ़ता हुआ मानसिक दबाव और तनाव इसके महत्वपूर्ण कारण हैं।

चित्र 3.3—नीचे दिए गए ग्राफ़ में अमेरीका में रोगों के बदलते हुए प्रतिरूप को दर्शाया गया है। पिछले कुछ वर्षों में यक्ष्मा, चेचक, टाइफायड, डिप्थीरिया इत्यादि संक्रामक रोगों से शायद ही कभी मृत्यु होती है। इसका मुख्य कारण रहन-सहन का उन्नत स्तर, बेहतर चिकित्सा-संबंधी देखभाल तथा रोग-निवारण तथा निरोध के लिए उठाए जाने वाले सख्त कदम हैं। फिर भी बढ़ती हुई दीर्घायु के साथ-साथ कैंसर, हृद्वाहिका तंत्र आदि के चिरकारी रोग अधिक महत्वपूर्ण प्राणघाती बन गए हैं। भारत के उत्तरोत्तर विकास के साथ-साथ यहां भी भविष्य में संभवतः यही होने वाला है।
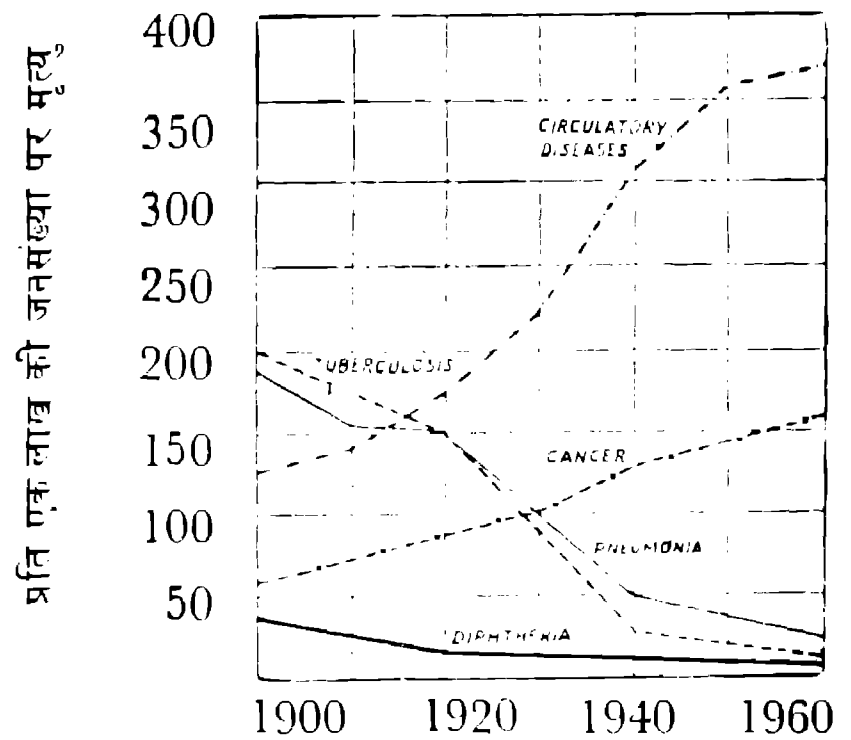
चित्र परिचय—रक्त संचार के रोग (circulatory diseases); यक्ष्मा (tuberculosis); कैंसर (cancer); न्यूमोनिया (pneumonia); डिप्थीरिया (diphtheria)

(6) काम करते समय सड़क पर अथवा घर में दुर्घटनावश मृत्यु की संख्या में नागरीकरण तथा यातायात के आधुनिक साधनों के फलस्वरूप वृद्धि होती जा रही है।

—संपादक

• • •

Fig. 4.2—Organs of the body

चित्र 4.2—शरीर के अंग
(कृपया पीछे देखें)

Inset showing hind structures
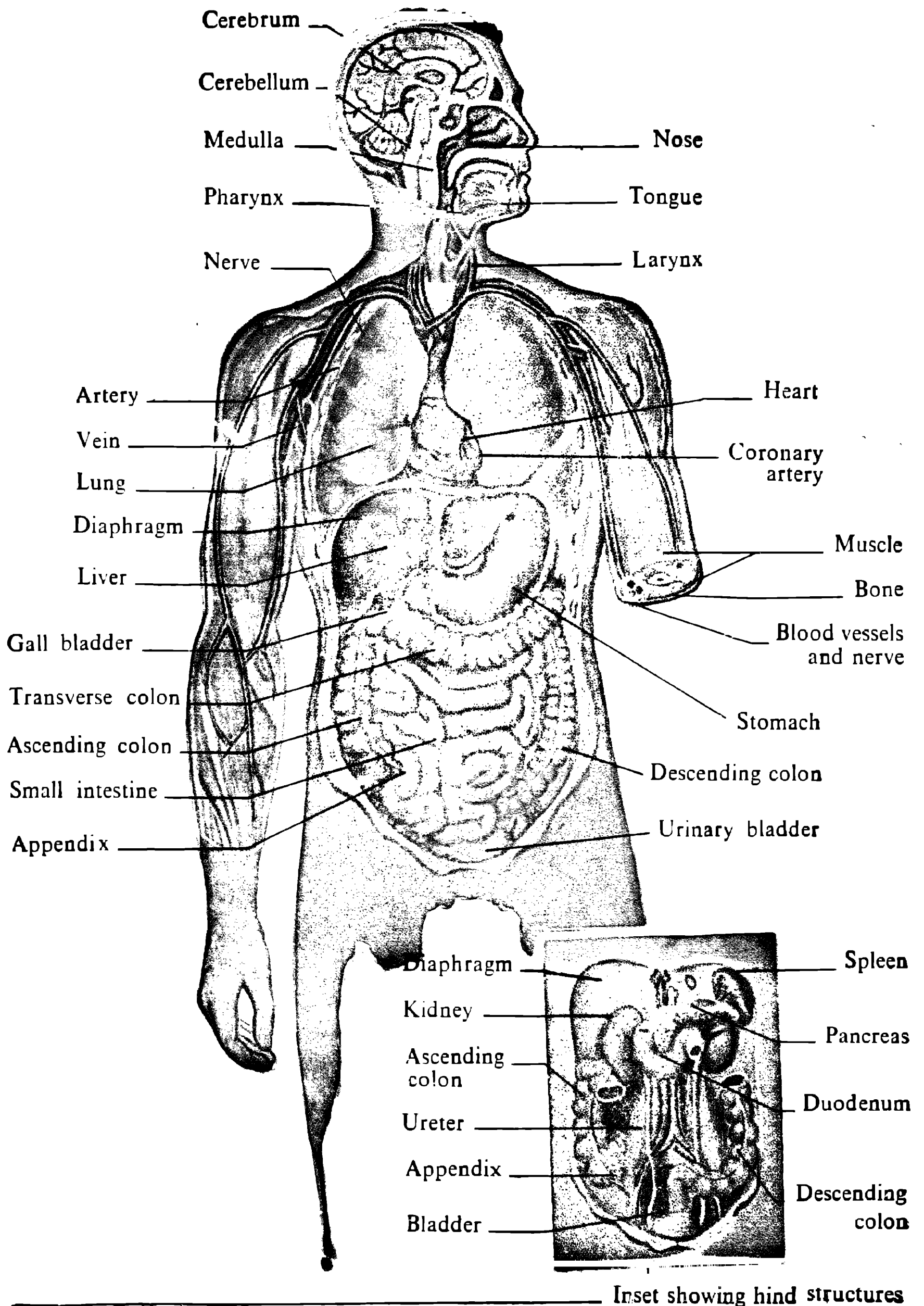
चित्र व्याख्या

प्रमस्तिष्क (Cerebrum)
अनुमस्तिष्क (Cerebullum)
मज्जा (Medulla)
ग्रसनी (Pharynx)
तंत्रिका (Nerve)

नाक (Nose)
जीभ (Tongue)
स्वरयंत्र (Larynx)

धमनी (Artery)
शिरा (Vien)
फेफड़े (Lung)
मध्यपट (Diaphragm)
यकृत् (Liver)
पित्ताशय (Gall bladder)
अनुप्रस्थ बृहदांत्र (Transverse colon)
आरोही बृहदांत्र (Ascending colon)
छोटी आंत (Small intestine)
उंडुकपुच्छ (Appendix)

हृदय (Heart)
हृदधमनी (Coronary artery)
पेशी (Muscle)
हड्डी (Bone)
रक्त वाहिका और तंत्रिका
(Blood vessels and nerve)
आमाशय (Stomach)
अवरोही बृदांत्र (Descending colon)
मूत्राशय (Urinary bladder)

मध्यपट (Diaphragm)
वृक्क (Kidney)
आरोही बृहदांत्र (Ascending colon)
गवीनी (Ureter)
उंडुकपुच्छ (Appendix)
मूत्राशय (Bladder)

प्लीहा (Spleen)
अग्न्याशय (Pancreas)
ग्रहणी (Duodenum)
अवरोही बृहदांत्र (Descending colon)

पिछला भाग दर्शाते हुए
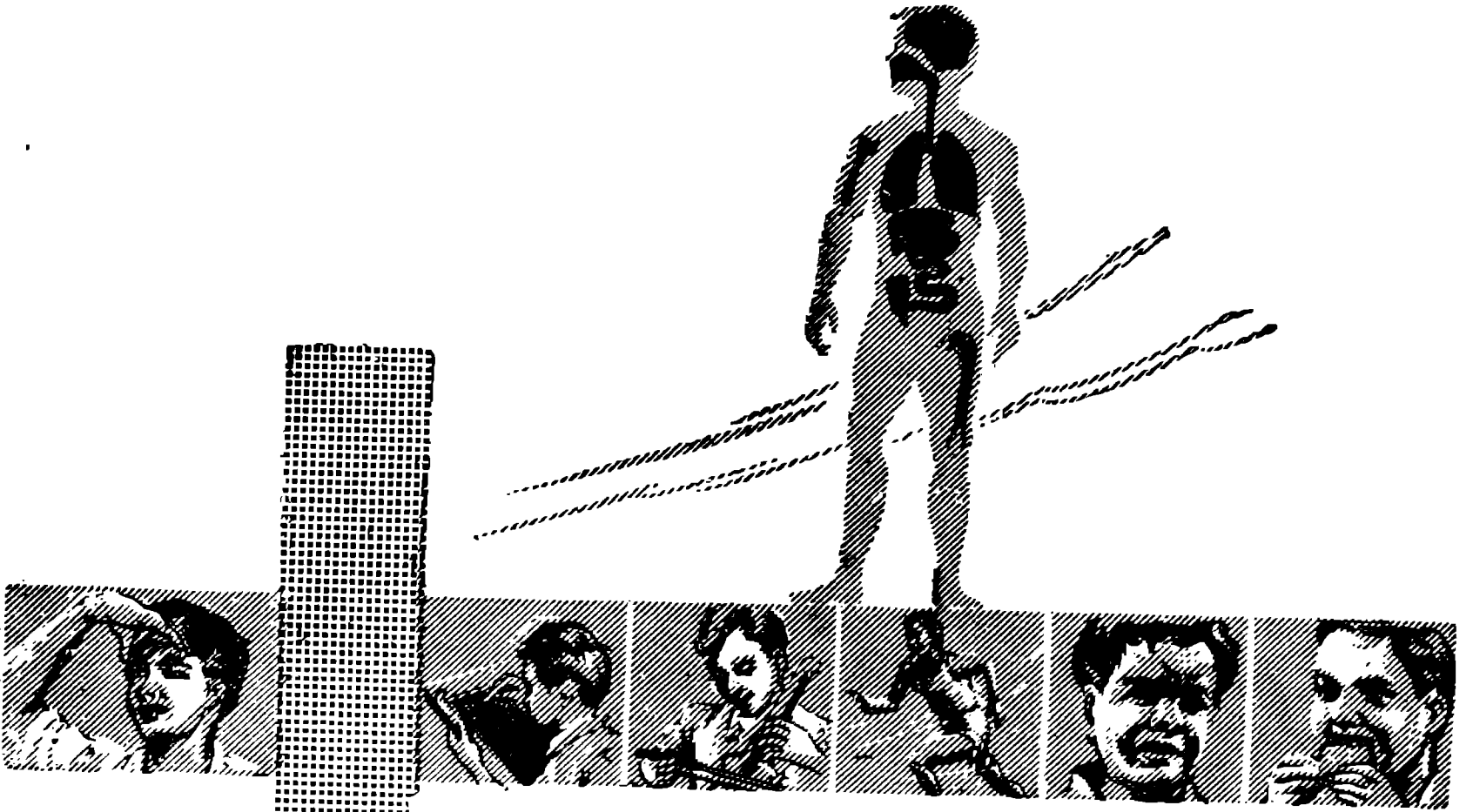
4

—डा० वी० एन० भावे

शरीर की संरचना तथा कार्य

शरीर-रचना विज्ञान तथा शरीर-क्रिया विज्ञान :

जब हम किसी घड़ी या किसी मोटरकार को देखते हैं तो स्वाभाविक रूप से यह जानने की उत्सुकता होती है कि इसके भिन्न-भिन्न पुर्जे कौन से हैं और वे कैसे काम करते हैं। इससे कहीं अधिक उत्सुकता इस बात की रहती है कि मनुष्य के शरीर की संरचना क्या है। वह विज्ञान जो इस संरचना का अध्ययन करता है उसे हम शरीर-रचना विज्ञान कहते हैं और यह अध्ययन मृत शरीर की चीड़फाड़ द्वारा किया जाता है। किसी अंग, जैसे कि हृदय का अध्ययन करके शरीर-रचना विज्ञान उसके आकार, उसकी आकृति, भार, शरीर में उसकी स्थिति, अन्य अंगों से उसका संबंध तथा उसकी विस्तृत बनावट का वर्णन करता है। इस प्रकार किसी अवयव की संरचना के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के बाद यह जानना काफी दिलचस्प होता है कि किस प्रकार वह अवयव कार्य करता है। वह विज्ञान जो शरीर के कार्यों का अध्ययन करता है शरीर-क्रिया विज्ञान कहलाता है। इस प्रकार हृदय का शरीर-क्रिया विज्ञान हमें रक्त-संचार में हृदय की भूमिका के विषय में तथा उस प्रक्रिया के विषय में, जिसके द्वारा हृदय अपने सारे कार्य संपन्न करता है, सब-कुछ बताता है।

शरीर के भाग :

मनुष्य के शरीर के तीन भाग हैं : सिर, धड़ तथा शाखायें। गला सिर को धड़ से जोड़ता है। सिर में चेहरा और कपाल होता है जिसके भीतर मस्तिष्क रहता है। धड़ में एक बड़ी गुहा होती है जो एक क्षैतिज विभाजक पेशी द्वारा, जिसे मध्यपट या डायाफ्राम कहते हैं, दो भागों में बंटा होता है। इसके ऊपर-ऊपर का हिस्सा वक्ष अथवा सीना कहलाता है। इसमें अनेक महत्वपूर्ण अंग

* * * *

डा. वी. एन. भावे, एम. बी., बी. एस., सामान्य चिकित्सक, पूना। विज्ञान की अनेक स्कूली पाठ्यपुस्तकों के लेखक, 'हम और हमारा स्वास्थ्य' के संपादक मंडल के सदस्य।

होते हैं जैसे कि बीच में हृदय और उसकी विशाल रक्त वाहिकायें, जिसके दोनों तरफ एक-एक फेफड़ा होता है तथा जिसमें एक श्वासनलिका तथा पीछे की ओर आहार नलिका होती है। निम्नस्थ गुहा को उदर कहते हैं। मध्यपट के ठीक नीचे दाहिनी तरफ यकृत् होता है तथा बाईं तरफ आमाशय तथा प्लीहा होते हैं (चित्र 4.2)। उदर-गुहा के प्रमुख भाग में छोटी तथा बड़ी आंतें होती हैं। अग्न्याशय (pancreas) आमाशय के आच्छादन के नीचे अनुप्रस्थ स्थिति में रहता है। उपर्युक्त सभी अंगों के पीछे दो बृक्क होते हैं जो कशेरुका दंड के दोनों ओर रहते हैं। उदर का निचला भाग श्रोणि गुहा (pelvic cavity) कहलाता है, जिसमें मूत्राशय, मलाशय (rectum) तथा जननांग होते हैं। उपर्युक्त गुहा के पीछे एक और गुहा अथवा नलिका होती है जो हड्डी की बनी होती है। इसी के ऊपरी भाग में मस्तिष्क स्थित होता है और निचले भाग में मेरुरज्जु (spinal cord) होती है (चित्र 4.3)। शाखायें धड़ से अलग जुड़ी होती हैं। धड़ के प्रत्येक ओर ऊपरी भाग में जुड़े हुये अंग ऊपरी शाखायें अथवा भुजायें कहलाती हैं और जो निचले भाग में जुड़े होते हैं वे निचली शाखायें अथवा जघा कहलाती हैं।

चित्र 4.3–शरीर की गुहाओं को दर्शाने वाला चित्र

यदि कोई शरीर के किसी हिस्से का, उदाहरण के लिये ऊपरी या निचली शाखा का, विच्छेदन करें तो उसमें अनेक संरचनायें दिखाई देंगी (चित्र 4.4)। सबसे बाहर का आच्छादन त्वचा होती है। त्वचा के नीचे वसा की एक तह होती है। तीसरी पर्त गंभीर प्रावरणी (deep fascia) की होती है। यह तंतु-ऊतक (fibrous tissue) की पर्त होती है जो पेशियों तथा रक्त-वाहिकाओं को आवृत करती है। पेशियां बहुत प्रमुख होती हैं और अंगों का अधिकांश भाग उन्हीं से बना होता है। पेशी मांसल और बीच में रक्तिम होती है।

अनेक पेशियां एक या दोनों सिरों पर क्रमशः सूक्ष्म अथवा पतली होती जाती हैं जिससे उनकी संरचना सफेद रज्जुवत् हो जाती है जिसे कंडरा (tendon) कहते हैं। पेशियां संकुचित होकर अस्थियों को खींचे रखती हैं और इस प्रकार स्थिरता तथा गति में सहायक होती हैं। पेशियों के बीच में कुछ रक्तिम तथा नीलाभ नलिकाएं तथा श्वेताभ रज्जु होते हैं। ये नलिकाएं ही धमनियां तथा शिराएं होती हैं। धमनियां विशुद्ध (आक्सीजनीकृत) रक्त का वहन करती हैं और शिराएं अशुद्ध (अनाक्सीजनीकृत) रक्त ले जाती हैं। श्वेत रज्जु ही तंत्रिकाएं (nerves) हैं। कुछ तंत्रिकाएं त्वचा का संभरण करती हैं और स्पर्श, पीड़ा, इत्यादि की संवेदनाएं पहुंचाने का काम करती हैं तथा अन्य तंत्रिकाएं पेशियों में पहुंच कर मेरुरज्जु तथा मस्तिष्क से प्राप्त संदेशों द्वारा संकुचन उत्पन्न करती हैं। अस्थियां सबसे भीतरी संरचनाएं होती हैं। प्रत्येक लंबी अस्थि में एक केंद्रीय गुहा होती है जिसमें एक कोमल
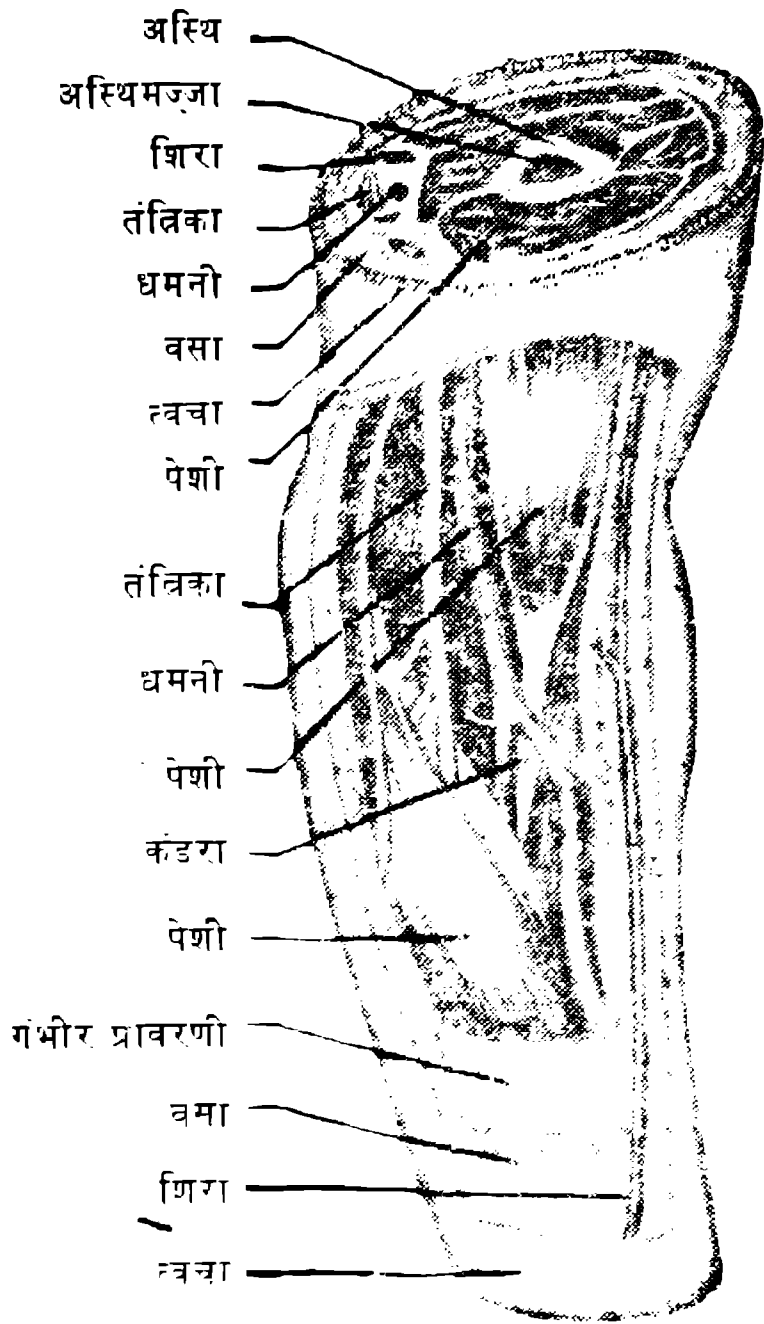
चित्र 4.4—शरीर के भीतर की संरचनाएं

पदार्थ होता है जिसे अस्थिमज्जा कहते हैं। दो या दो से अधिक अस्थियां तंतु-ऊतकों की, जिन्हें स्नायु (ligament) कहते हैं, श्वेत पट्टी से जुड़ी होती हैं और इस प्रकार एक जोड़ या संधि बन जाती है।

अंग तथा तंत्र (Organs and Systems) :

शरीर विभिन्न अंगों से मिल कर बना है और प्रत्येक अंग का एक विशेष कार्य होता है। शरीर का वह भाग जो किसी विशेष प्रकार का कार्य कर सकता है, अंग कहलाता है। इस तरह आंख दृष्टि का अंग कहलाती है और इसका कार्य देखना होता है। प्रत्येक अंग न केवल अपना विशेष कार्य करता है वरन् वह अन्य अंगों से तालमेल बैठा कर अपना कार्य करता है। उदाहरण के लिए, जब हम दौड़ते हैं तो पेशियां संकुचित होती हैं, पेशियों को अधिक रक्त संभरित करने के लिए हृदय अधिक तेजी से धड़कता है और रक्त में ताजा आक्सीजन पहुंचाने और उच्छिष्ट पदार्थ के निष्कासन के लिए श्वसन-क्रिया भी तेज हो जाती है। जब अंगों का एक समूह पूर्ण समन्वय के साथ कोई सर्व-निष्ठ कार्य करे तो उसे तंत्र कहते हैं। इस प्रकार मुंह, आमाशय, आंतें, तथा यकृत् मिलकर खाना पचाने के कार्य में सहायक होते हैं। अतः ये तथा कुछ अन्य अंग मिलकर पाचन तंत्र कहलाते हैं। शरीर के विभिन्न अंग इसी प्रकार के अनेक तंत्रों में वर्गीकृत किए गए हैं। इनमें से प्रत्येक अंग न केवल अपना कार्य करता है वरन् अन्य तंत्रों के साथ समन्वित होकर भी कार्य करता है जिसके परिणाम स्वरूप सभी तंत्र मिलकर पूरे शरीर के सुचारू रूप से कार्य करने में सहायक होते हैं। इस प्रकार मनुष्य का शरीर उसी रीति से कार्य करता है जिस प्रकार कोई सुसंगठित समाज श्रम-विभाजन तथा विशेषीकरण के आधार पर अपना कार्य करता है।

शरीर के अंगों को जिन तंत्रों में वर्गीकृत किया गया है वे निम्नलिखित हैं :

1. अस्थि तंत्र (Bony System) अथवा पंजर (Skeleton) (चित्र 4.51) 213 अस्थियों तथा कुछ उपास्थियों (cartilages) का बना होता है। वस्तुतः ये ही शरीर के ढांचे का काम करती हैं। अस्थियां आपस में पट्टियों अथवा स्नायुओं से जुड़ी होती हैं, जिनसे जोड़ या संधियां बनती हैं। इन संधियों के द्वारा ही शरीर के विभिन्न प्रकार के संचालन संभव होते हैं। अस्थियां कोमल भागों को सहारा देती हैं, नाजुक अंगों की रक्षा करती हैं और पेशीय क्रियाओं के लिए लिवर का काम करती हैं।

2. पेशी तंत्र (Muscular System) (चित्र 4.52) में शरीर के विभिन्न भागों, विशेषतः शाखाओं के मांसल भाग आते हैं। पेशियों में संकुचन तथा शिथिलन का गुण होता है। पेशी
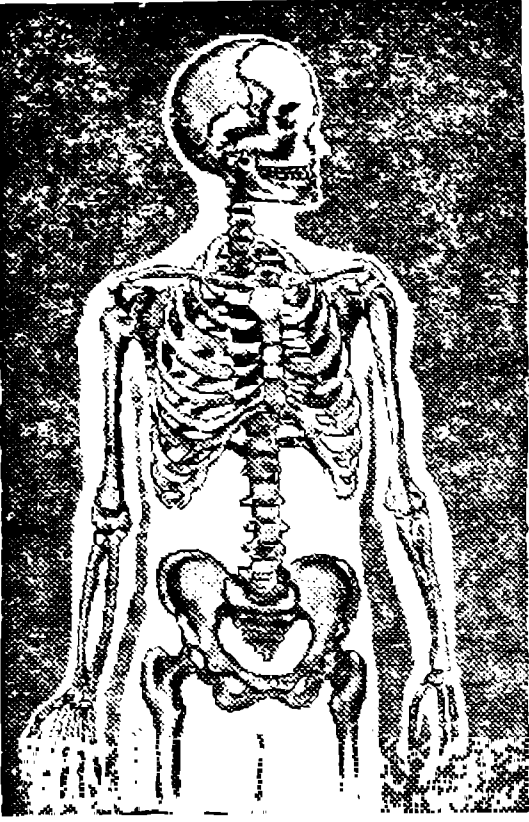
चित्र 4.51–अस्थि तंत्र

चित्र 4.52–पेशी तंत्र
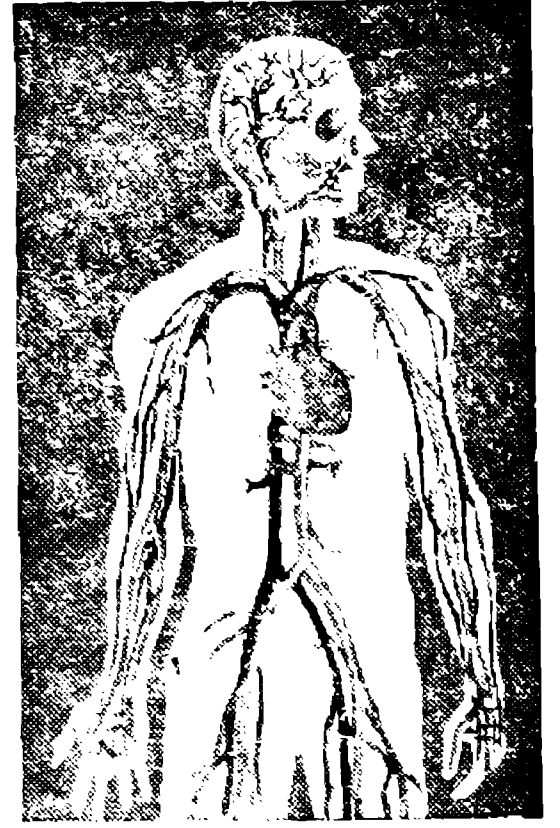
चित्र 4.53–परिसंचरण तंत्र

की इन्हीं क्रियाओं से शरीर का संचालन संभव होता है। पेशियां अस्थियों को आच्छादित करके शरीर को आकार देती हैं। शाखाओं तथा चेहरे में जो पेशियां होती हैं वे हमारी इच्छानुसार कार्य करती हैं, इन्हें स्वेच्छिक (voluntary) पेशियां कहते हैं। अन्य पेशियां जो हृदय तथा आंत्र जैसे अंगों में होती हैं, अनैच्छिक (involuntary) कहलाती हैं।

3. परिसंचरण तंत्र (Circulatory System) (चित्र 4.53) दो चीजों से बनता है:—एक खोखले पेशीय अंग, जिसे हृदय कहते हैं तथा एक बंद नाली-समूह जिन्हें धमनियां, केशिकाएं तथा शिराएं कहते हैं। ये रक्त-वाहिकाएं (blood-vessels) सारे शरीर में फैली हुई हैं। हृदय धमनियों के जरिये रक्त को बाहर पंप करते हुए शरीर के विभिन्न अंगों में भेजकर ऊतकों को खाद्य तथा आक्सीजन संभरित करता है तथा ऊतकों द्वारा उत्पन्न उच्छिष्ट पदार्थों को वापस ग्रहण करता है। इसके पश्चात् हृदय इन उच्छिष्ट पदार्थों को उत्सर्गी अंगों, जैसे कि वृक्कों को भेज देता है जो इन्हें शरीर के बाहर निकाल देते हैं। शिरीय (venous) रक्त हृदय द्वारा फेफड़ों को भेज दिया जाता है ताकि उसे आक्सीजन का फिर से संभरण मिल सके।

4. श्वसन (Respiratory) तंत्र (चित्र 4.54) में नाक, ग्रसनी (गला), स्वरयंत्र (स्वर कोष्ठक), श्वास-नलिका, श्वसनी (bronchi) तथा फेफड़े होते हैं। जब ताजी हवा फेफड़ों में प्रवेश करती है तो शिरीय रक्त आक्सीजन ग्रहण कर लेता है और कार्बन डायआक्साइड और आर्द्रता का त्याग कर देता है। प्रश्वसन (inspiration) के दौरान ताजी हवा तेजी से फेफड़ों में प्रवेश करती है और वक्ष की गुहा, वक्ष तथा डायाफ़ाम की पेशियों की क्रिया से फैल जाती है। निःश्वसन (expiration) के दौरान फेफड़ों की हवा बाहर निकल जाती है और पेशियां शिथिल होकर वक्ष में पुनः संकुचन उत्पन्न करती हैं।

5. उत्सर्गी तंत्र (Excretory System) (चित्र 4.54) : विभिन्न क्रियाकलापों के दौरान शरीर द्वारा उत्पन्न उच्छिष्ट पदार्थों को बाहर निकालने के लिए एकत्र किया जाता है। वृक्क, बड़ी आंतें, त्वचा, फेफड़े तथा यकृत् ये सभी उच्छिष्ट पदार्थों को शरीर से बाहर निकालने का कार्य करते हैं। उत्सर्गी तंत्र के अंतर्गत ये
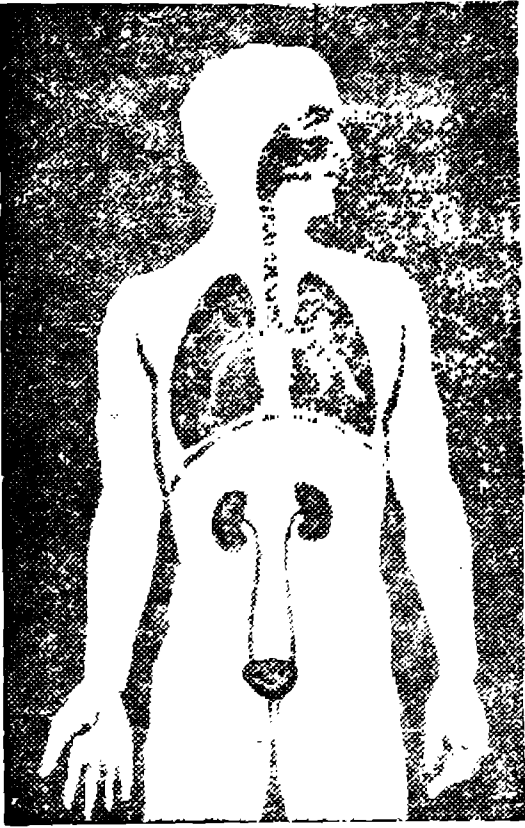
चित्र 4.54
श्वसन तथा उत्सर्गी तंत्र
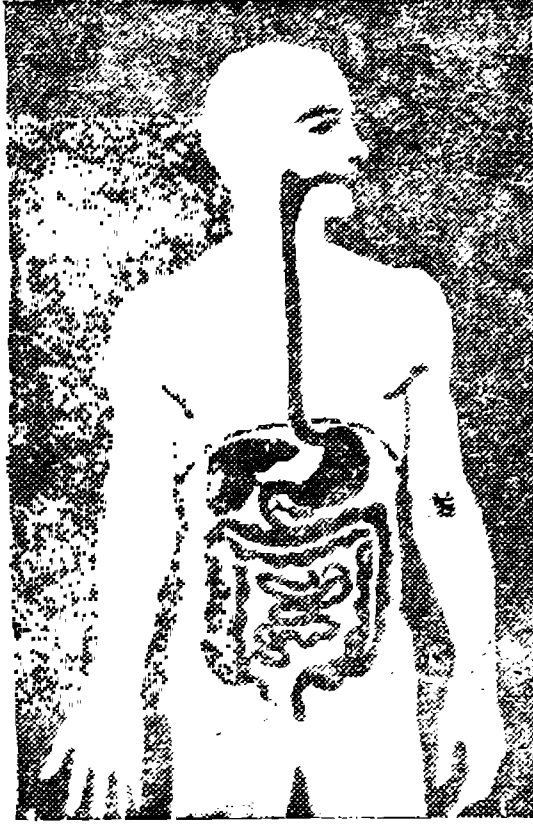
चित्र 4.55
पाचन तंत्र
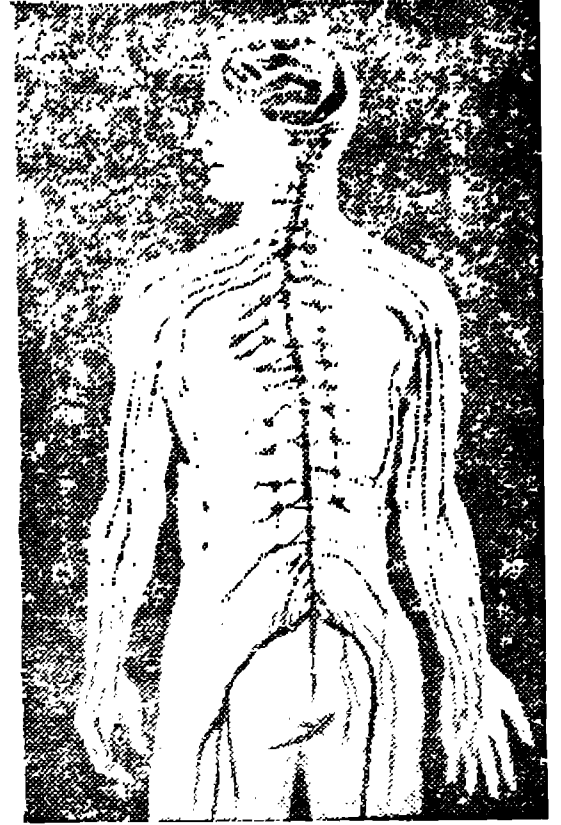
चित्र 4.56
तंत्रिका तंत्र

सभी एक वर्ग में आते हैं। फेफड़े कार्बन डाइ-आक्साइड और पानी निकालने का काम करते हैं; वृक्क यूरिया, यूरिक अम्ल (uric acid), कुछ प्रकार के लवण तथा पानी इत्यादि निकालते हैं; त्वचा यूरिया, विविध प्रकार के लवण, पानी आदि निकालती है तथा बड़ी आंत अपचित खाद्य तथा यकृत् के उच्छिष्ट पदार्थों को निकालने का कार्य करती है।

6. पाचन तंत्र (Digestive System) (चित्र 4.55) एक लंबी नलिका होती है जिसमें मुख, आहार नलिका, आमाशय, आंतें तथा विभिन्न ग्रंथियां (glands), जैसे लार ग्रंथियां (Salivary glands), यकृत् तथा अग्न्याशय होते हैं। ये ग्रंथियां पाचन रस उत्पन्न करती हैं। इन रसों, अर्थात् लाला रस, जठर रस, आंत्र रस, अग्न्याशय रस तथा पित्त की क्रिया द्वारा खाना पचकर अवशोषण (absorption) के अनुकूल बनता है। अपचित खाद्य विष्ठा बनकर निकल जाता है।

7. तंत्रिका तंत्र (Nervous System) (चित्र 4.56) के अंतर्गत हैं कपाल में स्थित मस्तिष्क, केशरुकदंड के भीतर स्थित सुषुम्ना (spinal cord) तथा इन दोनों से निकलने वाली तंत्रिकाएं। यह तंत्र अन्य सभी तंत्रों का कार्य नियंत्रित तथा नियमित करता है जिससे विभिन्न अंग परस्पर समन्वय के साथ काम कर पाते हैं और संपूर्ण शरीर सुचारु रूप से कार्य करता है।

8. अंत: स्रावी तंत्र (Endocrine System) (चित्र 4.57) में अनेक नि:स्रोत ग्रंथियां होती हैं। इन्हें नि:स्रोत ग्रंथियां इसलिए कहते हैं कि उनके स्राव (secretions) नलिकाओं या वाहिनियों से होकर नहीं गुजरते वरन् सीधे रक्त प्रवाह में गिरते हैं। ये ग्रंथियां शरीर के विभिन्न भागों में रहती हैं। सात महत्वपूर्ण अंत: स्रावी ग्रंथियां निम्नलिखित हैं : पीयूषिका (pituitary), अवटु (thyroid), परावटु (para thyroid), थाइमस, अधिवृक्क (adrensls) अग्न्याशय के द्वीपिका कोष्ठक और जनन-ग्रंथियां (gonads)। नि:स्रोत ग्रंथियां बहुत से हारमोन नि:स्रित करती हैं जो शरीर के सामान्य कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। आमतौर से हारमोनों के बिना शरीर का न तो विकास हो सकता है और न वह सामान्य रूप से कार्य कर सकता है।
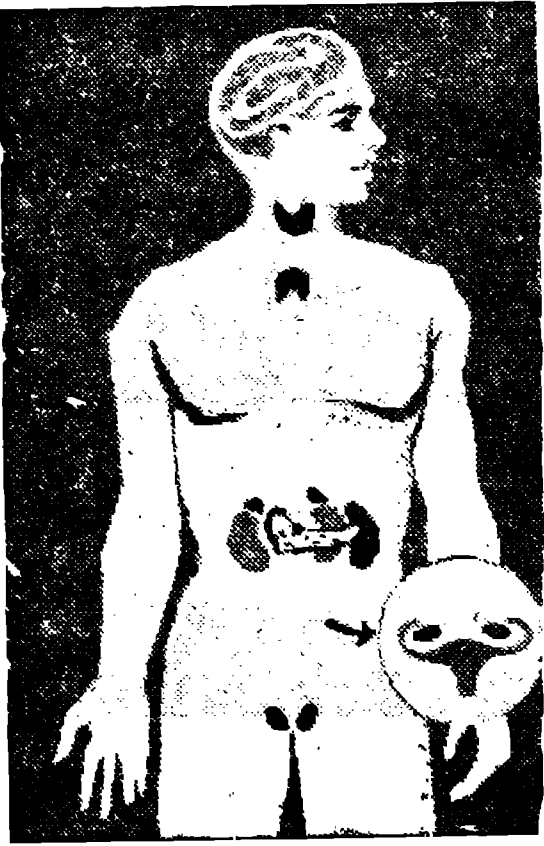
चित्र 4.57
अंत:स्रावी तंत्र
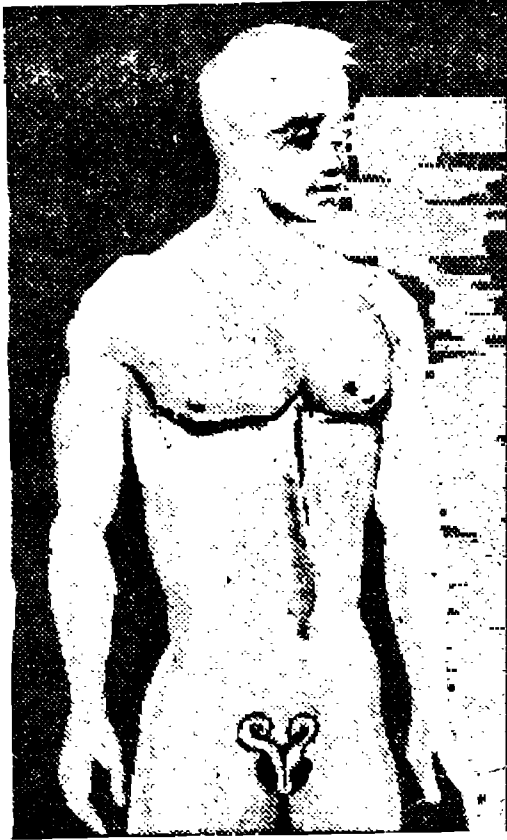
चित्र 4.58
पुरुष जनन तंत्र
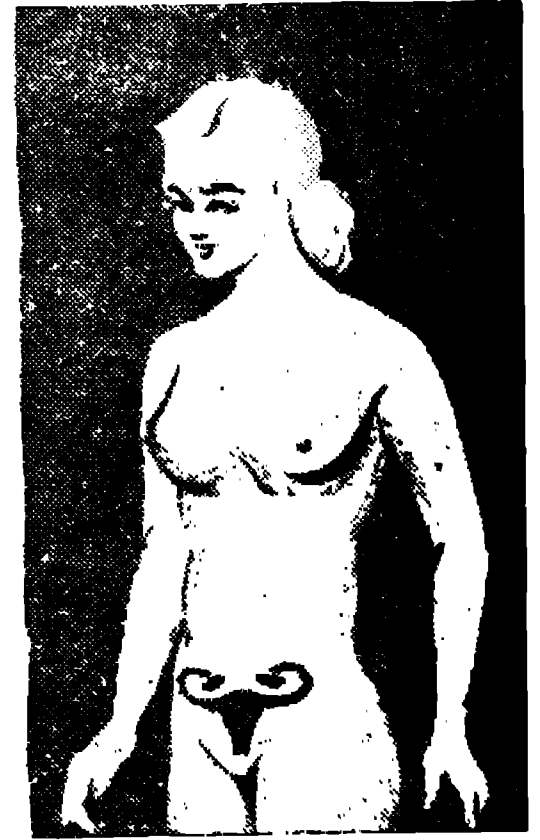
चित्र 4.59
स्त्री जनन तंत्र

9. जनन अथवा जननांगी तंत्र (Reproductive or genital system) (चित्र 4.58 तथा 4.59) : यह तंत्र मनुष्य जाति के प्रजनन तथा प्रसार के लिए आवश्यक है। पुरुषों तथा स्त्रियों के जनन अंग भिन्न होते हैं। वे अंग जो बाहर से दिखाई देते हैं बाह्य जनन अथवा जननांगी अंग कहलाते हैं। पुरुषों के बाह्य अंग लिंग तथा अंडकोष होते हैं तथा स्त्रियों के बाह्य अंग योनि तथा स्तन होते हैं। स्त्री की श्रोणि गुहा में भीतरी जनन अंग होते हैं, जैसे कि गर्भाशय, डिंबवाहिनी नलियां तथा डिंबग्रंथियां। पुरुष के भीतरी अंग वृषण (testis), शुक्रवाहिका (ductus deferens), मूत्रनली (urethra) इत्यादि हैं। डिंबग्रंथि डिंब का तथा वृषण शुक्राणुओं (sperms) का निर्माण करते हैं और डिंब तथा शुक्राणु के संयोग से भ्रूण की रचना होती है।

शरीर की सूक्ष्मातिसूक्ष्म संरचना :

मनुष्य का शरीर किसी पदार्थ का एक ही खंड न होकर वास्तव में लाखों जीवित इकाइयों का समूह है, जिन्हें, कोशिकाएं कहते हैं। यह प्रत्येक जीवित इकाई, जिससे संसार के समस्त जीवित प्राणियों का निर्माण हुआ है, इतनी सूक्ष्म होती है कि नंगी आंखों से नहीं दिखाई देती और उसे केवल सूक्ष्मदर्शी यंत्र की सहायता से ही देखा जा सकता है। जैसे कोई इमारत सहस्रों ईंटों को सीमेंट से जोड़

चित्र 4.6—एक दीवार की ईंटें
श्लेष्माकला की कोशिकाएं

चित्र 4.7—कोशिका की संरचना
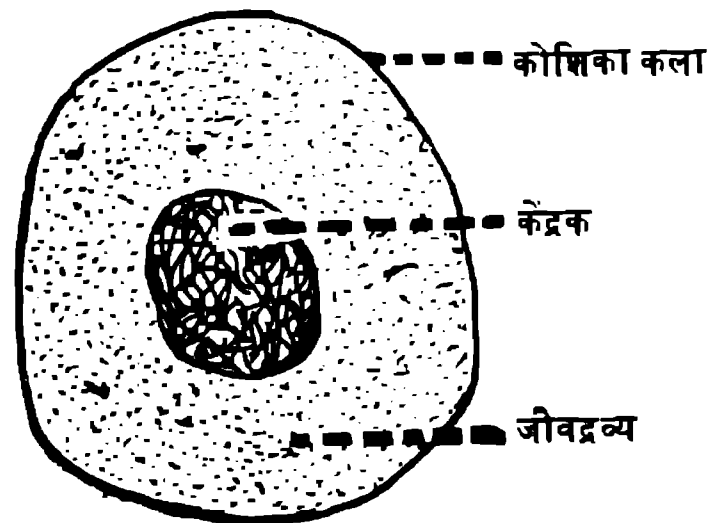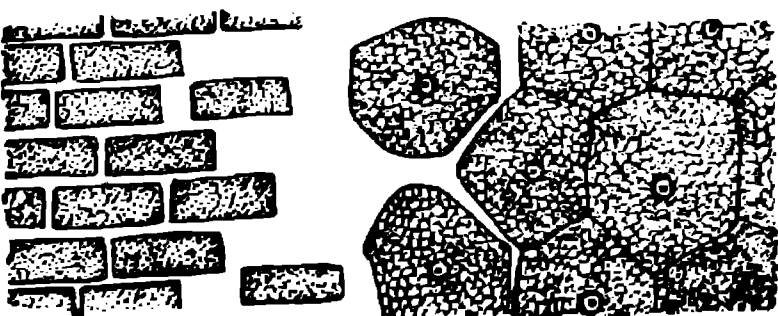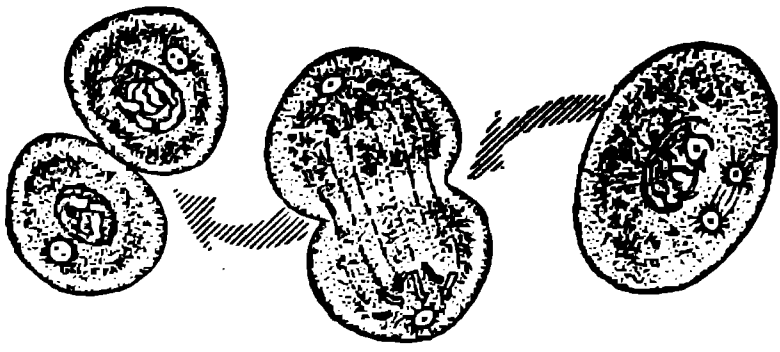
चित्र 4.8—एक कोशिका और उसका विभाजन

कर तैयार की जाती है, वैसे ही मनुष्य का शरीर असंख्य सूक्ष्म इकाइयों से मिलकर बनता है जिन्हें कोशिकाएं कहते हैं (चित्र 4.6)। एक कोशिका में जेली की तरह के एक जीवित पदार्थ को सूक्ष्म मात्रा होती है जिसे जीवद्रव्य (protoplasm) कहते हैं। जीवद्रव्य के भीतर जो अपेक्षाकृत अधिक ठोस भाग होता है उसे केंद्रक (nucleus) कहते हैं (चित्र 4.7)। प्रत्येक कोशिका के चारों ओर एक विशेष प्रकार की कोशिका कला या झिल्ली चढ़ी रहती है। कोशिका की तुलना स्थूल रूप से अंगूर से की जा सकती है जिसमें जीवद्रव्य गूदे की तरह है और केंद्रक बीज की तरह है तथा कोशिका कला अंगूर के छिलके की तरह है। प्रत्येक कोशिका को आहार, हवा तथा पानी की आवश्यकता होती है। कोशिका विकसित होती है, कार्य करती है, एक से अनेक होती है तथा मर जाती है। इस प्रकार यह सभी प्रकार से एक जीवित इकाई के रूप में आचरण करती है। पूर्ण विकास के बाद केंद्रक दो भागों में विभाजित हो जाता है। उसके बाद कोशिकाद्रव्य भी बंट जाता है (जीवद्रव्य में से केंद्रक निकाल दें तो उसे कोशिकाद्रव्य कहते हैं)। इस प्रकार विभाजित दोनों ही भाग अपने आप में अलग-अलग कोशिकाएं बन जाते हैं (चित्र 4.8)। यही प्रक्रिया अनेकानेक बार दुहराई जाती है जिसके परिणामस्वरूप एक कोशिका से असंख्य कोशिकाएं बन जाती हैं। उदाहरण के लिए, यदि शरीर के किसी भाग की त्वचा क्षति के कारण समाप्त हो जाय तो घाव के चारों ओर उस त्वचा की कोशिकाएं विभाजन तथा पुनर्विभाजन की प्रक्रिया द्वारा नई त्वचा-कोशिकाओं की रचना करने लगती हैं

चित्र 4.91—कोशिका के विभिन्न प्रकार
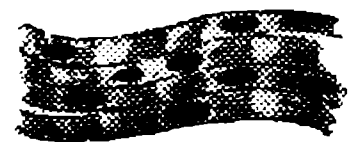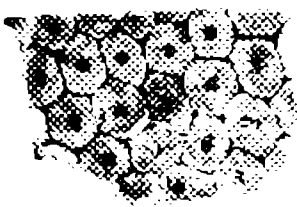
जिसके परिणामस्वरूप सारे घाव पर नई त्वचा आ जाती है। केंद्रक, कोशिका का 'कार्यकारी' भाग है जो उसकी संरचना तथा कार्यों का नियमन करता है जिससे विभाजन के बाद कोशिका ठीक अपनी ही तरह की दो कोशिकाओं का उत्पादन करती है।

मनुष्य के भीतर अनेक प्रकार की कोशिकाएं होती हैं (चित्र 4.91) जिनके भिन्न-भिन्न कार्य होते हैं। समान कोशिकाओं के किसी समूह
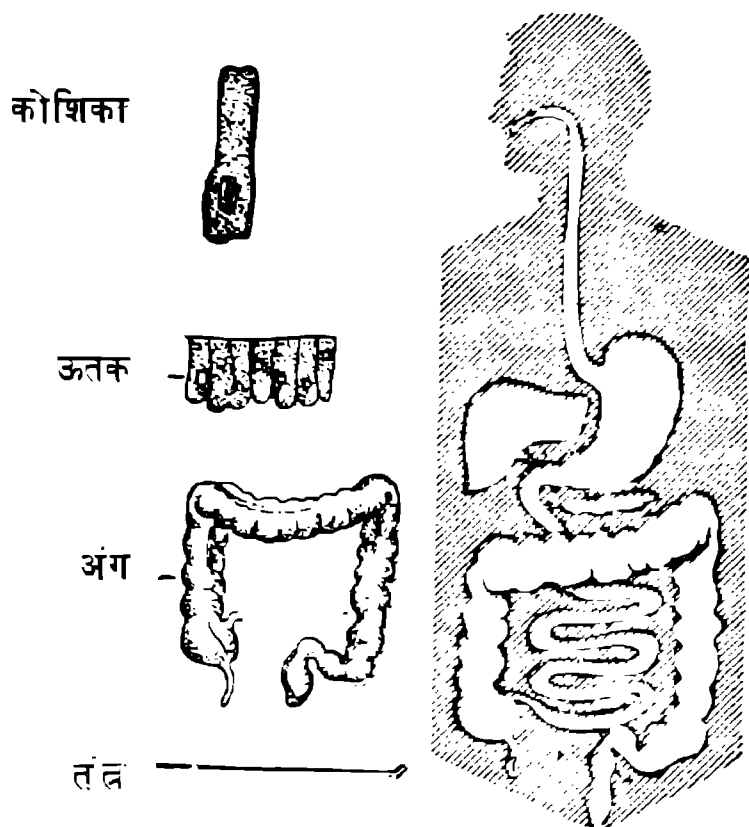
चित्र 4.92—शरीर की निर्मिति

को जो एक ही प्रकार का कार्य करता है, ऊतक (tissue) कहते हैं। किसी एक पेशी में विभिन्न तंतु आकार में समान होते हैं, उनका एक ही प्रकार का कार्य होता है अर्थात् संकुचन। अतः पेशी एक ऊतक है। जिस प्रकार कोई परिधान विभिन्न बनावटों (कपड़ा, अस्तर, कैनवेस, बटन) का अथवा विभिन्न प्रकार के धागों का सम्मिलित रूप होता है, ठीक उसी प्रकार एक अंग विभिन्न ऊतकों से मिलकर बना होता है (चित्र 4.92)। आकार तथा कार्य के अनुसार ऊतक विविध प्रकार के वर्गों में विभाजित किए जाते हैं। इस प्रकार के वर्गों के कुछ उदाहरण हैं, तंत्रिका ऊतक जो शरीर का संचार तंत्र होता है, उपकला ऊतक (epithelial tissue) अर्थात् त्वचा जो शरीर को आवृत करती है तथा संयोजी ऊतक (connective tissue) जो विभिन्न संरचनाओं को आपस में आबद्ध रखता है।

अधिक जानकारी के लिए निम्नलिखित ग्रंथ देखें—

1. ए टेक्स्ट बुक आफ़ एलिमेंट्री फीजियोलोजी—पृ. 216, लेखक—डा. वी. एन. भावे, ए. वी. गृह पब्लिकेशन, पूना।
2. द ह्यूमन बॉडी एंड हाऊ इट वर्क्स—पृ. 242, लेखक—ई. टोके, द न्यू अमेरिकन लाइब्रेरी, न्यूयार्क।
3. द ह्यूमन बॉडी—पृ. 232, लेखक—ई. ई. स्प्राउड, पाकेट बुक्स इन्का.

• • •

5
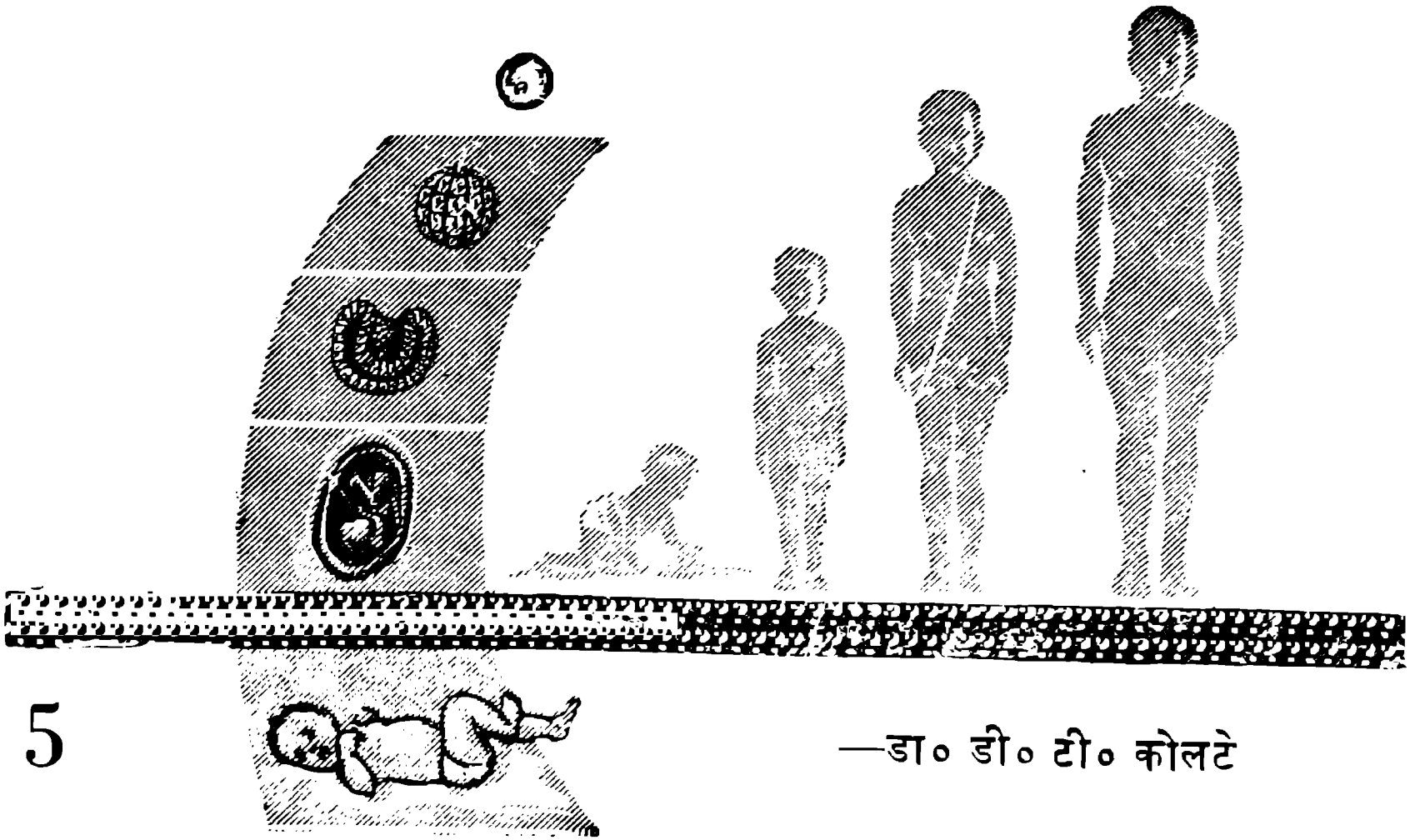
—डा० डी० टी० कोलटे

शरीर का विकास और जनन

इस धरती पर जीवन से बढ़कर अमूल्य और कोई वस्तु नहीं। हममें तथा सभी जीवित संरचनाओं, जैसे पेड़-पौधों तथा प्राणियों, में जीवन है। किसी भी जीवित प्राणी का एक मुख्य लक्षण होता है, उसकी विकास करने की क्षमता। एक नवोदमिद बढ़कर पौधा बन जाता है और पौधा समय पाकर विशाल वृक्ष बन जाता है। एक शिशु समय आने पर वयस्क बन जाता है। जीवनरहित वस्तुएं विकसित नहीं हो सकतीं। एक क्रिस्टल संतृप्त (saturated) घोल में रखने पर आकार में बढ़ सकता है यदि बाहर से उसी सामग्री का अतिरिक्त लेप उस पर चढ़ा दिया जाए; पर वास्तव में सही अर्थों में यह विकास नहीं कहा जाएगा। जीवित वस्तुओं में विकास कोशिकाओं के संवर्धन के फलस्वरूप होता है। सारी जीवित संरचनाएं एक निश्चित सीमा तक विकास प्राप्त करती हैं। वे सारे जीवन बराबर विकसित होती नहीं रह सकतीं। देर-सबेर उनका मरना निश्चित है, पर मरने से पूर्व वह जीवन की शृंखला में एक और कड़ी जोड़ देती हैं। वस्तुत: प्रत्येक प्राणी या पौधा जनन की आकांक्षा रखता है और प्रयास करता है। व्यक्तियों के अनेक क्रियाकलाप जनन के उद्देश्य से किए जाते हैं, अत: सभी प्राणी तथा पौधे संतति उत्पन्न करने की जीवन की दौड़ में भाग लेते हैं। जीव अपनी जाति का जीव उत्पन्न करके अगली पीढ़ी को योगदान करता है तथा अपनी जाति को सातत्य बनाए रखने में सहायता प्रदान करता है। समय बीतने के साथ-साथ कोई विशिष्ट जीव प्रजाति परिवर्तन को प्राप्त हो सकती है जिसे विकास (evolution) कहते हैं।

संवर्धन तथा विकास के बारे में बुनियादी बातें :

कुछ एककोशिक जीव ऐसे होते हैं जो अलैंगिक (asexual) पद्धति से, जैसे कि द्वि-विभाजन (binary fission), मुकुलन (budding) इत्यादि के द्वारा जनन करते हैं। फलत: उनमें नर और मादा के सहवास की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि इस प्रकार के प्राणियों के लिंग

*　*　*　*

डा. डी. टी. कोलटे, एम. बी., बी. एस, एम. एस-सी., शरीर-रचना विज्ञान के प्रोफेसर, बी. जी. मेडिकल कालेज, पूना।
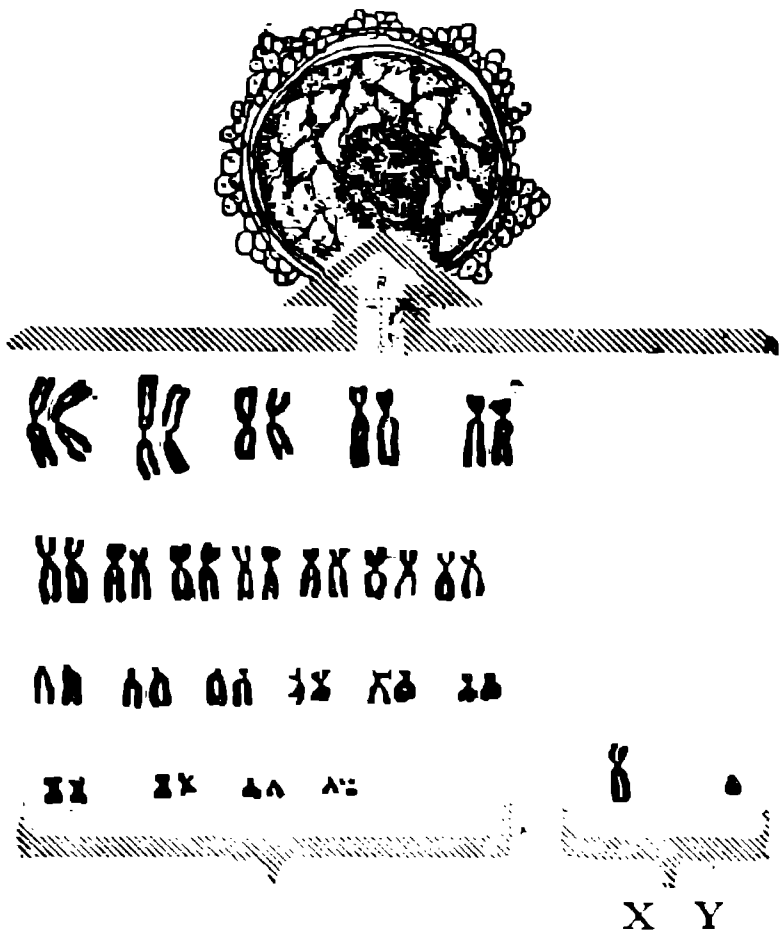
चित्र 5.2—कोशिका तथा उसके क्रोमोसोम

होते ही नहीं। द्वि-विभाजन में जीव सिर्फ दो अर्द्ध भागों में विभाजित हो जाता है, जिसमें से प्रत्येक अर्द्धभाग अलग से विकसित होने लगता है। विभाजन की प्रक्रिया केंद्रक प्रारंभ करता है और इसके साथ ही जीवद्रव्य भी विभाजित हो जाता है। फिर दोनों अर्द्ध भाग अलग हो जाते हैं। अमीबा, बैक्टीरिया इत्यादि इस रीति से जनन के आम उदाहरण हैं।

दूसरी ओर, कुछ प्राणी ऐसे हैं जिनमें एक ही शरीर में नर तथा मादा दोनों ही जननांग (sexual organs) होते हैं। ऐसे प्राणियों को उभयलिंगी (hermaphrodite) कहते हैं। वे अपने ही नर तथा मादा जननांगों की सहायता से जनन कर सकते हैं, अथवा वे एक साथी की सहायता लेकर, एक ही नर जनन कोशिकाओं से, अथवा इसके विपरीत आदान-प्रदान करके जनन-क्रिया कर सकते हैं।

अधिकांश बड़े प्राणियों में, जिनमें मनुष्य भी शामिल है, लिंग अलग होते हैं और परिणामत: जनन के लिए लैंगिक सहवास अनिवार्य है। मानव-शरीर की कोशिकाओं में गुणसूत्र (क्रोमोसोम) केंद्रक के भीतर होते हैं। किसी भी जाति-विशेष की क्रोमोसोमों की संख्या निश्चित होती है। मनुष्यों में क्रोमोसोमों की संख्या 46 होती है। ये क्रोमोसोम दो प्रकार के होते हैं, सामान्य क्रोमोसोम ऑटोसोम कहलाते हैं और लिंग निश्चित करने वाले क्रोमोसोम लिंग क्रोमोसोम कहलाते हैं (चित्र 5.2)। लिंग क्रोमोसोम के भी दो उपप्रकार होते हैं, X तथा Y क्रोमोसोम। क्रोमोसोमों में एक प्रकार के सूक्ष्म कण होते हैं जिन्हें जीन (genes) कहते हैं। हाल ही में जीनों की रासायनिक प्रकृति की जांच की गई और उससे यह पता चला है कि यह प्रोटीन अणुओं (molecules) से बना होता है जिनके विन्यास विविध प्रकार के होते हैं। ये जीन ही आनुवंशिक लक्षणों के पारगमन (transmission) के लिए उत्तरदायी होते हैं। प्रत्येक जीन एक या एकाधिक गुणों के लिए उत्तरदायी होता है, जैसे कि त्वचा का रंग, कद की लंबाई या नाटापन, शारीरिक गठन तथा पक्षियों में पंखों के रंग व आकार आदि। जीनों में अंतर प्रोटीन अणुओं के विन्यासों में अंतर के फलस्वरूप होता है। जीन में इन अणुओं के विन्यास में अंतर आने के परिणामस्वरूप परिवर्तन हो सकता है, जिसे उत्परिवर्तन (mutation) कहते हैं। यह अच्छा या बुरा दोनों सिद्ध हो सकता है। इसके परिणामस्वरूप कोई आनुवंशिक लक्षण वहन करने वाला जीन संतति में पहुंच कर इसी म्यूटेशन के कारण एकदम भिन्न गुण प्रकट कर सकता है। वातावरण से उत्पन्न कारक, एक्स-किरणों के सम्मुख अनावरण (exposure), गर्भावस्था के समय मां को होने वाले रोग इत्यादि इस प्रकार का म्यूटेशन उत्पन्न कर सकते हैं। इन जीनों के दो प्रकार होते हैं, प्रभावी (dominant) तथा अप्रभावी (recessive)। अप्रभावी जीन का जब किसी प्रभावी जीन से युग्मन होता है तो वह अपने गुण प्रकट नहीं कर सकता क्योंकि वे गुण प्रभावी जीन के द्वारा दब जाते हैं। अप्रभावी जीन का, अपने लक्षणों को
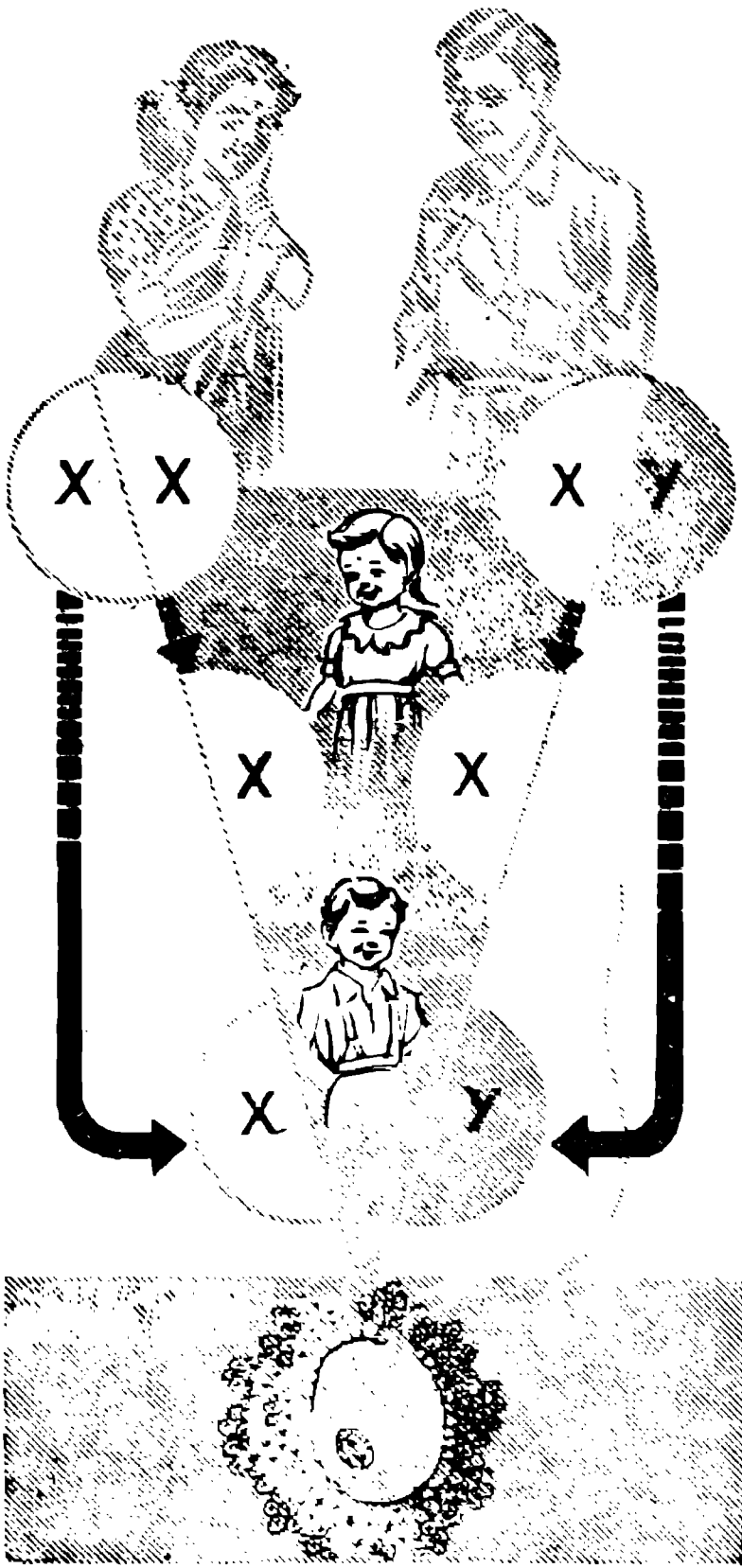
चित्र 5.3—लिंग क्रोमोसोम

प्रकट करने में समर्थ होने के लिए एक और अप्रभावी जीन के साथ होना अनिवार्य है। कुछ आनुवंशिक रोगों, जैसे हीमोफीलिया, रंगांधता (colour blindness), मधुमेह इत्यादि के लिए जीन ही उत्तरदायी होते हैं। जीनों के अध्ययन वाला विज्ञान आनुवंशिकी (genetics) कहलाता है।

पुरुषों की कोशिकाओं में एक X तथा एक Y गुणसूत्र (क्रोमोसोम) होता है, जबकि स्त्रियों की कोशिकाओं में दो X क्रोमोसोम होते हैं (चित्र 5.3)। लिंग क्रोमोसोमों के पहचान की विशेष तकनीक द्वारा अब जन्म से पूर्व किसी विकासमान गर्भ का लिंग बताना संभव हो गया है।

जनन (Reproduction) :

जब लिंग कोशिकाएं विभाजित होती हैं तो लिंग क्रोमोसोम अलग हो जाते हैं। जनन कोशिकाएं अथवा युग्मक (gemetes) (पुरुषों में वृषण की तथा स्त्रियों में डिंबग्रंथि की) में क्रोमोसोमों की संख्या शेष शरीर की कोशिकाओं में विद्यमान क्रोमोसोमों की आधी ही होती है, अतः पुरुष तथा स्त्री गैमीट का संयोग सामान्य क्रोमोसोम-संख्या को बनाए रखने के लिए आवश्यक होता है। पुरुष गैमीट शुक्राणु (spermatozoa, sperms) कहलाते हैं और स्त्री गैमीट डिंब (ova) कहलाते हैं (चित्र 39.3)।

शुक्राणु (चित्र 5.4) का निर्माण वृषण (testes) में होता है। वृषण दो अंडाकार पिंड होते हैं जो शरीर गुहा के बाहर स्थित होते हैं और एक थैली में रहते हैं, जिन्हें वृषणकोश (scrotum) कहते हैं। प्रत्येक वृषण के भीतर अनेक नलिकाएं होती हैं जिन्हें शुक्रजनक नलिका (seminiferous tubules) कहते हैं। प्रत्येक नलिका के चारों ओर कोशिकाएं होती हैं जो संख्या में बढ़ती रहती हैं और फिर परिवर्तित होकर शुक्राणु बन जाती हैं। वृषण का विकास तथा उसका स्राव (secretion) पीयूषिका ग्रंथि द्वारा नियंत्रित होता है और इस प्रकार पीयूषिका ग्रंथि रोग होने पर लैंगिक विकृतियां होने लगती हैं। शुक्राणु की एक लंबी पूंछ होती है जिसे फटकारते हुए वे तेजी से तैर सकते हैं। वृषण से शुक्राणु वाहिका में, जिसे शुक्रवाहिका (vas deferens) कहते हैं, प्रवेश करते हैं और बाद में लैंगिक सहवास के दौरान पुरुष के बाह्य जननअंग, शिश्न के द्वारा स्त्री के जनन मार्गों में स्थानांतरित हो जाते हैं (चित्र 39.4)। इस प्रकार इस शुक्रवाहिका का बंधन (ligation) शुक्राणु को स्त्री के जनन मार्गों (female genital passages) में प्रवेश करने से रोक सकता है। शुक्रवाहिका के एक भाग
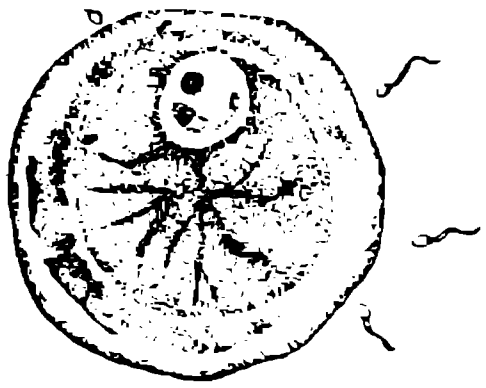
डिंब शुक्राणु ↑
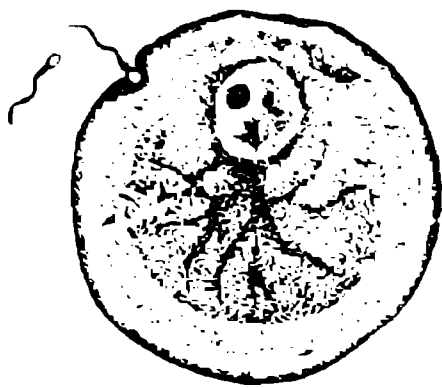
डिंब में प्रवेश करते शुक्राणु
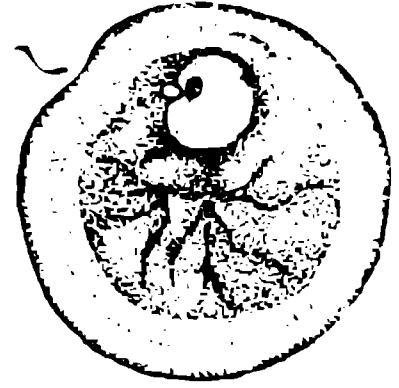
युग्मनज

चित्र 5.4—शुक्राणु और डिंब का मिलन

के बांधन और काटने के कार्य को, जिसे शुक्रवहा-उच्छेदन अथवा नसबंदी (vasectomy) कहते हैं, अब परिवार नियोजन के एक सफल उपाय के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। परिवार नियोजन से संबंधित अध्याय 39 में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है।

डिंब (ova) (चित्र 5.4) स्त्रियों के डिंब-ग्रंथि में निर्मित होता है। डिंबग्रंथि वस्तुतः दो हैं जो स्त्री की श्रोणीय गुहा में स्थित होती हैं। प्रति-मास डिंबग्रंथि से एक डिंब निकलता है। डिंब एक नली से होकर गुजरते हैं जिसे डिंबवाहिनी-नली (fallopian tube) कहते हैं जिसमें आम-तौर पर निषेचन (fertilization) होता है (चित्र 38.2)। इन डिंबवाहिनी नलियों को बांध देने से शुक्राणु डिंब से नहीं मिल पाते। इस प्रकार नली बंधन (tubal ligation) परिवार नियोजन के लिए एक और विकल्प है।

भ्रूण का विकास (Development of the Embryo) :

शुक्राणु के डिंब से मिलन के परिणामस्वरूप युग्मनज (zygote) की रचना होती है (चित्र 5.4) जो गर्भाशय के भीतर अंतःस्थापित (em-bedded) हो जाता है। युग्मनज जब गर्भाशय तक नहीं पहुंच पाता तो यह स्वयं डिंबवाहिनी नली में ही अंतः स्थापित हो सकता है और वहीं विकसित भी हो सकता है। इस प्रकार अप-सामान्य स्थान पर युग्मनज का आरोपित (im-plant) होना खतरनाक होता है और इससे मां की जान जा सकती है। युग्मनज दो कोशिकाओं में विभाजित हो जाता है, फिर चार, आठ इत्यादि कोशिकाओं में विभाजित होता चला जाता है, यहां तक कि कोशिकाओं की एक ढेरी, मोरूला (morula) बन जाती है (चित्र 5.5)। जब और विकसित होता है तो कोशिकाओं की तीन पर्तें बन

चित्र 5.5—युग्मनज से भ्रूण का विकास
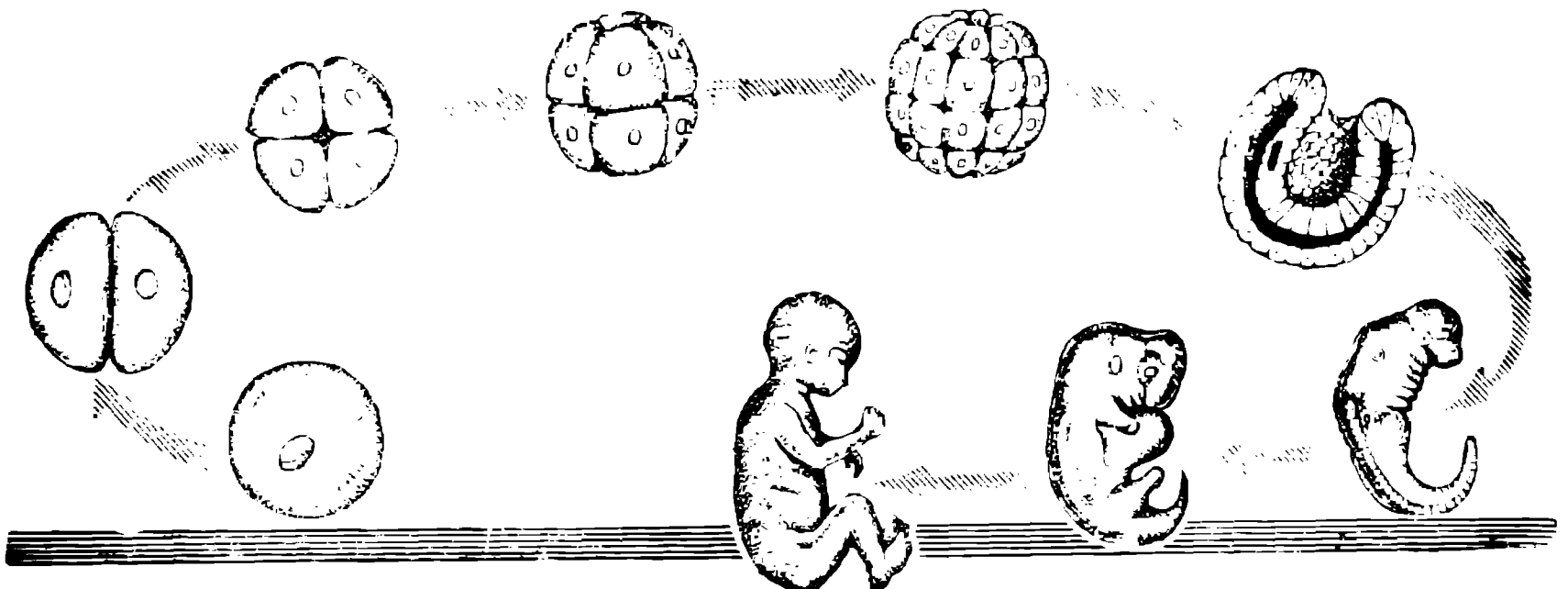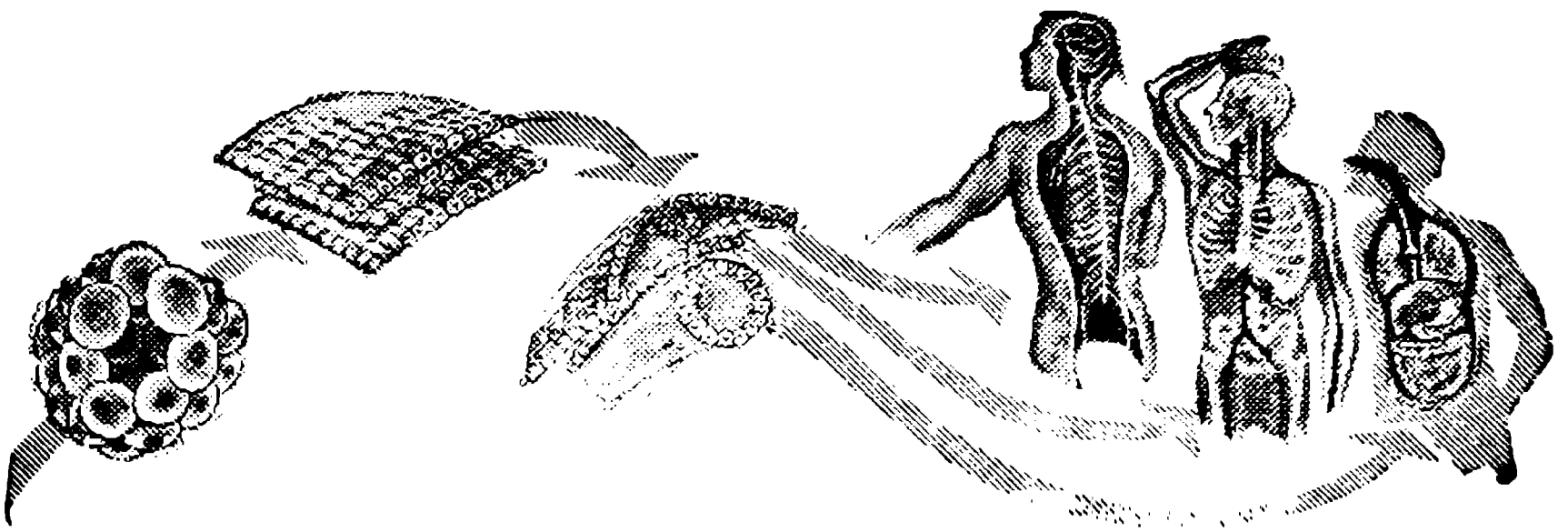
चित्र 5.6–तीन जननिक स्तर और उनसे तंत्रों का विकास

जाती हैं जिन्हें जननिक स्तर (germinal layers) कहते हैं। इनमें एक बाहरी स्तर होता है जिसे बहिर्जनस्तर (ectoderm) कहते हैं, एक बीच का स्तर होता है जिसे मध्यजनस्तर (mesoderm) कहते हैं और एक निचला स्तर होता है जिसे अंतर्जनस्तर (endoderm) कहते हैं। इनमें से प्रत्येक जननिक स्तर भिन्न-भिन्न अंगों को जन्म देता है (चित्र 5.6)। त्वचा, बाल इत्यादि तथा समस्त तंत्रिका तंत्र एक्टोडर्म से ही विकसित होते हैं। अस्थियां, पेशियां, रक्त-वाहिकाएं, मूत्रजननांग इत्यादि मेजोडर्म से निकलते हैं। आंत्र और उसके सारे संलग्न अंग, जैसे यकृत् तथा अग्न्याशय एंडोडर्म की ही सृष्टि हैं। इन जननिक स्तरों से निकले हुए अंग बाद में अपनी घटक कोशिकाओं की वृद्धि के द्वारा बढ़कर अपने सामान्य आकार के हो जाते हैं।

युग्मनज के विकास में आगे के सोपान हैं भ्रूण तथा गर्भ। गर्भाशय के भीतर विकास का पूरा समय भिन्न-भिन्न प्राणियों में भिन्न-भिन्न होता है। उदाहरण के लिए, चूहों में यह काल तीन सप्ताह का, हाथियों में पूरा एक वर्ष और मनुष्य में लगभग 280 दिन (9 मास 9 दिन) का होता है। इस काल को गर्भकाल अथवा सगर्भता अवधि (gestation) कहते हैं। जब यह काल समाप्त होता है तो गर्भ मां के गर्भाशय से बाहर आ जाता है और इस प्रकार उसका जन्म होता है। यह नवजात विकसित होकर शिशु बनता है, फिर बालक या बालिका बनता है और बाद में एक वयस्क बनता है जो फिर जनन-कार्य द्वारा नई पीढ़ी को जन्म देता है और इस प्रकार अपनी जाति का सातत्य बनाये रखता है।

जन्म के बाद विकास :

जन्म के तुरंत बाद जो परिवर्तन प्रारंभ में होते हैं उनमें फेफड़ों की वृद्धि तथा रक्त के परिचालन में कुछ परिवर्तन सम्मिलित हैं। जन्म के समय एक औसत बच्चे का भार लगभग 2500 ग्राम (5.5 पौंड) होता है। पहले वर्ष के दौरान मस्तिष्क का विकास बड़ी तेजी से होता है। अस्थियां लंबाई और मोटाई में बढ़ने लगती हैं। कपाल में कुछ रिक्तियां होती हैं जिन्हें कलांतराल (fontanelles) कहते हैं और जो झिल्लियों (कलाओं) से बंद रहती हैं। इन्हीं रिक्तियों में कपाल और मस्तिष्क का विस्तार होता है। आमतौर पर ये सारी रिक्तियां दो वर्ष के भीतर समाप्त हो जाती हैं। छठे से लेकर आठवें मह. तक के काल में दूध के दांत जबड़ों में से निकलना शुरू कर देते हैं। ढाई साल का होते-होते दूध के सारे 20 दांत निकल जाने चाहिये। ये दांत 6 वर्ष की अवस्था के बाद गिरने शुरू हो जाते हैं और स्थाई दांत निकलने शुरू हो जाते हैं। इनमें से आखिरी स्थायी दांत सामान्यत: 25 वें वर्ष में निकलता है।

लगभग 13 वर्ष का होते-होते व्यक्ति लैंगिक परिपक्वता की ओर अग्रसर होने लगता है। इस

यौवनारंभ (puberty) अवस्था में लड़कियों को मासिक धर्म प्रारंभ हो जाता है और गौण सेक्स संबंधी लक्षण प्रकट होने लगते हैं। इसी प्रकार पुरुषों में यौवनारंभ की अवस्था में गौण सेक्स संबंधी लक्षण प्रकट होते हैं और स्वर यंत्र में होने वाले परिवर्तनों के कारण उसका कंठ फूटता है। लड़कियों में पूर्ण विकास सोलह वर्ष की आयु तक हो जाता है तथा लड़कों में पूर्ण विकास बीस वर्ष की आयु तक हो जाता है।

युग्मनज जिन दो कोशिकाओं में विभाजित होता है वे अलग होकर स्वतंत्र रूप से विकसित होकर दो गर्भों को जन्म दे सकती हैं। इस प्रकार एक मां के जुड़वे बच्चे भी हो सकते हैं। ऐसे केस भी रेकार्ड में सुरक्षित हैं जिनमें एक मां के एक ही प्रसव में सात बच्चे तक एक साथ उत्पन्न हुए हैं।

मानव भ्रूण जो एक समय केवल एक कोशिका होता है, जिसका व्यास 150 U होता है (1 U=$\frac{1}{1000}$m. m.) और जिसका भार एक मिलीग्राम का भी एक अंश मात्र होता है, विकसित होकर पूर्णकाल प्राप्त गर्भ बन जाता है जिसका वजन लगभग 2500 ग्राम (5.5 पौंड) और जिसकी लंबाई 50 cm. से भी अधिक होती है और जिसकी रचना विभिन्न आकारों तथा आकृतियों की करोड़ों कोशिकाओं से होती है। यह विकास तीन प्रक्रियाओं के कारण होता है, उदाहरण के लिए, कोशिकाओं की संख्या वृद्धि, कोशिकाओं की आकार वृद्धि तथा अंतरकोशिकीय पदार्थ की मात्रा में वृद्धि।

निषेचित डिंब पहले गोल होता है किंतु जैसे-जैसे विकास होता जाता है और गर्भकाल पूरा होता जाता है वैसे-वैसे इसकी आकृति और रूप में अनेक परिवर्तन होते जाते हैं जो भ्रूण के भीतर होने वाले विभेदों के परिणाम होते हैं। ये विभेद भ्रूण पिंड के विभिन्न भागों के विकास की दरों में अंतरों के कारण होते हैं। विकास दर का नियंत्रण आनुवंशिक कारकों द्वारा होता है।

विकास के दौरान उपचयी (anabolic) अथवा शरीर के निर्माण की प्रक्रियायें अपचयी (katabolic) अथवा विनाशक प्रक्रियाओं की अपेक्षा प्रबल होती हैं। जब विकास की सीमा आ जाती है तो परिपक्वता प्राप्त होती है और उसके पश्चात् एक मंद किंतु वर्धमान ह्रास, अर्थात् 'कालप्रभावन प्रक्रिया' प्रारंभ होती है जिसका समापन मृत्यु में होता है।

इस प्रकार एक व्यक्ति के जीवन में विकास तथा जनन अनिवार्य स्थितियां हैं।

• • •
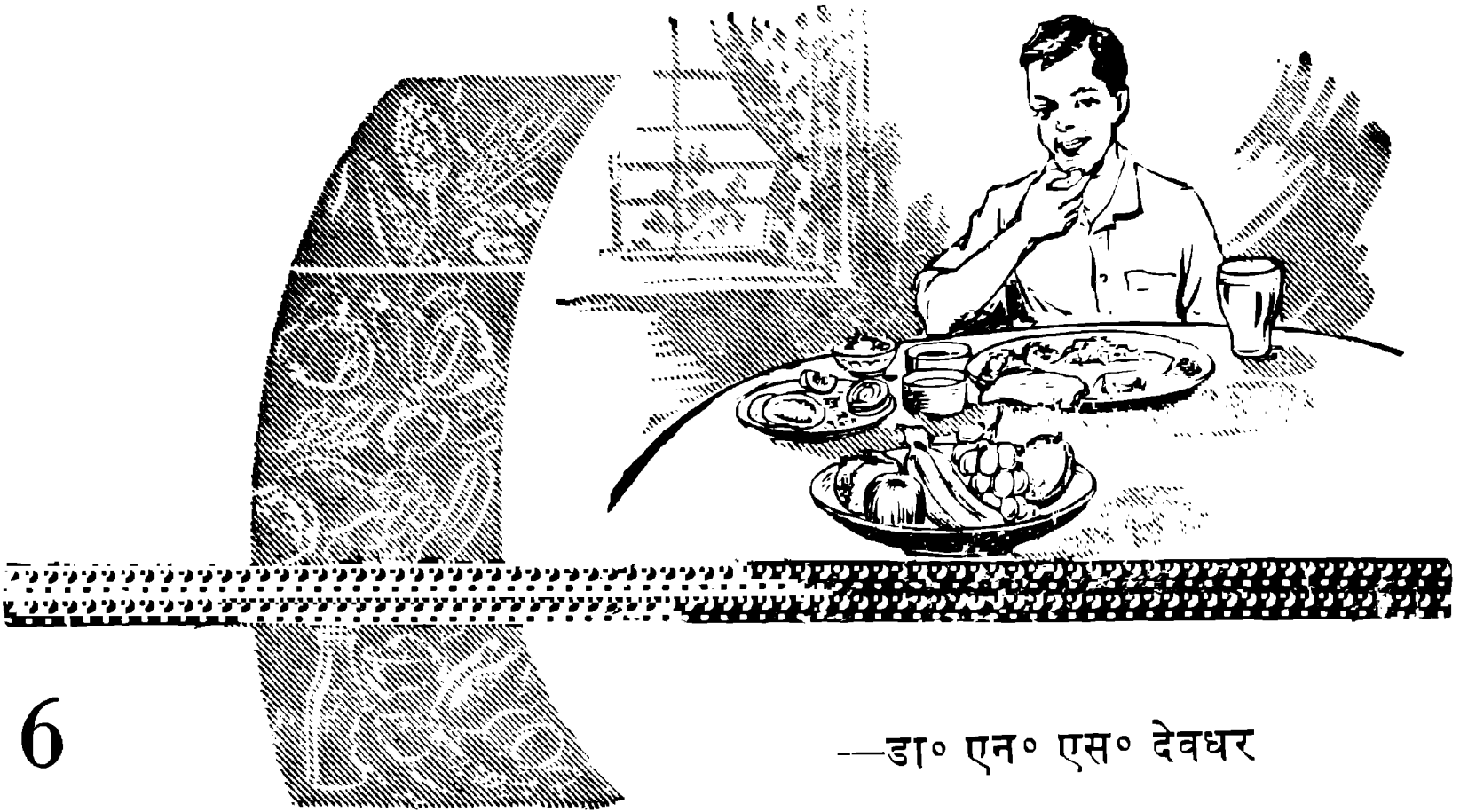
6

—डा० एन० एस० देवधर

पोषण के सिद्धांत

भोजन जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं में से एक है। इसकी आवश्यकता अनेक प्रयोजनों के लिए होती है। यदि पर्याप्त मात्रा में भोजन न किया जाय तो भूख लगती है और कार्य करने के लिए आवश्यक ऊर्जा नहीं रहती। भोजन के संभरण की आवश्यकता शरीर का निर्माण करने वाली सामग्री के लिए भी आवश्यक है जो एक शिशु को वयस्क बनने के लिए अथवा एक वयस्क को रोज-रोज की सामान्य जीवन के ऊतकों की क्षति पूर्ति के लिए आवश्यक है। भोजन द्वारा ही शरीर में कुछ ऐसे पदार्थों की आवश्यकता की पूर्ति भी होती है जिनकी यद्यपि अत्यंत अल्प मात्रा में आवश्यकता होती है तथापि वे भोजन को शरीर में स्वांगीकरण (assimilation) करने के लिए तथा शरीर के तंत्रों को सही हालत में और सक्षम बनाये रखने के लिए जरूरी होते हैं।

इष्टतम (optimum) पोषण अच्छे स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए आवश्यक होता है। शरीर के पोषण का अर्थ है आवश्यक पोषकों का पर्याप्त मात्रा में तथा शरीर की सभी कोशिकाओं और ऊतकों के अनुसार सही अनुपातों में संभरण ताकि शरीर की संरचना और उसके कार्य पूर्ण रूप से सही हालत में रहें। यह कार्य शरीर के भीतर भोजन तथा पानी पहुंचाने और उन्हें पचाकर शरीर में स्वांगीकरण करने पर संभव होता है। आहार और कुछ नहीं सिर्फ प्रकृति द्वारा सुलभ किए गए विभिन्न खाद्यों का सम्मिलित माप है। इस प्रकार का सम्मिलन आवश्यक है क्योंकि अपने आप में एक भी ऐसा खाद्य पदार्थ नहीं है जो मनुष्य को हर तरह का पोषक तत्व सही अनुपात में, शरीर की कोशिकाओं के पोषण की आवश्यकताओं के अनुसार, प्रदान कर सके। कहना न होगा कि एक ऐसे आहार का चुनाव करने के लिये, जो स्वास्थ्य के लिये अच्छा हो, बुनियादी पोषण-तत्वों का व्यावहारिक ज्ञान तथा भोजन तैयार करने की कला दोनों ही आवश्यक हैं। कोशिकाओं के पोषण में जो बुनियादी तत्व काम करते हैं वे इस प्रकार हैं : 1. पानी, 2. प्रोटीनों,

* * * *

डा. एन. एस. देवधर, एम. एस., डी पी. एच., डी. एच. वाई., प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, निरोधक तथा सामाजिक आयुर्विज्ञान विभाग, बी. जे. मेडिकल कालेज तथा ससून जनरल हस्पिटल, पूना। सदस्य, संपादक मंडल, 'हम और हमारा स्वास्थ्य'।

कार्बोहाइड्रेटों तथा वसाओं के पाचक अन्तिम उत्पाद, 3. विटामिन, तथा 4. खनिज।

पानी :

शरीर के भार का लगभग 70 प्रतिशत पानी होता है। यह शरीर की सभी कोशिकाओं का एक महत्वपूर्ण घटक है। शरीर में सारी रासायनिक अभिक्रियाएं तथा प्रक्रमण पानी के माध्यम से ही होते हैं। अतः शरीर में प्रतिदिन पर्याप्त मात्रा में पानी का पहुंचना जरूरी है। गर्मियों में सर्दियों की अपेक्षा अधिक पानी की जरूरत पड़ती है।

भोजन :

भोजन के तीन आधारभूत घटक प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट तथा वसायें होती हैं। इन्हें भोजन के तीन सामीप्य (proximate) तत्व कहा जाता है। विभिन्न खाद्यों की पौष्टिकता इत्यादि उनमें वर्तमान उपर्युक्त तत्वों के अनुपात तथा कोटि पर निर्भर करती हैं।

प्रोटीन :

ये अत्यन्त जटिल तथा नाइट्रोजनयुक्त पदार्थ हैं। इनकी रचना लगभग 20 अमीनो-अम्लों (amino-acids) के भिन्न-भिन्न संयोगों से होती है। इनमें से दस अमीनो-अम्ल ऐसे हैं जो उचित पोषण के लिए नितांत अनिवार्य होते हैं और किसी भी आहार में उनकी व्यवस्था पर्याप्त तथा उचित अनुपात में होना आवश्यक है। प्रोटीन शरीर के रग-पुट्ठों के विकाश तथा मरम्मत और रक्षा के लिए अनिवार्य तत्व है। प्रतिदिन शरीर के प्रतिकिलो भार के पीछे लगभग एक ग्राम प्रोटीन, भोजन में आवश्यक होती है। बच्चों में इसकी दैनिक आवश्यकता अपेक्षाकृत अधिक होती है और चूंकि उनकी लगातार बाढ़ होती रहती है अतः उन्हें प्रति एक किलो वजन के पीछे दो से लेकर 3.5 ग्राम तक प्रोटीन की आवश्यकता पड़ सकती है (सारणी 6.1)। प्रोटीन का पौषिकीय मूल्य इसके भीतर आवश्यक अमीनो-अम्लों की पूर्ति करने की क्षमता तथा इसकी सुपाच्यता पर निर्भर करता है। एक ग्राम प्रोटीन लगभग 4 कैलोरी प्रदान करता है। जो खाद्य पदार्थ प्रोटीन-बहुल हैं उन्हें चित्र 6.2 तथा सारणी 6.2 में दर्शाया गया है।

सारणी 6.1—दैनिक आहार में प्रोटीनों की इष्टतम मात्रा

बच्चे	ग्राम में प्रतिदिन प्रोटीन की मात्रा	
पांच वर्ष तक	3.5	प्रति किलो शरीर-भार
5— 7 वर्ष तक	3.0	
7—12 वर्ष तक	2.5	
किशोर		
12—15 वर्ष तक	2.5	
15—21 वर्ष तक	2.0	
वयस्क		
पुरुष (55 किलो०)	82	
स्त्री (45 किलो०)	67	
गर्भावस्था	101	
स्तन्यस्रवण	112	

चित्र 6.2—प्रोटीन-बहुल खाद्य पदार्थ
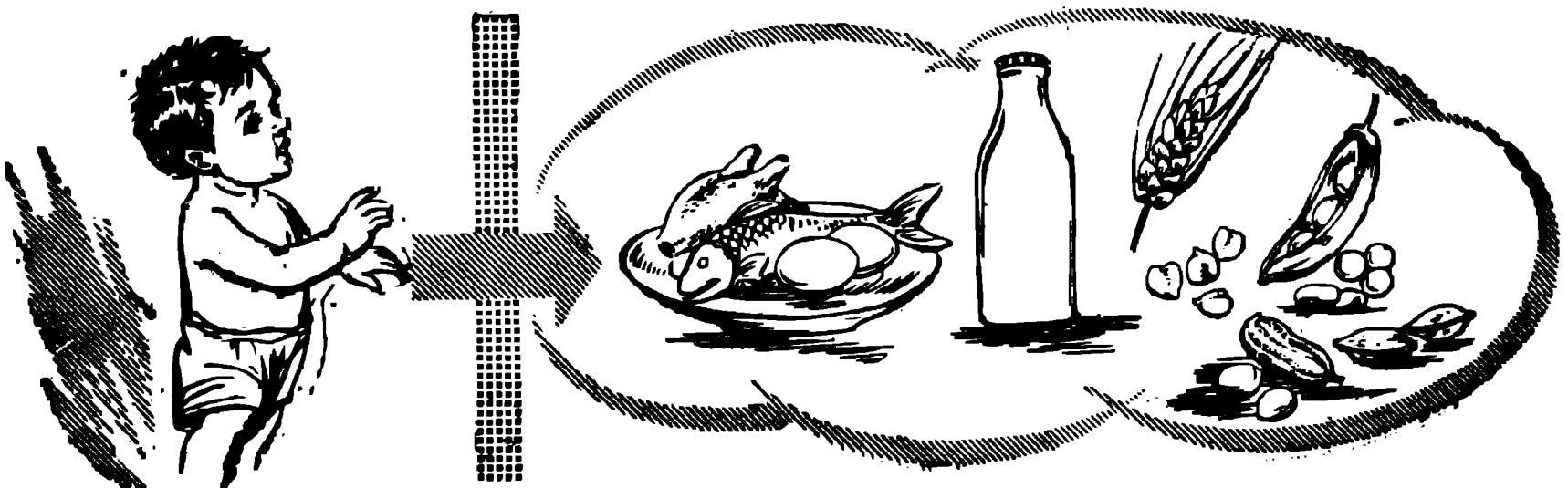
सारणी 6.2—प्रोटीनों, कार्बोहाइड्रेटों तथा वसाओं के मुख्य स्रोत, कार्य और कमी के लक्षण

पोषक	प्रचुर स्रोत	मूलभूत कार्य	कमी के लक्षण
1. प्रोटीन	दूध, फली (legume), बादाम इत्यादि, दालें, बीन-सोयाबीन, पनीर, खोआ, अनाजों की बाहरी पर्तें, मांस, मछली, अंडे।	शरीर के रग-पुट्ठों की मरम्मत और विकास; शरीर की रक्षा।	कमजोर पेशियां, शरीर की चुस्ती में कमी; बाधित मानसिक प्रतिक्रियाएं, रोग-प्रतिरोध की सामर्थ्य में कमी।
2. कार्बोहाइड्रेट	विभिन्न प्रकार की शक्करें, शर्बत तथा जैम, अनाज, जैसे चावल, आलू तथा अन्य प्रकंद-जातीय सब्जियां, साबूदाना।	ऊष्मा तथा ऊर्जा पैदा करना, आहार की मात्रा बढ़ाना।	वज़न कम होना।
3. वसाएं	मूंगफली का तेल, कुसुम्म (करडी), बिनौला आदि के तेल, सीसेम (gingelly), बादाम, मक्खन घी, क्रीम, मार्गरीन, पनीर, मांस की वसाएं।	ऊष्मा तथा ऊर्जा उत्पन्न करना।	वजन में कमी, बाधित विकास।

कार्बोहाइड्रेट : ये रासायनिक यौगिक (compound) होते हैं जिनमें कार्बन, हाइड्रोजन तथा आक्सीजन होते हैं। इनकी रचना विभिन्न प्रकार की शर्कराओं के मिश्रणों से और रासायनिक संरचना की सरलता अथवा जटिलता के अनुसार प्रकृति इन्हें शर्कराओं, स्टार्च तथा सैलूलोज के रूप में उत्पन्न करती है। कार्बोहाइड्रेट ऊर्जा प्रदान करते हैं जिस पर जीवन के सारे क्रिया-कलाप निर्भर हैं। कार्बोहाइड्रेट का एक ग्राम लगभग चार कैलोरी उत्पन्न करता है। शरीर की कोशिकाएं सामान्य शर्कराओं का उपयोग करके ऊष्मा उत्पन्न करती हैं, जो जीवन बनाए रखने के लिए ऊर्जा में परिवर्तित हो जाती है। सैलूलोज अपाच्य होता है, फिर भी यह आंतों के लिए भौतिक उद्दीपक (mechanical stimulant) के रूप में मूल्यवान होता है और कब्ज़ नहीं होने देता। भारतीय आहारों में अनुपात की दृष्टि से कार्बोहाइड्रेटों की मात्रा अधिक होती है और प्रोटीनों की मात्रा कहीं कम होती है। शरीर की प्रोटीन तथा वसा की आवश्यकताओं की पूर्ति

चित्र 6.3—कार्बोहाइड्रेट-बहुल खाद्य पदार्थ
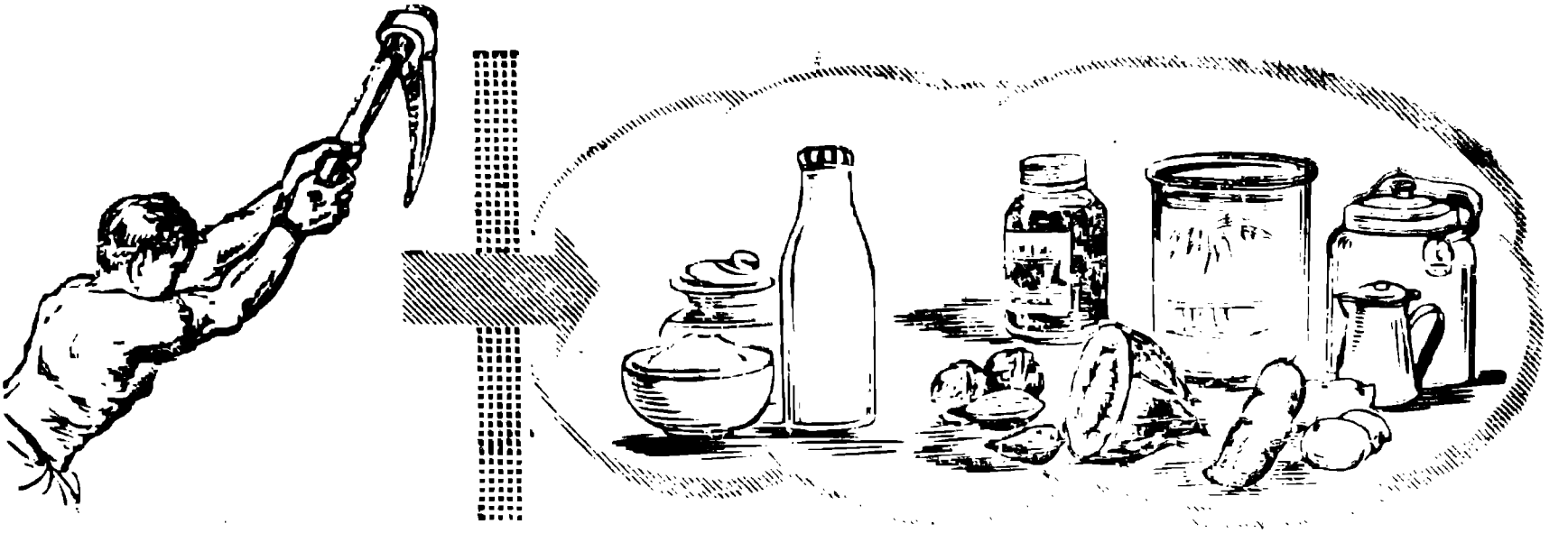
चित्र 6 4—वसा-बहुल खाद्य पदार्थ

करने के बाद कैलोरी की आवश्यकता पूरी करने के लिए हमारे आहार में कार्वोहाइड्रेटों की पर्याप्त मात्रा सम्मिलत की जानी चाहिए।

वसाएं : ये भी ऊर्जा प्रदान करने वाले खाद्य हैं, पर ये सांद्र (concentrated) स्रोत हैं। एक ग्राम वसा लगभग 9 कैलोरी प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त ये वसाएं खाद्य पदार्थ में स्वाद उत्पन्न करती हैं और आहार को रुचिकर बनाती हैं। यही कारण है कि लोग तली हुई खाद्य वस्तुओं, जैसे 'बड़ों' और 'भजिया' के पीछे दीवाने रहते हैं ? वसाएं महंगी होती हैं और शरीर का स्वास्थ्य ठीक रखने के लिए कुल कैलोरियों के 15 प्रतिशत से अधिक कैलोरी वसाओं से प्राप्त नहीं होनी चाहिए। एक वयस्क के लिए 45 से लेकर 60 ग्राम तक वसा पर्याप्त होती है। इस मात्रा का भी अधिकांश भाग वनस्पति तेलों का होना चाहिए।

विटामिन : इनसे कोई कैलोरी प्राप्त नहीं होती किन्तु ये शरीर के चयापचय में रासायनिक प्रक्रियाओं के नियमन के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। विटामिन शरीर के विकास में सहायक होते हैं और पोषक तत्वों की कमी से होने वाले रोगों से हमें बचाते हैं। अत: विटामिनों को 'रक्षात्मक खाद्य' (protective foods) कहा जाता है। आमतौर पर इन्हें अक्षरों के नाम से जाना जाता है। विटामिन ए, डी, ई तथा के वसा में घुलनशील हैं तथा शेष विटामिन पानी में घुलनशील (सारणी 6.3)।

खनिज लवण : औसतन मनुष्य प्रतिदिन 20 से लेकर 30 ग्राम तक खनिज लवणों का उत्सर्ग करता है जिसमें अधिकांशत: क्लोराइड, सल्फेट तथा सोडियम के फास्फेट, पोटाशियम, मैगनी-

चित्र 6.5—विटामिन तथा खनिज-बहुल खाद्य पदार्थ

सारणी 6.3—विटामिन, उनके मुख्य स्रोत, कार्य और कमी के लक्षण

विटामिन	प्रचुर स्रोत	मूलभूत कार्य	कमी के लक्षण
विटामिन A दैनिक आवश्यकता (दै. आ.) वयस्क के लिए—3000 से 4000 I.U.	सभी सब्जियां, पीले फल, टमाटर, घी, मक्खन, दूध, अंडों की जर्दी, मछली का तेल	विकास, आंखों का स्वास्थ्य, त्वचा तथा श्लेष्मकला का स्वास्थ्य	बाधित विकास, रतौंधी, संक्रमण का जल्दी शिकार होना, त्वचा में परिवर्तन
विटामिन B_1 (Thiamine) दैनिक आवश्यकता 1 से 2 मिलीग्राम	ख़मीर (yeast) गेहूं, चावल आदि अनाजों की ऊपरी पत, तिल, मूंगफली, बिना धुली दालें, सूखी मिर्चें।	विकास, कार्बोहाइड्रेटों का उपयोजन, हृदय, तंत्रिकाओं तथा पेशियों का सुचारु रूप से कार्य करना।	बाधित विकास, भूख और वजन कम होना, कमजोर धड़कन, तंत्रिका-दोष, जल्दी थक जाना तथा दोषपूर्ण पाचन।
विटामिन B_2 (Riboflavin) दैनिक आवश्यकता 1.5 मिलीग्राम	दूध तथा दूध से बनी वस्तुएं, हरी सब्जियां, ख़मीर, अंडे, कलेजी, मांस।	विकास, त्वचा तथा मुख का स्वास्थ्य, कार्बोहाइड्रेटों का उपयोजन, आंखों का स्वास्थ्य।	बाधित विकास, आंखों का लाल होना, दृष्टि धुंधली होना तथा रोशनी बर्दाश्त न होना, मुख के कोनों में खराश, जबान का लाल होना।
विटामिन B_6 (Pyridoxine) दैनिक आवश्यकता अभी तक अनिश्चित।	हरी सब्जियां, मांस, कलेजी	विकास, त्वचा का स्वास्थ्य, पेशियों और तंत्रिकाओं का सही काम करना	बच्चों में आक्षेप (Convulsions)
निकोटीनिक-अम्ल (Niacin) दैनिक आवश्यकता 10 मिलीग्राम	गेहूं का अंकुर, आलू, अनाजों की बाहरी पर्तें, दालें, बादाम, टमाटर, पत्तेदार सब्जियां, मांस	विकास, कार्बोहाइड्रेटों का उपयोजन अमाशय-आंत्र तथा तंत्रिका तंत्रों का सही काम करना।	चिकनी और लाल जबान, पाचन में दोष, मानसिक विकार, वर्णकित पर्पटित त्वचा (Pigmented scaly skin), पेलाग्रा (Pellagra)
विटामिन B_{12} दै. आ.—1-2 मिलीग्राम	दूध, मांस, कलेजी	रक्त बनाना	प्रणाशी अरक्तता (Pernicious anaemia)
फोलिक अम्ल (Folic Acid) दै. आ.—5 मिलीग्राम	हरी सब्जियां कलेजी, दालें	रक्त बनाना	शिशुओं तथा गर्भवती स्त्रियों में अरक्तता

विटामिन	प्रचुर स्रोत	मूलभूत कार्य	कमी के लक्षण
विटामिन C (Ascorbic Acid) दै. आ.—50 मिलीग्राम	आंवला, नीबू, संतरा इत्यादि फल टमाटर, पत्तेदार सब्जियां, आलू, अंकुरित अनाज	विकास रग-पुट्ठों की मरम्मत, रक्त-वाहिकाओं, मसूड़ों आदि का स्वास्थ्य	मसूढ़ों से खून बहना, रक्तस्राव की प्रवृति, घावों का देर से भरना।
विटामिन D (सूर्य के प्रकाश से त्वचा के अंदर निर्मित) दै. आ.—400-800 I.U.	दूध, कलेजी, अंडे, मछली के यकृत् का तेल	विकास, कैल्शियम और फास्फोरस का उपयोजन, अस्थियों तथा दांतों का स्वास्थ्य	अस्थियों की कोमलता तथा टेढ़ापन, रिकेट्स, दांतों का अपर्याप्त विकास तथा दंतक्षय, अस्थिमृदुता (Osteomalacia)
विटामिन E (Tocopherol) दै. आ.—अभी तक अनिश्चित	गेहूं के अंकुर का तेल, पत्तेदार सब्जियां, दूध, मक्खन।	पशुओं में सामान्य जनन	मनुष्यों में इसकी भूमिका अभी तक अनिश्चित है।
विटामिन K दै. आ.—आंतों में उत्पन्न पर्याप्त मात्राएं	हरी सब्जियां, टमाटर; आंतों में भी उत्पन्न	रक्त का सामान्य स्कंदन (Clotting)	रक्तस्राव की प्रवृत्ति

शियम तथा कैलशियम होते हैं। यह स्वाभाविक ही है कि इन सबकी पुनः पूर्ति खाद्य पदार्थों के जरिये ही होती है। इसी प्रकार बहुत से अन्य तत्व जैसे लोहा, कैलशियम, तांबा, कोबाल्ट, इत्यादि शरीर के चयापचय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सामान्य नियम के रूप में हम यह बात हमेशा ध्यान में रख सकते हैं कि वह आहार जो प्रोटीनों, वसाओं, कार्बोहाइड्रेटों और विटामिनों की दृष्टि से पर्याप्य हो वह सभी खनिजों की पूर्ति भी पर्याप्त मात्रा में कर सकेगा। सारणी 6.4 दो ऐसे महत्व-पूर्ण खनिजों को दर्शाती है जिनकी कमी अपर्याप्त आहार में पायी जाती है।

संतुलित आहार*

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि शरीर के उचित पोषण के लिए प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेटों, वसा, पानी, विटामिन तथा खनिज का पर्याप्त मात्रा में होना अति आवश्यक है। क्योंकि किसी एक खाद्य पदार्थ में यह सारी वस्तुएं नहीं होतीं अतः एक अच्छे आहार में उपर्युक्त सारे तत्व सही अनुपात तथा पर्याप्त मात्रा में होने चाहिये। जिस आहार में उपर्युक्त सारे आवश्यक पोषक तत्वों की पूर्ति होती है उसे 'संतुलित आहार' (balanced diet) कहते हैं।

संतुलित आहार की व्यवस्था ही काफी नहीं है, वस्तुतः भोजन स्वादिष्ट और लोगों को रुचि-कर भी लगना चाहिए। बढ़िया और भूख बढ़ाने वाला व्यंजन तैयार करने की कला की कोई सीमा नहीं है। इस संबंध में एक स्वर्णिम नियम यह है कि खाना विविध प्रकार का खाना चाहिए जिससे एकरसता तो टूटे ही मगर पोषण भी अधिक प्राप्त हो।

*आम खाद्य पदार्थों के घटकों, संतुलित आहार की संरचना तथा कैलोरी संबंधी आवश्यकताओं इत्यादि के लिए देखिए अगला परिच्छेद।

सारणी 6.4—पोषण में कैलशियम तथा लोहा

तत्व	दैनिक आवश्यकता	प्रचुर स्रोत	मूलभूत कार्य	कमी के लक्षण
कैलशियम	1 ग्राम	दूध, दूध की बनी वस्तुएं, हरी पत्तेदार सब्जियां, चावल को छोड़कर बहुत से अनाज जैसे बाजरा तथा रागी	अस्थियों तथा दांतों का निर्माण हृदय तथा पेशियों की क्रिया, रक्त का स्कन्दन इत्यादि	अस्थि का ठीक से न बनना, दांत का क्षरण (caries), पेशियों का दुष्क्रिया), (dysfunction)
लोहा	20-30 मि.ग्रा.	अनाज, दालें, मांस सब्जियां	रक्त बनना	अरक्तता

● ● ●
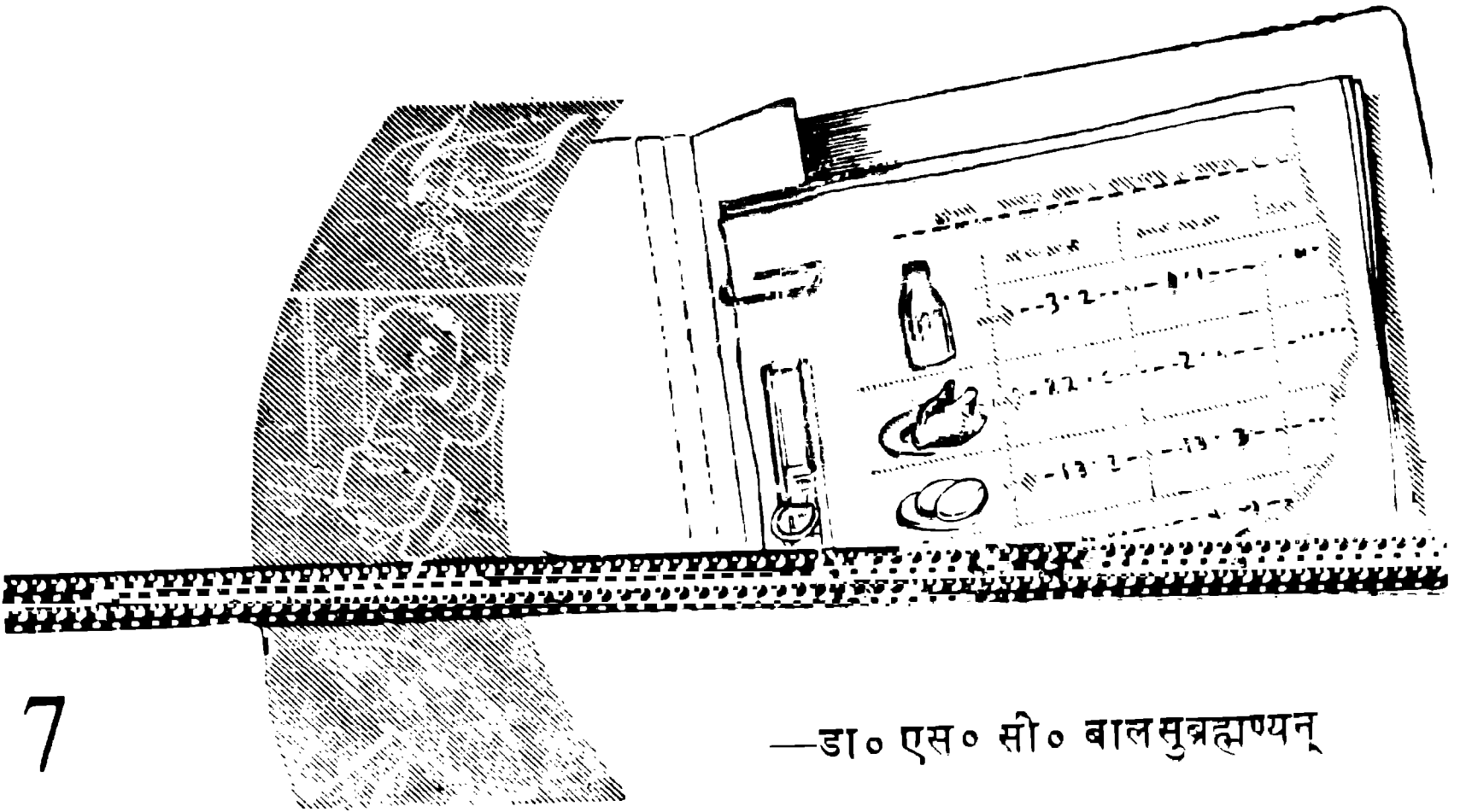
7

—डा० एस० सी० बालसुब्रह्मण्यन्

सामान्य खाद्य पदार्थों का पोषण-मान

भोजन के घटक :

खाद्य पदार्थों के वे घटक जो सारे आधारभूत कार्य करते हैं, प्रोटीन, वसायें, कार्बोहाइड्रेट, खनिज तथा विटामिन कहलाते हैं। इन्हें कुल मिला कर पोषक कहते हैं। इनमें से प्रोटीन हमारी पेशियों तथा अंगों का प्रमुख भाग निर्मित करते हैं और इसीलिए वे एक महत्वपूर्ण शरीर स्रष्टा सामग्री माने जाते हैं। वसायें, कार्बोहाइड्रेट तथा प्रोटीन ईंधन की तरह हैं जो शरीर में जल कर ऊर्जा का संभरण करते हैं। उनका जलना शरीर के ताप को बनाये रखने में भी सहायक होता है। खनिज अस्थियों तथा दांतों आदि संरचनाओं के लिये प्रमुख निर्माण-सामग्री हैं। उचित विकास के लिये शरीर द्वारा प्रोटीनों, वसाओं, कार्बोहाइड्रेटों तथा खनिजों के ठीक से उपयोजन तथा स्वांगीकरण (assimilation) को नियमित रखने तथा कुछ रोगों के निरोध के लिये विटामिन आवश्यक हैं। इनके अतिरिक्त पानी भी, जो कि हमारे शरीर में हमारे भार का लगभग दो-तिहाई होता है, आवश्यक भोजन-तत्व है क्योंकि शरीर के ऊतकों का यह महत्वपूर्ण घटक हैं। पानी अन्य पोषकों को पहुंचाने के लिये वाहन का कार्य भी करता है।

अच्छा स्वास्थ्य बनाये रखने के लिये पोषकों का शरीर में उचित मात्रा तथा अनुपात में संभरण आवश्यक है। अधिकांश, खाद्य पदार्थों में सभी पोषक मौजूद होते हैं पर कोई भी ऐसा खाद्य पदार्थ नहीं है जिसमें सभी पोषक अपेक्षित अनुपातों में मिलते हों। कुछ खाद्य पदार्थ प्रोटीन-बहुल हो सकते हैं, कुछ कार्बोहाइड्रेट-बहुल हो सकते हैं तो कुछ अन्य खाद्य पदार्थ विटामिन-बहुल हो सकते हैं। अतः सभी पोषकों के अपेक्षित अनुपातों में संभरण के लिये खाद्यों का मिश्रण आवश्यक है। शरीर में पोषकों के असंतुलित संभरण से स्वास्थ्य की खराबी और अनेक प्रकार के शारीरिक विकार उत्पन्न हो सकते हैं (चित्र 7.2)।

भोजन के प्रकार :

यहां इस पर विचार कर लेना उचित होगा

* * * *

डा. एस. सी. बालसुब्रह्मण्यन्, पी-एच. डी., पोषण अनुसंधान प्रयोगशाला, भारतीय अनुसंधान परिषद् (इंडियन काउंसिल ऑफ मेडिकल रिसर्च), हैदराबाद।

चित्र 7.2—असंतुलित आहार के प्रभाव

कि किस प्रकार हमारे शरीर द्वारा सामान्यतः ग्रहण किये जाने वाले विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थ सभी आवश्यक पोषकों से युक्त भोजन बन जाते हैं।

इस देश में आमतौर पर ग्रहण किये जाने वाले खाद्य पदार्थों को मोटेतौर पर निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : धान्य (cereals), दालें, बादाम (nuts) तथा तिलहन, सब्जियां, फल, दूध तथा दूध से बनी वस्तुयें, मांसाहार, तेल और वसायें तथा शर्करायें।

1. धान्य : भारतीय आहार शास्त्र (dietary) में धान्य (चित्र 7.31) का वर्ग सबसे महत्वपूर्ण है। चावल, गेहूं, मक्का, बाजरा, जुआर, रागी तथा इस वर्ग के अन्य मिलेट धान्य ऊर्जा के सबसे सस्ते स्रोत और हमारी खाद्य-पूर्ति के मेरुदंड हैं। ऊर्जा जिन यूनिटों में मापी जाती है, उन्हें कैलोरी कहते हैं। एक कैलोरी उतने ताप के बराबर मानी जाती है जितना एक किलोग्राम पानी का तापमान 1 सेंटीग्रेड बढ़ाने में सक्षम होता है। इस प्रकार यह कैलोरी भौतिकी में प्रयुक्त सामान्य कैलोरी की 1,000 गुना होती है। धान्य प्रति 100 ग्राम पीछे लगभग 350 कैलोरी उत्पन्न करते हैं। सामान्य भारतीय आहार में लगभग 400 से 500 ग्राम धान्य होता है और इस प्रकार उसमें केवल धान्य से ही कुल अपेक्षित कैलोरी का 70-80 प्रतिशत प्राप्त हो जाता है। अनेक विकासमान देशों में भी यही स्थिति है।

धान्य कार्बोहाइड्रेट-बहुल होते हैं पर वसाओं का उनमें अभाव होता है। इनमें 6 से 12 प्रतिशत प्रोटीन होता है। इनमें चावल में सबसे कम और गेहूं में सबसे अधिक प्रोटीन होता है। बाजरा, जुआर और रागी आदि मिलेटों की स्थिति इनके बीच की है। जो भी हो, यदि प्रोटीनों की कोटि का मूल्यांकन उस मापदंड से किया जाए जिसे वैज्ञानिक जैवमान (biological value) अर्थात् ऊतकों के विकास तथा क्षतिपूर्ति के लिए शरीर में प्रोटीनों की स्वांगीकरण की योग्यता का माप —कहते हैं, तो हम देखेंगे कि मान की दृष्टि से चावल-प्रोटीन उत्तम कोटि के प्राणिज-प्रोटीनों (animal protien), जैसे दूध और अंडा, के निकट

धान्य — चित्र 7.31; दालें, काष्ठफल तथा तिलहन — 7.32; ताजा सब्जियां — 7.33; मूल तथा प्रकंद — 7.34

पहुंचता है। गेहूं से प्राप्त प्रोटीन उतना उत्तम नहीं है। मिलेट से प्राप्त होने वाला प्रोटीन गेहूं के प्रोटीन से श्रेष्ठ किंतु चावल के प्रोटीन से हीन है। आहार में सर्वोत्तम प्रोटीन प्राप्त करने के लिए अक्सर अनेक प्रकार के धान्यों का मिश्रण छालों के साथ लेना वांछनीय होता है। मुख्य रूप से एक ही धान्य पर आधारित आहार पोषण-मान की दृष्टि से बहुत अपर्याप्त होता है। सामान्यतः वनस्पति खाद्यों, विशेषतः बिना पकाई हुई दालों, से प्राप्त प्रोटीन प्राणिज खाद्य पदार्थों से प्राप्त प्रोटीनों की तुलना में बहुत कम सुपाच्य होती हैं।

धान्य का सबसे बड़ा दोष यह है कि उनमें खनिजों, कैल्शियम तथा लोहे का अंश कम होता है। खासतौर पर पालिश किए हुए चावल में तो ये बहुत ही कम होते हैं। गेहूं तथा अन्य ज्वार, बाजरा इत्यादि इस माने में कुछ बेहतर हैं। रागी, मिलेट में कैल्शियम की मात्रा असाधारण रूप से प्रचुर होती है, जो चावल में मौजूद कैल्शियम की मात्रा की 20-30 गुना होती है, यद्यपि रागी में मौजूद कैल्शियम का 40 प्रतिशत ही शरीर-क्रिया के लिए सुलभ हो पाता है।

धान्य फासफोरस नामक खनिज का काफी अच्छा स्रोत है। बहुत से धान्यों में, जैसे कि अल्प पालिश किए हुए चावल या गेहूं के चोकर सहित आटे में, फासफोरस एक ऐसे रूप में वर्तमान रहता है जिसे फाइटिन (phytin) कहते हैं और जो लोहे तथा कैल्शियम के उचित अवशोषण में व्यवधान उत्पन्न कर सकता है। बहुत अधिक धान्य वाले आहारों में लोहा अधिक मात्रा में लेना आवश्यक होने का एक कारण फाइटिन से होने वाले इस व्यवधान को आंशिक रूप से बेकार करना भी है। औसत भारतीय आहार पर्याप्त रूप से फासफोरस-बहुल होता है अतः फासफोरस की प्रचुरता वाले खाद्य पदार्थों को सम्मिलित करने के लिए विशेष प्रयासों की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

चावल के मुख्य रूप से तीन भाग होते हैं: अंकुर अथवा भ्रूण (embryo) जो एक सिरे पर होता है, फलभित्ति (pericarp) अथवा बाहरी पत्ते जो दाने के चारों ओर होती है तथा भीतरी भ्रूणपोष (endosperm) अथवा स्टार्च वाला भाग (चित्र 7.4)। विटामिन और खनिज मुख्यतः इसी अंकुर तथा फलभित्ति में होते हैं। चावल के दाने की आकृति और आकार ऐसे होते हैं कि उनकी कुटाई होने पर अंकुर तथा फलभित्ति आसानी से हट जाते हैं और नतीजा यह होता है कि मशीन से कुटे चावल में मुश्किल से कुटाई के पहले मौजूद थियामिन (thiamine) की मात्रा का 25 प्रतिशत रह जाता है। कुटाई की मशीन के आविष्कार से पहले चावल के दाने हाथ से कूटे जाते थे। घर-घर जो कुटाई होती है उस प्रक्रिया में अंकुर पूरी तरह से नष्ट हो जाता है किंतु जहां तक फलभित्ति का सवाल है उसका केवल 25-50 प्रतिशत के लगभग ही समाप्त होता है। इस प्रकार मशीन से कुटे चावल की अपेक्षा हाथ से कुटे चावल में फलभित्ति का खनिज तथा विटामिन का अधिक भाग रह जाता है। यदि हाथ से कुटे चावल का इस्तेमाल करने की प्रथा बढ़ जाय तो इससे रोगों में पोषकों का ज्यादा अच्छा संभरण हो सकेगा।

बहुत अधिक पालिश किए गए कुटे चावल वाले आहार का एक गंभीर दोष यह है कि, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, विटामिन B_1 अथवा थियामिन उसमें नहीं रहता। इस विटामिन की शरीर को कार्बोहाइड्रेटों के उचित स्वांगीकरण

चित्र 7.4—बिना पालिश किया चावल   पालिश किया चावल

फलभित्ति
भ्रूणपोष
अंकुर
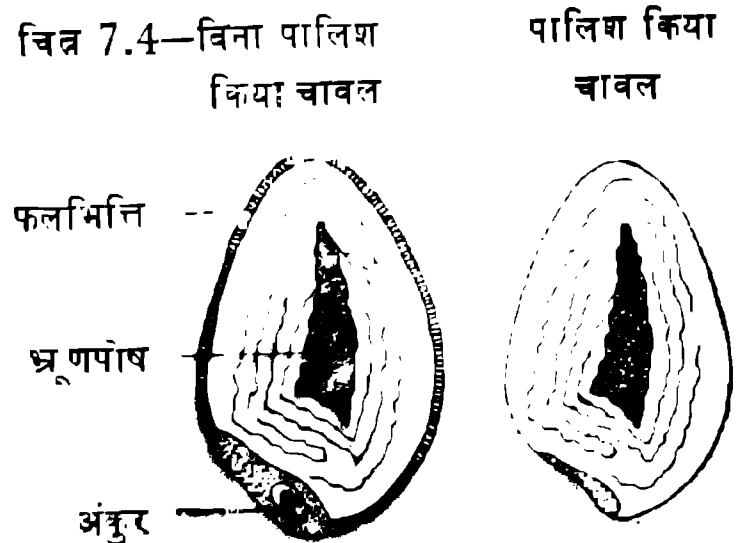
के लिए आवश्यकता पड़ती है और इसकी कमी से 'बेरी-बेरी' नामक बीमारी हो जाती है। यह बीमारी पहले दक्षिण भारत में बहुत फैली हुई थी जहां अत्यधिक पालिश किये हुए सफेद चावल का व्यवहार बहुत अधिक किया जाता था और अन्य खाद्य पदार्थों की उपेक्षा की जाती थी जिनमें विटामिन प्रचुर मात्रा में होते थे। हाल में यह स्थिति थोड़ी बहुत सुधरी है क्योंकि सरकार ने चावल की कुटाई की मात्रा सीमित करते हुए पाबंदियां लगा दी हैं।

उसनने या पारबाएलिंग (parboiling) की प्रक्रिया खासतौर पर चावल के साथ की जाती है अन्य अनाजों के साथ नहीं। इस प्रक्रिया के अंतर्गत धान को पानी में भिगो दिया जाता है। फिर इस प्रकार भिगोये हुए धान को तब तक भाप दी जाती है जब तक उसकी भूसी तड़क कर टूट नहीं जाती। इसके बाद उसे हवा में सुखाया जाता है और फिर उसे मशीन से या हाथ से कूटा जाता है। भाप देते समय फलभित्ति तथा अंकुर में मौजूद पोषक धीरे-धीरे फैल कर भीतरी भ्रूणपोष में पहुंच जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बाद में कुटाई होने पर फलभित्ति और अंकुर हट जाने पर भी स्वयं भ्रूणपोष अपने आप में ही पोषकों, विशेषत: थियामिन, से भरपूर हो जाता है। इधर के अनुसंधानों से यह भी पता चला है कि उसना चावल का इस्तेमाल करने वाले लोगों की आंतों में उपयोगी सूक्ष्म जीवाणु पैदा हो जाते हैं, जो अतिरिक्त विटामिन का उत्पादन करके मनुष्य में उसका संभरण करते हैं। भारत में इस्तेमाल होने वाले चावल का लगभग आधा भाग उसना बताया जाता है। पिछले अनेक वर्षों में उसनने की सुधरी हुई प्रक्रियाओं से अनाज अपेक्षाकृत अधिक सुंदर और स्वादिष्ट तैयार होने लगा है, जिससे उसना चावल के अधिकाधिक व्यवहार के प्रचलन की आशा है।

बहुत-से घरों में आमतौर पर पकाने से पहले चावल को कई बार धोया जाता है। देखा गया है कि इससे उसके पोषक पर्याप्त मात्रा में नष्ट हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, इस प्रक्रिया में लगभग आधा थियामिन नष्ट हो जाता है। अत: पकाने से पहले चावल को ज्यादा नहीं धोना चाहिए। पर यह भी सच है कि बाजार में चावल की जो घटिया किस्म मिलती है उसे देखते हुए यह सुझाव अक्सर अव्यवहारिक साबित होता है।

गेहूं में चावल की अपेक्षा अधिक थियामिन होता है। मिलेट, थियामिन के अपेक्षाकृत अधिक प्रचुर स्रोत हैं, जिनमें रागी में थियामिन असाधारण रूप से अधिक पाया जाता है।

अधिकांश धान्यों में निकोटिनिक एसिड विटामिन प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। परंतु मक्का में विटामिन अधिक सुलभ रूप में नहीं पाया जाता, फलत: मक्का पर मुख्य रूप से निर्भर करने वाले लोग इस विटामिन की कमी से ग्रस्त रहते हैं। पेलेग्रा जो निकोटिनिक एसिड की कमी का रोग है, एक समय उन निर्धन लोगों में आम था जो मुख्यत: मक्का पर रहते थे।

2. दालें और फलियां (legumes) : दालों के अंतर्गत अनेक प्रकार की दालें, चने, बीन और मटर आती हैं (चित्र 7.32)। दालों में सामान्यत: 20-25 प्रतिशत प्रोटीन होता है और बी० विटामिन—थियामिन, राइबोफ्लेविन तथा निकोटिनिक एसिड—भी इसमें काफी मात्रा में होते हैं। दालों में पाए जाने वाले विटामिनों की कोटि धान्यों की विटामिनों की तरह उत्तम नहीं है किंतु बहुत-सी दालों के प्रोटीनों का मान पकने के बाद बढ़ जाता है। धान्यों के साथ लेने पर दालों के प्रोटीनों का मान काफी अच्छा हो जाता है। इस प्रकार प्रचुर प्रोटीन तथा राइबोफ्लेविन (जो कि धान्यों में नहीं होता) के सस्ते स्रोत के रूप में दालें धान्य वाले आहारों की मूल्यवान पूरक हैं।

सूखी दालों में विटामिन सी अधिक नहीं होता, किंतु अंखुए फूटने पर अंकुर में तथा दाने में विटामिन सी की मात्रा बढ़ जाती है। अंकुरित हरे चने में, जो अनेक अवसरों तथा त्यौहारों पर

बांटा जाता है, यह विटामिन खूब पाया जाता है।

एक दाल, जिसे खेसरी अथवा 'लाखी' कहते हैं, मध्य प्रदेश तथा अन्य राज्यों के कुछ क्षेत्रों में काफी इस्तेमाल की जाती है। बड़ी मात्रा में लंबे अरसे तक इसे भोजन में लेने पर एक प्रकार का रोग हो जाता है, जिसे लैथीरस रुग्णता (lathyrism) कहते हैं, और जिसमें रोगी 20-20, 30-30 साल का भला चंगा नौजवान लकवे का शिकार हो जाता है और पैर से लाचार होकर जीवन भर के लिए अपंग हो जाता है। इस दाल का प्रयोग मुख्य भोजन के रूप में अवांछनीय है। अगर इसे खाना आवश्यक ही हो तो इसे अन्य धान्यों के साथ मिला कर खाना ज्यादा अच्छा होगा। इस दाल को दो घंटे तक खौलते पानी में भिगोए रख कर और उस पानी को फेंक कर इसमें मौजूद विष को काफी हद तक हटाया जा सकता है।

सोयाबीन अमरीका तथा अन्य देशों में लोकप्रिय रहा है, पर भारत में उतना लोकप्रिय नहीं हो पाया है। इस खाद्य पदार्थ में लगभग 40 प्रतिशत प्रोटीन और 20 प्रतिशत वसा होती है और रिपोर्टों के अनुसार यह अत्यधिक पोषक है। परंतु अन्य भारतीय दालों की तरह पकाए जाने पर सोयाबीन में कोई विशेष गुण नहीं प्रतीत होता और भारतीय लोगों ने संभवतः इसके स्वाद का स्वागत बिल्कुल नहीं किया।

3. काष्ठफल तथा तिलहन (Nuts and oil seeds) : काष्ठफल तथा तिलहन (चित्र 7.32), उदाहरण के लिए मूंगफली, तीसम तथा सरसों, खाद्य तेलों के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। इसके अतिरिक्त काजू, तथा मूंगफली आदि गरीफल के रूप में खाये जाते हैं। इनमें लगभग 25 प्रतिशत प्रोटीन होता है और तेल निकाल लेने पर खली में प्रोटीन का अनुपात अपेक्षाकृत अधिक हो जाता है। मूंगफली थियामिन तथा निकोटिनिक एसिड के प्रचुरतम स्रोतों में से एक है।

4. सब्जियां : सब्जियों की रासायनिक रचना अलग-अलग होती है और उनमें परस्पर काफी भिन्नता होती है (चित्र 7.33)। सब्जियों में पानी का अनुपात काफी अधिक होता है और उनमें अन्य खाद्य पदार्थों की तुलना में प्रति इकाई भार बहुत कम कैलोरी होता है।

पत्तेदार सब्जियां, जैसे कि चोब (शेवगा) की पत्तियां, पुदीना, पालक या एमारन्थ (मथ, राजमीरा), खनिजों, कैल्शियम तथा लोहा व विटामिन ए तथा सी के प्रचुर स्रोत हैं। इस प्रकार इन तत्वों की जो कमी धान्यों में पाई जाती है उसकी वे पूर्ति कर देते हैं और धान्य प्रधान आहारों के महत्वपूर्ण पूरक सिद्ध होते हैं। पोषण के क्षेत्र में काम करने वाले विद्वानों की सिफारिश के अनुसार प्रतिदिन कम से कम 114 ग्राम पत्तेदार सब्जियां अवश्य लेनी चाहिए किंतु औसत भारतीय आहार में 10 ग्राम पत्तेदार सब्जियां भी प्रतिदिन नहीं ली जातीं। वास्तव में यदि आहार में पर्याप्त मात्रा में पत्तेदार सब्जियां ली जायं तो फल लेने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इस प्रकार ये सब्जियां औसत भारतीय आहार का पोषण-मान सुधारने के बहुत सस्ते स्रोत हैं।

अनेक प्रकार के कंद तथा गांठदार सब्जियां (चित्र 7.34), उदाहरण के लिए रतालू (सूरन तथा गोरादू), आलू तथा शकरकंद, अधिकांशतः धान्यों के ही समान हैं और उनमें कैलोरी का अच्छा मान होता है, सिर्फ उनमें पानी की मात्रा थोड़ी अधिक होती है। कुछ कंद जैसे शकरकंद और आलू में विटामिन सी काफी मात्रा में मिल जाता है, विशेषतः जब उन्हें छिलके सहित पका कर खाया जाय। मूल तथा कंद में प्रोटीनों का अभाव होता है, अतः जिन स्थानों पर इन्हें अधिक मात्रा में खाया जाता है वहां अन्य ऐसे खाद्य पदार्थ भी आहार में शामिल किए जाने चाहिए जो प्रोटीन बहुल हों, जैसे मछली या दालें। इस प्रकार के

खाद्य पदार्थों में प्रोटीन-बहुल खलियां, जैसे मूंगफली की पट्टी आदि, मिला कर उच्च पोषकीय मान वाले भोजन तैयार करने के प्रयास देश में किए जा रहे हैं।

अन्य सब्जियां, जैसे बैंगन या भिंडी, खनिजों तथा विटामिनों के अच्छे स्रोत हैं। सभी सब्जियां आहार को स्वादिष्ट और रुचिकर बनाती हैं। वे रेशेदार पदार्थ भी काफी मात्रा में पेट में पहुंचा देती हैं जिससे आंतों की क्रिया में काफी आसानी होती है।

5. फल : फल (चित्र 7.51) आमतौर पर कच्चे खाये जाते हैं अत: आहार में विटामिन **सी** के स्रोत के रूप में उन पर अच्छी तरह भरोसा किया जा सकता है। विटामिन सी (C) पकाने पर तुरंत नष्ट हो जाता है इसलिए विटामिन **सी** वाले अन्य खाद्य पदार्थों पर उतना भरोसा नहीं किया जा सकता क्योंकि वे पकाए जाते हैं। हरी पत्तेदार सब्जियां, विशेषत: सलाद के रूप में, यदि पर्याप्त मात्रा में ली जायें तो उनसे विटामिन **सी** काफी मात्रा में प्राप्त हो सकता है। जब फल मंहगे हों तो सस्ती पत्तेदार सब्जियां आहार में उनका स्थान ले सकती हैं। कुछ फल, जैसे आम और पपीता, कैरोटिन (विटामिन ए) से भरपूर होते हैं, जो दृष्टि ठीक रखने के लिए अत्यंत लाभप्रद होते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी जानना आवश्यक है कि अमरूद, आमला, बेर, इमली या नींबू विटामिनों के उतने ही अच्छे स्रोत हैं जितने कि सेव, संतरा, नारंगी या काजू फल आदि मंहगे फल। मौसमी फल, जब वे सस्ते हों और खूब मिलते हों, आहार में काफी मात्रा में लिए जाने चाहिए। केला, जो आमतौर पर सुलभ होता है, शक्तिदायक फल है जो अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में कैलोरी प्रदान करता है किंतु जिसमें विटामिन और खनिज कम होते हैं।

6. दूध और दूध की बनी वस्तुयें : दूध (चित्र 7.52) उच्च कोटि के प्रोटीन, कैल्शियम, विटामिन ए तथा राइबोफ्लेविन का बहुत अच्छा स्रोत है। दूध से मिलने वाला कैल्शियम बहुत आसानी से शरीर में स्वांगीकृत हो जाता है। दूध में वे सारे पोषक तत्व होते हैं जिनकी धान्यों में कमी होती है। इस प्रकार स्कूल के बच्चों के लिए, जिन्हें घर पर मुख्यत: धान्य का आहार मिलता है, स्कूल में एक गिलास दूध की व्यवस्था उनके आहार का महत्वपूर्ण पूरक सिद्ध होगा। मक्खनिया दूध (skimmed milk) और मट्ठा (butter milk) में वसा तथा वसा-विलेय विटामिन ए को छोड़कर सभी पोषक तत्व होते हैं। मक्खनिया दूध बड़े बच्चों तथा वयस्कों के लिए अच्छा होता है किंतु शिशुओं तथा छोटे बच्चों के लिए यह अकेले पूरक भोजन के रूप में पर्याप्त नहीं है क्योंकि उन्हें अधिक विटामिन ए की आवश्यकता होती है।

वे व्यक्ति जो मांसाहारी भोजन रूढ़िवादी होने के कारण अथवा धार्मिक वर्जनाओं के कारण नहीं ले सकते वे दूध तथा दालों की अतिरिक्त मात्राएं ग्रहण करके पोषण की कमी पूरी कर सकते हैं।

7. आमिष अथवा मांस वाले खाद्य पदार्थ (Flesh foods) : द्वितीय (B) समूह वाले

चित्र 7.51 फल

7.52 दूध और उसके उत्पाद

7.53 मांस, मछली और अंडे

7.54 वसाएं और शर्कराएं
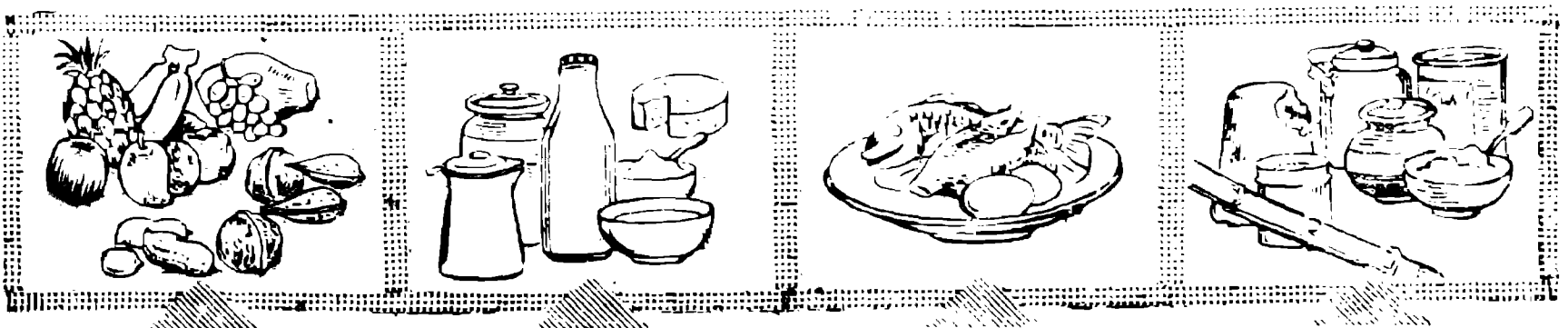
अच्छी कोटि के प्रोटीन और विटामिन मांस, मछली और अंडे जैसे आमिष खाद्य पदार्थों से प्राप्त किए जा सकते हैं (चित्र 7.53)। इन खाद्य पदार्थों में कार्बोहाइड्रेट बहुत कम होते हैं। ऊपर बताए गए अवयवों (constituents) के अतिरिक्त अंडों में विटामिन ए और डी भी होते हैं। पोषण-मान की दृष्टि से मछली का मांस और गोश्त एक ही जैसे हैं। छोटी मछली को यदि हड्डियों सहित समूचा खाया जाय तो कैल्शियम की काफी अच्छी मात्रा प्राप्त हो जाती है। सुरा (शार्क) और आरामीन (सॉ-फिश) सरीखी मछलियों में यकृत्-तेलों (liver oil) में विटामिन ए और डी की बहुत अधिक मात्रा होती है। इन विटामिनों की दृष्टि से हमारी भारतीय शार्क का यकृत् तेल विदेशों से आयातित किए गए कॉड अथवा अन्य मछलियों के यकृत् तेलों से उत्तम होता है।

8. वनस्पति तेल और घी : ये शुद्ध वसाएं हैं (चित्र 7.54) और लगभग 900 कैलोरी प्रति 100 ग्राम की दर से ऊर्जा प्रदान करते हैं। घी और मक्खन जैसी प्राणि वसाओं में विटामिन ए सरीखे वसा-विलेय विटामिन होते हैं। मक्खन को घी में परिवर्तित करने पर उसमें मूल रूप से विद्यमान विटामिन ए का करीब 25 प्रतिशत नष्ट हो जाता है। मूंगफली और तिल के तेल सरीखे वनस्पति तेलों में कुछ भी विटामिन ए नहीं होता। 'वनस्पति' में, जो कि बिनौले के तेल के साथ या उसके अभाव में संसाधित किया हुआ मूंगफली का तेल होता है, डाले गए विटामिन ए और डी की मात्रा घी के बराबर ही नहीं बल्कि उससे भी अधिक होती है।

9. शर्करा और गुड़ : ये 100 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट वाले खाद्य हैं। गुड़ (चित्र 7.54) में कुछ लोहा भी होता है जो गन्ने के रस से उसके निर्माण के समय समाविष्ट हो जाता है। शहद में सुपाच्य शर्कराएं तो होती हैं किंतु कोई उल्लेखनीय विटामिन नहीं।

10. मसाले : भोजन को स्वादिष्ट और सुरस बनाने के लिए ही इनका प्रयोग किया जाता है। यह बताया गया है कि समुद्र के पानी से बने नमक में अशुद्धि के रूप में कैल्शियम विद्यमान रहता है। इस प्रकार औसत भारतीय आहार में, जिसमें कि इस खनिज की कमी रहती है, कैल्शियम की आपूर्ति के लिए इसका उपयोग किया जा सकता है।

संतुलित आहार :

उत्तम स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए हमारे भोजन में सभी पोषक पदार्थों की उचित मात्रा और अनुपात में होना परम आवश्यक है। भारत में उपलब्ध भोजन के प्रकारों के आधार पर, पोषण विशेषज्ञों ने भारतीय प्रौढ़ व्यक्ति के लिए निम्नलिखित प्रकार से विशिष्ट संतुलित आहार सुझाया है :

अनाज (धान्य)	400 ग्राम
दालें व काष्ठफल	85 ग्राम
पत्तेदार सब्जियां	114 ग्राम
अन्य सब्जियां	85 ग्राम
गांठ वाली सब्जियां	85 ग्राम
फल	85 ग्राम
दूध और उसके उत्पाद	284 ग्राम
आमिष खाद्य	125 ग्राम
शर्करा और गुड़	57 ग्राम
वसाएं और तेल	57 ग्राम

इस आहार का अनुमानित पोषण मान 3,000 कैलोरी है। इसमें करीब 90 ग्राम प्रोटीन, 90 ग्राम वसाएं, 450 ग्राम कार्बोहाइड्रेट (अर्थात् 1 : 1 : 5 के अनुपात में) और विटामिनों व खनिजों की यथेष्ट मात्रा होती है। आमतौर पर भारतीय आहारों में धान्य तो सुझाई गई मात्रा से अधिक मात्रा में होते हैं लेकिन अन्य खाद्य पदार्थ काफी कम मात्रा में। वास्तव में ऐसे आहार की आवश्यकता है जो विविध प्रकार का हो और जिसमें मिले-

जुले अनाज, दूध व दूध के उत्पाद, फलियां, पत्तीदार सब्जियां, फल और आमिष खाद्य पदार्थ (अथवा इसके बदले अधिक दूध व फलियां) हों और जो कि बिना अधिक पैसा खर्च किए प्राप्त किया जा सकता है। विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थों के पोषण-मान की जानकारी अच्छे भोजन के चुनाव में बहुत सहायक सिद्ध होगी। इसके लिए इस लेख के अंत में दी गई सारणी 7.1 देखिए।

व्यक्ति की भोजन आवश्यकताओं का संकेत कैलोरियों की माप के रूप में दिया गया है। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है एक ग्राम प्रोटीन और कार्बोहाइड्रेटों में से प्रत्येक से करीब 4 कैलोरियां उत्पन्न होती हैं जबकि एक ग्राम वसा से करीब 9 कैलोरियां उत्पन्न होती हैं। एक व्यक्ति के लिए आवश्यक कुल कैलोरियां उसकी उम्र, लिंग, काम के प्रकार आदि कारकों पर निर्भर करती हैं। बढ़ने वाले बच्चों की अपेक्षतया अधिक कैलोरियों की तथा अधिक प्रोटीनयुक्त भोजन की आवश्यकता होती है क्योंकि उनके शरीर वृद्धि की प्रक्रिया में होते हैं। पुरुषों की ही तरह का कार्य करने वाली महिलाओं को पुरुषों की अपेक्षा कुछ कम कैलोरियों की आवश्यकता होती है। शिशु का पोषण करने वाली माताओं को अधिक कैलोरियों की आवश्यकता होती है। प्रौढ़ व्यक्ति के लिए आवश्यक कैलोरियां उसके हल्के-फुल्के, मध्यम प्रकार के अथवा परिश्रम वाले कार्य पर ही निर्भर करती हैं (चित्र 7.6)।

खाद्य संदर्शिका (Culinary guide)

खाद्य पदार्थों से अधिकतम पोषण-मान प्राप्त करने के लिए चित्र 7.7 में दर्शाए गए भोजन के परिरक्षण, पकाने और परसने की विधि के सामान्य नियमों का पालन करना आवश्यक होगा।

चित्र 7.6—कैलोरी की आवश्यकताएं
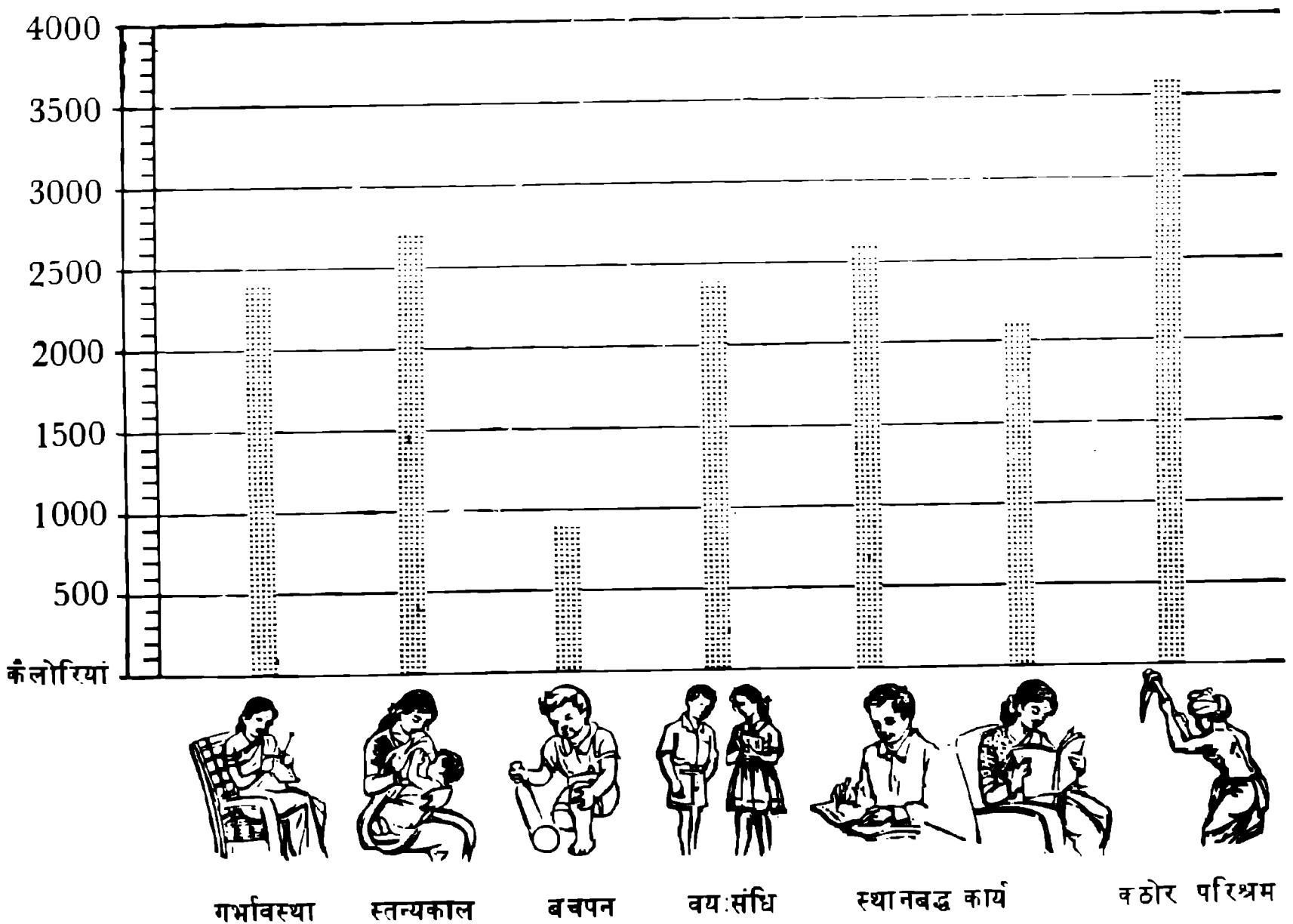
इस लेख में कुछ चित्र, प्रचार निदेशालय, महाराष्ट्र सरकार के सौजन्य से उनकी पुस्तक 'रोड टू न्यूट्रिशन' से उद्धृत हैं।

चित्र 7.7—
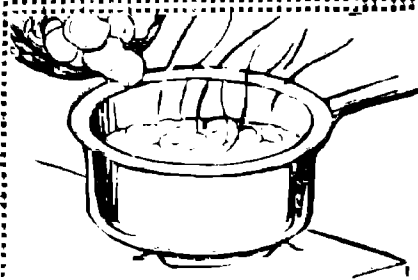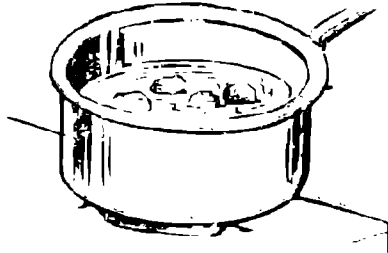
यह गलत है	यह सही है
ठंडे पानी में चीजों को रखना	चीजों को उबलते पानी में रखिए
अधिक पानी का उपयोग करना	पकाने के लिए पर्याप्त पानी का उपयोग करिए
पकाने के बाद अधिक पानी को फेंकना	पकाने के बाद पानी की अधिक मात्रा का उपयोग अन्य भोजन के लिए करें
मूली, गांठ गोभी, प्याज आदि सब्जियों की पत्तियों को फेंकना	हरी सब्जियों की पत्तियों का उपयोग
बेकिंग सोडा का प्रयोग (इससे विटामिन नष्ट हो जाते हैं)	बेकिंग सोडा का प्रयोग मत करिए
अधिक समय तक पकाना	15 मिनट से अधिक समय तक मत पकाइए
परोसने से पहले अधिक पकाना	पकाने के तुरंत बाद गर्म भोजन परसिए
सब्जियों को गर्म स्थान में रखना	सब्जियों और फलों को ठंडे स्थान में रखिए
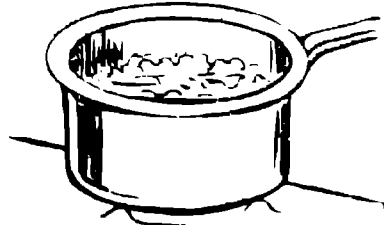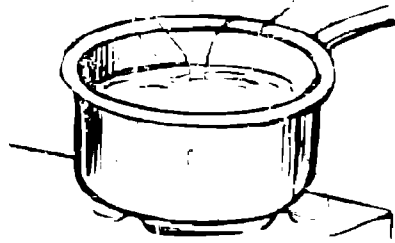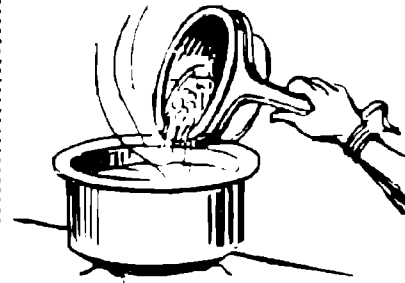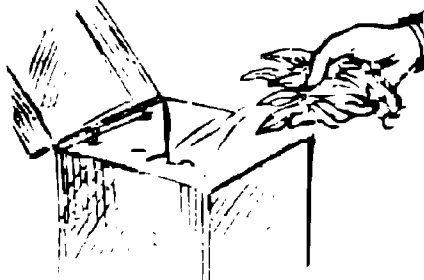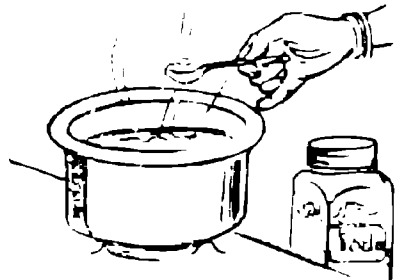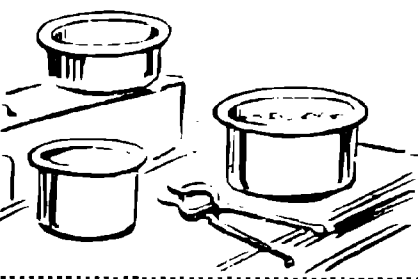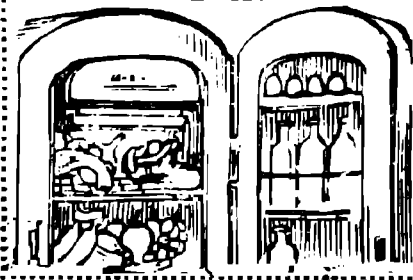
सारणी 7.1 — सामान्य खाद्य पदार्थों के अवयव — (0) से तात्पर्य है अविद्यमान, और — का तात्पर्य है आंके नहीं गए

क्र०सं०	नाम	खाद्यांश का प्रतिशत	खाद्यांश के प्रति 100 ग्राम में										
			प्रोटीन ग्राम	वसा ग्राम	कार्बोहाइड्रेट ग्राम	विटा० ए आई०यू०	विटा० $बी_1$ मि०ग्रा०	विटा० $बी_2$ मि०ग्रा०	निकोटीनिक अम्ल मि०ग्रा०	विटा० सी मि०ग्रा०	कैल्शियम मि०ग्रा०	लोहा (आइरन) मि०ग्रा०	कैलोरियां
	धान्य												
1	बाजरा	84	11.6	5.0	67.5	220	0.33	0.16	3.2	0	42	14.3	356
2	माइलो (ज्वार)	100	10.4	1.9	72.6	79	0.37	0.28	1.8	0	25	5.8	349
3	चावल, मिल का	100	6.8	0.5	78.2	0	0.09	0.03	1.9	0	10	3.1	345
4	गेहूं का आटा	100	12.1	1.7	69.4	49	0.49	0.29	4.3	0	48	11.5	341
5	सफेद ब्रेड	—	7.8	0.7	51.9	0.07	—	0.7	—	—	11	1.1	245
	दाल व फलियां												
6	बंगाल चना, दाल	100	20.8	5.6	59.8	216	0.48	0.18	2.4	1	56	9.1	372
7	उड़द दाल	100	24.0	1.4	59.6	64	0.42	0.37	2.0	0	154	9.1	347
8	मूंग दाल	100	24.5	1.2	59.9	83	0.72	0.15	2.4	0	75	8.5	351
9	मसूर दाल	100	25.1	0.7	59.0	450	0.45	0.49	1.5	0	69	4.8	343
10	अरहर या तोर	100	22.3	1.7	57.6	220	0.45	0.51	2.6	0	73	5.8	355
11	मटर, सूखे	100	19.7	1.1	56.5	66	0.47	0.38	1.9	0	75	5.1	315
	पत्ती वाली सब्जियां												
12	बथुआ की पत्तियां (चंदन बथुआ)	—	3.7	0.4	2.9	4680	0.01	0.12	0.6	32	150	6.0	30
13	पत्ता गोभी	51	5.1	0.5	13.1	2000	0.06	0.03	0.4	124	39	0.8	77
14	कॉलोकेसिया (आलू-मराठी)	—	3.9	1.5	6.8	23000	0.07	0.23	1.2	12	290	14.3	56
15	धनियां पत्तियां	70	3.3	0.6	7.5	11530	0.05	0.06	0.8	135	184	18.5	48
16	मेथा	59	4.4	0.9	6.0	6450	0.05	0.15	0.7	54	360	17.2	49

सारणी 7.1 — सामान्य खाद्य पदार्थों के अवयव — (0) से तात्पर्य है अविद्यमान, और — का तात्पर्य है आंके नहीं गए

क्र०सं०	नाम	खाद्यांश का प्रतिशत	खाद्यांश के प्रति 100 ग्राम में										
			प्रोटीन ग्राम	वसा ग्राम	कार्बोहाइड्रेट ग्राम	विटा०ए आई०यू०	विटा०बी$_1$ मि०ग्रा०	विटा०बी$_2$ मि०ग्रा०	निकोटीनिक अम्ल मि०ग्रा०	विटा०सी मि०ग्रा०	कैल्शियम मि०ग्रा०	लोहा (आइरन) मि०ग्रा०	कैलोरियां
17	गोगू (पटवा, अम्बाड़ी)	76	1.7	1.1	9.9	4830	0.07	0.21	1.5	20	172	5.0	56
18	पुदीना	45	4.8	0.6	5.8	2700	0.05	6.08	0.4	27	200	15.6	47
19	पालक	87	2.0	0.7	2.9	9300	0.03	0.07	0.5	28	73	10.9	26
	जड़ें और कंद												
20	चुकन्दर	85	1.7	0.1	8.8	0	0.04	0.09	0.4	88	200	1.0	43
21	गाजर	95	0.9	0.2	10.6	3150	0.04	0.02	0.6	3	80	2.2	47
22	प्याज, बड़ा	—	1.2	0.1	11.0	0	0.08	0.01	0.4	11	180	0.7	49
23	आलू	100	1.6	0.1	22.6	40	0.10	0.01	1.2	17	10	0.7	97
24	मूली, सफेद	99	0.7	0.1	3.4	5	0.06	0.02	0.5	15	50	0.4	17
25	शकरकन्द	—	1.2	0.3	28.2	10	0 08	0.04	0.7	24	20	0.8	120
26	याम (जमीकन्द, सूरन)	—	1.2	0.1	18.4	434	0.06	0.07	0.7	0	50	0.6	79
	अन्य सब्जियां												
27	बैंगन	91	1.4	0.3	4.0	124	0.04	0.11	0.9	12	18	0.9	24
28	फूल गोभी	70	2.6	0.4	4.0	51	0.04	0.10	1.0	56	33	1.5	30
29	ग्वार (क्लस्टर बीन)	—	3.2	0.4	11.0	316	0.09	0.09	0.6	47	111	4.5	59
30	खीरा	83	0.4	0.1	2.5	0	0.03	0.01	0.2	7	10	1.5	13
31	बड़ी सेम (डबल बीन)	—	8.3	0.3	12.3	—	—	—	—	22	40	2.3	85
32	सहजन (ड्रम स्टिक)	83	2.5	0.1	3.7	184	0.05	0.07	0.2	120	30	5.3	26
33	कुंद्री, टंडोल (कोबाई फ्रूट)	96	1.2	0.1	3.1	260	0.07	0.08	0.6	22	40	1.4	18
34	गांठगोभी (नोलखोल)	74	1.1	0.2	3.8	36	0.05	0.09	0.5	85	20	0.4	27

35	भिंडी	84	1.9	0.2	6.4	88	0.07	0.10	0.6	13	66	1.5	35
36	सीताफल (कद्दू)	79	1.4	0.1	4.6	84	0.06	0.04	0.5	2	10	0.7	25
37	हरा टमाटर	98	1.9	0.1	4.3	320	0.07	0.01	0.4	31	20	1.8	20
	काष्ठफल, तिलहन और फल												
38	तिल	100	18.3	43.3	25.0	100	1.01	0.06	4.4	0	1450	10.5	563
39	मूंगफली	—	26.7	40.1	20.3	63	0.90	0.30	14.1	0	50	1.6	549
40	सेव	90	0.3	0.1	13.3	0	0.12	0.03	0.2	2	9	1.0	55
41	हरा केला, छिलका रहित		0.8	0.8	24.4	90	0.03	0.03	0.5	0	26	2.1	107
42	अंजीर	99	1.3	0.2	7.6	270	0.06	0.05	0.6	5	60	1.2	37
43	अंगूर, पीले हरे	—	0.5	0.3	16.5	0	—	—	0	1	20	1.5	71
44	अमरूद	100	0.9	0.3	11.2	0	0.03	0.03	0.3	212	50	1.2	51
45	कटहल	30	1.9	0.1	19.8	292	0.03	0.13	0.4	7	20	0.5	88
46	जामुन	75	0.7	0.3	14.0	80	0.03	0.01	0.2	18	15	1.2	62
47	नींबू, खट्टा	97	0.6	0.7	8.2	0	—	—	0.1	26	100	2.4	42
48	मुसम्मी	71	0.8	0.3	9.3	0	—	—	0	50	40	0.7	43
49	आम, अल्फान्सो	—	0.4	0.9	16.3	15220	0.08	0.09	4.1	25	42	1.6	74
50	तरबूज	78	0.2	0.2	3.5	0	0.02	0.04	0.1	1	11	7.9	16
51	संतरा, नागपुरी	70	0.6	0.2	8.9	1800	—	—	0	30	20	0.5	40
52	पका पपीता	75	0.6	0.1	7.2	1110	0.04	0.25	0.2	57	17	0.5	32
53	अनन्नास	60	0.4	0.1	10.8	30	0.20	0.12	0.1	39	20	1.2	46
54	पका टमाटर	100	0.9	0.2	3.6	585	0.12	0.06	0.4	27	48	0.4	20
	प्राणियों से प्राप्त खाद्य पदार्थ												
55	मछली, बगड़ा	—	18.8	1.6	4.5	—	—	—	—	7	290	1.4	108
56	केकड़ा, छोटा	—	11.2	9.8	9.2	—	—	—	—	—	1606	21.2	170
57	महाचिंगट (लोब्स्टर)	—	20.5	0.9	—	—	—	—	—	—	16	—	90
58	पोम्फ्रेट, सफेद	68	17.0	1.3	1.8	—	—	0.55	2.6	—	178	12 2	87
59	झींगा (प्रौन)	—	21.5	1.7	1.2	—	0.09	0.10	4.8	—	38	—	101
60	बीफ	—	21.6	2.6	—	60	0.15	0.04	6.4	2	10	0.8	114

सारणी 7.1 — सामान्य खाद्य पदार्थों के अवयव — (0) से तात्पर्य है अविद्यमान, और — का तात्पर्य है आंके नहीं गए

क्र०सं०	नाम	खाद्यांश का प्रतिशत	खाद्यांश के प्रति 100 ग्राम में										
			प्रोटीन ग्राम	वसा ग्राम	कार्बोहाइड्रेट ग्राम	विटा०ए आई०यू०	विटा०बी$_1$ मि०ग्रा०	विटा०बी$_2$ मि०ग्रा०	निकोटीनिक अम्ल मि०ग्रा०	विटा०सी मि०ग्रा०	कैल्शियम मि०ग्रा०	लोहा (आइरन) मि०ग्रा०	कैलोरियां
61	मुर्गी का अंडा	—	13.3	13.3	—	2200	0.10	0.18	0.1	0	60	2.1	173
62	बकरे का गोश्त	—	21.4	3.6	—	—	—	—	—	—	12	—	118
63	भेड़ की कलेजी	—	19.3	7.5	1.4	22300	0.36	1.70	17.6	20	10	6.3	150
64	भेड़-बकरी का मांस (मटन)	—	18.5	13.3	—	—	—	—	—	—	150	2.5	194
65	सूअर का मांस (पोर्क)	—	18.7	4.4	—	0	0.54	0.09	2.8	2	30	2.3	114
66	गाय का दूध	100	3.2	4.1	4.4	165	0.05	0.18	0.1	2	149	0.2	67
67	भैंस का दूध	100	4.3	8.8	5.1	160	0.04	0.10	0.1	3	210	0.2	118
68	दही	100	3.1	4.9	2.9	102	0.05	9.16	0.1	1	149	0.3	60
69	खोया, गाय के दूध का	100	20.1	25.9	24.9	497	0.24	0.41	0.4	—	956	—	413

• • •
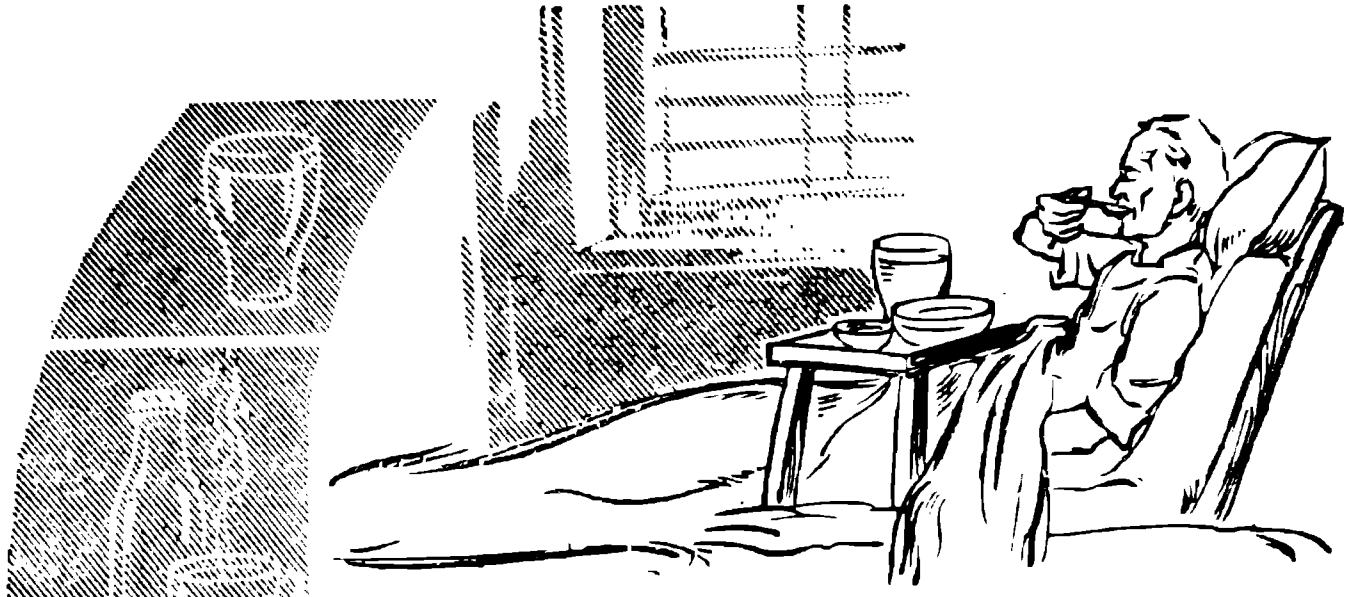
8

—डा० एच० वी० सरदेसाई
डा० के० वी० पान्से

सामान्य रोगों में आहार

हमारे रोजमर्रा के जीवन में पोषण महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। हमारा स्वास्थ्य, ऊर्जा या शक्ति, आनंद आदि सभी हमारे आहार पर निर्भर करते हैं। दूसरी ओर, अपसामान्य आहार के कारण शारीरिक ही नहीं बल्कि कभी-कभी तो कई मानसिक रोग भी हो जाते हैं। इसी तरह रोग हमारी आवश्यकताओं में परिवर्तन कर देते हैं और इस कारण आवश्यकता के अनुसार आहार में फेरबदल करना जरूरी होता है।

सभी रोगों में आहार का परिवर्तन जरूरी होता है और उनके उपचार में आहार अलग-अलग तरह से अपनी भूमिका अदा करता है। एक तरफ भोजन की एलर्जी-जैसे रोग हैं जिनमें आहार प्रतिबंध मात्र से ही रोगी पूरी तरह से स्वस्थ हो जाता है, तो दूसरी ओर अतिभार (मोटापे) अथवा पोषण की कमी-जैसे रोग हैं जिनमें आहार सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। मधुमेह, गाउट आदि रोगों में दवाइयों की अपेक्षा आहार अधिक महत्वपूर्ण होता है और केवल कुछेक रोगों में ही ऐसा है जिनमें आहार का योगदान अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण होता है। हर रोग में आहार को कई दृष्टिकोणों से देखना जरूरी होता है, जैसे : 1. कुल कैलोरियां (सामान्य रूप से एक दिन में करीब 1800 से लेकर 3000 कैलोरियों की आवश्यकता होती है), 2. कार्बोहाइड्रेट, 3. वसाएं, 4. प्रोटीन, 5. विटामिन, 6. खनिज, 7. जल, 8. रुक्षांश मान (roughage value) और 9. भोजन का परितृप्ति मान (satiety value)। प्रत्येक प्रकार के भोजन के ये नौ आधारभूत पहलू हैं और भोजन के चुनाव के पहले इनमें से प्रत्येक को ध्यान में लाना जरूरी है। हर प्रकार के भोजन के पोषण-मान की जांच आहार-तालिकाओं से कर लेनी चाहिए। अंतिम अध्याय की 7.1 तालिका इसी तरह की तालिका है। इस बात को ध्यान में रखना बहुत जरूरी है कि हर व्यक्ति की आहार संबंधी आदतें अलग-अलग होती हैं और रोग में किसी व्यक्ति के आहार में परिवर्तन सुझाने से पहले उसकी आहार संबंधी

* * * *

डा० एच० वी० सरदेसाई, एम० डी० (बम्बई), एम० आर० सी० पी० (ई०), आनरेरी फिजीशियन, ससून जनरल हास्पिटल तथा बी० जे० मेडिकल कालेज, पूना।

डा० के० वी० पान्से, पी-एच० डी०, डाएटीशियन, भूतपूर्व अनुसंधान अधिकारी, खादी एवं ग्राम उद्योग कमीशन, पूना।

आदतों का अध्ययन आवश्यक है। केवल कच्ची सामग्री का चुनाव ही महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि इसके साथ ही भोजन का संसाधन, मसालों का प्रयोग, प्रत्येक अवयव (घटक) की मात्रा, भोजन की कुल मात्रा, भोजन कितनी बार किया जाता है आदि बातें भी महत्वपूर्ण हैं।

कुछ सामान्य रोगों में आहार संबंधी आवश्यकताओं की रूपरेखा नीचे दी गई हैं—

1. फ्लू सरीखे लघु ज्वरों में आहार :

अधिकांश ज्वरों में शरीर की पानी, प्रोटीन, कुल कैलोरियों, खनिजों, विटामिनों और रुक्षांशमान संबंधी आवश्यकता में वृद्धि हो जाती है। बिस्तर पर पूरे आराम के साथ-साथ रोगियों को चाय, कॉफी, जौ का पानी, सादा पानी, नींबू का पानी सरीखे तरल पदार्थों के रूप में अधिक से अधिक पानी पीने के लिए कहा जाना चाहिए। हर तीन-तीन घंटे के बाद कम-कम मात्रा में भोजन करने से पाचन ठीक रहेगा। इस बात का ध्यान रखना बहुत जरूरी है कि सामान्य अवस्था की अपेक्षा ज्वर में कैलोरियों की आवश्यकता अधिक होती है, इसलिए रोगियों को चाहिए कि वे ग्लूकोज़, सामान्य शर्करा, माल्टोज़ आदि शर्कराओं को अधिक मात्रा में लें। इस प्रकार ज्वर का पोषण करना चाहिए। हल्के ज्वर में दालें, चावल, चपाती, उबली सब्जियां और ब्रेड ली जा सकती है। मसालेदार और गरम भोजन का परहेज रखना चाहिए और मसालों का प्रयोग भी नहीं करना चाहिए।

यदि ज्वर के साथ-साथ दस्त भी हैं तो ठोस भोजन के बदले सब्जियों तथा मांस वाले सभी प्रकार के सूप लेने चाहिए।

2. टायफायड ज्वर में आहार :

संक्रामक ज्वरों में, सबसे साधारण ज्वर टायफायड या आंत्र-ज्वर है। इस रोग में रोगियों को चाय, काफी, फलों का छना रस, छाछ, दही का पानी, आइसक्रीम, जौ का पानी आदि प्रचुर मात्रा में दिया जाना चाहिए। जब तक ज्वर रहता हो या दस्त आते हों तो सब्जियों तथा आम, पपीता, अमरूद सरीखे फलों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। हां, ऐसे में सेब ठीक रहते हैं। मुलायम व अधिक पके केले दिये जा सकते हैं। आहार के रूप में मुलायम चावल, साबूदाना, दलिया, पोरिज और दही का पानी दिया जाना चाहिए और ज्वर उतरने व तापमान के सामान्य होने के 24 घंटे बाद ही रोगियों को आहार में अन्य प्रकार खाद्य-पदार्थ दिये जाने चाहिए। आइसक्रीम, चॉकलेट, कैन्डी, मीठा किये हुए फलों के रस से यथेष्ठ कैलोरियां मिलती हैं, लेकिन इनका प्रयोग तभी किया जाना चाहिए जबकि रोग में अन्य कोई जटिलता न हो।

टायफायड ज्वर में कई जटिलताएं आ जाती हैं। इसलिए इसमें आहार में धीरे-धीरे परिवर्तन करने होते हैं। लेकिन ऐसा किसी कुशल डाक्टर की देखरेख में ही किया जाना चाहिए।

3. यक्ष्मा (*tuberculosis*) में आहार :

यक्ष्मा हमारे देश में होने वाला एक आम रोग है और इसमें रोगी को एक लंबी अवधि तक आराम देते हुए दवाइयों से उसका उपचार किया जाता है। रोगी को अधिक कैलोरियों, अधिक प्रोटीन और विटामिन-बहुल आहार दिया जाना चाहिए। इसमें रोगी को दूध और पनीर, दही, दही का पानी-जैसी दूध की चीजें, दालें, सोयाबीन आदि लेने चाहिए। जो मांसाहारी हैं उन्हें बिना चर्बी वाला गोश्त, मछली, मुर्गी और अंडे नियमित रूप से लेने चाहिए। एक या दो ताजे फल अथवा फलों का रस भी नियमित रूप से लिया जाना चाहिए।

फेफड़ों की यक्ष्मा में मोटापा भी उतना ही खराब है जितना कि अल्पपोषण। इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि रोगी बहुत अधिक भार न ग्रहण करे। इसके लिए एक ही वजन लेने वाली मशीन से दिन में एक निश्चित समय पर

नियमित रूप से वजन की जांच करते जाना उचित होगा। वजन की घट-बढ़ का निराकरण करना चाहिए।

4. कब्ज में आहार :

कब्ज एक आम मर्ज है। यह अनेक ऐसे रोग-लक्षणों के लिए उत्तरदायी है जो आमतौर पर प्रत्यक्ष रूप से मलोत्सर्ग की अनुपस्थिति से नहीं होते हैं। फिर भी अंतड़ियों की गति का परिवर्तन बहुत महत्व रखता है और इसलिए इसका उचित रूप से अध्ययन किया जाना चाहिए। कई ऐसे रोग हैं जो कब्ज करते हैं। यदि उनको अलग कर दिया जाय तभी यह कहा जा सकता है कि कब्ज आहार में रुक्षांश की कमी के कारण है। ऐसे रोगी को पत्तेदार हरी सब्जियां, फल, सब्जियां, सलाद, खीरा, टमाटर, मूली, प्याज, गाजर आदि को काफी अधिक मात्रा में लेना चाहिए। चाय, काफी, दूध और उसके उत्पादों से परहेज रखना चाहिए। ऐसे में दिन में तीन बार सादा गरम पानी लेना चाहिए और इससे नींबू के पानी में चुटकी भर नमक और शहद भी मिलाया जा सकता है। कब्ज के रोगी को भोजन में एक बार, विशेषकर सुबह के भोजन में, सिर्फ उबली सब्जियां लेनी चाहिए और मलोत्सर्ग की नियमित आदत बना लेनी चाहिए।

5. प्रवाहिका अथवा दस्त (diarrhoea) में आहार:

यह रोग नन्हें शिशुओं में विशेष तौर से पाया जाता है और इस रोग का पुस्तक में अन्यत्र पृथक् रूप से विवेचन किया गया है। प्रौढ़ मनुष्यों में यह रोग प्रायः संक्रामक, कृमिज अथवा आहार संबंधी होता है और इस प्रकार इसमें रोग के कारण के अनुसार ही आहार की व्यवस्था निर्भर करती है। सामान्य रूप से दस्त होने की अवस्था में पत्तीदार सब्जियों, सलाद आदि का परहेज रखना चाहिए (जिन्हें कब्ज की आहार-तालिका में दिया गया है)। रोगी को चाय, कॉफी, सूप, मुलायम चावल, खूब पके केले, सेब और छना हुआ फल का रस लेना चाहिए। परंतु मसाले, गरम खाद्य पदार्थ और तले भोजन का भी बहिष्कार करना चाहिए। जैसा कि पहले बताया गया है किसी भोजन विशेष के छोड़ने पर कुछ ऐसे विशिष्ट रोग हैं जिनमें दस्त रुक जाते हैं, जैसे कि सीलियक रोग, अउष्णकटिबंधी संग्रहणी (non-tropical sprue), ग्लूटेनमुक्त आहार और अग्न्याशयिक अपर्याप्तता में वसाहीन आहार का इस्तेमाल जरूरी है। कुछ विशिष्ट एंजाइमों की कमी वाले व्यक्ति कुछ शर्कराओं के प्रति असहिष्णु होते हैं और आहार में उनके निराकरण से रोग का उपचार हो जाएगा। ठीक यही बात एलर्जी वाली प्रवाहिकाओं पर भी लागू होती है।

6. पीलिया अथवा कामला (jaundice) में आहार :

संक्रामक यकृत्शोथ (hepatitis) ही पीलिया का सबसे बड़ा मुख्य कारण है। प्रायः इसमें रोगियों की भूख में कमी हो जाती है और उन्हें मिचली, उलटी और उबकाई आती है। इसलिए आहार ऐसा होना चाहिए कि भूख बढ़े। आहार थोड़ी-थोड़ी मात्रा में दिया जाना चाहिए और उसमें प्रचुर मात्रा में तरल पदार्थ, फलों का रस, गन्ने का रस, ग्लूकोज और माल्टोस सम्मिलित होने चाहिए। चावल, ब्रेड, मक्खन, चॉकलेट, आइसक्रीम सरीखे अधिक कैलोरियों वाले खाद्य पदार्थ भी दिए जाने चाहिए। जब तक उलटी आ रही है तब तक चाय, कॉफी, मसाले, एल्कोहॉल, तले भोजन सरीखे उत्तेजक पदार्थों का बहिष्कार किया जाना चाहिए, किंतु बाद में सामान्य भोजन किया जाना चाहिए। लोगों में यह आम धारणा है कि इसमें दूध, क्रीम, मक्खन और घी हानिकारक होते हैं किंतु यह सच नहीं है। रोगी जो चाहे और जो कुछ पचा सके ले सकता है।

7. पेप्टिक व्रण (peptic ulcer) में आहार :

पेप्टिक व्रण ऐसा शब्द है जो आमाशय व्रण (gastric ulcer) और ग्रहणी व्रण (duodenal

ulcer) दोनों रोगों का द्योतक है। दोनों में आहार एक-सा ही होता है। दोनों में मूलभूत सिद्धांत यही है कि अधिक अम्लता के निराकरण के लिए बार-बार थोड़ी-थोड़ी मात्रा में हल्का भोजन करना। इसके लिए दूध एक आदर्श आहार है और जिसे प्रचुर मात्रा में लिया जाना चाहिए। उबले आलू, सफेद कद्दू, अधिक पके केले, भाप दिए सेब, जेली, साबूदाना (टैपिओका), पुडिंग तथा लस्सी, शीरे-जैसे विविध भारतीय खाद्य पदार्थों को आहार में सम्मिलित किया जा सकता है। सबसे मुख्य बात है चाय, कॉफी, एल्कोहॉल, तंबाकू, मसालों, गरम खाद्य पदार्थों, अचार आदि का परहेज रखना। एक आधुनिक प्रचलन के अनुसार तो आहार में नमक का पूरी तरह बहिष्कार किया जाना चाहिए।

आमाशय शोथ (gastritis), अतिअम्लता (hyperacidity) और ऐसी ही अन्य दशाओं में भी इसी तरह के सौम्य (bland) आहार की आवश्यकता होगी।

8. मोटापा और आहार :

मोटापा कई कारणों से हो सकता है, जैसे कि आनुवंशिक (genetic), वातावरणी, व्यावसायिक, मनोवैज्ञानिक, अन्तःस्रावी (endocrine) आदि कारकों से। फिर भी सभी में मूलभूत सिद्धांत है आहार में अत्यधिक कैलोरियों का लिया जाना। अनेक मोटे व्यक्तियों की यही इच्छा होती है कि अपना अधिक वजन घटाकर वे आकर्षक आकृति वाले बन सकें। लेकिन इस बात पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि मोटापा स्वास्थ्य के लिए एक अभिशाप है। बिना बात में अधिक वजन लिए फिरने का मतलब है हृदय और परिसंचरण तंत्र के लिए बेकार का भार। हृद्धमनी रोग (coronary heart disease) अथवा हृद्रोग गलन (heart attack), अधिक रुधिर दाब, ऐथिरोमा (atheroma), मधुमेह सरीखे रोगों के लिए तो मोटापा एक प्रमुख कारण है। औसतन सामान्य अथवा कम वन वाले व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक वजन वाले व्यक्ति जल्दी मरते हैं। इसीलिए बीमा कम्पनी वाले नुकसान की बचत के लिए मोटे आदमियों से अधिक बीमा किश्त वसूलते हैं। इस प्रकार मोटापा कम करने का ध्येय सुन्दर आकृति नहीं बल्कि उत्तम स्वास्थ्य होना चाहिए।

चित्र 8.2—मोटापा

मोटापा कार्यचिकित्सा की एक समस्या है और जिसमें व्यावहारिक रूप से भी आहार ही एकमात्र समाधान है। शरीर का वजन हड्डियों, पेशियां, वसा सरीखे ऊतकों और विभिन्न अंगों से मिलकर बनता है। वैसे शरीर में वसा या चर्बी का जमाव बदलता रहता है। चयापचय की प्रक्रिया शरीर के वजन को काफी कुछ सीमा तक एक-सा बनाए रखती है और इसमें यदि कोई गड़बड़ी होती है तो या तो वजन कम हो जाता है या बढ़ जाता है। वजन में बढ़ोतरी केवल कैलोरियों की अतिरिक्त मात्रा ग्रहण करने से ही की जा सकती है। ये अतिरिक्त कैलोरियां हमारी चयापचय की आवश्यकता पूरी करने के उपरांत वसा के रूप में जमा हो जाती है।

हरएक खाद्य पदार्थ कैलोरियां प्रदान करता है, कुछ में कम होती हैं और कुछ में अधिक। यदि कोई व्यक्ति ऐसी चीजें खाए जैसे कि शर्करा, चावल, आलू, घी, मक्खन, क्रीम, तेल, तला भोजन, एल्कोहॉल, मटर, सेम (बीन), दृढ़फल (नट), मिठाइयां, मिष्ठान्न, आम, केला, अंगूर, चीकू (सपोटा) आदि तो इसका मतलब हुआ कि भोजन की कम मात्रा ग्रहण करने पर भी वह कैलोरियों को अत्यधिक संख्या में प्राप्त कर रहा है। अतः कोई व्यक्ति यदि वजन कम करना चाहता है तो उसे ऐसे खाद्य पदार्थ नहीं लेने चाहिए। भूख की अनुभूति की संतुष्टि के लिए भोजन का अधिक अंश पत्तीदार हरी सब्जियों, कद्दू, बैंगन, टमाटर, खीरा व अन्य फल वाली सब्जियों, पत्तागोभी, सलाद, तुरई, मूली, गाजर, तरबूज, खरबूजा, नींबू, मक्खन रहित दूध सरीखे कम कैलोरी वाले खाद्य पदार्थों से प्राप्त करना चाहिए। तभी, हमें भूख का अनुभव भी नहीं होगा और कैलोरियां भी कम मात्रा में ग्रहण की जाएंगी। यद्यपि सभी आमिष खाद्य पदार्थ अधिक कैलोरी वाले होते हैं किंतु वे प्रोटीन भी प्रदान करते हैं जो कि आवश्यक होते हैं। अतः नियमित रूप से थोड़ी मात्रा में इनको ग्रहण करना लाभ-दायक रहता है। यदि कोई व्यक्ति चयापचय की आवश्यकता से कम कैलोरियां ग्रहण करता है और साथ ही अपना रोजमर्रा का काम भी करता है तभी वजन में कमी संभव है। वजन कम करने वाले लोगों को ऐसा कोई उग्र कदम नहीं उठाना चाहिए कि नुकसान पहुंचे। एकदम पूरी तरह से खाना बंद कर देने से हानि हो सकती है। भोजन में कमी धीरे-धीरे और नियमित रूप से होनी चाहिए। एक बार इच्छित स्तर तक वजन कम करने के बाद उसे कम तभी रखा जा सकता है जबकि कम खाया जाय, अन्यथा अपने पुराने आहार पर आने का परिणाम होगा वजन में फिर बढ़ोतरी।

मोटापे में आहार नियंत्रण के साथ-साथ नियमित रूप से शरीर की सामान्य क्रियाशीलता चलती रहनी चाहिए। नियमित रूप से कसरत करने से शरीर का वजन सामान्य बना रहता है इसलिए कसरत करना बहुत जरूरी है।

वजन घटाने की विज्ञापित गोलियां या अन्य दवाइयां बिना डाक्टर की सलाह के कभी भी नहीं लेनी चाहिए। इन दवाइयों में थायरायड सार हो सकता है जो चयापचय को उद्दीपित करता है अथवा ऐम्फीटेमाइन हो सकता है जो भूख को समाप्त कर देता है और इस तरह बिना डाक्टर की सलाह के इनका प्रयोग हानिकारक हो सकता है।

मोटापा पारिवारिक प्रवृत्ति या लक्षण भी हो सकता है। ऐसे परिवार के लोगों को वह विशेष ध्यान रखना चाहिए कि वे अधिक कैलोरियां ग्रहण न करें, विशेषकर बचपन में, क्योंकि पैंतीस की उम्र के बाद मोटापे की ओर प्रवृत्त होने की संभावनाएं उनमें बहुत अधिक होती हैं।

9. अधिक रक्त दाब और हृदय-रोगों आदि में आहार :

अधिक रक्त दाब, हृदय-रोग और शोफ (oedema) में जिस प्रमुख खाद्य पदार्थ का परहेज किया जाना चाहिए वह है नमक या सोडियम क्लो-राइड। सोडियम क्लोराइड साधारण नमक और खनिज नमक (रॉक सॉल्ट) में पाया जाता है। ब्रेड, मछली, बिस्कुट, अचार तथा लवणित खाद्य पदार्थों, जड़ों व कंदों सहित कई चीजों में सोडियम पाया जाता है और कुछ-कुछ दूध में भी। इन रोगों को पनपाने में मोटापे का काफी हाथ है इसलिए उसमें सुधार करना आवश्यक है। अभी हाल की खोजों से सीरम-कोलेस्टेरॉल को बहुत महत्व दिया जा रहा है, जो आंशिक रूप से आहार की संतप्त वसाओं से व्युत्पन्न होता है। प्राणि स्रोतों वाली वसाएं, जैसे कि मक्खन व घी और हाइड्रोजनकृत वनस्पति तेल, जैसे कि 'डालडा', 'पकाव' आदि संतृप्त वसाओं के उदाहरण हैं। इनको अति अधिक

मात्रा में ग्रहण करने का अर्थ है रुधिर वाहिकाओं में कोलेस्टेरॉल का संचय और संभवतया यही हृदय-रोग, पक्षाघात (paralysis) आदि का कारण है। इसलिए कड़दाई तेल या कुसुम्म के तेल (safflower oil), तिल के तेल सरीखे असंतृप्त वसाओं का अधिक सेवन करना चाहिए।

10. 'गुर्दे की पथरी' में आहार :

मूत्रपथ में पथरी होने से आहार में परिवर्तन करना आवश्यक है, जो कि पथरी तथा वृक्क (गुर्दा) और शरीर में उसके द्वारा की गई हानि पर निर्भर करता है। उस पथरी में, जो कि जटिल नहीं बनी है, उसके रचना (composition) के अनुसार ही खाद्य पदार्थों का परहेज किया जाएगा। उदाहरण के लिए, ऑक्ज़ेलेट या ऑक्ज़ेलिक एसिड वाली पथरी में रोगी को टमाटर, अदरक, इमली, मूली, प्याज, भिंडी, सलाद, गेहूं, कोलोकेसिया, यम (जिमीकंद), आलू के छिलके आदि का परहेज रखना चाहिए, जबकि यूरिक एसिड वाली पथरी में रोगी को चाय, कॉफी, दालें, कलेजी, गोश्त, गुर्दे, काजू, मूंगफली आदि नहीं खानी चाहिए और अगर मिश्रित पथरी है तो ऊपर बताए गए दोनों प्रकार के खाद्य पदार्थों का परहेज रखना होगा। लेकिन हर हालत में रोगी को खूब पानी पीने के लिए उत्साहित करना चाहिए जब तक कि पेशाब करने में बाधा न हो। पीप बहने, संक्रमण अथवा अवरोध (obstruction) हो तो तुरंत डाक्टर की सलाह लेनी चाहिए।

मधुमेह, पनसिका (acne), एलर्जी आदि अन्य रोगों में और बचपन में, स्तनपान कराती माताओं को और वृद्धावस्था में दिए जाने वाले आहार का वर्णन अलग से पृथक् अध्यायों में किया गया है।

• • •

9
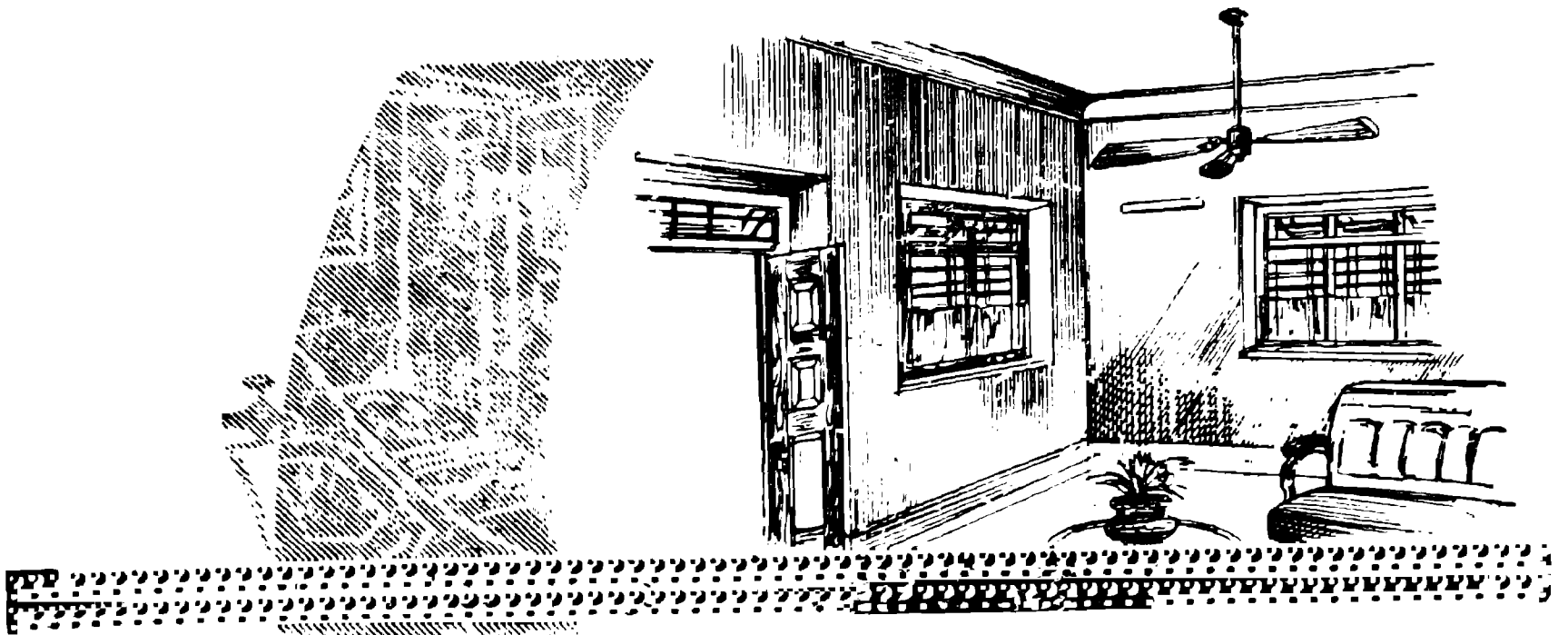
—डा० एस० ऐम० मरवाह

मानव, वातावरण और स्वास्थ्य

मानव के स्वास्थ्य और रोग की समस्याओं को पृथक् रूप से मानव शरीरों के अंदर अथवा बाहर के वातावरण में नहीं बल्कि मानव के संपूर्ण वातावरण की पृष्ठभूमि में वैज्ञानिक रूप में आंका जा सकता है। मानव का जीवन इन दोनों वातावरणों का ही परिणाम है।

वातावरण :

संपूर्ण वातावरण का मोटेतौर पर (1) भीतरी वातावरण और (2) बाहरी वातावरण में विभाजित किया जा सकता है।

भीतरी वातावरण (**Internal Environment**) : यह मानव शरीर के अंदर वाला वातावरण है। इसमें शरीर की सामान्य संरचनाएं और कार्य तथा रोग के दौरान शरीर में जो परिवर्तन होते हैं वे सब सम्मिलित हैं (चित्र 9.2)। इस संदर्भ में चिकित्साशास्त्र (therapeutics) की संकल्पना अर्थात् भेषजीय उपचार द्वारा विकृतिजन्य परिवर्तनों को दूर करने या कम करने से सभी भली-भांति परिचित हैं। किसी रोग के ठीक हो जाने के उपरांत भी मानव की अच्छे स्तर वाली कार्यक्षमता के विकास और उसे बनाए रखने के लिए उस पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है। धनात्मक (positive) अथवा इष्टतम (optimum) स्वास्थ्य की आधुनिक संकल्पना यही है।

बाहरी वातावरण (**External Environment**) : इसमें वह सब सम्मिलित हैं जो मानव शरीर के बाहर है और स्वास्थ्य तथा रोग के सभी पहलुओं की दृष्टि से इसका भी उतना ही महत्व है जितना कि भीतरी वातावरण का। इसमें कोई संदेह नहीं कि मानव के चारों ओर के वातावरण का हर अंश निरंतर रूप से उसके भीतरी वातावरण के प्रति प्रक्रियारत रहता है। बाहरी वातावरण को (1) भौतिक (physical), (2) जैविक (biological) तथा सामाजिक (social) तीन भागों में उपविभाजित किया जा सकता है (चित्र 9.3)। भौतिक वातावरण और कुछ नहीं बस हवा, पानी और भोजन सरीखे सभी निर्जीव पदार्थ हैं जिनके संपर्क में मानव भौतिक रूप से आता है। जैविक वातावरण में मानव के चारों ओर का

*   *   *   *

डा० एस० एम० मरवाह, एम० डी०, डी० पी० एच०, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, निरोधक एवं सामाजिक आयुर्विज्ञान विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

चित्र 9.2—मानव का भीतरी वातावरण

चित्र 9.3—मानव का बाहरी वातावरण

संपूर्ण जैव जगत आ जाता है, जैसे कि रोगाणु (germ) आदि। सामाजिक वातावरण में मानव के सामाजिक जीवन के सभी कारक आ जाते हैं, जैसे कि रीति-रिवाज, परंपराएं, शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता, अर्थशास्त्र, समाज और उसकी आयु-वैज्ञानिक तथा स्वास्थ्य संस्थाएं। यों तो वातावरण का दायरा बहुत विशाल है लेकिन कुछ ऐसे महत्वपूर्ण कारक हैं जिन पर नियंत्रण रखा जाना परम आवश्यक है और तभी कोई समाज स्वास्थ्य के इष्टतम स्तर, रोग के निम्नतम स्तर और आयु की अधिकतम पराकाष्ठा तक पहुंच सकता है।

(1) **भौतिक वातावरण** : भौतिक वातावरण के महत्वपूर्ण कारक हैं—हवा, पानी और भोजन। जीवधारी के लिए हवा का निरंतर मिलना अत्यावश्यक है। शरीर का करीब 70 प्रतिशत अंश पानी होता है और शेष तत्वों की आपूर्ति भोजन द्वारा की जाती है। वे तीन अनिवार्य अवयव मानव के जीवन के लिए 'परम आवश्यक' हैं। स्वास्थ्य के मानक इन तीन आधारभूत अवयवों की गुणता और मात्रा पर ही निर्भर करते हैं। इसी तरह व्यक्तियों, परिवारों अथवा समुदायों में रोग का स्तर भी इन महत्वपूर्ण पदार्थों के उतार-चढ़ाव पर निर्भर करता है। चित्र 9.4 में हवा, पानी और भोजन की आपूर्ति का महत्व समझाया गया है। इन कारकों के नियंत्रण से संबद्ध विज्ञान को सामान्यत: "वातावरणी स्वच्छता" (Environmental sanitation) कहते हैं। स्वच्छता का अर्थ है स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले कारकों का नियंत्रण। हवा, पानी और भोजन के अतिरिक्त मानव तथा समुदाय के मलपदार्थों का स्वास्थ्यकर निपटान भी वातावरणी स्वच्छता का एक महत्वपूर्ण कारक है (चित्र 9.5)। रोग उत्पन्न करने वाले कई रोगाणु मानव की विष्ठा के साथ बाहरी वातावरण में पहुंच जाते हैं। यदि इस विष्ठा का निपटान स्वास्थ्यकर रूप में नहीं किया जाएगा तो इससे रोगाणु फैल जाएंगे।

मानव, रोगाणु और वातावरण नामक तीन चीजों के संतुलन में गड़बड़ हो जाने पर ही रोग उत्पन्न होता है (चित्र 1.2)। रोग होने में रोगाणु का प्रवेश आवश्यक हो सकता है लेकिन अन्य कारक भी समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। जहां तक जठर-आंत्र रोगों का संबंध है विकारी रोगाणु मल पदार्थ के साथ बाहर निकल आते हैं। लोग बीमार इसीलिए होते हैं वे पानी अथवा भोजन के माध्यम से इनको भी निगल लेते हैं। संक्षेप में यही कहेंगे कि ये रोगाणु मानव के मलमूत्र से निकलकर फिर मुंह द्वारा उसके शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार उन समुदायों में जहां कि
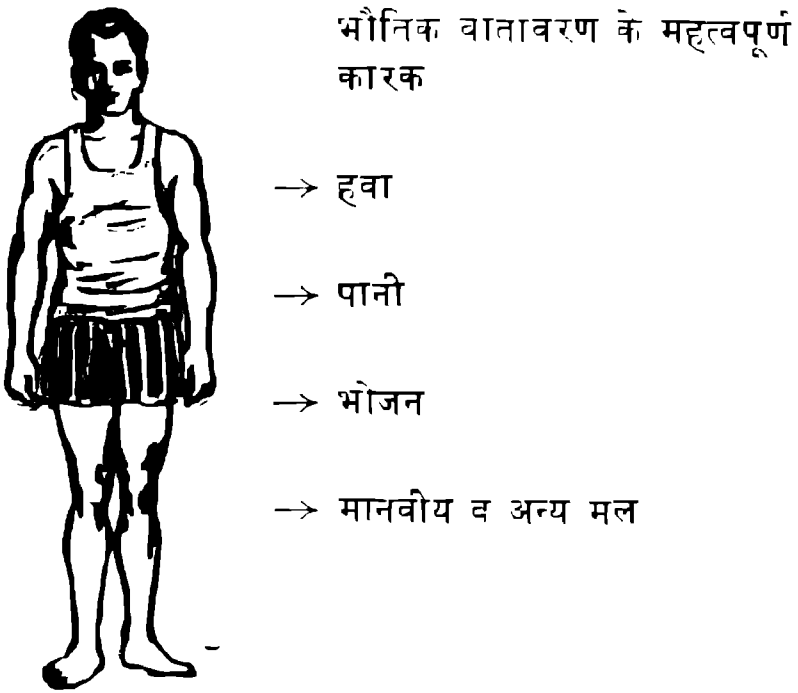
चित्र 9.4—भौतिक वातावरण की रचना

चित्र 9.5—भौतिक वातावरण की अग्रताएं

जठर-आंत्र रोग अधिक होते हैं गुदा से मुंह तक मल पदार्थ का निरंतर परिसंचरण होता रहता है। जठर-आंत्र रोग से पीड़ित होने का अर्थ है रोगी व्यक्ति द्वारा विसर्जित रोगाणुओं (अथवा अदृश्य रूप में सूक्ष्म मात्रा वाला मल पदार्थ) का निगरण। पानी या भोजन या तो सीधे ही संदूषित हो जाता है या मक्खियों, हाथों अथवा धूल से। वातावरणी स्वच्छता की गड़बड़ी द्वारा हुए नुकसान को चिकित्सीय उपचार अथवा निरोधक रोगक्षमीकरण (preventive immunization) द्वारा सुधारा नहीं जा सकता। आयुर्विज्ञान ने अब तक मानव के भीतरी वातावरण का उपचार औषधियों द्वारा किया है। बहुत कम प्रतिशत रोगियों ने अस्पतालों अथवा प्राइवेट चिकित्सकों द्वारा किए गए ऐसे उपचार का फायदा उठाया है (चित्र 9.6)। अधिकांश लोग तो पीड़ित रहे, मर गए अथवा विकलीकृत (disabled) हो गए। औषधीय चिकित्सा का अर्थ है मानव के भीतर और बाहर संक्रामक पदार्थों के निरंतर परिसंचरण में प्राप्त होने वाला अस्थाई आराम। इसीलिए आधुनिक चिकित्साशास्त्र में विष्ठा और अन्य मल पदार्थों का स्वास्थ्यकर निपटान तथा भोजन व जल आपूर्ति की स्वच्छता स्वास्थ्य और रोग से बचाव के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार असली रोग के उपचार के अलावा बाहरी वातावरण के प्रति विशेष ध्यान देना अच्छा स्वास्थ्य बनाए रखने की दृष्टि से ही आवश्यक नहीं है बल्कि दीर्घजीवन की दृष्टि से भी जरूरी है।

स्वास्थ्य में हवा की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कुछ रोग तो रोगाणुओं वाले छींटों के अभिश्वसन (inhalation) द्वारा ही फैल जाते हैं, जो कि बहुधा एक की नाक और अथवा मुंह द्वारा दूसरे तक पहुंच जाते हैं। ये छोटी बूंदें या छींटे हवा के माध्यम से ही संचारित होते हैं। हवा की स्वच्छता रखने की उचित विधियां अभी विकसित नहीं की जा सकी हैं यद्यपि कोशिशें चल रही हैं। फिर भी यह सिद्ध कर लिया गया है कि अतिसंकुल या अधिक घने, अपूर्ण संवातन तथा अंधेरे घरों में रोग, विशेषकर श्वसन तंत्र के रोग, अधिकता से होते हैं, जो रोगाणुओं वाली नन्हीं बूंदों या छींटों से संचारित होते हैं। कई अन्य रोग, विशेषकर त्वचा के संपर्क वाले, अधिक घने, अंधेरे और गंदे घरों से संबद्ध होते हैं। और ये सब गरीबी के संकट हैं। सुरक्षित जल आपूर्ति, स्वास्थ्यकर भोजन आपूर्ति, विष्ठा और अन्य सामुदायिक मल पदार्थों का स्वास्थ्यकर निपटान के अलावा यथेष्ट व स्वस्थ आवास और ग्राम-नियोजन वातावरणी स्वच्छता अथवा मानव के भौतिक वाता-

चित्र 9.6—जठर-आंत्र संक्रमण : मानव से मानव में रोगाणुओं का निरंतर संचरण और बाहरी व भीतरी वातावरणों में उसका नियंत्रण।
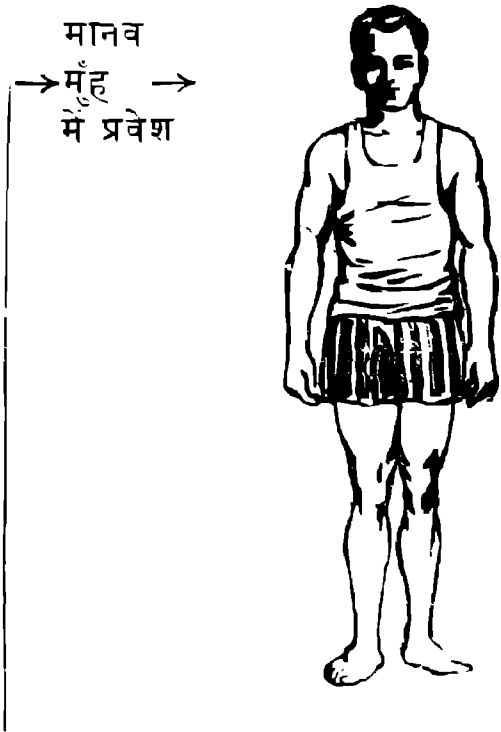
वरण के आधारभूत कारक हैं (चित्र : 9.5)।

सार रूप में यही कहेंगे कि जठर-आंत्र संक्रमणों के ज्ञात या अज्ञात रोगाणु जो भी हों, जहां वातावरणी स्वच्छता ठीक नहीं होती वहां ये रोग अधिक होते हैं और जहां वातावरणी स्वच्छता होती है वहां ये रोग कम होते हैं। श्वसन-तंत्र के रोगों तथा संसर्ग रोगों के कारण जो भी रोगाणु हों लेकिन यह कहना ही पड़ेगा कि जहां भीड़ वाले और गंदे घर होते हैं वहां ये रोग अधिक होते हैं। और यही नहीं रोगों के अलावा स्वास्थ्य का स्तर अथवा जीवन की अवधि उस ली जाने वाली हवा, पिए जाने वाले पानी, खाए जाने वाले भोजन और उस स्वच्छ वातावरण पर निर्भर करती है जिसमें कि मानव रह रहा है।

(2) जैविक वातावरण :—मानव के चारों ओर जीवधारियों का संसार ही उसका जैविक वातावरण है। स्वास्थ्य की दृष्टि से इस वातावरण के सबसे महत्वपूर्ण कारक हैं सूक्ष्मजीव अथवा रोगाणु (germs)। सभी संक्रामक रोग रोगाणुओं के द्वारा ही होते हैं। विकास क्रमों के परिणामस्वरूप ये रोगाणु मानव के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं और अपने अस्तित्व के संघर्ष में परजीवी (parasite) के रूप वृद्धि करते हैं। रोग की प्रघटना को मानव ने मानव जाति और इन सूक्ष्मजीवों के बीच उत्तरजीविता (survival) के संघर्ष की प्रघटना कहा है। इस प्रकार की उत्तरजीविता से जाति का प्रवर्धन होता है। यदि कोई व्यक्ति संक्रमण के परिणामस्वरूप बीमार पड़ता है तो या तो वह ठीक हो जाता है या मर जाता है। यदि वह ठीक हो जाता है तो रोग उत्पन्न करने वाले रोगाणु सामान्यतया नष्ट हो जाते हैं, किंतु यदि व्यक्ति स्वयं मर जाता है तो रोगाणु या तो उसके साथ ही मर जाते हैं या उसके शरीर के साथ ही जला दिए अथवा दफना दिए जाते हैं। इस प्रकार इन रोगाणुओं का प्रवर्धन या प्रसार केवल एक मानव से दूसरे मानव में स्थानान्तरण से ही हो सकता है। अतः इन सूक्ष्मजीवों के निराकरण के लिए एक मानव से दूसरे मानव में इनका संचार किसी न किसी उपलब्ध विधि द्वारा रोका जाना चाहिए। मानव से मानव में जठर-आंत्र के रोगों के संचार का निराकरण वातावरणी स्वच्छता तथा पानी व भोजन की स्वास्थ्यकर आपूर्ति द्वारा ही किया
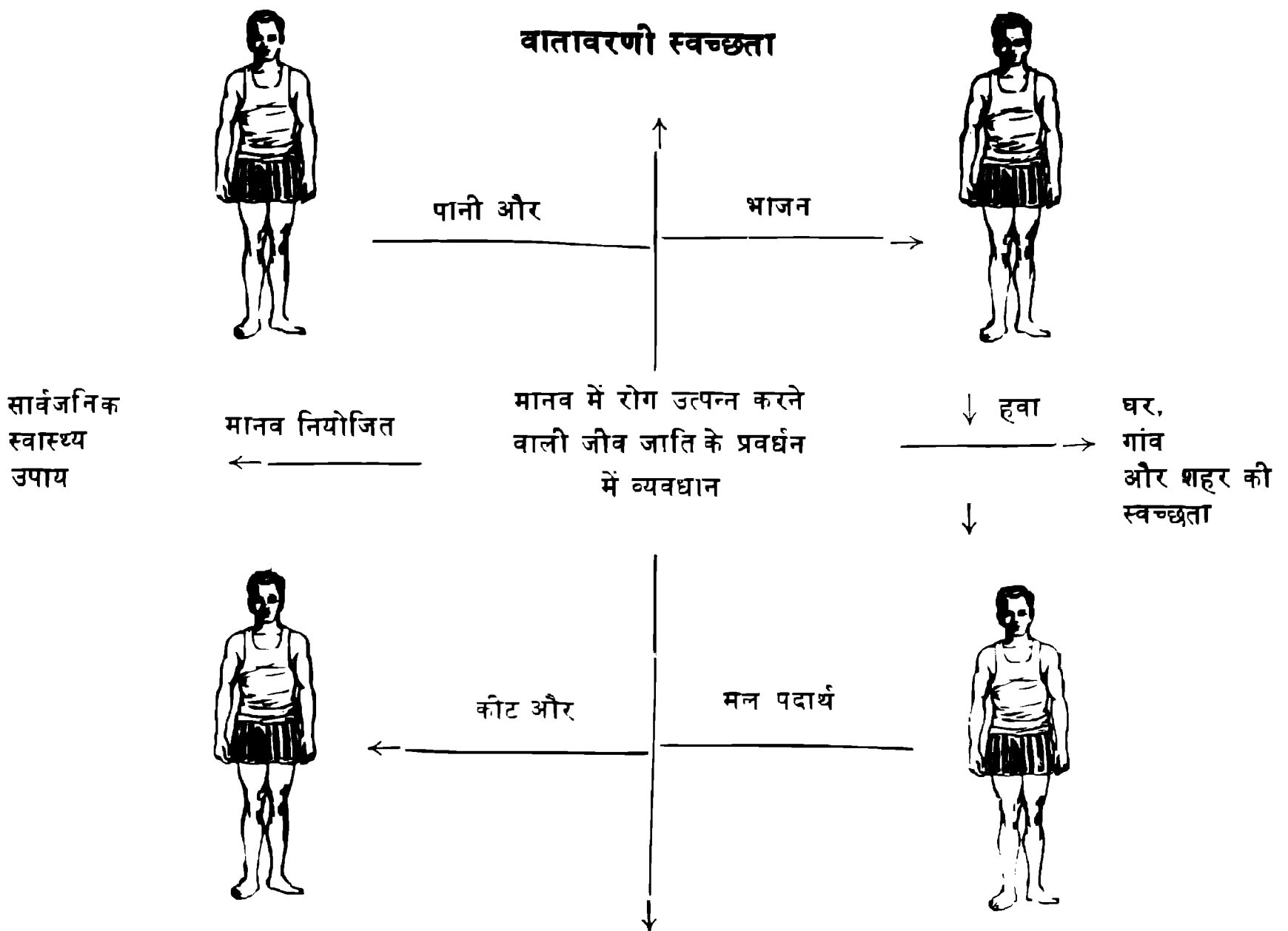
चित्र 9.7—मानव का जैविक वातावरण और उसका नियंत्रण

जा सकता है। कई देशों में **कॉलरा विब्रियो** जैसे कुछ रोगाणुओं के प्रवर्धन में व्यवधान की सफलता मानव से मानव में स्थानांतरण में व्यवधान डालने वाली उपलब्ध विधियों पर निर्भर करती है। (चित्र : 9.7)।

(3) **सामाजिक वातावरण** : समाज, संस्कृति, शिक्षा, सभ्यता, सामुदायिक संगठन, आर्थिक परिस्थितियां आदि ही मानव का सामाजिक वातावरण बनाती हैं। सामाजिक परंपरा मानव की स्वयं की बनाई हुई है (चित्र 9.8)। बाहरी वातावरण भी मानव निर्मित और प्राकृतिक में विभाजित किया जा सकता है। प्राकृतिक वातावरण प्रकृति ही है जिसमें कि वह अन्य प्राणियों के साथ साझा करता है। फिर भी मानव निर्मित वातावरण में (चित्र 9.9) मानव ने प्राकृतिक वातावरण को समंजित और रूपांतरित कर दिया है। आज रोगों की प्रवृत्ति में सामाजिक वातावरण महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। रहन-सहन, शिक्षा व विकास के स्तर और सामुदायिक स्वास्थ्य एजेन्सियों आदि के संगठन के रूप में स्वास्थ्य और रोग के स्तर सामाजिक परंपरा से संगतता रखते हैं। स्वास्थ्य और रोग की कई समस्याएं तकनीकी और वैज्ञानिक होने की अपेक्षा अधिकांशतया समाजशास्त्रीय व प्रशासन संबंधी हैं। इसे समझने के लिए हम उदाहरण देंगे। जेनर ने चेचक के उन्मूलन के लिए 1798 में सबसे अधिक सक्षम अस्त्र यानी चेचक के टीके को विकसित किया किंतु 1967 में भी, विभिन्न देशों में रोग की व्याप्ति भिन्न-भिन्न रही जो इस अस्त्र के सदुपयोग की प्रशासनिक व सामा-

→ जैविक परंपरा

→ सामाजिक परंपरा

↓

मानवनिर्मित सामाजिक एजेन्सियों द्वारा उपलब्ध साधनों के द्वारा दक्षता और वैज्ञानिक विधियों से स्वास्थ्य और रोग की समस्याओं का समाधान।

चित्र 9.8—मानव का सामाजिक वातावरण

जिक दक्षता पर निर्भर रही। भारत में आज भी 1,000 में से करीब 100 शिशु प्रथम जन्म दिन के पहले मर जाते हैं लेकिन पश्चिमी देशों में ऐसी मृत्यु 20 से भी कम होती है। शिशुओं की मृत्यु के प्रमुख कारण जठर-आंत्र रोग हैं। अतः शिशु मृत्यु दर यानी प्रति 1,000 शिशु जन्म के हिसाब से शिशुओं की मृत्यु संख्या को ही वातावरणी स्वच्छता का सूचक समझा जाता है।

स्वास्थ्य, रोगों की कमी और दीर्घजीवन के लिए स्वच्छ पानी, मानवीय मल पदार्थों का स्वाथ्यकर निपटान, स्वच्छ व संतुलित भोजन और यथेष्ट रूप से स्वस्थ आवास की व्यवस्था बहुत अनिवार्य है। लेकिन यह देखा गया है कि वातावरणी स्वच्छता का बहुत ही कम ध्यान रखा जाता है और औषधीय चिकित्सा पर अधिक जोर दिया जाता है। लोगों की इस प्रकार की मांग ही इसके लिए उत्तरदायी है। अंतिम रूप से लोगों की ये मांगें स्वास्थ्य और रोगों के प्रति उनकी धारणा और रुख के अनुसार ही होती हैं। प्राइवेट डॉक्टरों या अस्पताल या ग्राम स्वास्थ्य केन्द्र से लोगों को केवल रोग के उपचार की ही नहीं अच्छे स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन की अपेक्षा रखनी चाहिए। रोग का उपचार तो संकट से बचने के
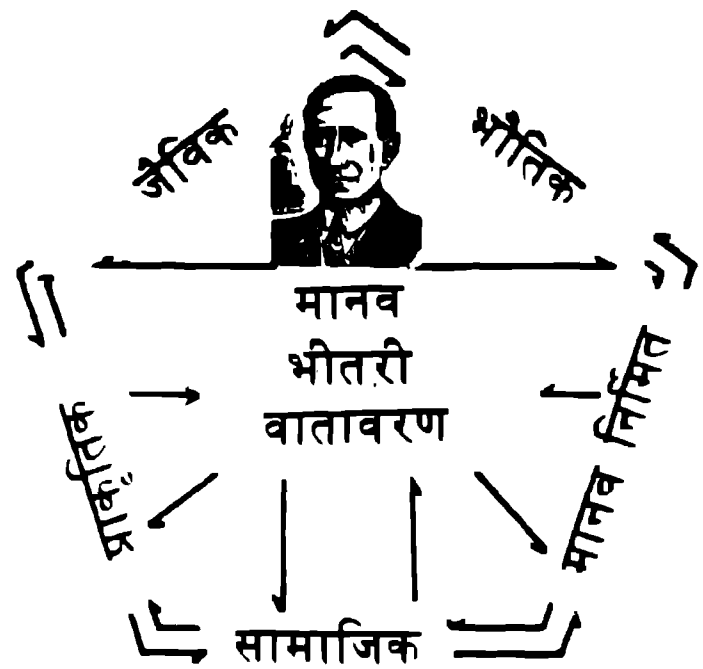
चित्र 9.9

निमित्त प्राथमिक चिकित्सा या आपातकालीन उपाय है, साध्य नहीं। मानव की दक्षता और खुशी के लिए स्वास्थ्य बहुत अनिवार्य चीज है।

स्वास्थ्य के कारक :

सही जल आपूर्ति : पीने के पानी को स्वास्थ्य की दृष्टि से सभी हानिकारक अशुद्धियों से मुक्त होना चाहिए। इनमें सबसे खतरनाक रोग उत्पन्न करने वाले रोगाणु हैं। जल आपूर्ति के स्रोत प्रायः नदियां, कुएं आदि होते हैं। ऐसे पानी को पहले छानना और क्लोरीनीकृत किया जाना चाहिए। फिर इस पानी में बाद में कोई संदूषण नहीं होना चाहिए।

उचित भोजन पर्याप्त मात्रा में : भोजन इतनी मात्रा में और इस प्रकार का होना चाहिए कि उससे आवश्यक ऊर्जा प्राप्त हो, शरीर की वृद्धि हो, ऊतकों की मरम्मत हो तथा रोगों से प्रतिरक्षा हो। साथ ही उसे संदूषित नहीं होना चाहिए।

विष्ठा और अन्य मल पदार्थों का स्वास्थ्यकर निपटान : निपटान का सबसे अच्छा तरीका तो यह होता है कि मल पदार्थ से पानी, भोजन और भूमि को बिलकुल ही संदूषित न होने दिया जाय। इसका सबसे अच्छा उपाय संप्रवाहन (flush system) या जल वाह (water carriage) प्रणाली का प्रबंध है। लेकिन निर्धनता के कारण

कई स्थानों पर यह न तो संभव है और न व्यवहार्य ही। फिर भी सस्ते और सेवा-निरपेक्ष प्रकार के स्वच्छ शौचालय तो बनाए ही जा सकते हैं।

इसी तरह स्वास्थ्योपयोगी वातावरण बनाने के लिए अन्य मल पदार्थों, कचरे, बेकार पानी आदि का स्वास्थ्यकर निपटान भी अत्यन्त आवश्यक है।

अच्छा आवास : यह अच्छे स्वास्थ्य और रोगों से बचाव दोनों के लिए जरूरी है। अच्छे घर का अर्थ है उसमें संवातन (ventilation) की सुचारु व्यवस्था हो अर्थात् उसमें दरवाजों और खिड़कियों को एक दूसरे के सम्मुख होना चाहिए और हर कमरे में प्राकृतिक प्रकाश यथेष्ट रूप से आना चाहिए। इसी तरह रसोईघर और स्नानघर अलग-अलग और शौचालय स्वच्छ होने चाहिए। उत्तम स्वास्थ्य के लिए गांवों और शहरों की आयोजना, मनबहलाव के लिए खुले क्षेत्रों की व्यवस्था, सही जल व्यवस्था और अन्य स्वास्थ्यकर सेवाएं नितांत आवश्क हैं।

अंत में यह कहना सही होगा कि हवा, पानी, भोजन और मल पदार्थों के निपटान को दृष्टि में रखते हुए, रोगों से बचाव, दीर्घ जीवन तथा उत्तम स्वास्थ्य और शारीरिक क्षमता के लिए वातावरण की स्वच्छता का उच्च स्तर बहुत आवश्यक है।

• • •

10

—डा० एन० एस० देवधर
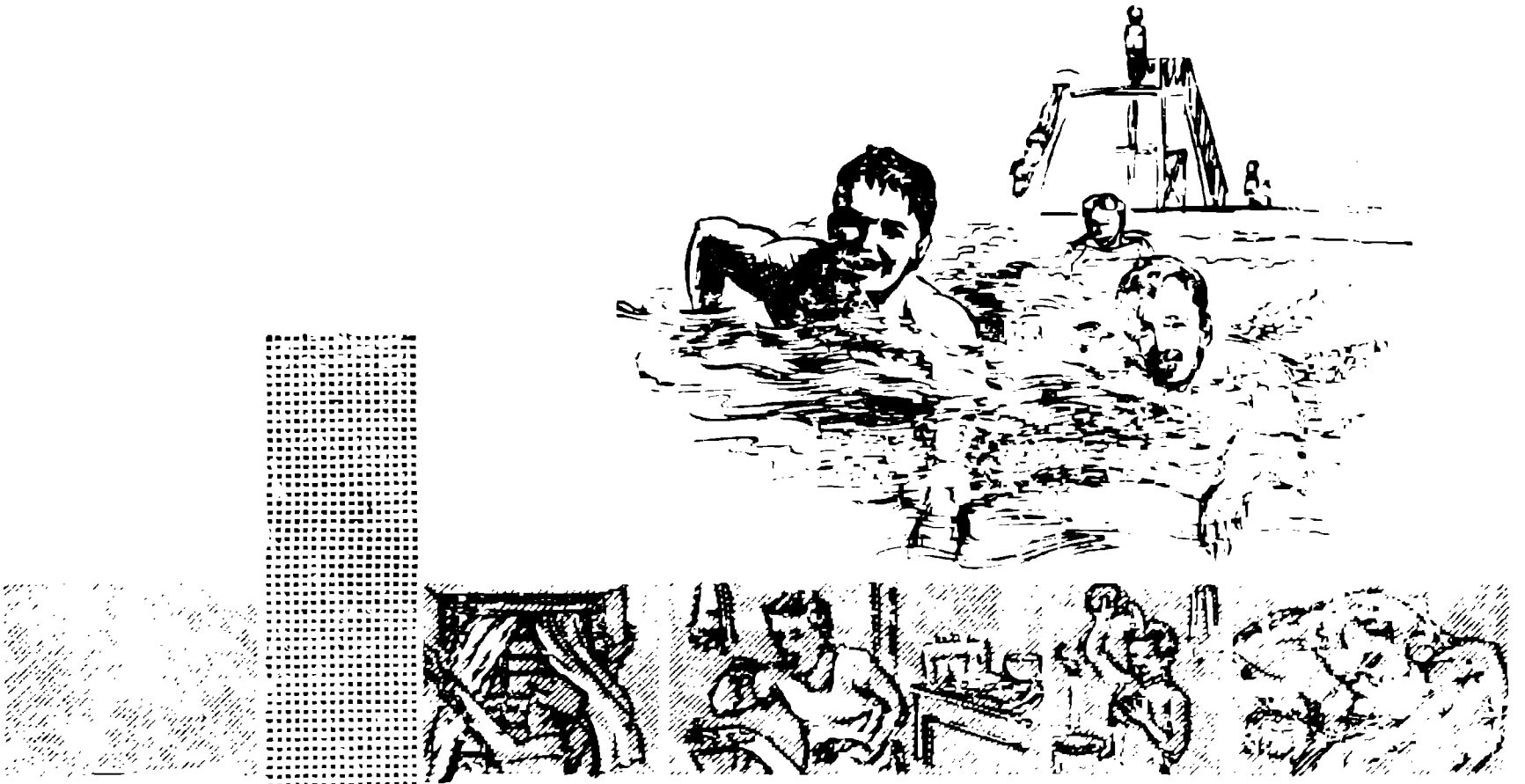
वैयक्तिक स्वास्थ्य

'वैयक्तिक स्वास्थ्य' का अर्थ भ्रम में सामान्यतया व्यक्तिगत स्वच्छता समझा जाता है। स्वच्छता निस्संदेह ही वैयक्तिक स्वास्थ्य का ही अंग है परंतु वैयक्तिक स्वास्थ्य का क्षेत्र बहुत बड़ा है। यह मुख्यतया व्यक्ति के सक्रिय प्रयत्नों से स्वास्थ्य को परिरक्षित और उत्तम बनाए रखने का विज्ञान है और यह स्वच्छता की आदतों और जीवन के स्वस्थ दृष्टिकोण के द्वारा सम्पन्न होता है। वैयक्तिक स्वास्थ्य प्रधानतः व्यक्ति के कार्यक्षेत्र आता है।

जैसा कि पहले के अध्याय में वर्णित किया गया है, बुरा स्वास्थ्य व्यक्ति, रोग उत्पन्न करने वाले कारक और वातावरण में परस्पर प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं का परिणाम होता है। यदि कोई व्यक्ति गठन से काफी मजबूत है और वैयक्तिक स्वास्थ्य का अनुपालन भली-भांति करता है तो वह प्रतिकूल वातावरण और हानिकारक रोगकारियों के प्रतिकूल प्रभावों को पूरी तरह से नष्ट कर सकता है। इस प्रकार वैयक्तिक स्वास्थ्य की यह अवस्था केवल व्यक्ति के अपने प्रयत्नों द्वारा ही उपार्जित की जा सकती है। इस प्रकार के उत्तम स्वास्थ्य को अर्जित करने के लिए जो कुछ भी किया जाता है वह सब वैयक्तिक स्वास्थ्य के अंतर्गत आता है।

स्वास्थ्य और रोग का ज्ञान :

सबसे पहले स्वास्थ्य के बारे में आधारभूत ज्ञान होना आवश्यक है कि वह क्या है और उसे कैसे अर्जित किया जाय, और यही नहीं यह भी कि रोग क्या है, व्यक्ति इससे किस प्रकार पीड़ित होता है और उससे कैसे बचाव किया जा सकता है। सबसे बड़ी शक्ति ज्ञान ही है। बीमारी से बचाव और धनात्मक स्वास्थ्य के अर्जन के लिए स्वास्थ्य और रोग का संपूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है।

* * * *

डा० एन० एस० देवधर, एम० एस०, डी० पी० एच०, डी० एच-वाई०, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, प्रीवेन्टिव तथा सोशल मेडिसिन विभाग, बी० जे० मेडिकल कालेज तथा ससून जनरल अस्पताल, पूना; सदस्य, संपादक मंडल 'हम और हमारा स्वास्थ्य'।

साबुन के प्रयोग से संक्रमण होने और उसके दूसरों तक पहुंचने की संभावना कम रहेगी। आंखें भी विशेष देखभाल चाहती हैं (देखिये अध्याय 48)। स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए प्रतिदिन आंत की नियमित गति भी आवश्यक है।

स्वच्छता सामाजिक जिम्मेदारी भी है और हर व्यक्ति को सड़क, पार्क, दफ्तर आदि सार्वजनिक स्थानों को साफ रखने में योग देना चाहिए। जहां कहीं थूकना और कूड़ा-करकट फेंकना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है। खांसने और छींकने से कई रोग फैल सकते हैं और ऐसे मौकों पर मुंह को ढकने के लिए हमेशा रुमाल का प्रयोग करना चाहिए।

कुछ अच्छी आदतों का तो पहले भी वर्णन किया जा चुका है। दुर्भाग्य की बात है कि कुछ ऐसी आदतें जो किसी फायदे की नहीं हैं अब हानिकारक सिद्ध कर दी गई हैं। इन आदतों के सबसे अच्छे उदाहरण हैं—धूम्रपान, तम्बाकू चबाना और अत्यधिक शराब पीना। धूम्रपान एक आम आदत है लेकिन निश्चित रूप से यह सिद्ध कर लिया गया है कि यह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। अत्यधिक धूम्रपान फेफड़ों के कैन्सर, उच्च रक्तदाब (high blood pressure), परिमंडली हृद्धमनी रोग (coronary heart desease) आदि का प्रमुख कारण है। धूम्रपान से श्वसन-पथ का क्षोभ (irritation) भी होता है। धूम्रपान करने वालों का स्वास्थ्य बुरा ही नहीं होता बल्कि ऊपर बताए गए रोगों के कारण उनकी जीवन अवधि भी कम हो जाती है। इसी तरह तंबाकू चबाने वाली आदत भी हानिकारक है क्योंकि मुंह के कैन्सर का यह सबसे आम कारण है। मद्यपान सामाजिक, नैतिक और आर्थिक संकट है जिसका स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इससे मानसिक अवसाद (mental depression), चिरकारी आमाशयिक रोग, हृदय और धमनियों के ऊतकों का व्यपजनन और यकृत्पात (liver failure) के कारण मृत्यु भी हो सकती है। इन हानिकारक आदतों के कुपरिणाम इतने सुस्पष्ट हैं कि इन्हें छोड़ने में जरा भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए।

पोषण :

अच्छा पोषण उत्तम स्वास्थ्य की बुनियाद है। हमारे आहार को पर्याप्त ही नहीं उसे संतुलित भी होना चाहिए। पुस्तक के 6 और 7 अध्यायों में पोषण संबंधी व्यावहारिक जानकारी दी गई है। खाने के समय की नियमितता भी बहुत महत्वपूर्ण है। उन्हीं खाद्य पदार्थों को रोज-रोज लगातार न लेते रहना एक बहुत अच्छी आदत है और भोजन में बदल बदलकर अधिक से अधिक खाद्य पदार्थों का प्रयोग बहुत अच्छा रहता है। उस भोजन को, जिस पर मक्खियां बैठ गई हों, नहीं खाना चाहिए। भोजन को हमेशा ढका रखना चाहिए ताकि धूल और मक्खियों से वह संदूषित न हो सके। यह जरूरी नहीं कि सस्ते खाद्य पदार्थ पौष्टिक न हों, जैसे कि हरी सब्जियां सस्ती होती हैं किंतु फूलगोभी सरीखी महंगी सब्जियों से भी अधिक पोषण-मान वाली होती हैं।

कसरत और क्रियाकलाप :

नियमित रूप से हल्की-फुल्की कसरत शरीर के विविध तंत्रों को सुव्यवस्थित रखती है, वजन ठीक बनाए रखती है और शरीर की क्रियात्मक क्षमताओं को सुचारु रखती है और यही नहीं व्यक्ति को चुस्त और हंसमुख बनाए रखती है। तैरने और घर से बाहर खेलने वाले, दौड़ भाग वाले खेलों से काफी कसरत हो जाती है। स्थानबद्ध होकर बैठना और साथ ही अधिक से अधिक भोजन करते जाने से व्यक्ति मोटापे की ओर अग्रसर हो सकता है और यदि पारिवारिक प्रवृत्ति ऐसी है तो यह बिलकुल ही सुनिश्चित हो जाता है। कसरत और शारीरिक क्रियाकलाप शरीर को हर तरह से चुस्त व ठीक रखते हैं।

विश्राम और आमोद-प्रमोद :

थकावट से बचने और फिर से सामर्थ्य प्राप्त

करने के लिए शिथिलन (relaxation) आवश्यक है। प्रौढ़ व्यक्ति को सोने के लिए 6-8 घंटे चाहिए। लेकिन बच्चों को और अधिक सोना चाहिए। कठोर शारीरिक और मानसिक क्रिया-कलाप के बाद विश्राम बहुत ही आनन्ददायक और स्फूर्तिदायक होता है। व्यक्ति को चाहिए कि वह जीवन में विविध प्रकार से रुचि ले। अभिरुचियों या शौकों, मित्रों, भ्रमण, छुट्टियां बिताने आदि से जीवन में बड़ी प्रसन्नता रहती है और इससे मन भी शांत और सुस्थिर रहता है।

प्रतिरक्षीकरण (immunization) और संक्रमण से बचाव :

परिवार के बच्चों और अपने को उन आम रोगों से बचाना चाहिए जिनसे कि बचा जा सकता है, जैसे कि चेचक, रोहिणी (डिफ्थीरिया), टेटेनस, काली खांसी, टाइफायड, पोलियो आदि। इन रोगों के प्रति प्रतिरक्षीकरण सरल है और प्रभावकारी भी। इस प्रसंग में सुझाई गई अनुसूची के लिए अध्याय 13 देखिए।

संक्रमण से बचाव के लिए सबसे अच्छा यही है कि जब हम अपने बीमार रिश्तेदारों को देखने के लिए अस्पताल जाते हैं तो हमें अपने साथ बच्चे नहीं ले जाने चाहिए। जब हम किसी ऐसे व्यक्ति के पास जाते हैं या उसकी सेवा करते हैं जो कि संक्रामक रोग से पीड़ित है तो बुद्धिमानी की बात यही होगी कि हम कपड़े बदल लें और शरीर के खुले भागों व हाथों को खूब अच्छी तरह से धो लें। इससे संबद्ध विस्तृत जानकारी के लिए अध्याय 13 देखिए।

स्वास्थ्य की जांच :

शरीर में जब कोई दोष या गड़बड़ी का पता चले तुरंत तभी उसको ठीक कर लेना चाहिए। भेंगा-पन (squint eye), क्षरणग्रस्त दांत (carious teeth) सरीखे शारीरिक विरूपताओं (deformities) को सुधार लेना चाहिए। कुछ रोगों का इलाज बहुत अच्छी तरह से किया जा सकता है यदि उनका निदान आरंभिक अवस्था में कर लिया जाय। ऐसे रोगों के उदाहरण अनेक हैं, जैसे शरीर के विभिन्न भागों का कैन्सर, यक्ष्मा, मधुमेह आदि। अत: हर साल यदि स्वास्थ्य की जांच करा ली जाय तो बहुत लाभकारी रहेगा।

• • •
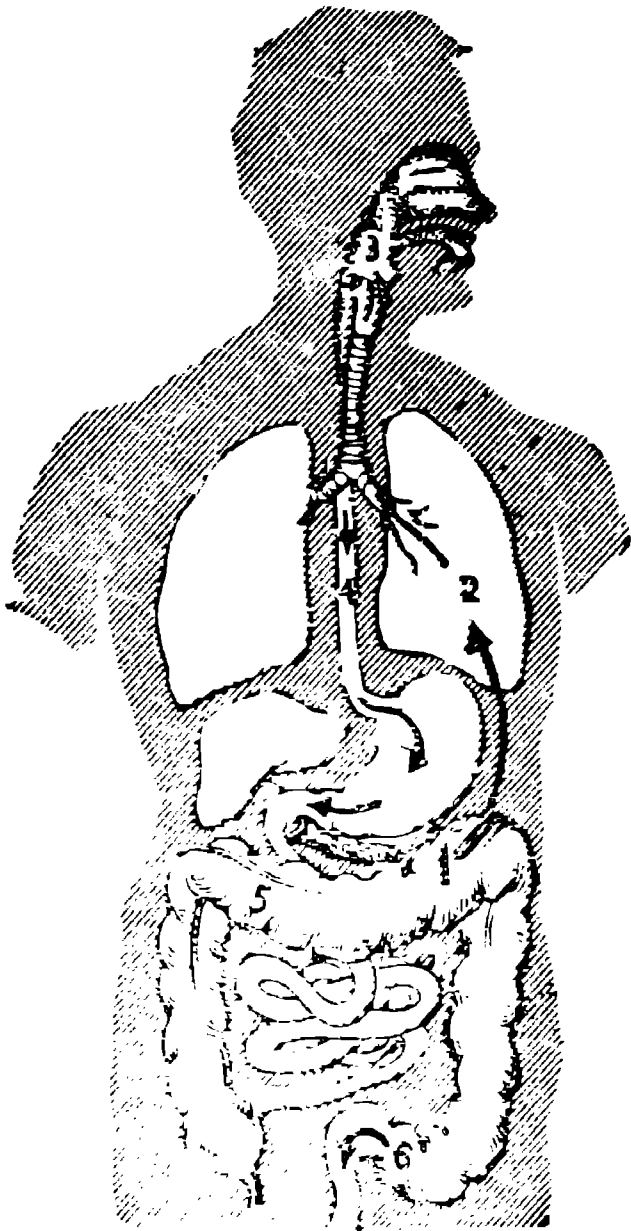
चित्र 11.2—गोलकृमि का परिक्रमीयात्रा-पथ

बनाए रखने के लिए परजीवी-संबंध पर निर्भर रहते हैं और ये हैं रिकेट्सिया और विषाणु (virus)। लेकिन केवल उन सूक्ष्मजीवों पर ध्यान देना जरूरी है जो मानव में रोग उत्पन्न करते हैं। रोग उत्पन्न करने वाले सूक्ष्मजीवों का वर्गीकरण सामने दिया गया है :

सूक्ष्मजीव (Micro-organism)

वनस्पति जगत्   प्राणि जगत्

प्रोटोज़ोआ—मलेरिया-परजीवी, अमीबा आदि।
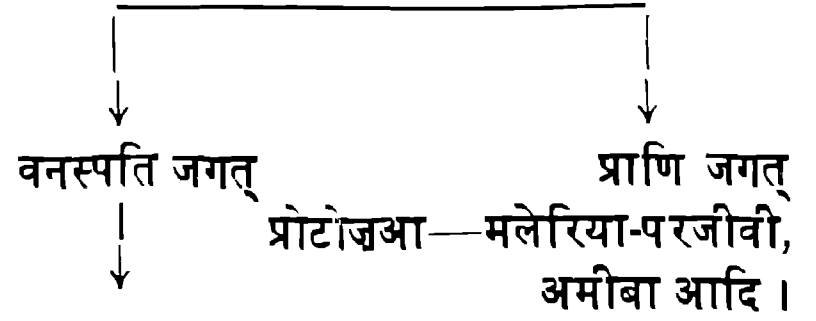
जीवाणु—(बेलनाकार) दंडाकार, जैसे यक्ष्मा और टेटेनस के रोगाणु।

कॉक्काइ (cocci)—(गोलाकार) बिंदु सरीखे, जैसे स्टेफिलोकॉक्स सरीखे जीव जो पूतिता (sepsis) करते हैं।

स्पाइरोकीट्स (spirochetes)—सर्पिल, जैसे सिफिलिस के रोगाणु।

विब्रीयो (vibrio)—कॉमा के आकार के, जैसे हैजा के रोगाणु।

रिकेट्सिया (rickettsia)—अँतःकोशिक (intracellular), जैसे टाइफस ज्वर के रोगाणु।

विषाणु (वाइरस)—अन्तःकोशिक, जैसे चेचक के रोगाणु।

कवक (फंजाइ)—तंतु-सरीखे अथवा गोलाकार, जैसे दाद (रिंगवर्म) के रोगाणु।

प्रोटोज़ोआ और जीवाणु (बैक्टीरिया) सबसे सरल जीव हैं, जिनका शरीर केवल एक कोशिका का बना होता है। इस कोशिका में कोशिका भित्ति

चित्र 11.31
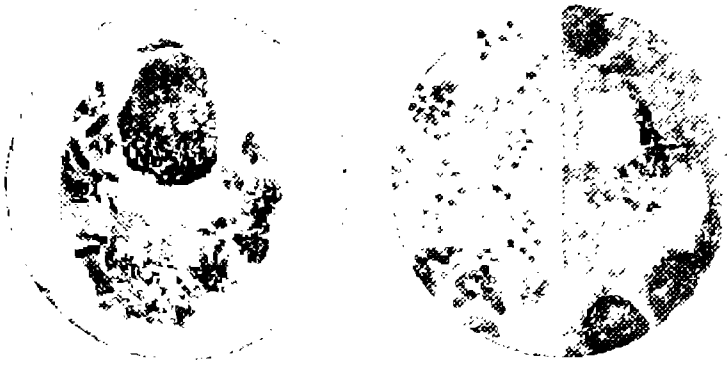
चित्र 11.32

रिकेट्सिया ×1000 ×30,000 चेचक विषाणु

चित्र 11.33

दाद का कवक अमीबा

चित्र 11.34

(cell wall) होती है जिसके अंदर अनेक ठोस पदार्थों वाला कोशिकाद्रव्य (cytoplasm) नामक तरल पदार्थ और एक केंद्रक (nucleus) होता है जो कोशिका-विभाजन अथवा जनन का संचालन करता है। मानव की तरह ही इन एककोशिक जीवों को भी भोजन की आवश्यकता पड़ती है। सामान्यतया इनकी रोग उत्पन्न करने वाली जातियों को मानव शरीर के अंदर उपलब्ध भोजन की ही आवश्यकता होती है क्योंकि इनकी जीवन शैली इस प्रकार विकसित हो गई है कि वह केवल मानव शरीर में ही संभव है। और यही नहीं ये रोग उत्पन्न करने वाली जातियां अपनी वृद्धि और गुणन के दौरान आस-पास के ऊतकों में विविध प्रकार के मल उत्पादों (उत्पन्न पदार्थ) या जीवाण्विक चयापचयों (bacterial metabolites) का उत्सर्जन भी करती हैं। ये पदार्थ बड़े महत्व के होते हैं क्योंकि इनसे प्रायः रोग की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हो जाती है। रोग उत्पन्न करने वाले ये उत्सर्गी पदार्थ जीवविष (toxin) कहलाते हैं। मरते-मरते भी ये जीवाणु रोगों की अभिव्यक्ति करते हैं क्योंकि इनके टूटे हुए टुकड़े भी जीवविष का कार्य कर सकते हैं।

यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि एक सूक्ष्मजीव एक विशेष प्रकार का ही रोग उत्पन्न करता है। इस प्रकार हैज़े का रोगाणु केवल हैजा और प्लेग का रोगाणु केवल प्लेग ही करेगा। रोगकारियों के रूप में सूक्ष्मजीवों का महत्व सबसे पहले लुई पास्च्योर नामक फ्रांसीसी वैज्ञानिक ने आंका था (चित्र 11.4)।

सूक्ष्मजीव सामान्य रूप से और जीवाणु विशेष रूप से अपसामान्य हैं क्योंकि ये बहुत जल्दी-जल्दी गुणन करते हैं यानी जनन द्वारा बड़ी तेजी से अपनी संख्या में वृद्धि कर लेते हैं। अनुकूल परिस्थितियों में प्रत्येक आध घंटे की अवधि में ये दो में विभाजित हो जाते हैं। गणितीय दृष्टि से गणना करें तो ज्ञात होगा कि इस प्रकार के विभाजन से कुछ ही घंटों में बृहत् संतति (progeny) उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार यदि रोग उत्पन्न करने वाला एक अकेला रोगाणु भी मानव शरीर में प्रवेश करता है तो एक या दो दिन में ही वह

चित्र 11.4—लुई पास्च्योर (1822—1895)

करोड़ों की संतति उत्पन्न कर सकता है।

आकार और निर्भरता की दृष्टि से चरम सीमा वाले सूक्ष्मजीवों के कुछ और छोटे समूह हैं — रिकेट्सिया और विषाणु। अधिकांश विषाणु तो इतने सूक्ष्म होते हैं कि ये साधारण सूक्ष्मदर्शी से नहीं देखे जा सकते, किंतु इन्हें इलक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी की सहायता से देखा जा सकता है जो इन्हें लगभग 30,000 गुना या इससे भी अधिक बड़ा कर देता है। इन परजीवियों ने निर्भरता की ऐसी अवस्था विकसित कर ली है कि ये परपोषी की कोशिकाओं अथवा ऊतकों के अंदर न हों तो जीवित ही नहीं रह सकते और यही नहीं ये विषाणु इतने अधिक "विशिष्ट" होते हैं कि एक विषाणु-कण केवल प्रोटीन का अंश मात्र होता है, जो परपोषी की कोशिकाओं में प्रविष्ट होकर शरीर के चयापचय को अपनी पकड़ में ले लेता है। यह प्रोटीन परपोषी-कोशिका के अंदर होने वाली चयापचय प्रक्रियाओं को बदल देता है जिसका परिणाम होता है अधिक से अधिक विषाणु कणों का उत्पादन।

* * * *

ऐसे हैं ये सूक्ष्मजीव। सौभाग्य से इनमें से केवल कुछ ही ऐसे हैं जो मानव में रोग उत्पन्न करते हैं और स्वस्थ मानव-शरीर इनके प्रति अपने प्रतिरक्षा उपायों द्वारा पूरी तरह से लैस रहता है जो कि कभी-कभी ही इन रोगकारी सूक्ष्मजीवों द्वारा निष्फल किए जाते हैं।

रोग उत्पन्न करने वाले रोगाणु निम्न प्रकार से शरीर में प्रवेश कर सकते हैं :

1. पानी और भोजन द्वारा, जैसे हैजे और टायफायड के रोगाणु।
2. हवा द्वारा, जैसे डिप्थीरिया, यक्ष्मा और चेचक के रोगाणु।
3. कीट के काटने से, जैसे मच्छर द्वारा मलेरिया और चूहे के पिस्सू (flea) द्वारा प्लेग, और
4. त्वचा की खरोंचों और घावों द्वारा, जैसे टेटेनस के रोगाणु।

—संपादक

• • •

12

—डा० एस० एस० केलकर
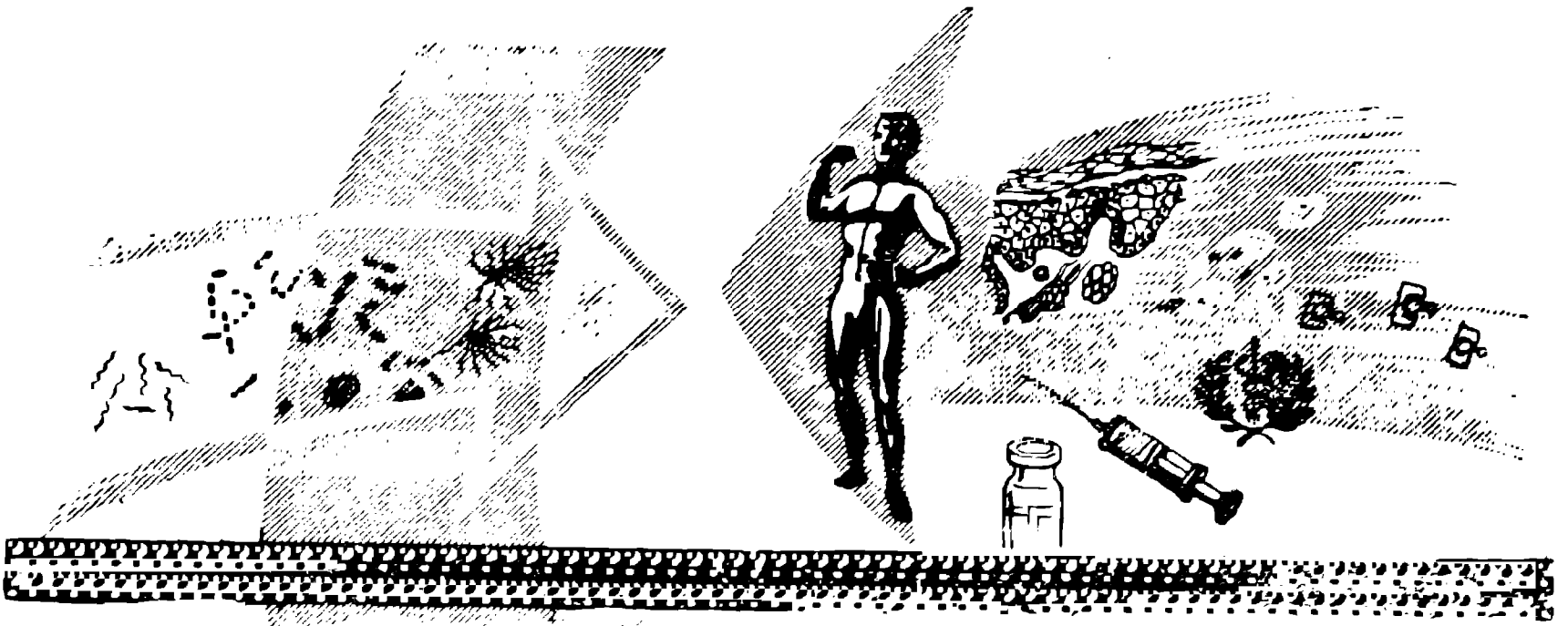
शरीर के प्राकृतिक सुरक्षा रोध

जिन विविध क्षतिकारक चीजों से मानव शरीर घिरा रहता है और जिनके संपर्क में वह हर समय रहता है उनके प्रति वह बहुत ही अच्छी तरह से अनुकूलित रहता है। शरीर के विभिन्न स्तरों पर अनेक रोध होते हैं जो हानि पहुंचाने और रोग उत्पन्न करने वाले कारकों को अच्छी तरह निबटा देते हैं।

त्वचा और श्लेष्मल कला अथवा झिल्ली (Mucous membrane) :

मानव का शरीर मोटी व कई परतों वाली त्वचा से ढका रहता है (चित्र : 12.2)। यह वातावरण के जीवाणुओं (बैक्टीरिया) को दूर रखता है। त्वचा की सतह पर कई ग्रंथियां भी खुलती हैं। अन्य चीजों के अलावा ये ग्रंथियां कुछ ऐसे विशेष पदार्थों का स्रवण करती हैं जो त्वचा को संदूषित करने वाले जीवाणुओं का नाश कर सकते हैं। इन पदार्थों में अधिक उल्लेखनीय है लाइसोजाइम, जो आंख के स्रावों (secretious) में बहुतायत से पाया जाता है। यह बहुत ही समर्थ जीवाणुनाशक है। त्वचा की सतह में अपने विशिष्ट प्रकार के जीवाणु होते हैं। ये हानिकारक जीवाणुओं द्वारा त्वचा पर निवह निर्माण (colonization) को रोकते हैं। इसी तरह शरीर के श्वसन, पाचन आदि तंत्रों में भी अंदर से श्लेष्मल झिल्ली नामक रक्षात्मक परत का अस्तर होता है। इनके अतिरिक्त श्वसन-पथ की श्लेष्मल-झिल्ली वाली कोशिकाओं में बाल-जैसी निकली रचनाएं भी होती हैं, जिन्हें रोमक (सिलिया) कहते हैं (चित्र : 12.3)। ये जीवाणुओं समेत कई बाहरी पदार्थों को गले की तरफ धकेलने में मदद करते हैं। खांसने और छींकने की क्रियाएं शरीर से क्षोभकारी पदार्थों को बाहर फेंकने में सहायता पहुंचाती हैं।

शरीर के स्राव :

अपने प्रवाह के दौरान शरीर के विविध प्राकृतिक स्राव या प्रवाहित तरल भी संक्रमण से बचाव करते हैं। पेशाब करने से मूत्र-पथ समय-समय पर साफ होता रहता है और आंख में धूल पड़ने पर आंसुओं के प्रवाहित होने से बाहरी कण निकाल दिए जाते हैं। इसी तरह मुंह में लार और वायु-पथ के स्राव, जिनकी गति एक निश्चित दिशा में होती है, प्रवेश करने वाले जीवाणुओं को बाहर

*　*　*　*

डा. एस. एस. केलकर, एम. डी., सहायक प्रोफेसर, पैथोलॉजी, बी. जे. मेडिकल कालिज, पूना।
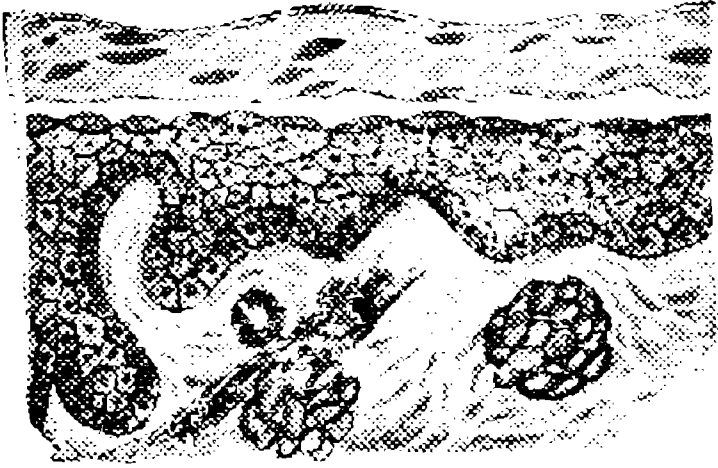
चित्र 12.2—त्वचा

धकेल देते हैं। साधारण जुकाम में नाक से अत्यधिक स्रावों का निकलना मानव शरीर की सामान्य रूप से होने वाली उत्कृष्ट सुरक्षा प्रक्रिया का प्रसिद्ध उदाहरण है। पोषण नाल (alimentary canal) में संक्रमण होते ही प्रायः तुरंत कै, दस्त या दोनों होने लगती है। ये प्रतिक्रियाएं वस्तुतः आक्रमणकारी सूक्ष्मजीवों से छुटकारा पाने के लिए शरीर के प्रयत्न हैं।

भोजन-पथ भी, जो कि हानिकारक सूक्ष्मजीवों का दूसरा "प्रवेश द्वार" है, विशेष युक्तियों द्वारा भली भांति रक्षित होता है। आमाशय के स्रावों में हाइड्रोक्लोरिक एसिड काफी अधिक मात्रा में होता है। यह भोजन में आने वाले सूक्ष्मजीवों से अच्छी तरह निबट सकता है। यहां तक कि हैजा और टायफायड करने वाले खतरनाक जीवाणु भी इस शक्तिशाली अम्ल रोध (acid barrier) द्वारा नष्ट कर दिए जाते हैं। भोजन-पथ में कई शक्तिशाली स्राव होते हैं। सामान्यतया तो ये भोजन का पाचन करते हैं लेकिन मौका पड़ने पर ये रोग उत्पन्न करने वाले कारकों का सफाया भी कर सकते हैं। सामान्यतया पाचन-पथ के निचले भाग या बृहदांत्र (colon) में रहने वाले जीव भी रोगकारी सूक्ष्मजीवों का संदमन करते हैं। इनकी स्वयं की उपस्थिति और बृहदांत्र में इनके द्वारा उत्सर्जित विविध चयापचयज (metabolites) इन रोग उत्पन्न करने वाले जीवों की वृद्धि और गुणन को रोकते हैं।
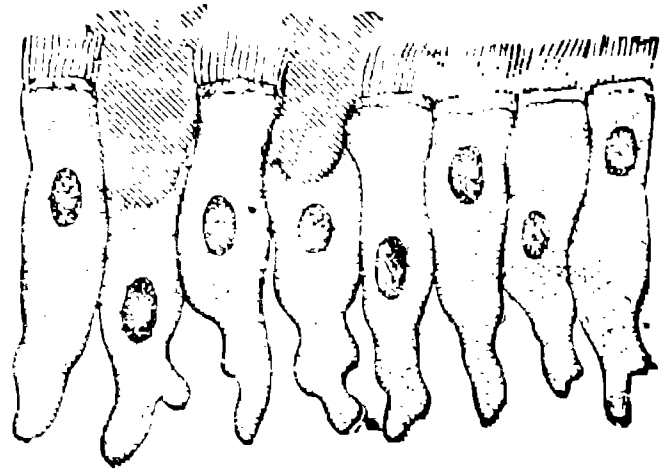
चित्र 12.3—रोमक उपकला (Cilated epithelium)

निस्यंदक (filter) [लसीका पर्व (lymphnode)]:

यदि सूक्ष्मजीव शरीर में प्रवेश करने में सफल हो जाते हैं, जो कि काफी कठिन काम है तो लस-वाहिकाओं (lymphatics) से होकर वे ऊपर की ओर जाकर लसीका पर्वों या लसीका ग्रंथियों (lymph gland) में फंस सकते हैं (चित्र 12.4)। लसीका पर्व भारी सख्या में सारे शरीर में विद्यमान होते हैं (चित्र 23.7) और निस्यंदक केंद्र या छानने वाले केंद्रों का कार्य करते हैं, जहां कि सूक्ष्मजीवों का निपटान कर दिया जाता है।

शोथज प्रतिक्रिया (Inflammatory Reaction):

शरीर में सूक्ष्मजीवों के प्रवेश से परिवर्तनों की एक शृंखला शुरू हो जाती है, जो इस शत्रु से विरोध करने का प्रयत्न करती है। इस प्रतिक्रिया को 'शोथज प्रतिक्रिया' कहा जाता है। एक

चित्र 12.4—लसीका पर्व
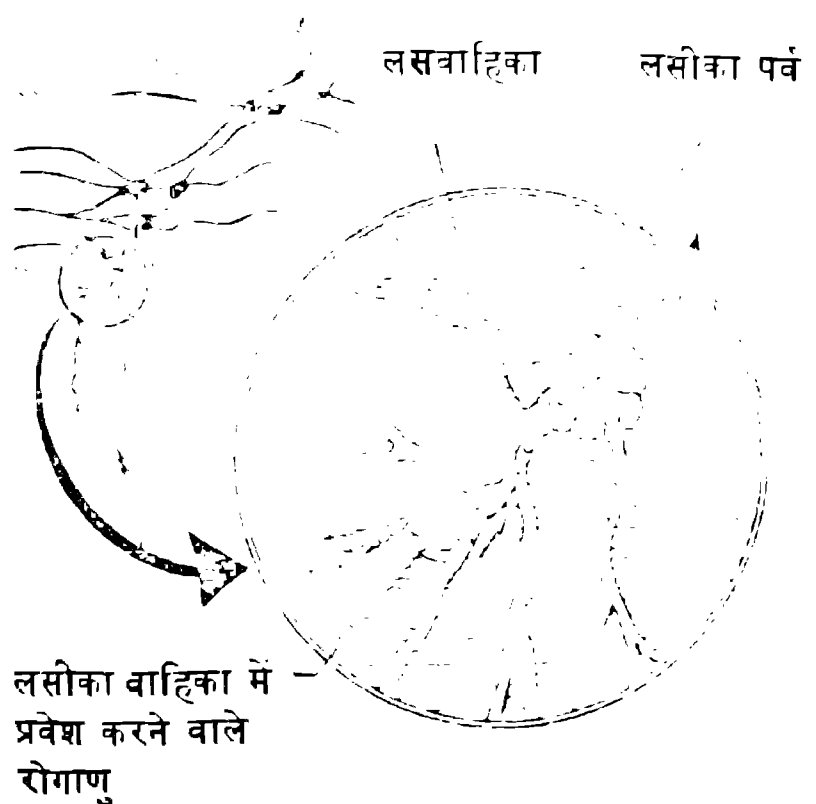
1. आक्रमण के दौरान, रोगाणु शरीर में घाव के द्वारा प्रवेश करते हैं।
2. शरीर रक्त वाहिकाओं को विस्फारित करने और अपनी पुलिस दल श्वेत रुधिर कणिकाओं (WBC) को रोगाणुओं को घेरने और नष्ट करने से सुरक्षा करता है।
3. प्रायः इसका परिणाम होता है शरीर की जीत।

चित्र 12.5—शोथ (inflammation) का प्रक्रम

निश्चित रूपरेखा में चलने वाले इन परिवर्तनों के दो भाग होते हैं। पहले वाले भाग में रक्त वाहिकाएं हिस्सा लेती हैं। ये फैलकर प्रभावित भाग में और अधिक रक्त लाते हैं और दूसरे परिवर्तन को सरल बना देते हैं। इसमें श्वेत रुधिर कोशिकाओं (white blood cells) का प्रवास होता है, जो सिपाहियों की तरह होते हैं। शत्रु की उपस्थिति का पता चलने पर वे अनेकों की संख्या में रक्त से बाहर निकल पड़ते हैं (चित्र 12.5) और सूक्ष्मजीवों को घेर कर उन्हें पृथक् कर देते हैं। ये एक कदम आगे और जाकर शत्रु को खाने और नष्ट करने का भी प्रयत्न करते हैं। यदि ये इन जीवों द्वारा मारे भी जाते हैं तो मरते-मरते भी ये लाभ पहुंचा जाते हैं। ऊतक में ये शक्तिशाली किण्व (ferment) छोड़ते हैं जो सूक्ष्मजीवों को द्रवित कर देते हैं। जब शरीर का कोई भाग इस प्रकार की 'शोथज प्रतिक्रिया' दिखलाता है तो शरीर के बाकी भाग भी आपात्कालीन या सावधान वाली स्थिति में आ जाते हैं। इस अवस्था में विशेष परिवर्तन ये होते हैं कि ज्वर हो जाता है और श्वेत रुधिर कोशिकाओं की संख्या का उत्पादन भी बढ़ जाता है।

रोगक्षमता या प्रतिरक्षा (Immunity) :

इस प्रकार मानव शरीर में क्षति पहुंचाने वाले बाहरी कारकों से निबटने के लिए कई विधियां हैं। रोगों से बचाव के लिए ये प्रक्रियायें निरंतर चलती रहती हैं। केवल यही नहीं बल्कि रोगों से लड़ने के लिए हमारे शरीर में इनके ऊपर एक और प्रक्रिया है। यह पहले वाली प्रक्रियाओं से अलग है क्योंकि इसमें शरीर द्वारा 'सीखने' का प्रक्रम सम्मिलित है। अतः इस प्रघटना का ज्ञान बहुत जरूरी है और इसे 'प्रतिरक्षा' के नाम से पुकारा जाता है। यह रोग से बचाव की बहुत सरल और प्रभावशाली विधि है।

जब कभी कोई बाहरी सूक्ष्मजीव शरीर में प्रवेश करता है तो 'सीखने' वाली प्रक्रियाओं की श्रृंखला की शुरूआत हो जाती है। सूक्ष्मजीवों और उनके हानिकारक उत्पादों या जीवविषयों की 'पहचान' शरीर की कोशिकाओं द्वारा कर ली जाती है और इसकी प्रतिक्रियास्वरूप ये प्रतिपिंड (antibody) नामक विशेष पदार्थ उत्पन्न करते है। ये प्रतिपिंड अपनी सामर्थ्य में विभिन्न प्रकार के होते हैं। ये जीवाणुओं का नाश अथवा विघटन कर सकते हैं और इनका पुंजीकरण भी। पुंजीकरण या जीवाणुओं

के ढेर हो जाने की प्रक्रिया बड़ी लाभदायक होती है क्योंकि इस प्रकार के पुंजीभूत (clumped) या ढेर हुए जीवाणु शरीर के सिपाहियों या श्वेत रुधिर कोशिकाओं द्वारा आसानी से खाए और नष्ट किए जा सकते हैं। ये प्रतिपिंड जीवाणुओं के विषों का निराकरण भी कर सकते हैं और इस तरह इनके क्षतिकारक प्रभावों से बचाव करते हैं।

इस प्रतिरक्षित प्रक्रिया का महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि जब शरीर की कोशिकाएं किसी विशेष सूक्ष्मजीव के बारे में ज्ञान प्राप्त कर लेती हैं तो उसे वे काफी लंबे समय तक नहीं भूलतीं। इस प्रकार कोई सूक्ष्मजीव जब दुबारा शरीर में प्रवेश करता है तो उसके लिए विशिष्ट प्रतिपिंड तो विद्यमान रहते ही हैं लेकिन इसके अतिरिक्त शरीर की प्रतिपिंड तैयार करने की प्रक्रिया, कम समय वाली सूचना पर भी, तुरन्त भारी संख्या में प्रतिपिंडों के निर्माण में पूरी तरह से सक्षम होती है। इस तरह मानव शरीर ऐसी प्रशिक्षित अथवा 'प्रतिरक्षित' अवस्था में बड़ी आसानी से रोगकारी सूक्ष्मजीव से निबट लेता है।

शरीर में विविध पदार्थों का अंतःक्षिप्त (inject) करने से कोशिकाओं को 'शिक्षित' किया जाता है और शरीर को रोग विशेष के प्रति प्रतिरक्षित कर दिया जाता है (चित्र 12.6)। यह भी आयुर्विज्ञान की एक विजय है और इससे कई जानपदिक (epidemic) रोगों के नियंत्रण में सहायता मिली है। इस सिद्धांत पर ही कई रोगों का

चित्र 12.6—इंजेक्शन द्वारा प्रतिरक्षा

नियंत्रण किया जाता है जैसे कि चेचक, टेटेनस, डिफ्थीरिया सरीखे आम रोगों के प्रति टीका लगाकर।

फिर भी ऊपर बताई गई सक्रिय प्रतिरक्षा प्रतिक्रियाओं के प्रभावकारी होने में कुछ समय लगता ही है। अतः जब कभी तुरंत प्रतिरक्षा की आवश्यकता होती है, उस समय सामान्यतया घोड़ों से तैयार किए गए विशिष्ट प्रतिसरम (anti-serum) के रूप में पहले से तैयार प्रतिपिंडों के इंजेक्शन दिए जा सकते हैं। इस प्रकार का उदाहरण है एन्टि-टेटेनस सीरम।

इस प्रकार मानव शरीर वातावरण में हर समय व्याप्त विभिन्न रोग उत्पन्न करने वाले कारकों के प्रति अच्छी तरह से अनुकूलित है। इसीलिए 'प्रतिरक्षा' प्रक्रिया का ज्ञान होने पर ही व्यक्ति इंजेक्शन की सुई की पीड़ा को बड़े मजे में सह लेता है। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए यदि हम कहें कि नियम की अपेक्षा रोग एक अपवाद है।

* *

इस अध्याय में वर्णित प्रतिरक्षा उपायों के अतिरिक्त, शरीर में और भी कई प्रबंध होते हैं जिससे कि वह विविध आक्रमणों से अपने को बचाए रखता है। दर्द और दृष्टि की संवेदनाएं, अनुपूरक प्रक्रियाएं, अंगों की क्रियात्मक बृहत् संचिति (reserve), रक्त का स्कन्दन (clotting) आदि इस प्रबंध के कुछ उदाहरण हैं। दर्द की अनुभूति केवल रोग का संकेत ही नहीं देती बल्कि व्यक्ति को उस और कार्य करने के लिए भी प्रेरित करती है। अंगघात से पीड़ित पेशी के कार्य करने की अक्षमता अन्य पेशियों द्वारा अनुपूरित कर दी जाती है। यदि एक वृक्क (गुर्दे) अथवा फेफड़े को काट कर निकालना भी पड़े तो दूसरा गुर्दा या फेफड़ा उसका कार्यभार ले लेता है। रक्त की स्कन्दित होने या थक्का बनाने की क्षमता से शरीर से अधिक रक्त नहीं बह पाता।

शरीर की सामान्य सुरक्षा वैयक्तिक स्वास्थ्य संबंधी नियमों के पालन से की जा सकती है, जैसा कि अध्याय 10 में बताया गया है। —संपादक

• • •

13

—डा० आर० ग्रेसियास
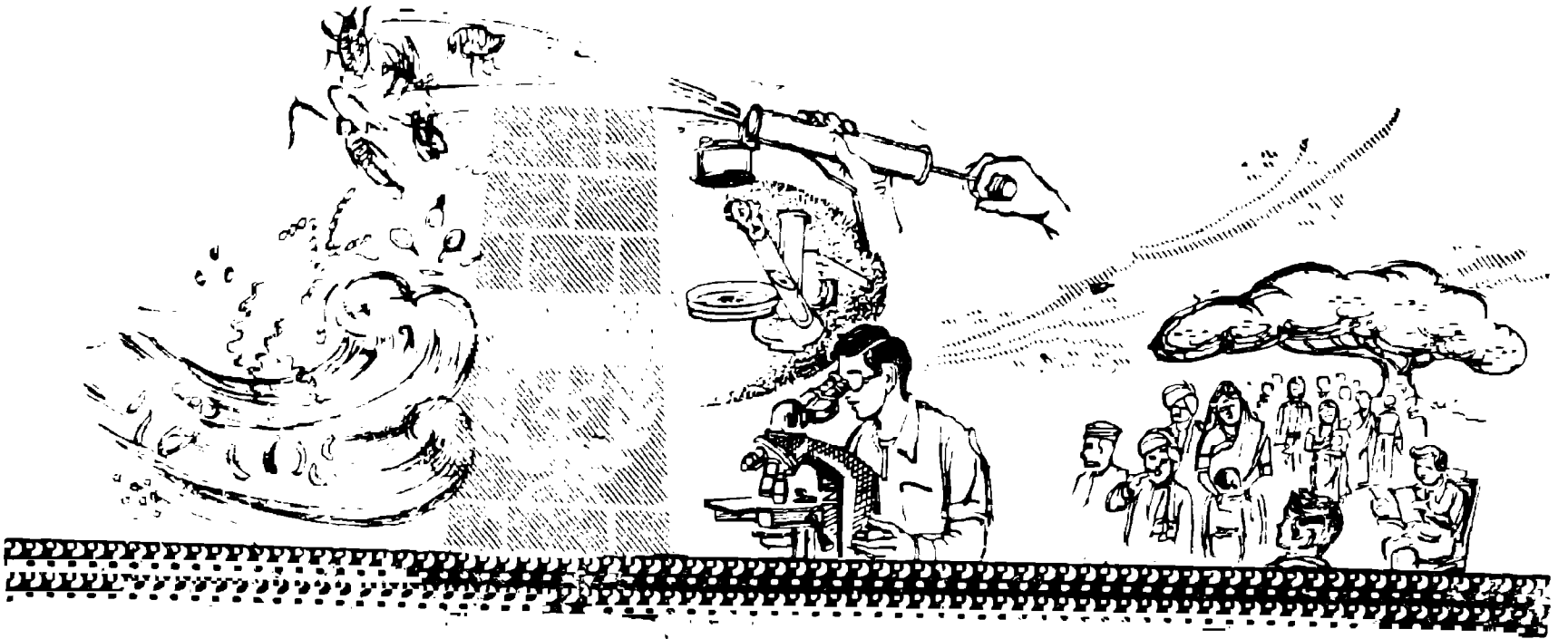
संक्रामक रोगों का नियंत्रण

संक्रामक अथवा संचारणशील (communicable) वे रोग हैं जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में या प्राणियों से मानव में संचारित हो जाते अथवा पहुंच जाते हैं। अधिकांश संक्रामक रोग शरीर में विशिष्ट सूक्ष्मजीवों के आक्रमण के कारण होते हैं जो करीब-करीब एक-से लक्षण उत्पन्न करते हैं यद्यपि शरीर में प्रविष्टि की दृष्टि से ये भिन्न होते हैं। आज हम इनमें से अधिकांश रोगों के कारक जीवों की पहचान करने में पूरी तरह से सक्षम हैं और इस प्रकार इनके फैलने पर भी नियंत्रण रखा जा सकता है अन्यथा यह महामारी फैलाकर विशाल क्षेत्रों में आबादी का सफाया करके उन्हें वीरान कर देंगे। संक्रामक रोग का एक विशिष्ट प्रक्रम है और इसकी जानकारी ही निरोधक आयुर्विज्ञान की बुनियाद है। इससे लोगों में, विशेषकर बच्चों में, मर्त्यता और अस्वस्थता दोनों में कमी हो गई है।

सुग्राह्यता (susceptibility) और प्रतिरोधी अथवा प्रतिरक्षा :

प्राय: यह देखने को मिलता है कि यद्यपि कई लोग उसी संक्रमण के संपर्क में आते हैं लेकिन इनमें से कुछ तो रोग पकड़ लेते हैं और अन्य नहीं, और इन रोग पकड़ने वालों में से भी केवल कुछ की ही मृत्यु होती है अन्य की नहीं। किसी व्यक्ति की रोग का शिकार होने की संभावना उसके शरीर में प्रविष्ट होने वाले रोगाणुओं की संख्या, रोगाणुओं की उग्रता और उनके प्रति शरीर की प्रतिरोध-क्षमता पर निर्भर करता है। शरीर में रोगाणुओं की प्रविष्टि मात्र ही रोग उत्पन्न करने के लिए काफी नहीं है। ठीक ऐसे ही जैसे कि केवल बीज की उपस्थिति से पेड़ नहीं उग जाता। इसमें जितनी महत्ता बीज की है, उतनी ही भूमि की भी। चट्टान पर बीज पड़ने से कभी भी कुछ नहीं उगेगा लेकिन उर्वर भूमि में बीज से पेड़ उग आएगा। इसी तरह यदि रोगाणुओं को भी उर्वर भूमि यानी निम्न प्रतिरोध क्षमता वाला दुर्बल व्यक्ति मिलता है तो वे भी बड़ी जल्दी से जड़ें जमाकर रोग उत्पन्न कर देंगे। जब शरीर में रोगाणु प्रवेश करते हैं तो व्यक्ति में तुरंत ही रोग नहीं होता बल्कि रोगाणु के प्रवेश से लेकर और लक्षणों के प्रकट होने तक कुछ समय लगता है और इस अवधि को उद्भवन अवधि (incubation period) कहते हैं। इस

*   *   *   *

डा. आर. ग्रेसियास, एम. बी., बी. एस., बी. एस-सी., डी. पी. एच. (लंदन), मेडिकल हेल्थ ऑफीसर, पूना म्यूनिसिपल कार्पोरेशन, पूना।

अवधि में हमारे शरीर की प्रतिरोध शक्ति काम करती रहती है। इस तरह एक लड़ाई का आरंभ हो जाता है जिसमें हमारे शरीर के प्रतिरोध कारक यानी श्वेत रुधिर कणिकाएं और रुधिर प्लाज्मा लड़ाई लड़ते हैं और रोगाणुओं से सामना करने के लिए प्रतिजीवविष (antitoxin) नामक प्रति-विष तैयार करते हैं। ये प्रतिजीवविष रोगाणुओं के विषों का निराकरण और उनकी वृद्धि रोक कर शरीर की रक्षा करते हैं। यदि शरीर की रक्षा करने वाले कारक सफल हो जाते हैं तो रोगाणुओं का नाश कर दिया जाता है और उनके विष अलग कर दिए जाते हैं और मानव रोग से बच जाता है। लेकिन इसके विपरीत यदि रोगाणु विजयी हुए तो मानव रोगी हो जाता है और हो सकता है वह उसका शिकार भी बन जाय। शरीर की रोग के प्रति यह रोधक्षमता प्राकृतिक प्रतिरक्षा (natural immunity) कहलाती है। लेकिन कभी किसी व्यक्ति को यदि कोई रोग होता है और वह उससे जीत जाता है तो उसका रुधिर उस रोग के भविष्य वाले आक्रमण के प्रति रोगक्षमता उपार्जित कर लेता है और उसके इस गुण को उपार्जित प्रतिरक्षा (acquired immunity) कहते हैं। इस प्रकार एक बार के चेचक के आक्रमण से व्यक्ति सारी जिंदरी भर के लिए प्रतिरक्षित हो जाता है। शरीर में किसी रक्षात्मक पदार्थ अथवा विषाणु के टीके लगाकर भी प्रतिरक्षा उपार्जित की जा सकती है, जैसे कि टीके से। इस तरह के रक्षात्मक टीके अन्य रोगों, जैसे प्लेग, हैजा, टायफायड, टेटेनस और डिफ्थीरिया आदि के लिए भी लगाए जाते हैं।

संक्रामक रोगों का प्रसार :

संक्रामक रोग निम्न प्रकार से फैलते हैं (चित्र 13.2) (1) वायु द्वारा, जैसे इनफ्ल्यूऐंजा और डिफ्थीरिया, (2) पानी और भोजन द्वारा, जैसे हैजा और टायफायड, (3) कीट के काटने से, जैसे मलेरिया और प्लेग, और (4) प्रत्यक्ष संपर्क द्वारा, जैसे सुजाक (चित्र 31.2)। संक्रामक रोग इतनी तेजी से फैलता है कि उसके खिलाफ तुरंत रक्षात्मक उपाय करना जरूरी ही नहीं अत्यावश्यक है। बड़े समूहों में व्यक्तियों का वायु और जमीन द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर जल्दी-जल्दी आने-जाने से रोग बड़ी सुगमता से फैलता है, मुख्य-रूप से एशिया के अनेक देशों में जहां कि धार्मिक त्यौहार और पारंपरिक मेले लगते हैं। मेलों में लौटते हुए यात्री रोगग्रस्त होने पर जब अपने स्थानों पर आते हैं तो प्रायः हैजा का जानपदिक रोग (महामारी) फैलाते हैं।

संक्रामक रोगों का नियंत्रण :

संक्रामक अथवा संचारणशील रोगों के फैलने पर नियंत्रण रखने वाली अनेक विधियां हैं जो रोगकारी के स्वभाव और उसके फैलने के ढंग की विभिन्नता पर आधारित हैं। संक्रामक रोगों को फैलने से रोकने के लिए निम्नलिखित उपायों का प्रयोग किया जाता है :

1. अधिसूचना (Notification) : जैसे-जैसे सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं का विकास होता गया वैसे-वैसे संचारणशील रोगों के फैलने की विधियां अधिक स्पष्ट होती गईं। इस तरह जान-पदिक रोगों को रोकने के लिए अधिसूचना देना एक अच्छा साधन बन गया (चित्र 13.3)। किसी रोग को नियंत्रित करने के पहले जितनी जल्दी हो सके उसकी उपस्थिति के बारे में पता लगाना आवश्यक है।

इसलिए स्वास्थ्य विभाग को नियंत्रित किए जाने वाले रोग की रिपोर्ट अथवा अधिसूचना प्राप्त होनी चाहिए। अधिसूचना से स्वास्थ्य प्राधिकारी रोग के नियंत्रण के लिए तुरंत आवश्यक कदम उठा सकते हैं। अधिकांश संचारणशील रोग अधिसूचनीय होते हैं, लेकिन कुछ के परिणाम चूंकि भयानक होते हैं इसलिए उन पर विशेष ध्यान देना बहुत आवश्यक है। और ये हैं चेचक, प्लेग, हैजा आदि ऐसे रोग जिनसे
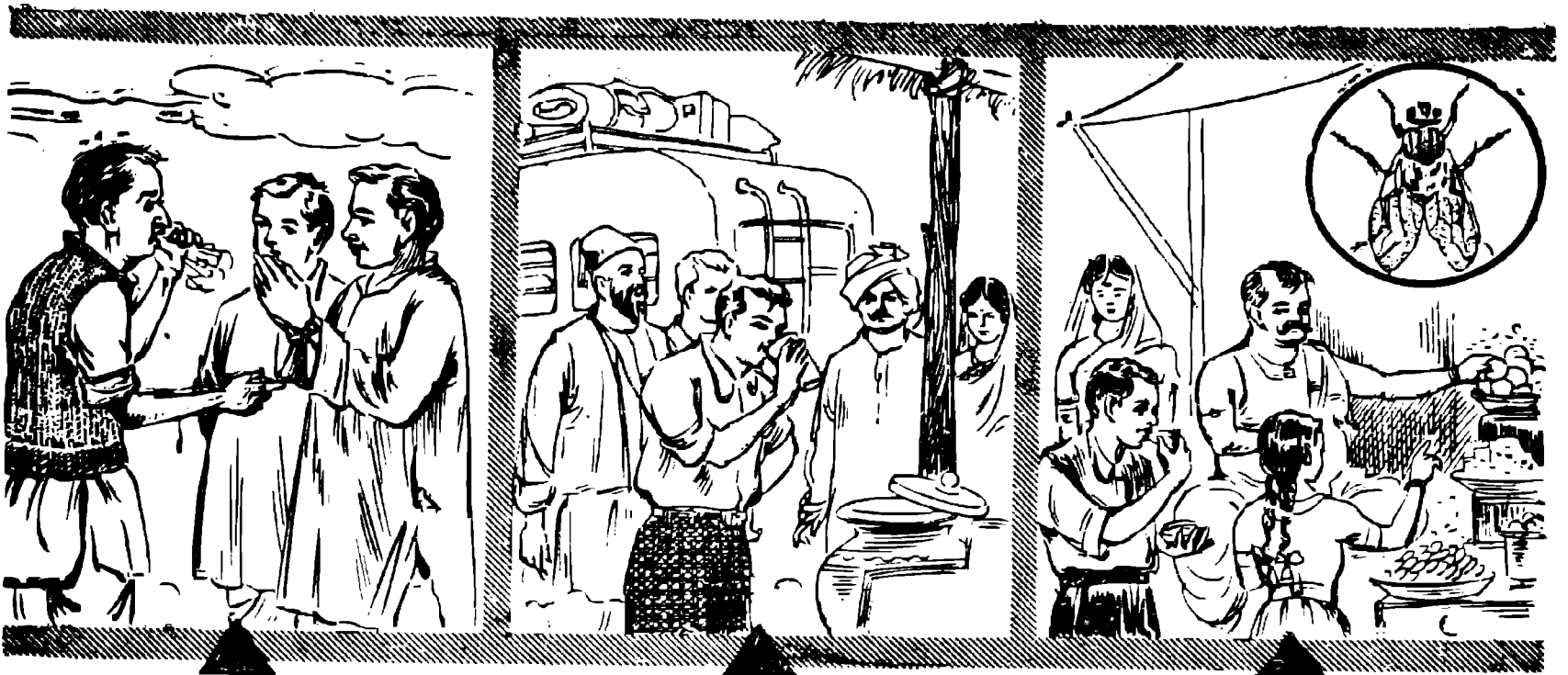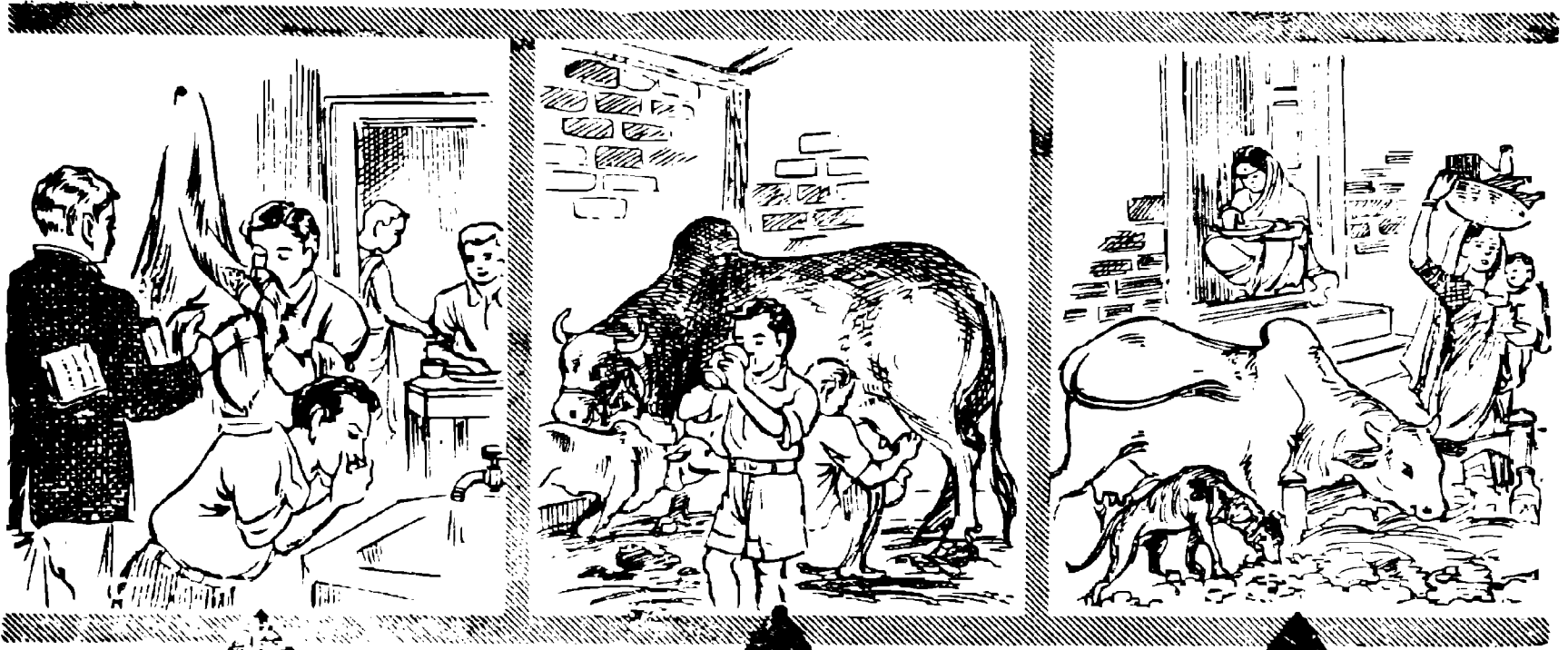
चित्र 13.2—रोग के फैलने की विधियां

चित्र 13.3—अधिसूचना

चित्र 13.4—पृथक्करण
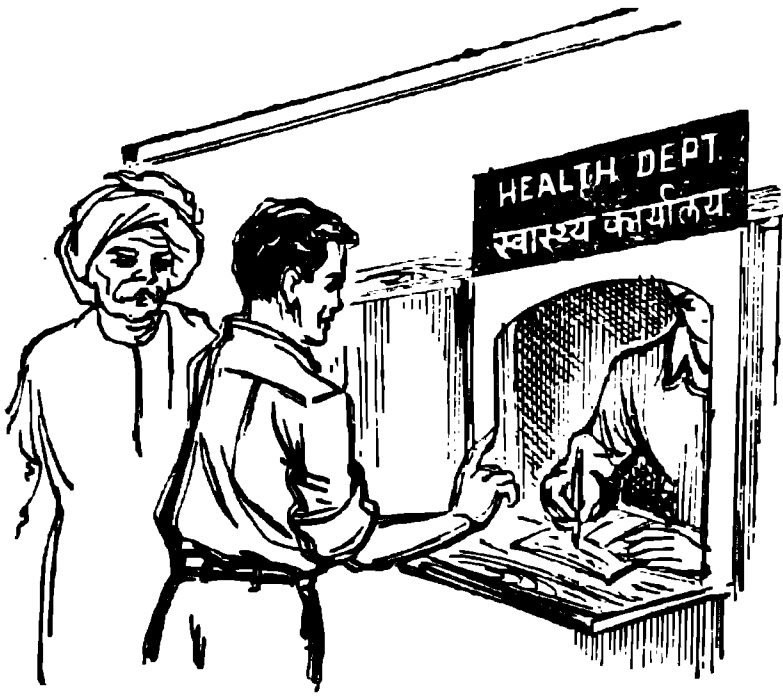
या तो मृत्यु अधिक होती हैं या अस्वस्थता व अशक्तता अधिक होती है, जैसे कि पोलियो में। जिस किसी भी व्यक्ति को संक्रामक रोग कहीं होने की जानकारी हो उसका कर्तव्य है कि वह तुरंत ही उसकी सूचना स्वास्थ्य अधिकारियों को दे दे।

2. पृथक्करण (Isolation) : रोग विशेष रोगी व्यक्ति से उन स्वस्थ व्यक्तियों में पहुंच जाता है जो उसके संपर्क में आते हैं। इसलिए प्राकृतिक प्रक्रिया तो यही होगी कि ऐसे संपर्क के अवसर बिल्कुल कम कर दिए जायं। और यह तभी किया जा सकता है जबकि उसे अकेले एक अलग कमरे में रखा जाय और कम से कम व्यक्ति उसकी सेवा में रहें अथवा अस्पताल में जहां अस्पताल के कर्मचारियों के अलावा उसकी सेवा-सुश्रूसा करने वाला और कोई न हो। इसी प्रक्रिया को रोगी का पृथक्करण कहते हैं (चित्र: 13.4)।

3. विसंक्रमण (Disinfection) : रोग के अधिसूचित किए जाने और स्वास्थ्य प्राधिकारियों द्वारा निर्धारित स्थान अथवा अस्पताल में रोगी के पृथक्करण के बाद, दूसरा कदम होगा रोगी वाले घर में फैले रोगाणुओं को नष्ट करना। इसी को विसंक्रमण कहते हैं। इसका प्रयोजन यही है कि रोगी द्वारा इस्तेमाल की गई चीजों पर या रहने वाले स्थान पर यदि संक्रामक पदार्थ रह गये हों तो उनका पूरी तरह से नाश करना। रोग के कारकों या रोगाणुओं के पता लगने और रासायनिक पदार्थों का इन जीवों के प्रति प्रभावशाली सिद्ध होने पर ये रासायनिक पदार्थ स्वास्थ्य अधिकारियों, कायचिकित्सकों और अस्पतालों के दैनिक जीवन के अभिन्न अंग बन गए हैं। विसंक्रमण की प्रक्रिया रोगकारी विशेष के ज्ञात जीवन-इतिहास के अनुसार ही अपनाई जाती है। जब यह पाया गया कि ये जीव परपोषी के शरीर के बाहर अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकते तो तबसे विसंक्रमण की क्रिया और अधिक सरल हो गई है। शरीर के बाहर इन रोगकारियों का नाश प्रत्यक्ष रूप से भौतिक और रासायनिक साधनों से किया जाता है। सूर्य के प्रकाश में कुछ चीजों का विसंक्रमण हो जाता है, जैसे कपड़ों, बिस्तरों आदि का। बेकार की चीजों को, जैसे कि संदूषित चिथड़ों व कागजों को सीधे आग में जला देना चाहिए। रोगी द्वारा इस्तेमाल किए गए बर्तनों तथा उसके मैले कपड़ों को गर्म पानी में उबाल लेना चाहिए। गद्दों और तकियों के लिए दाब पर भाप को इस्तेमाल किया जा सकता है। विसंक्रामकों के रूप में 'फीनाइल', फार्मैलिन, कार्बोलिक एसिड, मरक्यूरी बाइक्लोराइड, क्रीसॉल सरीखे अन्य कई रासायनिक पदार्थ उपलब्ध हैं। अतः रोगी के आस्रावों (discharges), कपड़ों

व अन्य वस्तुओं तथा फर्श के विसंक्रमण के लिए उपयुक्त विसंक्रामक चुन लेना चाहिए और सारे कमरे को भी फुहार कर या धूमायित कर स्वच्छ कर देना चाहिए ताकि हर चीज रोगाणुमुक्त हो जाए और दूसरे लोगों का संक्रमण न हो सके।

पीड़कजंतुनाशन (disinfestation) का अर्थ है भौतिक अथवा रासायनिक साधनों से वातावरण, व्यक्ति या कपड़ों में विद्यमान अनपेक्षित जंतुओं का, विशेषकर संधिपाद प्राणियों या आर्थ्रोपोडों (कीटों) का, नाश करना। सुप्रसिद्ध डी. डी. टी. सरीखे विभिन्न रसायन इस प्रयोजन के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। कीटों द्वारा फैलने वाले रोग इस विधि से नियंत्रित किये जा सकते हैं (चित्र 13.5)।

4. प्रतिरक्षीकरण (Immunization) : नियंत्रण की चौथी विधि प्रतिरक्षीकरण की विधि है (चित्र 13.6)। कई ऐसे रोग हैं जिनके प्रति सक्षम और विश्वस्त प्रतिरक्षा कारक उपलब्ध हैं। इनमें सबसे पुराना रोग चेचक है। अट्ठारहवीं शताब्दी के अंत में जैनर ने जब यह निदर्शित किया कि गौ शीतला का टीका (cow pox vaccine) चेचक के प्रति भी पूरी सुरक्षा प्रदान कर सकता है तो उससे प्रतिरक्षाविज्ञान (immunology) का मार्ग प्रशस्त हो गया। इस प्रकार आज अनेक रोगों के लिए हमें समर्थ और प्रबल प्रतिरक्षा कारक प्राप्य है। भारत के लोगों के लिए चेचक के अतिरिक्त हैजा, टायफायड, डिफ्थीरिया, टेटेनस, काली खांसी, पोलियो, यक्ष्मा आदि रोग बहुत महत्वपूर्ण हैं।

i. चेचक सभी बच्चों के लिए जल्दी ही टीका लगवा लेना चाहिए और फिर समय-समय पर फिर टीका लगवाते रहना चाहिए। इसके टीके में जो वैक्सीन प्रयुक्त होती है वह सूखी होती है और टीका लगाने के समय इसका पुनर्गठन किया जाता है। इसमें कोई सार्वदैहिक प्रतिक्रियाएं नहीं होतीं लेकिन स्थानिक प्रतिक्रियाएं होती हैं। सामान्य रूप से यदि व्यक्ति को एलर्जी है तो टीका उस समय नहीं लगाना चाहिए। सबसे पहला टीका तीन महीने की उम्र में लगवा लेना चाहिए और हर 3 या 5 साल के बाद फिर टीका लगवा लेना चाहिए।

ii. डिफ्थीरिया—अधिकांशतया यह बाल्यावस्था का रोग है और इसके परिणाम काफी भयानक होते हैं, इसलिए उपचार की अपेक्षा रोग निरोध निश्चित रूप से उत्तम रहता है। त्रिविध टीकों में, काली खांसी, डिफ्थीरिया और टेटेनस के टीके सम्मिलित हैं। ये टीके बच्चे को तीन महीने का होने पर एक-एक महीने के अंतराल के बाद तीन डोजों में दिए जाने चाहिए। 4-5 वर्ष की अवस्था तक त्रिविध टीका लगाया जा सकता है

चित्र 13.5—विसंक्रमण और पीड़कजंतुनाशन

चित्र 13.6—टीका लगाना
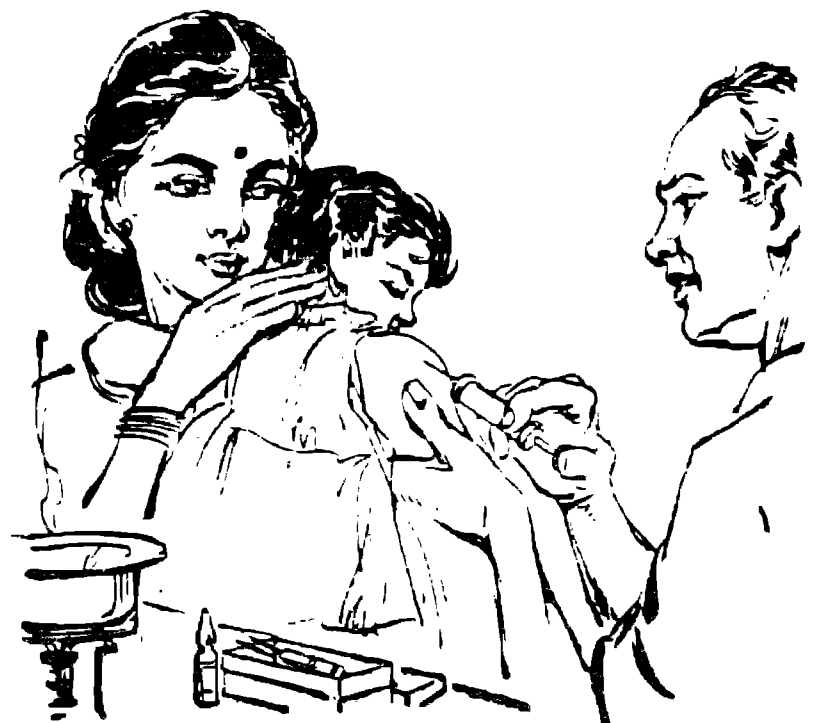
क्योंकि इसके बाद काली खांसी के कुप्रभाव के खतरे कुछ कम होते जाते हैं। 4-5 वर्ष की अवस्था के बाद, अकेला डिफ्थीरिया जीवविषाभ (toxoid) दो मात्राओं में अथवा डिफ्थीरिया और टेटेनस के मिलेजुले जीवविषाभ के रूप में दिया जा सकता है। सामान्यतया दस वर्ष की उम्र के बाद अपने देश में डिफ्थीरिया होने की संभावनाएं कम हो जाती हैं। इस प्रकार तीन महीने की अवस्था पर आरम्भिक तीन इंजेक्शनों के बाद $1\frac{1}{2}$ से 2 वर्ष की अवस्था में और फिर 5 व 10 वर्ष की अवस्था में अनुवर्धक (booster) इंजेक्शन जरूरी हैं।

iii. **काली खांसी या कुकर खांसी (Pertussis/ whooping cough)**–चूंकि यह आरंभिक बाल्यावस्था का रोग है इसलिए इसका महत्व अधिकांशतया 2 वर्ष की आयु वाले वर्ग तक ही सीमित है क्योंकि इसके घातक परिणाम इससे कुछ बाद वाली अवस्था की अपेक्षा इसी आयु में अधिक देखने को मिलते हैं। इसलिए इसकी वैक्सीन बिना किसी के साथ मिलाए पृथक रूप से तीन मात्राओं में अथवा त्रिविध वैक्सीन (triple vaccine) के रूप में प्राय डिफ्थीरिया और टेटेनस की वैक्सीन के संयोग में दी जाती है। अकेली वैक्सीन सामान्यतया 2 वर्ष की आयु के बाद तभी दी जाती है जब संक्रमण की उग्रता को कम या परिवर्तित करना होता है।

iv. **धनुस्तम्भ** (टेटेनस)—हमारे देश में बच्चों और बड़ों में यह रोग बहुत होता है। गांवों में इस रोग के उदाहरण उन नवजात शिशुओं और प्रसव के बाद उन स्त्रियों में मिलते हैं जहां अप्रशिक्षित या अनाड़ी दाइयां प्रसव कराती हैं। फिर शिशु जब गिरते-पड़ते चलने वाला होता है तो उसको क्षति पहुंचने की संभावनाएं अधिक हो जाती हैं। इसी तरह प्रौढ़ व्यक्ति में भी संक्रमण की संभावनाएं अधिक हो जाती हैं जबकि फार्म व उद्योग उसके कार्यक्षेत्र हो जाते हैं। इस तरह दोनों ही आयु वर्गों में संक्रमण की संभावनाएं रहती हैं। टेटेनस होने की संभावनाएं तब अधिक बढ़ जाती हैं जब घाव घोड़े की लीद, पशुओं के गोबर आदि से संदूषित हो जाता है; न कि मात्र जंग लगी कील से सम्पर्क हो जाने पर जैसा प्राय: विश्वास किया जाता है।

टेटेनस के प्रति पूर्ण सुरक्षा सक्रिय प्रतिरक्षा से ही संभव है। और ऐसा शैशवावस्था में त्रिविध वैक्सीन के इंजेक्शनों अथवा टेटेनस जीवविषाभ के 3 इंजेक्शनों से किया जा सकता है। टेटेनस जीवविषाभ के इन तीन इंजेक्शनों में पहले और दूसरे इंजेक्शन में एक महीने से लेकर डेढ़ महीने का अन्तर और दूसरे और तीसरे इंजेक्शन में छ: महीने का अन्तर रहना चाहिए। इनके अतिरिक्त अनुवर्धक (बूस्टर) इंजेक्शन हर पांचवे साल लिया जाना चहिए।

पूर्व परिरक्षित कोई व्यक्ति जब घायल होता है तो प्रतिरक्षा में वृद्धि करने के लिए जीवविषाभ (टाक्सायड) की अनुवर्धक मात्रा दी जानी चाहिए। किन्तु यदि कोई व्यक्ति सक्रिय रूप से प्रतिरक्षित नहीं है तो घावों के गहरे और संदूषित हो जाने पर ए. टी. एस. यानी टेटेनस रोधी सीरम (1500 I.U.) का रोगनिरोधी इंजेक्शन तत्काल दे दिया जाना चाहिए। टेटेनस जीवविषाभ की पहली मात्रा ए.टी.एस. के साथ ही देनी चाहिए। रोगी की सीरम संवेदनशीलता (sensitivity) की परीक्षा के लिए पहले त्वचा के नीचे केवल सीरम की कुछ बूंदों का इंजेक्शन देना चाहिए। यदि घाव हल्का है यानी गहरा नहीं है और साफ किया जा सकता है तो ए. टी. एस. को छोड़ा जा सकता है लेकिन जीवविषाभ अवश्य दिया जाना चाहिए। गर्भवती स्त्री को जीवविषाभ द्वारा सुरक्षित रखा जाना चाहिए ताकि प्रसव होने पर नवजात शिशु को भी रोग से बचाया जा सके।

v. **पोलियो**—पोलियो से बच्चा किस प्रकार अपंग हो जाता है यह सभी अच्छी तरह जानते हैं। यद्यपि पोलियो से पीड़ित होने वालों में से केवल

एक प्रतिशत ही पक्षाघात (paralysis) के शिकार होते हैं तो भी लोग अन्य किसी भी प्रतिरक्षीकरण की अपेक्षा इसके प्रति ही अधिक सावधान हैं। सबसे पहले साक (Salk) ने ही वह वैक्सीन खोज निकाली थी जिसमें वे तीनों प्रकार के जीव थे जो मानव शरीर पर आक्रमण करके पक्षाघात (फालिज) करते थे। अब वह वैक्सीन कम उग्र और अधिक सुरक्षाप्रद बना दी गयी है। इसी बीच सबीन (Sabin) ने पता लगाया कि मुख द्वारा ली जाने वाली वैक्सीन लेने में सरल व सुरक्षाप्रद होती है और इससे प्रतिरक्षा अपेक्षतया जल्दी होती है और देर तक भी चलती है। भारत और सोवियत रूस सहित कई देशों में यह वैक्सीन अब बहुतायत से इस्तेमाल की जाती है। इंजेक्शन द्वारा दी जाने वाली साक वैक्सीन अब दिन प्रतिदिन कम लोकप्रिय होती जा रही है।

साक वैक्सीन, चार से लेकर छह सप्ताह के अन्तराल से, तीन मात्राओं में दी जानी चाहिए। इस प्रकार के प्रतिरक्षीकरण की शुरूआत शैशवावस्था के दूसरे छह महीने वाली आयु में की जानी चाहिए।

एक वर्ष से ऊपर के बच्चों को मुख से ली जाने वाली वैक्सीन दो मात्राओं में और एक वर्ष से नीचे के बच्चों को तीन मात्राओं में दी जानी चाहिए। इसकी पहली मात्रा शिशु को 3-4 महीने की आयु में देनी चाहिए और दो मात्राओं के बीच का अंतराल 4 से लेकर 6 सप्ताह का होना चाहिए।

अपने देश में प्रौढ़ की अपेक्षा संक्रमण के प्रति शिशु अधिक संवेदनशील होता है जबकि पाश्चात्य देशों में स्थिति भिन्न है। बीमार बच्चे को तब तक वैक्सीन नहीं देनी चाहिए जब तक कि वह पूरी तरह से ठीक नहीं हो जाता। यदि साक वक्सीन की एक मात्रा दे दी गई है तो मुखी वैक्सीन की दो अधिक मात्राएं दी जा सकती हैं। मुखी वैक्सीन एकसंयोजक (monovalent) या बहुसंयोजक (polyvalent) हो सकती है।

vi. यक्ष्मा (Tuberculosis)—अन्य रोगों की तरह यह रोग केवल टीके द्वारा दूर नहीं किया जा सकता। लेकिन फिर भी टीका लगाना उद्देश्य प्राप्ति का एक साधन अवश्य है। कई साल पहले कामेट (Calmette) और गुरीन (Guerin) नामक दो फ्रांसीसी कायचिकित्सकों द्वारा इसकी वैक्सीन तैयार की गई थी और इन्हीं के नाम पर इसका भी नाम रखा गया है। बी. सी. जी. (B.C.G.) इस वैक्सीन का संक्षिप्त नाम है और सभी देशों में बहुतायत से इसका इस्तेमाल होता है। इससे बच्चों में यक्ष्मिकीय मस्तिष्कावरणशोथ (tubercular menetgitis) को काफी सीमा तक कम कर दिया गया है।

यक्ष्मा के टीके के कई चरण हैं जिनकी जानकारी बहुत आवश्यक है।

ट्यूबरकुलिन परीक्षण की प्रक्रिया: टीका लगाने से पहले व्यक्ति का परीक्षण करना आवश्यक है कि उसको टीका लगाना जरूरी है या नहीं। नवजात शिशु के अलावा, जिसमें कि टीका बगैर परीक्षण के लगाया जाता है, बाकी सभी मामलों में परीक्षण आवश्यक है। परीक्षण के लिए इस्तेमाल किया जाने वाला पदार्थ संक्षेप में पी. पी. डी. (P. P. D.) शुद्ध प्रोटीन व्युत्पन्न (Purified Protien Derivative) और परीक्षण ट्यूबरकुलिन परीक्षण (मान्टो परीक्षण Mantoux test) कहलाता है। प्राय: यह परीक्षण वाएं प्रकोष्ठ (forearm) के सामने वाले ऊपरी तीसरे भाग में किया जाता है।

धनात्मक परीक्षण (positive test) में, जिसमें कि बी.सी.जी. के टीके की आवश्यकता नहीं होती, 72 घंटे और किसी-किसी मामले में 96 घंटे के बाद कम से कम 6 मि. मी. व्यास वाला दृढ़ीभवन (induration) हो जाता है। सभी ऋणात्मक केसों (negative cases) में बी. सी. जी. का टीका लगाना चाहिए। ऐसा केवल तभी नहीं करना चाहिए जब यह मालूम हो जाय कि ट्युबरकुलिन परीक्षण के 6 हफ्ते पहले उस व्यक्ति या

शिशु का यक्ष्मा के रोगी से संपर्क रहा है। इस मामले में 6 हफ्ते बाद परीक्षण दोहराया जाना चाहिए और इस दौरान बच्चे का यक्ष्मा के किसी रोगी से संपर्क नहीं होना चाहिए। सभी आयु वर्ग वाले लोगों का परीक्षण किया जाना चाहिए और आवश्यकता हो तो उनको टीके भी लगाए जाने चाहिए। इसमें चिकित्साचारियों (medical staff), स्कूली बच्चों और यक्ष्मा से संपर्क वालों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

यक्ष्मा से बचाव के लिए, बी. सी. जी. के टीके द्वारा सक्रिय प्रतिरक्षीकरण के अतिरिक्त, अच्छा पोषण, ताजी हवा, स्वच्छता और धूप का प्रकाश और स्वास्थ्य निरीक्षण आदि अन्य उपाय भी किए जाने चाहिए।

vii. **हैजा**-- इस रोग के प्रसार को रोकने के लिए हैजा रोधी वैक्सीन सबसे अधिक सक्षम साधन है। इसीलिए संभावी रोगियों की अधिसूचना प्राप्त होने पर अथवा बाढ़, लड़ाई और अकाल जैसी प्राकृतिक विपदाओं के परिणामस्वरूप होने वाले रोग से बचाव के लिए भारी संख्या में टीका लगाने के लिए इस वैक्सीन का प्रयोग किया जाता है। जहां तक हो सके इसे एक महीने के अंतराल पर दो मात्राओं में दिया जाना चाहिए अथवा भारी संख्या में टीके लगाए जाने पर एक मात्रा में दिया जाना चाहिए। इस प्रकार अर्जित की गई प्रतिरक्षा करीब 6 महीने तक चलती है। यह वैक्सीन टायफायड और पैराटायफायड वैक्सीन के साथ में बनी भी उपलब्ध होती है।

viii. **टायफायड**-- इसकी वैक्सीन 4 हफ्ते के अंतर से दो मात्राओं में दी जाती है। आपात स्थिति में यह 10 दिन के कम अंतराल से भी दी जा सकती है। शिशुओं को इस प्रतिरक्षीकरण की आवश्कता नहीं होती। इस प्रकार की प्रतिरक्षा एक से दो साल तक चलती है। हैजे की वैक्सीन के साथ इसका संयोग किया जा सकता है।

5. वैयक्तिक सफाई :

रोग के निवारण और नियंत्रण की पांचवीं विधि वैयक्तिक सफाई वाली विधि है। इसमें निम्नलिखित बातें सम्मिलित हैं :

(क) स्नान और धुलाई।

(ख) आंत्र और मूत्राशय से मल-मूत्र विसर्जित करने के उपरांत और भोजन के पहले साबुन व पानी से हाथ धोना (चित्र 13.7)।

(ग) हाथों और अनधुली वस्तुओं अथवा दूसरों के द्वारा शौचघर आदि के लिए प्रयुक्त वस्तुओं को मुंह, नाक, आंखों, कानों, जननेन्द्रियों और घावों से अलग रखना।

(घ) सबके द्वारा इस्तेमाल की गई वस्तुओं अथवा गंदी वस्तुओं का इस्तेमाल न करना, जैसे कि छुरी-कांटे, क्राकरी, प्याले, तौलिए, रुमाल, कंघी, बाल का ब्रश और तंबाकू के पाइप का।

(ङ) खांसने, छींकने, हंसने अथवा बात करते समय नाक या मुंह से निकले तरल पदार्थ के सम्पर्क में आने से बचना।

(च) रोगी अथवा रोगी की चीजों को देखने और हाथ में लेने के बाद हाथों को भली भांति धोना और रोगी के कमरे में रहने पर रक्षात्मक लंबा ऐप्रन पहनना।

चित्र 13.7—वैयक्तिक सफाई
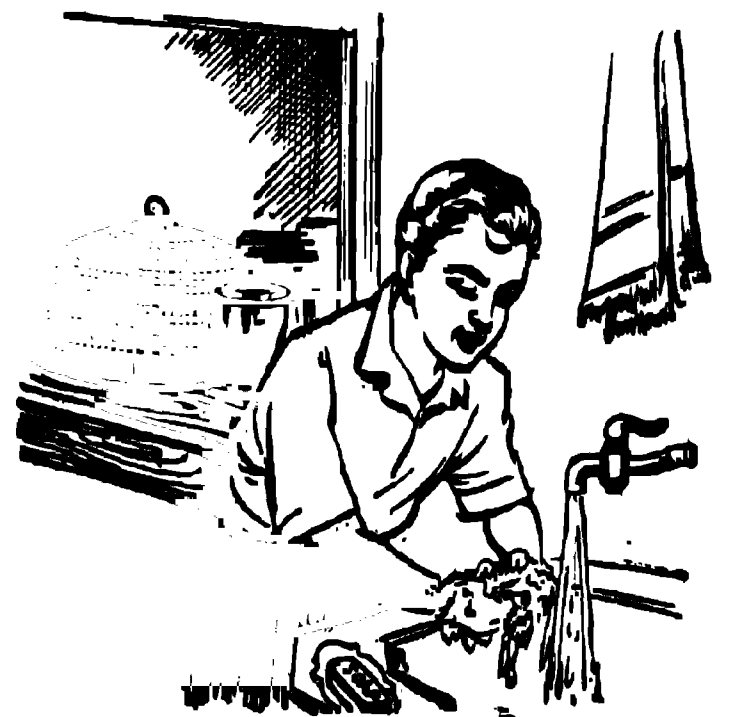
(छ) खाने और पीने की चीजों की सफाई के प्रति सावधानी बरतना और खुले रखे गये भोजन को ग्रहण न करना, जिस पर कि धूल पड़ने व मक्खियों के बैठने का अंदेशा हो।

इस तरह ऊपर वर्णित ये पांचों विधियां यानी पृथक्करण, अधिसूचना, विसंक्रमण, प्रतिरक्षीकरण और वैयक्तिक स्वच्छता की विधियां समुदाय विशेष में रोगों से बचाव की आधारभूत बातें हैं। इनमें से प्रतिरक्षीकरण की विधि निस्संदेह ही सबसे महत्वपूर्ण और हर परिस्थिति में सरल है। किसी और पर निर्भर रहने के बिना ही व्यक्ति द्वारा यह स्वयं ही संपन्न की जा सकती है और रोग के प्रति वैयक्तिक रूप से सुरक्षा रखी जा सकती है। यह इसलिए कि सारे संसार में स्थानिक (endemic) और मौके पर जानपदिक (महामारी) बन जाने वाले रोगों के प्रति भारी संख्या में टीका लगाने

सारणी 13.1—संचारणशीलरोगों के प्रतिरक्षीकरण की योजना

...के प्रति प्रतिरक्षीकरण 1	प्रतिरक्षाकारी कारक 2	कब की जानी चाहिए 3	विधि और मात्रा 4	प्रभाविता 4
1. चेचक	सूखी वैक्सीन	2-3 महीने	(क) खरोंच कर (ख) घूर्णी कुन्तिका (lancet)	3 से 5 वर्ष
2. डिफ्थीरिया	जीवविषाभ	3-5 महीने	एक महीने के अंतराल पर 3 मात्राएं	पांचवें और दसवें वर्ष में अनुवर्धक (बूस्टर)।
3. कालीखांसी	पर्टुसिस वैक्सीन	3 महीने	एक महीने के अंतर से 3 मात्राएं	अनुवर्धक की आवश्यकता नहीं।
4 टेटेनस	जीवविषाभ	कभी भी। संयोग करने पर तीसरे महीने	एक महीने के अंतराल पर 2 मात्राएं	क्षति होने पर अनुवर्धक।
5. पोलियो	(1) साक वैक्सीन	दूसरे छह महीने में	एक महीने के अंतर से 3 इंजेक्शन।	पहली मात्रा के 7 महीने बाद अनुवर्धक।
	(2) सबीन मुखी बहुसंयोजक वैक्सीन	तीसरे महीने बाद	मुंह द्वारा एक महीने के अंतर से 2 मात्राएं। शिशुओं के लिए 3 मात्राएं।	अनुवर्धक की जरूरत नहीं।
6. यक्ष्मा	बी. सी. जी वैक्सीन	जन्म पर या शैशवावस्था के आरंभ में	अंतःत्वचीय, जहां तक हो सके बाईं बाहु में	निश्चित नहीं। ट्युबर-कुलिन परीक्षण के ऋणात्मक होने पर अनुवर्धक।
7. हैजा	हैजा वैक्सीन	एक वर्ष	एक महीने के अंतर से 2 मात्राएं।	6 महीने
8. प्लेग	प्लेग वैक्सीन	एक वर्ष	एक महीने के अंतर से 2 मात्राएं।	1-2 वर्ष
9. टायफायड	टी.ए.बी. वैक्सीन	एक वर्ष	एक महीने के अंतर से 2 मात्राएं।	1 वर्ष
10. पीत ज्वर	विशेष वैक्सीन	अंतर्राष्ट्रीय यात्रा	सभी आयु वर्गों में 1 घ सें.	6 वर्ष
11. टाइफस	विषाणु (वाइरस) वैक्सीन	एक वर्ष	प्रौढ़–1 घ सें. बच्चे–ठीक अनुपात में 2 मात्राएं, एक महीने के अंतर से।	एक वर्ष

वाले अभियानों से समुदाय में रोगों के प्रति रोध-क्षमता उत्पन्न की जाती है। इस विधि से रोग विशेष के प्रति 80 से 90 प्रतिशत लोग प्रतिरक्षित हो जाते हैं। भारी सख्या में टीके अधिकांशतया जानपदिक रोगों के प्रसार को शीघ्रता से रोकने के लिए लगाए जाते हैं।

अन्य देशों की तरह भारत में चेचक जानपदिक रूप में होता है और इसलिए वह इसके उन्मूलन में जीजान से लगा हुआ है। इसमें लोगों की गिनती करके भारी संख्या में बार-बार टीके लगाने होते हैं और कार्डों पर उनका पूरा-पूरा विवरण रखना होता है ताकि 3-5 साल बाद फिर से टीका लगाते समय उनकी सहायता ली जा सके। यह पाया गया है कि 3-5 साल बाद प्रतिरक्षा कम हो जाती है इसलिए रोग उन्मूलन अभियान में निश्चित अंतरालों पर टीका लगाना परम आवश्यक है। सूखी और हिमीकृत वैक्सीन का टीका 100 प्रतिशत सफल रहता है।

बहुत समय तक मलेरिया को लोगों का नंबर एक शत्रु समझा जाता था, लेकिन अब संयुक्त राष्ट्र संघ की एजेन्सियों द्वारा भारत में राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन प्रोग्राम आरंभ कर दिया गया है। इस प्रोग्राम की प्रक्रिया और विधियां अध्याय 15 में वर्णित की गई हैं।

●●●
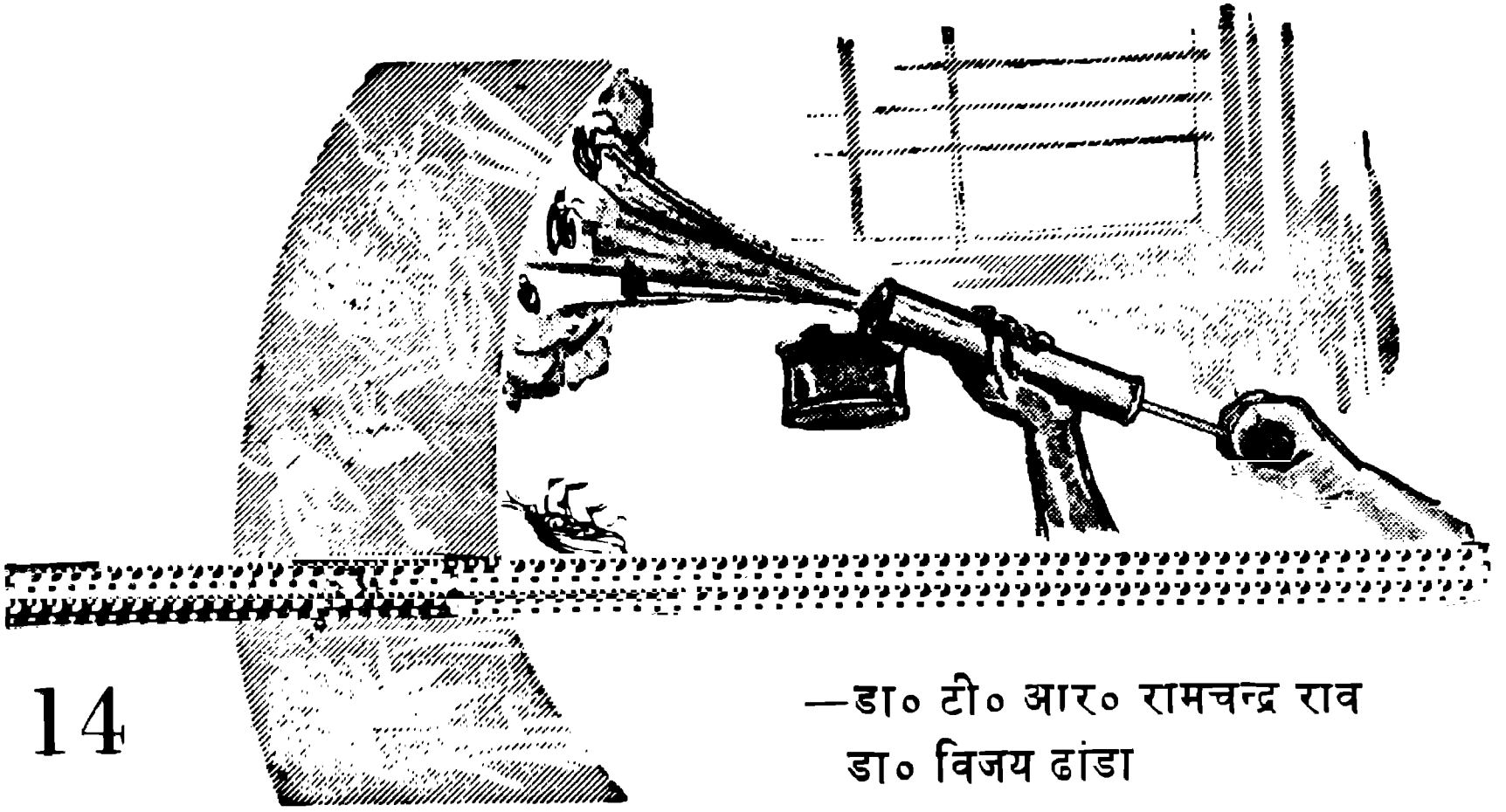
14

—डा० टी० आर० रामचन्द्र राव
डा० विजय ढांडा

सामान्य रोगवाहक कीट और उनका नियंत्रण

मानव कई प्रकार के कीटों द्वारा सताया जाता है। कुछ तो फसलों और भंडार वाले अनाज का नाश करके प्रत्यक्ष हानि पहुंचाते हैं और कई दूसरी तरह से मानव के भयानक शत्रु हैं क्योंकि ये मानव का रक्त चूसते हैं और कई रोगों के वाहक भी हैं। इनमें से अनेक कीट हमें भयानक रूप से परेशान कर सकते हैं।

रोगवाहक कीट कई किस्म के होते हैं जो संख्या में भी बहुत हैं लेकिन मानव के शत्रुओं के रूप में सबसे ऊंचा स्थान मच्छरों, मक्खियों, पिस्सुओं और जूंओं का है। यह आश्चर्य की बात है कि मानव के साथ घनिष्ठ रूप से रहने और उसे परेशान करने वाला खटमल जहां तक रोग प्रसार का संबंध है, हानिरहित प्रतीत होते हैं। तिलचट्टे (Cockroaches) हमारे रसोईघरों और भंडार कक्षों के घिनौने घुसपैठिए हैं। किलनियां और चिचड़ियां (mites) भी मानव के शत्रुओं की श्रेणी में आती हैं जो वस्तुत: कीट नहीं हैं बल्कि घनिष्ठ रूप से संबंधित दूसरे समूह में आते हैं।

मच्छर :

मच्छर कई प्रकार के होते हैं। भारत में ही इनके 250 से अधिक ज्ञात प्रकार हैं। इनमें से अधिकांश तो सामान्यतया जंगलों और वृक्षों वाले स्थानों में मानव के संपर्क से दूर रहते हैं लेकिन कुछेक ऐसे हैं जो मानव के साथ घनिष्ठ संबंध रखने के कारण मलेरिया, फाइलेरिया, डेंगू आदि भयानक रोग फैलाते हैं।

भारत में मलेरिया के तीन प्रमुख वाहक हैं — **एनोफलीज क्युलिसिफेसीज, एनोफलीज फ्लुविए-टिलिस** और **एनोफलीज स्टीफेन्साइ।**

भारत में ए. **क्युलिसिफेसीज** भारी संख्या में मलेरिया फैलाता है अथवा अभी कुछ समय पहले तक फैलाता रहा है। अधिक गंदे पानी को छोड़कर

डा. टी. रामचन्द्र राव, डी. एस-सी., एफ. एन. आई., निदेशक, विषाणु अनुसंधान केंद्र (भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद्, पूना, भूतपूर्व उपनिदेशक, पब्लिक हैल्थ (मलेरिया), महाराष्ट्र, पूना।
डा. विजय ढांडा, एम. एस-सी., पी-एच. डी., सीनियर रिसर्च फैलो, विषाणु अनुसंधान केंद्र, पूना।

यह सभी प्रकार के पानी में पाया जाता है लेकिन नदियों, सिंचाई वाली नहरों, मानव द्वारा खोदे गए गड्ढों आदि में यह अधिक ही पाया जाता है। फिर इसके बारे में एक विशेष बात यह भी है कि मानव के रक्त की अपेक्षा इसे पशुओं का रक्त अधिक प्रिय है। चूंकि यह अधिक संख्या में पाया जाता है इसलिए इसका जो थोड़ा-सा प्रतिशत मानव को काटता है वह भी मलेरिया का भयानक जानपदिक रोग उत्पन्न कर सकता है।

ए. फ्लुविएटिलिस की जनन संबंधी पसंद और भी विशिष्ट है। इसे घास वाले किनारों से होकर बहने वाली सरिताओं अथवा नहरों का साफ पानी प्रिय है। मानव के रक्त के प्रति गहरा लगाव होने के कारण यह संसार का एक बहुत दक्ष मलेरिया वाहक है।

ए. स्टीफेन्साइ शहरी क्षेत्रों का सबसे उत्कृष्ट रोगवाहक है। भारत के अनेक शहरों में यह भयानक रूप से मलेरिया फैलाता है।

अन्य पंख वाले कीटों की तरह, मच्छर के जीवन में परिवर्धन (development) की चार अवस्थाएं होती हैं अर्थात् अंडा (egg), डिम्भक (larva), कोशित या प्यूपा (pupa) और प्रौढ़ (adult)। इसको अपनी पहली तीन अवस्थाएं पानी में और चौथी अवस्था पानी के बाहर व्यतीत करनी होती हैं। डिम्भक (लार्वा) और कोशित (प्यूपा) को समय-समय पर अपने श्वास या वायु छिद्रों के द्वारा आक्सीजन लेने के लिए पानी की सतह पर आना होता है। इसलिए पानी की सतह पर जब कोई डिम्भकनाशी तेल छिड़का जाता है तो ये नष्ट हो जाते हैं। मादा एनोफलीज़ रक्त चूषी होती है और काटने पर एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में मलेरिया और अन्य रोग फैलाती है। एनोफलीज़ मच्छर और क्युलेक्स नामक दूसरे प्रकार के मच्छर के जीवन चक्र की अवस्थाओं का आपसी अंतर चित्र 14.2 में दिया गया है।

1942 तक जब तक कि डी. डी. टी. का आविष्कार नहीं हुआ था मलेरिया का नियंत्रण एक गम्भीर समस्या थी। डी. डी. टी. घरों और पशुशालाओं की भीतरी दीवालों पर छिड़का जाता है। रात को जब मच्छर घरों अथवा पशुशालाओं में अशन या रक्त चूसने के लिए आते हैं तो अशन के पहले या बाद में वे दीवारों पर बैठते हैं। ऐसा करते समय जब वे डी. डी. टी. के संपर्क में आते हैं तो मर जाते हैं। लेकिन इस विधि से मच्छरों के उत्पादन में कमी नहीं होती क्योंकि प्रजनन-स्थल तो अप्रभावित ही रहते हैं। फिर भी मलेरिया के नियंत्रण में भारी सफलता मिली है। मच्छरों की संख्या में कमी करने के लिए प्रजनन-स्थलों में डिम्भकों का नियंत्रण करना होगा। तकनीकी दृष्टि से यह कठिन ही नहीं होगा बल्कि बहुत खर्चीला भी होगा और बड़े शहर के अलावा कोई भी समुदाय इस खर्च को वहन नहीं कर पाएगा।

चित्र 14.2—मच्छर का जीवन-चक्र
A : अंडे, B : डिम्भक, C : कोशित, D : प्रौढ़
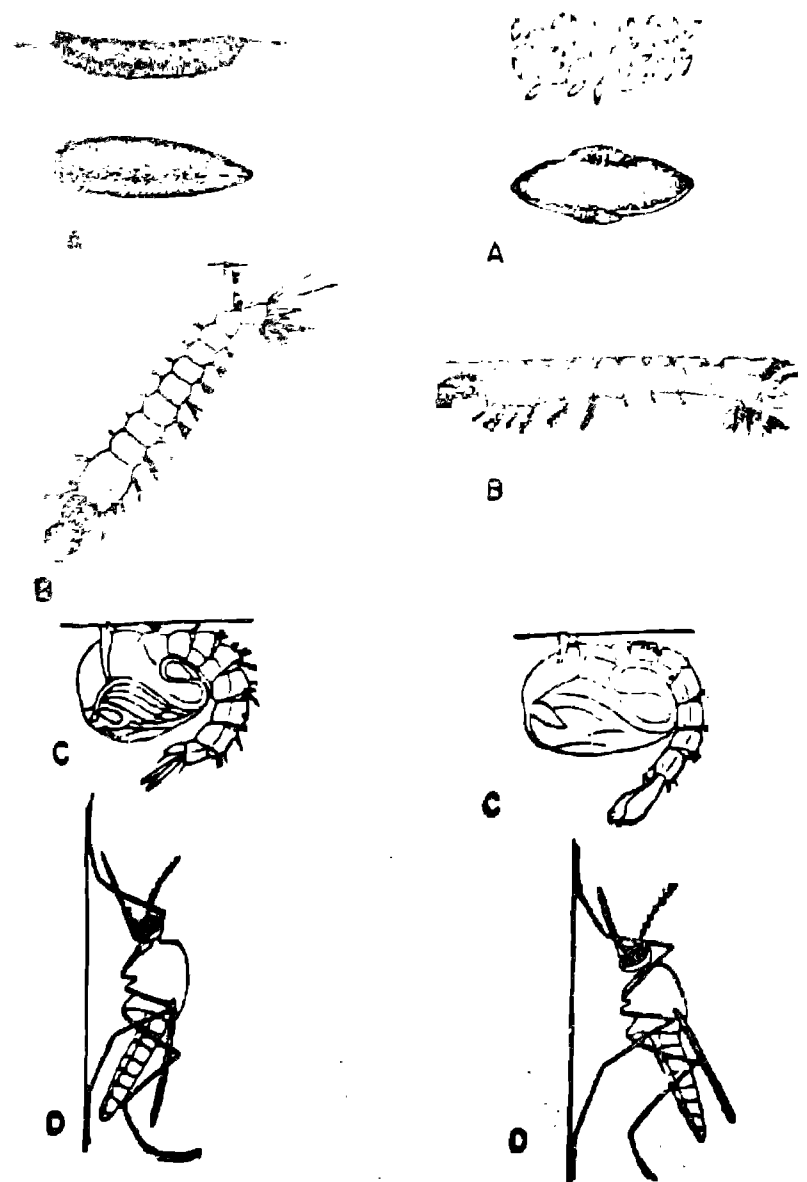
क्युलेक्स फैटिगेन्स भारत का सबसे सामान्य मच्छर है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, यह मलेरिया नहीं फैलाता है लेकिन चूंकि यह मानव के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है इसलिए भारी उपद्रव का कारण है। भारत में कई भागों में, विशेषकर तटीय क्षेत्रों में, यह भयानक फाइलेरिया रोग या श्लीपद (filariasis/elephantiasis) फैलाता है।

यह नालों, मलकुंडों और सेप्टिक टैंकों के गंदे पानी (जितना गंदा हो उतना अच्छा) को पसंद करता है, जहां कि इसका खूब प्रजनन होता है। घरों के अन्दर डी. डी. टी. फुहारने से **क्यूलेक्स फैटिगेन्स** का नियंत्रण सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता। वास्तव में देखा जाय तो इस प्रयोजन के लिए डी.डी.टी. छिडकना सब व्यर्थ ही रहेगा। **क्युलेक्स फैटिगेन्स** को नियंत्रित करने की एकमात्र विधि में या तो (1) भराव और निकास द्वारा प्रजनन-स्थलों के निराकरण से प्रजनन निरोध किया जाय या (2) जमा पानी में समय-समय पर डिम्भकनाशी तेलों का छिड़काव किया जाय। पहला तरीका यद्यपि शुरू में खर्चीला है लेकिन बाद में लाभकारी रहता है। दूसरा भले ही आरम्भ में कम खर्च वाला है पर बाद में इसमें खर्च की पुनरावृत्ति होती रहती है। प्रजनन-स्थलों में तेल डालने की क्रिया बड़ी सावधानी से सुसंगठित होनी चाहिए और बड़ी कड़ाई से इसकी देखरेख होनी चाहिए वरना सही माइने में बिना फायदा उठाए तेल सचमुच नाले में बेकार चला जाएगा।

एक और मच्छर जो महत्व का हो गया है वह **एडीज एजिप्टाइ** है। यह एक महत्वपूर्ण विषाणु (वाइरस) रोग का वाहक है जिसे कि डेंगू या हड्डी तोड़ ज्वर (break bone fever) कहते हैं। अभी हाल ही में इसके द्वारा फैलाए जाने वाले एक और विषाणु रोग का पता चला है जिसे 'चिकनगुन्या' (Chikungunya) कहते हैं। प्राथमिक रूप से इसका प्रजनन मानव द्वारा बनाए गए कृत्रिम आधानों या पात्रों में होता है, जैसे कि सीमेंट की टंकियों, हौदियों, फूलों की क्यारियों, गमलों, फेंके गए मोटर के टायरों आदि में। अन्य मच्छरों के विपरीत जो कि रात में काटते हैं, यह दिन में काटता है। इसलिए इसका नियंत्रण बहुत सरल है क्योंकि यह मानव के निकट के परिवेश में ही प्रजनन करता है या तो घर के अंदर या उसके बहुत निकट कहीं पर भी। प्रत्येक गृहस्वामी को अच्छी तरह यह देख लेना चाहिए कि किसी आधान या कुंड-जैसे स्थान पर कहीं पानी जमा तो नहीं हो रहा है और यदि ऐसा है तो हफ्ते में कम से कम एक बार खाली कर देना चाहिए। यदि सामुदायिक रूप से सभी सहयोगी भावना से कार्य करें तो इस मच्छर पर बड़ी आसानी से नियंत्रण रखा जा सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए बुद्धिमानी और सावधानी की बात यही होगी कि 'मच्छरदानी में सोया जाय', लेकिन यह ऐसी सलाह है जिसे बड़े मजे में दिया तो जा सकता है लेकिन भारत में कई स्थान ऐसे हैं जहां उमसदार मौसम के कारण मच्छरदानियों का प्रयोग कठिन ही होता है।

घरेलू मक्खी :

मक्खियों की कई किस्में हैं, कुछ सामान्य और कुछ दुर्लभ। भारत की सामान्य घरेलू मक्खी **मस्का-नेबुलो** है, लेकिन कुछ क्षेत्रों में अन्य जातियों की भरमार है। ये घरेलू मक्खियां न तो काटती हैं और न खून ही चूसती हैं लेकिन इनकी आदत ऐसी है कि एक ओर तो ये मल और गन्दे पदार्थों से आकर्षित होकर ऊपर बैठती हैं और दूसरी ओर हमारे भोजन पर। इस तरह ये हैजा, टायफायड, पेचिश आदि रोगों के भौतिक वाहक का कार्य करती हैं।

प्रौढ़ मादा मक्खियां, सड़े-गले जैव पदार्थों पर अंडे देती हैं। अंडे डिम्भकों में फूटते हैं, जिन्हें कि अपादक (maggots) भी कहते हैं। ये डिम्भक
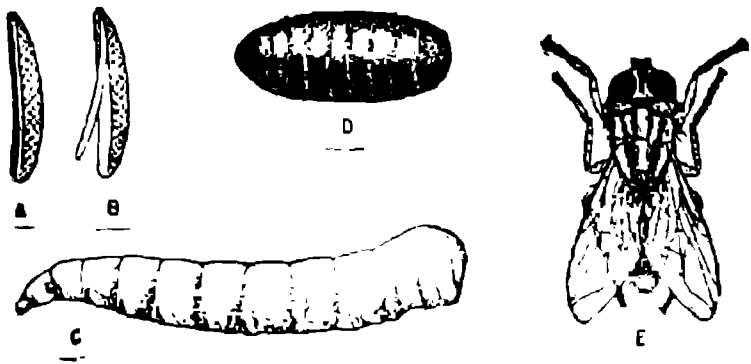
चित्र 14.3—घरेलू मक्खी
A : फूटने से पहले का अंडा, X 10;
B : फूटने के बाद का अंडा, X 10;
C : डिम्भक, X 3; D : कोशित, X 3;
E : प्रौढ़, X 3।

अपने अध:स्तर (substratum) से अशन या भोजन प्राप्त करते हुए परिवर्धित होते जाते हैं। डिम्भकीय अवस्था के अंत में अपादक कोशित या प्यूपा में परिवर्धित और परिवर्तित हो जाता है। फिर कोशित से ही प्रौढ़ मक्खी परिवर्धित होकर निकलती है। (चित्र 14.3)। इसका जीवन-चक्र पूरा होने में 6 से लेकर 32 दिन लगते हैं, जो तापमान की दशाओं पर निर्भर करता है। इसमें परिवर्धन के लिए 35°C. वाला तापमान इष्टतम या आदर्श है।

मक्खी के उपद्रव से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि स्वच्छता के प्रति समुचित ध्यान दिया जाय और कूड़े-कचरे का निपटान वैज्ञानिक ढंग से किया जाय। गंदगी में ही मक्खियां पनपती हैं इसलिए गंदगी नहीं रहनी चाहिए। कभी-कभी आधुनिक कीटनाशियों (insecticides) के द्वारा अपादकों या प्रौढ़ों को मारकर अस्थायी रूप से इनसे छुटकारा पाया जा सकता है। वर्तमान समय में डी. डी. टी. तो इसके लिए बेकार-सा है। डायाज़िनोन और मालाथायोन का कुछ प्रभाव पड़ता है। इन्हें इनके प्रजनन-स्थलों और विश्राम-स्थलों की सतह पर फुहारा जा सकता है। कुछ कीटनाशियों को विलोमक या चारे (Bait) के साथ भी मिलाया जा सकता है।

इसके प्रजनन को पूरी तरह से समाप्त करना तो कठिन है किन्तु इनकी संख्या में काफी कुछ कमी करने के उद्देश्य से निम्नलिखित विधियां अपनाई जा सकती हैं (चित्र 14.4) : 1. गृह-स्वामियों को चाहिए कि वे घर के कूड़े-कचरे और अन्य बेकार पदार्थों कोक से ढक्कन वाले कूड़ेदान में डालें। 2. म्युनिसिपैलिटियों को देखना चाहिए कि इकट्ठा हुआ कूड़ा-कचरा रोज साफ होता है या नहीं। उसे जमा नहीं होने देना चाहिए। 3. कूड़े-कचरे को शहर से दूर वाले स्थानों में फेंका जाना चाहिए। 4. गांवों में, खाद के ढेरों को मिट्टी की एक मोटी परत से ढक देना चाहिए। 5. अंतिम और सबसे महत्वपूर्ण बात है घरों में स्वच्छता बनाए रखना, जिससे कि मक्खियां आकर्षित न हों। मक्खियों से संदूषित होने से बचाने के लिए खाद्य पदार्थों को हमेशा ढक कर रखना चाहिए।

चित्र 14.4—मक्खी के उपद्रव से बचने के उपाय
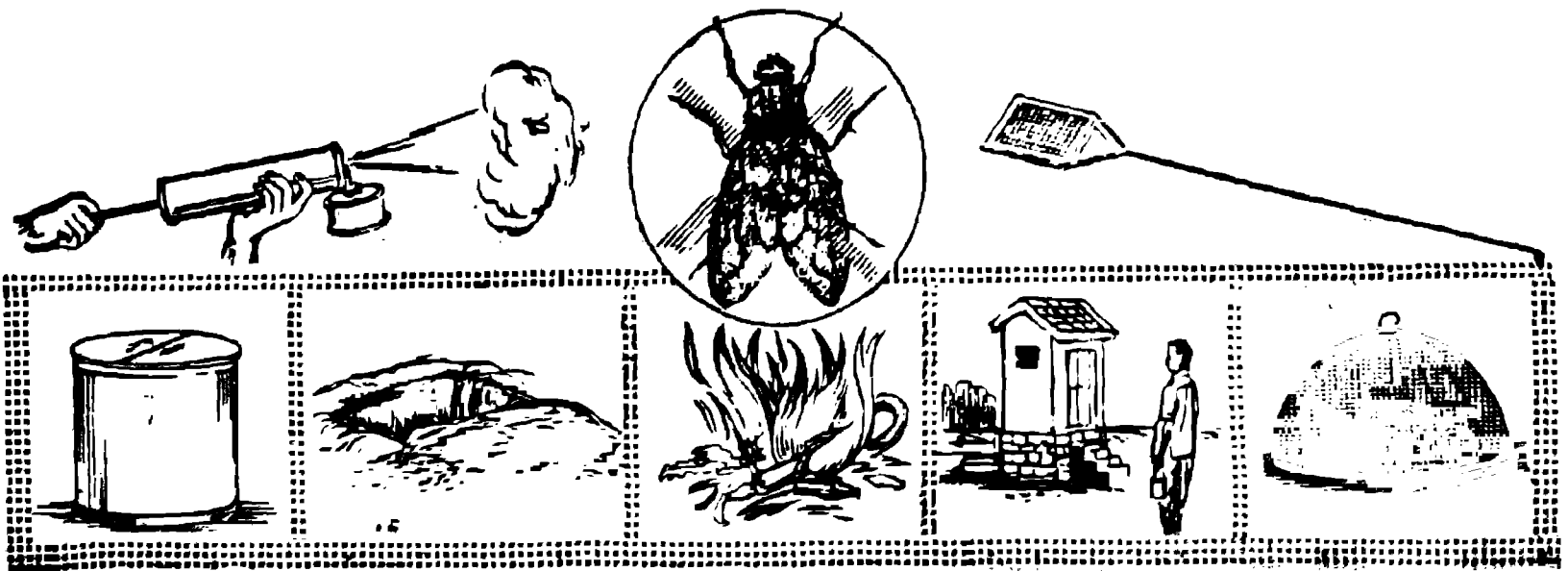
पिस्सू (Fleas) :

मक्खी व मच्छरों के विपरीत पिस्सुओं में पंख नहीं होते इसलिए ये उड़ नहीं सकते। लेकिन अपनी मजबूत और हृष्ट-पुष्ट टांगों के कारण ये 15 से 20 सेंमी. की ऊंचाई तक उछल सकते हैं। सभी पिस्सू प्रौढ़ अवस्था में ऊष्णरक्तक (warm blooded) प्राणियों के शरीर में परजीवियों के रूप में रहते हैं। ये शरीर के लिए इसलिए ही अनिष्टकारी नहीं हैं कि काटने से ये क्षोभ पैदा करते हैं बल्कि इसलिए भी महत्वपूर्ण हैं कि ये प्लेग सरीखे कुछ रोग भी फैलाते हैं।

भारत में सबसे सामान्य पिस्सू वे हैं जो चूहों के बाहरी परजीवी हैं। इनमें से **जेनोप्सिला केओपिस** (Xenopsylla cheopis) प्लेग का सबसे भयानक वाहक है क्योंकि यह बड़ी मुस्तैदी से चूहे से मानव में पहुंच जाता है। इसके अतिरिक्त इसकी कई अन्य जातियां भी हैं।

मादा पिस्सू अंतरालों पर 300 से लेकर 500 अंडे देती है। ये अंडे अंधाधुंध रूप में या तो परपोषी के लोमों (बालों), पिच्छों (परों) अथवा कपड़ों या परपोषी के सोने वाले या आराम करने वाले स्थान में दिए जाते हैं। अंडे फिर डिम्भकों में फूट जाते हैं, जो छोटी व बिना टांग वाली तितलियों (caterpillar) की तरह होते हैं। डिम्भक सामान्यतया भूमि पर अथवा परपोषी के नीड़ पर रह कर फर्श पर पाए जाने वाले जैव पदार्थ पर अशन करते हैं। कोशित (प्यूपा) पूर्ण परिवर्धित डिम्भक द्वारा बुने गए रेशमी कोए (cocoon) के अंदर बनता है। कोशित के अंदर ही प्रौढ़ रूप अर्जित किया जाता है। तापमान और नमी की इष्टतम दशाएं होने पर संपूर्ण जीवन-चक्र (चित्र 14. 5) के पूरा होने में करीब तीन हफ्ते लगते हैं जैसे कि भारत जैसे उष्ण कटिबंधी देश में। लेकिन ठंडे देश में भुखमरी की दशाओं में 20 महीने तक लग सकते हैं।

पिस्सू के नियंत्रण संबंधी उपाय दो भिन्न
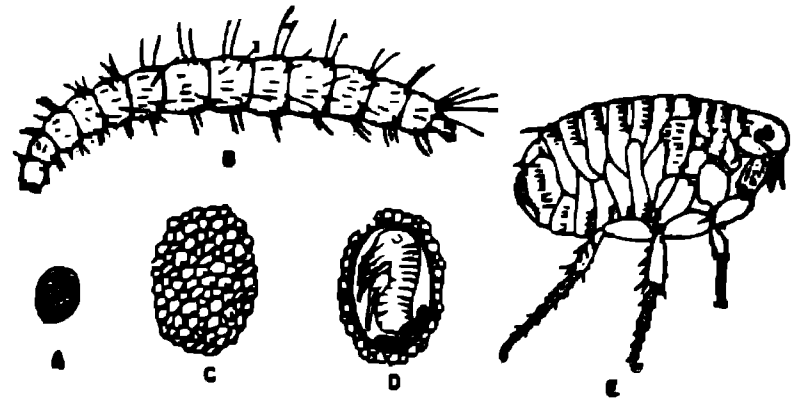
चित्र 14.5—सामान्य चूहे वाला पिस्सू
A : अंडा, X 30; B : डिम्भक, X 30;
C : कोया और चिपके धूलि कण, X 15;
D : कोए के अंदर कोशित, X 15; E : प्रौढ़, X 30

प्रकार के हो सकते हैं प्रौढ़ पिस्सुओं के पर्याक्रमण के प्रति सुरक्षा और घरों में प्रजनन केन्द्रों का उन्मूलन। चूहों और मूषकों के नाश और पालतू व दुलारे प्राणियों को लंबे समय तक प्रभावशील रहने वाले कीटनाशियों से उपचारित करने पर सफलतापूर्वक इनका नियंत्रण किया जा सका है। यदि घरों में पर्याक्रमण अधिक है तो किसी कीट-प्रतिकर्षी (repellant) का, जैसे डाइमेथिल थैलेट, इस्तेमाल करके इनके दंश से बचा जा सकता है। घरों के फर्श साफ रखे जाने चाहिए जिससे कि डिम्भकों का परिवर्धन रोका जा सके और इन कीटों के डिम्भकों के नाश के लिए डी. डी. टी. और बेंज़िल हेक्सा क्लोराइड अथवा गैमेक्सीन सरीखे कीटनाशी फर्शों पर छिड़के या फुहारे जाने चाहिए।

खटमल :

खटमल छोटे भूरे पंखहीन कीट हैं, जो मानव की रहने वाली जगहों पर अड्डा जमाए रहते हैं। ये फर्शों, दीवारों और छत की दरारों और लकड़ी के फर्नीचर के जोड़ों के अंदर रहते हैं। यद्यपि यह कहा जाता है कि खटमल कई रोग फैलाते हैं लेकिन अभी तक इस बात का कोई प्रमाण नहीं है। लेकिन उनके काटने से उत्पन्न होने वाली चिड़चिड़ाहट भरा क्षोभ उन्हें भयानक पीड़क (pest) मानने के लिए काफी है।

इनका जीवन-चक्र अपेक्षतया सरल होता है (चित्र 14.6)। अंडे दरारों के अंदर, फर्नीचर के जोड़ों के अंदर और यहां तक कि उन बिस्तरों में भी दिये जाते हैं जो लंबे समय तक इस्तेमाल नहीं किये जाते। अंडों से निकलने या फूटने वाले शिशु अर्भक (nymph) कहलाते हैं। प्रौढ़ में परिवर्धित होने से पहले अर्भकों की पांच अवस्थाएं होती हैं। अर्भक की सारी अवस्थाएं और प्रौढ़ सब रक्त चूसते हैं।

खटमलों के नियंत्रण की सबसे अच्छी विधि है घरेलू स्वच्छता का अच्छा स्तर बनाए रखना। गंभीर और चिरकारी पर्याक्रमण में कीटनाशियों का प्रयोग करना चाहिए। खटमलों का नाश करने में डायाज़िनोन बहुत प्रभावशाली कीटनाशी है, इसलिए इसे दीवारों, फर्नीचर आदि पर फुहारना चाहिए। **डायाज़िनोन मानवों के लिए बहुत तेज जहर है इसलिए इसके प्रयोग में सावधानी बरतना जरूरी है और इस कीटनाशी रसायन को त्वचा के सम्पर्क में नहीं आने देना चाहिए।** तकियों, चादरों और अन्य कपड़ों पर जो कि त्वचा के सीधे संपर्क में आते हैं, डायाज़िनोन नहीं छिड़कना चाहिए। इन्हें जल्दी-जल्दी बदलकर धोते रहना चाहिए। घरेलू उपचार के लिए इन्हें मारने के लिए दरारों, फर्नीचर के जोड़ों अथवा बिस्तरों में **मिट्टी का तेल छिड़का जा सकता है।**

यूका या जूं (Lice)

जूं छोटे पंखहीन कीट हैं, जो अपने परपोषियों पर अविकल्पी परजीवी वाला जीवन व्यतीत करते हैं। मानव प्रमुखतया इनकी तीन किस्मों से ग्रस्त रहता है यानी सिर के जूं, शरीर के जूं और जघन-जूं (pubic lice) अथवा कर्कट जूं (crab lice)। भारत में सिर की जूं सबसे आम किस्म है, यद्यपि शरीर और जघन जूं भी बहुत गंदे रहने वाले समुदायों में पायी जाती हैं। खून चूसते समय उत्पन्न होने वाले क्षोभ के अतिरिक्त शरीर की जूंएं टाइफस और पुनरावर्ती ज्वर (relapsing fever) सरीखे भयानक रोग फैला सकते हैं।

जूं का जीवन-चक्र (चित्र 14.7) बहुत सरल है और सभी अवस्थाएं एक ही परपोषी पर व्यतीत की जाती हैं। बालों से चिपके हुए अंडे अर्भकों में फूट जाते हैं और ये अर्भक प्रौढ़ बनने के पहले तीन अवस्थाओं से गुजरते हैं। एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में इनका स्थानांतर सामान्यतया प्रत्यक्ष संपर्क से ही होता है।

आधुनिक कीटनाशियों से जूंओं का नाश करना काफी सरल है। बालों पर डी. डी. टी (टेल्क में 1 या 2 प्रतिशत) अथवा पाइरेथ्रम का चूरा

चित्र 14.6—खटमल
A : प्रौढ़, X 8; B : अंडा, X 15;
C : एकदम फूटा हुआ अर्भक, X 15

चित्र 14.7—A : सिर की जूं, X 10;
B : सिर की जूं के अंड बालों से चिपके हुए, X 20;
C : कर्कट जूं अथवा जघन जूं, X 15
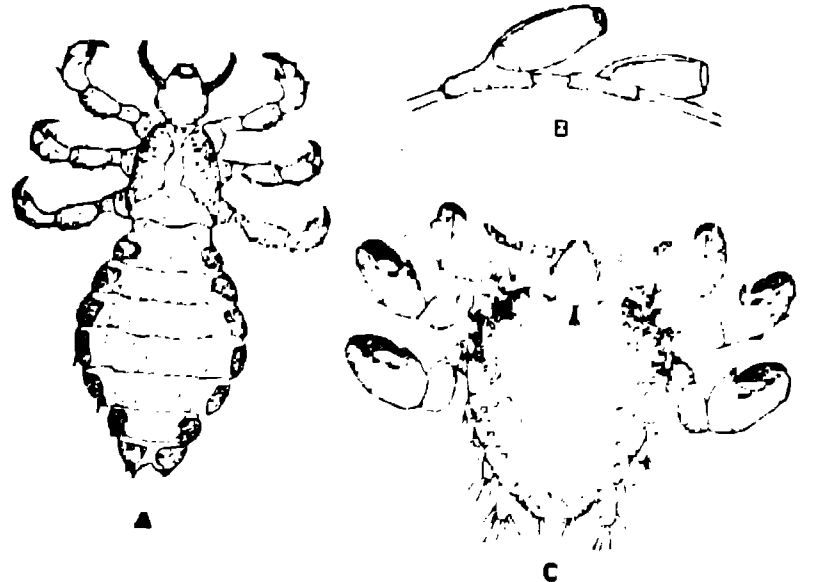
छिड़कर कुछ देर यूं ही रहने देना चाहिए और फिर बालों को धो देना चाहिए । कपड़ों पर भी, विशेषकर उनकी भीतरी सतहों में यह छिड़काव किया जा सकता है अथवा उन्हें उबाला जा सकता है। लेकिन अधिक महत्व इस बात का ही है कि स्वच्छता रखने से इनसे बचा जाय।

तिलचट्टे या कॉक्रोच :

इन भूरे काले अथवा भूरे तथा चमकदार चपटे शरीर वाले कीटों से सभी अच्छी तरह से परिचित हैं। ये तिलचट्टे (चित्र 14.8) मुख्यतया रात में अथवा अंधेरे तहखानों में सक्रिय रहते हैं। अपनी गंदी आदतों, घिनौनी शक्ल और बुरी गंध के कारण सचमुच में बहुत ही आपत्तिजनक जंतु समझे जाते हैं। अप्रत्यक्ष रूप में ये अनेक रोग फैलाने का काम भी कर सकते हैं। क्योंकि ये भोजन को संदूषित जो करते हैं। ये कई प्रकार की चीजों को खाते हैं जिनमें रसोई-भंडार, रसोई, बेकरी, रेस्तरां और इसी प्रकार के अन्य स्थानों की चीजें सम्मिलित हैं। जिस चीज को ये खाते हैं या जिस पर चलते हैं उसमें अपने मल पदार्थ गिराते जाते हैं, इसलिए इन पर नियंत्रण रखना बहुत अधिक महत्व का है।

चित्र 14.8—तिलचट्टा (कात्रोच)
ऊपर दाहिने—शिशुओं के साथ कोया

नियंत्रण का पहला कदम यह है कि खूब अच्छी तरह से स्वच्छता रखी जाय और इनके अड्डों से, जैसे कि नाबदानों और हर प्रकार के भंडारों, इनके पुनः प्रवेश पर रोक रखी जाए। आजकल के अधिकांश कीटनाशी तिलचट्टों के प्रति बेकार साबित हो गए हैं क्योंकि इन्होंने उन सभी के प्रति प्रतिरोध अर्जित कर लिया है। इनके नियंत्रण में डायाज़िनोन अभी तक प्रभावकारी है किंतु रसोई घरों में इसका प्रयोग खतरे से खाली नहीं है । पाईरेथ्रम से फुहारना सबसे अच्छी विधि है और यह क्रिया प्रायः हाथ वाले पंप से ही संपन्न की जाती है । एक अच्छी गृहिणी को अपने रसोई घर को साफ-सुथरा रखना हो तो उसे चाहिए कि हफ्ते में एक बार यह अतिरिक्त कार्य अवश्य करे, तभी ये घिनौने जंतु इधर उधर रेंगते नजर नहीं आयेंगे ।
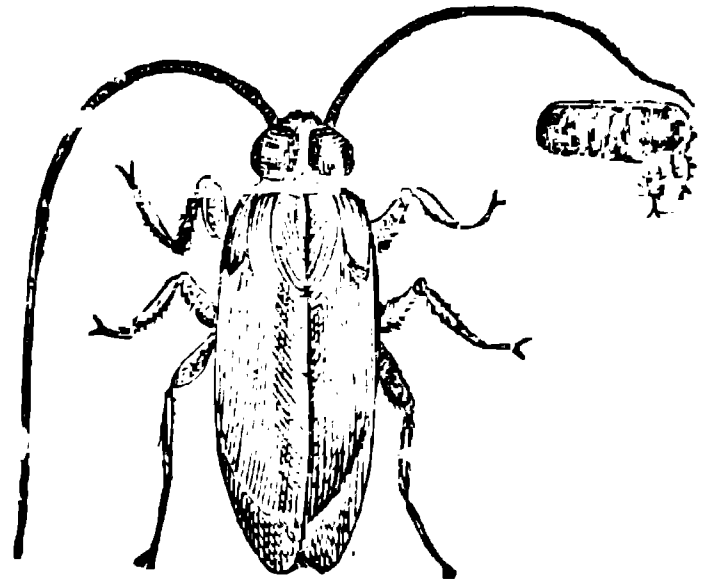
किलनियां (Ticks) और चिचड़ियां (Mites):

जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, किलनियां और चिचड़ियां वस्तुतः कीट नहीं हैं। ये एकेराइना नामक समूह में आते हैं। ये बिच्छू और मकड़ियों वाले समूह के हैं जिनकी प्रौढ़ अवस्था में चार जोड़ी टांगें होती हैं।

कुटकियां या किलनियां (चित्र 14.9) विभिन्न आकार की होती हैं यानी प्रौढ़ अवस्था में 2 मिमी. से लेकर 5 मिमी. तक। लेकिन भरपूर खाने वाली मादाएं आकार में बड़ी होती हैं, यहां तक कि वे लंबाई में 15 मिमी. तक हो सकती हैं। अधिकांश किलनियां मानव पर आक्रमण नहीं करतीं और जंगली या पालतू प्रणियों तक ही सीमित रहती हैं। केवल अपसामान्य परिस्थितियों में ही ये मानव पर

चित्र 14.91—किलनियां
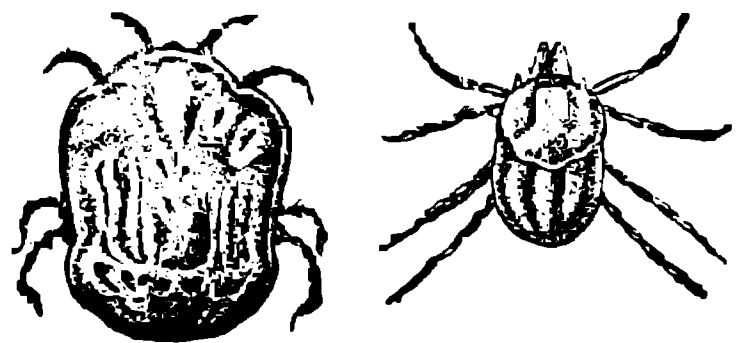
चित्र 14.92—पामा चिचड़ी

आक्रमण करती हैं और जब ये ऐसा करती हैं तो मानव में क्यासानूर वन रोग (Kyasanur forest disease), किलनीवाहित टाइफस, पुनरावर्ती ज्वर सरीखे भयंकर रोग फैलाती है।

बरुथियां या चिचड़िया (चित्र 14.92) अपेक्षाकृत आकार में बहुत छोटी होती हैं और आमतौर पर प्रौढ़ अवस्था में 0.3 मिमी. से लेकर 1 मिमी. तक होती हैं। इनके अंडे और अर्भक या शिशु तो और भी अधिक छोटे होते हैं और कोरी आंख से दिखलाई नहीं पड़ते। चिचड़ियों में **सारकोप्टीज स्केबियाई** का उल्लेख युक्तिसंगत होगा। सामान्य भाषा में इसे मानव खुजली-किलनी (human itch mite) कहते हैं और जो पामा या स्केबीज़ (Scabies) का कारण है। अन्य रोगों के विपरीत, जो कि कीटों अथवा एकेराइन जंतुओं द्वारा संचारित किए या फैलाए जाते हैं, स्केबीज़ इस चिचड़ी की परजीविता (parasitism) का प्रत्यक्ष परिणाम है। प्रौढ़ मादा बाह्यत्वचा (epidermis) की श्रृंगी परत में बैठकर अंदर घुस जाती है (चित्र 130.3)। अंदर प्रविष्ट होकर इस तरह बनाए गए बिल में वह अंडे देती है और यही नहीं अंडे देने के साथ-साथ अपनी विष्ठा भी वहां पर विसर्जित कर देती है। त्वचा की सतह पर छह टांग वाले डिम्भक (लार्वा) फूटते हैं। जो आंशिक रूप से रोम पुटक (hair folicle) के छोटे छिद्रों में रहते हैं। इसके बाद डिम्भक अर्भक में परिवर्धित हो जाता है जो आठ टांगों वाला होता है। अर्भक भी डिम्भक की तरह का जीवन बिताता है। फिर यह अर्भक निर्मोचन (moult) के बाद या तो परिपक्व प्रौढ़ नर में अथवा अपरिपक्व मादा में परिवर्धित हो जाता है। ये दोनों अवस्थाएं उपत्वचा (cuticle) के अंदर बिल बनाती रहती हैं पर स्थायी सुरंगें नहीं बनातीं। निषेचन (fertilization) के उपरांत मादा पूर्ण प्रौढ़ आकार ग्रहण कर लेती है और स्थायी सुरंग बनाकर अंडे देने का काम शुरू कर देती है।

पामा (स्केबीज़) औषधियों के प्रयोग से ठीक की जा सकती है। इसकी सबसे प्रभावकारी औषधियां बेंज़िल बेंज़ोएट लोशन अथवा साबुन होते हैं। स्केबीज़ को अधिक विस्तार में अध्याय 30 में समझाया गया है।

निष्कर्ष :

मानव स्वयं को संसार का स्वामी समझता है, लेकिन उसके पृथ्वी पर आने के बहुत पूर्व ही कीटों ने आधिपत्य जमा लिया था। इस प्रकार मानव और कीटों का यह संघर्ष बहुत पुराने काल से चला आ रहा है और कीट नियंत्रण की आधुनिक विधियों और कीटनाशियों के विकास के फलस्वरूप इन शत्रुओं के प्रति मानव का पलड़ा अब कुछ भारी होता जा रहा है। लेकिन उधर कीटों ने भी मानव के प्रयत्नों को बेकार कर दिया है क्योंकि हमारे नए-नए प्रहारों के प्रति इन्होंने प्रतिरोध विकसित कर लिया है। इस तरह संघर्ष जारी है।

भले ही विज्ञान ने कितनी ही प्रगति कर ली है लेकिन आज के समय में भी वह बहुत पुरानी कहावत कि, "स्वच्छता ही ईश्वरपरायणता है" अभी भी उतनी ही सटीक है जितनी पहले कभी थी। अपने घर और पास-पड़ोस को स्वच्छता के नियमों के अनुसार सावधानी और निष्ठापूर्वक साफ-सुथरा रखने का सीधा परिणाम होगा कि हमारे परिवेश में कीट फटकेंगे ही नहीं।

• • •
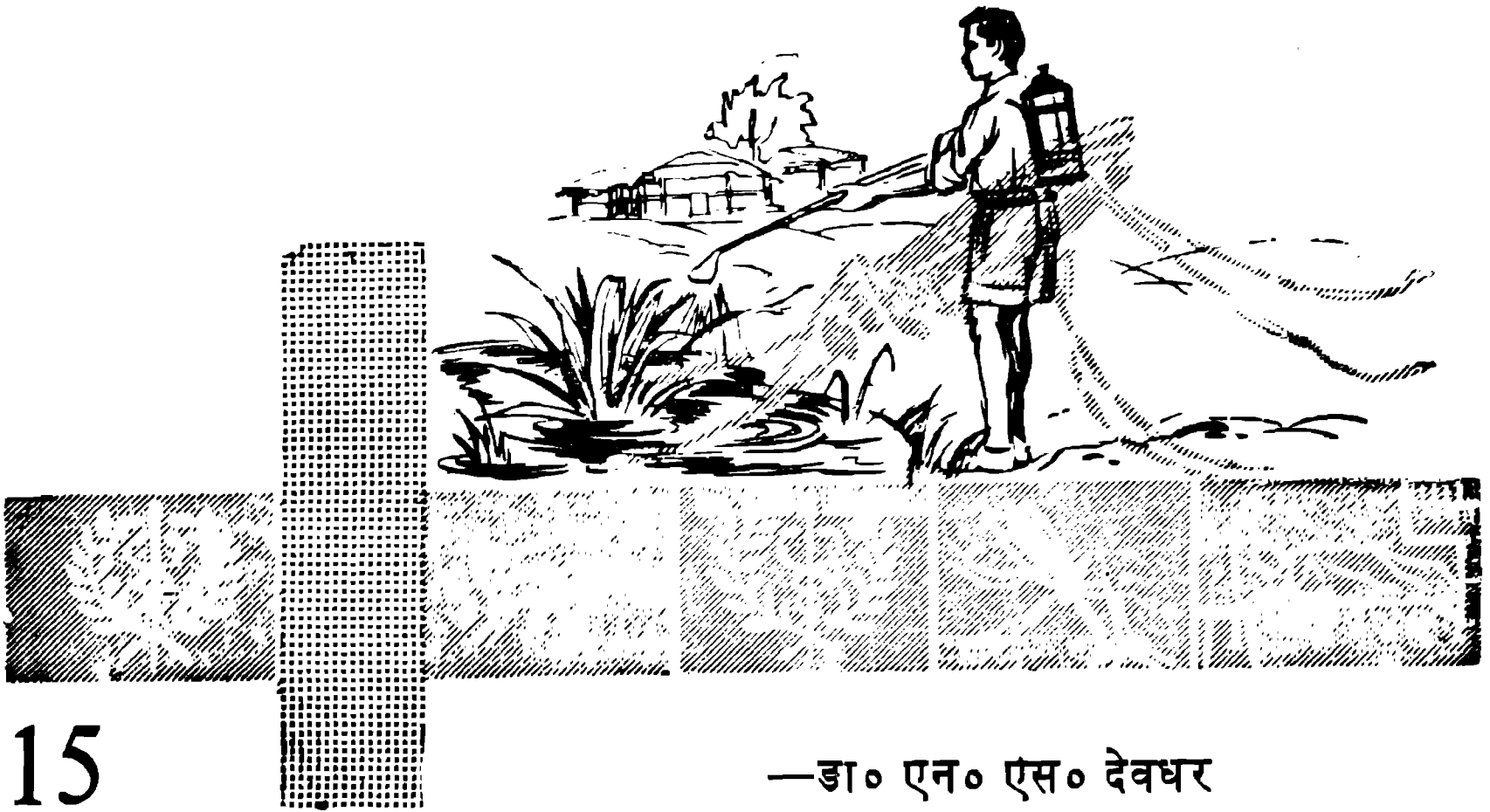
15

—डा० एन० एस० देवधर

कीट वाहित रोग

अभी कुछ ही समय पहले तक मलेरिया, प्लेग और टाइफस सरीखे कीटवाहित रोग मानव के लिए हानि की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण थे और हमारी अर्थ व्यवस्था व हमारे शक्ति स्रोतों पर उनका बहुत गहरा प्रभाव था। इनमें से अधिकांश रोगों का नियंत्रण द्वितीय महायुद्ध से संभव हो सका है और इसका श्रेय डी.डी.टी. सरीखे शक्तिशाली कीटनाशी को है। फिर भी फाइलेरिया रोग (श्लीपद) सरीखे ऐसे महत्वपूर्ण रोग हैं जो स्वास्थ्य की दृष्टि से अभी भी अहितकर हैं।

रोगों के वहन में या फैलाने में कीटों की अदाकारी कम महत्व की नहीं है और कुछ कीट अन्य प्रकार से हानिकारक हैं। इनकी भूमिका चौदहवें अध्याय में पहले ही वर्णित की जा चुकी है। कुछ सामान्य कीटवाहित रोगों का वर्णन यहां किया जा रहा है।

मलेरिया :

इसकी विशेषता है शीतकंप के साथ ज्वर, लेकिन अब इस रोग के प्रभावपूर्ण नियंत्रण से, जो कि कुछ ही समय पहले तक भारत में नंबर एक का मारक रोग था, मलेरिया के विशिष्ट लक्षणों का अब उतना महत्व नहीं रह गया है। राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम अब ऐसी क्रांतिक अवस्था पर पहुंच गया है कि निदान से किसी भी प्रकार का ज्वर मलेरिया के ज्वर की ही तरह खतरनाक समझा जाता है और तदनुसार उसका उपचार मलेरिया विरोधी दवाओं से किया जाता है। इससे यह होता है कि मलेरिया के किसी भी रोग में चूक नहीं होती।

मलेरिया का कारण एक प्रोटोज़ोआ जंतु है। एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में संक्रमण मादा एनोफलीज़ मच्छर से संपन्न होता है (चित्र 15.2)। और इसका पता लगाया था सर रोनाल्ड रॉस ने (चित्र 15.3)। जब मच्छर किसी मलेरिया के रोगी को काटता है तो वह खून के साथ कुछ रोगाणुओं को भी चूस लेता है। मच्छर के शरीर में इन रोगाणुओं का एक लैंगिक चक्र (sexual cycle)

* * * *

डा. एन.एस. देवधर, एम.एस., डी.पी.एच., डी.एच. वाई., प्रोफेसर एवं अध्यक्ष प्रीवेन्टिव एवं सोशल मेडिसिन विभाग, बी. जे. मेडिकल कालेज तथा ससून जनरल अस्पताल, पूना; सदस्य संपादक मंडल, "हम और हमारा स्वास्थ्य"।
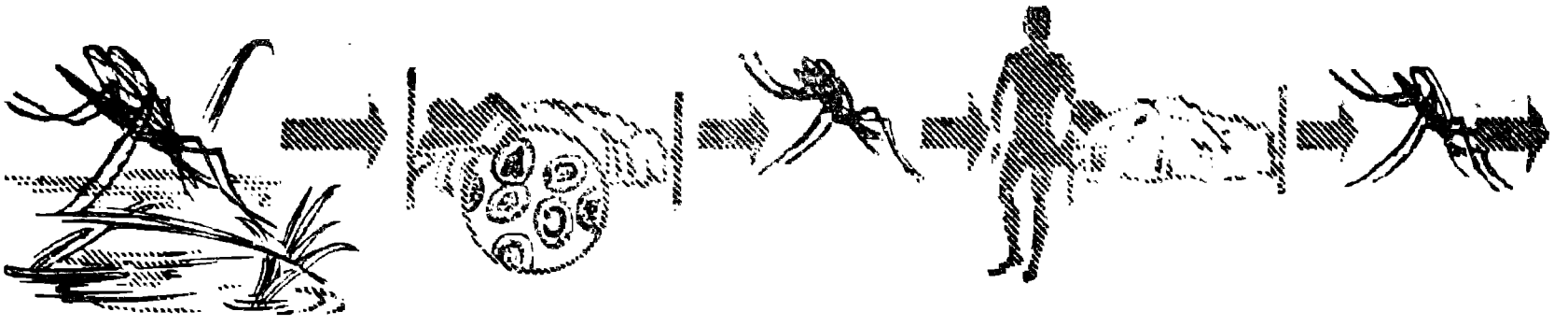
चित्र 15.2—मलेरिया कैसे फैलता है, यह प्रदर्शित करने वाला संचारण-चक्र।

चलता है और इसमें 7 से लेकर 10 दिन लगते हैं। ऐसा मच्छर जब किसी दूसरे व्यक्ति को काटता है तो ऐसा करने पर वह उस व्यक्ति के शरीर में कुछ रोगाणु संचारित कर देता है। फिर मानव के शरीर में अलैंगिक चक्र (asexual cycle) चलता है (चित्र 15. 4) और संक्रमण का परिणाम होता है लाल रुधिर कणिकाओं की विनष्टि। इसमें तीव्र अरक्तता हो जाती है और कभी कभी तिल्ली भी बढ़ जाती है। रुधिर की फिल्म में परजीवियों को बखूबी देखा जा सकता है, यदि उसे समुचित रूप से रंग करके सूक्ष्मदर्शी में देखा जाए।

चित्र 15.3—सर रोनाल्ड रॉस (1857—1932)
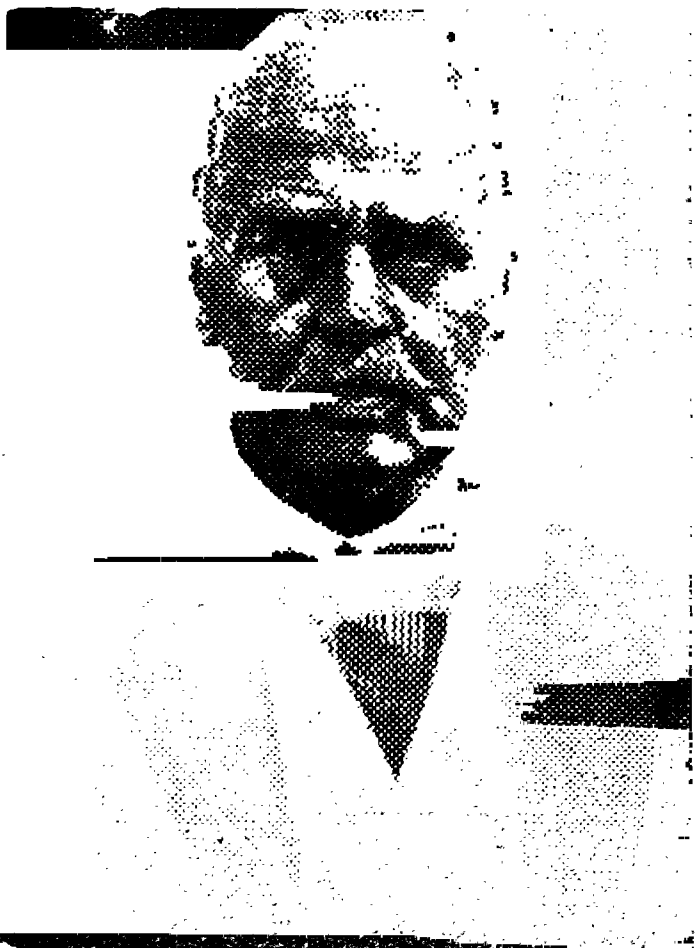
मलेरिया के नियंत्रण में सबसे महत्वपूर्ण उपाय है डी.डी.टी. का फुहारना (चित्र 15.5)। संक्रमी होने और मलेरिया संचारित करने के पहले तथा किसी मलेरिया के रोगी को काटने व उसका रक्त चूसने के बाद छह से दस दिन तक मच्छर का जीवित रहना जरूरी है। यदि इस दौरान मच्छर दीवारों पर छिड़के डी. डी. टी. के सम्पर्क में आता है (चित्र 15. 5) तो वह 2 से 3 दिन के अंदर मर जाता है और इस प्रकार मलेरिया का संचारण रुक जाता है। डी.डी.टी. छिड़कने के बाद भी अगर मच्छर दिखलाई पड़े तो इसका मतलब यह नहीं डी. डी. टी. छिड़कना बेकार रहा और इस तरह अधिक दिन तक यदि ये मच्छर जीवित नहीं रहते तो मलेरिया को नियंत्रित किया जा सकता है।

मलेरिया नियंत्रित करने की दूसरी विधि को कभी-कभार ही इस्तेमाल किया जा सकता है। इसमें सुरक्षा के लिए वैयक्तिक रूप से हर हफ्ते पैलुड्रीन और क्लोरोक्वीन नामक मलेरियारोधी औषधियों का सेवन, अथवा उघड़ी त्वचा पर नियमित रूप से मच्छर के प्रतिकर्षियों (repellents) की मालिश अथवा मच्छरदानी में सोना आदि क्रियाएं सम्मिलित हैं।

तीसरी और सबसे महत्वपूर्ण नई विधि ऐसी है जो केवल मलेरिया का नियंत्रण ही नहीं करती बल्कि उसका स्थायी उन्मूलन भी कर देती है और यह है ज्वर आने पर मलेरिया की निर्मूलक चिकित्सा (भले ही वह किसी कारण हो)। इस संदर्भ में सबको निम्नलिखित बातों की सलाह दी जाती है :—
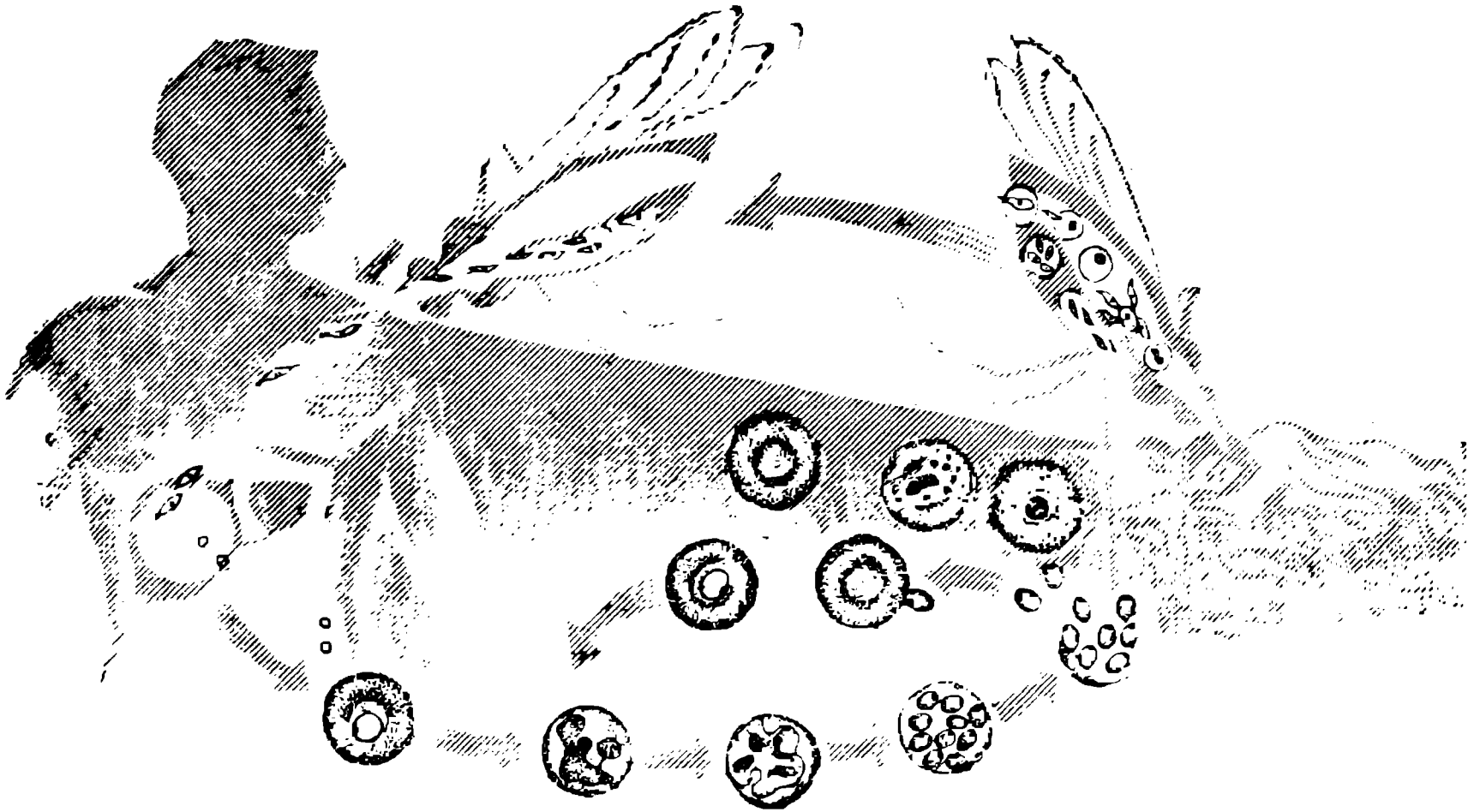
चित्र 15.4—मच्छर और मानव में मलेरिया-परजीवी का परिवर्धन

(1) मलेरिया अधिकारी अथवा स्वास्थ्य अधिकारी को रिपोर्ट करिए, जो रक्त निरीक्षण की व्यवस्था करेंगे। यह कार्य अब बहुत ही सरल हो गया है क्योंकि पंद्रह दिन में एक बार मलेरिया कार्यकर्ता नियमित रूपसे हर घर में आकर ज्वर वाले रोगियों के रक्त फिल्म बनाकर निरीक्षण के लिए ले जाता है। ज्वर होने पर हर मामले की रिपोर्ट उसी को दी जानी चाहिए और उसको हर प्रकार से सहयोग भी दिया जाना चाहिए।

(2) रक्त फिल्म बनाने के निमित रक्त लिए जाने के तुरंत बाद 600 मिग्रा. क्लोरोक्विन (3 से लेकर 6 टिकिया) निगल ली जानी चाहिए। ये औषधियां मुफ्त दी जाती हैं।

(3) रक्त-परीक्षण की रिपोर्ट धनात्मक होने पर, 5 दिन तक रोज प्रीमाक्विन नामक औषधि का 15 मिग्रा. लिया जाना चाहिए। यह औषधि

चित्र 15.5—मलेरिया के निरोध, नियंत्रण और उन्मूलन हेतु तीन प्रकार का आक्रमण
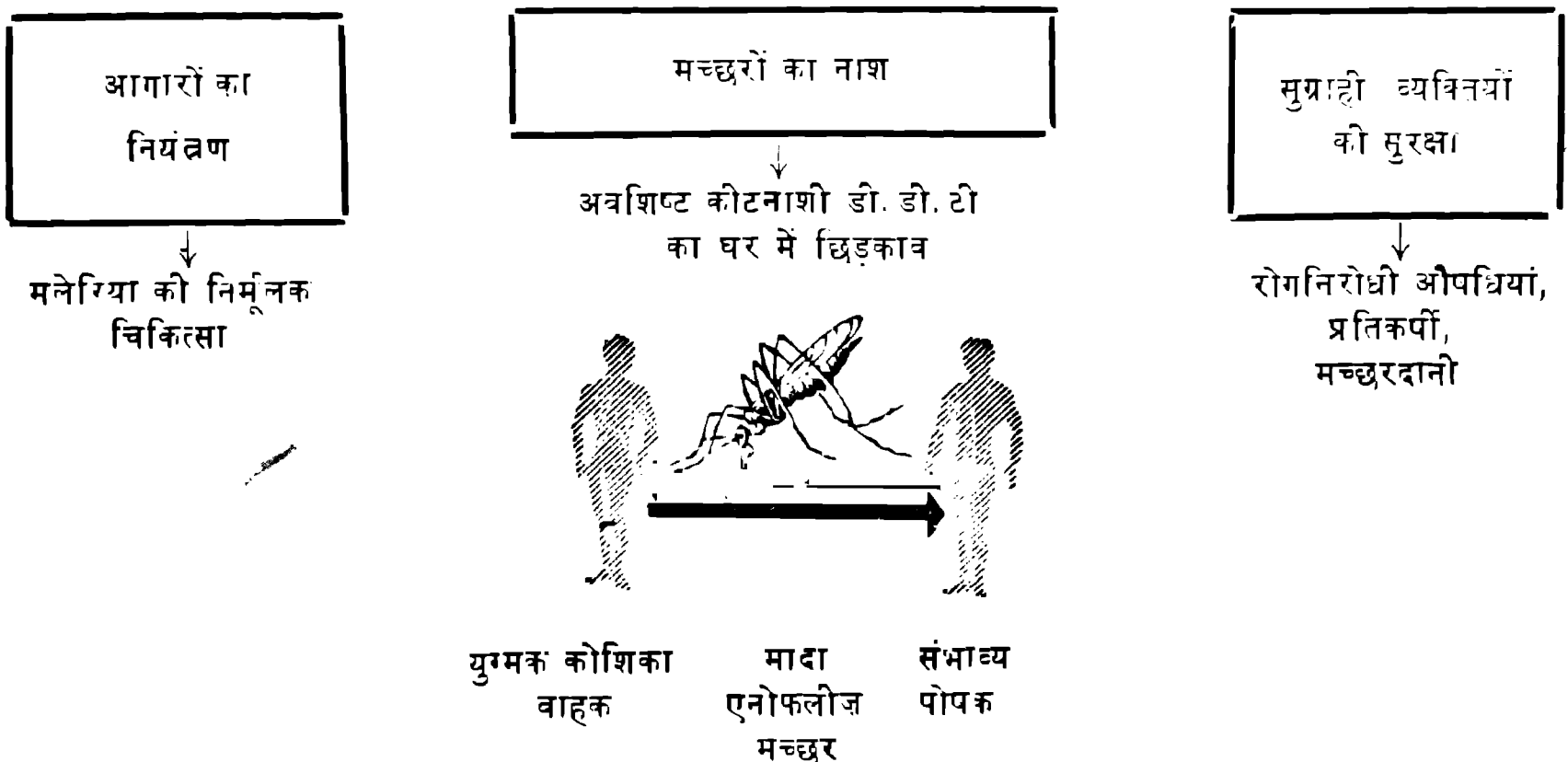
मलेरिया कार्यकर्त्ता द्वारा अब मुफ्त दी जाती है। इस चिकित्सा से यह सुनिश्चित हो जाएगा कि मलेरिया का पूरी तरह से उपचार हो गया है और दूसरे व्यक्तियों में यह फैलेगा नहीं क्योंकि अब यदि मच्छर काटेगा भी तो वह संक्रमित नहीं हो सकता।

अतः राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन प्रोग्राम में सहयोग देना हरएक का कर्तव्य हो जाता है कि देश से इस रोग का समूल नाश किया जा सके।

फाइलेरिया रोग (Filariasis):

टांगों, वृषण कोश (scrotum) तथा शरीर के अन्य भागों में सूजन होना इस रोग के अभिलक्षण हैं। इस रोग में टांगें सूजकर हाथी की टांगों की तरह हो जाती हैं इसलिए आमतौर पर इसे श्लीपद या फीलपांव भी कहते हैं (चित्र 15.6)।

फाइलेरिया रोग कई कृमियों (worms) के कारण होता है। लेकिन भारत में इसके लिए केवल दो कृमि ही उत्तरदायी हैं और इन्हें **वूकेरेरिया बेंक्रॉफ्टी** और **वूकेरेरिया मलायी** कहते हैं। एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में रोग का संचारण क्युलेक्स मच्छरों द्वारा होता है।

रोग की शुरुआत होने पर बार-बार ज्वर चढ़ता है और उतरता है। लसीका तंत्र (lymphatic system) में भी शोथ हो जाता है जहां कि प्रौढ़ कृमि रहते हैं। फिर भी, कई लोग ऐसे होते हैं जो संक्रमित होने पर भी रोग से पीड़ित नहीं होते। यद्यपि रोग से मृत्यु नहीं होती लेकिन कुरूपता, पीड़ा, और अशक्तता तो होती ही है।

प्रौढ़ कृमि बारीक और कुछ सेंटीमीटर लंबे होते है, जिनमें मादा की अपेक्षा नर छोटे होते हैं। ये लसीका तंत्र में ही रहते हैं और "माइक्रोफाइलेरिया" नामक शिशुओं को उत्पन्न करते हैं (चित्र 15.7)। ये माइक्रोफाइलेरिया सूक्ष्मदर्शीय तथा 1/5 मिमी. लंबे होते हैं और रात में खून लिए जाने पर रक्त में सूक्ष्मदर्शी की सहायता से देखे जा सकते हैं। जब किसी संक्रमित व्यक्ति से

चित्र 15.6—दाहिनी टांग का श्लीपद

मच्छर रक्त चूसता है तो मानव के लिए हानिकारक माइक्रोफाइलेरिया मच्छर के आमाशय में प्रवेश कर जाते हैं। करीब 10 से लेकर 20 दिन में ये माइक्रोफाइलेरिया परिवर्धित होकर संक्रमी डिम्भक (लार्वा) बन जाते हैं और जो अब मच्छर के मुखांगों में आ जाते हैं। जब कोई संक्रमित मच्छर किसी व्यक्ति को काटता है तो ये डिम्भक उसकी त्वचा में छोड़ दिए जाते हैं जो वहां से त्वचा के अंदर प्रविष्ट हो जाते हैं। अंततः वे लसीका-तंत्र में पहुंच कर प्रौढ़ कृमियों में परिवर्धित हो जाते हैं।

चित्र 15.7—माईक्रोफाइलेरिया
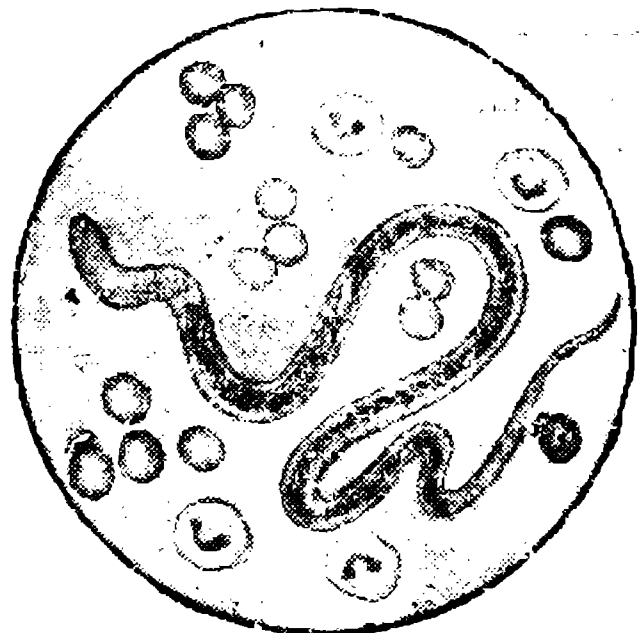
प्रतिरोध और चिकित्सा : एक बार सूजन हो जाने पर प्रभावित अंगों को ठीक करने के लिए शस्त्रकर्म के अलावा और कोई उपचार नहीं है।

इस रोग के नियंत्रण के लिए दो दिशाओं वाले उपाय हैं। इसमें से एक क्युलेक्स मच्छरों का नियंत्रण करना है और यह एक कठिन समस्या है क्योंकि डी डी टी सरीखे सामान्य कीटनाशी इस प्रकार मच्छरों के प्रति अप्रभावकारी सिद्ध हुए हैं। साथ ही गंदे पानी के जलाशयों वाले प्रजनन-स्थलों और डिम्भकों का नियंत्रण करना भी इतना ही कठिन है।

दूसरा रोगनिरोधी उपाय अधिक व्यावहारिक है। डाइएथिल कार्बेमेज़ीन नामक औषधि माइक्रोफाइलेरियों को नष्ट करने में सहायक होती है। रोग के उपचार में यह सक्रिय नहीं है। लेकिन यदि किसी क्षेत्र के लोग इस औषधि को लगभग एक हफ्ते लेते रहें तो उनके भीतर के माइक्रोफाइलेरिया मर जायेंगे और मच्छर संक्रमित नहीं होएंगे।

प्लेग :

पुराने समय में प्लेग ने करोड़ों लोगों को मौत के घाट उतारा है। अब इसके बारे में अधिक नहीं सुना जाता क्योंकि हाल के कुछ वर्षों से संसार में डी डी टी और अन्य कीटनाशियों का सर्वव्यापी प्रयोग जो होने लगा है। फिर भी रोग मृत नहीं हुआ है और हमें चौकस रहना चाहिए। इस रोग का अभिलक्षण है अधिक ज्वर और उरु-मूल (groin) अथवा बगल में गिल्टी। प्लेग **पास्चुरेला पेस्टिस** नामक रोगाणु के द्वारा उत्पन्न होता है (चित्र: 15.8) जो कि एक घातक जीवाणु (बैक्टीरियम) है। प्राथमिक रूप से तो यह कृन्तकों (rodents) का रोग है लेकिन संयोगवश यह मानव को भी प्रभावित कर देता है। एक चूहे से दूसरे चूहे में यह पिस्सुओं के द्वारा संचारित होता है। लेकिन जब प्लेग के कारण चूहे मर जाते हैं तो ये पिस्सू मृत चूहों के शरीर छोड़कर आसपास के व्यक्ति को काटकर उसके रक्त में प्लेग के रोगाणु पहुंचा देते हैं। अपने सामान्य रूप में तो गिल्टी वाला प्लेग एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में संचारित नहीं होता लेकिन चूहे से एक या अनेक मनुष्यों में अवश्य संचारित होता है।

चिकित्सा और नियंत्रण : अब प्लेग की प्रभावकारी चिकित्सा उपलब्ध है। पर रोग की खबर तुरंत ही डाक्टर को दी जानी चाहिए। रोगी को अस्पताल में पृथक् कमरे में रखा जाना आव-

चित्र 15.8—पिस्सू द्वारा प्लेग का चूहे से मानव में फैलना
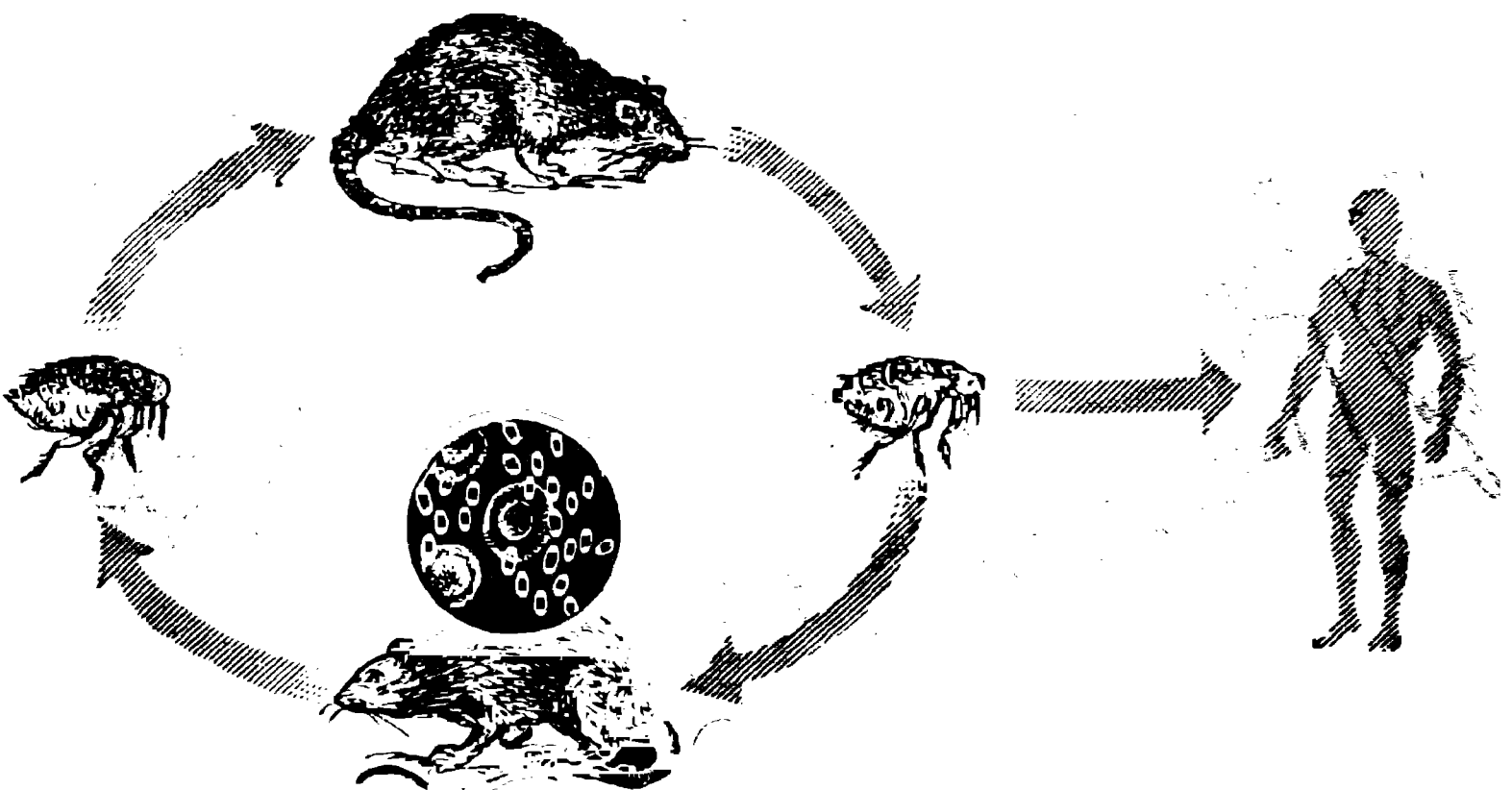
श्यक है। नियंत्रण-उपायों में चूहों का नाश, कीटनाशियों द्वारा पिस्सुओं का नाश और ऊंची चारपाइयों में सोना सम्मिलित है। ऊंची चारपाइयों में सोना इसलिए लाभकारी है कि पिस्सू 45 सेंमी. से अधिक ऊंचाई तक नहीं फुदक सकते। वैयक्तिक रूप से प्लेग से सुरक्षा के लिए प्लेग रोधी वैक्सीन के टीके लगाना लाभप्रद रहता है। और अनेक कीट वाहितरोग हैं, पर वे उतने महत्वपूर्ण नहीं हैं।

गिनी कृमि रोग या तारु रोग (Dracontiasis) :

इस रोग के अभिलक्षण हैं ज्वर, मतली, वमन आदि के अतिरिक्त जलन और खुजली वाली पुटिका (vesicle), जिससे फूट कर एक दूधिया सफेद तरल निकलता है। इस प्रकार की स्थानिक विक्षति आमतौर पर गुल्फ या टखने पर देखी जा सकती है, जहां पर प्रौढ़ मादा कृमि का सिर देखा जा सकता है। यदि इसमें असावधानी बरती जाय तो कृमि के टुकड़े हो जाते हैं और इससे आसपास के क्षेत्र में शोथ हो जाता है। इस तरह घाव पूतिक या विषाक्त हो सकता है।

यह रोग **ड्रैकनकुलस मेडीनेन्सिस** नामक कृमि के कारण होता है और इस कृमि को सामान्य भाषा में गिनी कृमि (guinea worm) कहते हैं। यद्यपि इस रोग का यहां कीटों द्वारा फैलाए जाने वाले रोगों के साथ वर्णित किया गया है लेकिन इसका संचारण कीट द्वारा नहीं किया जाता। एक मानव से दूसरे मानव में इसका संचारण "क्रस्टेसिया" वर्ग के संधिपाद प्राणी या आर्थोपोड (arthropod) द्वारा संचारित किया जाता है, जिसे साइक्लॉप्स कहते हैं (चित्र 15.9)। इसकी प्रौढ़ मादा एक मीटर लम्बी होती है। उदर से इसका प्रवास फिर अवत्वचीय ऊतक में, प्राय: टांग में, होता है। कृमि द्वारा उत्पन्न की गई पुटिकाओं के द्वारा डिम्भक पानी में विसर्जित कर दिये जाते हैं। ये डिम्भक फिर साइक्लॉप्स द्वारा निगल लिये जाते हैं (चित्र 15.9)। दो सप्ताह में ये संक्रमी हो जाते हैं और जब कोई मानव पानी के साथ साइक्लॉप्स भी निगल जाता है तो ये डिम्भक आमाशय में पहुंच जाते हैं। वहाँ ये ऊतकों में प्रवेश करते हैं और प्रौढ़ कृमियों में परिवर्धित हो जाते हैं। नर कृमि नष्ट होकर अवशोषित कर लिए जाते हैं। मादाएं त्वचा तक पहुंचकर इसके रोगलक्षणों की प्ररूपी या सामान्य तस्वीर प्रस्तुत करते हैं।

इससे बचाव बहुत सरल है। गंदे कुओं को समाप्त कर देना चाहिए। पानी को उबालने और

चित्र 15.9—ड्रैकनकुलस मेडीनेन्सिस
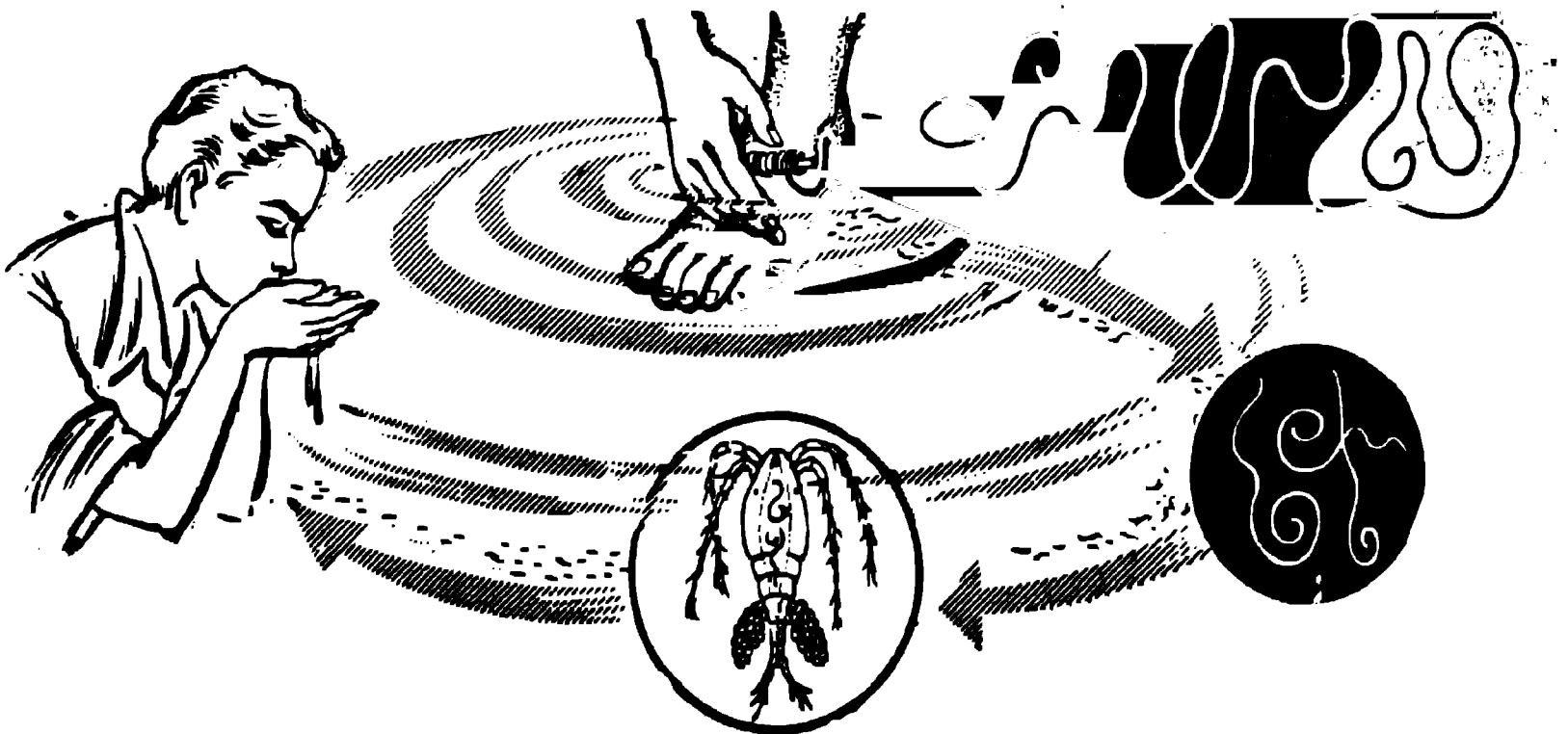
महीन मलमल के कपड़े से छानने के बाद पीने से साइक्लॉप्स का निराकरण हो जायेगा। इस बात की भी सावधानी बरतनी चाहिए कि गिनी कृमि रोग से ग्रस्त व्यक्ति पानी का संदूषण न करें। कोई अच्छी चिकित्सा नहीं है लेकिन अंतत: सभी रोगी ठीक हो जाते हैं। यह प्रसन्नता की बात है कि गंदे कुओं के पाटने से यह रोग बड़ी तेजी से समाप्त होता जा रहा है।

पीत ज्वर (Yellow fever):

कीटों द्वारा फैलाए जाने वाले अन्य रोग भी हैं लेकिन वे या तो असामान्य हैं या अधिक गंभीर नहीं हैं। इनमें से सबसे घातक रोग 'पीत ज्वर' है। प्रसन्नता की बात है कि भारत में यह नजर नहीं आता। यह अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका के कुछ भागों में पाया जाता है। यह रोग **एडीज एजिप्टी** नामक मच्छर से संचारित होता है। ये मच्छर भारत में भी पाये जाते हैं और सभी लोग इनके प्रति संवेदनशील होते हैं। इसीलिए स्वास्थ्य अधिकारी इसमें बहुत अधिक सतर्कता और सावधानी बरतते हैं कि यात्रियों द्वारा यह रोग भारत में भी कहीं प्रविष्ट न हो जाए। आधुनिक परिवहन के कारण यह समस्या उत्तरोत्तर अधिक महत्व की होती जा रही है क्योंकि इससे यात्रा अधिक और द्रुतता से होती जा रही है।

अंतर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य विनियमों के द्वारा यह अनिवार्य कर दिया गया है कि जो लोग संसार के पीत ज्वर वाले क्षेत्रों से यात्रा करते हैं या वहां की ओर जाते हैं तो उनको विधिवत् पीत ज्वर का टीका लगा होना चाहिए। इस प्रकार टीके से अर्जित प्रतिरक्षा 5 वर्ष तक चलती है।

• • •

16

—डा० वी० एन० भावे

श्वसन-अंग

ऊर्जा उत्पन्न करने और शरीर का तापमान एक-सा बनाए रखने के लिए कार्बोहाइड्रेट और वसा वाले खाद्य पदार्थ शरीर के ऊतकों में निरंतर जलाए जाते हैं। जलने की इस क्रिया में, जिसे आक्सीकरण (oxidation) कहते हैं, आक्सीजन की उपस्थिति आवश्यक होती है। आक्सीजन की आपूर्ति के लिए शरीर में सांस लेने की प्रक्रिया को प्रश्वसन (inspiration) कहते हैं और जलने या दहन के उत्पादकों यानी कार्बन-डाई-आक्साइड और पानी आदि को फेफड़ों से बाहर छोड़ने की क्रिया को निःश्वसन (expiration) कहते हैं। और इन दोनों क्रियाओं की मिलीजुली प्रक्रिया को श्वसन कहते हैं।

श्वसन-अंग :

श्वसन-अंग हैं, नाक, ग्रसनी (pharynx) अथवा गला, स्वरयंत्र (larynx), श्वासनली (trachea/windpipe), श्वसनियां (bronchi) और फेफड़े (चित्र 16.2)। मध्यपट (diaphragm) और पसलियों के बीच की पेशियां (अंतरापर्शुक पेशियां—inter-costal muscles) श्वसन में महत्वपूर्ण योग देती हैं।

नाक :

नाक की गुहिका (cavity) हड्डी और उपास्थि (cartilage) के विभाजन या पट (septum) द्वारा दो में बंटी होती है। बाहरी भित्ति में दोनों ओर तीन शेल्फ-जैसे प्रक्षेप होते हैं जिन्हें शुक्तिका (conchi) अथवा नासाशुक्तिका (turbinates) कहते हैं। नासा-गुहिका के ऊपर और दोनों ओर अस्थि गुहिकाएं या विवर (sinus) होते हैं जिनमें उष्ण या गरम वायु होती है (चित्र 16.2) नासा-गुहिका से संपर्क रखने वाले ये विवर कभी-कभी संक्रमण के केंद्र बन जाते हैं और इस दशा को वायु-विवरशोथ (sinusitis) कहते हैं। नाक से होकर गुजरने वाली हवा कुछ नमी और उष्णता श्लेष्मा-कला (mucous membrane) से प्राप्त करती है क्योंकि श्वसनियों और फेफड़ों को सूखी और

* * * *

डा. वी. एन. भावे, एम. बी., बी. एस, जनरल मेडिकल प्रैक्टिशनर, विज्ञान की अनेक स्कूली पाठ्य पुस्तकों के लेखक, सदस्य, संपादक मंडल, 'हम और हमारा स्वास्थ्य'।

चित्र 16.2—श्वसन-अंग

चित्र 16.3—फेफड़ों को आवृत्त करने वाले फुप्फुसावरण-कोश
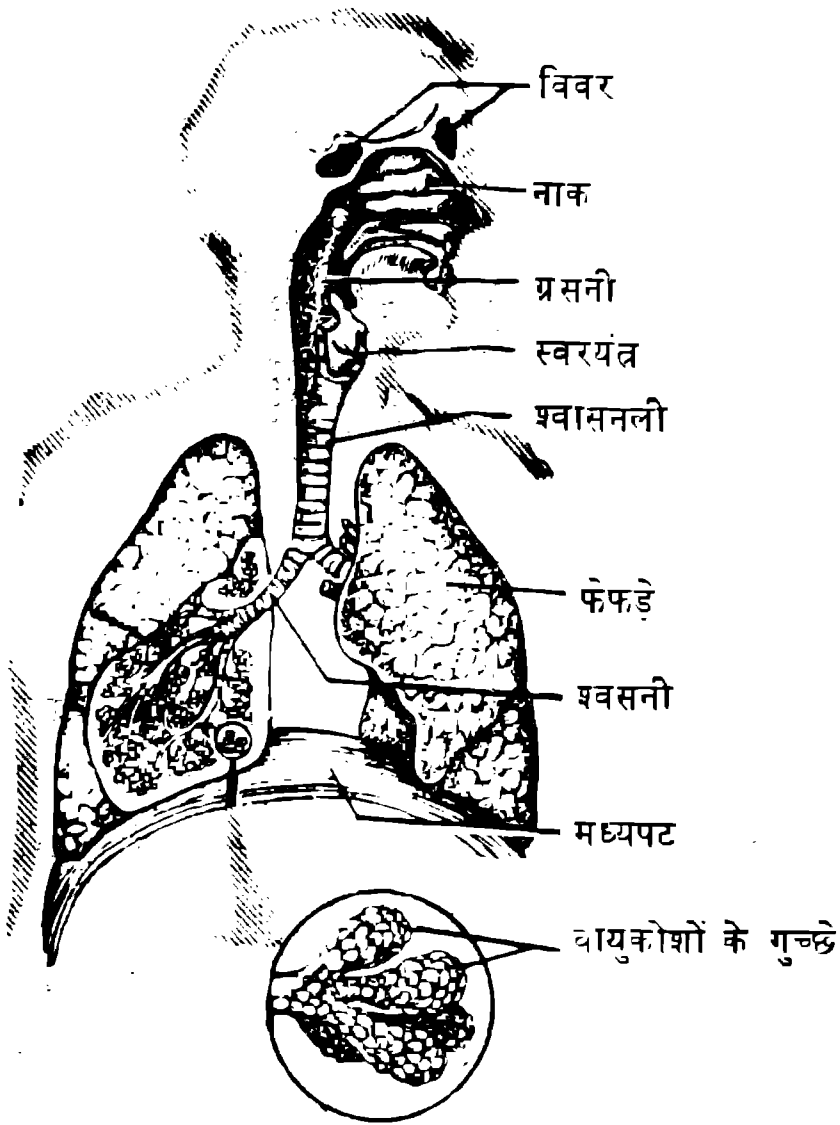
ठंडी हवा के कुप्रभाव से बचाना बहुत जरूरी है। मुंह से सांस लेने वाले बच्चे शीत और छाती के अन्य रोगों के प्रति अधिक सुग्राही हो सकते हैं।

गला, श्वासनली और श्वसनियां :

नाक से हवा गले और श्वासनली से होते हुए छोटी शाखाओं या श्वसनियों में पहुंचती है, जो आगे पेड़ की शाखाओं की तरह और अधिक उप-विभाजित होते हुए फेफड़ों में फैल जाती हैं।

फेफड़े या फुप्फुस :

फेफड़े संख्या में दो होते हैं और ये वक्ष की सारी गुहा में पसरे होते हैं और केवल हृदय के लिए ही जगह छोड़ते हैं। प्रत्येक फेफड़ा मुलायम झिल्ली की दोहरी परत वाले थैले से आवृत रहता है जिसे फुप्फुसावरण (pleura) कहते हैं (चित्र 16.3)। फुप्फुसावरण की बाहरी परत वक्षीय गुहा की भीतरी सतह का अस्तर बनाती है और भीतरी परत निरंतर पहली के साथ चलते हुए फेफड़े की बाहरी सतह को आवृत करती है। फुप्फुसावरण की दोनों परतें एक दूसरे के संपर्क में रहती हैं और इनके बीच में इतना तरल होता है कि फेफड़ों के फैलने और सिकुड़ने में अन्य अंगों से उनका घर्षण नहीं होता। फुप्फुसावरण में शोथ हो जाने की दशा को फुप्फुसावरणशोथ या प्लूरिसी कहते हैं।
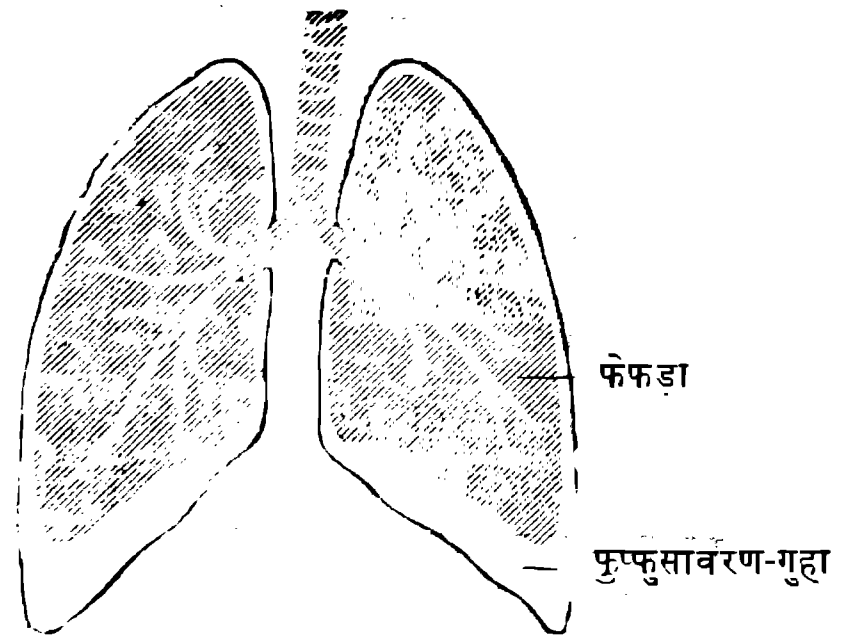
प्रत्येक फेफड़ा स्लेटी रंग का होता है और पालि (lobes) कहलाने वाले पृथक भागों में आंशिक रूप से विभाजित होता है। ये पालियां पुन: और छोटे भागों में उपविभाजित होती हैं जिन्हें पालिकाएं (lobules) कहते हैं और जिनमें एक श्वासनलिका प्रवेश करती है। अन्तत: श्वस-निका (bronchiole) कहलाने वाली श्वसनी की एक बहुत बारीक शाखा का अनेक कोशों में अंत हो जाता है और जिनमें प्रत्येक की दीवारों में उभार होते हैं। ये उभार या फूले हुए भाग वायुकोश (alveoli/air sacs) कहलाते हैं (चित्र 16.4) और जो बहुत पतली दीवारों वाले होते हैं। इनमें चारों ओर केशिकाओं (capillaries) का जाल होता है और ये केशिकाएं भी बहुत पतली दीवारों वाली होती हैं। वायु कोश की वायु वाली आक्सीजन दोनों पतली दीवारों से होकर सुगमता से विसरित हो जाती है और रक्त कोशिका (चित्र 23.2) में पहुंच जाती है। फिर सोखी गई यह
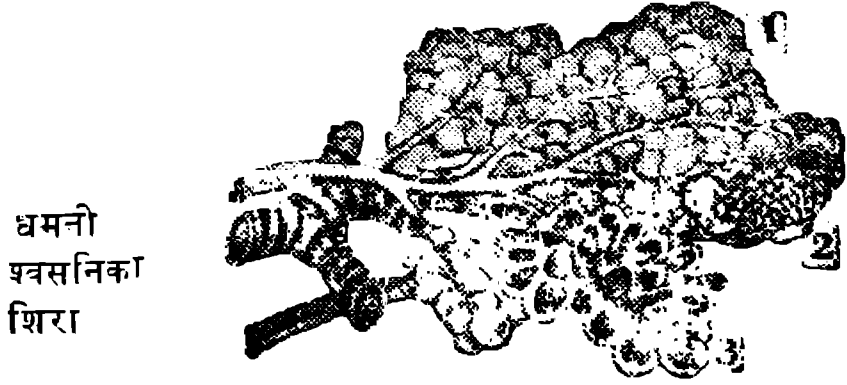
चित्र 16.4—फेफड़ों की बारीक रचना
1. वायु कोशों के गुच्छे, 2. वायु कोशों के गुच्छे, केशिकाओं से ढके हुए, 3. भीतरी भाग दिखाते हुए वायु कोशों की काट।

चित्र 16.5—वायु कोश और गैसीय विनिमय

आक्सीजन हीमोग्लोबिन के संयोग में आक्सीहीमोग्लोबिन के रूप में लाल रुधिर कणिकाओं से होकर शरीर के विभिन्न अंगों को ले जाई जाती है और रक्त वाहिकाओं की कार्बन-डाई-आक्साइड और जल वाष्प वायु कोश में विसरित हो जाती है जहां से ये निःश्वसन के समय बाहर निकाल दी जाती है (चित्र 16.5)। आक्सीजन अंदर लेने और कार्बन-डाई-आक्साइड तथा अन्य गंदगियों को बाहर निकालने के मिले-जुले प्रक्रम को रक्त का आक्सीजनीकरण (oxygenation of blood) कहते हैं और यह श्वसन के द्वारा संपन्न होता है। फेफड़े स्पंज की तरह होते हैं और वायुकोशों में लचीले रेशों की उपस्थिति से प्रश्वसन के समय वे आसानी से फूल सकते हैं और निःश्वसन के समय लचीलेपन से सिकुड़ कर वायु को बाहर फेंक सकते हैं।

श्वसन की प्रक्रिया :

मध्यपट एक गुंबदाकार पेशीय विभाजन होता है, जो वक्ष और उदरीय गुहा के बीच में स्थिर होता है। संकुचन के समय यह समतल हो जाता है और इस तरह वक्ष का आकार बढ़ा देता है। इसके अतिरिक्त अंतरापर्शुक पेशियां भी संकुचित होकर पसलियों को ऊपर उठाती हैं। इससे वक्षीय गुहा और अधिक बड़ी हो जाती है। इस प्रकार इस बढ़े हुए स्थान की जगह लेने के लिए लचीले फेफड़े फैलते हैं और इसके परिणामस्वरूप फेफड़ों के खाली स्थान को भरने के लिए शुद्ध वायु नाक से होकर अंदर पहुंच जाती है। यह क्रिया प्रश्वसन कहलाती है (चित्र 16.6)। जब मध्यपट और अंतरापर्शुक पेशियां शिथिल होती हैं तो वक्षीय गुहा आकार में कम हो जाती है और वायु फेफड़ों से बाहर धकेल दी जाती है। यह क्रिया निःश्वसन कहलाती है (चित्र 16.6)। प्रश्वसन के समय अंदर आने वाली वायु की आक्सीजन रक्त में प्रवेश कर जाती है। इसके विपरीत निःश्वसन के समय कार्बन-डाई-आक्साइड और जल-वाष्प सरीखे रक्त के अशुद्ध पदार्थ शरीर के बाहर निष्कासित कर दिए जाते हैं। प्रश्वसन और निःश्वसन की ये दोनों क्रियाएं मिलकर श्वसन कहलाती हैं और यह श्वसन एक मिनट में 17 से लेकर 18 बार तक होता है।
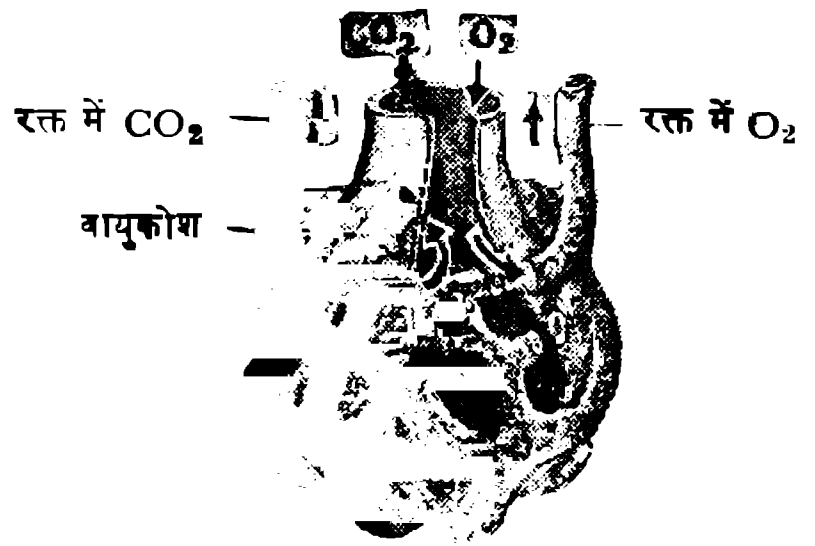
चित्र 16.6—मध्यपट की क्रिया
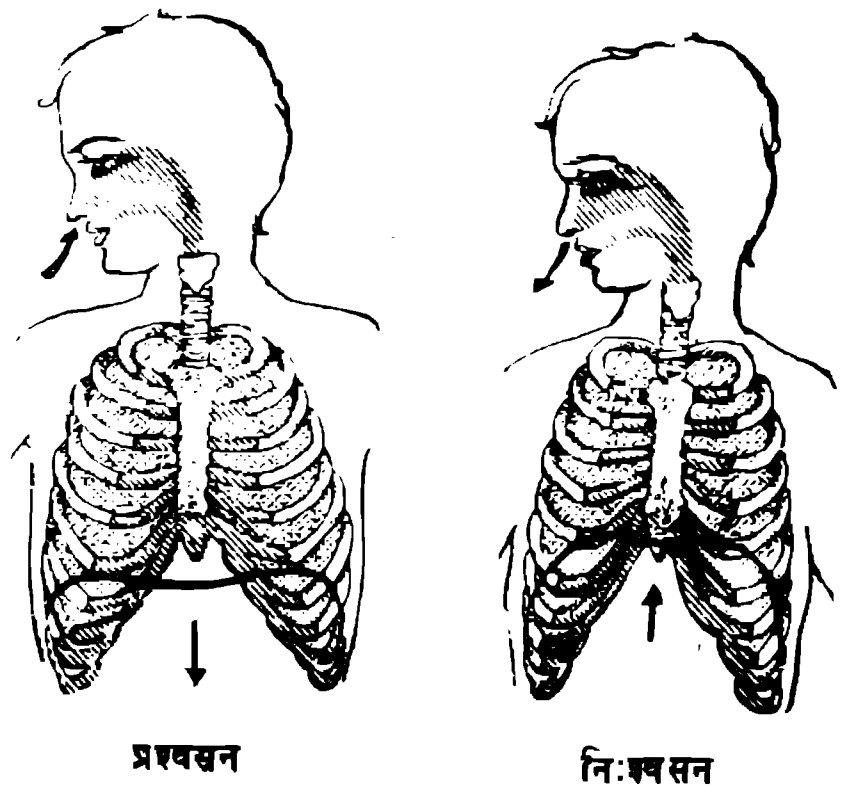
सामान्य और गहरा श्वसन :

सामान्य निःश्वसन के बाद एक व्यक्ति अपने फेफड़ों में 3000 घसें. वायु समाए रखता है । प्रत्येक शांत प्रश्वसन में वह 500 घसें. वायु अंदर खींचता है जिसमें से केवल 300 से लेकर 350 घसें. वायु ही वायु कोशों तक पहुंचती है क्योंकि कम से कम 150 घसें. तो श्वसन-पथ (नाक, ग्रसनी, श्वासनली और श्वसनी) में ही रह जाती है । गहरे निःश्वसन के बाद फेफड़ों में केवल 1500 घसें. वायु रोक के रखी जाती है और यदि इसके बाद गहरा प्रश्वसन होता है तो 3500 घसें. वायु अंदर ली जा सकती है (चित्र 16.7) । इस प्रकार बाहर और भीतर गहरे श्वसन से सामान्य फेफड़ों के संवातन (ventilation) को 8 से 10 गुना तक बढ़ाया जा सकता है और इससे गैसीय विनिमय बहुत तीव्रता से होता है । वायु की यह मात्रा यानी 3500 घसें. वायु, जो गहरे निःश्वसन के बाद अंदर ली जाती है, फेफड़ों की जैविक क्षमता (vital capacity) कहलाती है और इसका निर्धारण प्रायः बहुत गहरे प्रश्वसन के बाद पूरी छोड़ी गयी वायु की मात्रा को मापकर किया जाता है । स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से प्रत्येक व्यक्ति को दिन में कम से कम कुछ मिनटों के लिए श्वमन वाला व्यायाम करना चाहिए ताकि फेफड़ों की जैविक क्षमता में वृद्धि की जा सके ।

चित्र 16.7—सामान्य और गहरे श्वसन में फेफड़ों की क्षमता में परिवर्तन

फेफड़ों में वायु घसें. में

शांत प्रश्वसन के बाद 3500
शांत निःश्वसन के बाद 3000 500
अधिकतम प्रश्वसन के बाद 5000
अधिकतम निःश्वसन के बाद 1500 3500
जैविक क्षमता

• • •
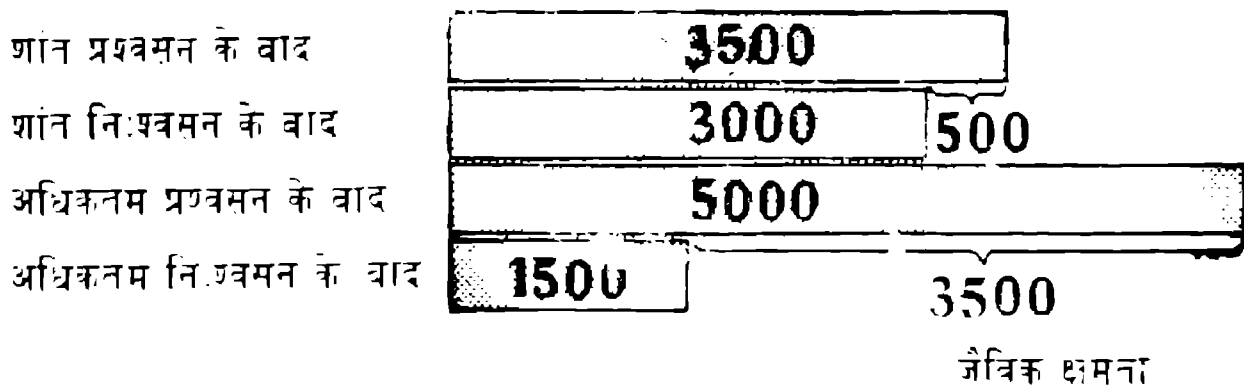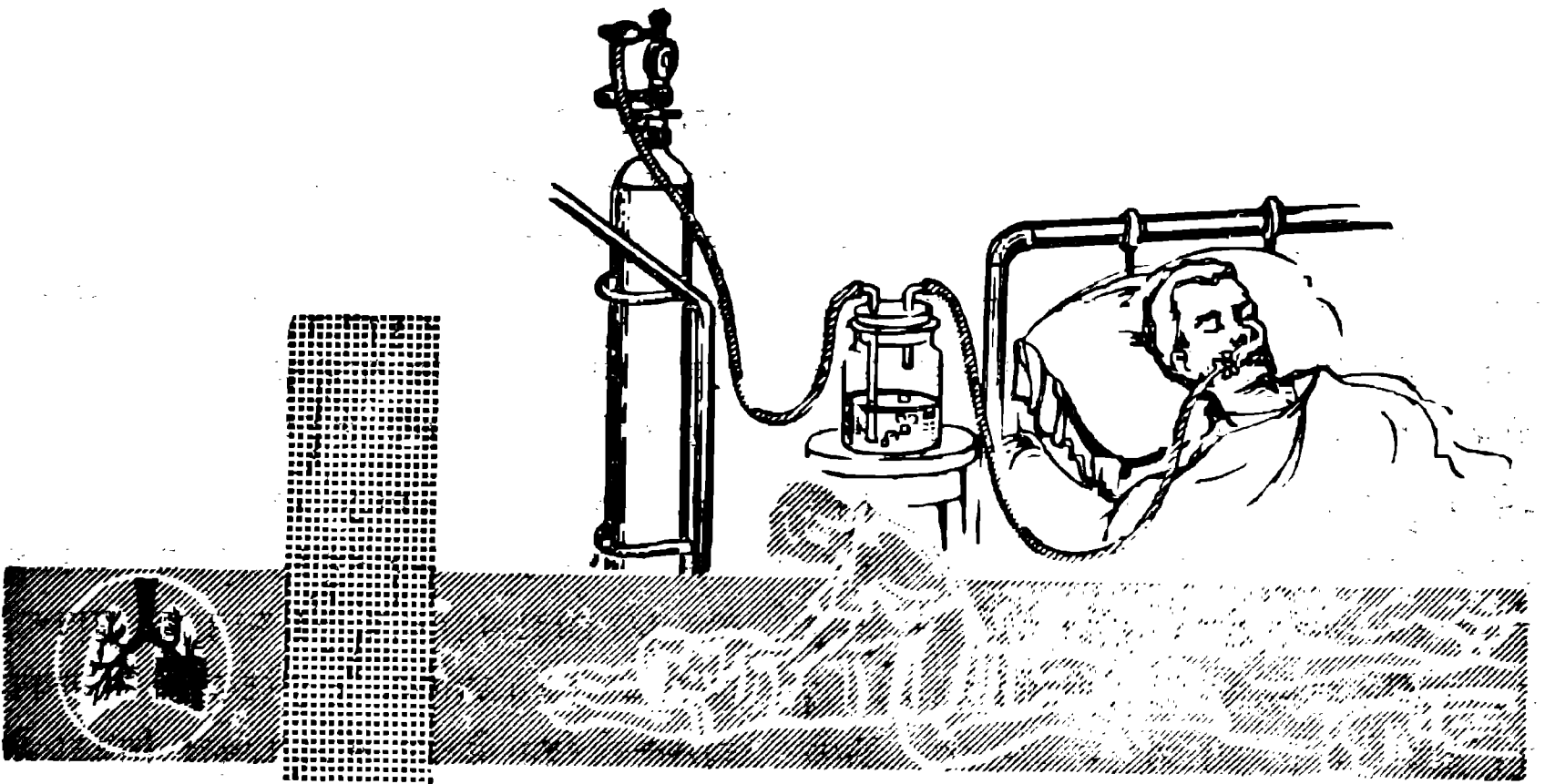
17

—डा० सी० एन० चंद्रचूड़

श्वसन-तंत्र के सामान्य रोग

श्वसन-पथ के रोग शरीर रचना संबंधी स्थिति, शरीर क्रियात्मक प्रभाव और निरंतर संक्रमण के सम्पर्क में रहने के कारण आमतौर पर होते रहते हैं। फिर इनके लक्षण भी इसी बात पर निर्भर करते हैं कि ऊपरी श्वसन -क्षेत्र का संक्रमण हुआ है या निचले श्वसन-क्षेत्र का।

महत्वपूर्ण लक्षण :

1. **कास या खांसी** : आमतौर पर सबसे अधिक शिकायत इसी की होती है। यह संक्रमण, भौतिक क्षोभ अथवा किसी प्रतिवर्त (reflex) के कारण हो सकती है। यह बहुत तीव्र (acute) भी हो सकती है जैसे कि स्वरयंत्रशोथ (laryngitis), श्वसनीशोथ (bronchitis), न्युमोनिया व श्वसनी-न्युमोनिया (broncho-pneumonia) में और चिरकारी (chronic) भी हो सकती है जैसे कि चिरकारी स्वरयंत्रशोथ, चिरकारी श्वसनीशोथ, श्वसनीविस्फार (bronchiectasis) तथा फुप्फुसीय यक्ष्मा में। खांसी सूखी भी हो सकती है या इसके साथ थूक भी आ सकता है। खांसी प्रवेगी (paraxysmal) भी हो सकती है, जैसे काली खांसी में।

2. **थूक या कफ (sputum)** : यह सफेद, पीला अथवा स्पष्ट रूप से सपूय या पीपदार (purulent) हो सकता है। इस बात की जानकारी बहुत जरूरी है इसकी मात्रा कितनी है, देखने में कैसा है, रंग कैसा है, गंध कैसी है, किस प्रकार निकलता है और स्थिति बदलने पर क्या इसकी मात्रा पर प्रभाव पड़ता है। इसमें खून भी हो सकता है, जैसे कि यक्ष्मा में।

3. **रक्तनिष्ठीवन (Haemoptysis)** : इसका अर्थ है खून थूकना। यह बहुत महत्वपूर्ण लक्षण है। यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि वास्तव

* * * *

डा. सी. एन. चंद्रचूड़, एम. बी., बी. एस. (बंबई), एम. आर. सी. पी. (लंदन); भूतपूर्व अवैतनिक काय-चिकित्सक, बी. जे. मेडिकल कालेज तथा ससून जनरल अस्पताल, पूना; भूतपूर्व उपाध्यक्ष, इंडियन मेडिकल एसासिएशन।

में क्या यह फेफड़ों से ही आया है और आमाशय से क़ै के रूप में नहीं आया है। श्वसन-पथ से आने वाला खून हमेशा चमकीला लाल और झागदार होता है। रक्तनिष्ठीवन हल्का भी हो सकता है और उग्र भी। उग्र रक्तनिष्ठीवन प्रायः निम्न रोगों में होता है :—(1) फेफड़ों की यक्ष्मा, (2) श्वसनीविस्फार, (3) फेफड़ों के कैन्सर, और (4) हृद् रोग, विशेषकर द्विकपर्दी संकीर्णता (mitral stenosis) में।

4. वेदना (pain) : इसका सामान्य कारण प्लूरिसी है और रोगी जब गहरी सांस लेता है तो इसमें वृद्धि हो जाती है। छाती की वेदना हृद् रोगों के कारण हो सकती है, जैसे कि हृद्धमनी रोग में।

5. कष्ट श्वास (Dyspnoea) : जैसा कि नाम से स्पष्ट है इसका अर्थ है सांस लेने में कठिनाई होना। कष्ट श्वास श्वसन-पथ के तीव्र अथवा चिरकारी रोगों के कारण हो सकता है और इसके सामान्य कारण निम्नलिखित हैं : (1) किसी बाहरी वस्तु, डिफ्थीरिया-झिल्ली, विपाशन (strangulation) अथवा तीव्र शोफ (oedema) द्वारा वायु पथ का अवरोध, (2) न्युमोनिया और श्वसनी-न्युमोनिया जैसे फेफड़ों के रोग, (3) श्वसनी-ऐंठन, जैसे दमा में। चिरकारी कष्ट श्वास निम्न बातों से हो सकता है—(1) वायु पथ पर दबाव से, जैसे अर्बुद (tumour) अथवा एन्यूरिज़्म में, (2) फेफड़े के ऊतक के नाश से, जैसे फेफड़ों की वात-स्फीति (emphysema) अथवा द्विपार्श्विक तंतुमयता (bilateral filbrosis) में, और (3) फेफड़े के व्यापक निपात (collapse) से। यह कष्ट श्वास श्वसन-पथ के रोगों के अतिरिक्त अन्य रोगों से भी हो सकता है, जैसे हृद् रोग अथवा चिरकारी वृक्क (गुर्दा) रोग से।

श्वसन-रोगों के निदान में सामान्य शारीरिक निरीक्षणों के अलावा थूक और रक्त का परीक्षण तथा छाती का एक्स-रे निरीक्षण आवश्यक है।

सामान्य रोग और उनकी देखभाल :

1. जुकाम : यह एक बहुत सामान्य रोग है और इसमें यदि शुरू में ही सावधानी नहीं बरती गई तो इससे श्वसन-पथ के अन्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे गल शोथ, श्वसनी शोथ आदि। जुकाम का वर्णन विस्तार में अगले अध्याय 'सामान्य वायु वाहित रोग' में किया गया है।

2. ग्रसनीशोथ (pharyngitis) : यह ग्रसनी अथवा गले का शोथ अथवा सोजिश है। हल्का होने पर यह रोग केवल निगलने की असुविधा, गले की खुश्की व चुनचुनाहट तथा हल्की खांसी ही कर सकता है। गले की संकुलता भी कम रहती है। इसकी उग्रता में गला बिल्कुल लाल हो सकता है और गले में दर्द, बोलने व निगलने में कठिनाई हो सकती है और साथ ही कमजोरी और ज्वर भी हो सकता है। ग्रसनीशोथ तीव्र दैहिक (systemic) संक्रमण का एक कारण हो सकता है। कुछ लोग गल-शोथ के प्रति सुग्राही होते हैं और उन्हें बार-बार यह होता रहता है और इसके कारण वही हैं जो जुकाम में बताए गये हैं। शीत, नम मौसम, क्षोभकारी धुएं, धूम्रपान और अधिक बोलने-चालने से परहेज रखना चाहिए।

गले का शोथ होने पर तुरंत ही ध्यान देना चाहिए अन्यथा यह रोग निचले श्वसन क्षेत्र तक बढ़ सकता है। इसमें आराम करना चाहिए। गर्म पानी के गरारे, शामक गले का पेन्ट (थ्रोट पेन्ट) लगाना और गर्म पेयों का प्रयोग लाभदायक रहता है। यदि रोग उग्र है और ऐसी दशा कुछ दिन से अधिक चलती है तो डाक्टर की सलाह लेनी चाहिए। बच्चों के मामले में कुछ घंटे प्रतीक्षा करना भी खतरनाक सिद्ध हो सकता है क्योंकि इसका कारण डिफ्थीरिया भी हो सकता है, जो कि धीरे-धीरे प्रभाव डालता है। इसलिए बच्चों को तुरंत ही डाक्टर के पास ले जाना चाहिए ताकि डिफ्थीरिया के खतरे से दूर रहने के लिए सही समय पर उपचार किया जा सके।

3. स्वरयंत्रशोथ और श्वासप्रणालशोथ (Tracheitis) : यह स्वरयंत्र और श्वासनली का शोथ या सोजिश है । यह जुकाम के आक्रमण के दौरान संक्रमण के फैलने अथवा क्षोभकारी पदार्थों के सूंघने, जोर से आवाज निकालने अथवा अत्यधिक धूम्रपान से भी हो सकता है। छाती की हड्डी के पीछे दर्द, क्षोभकारी खांसी और आवाज बैठना इसके लक्षण हैं।

गर्म पानी के गरारे, गर्दन की गर्म सेंक, पूतिरोधी चूष (लॉजेंज), ऐस्पिरीन और फेनासिटीन पाउडर का मुंह द्वारा प्रयोग, टिंचर बेंजोइन वाली भाप का सूंघना आदि प्रायः लाभकारी रहता है।

4. श्वसनीशोथ : यह तीव्र अथवा चिरकारी दोनों हो सकता है। तीव्र श्वसनीशोथ में रोगी सिर में शीत की, छाती की हड्डी के पीछे दर्द की और थूक या बिना थूक वाली खांसी की शिकायत करता है। उसे कुछ तापमान और कष्ट श्वास भी हो सकता है। चिरकारी श्वसनीशोथ में रोगी को खांसी होती है जो रात के समय बहुत ही तकलीफदेह होती है और कम या अत्यधिक मात्रा में थूक भी आता है। उसे कष्ट श्वास हो सकता है। रोग से अन्य जटिलताएं भी उत्पन्न हो सकती हैं, जैसे कि श्वसनी-न्युमोनिया अथवा न्युमोनिया। ठंड के मौसम में श्वसनीशोथ का आक्रमण आम बात होती है, जो ठंड पकड़ने या क्षोभक धुएं के अभिश्वसन (inhalation) से शुरू होता है।

इसकी तीव्र अवस्था में रोगी को आराम करना चाहिए और उसे उस कमरे में रखा जाना चाहिए जिसमें हवा आने-जाने का अच्छा प्रबन्ध हो। ठंडी हवाओं से बचना चाहिए। रोगी को गर्म रखा जाना चाहिए और उसे हर समय हल्की गर्म जैकेट पहने रखनी चाहिए। गर्म पानी में टिंचर बेंजोइन का सूंघना लाभकारी होता है। डाक्टर द्वारा बताई गई सल्फा अथवा प्रतिजीवी (ऐन्टीबायोटिक) औषधियों से भी फायदा पहुंचता है। यदि रोग लंबा चलता है तो पूरी तरह से निरीक्षण और चिकित्सा के लिए डाक्टर के पास जाना चाहिए।

5. श्वसनीविस्फार (Bronchiectasis) : यह श्वसनी नलिकाओं के विस्फारण या फैलाव की अवस्था है। संक्रमण और लगातार खांसने के परिणामस्वरूप अंतःश्वसनी दाब में वृद्धि हो जाने से श्वसनी की दीवारें दुर्बल हो जातीं हैं और इसी कारण यह रोग होता है। इसके अभिलक्षण हैं—खांसी, दुर्गंधयुक्त अत्यधिक थूक, सांस लेने में कठिनाई तथा खून की खांसी।

इसके उपचार के लिए प्रायः सामान्य स्वास्थ्य में सुधार, स्थितिज निकास (postural drainage) और शस्त्रकर्म संबंधी चिकित्सा का सुझाव दिया जाता है।

6. न्युमोनिया : यह फेफड़ों का तीव्र शोथ है, इसका आक्रमण अचानक ही हो जाता है और आरंभिक अवस्थाओं में छाती में दर्द होना, तापमान में वृद्धि होना और नाड़ी व श्वसन की तीव्रता इसके विशेष लक्षण हैं। जंग वाले रंग के थूक सहित खांसी होती है और बीमारी की अवधि प्रायः एक सप्ताह होती है।

इस रोग में रोगी की परिचर्या बहुत महत्वपूर्ण है। रोगी को अच्छे संवातन वाले कमरे में पूरी तरह से आराम करना चाहिए। इसमें रोगी को तरल खाद्य पदार्थ देने चाहिए और आंतों की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए तथा औषधियों के रूप में पेनिसिलिन अथवा स्ट्रेप्टोपेनिसिलिन सरीखी प्रतिजीवी औषधियां देनी चाहिए। सर एलेक्जेंडर फ्लेमिंग (चित्र 17.2) द्वारा की गई पेनिसिलिन की खोज से न्युमोनिया अब एक आम रोग नहीं रह गया है और इसकी अवधि व उग्रता को बहुत कम कर दिया गया है।

7. श्वसनी-न्युमोनिया : यह रोग प्रायः बच्चों और बड़े बूढ़ों में अधिक होता है। यह श्वसनीशोथ काली खांसी, खसरा, इनफ्लूऐंजा और अन्य

चित्र 17.2–सर एलेक्जेंडर फ्लेमिंग
(1881–1955)

दुर्बलकारी अवस्थाओं की जटिलता से भी हो सकता है। आक्रमण धीरे-धीरे होना, तापमान में वृद्धि और खांसी के साथ थूक आना इसके अभिलक्षण हैं। इसकी देखभाल और चिकित्सा बहुत कुछ न्युमोनिया जैसी होती है।

8. फुप्फुसावरणशोथ या प्लूरिसी : यह फेफड़ों का अस्तर बनाने वाली झिल्ली का शोथ है। सामान्यतया प्लूरिसी जब यक्ष्मा के कारण होती है तो प्राथमिक और जब श्वसनी अथवा फेफड़ों के रोगों के कारण होती है तो द्वितीयक कहलाती है। इसका अभिलक्षण है छाती में दर्द होना, जो गहरी सांस लेने पर बढ़ जाता है। इसके अलावा अन्य अभिलक्षण हैं सूखी व क्षोभकारी खांसी और तापमान में वृद्धि। एक या दो हफ्ते में इसका आक्रमण कम हो सकता है। कुछ में इसके बाद फुप्फुसावरण गुहा (pleural cavity) में तरल भी इकट्ठा हो सकता है और इस अवस्था को नि:सरणमय फुप्फुसावरणशोथ (pleurisy with effusion) कहते हैं (चित्र : 17.3)। इस प्रकार तरल के जमा हो जाने पर श्वसन में कठिनाई हो सकती है। यह तरल निर्मल या साफ भी हो सकता है अथवा पूय (pus) भी बना सकता है और ऐसी दशा में इसको अन्त:पूयता (empyema) कहते हैं।

प्लूरिसी के तीव्र होने पर रोगी को अच्छे संवातन वाले कमरे में हल्के आहार पर रखा जाना चाहिए। दर्द से छुटकारा दिलाने के लिए, जो कि रोगियों की आम शिकायत होती है, डाक्टर द्वारा सेंकाई, पार्श्व में पट्टी चिपकाने और वेदनाहर दवाएं लेने की सलाह दी जाती है। यदि तरल जमा हो जाता है तो वह तभी निकाला जाता है जबकि ऐसे संकेत दिखाई दें, जैसे कि श्वसन में कठिनाई, तापमान में वृद्धि, हृदय का विस्थापन, तरल का बहुत अधिक जमाव आदि। यह सोचकर कि इसके करीब 25 प्रतिशत रोगी फुप्फुसीय यक्ष्मा से पीड़ित होते हैं, रोगियों को प्रत्यक्ष देख-

चित्र 17.3—नि:सरणमय प्लूरिसी दिखलाता हुआ छाती का एक्स-रे
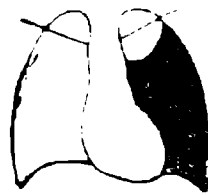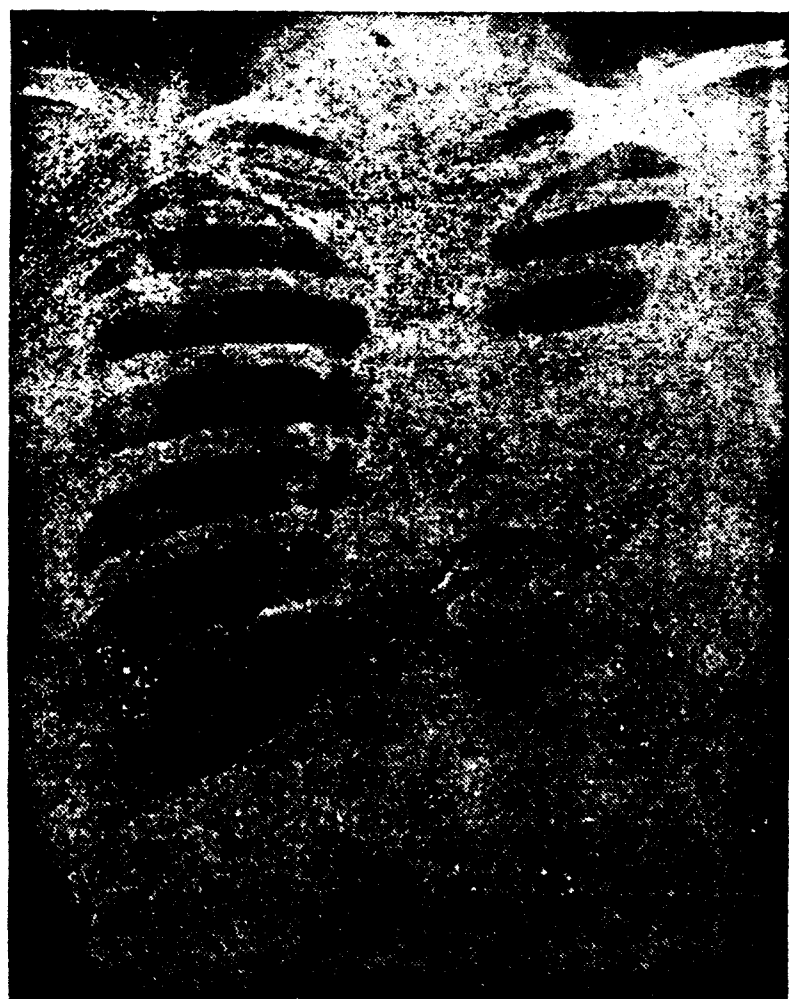
रेख में रख कर समय-समय पर उनका निरीक्षण किया जाता है।

9. दमा (Asthma) : दमा की विशेषता यह है कि इसमें समय-समय पर सांस लेने में कठिनाई वाले दौरे पड़ते रहते हैं और श्वसन की यह कठिनाई मुख्यतया निःश्वसन के समय महसूस की जाती है। इस प्रकार का यह दौरा अचानक ही पड़ता है। ये लक्षण प्रमुख रूप से श्वसनी पेशियों की ऐंठन और श्लेष्मा कला के सूजन के परिणामस्वरूप श्वसनी नलिकाओं के अचानक सिकुड़ने के कारण होते हैं। इस तरह रोगी की सांस रुकने लगती है और वह छटपटाने लगता है। इसलिए सांस लेने के लिए उसे श्वसन संबंधी सभी पेशियों को सक्रिय करना होता है। उसे खांसी और छाती में घरघराहट की आवाज हो सकती है। यह दौरा कुछ घंटों से लेकर कुछ दिनों तक अथवा निरंतर कई दिनों तक चल सकता है। यह दौरा कुछ दिनों या हफ्तों या महीनों के अंतराल से फिर हो सकता है।

दौरा पड़ने पर दमा के रोगी की देखभाल : रोगी को सहारा देकर ऐसी स्थिति में रखना चाहिए जिसमें कि उसे आराम मिले। तुरंत ही डाक्टर को बुलवाना चाहिए। सामान्यतया एड्रीनेलीन क्लोराइड अथवा एमीनोफालीन का अवत्वचीय (subcutaneous) इंजेक्शन दौरे से राहत देता है। हल्के दौरे में डाक्टर की सलाह पर ली गई एफिड्रीन हाइड्रोक्लोराइड की टिकियों से आराम मिलता है। रोगी के कमरे के दरवाजे और खिड़कियां खुली रखी जानी चाहिए ताकि संवातन अच्छी तरह से हो सके। रोगी ने यदि कसे कपड़े पहन रखे हैं तो उन्हें ढीला कर दिया जाना चाहिए। कब्ज और पेट की वायु दूर करने की तरफ भी ध्यान दिया जाना चाहिए। श्वसन की कठिनाई से छुटकारा पाने के लिए रोगी कभी-कभी धतूरे, स्ट्रेमोनियम, पोटेशियम नाइट्रेट और बेलाडोना की पत्तियों की सिगरेटें पीते हैं, लेकिन इन्हें निरुत्साहित किया जाना चाहिए क्योंकि इनके प्रयोग से चिरकारी श्वसनीशोथ उत्पन्न होने का भय रहता है। दौरे की समाप्ति पर उन सभी कारकों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिए जिनसे कि दौरा पड़ता है ताकि बाद में पड़ने वाले दौरों से बचा जा सके।

दौरों के बीच देखभाल : इसके अंतर्गत उन सभी बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है जो कि दौरे का कारण होती हैं।

(क) ऐलर्जी कारक का बहिष्कार —दमा ऐलर्जी (कृपया 'ऐलर्जी' वाला अध्याय 45 देखिए) अथवा किसी पदार्थ के प्रति अतिसंवेदनशीलता की अभिव्यक्ति है और यह पदार्थ प्रायः कोई प्रोटिन, कोई औषधि अथवा कोई भी पदार्थ हो सकता है जो कि अंतर्ग्रहण अथवा अभिश्वसन द्वारा शरीर में पहुंचता है। कोई व्यक्ति सामान्य खाद्य पदार्थों के प्रति अतिसंवेदनशील हो सकता है, जैसे कि अंडा, दूध, गेहूं, चाकलेट, सेम, आलू अथवा एस्पिरीन जैसी औषधियों के प्रति और इसी तरह घोड़े के उत्सर्ग (dander), पिच्छों (परों), फफूंदियों (moulds) अथवा पराग के प्रति जिनका यदि अभिश्वसन किया जाता है। त्वचा परीक्षण द्वारा विभिन्न पदार्थों के प्रति अतिसंवेदनशीलता का पता चल सकता है, जिसे कि आसानी से छोड़ा जा सकता है। लेकिन प्रायः ऐलर्जी कारक का निर्धारण संभव नहीं हो पाता। रक्त में श्वेत कोशिकाओं (चित्र 23.4) की इओसिनरागी (eosinophil) प्रकार की कोशिकाओं की वृद्धि भी ऐलर्जी की उपस्थिति द्योतित करती है। दमा के रोगियों में दमा का प्रायः पारिवारिक इतिहास होता है।

(ख) वातावरणी दशा कुछ लोगों में बादलों वाला वातावरण और नमी की वृद्धि प्रायः दौरे को बढ़ावा देती है। लेकिन इसके विपरीत अन्य लोगों में ठंडा व सूखा मौसम ही दौरे का कारण हो सकता है। इसलिए व्यक्ति को स्वयं

ही यह पता लगाना होता है कि कौन-सा मौसम अनुपयुक्त है ताकि उससे बचा जा सके।

(ग) शरीर रचना संबंधी दोष—नासा पोलीपस, विपथी पट अथवा अतिवर्धित नासा-शुक्तिका (turbinate) अस्थि की उपस्थिति भी दौरे को प्रेरित कर सकती है। इसलिए इनका भी तदनुसार उपचार किया जाना चाहिए।

(घ) संक्रमण की चिकित्सा—ऊपरी श्वसन-क्षेत्र के संक्रमण से, विशेषकर वयोवृद्धों में, दौरा पड़ सकता है। ऐसे लोगों को ठंड से अपनी रक्षा करनी चाहिए और यदि संक्रमण हो भी जाये तो चिकित्सा जल्दी शुरू कर देनी चाहिए।

(ड.) जठर-आंत्र कारक भी दौरे को बढ़ावा दे सकते हैं। पाचन-क्षेत्र का कब्ज, दुष्पचन आदि गड़बड़ियों पर ध्यान दिया जाना चाहिए। उन आहार संबंधी कारकों से परहेज करना चाहिए जिनके कारण पहले दौरा पड़ा हो।

(च) मनोवैज्ञानिक कारक आवेशात्मक आघात, अतिचिंता और चिड़चिड़ेपन से दौरे के अन्य कारणों को बढ़ावा मिलता है।

अनुभव द्वारा रोगी अपने रोग को स्वयं ही अच्छी तरह आंक सकता है कि किन कारणों से दौरा पड़ा था, और उन कारणों का वह निराकरण कर सकता है। यदि उसे जल्दी ही दौरे पड़ने की आशंका है तो दौरे को टालने के लिए डाक्टर से पूछकर एफिड्रीन हाइड्रोक्लोराइड की टिकिया तुरंत ही ले लेनी चाहिए।

10. अन्य रोग : इन्फ्लुएंजा, काली खांसी, डिफ्थीरिया आदि संक्रामक रोग, जो श्वसन-अंगों को प्रभावित करते हैं, अगले अध्याय में वर्णित किए गए हैं। फुप्फुसीय यक्ष्मा के बारे में अध्याय 19 में समझाया गया है।

• • •

18

—डा० एस० पी० दत्ता
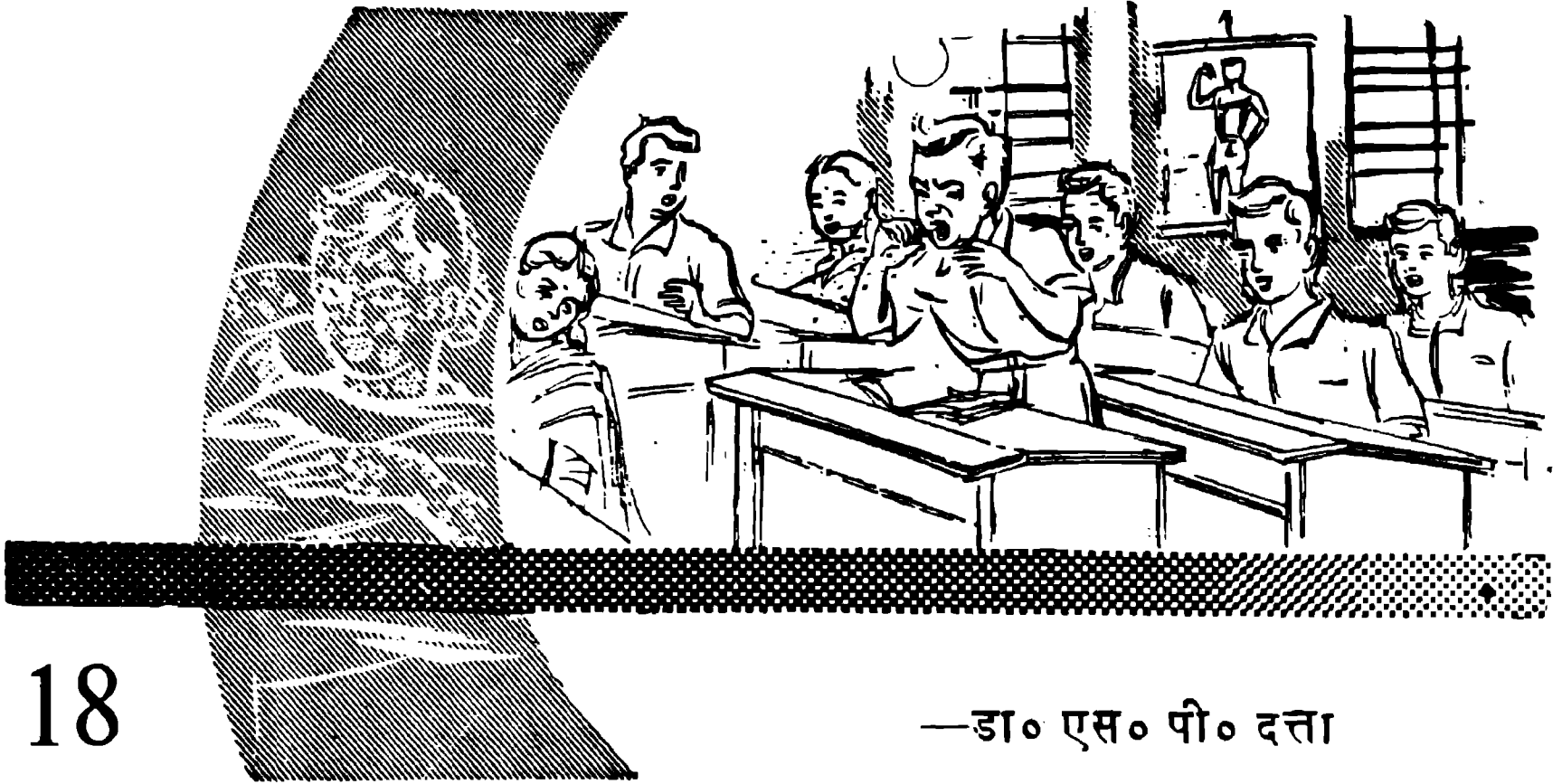
सामान्य वायु-वाहित रोग

ये रोग रोगाणुओं द्वारा फैलते हैं, जो रोगियों अथवा स्वस्थ वाहकों से नन्हीं-नन्हीं बूंदों या छींटों के रूप में बातचीत करते, हंसते, खांसते, छींकते, थूकते व नाक साफ करते हुए बिखेर दिए जाते हैं। ये बूंदें इतनी छोटी हो सकती हैं कि हवा में ही लटकी रह जाती हैं या बड़ी भी हो सकती हैं कि दिखलाई दे सकें (चित्र 19.3)। कई ऐसे रोग हैं जो इसी तरह फैलते हैं लेकिन इस अध्याय में केवल सामान्य रोग ही वर्णित किए गए हैं, जैसे कि जुकाम, इन्फ्लुएंजा, चेचक, खसरा, छोटी-माता, काली खांसी, गलसुआ और डिफ्थीरिया। यक्ष्मा को अलग से अध्याय 19 में समझाया गया है। शायद ही कोई हो जिसे जुकाम और खसरा का अनुभव न हो।

चेचक, काली खांसी और डिफ्थीरिया का बचाव तो बचपन में टीके लगाकर किया जा सकता है लेकिन अन्य रोगों की जटिलताओं को रोकने और उल्लाघ (convalescence) कम करने के लिए स्वच्छता के सामान्य नियमों और डाक्टर की सलाह पर अमल किया जा सकता है। खांसते, छींकते अथवा नाक साफ करते समय रूमाल का इस्तेमाल एक बहुत अच्छी आदत है और इससे इन रोगों के प्रसार को काफी हद तक कम किया जा सकता है।

जुकाम :

आम भाषा में इसे बुरी ठंड अथवा सिर की ठंड भी कह देते हैं। इससे नाक, श्वासनली और वायु-पथ का शोथ हो जाता है। बहुत कम व्यक्तियों में यह साल भर चलता है लेकिन शरद, शीत और बसंत के महीने में मौसम के अनुसार वृद्धि हो जाती है।

यह रोग एक विषाणु (वाइरस) के कारण होता है, जो इस रोग से पीड़ित रोगियों के मुंह, नाक और गले से विसर्जित होने वाले पदार्थों में विद्यमान होता है। यह प्रत्यक्ष संपर्क अथवा खांसते, छींकते और बोलते समय बिखरे छींटों से फैलता है। अप्रत्यक्ष रूप से संक्रमित व्यक्ति के वर्ज्य पदार्थों से दूषित वस्तुओं से फैल सकता है। विषाणु के अलावा जुकाम से पीड़ित होने के अन्य कारण भी हैं। कुछ लोग जुकाम के प्रति कुछ अधिक

* * * *

डा. एस. पी. दत्ता, एम. बी., बी. एस., डी. पी. एच., सी. एम., प्रोफेसर, प्रीवेन्टिव व सोशल मेडिसिन, मेडिकल कालेज, पांडुचेरी।

संवेदनशील होते हैं। अत्यधिक थकान, दुर्बलकारी दशाएं और ठंडे व आर्द्र मौसम की ठंड का प्रभाव विषाणु के प्रति शरीर की रोधक्षमता को कम कर देता है। केवल ठंडे मौसम से जुकाम नहीं हो जाता, लेकिन मौसम में जो अचानक परिवर्तन होता है वह अवश्य जुकाम करने में योग देता है। इसलिए जुकाम से बचने के लिए इन कारकों को अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए। रोग का आरंभ नाक के क्षोभ, बेचैनी, सिरदर्द, छींकने, नाक से पानी निकलने और गले के हल्के शोथ से होता है। प्राय: इसमें ज्वर नहीं होता।

बाद में नाक से विसर्जित होने वाला तरल सपूय हो जाता है और शोथ श्वासनली तक फैल जाता है जिससे खांसी क्षोभकारी और आवाज फटी-सी हो जाती है। इस अवस्था में हल्का ज्वर भी हो सकता है। लेकिन कुछ को अधिक ज्वर भी हो सकता है। जटिलताएं नहीं होतीं तो सब लक्षण 4-7 दिन में समाप्त हो जाते हैं। रोग घातक नहीं होता। बच्चे और बूढ़ों में इससे कभी-कभी न्युमोनिया हो जाता है और कान से भी एक प्रकार का आस्राव निकलने लगता है। इस अवस्था में यह खतरनाक हो जाता है। हृद् रोग, दमा और फेफड़े के रोगों से पीड़ित लोगों में भी यह खतरनाक हो जाता है।

जब किसी व्यक्ति को यह रोग हो जाता है तो उसे सुसंवातन वाले कमरे में बिस्तर पर आराम करना चाहिए और बच्चों, बूढ़ों तथा परिवार के अन्य सदस्यों के संपर्क में नहीं आना चाहिए। छींकते, खांसते तथा बोलते समय उसे अपने मुंह और नाक को ढक कर रखना चाहिए (चित्र 18.2)। नाक और गले से विसर्जित होने वाले सभी पदार्थ रूमाल अथवा एक कागज में लिए जाने चाहिए और फिर इन्हें या तो उबाल लेना चाहिए या जला देना चाहिए। रोगी के खाने और पीने वाले बर्तन अलग रखे जाने चाहिए।

ऐस्पिरीन, गरम नमकीन पानी के गरारे और

चित्र 18.2—रूमाल का इस्तेमाल

गरम पानी का प्रयोग बेचैनी को कम करता है। रोग का कोई विशेष इलाज नहीं है और रोगी को लक्षणों के समाप्त होने तक बिस्तर पर ही आराम करना चाहिए।

रोगी को अधिक ज्वर होने पर अथवा किसी प्रकार की अन्य जटिलता होने पर, जैसे कि आवाज बैठने या कान में दर्द होने पर, डाक्टर की सलाह लेनी चाहिए। खुद ही अपने इलाज में नहीं लगा रहना चाहिए।

लोगों में यह धारणा व्याप्त है कि जुकाम से पीड़ित होने पर यदि व्यक्ति बिस्तर पर आराम करने लगता है तो रोग और बढ़ जाता है। लेकिन यह बिलकुल गलत धारणा है। अपने और समुदाय के हित में, रोगी को अपने काम करने वाले स्थान अथवा सार्वजनिक स्थानों में नहीं जाना चाहिए ताकि और लोग इससे ग्रस्त न हों और जटिलताएं उत्पन्न न हों।

जुकाम की कोई विशिष्ट वैक्सीन नहीं है। बाजार में जुकाम की उपलब्ध वैक्सीनों अथवा अन्य औषधियों का रोग के बचाव में कोई महत्व नहीं है। गल-शोथ, श्वसनीशोथ, न्युमोनिया, कान के दर्द आदि की जटिलताओं से बचाव तभी संभव है जब जुकाम का इलाज शुरू में ही कर लिया जाय।

इनफ्लूएंजा :

सामान्यतया इसको 'फ्लू' कहते हैं और यह एक संक्रामक रोग है। इससे ज्वर और सारे शरीर में दर्द होता है और जुकाम की तरह नाक, गला और वायु-पथ प्रभावित होते हैं। इक्का दुक्का व्यक्तियों में भले ही रोग की पहचान न की जा सके लेकिन महामारी में पहचान मुश्किल नहीं होती।

यह रोग विभिन्न प्रकार के इनफ्लूएंजा विषाणुओं के कारण होता है, जो संक्रमित व्यक्तियों के मुंह और नाक के आस्रावों (discharges) के द्वारा बाहर आते हैं। यह रोग जुकाम की ही तरह फैलता है। इसका आरंभ ज्वर, सिरदर्द, गल-शोथ, शीत, छींक और बेचैनी के साथ सारे शरीर में दर्द से होता है। सावधानी बरतने पर ज्वर प्राय: 4-6 दिन बाद उतर जाता है। लेकिन असावधानी से न्युमोनिया, श्वसनीशोथ और कान का संक्रमण हो सकता है जो कि खतरनाक लक्षण हैं।

यदि कोई व्यक्ति अपने को रोगी अनुभव करता है तो उसे जुकाम की ही तरह सावधानियां बरतनी चाहिए। कोई भी स्वास्थ्य विभाग अथवा प्राधिकारी इनफ्लूएंजा के फैलने को नहीं बचा सकता जब तक कि हर एक व्यक्ति वैयक्तिक स्वास्थ्य ज्ञान के सामान्य नियमों का पालन करके सहयोग नहीं देता। अभी तक ऐसा कोई टीका नहीं है जो सभी प्रकार के इनफ्लूएंजा विषाणुओं के प्रति सुरक्षा प्रदान कर सके, क्योंकि प्रत्येक जानपदिक भिन्न प्रकार का होता है। इस रोग की कोई विशिष्ट दवा नहीं है। खुद ही अपना इलाज नहीं करना चाहिए।

इनफ्लूएंजा के आक्रमण के बाद बहुत अधिक कमजोरी आ जाती है, जिसे दूर करने के लिए खूब आराम करना चाहिए और पौष्टिक भोजन लेना चाहिए। डाक्टर की सलाह से ली गई टानिक औषधि लाभकारी हो सकती है।

चेचक :

यह बहुत बड़ा संक्रामक रोग है, जो अधिक ज्वर, शीत, पीठ के दर्द और सिर दर्द से शुरू होता है और बाद में रोग के तीसरे दिन पित्तिकाएं (rash) प्रकट हो जाती हैं। ये पित्तिकाए पहले चेहरे पर और फिर बाकी शरीर पर प्रकट होती हैं। बाहुओं और चेहरे पर ये अधिक और बाकी शरीर पर कम होती हैं। ये पित्तिकायें पहले छोटे लाल दानों की तरह होती हैं जो फिर पिटिकाओं (papules) में बदल जाती हैं। फिर ये पिटिकाए छोटे-छोटे जलस्फोटों (vesicles) में बदल जाती हैं जिनमें साफ तरल भरा होता है। जलस्फोट फिर पूयस्फोटिकाओं (pustules) में परिवर्तित हो जाते हैं। अन्तत: कच्छू (scab) बन जाते हैं जो तीसरे सप्ताह तक सूखकर झड़ जाते हैं। ये कच्छू गहरे निशान छोड़ जाते हैं जिन्हें चेचक या मसूरिका चिह्न कहते हैं। चेचक कई रोगियों को मौत के घाट उतार देता है और जो बच जाते हैं उनके चेहरे और शरीर पर चेचक के दाग हमेशा के लिए बने रह जाते हैं। कई बच्चे तो अन्धे तक हो जाते हैं और कानों से भी आस्राव निकलने लगते हैं।

यह रोग चेचक-विषाणु नामक रोगाणु के कारण होता है (चित्र 11.33)। यह विषाणु रोगियों के मुंह और नाक द्वारा विसरित होने वाले पदार्थों में विद्यमान रहता है और खांसते व छींकते समय बाहर बिखेर दिया जाता है। यहीं से वह स्वस्थ लोगों को संक्रमित करता है। रोगियों के कपड़े और बिस्तर भी आस्रावों से दूषित हो जाते हैं और इस तरह ये भी परोक्ष रूप में रोग को फैलाते हैं। कच्छू (स्कैब) भी संक्रमी होते हैं। रोगी के संपर्क में आने के करीब 12 दिन बाद स्वस्थ व्यक्ति रोग पकड़ता है। चेचक का रोग उसके लक्षणों के प्रकट होने के पहले दिन से लेकर आखिरी कच्छू के झड़ने तक संक्रमणशील होता है।

परिवार में चेचक होने पर इसकी रिपोर्ट तुरंत ही स्थानीय स्वास्थ्य प्राधिकारी को कर देनी चाहिए और रोगी को संक्रामक रोगों के विशेष अस्पताल में भर्ती करा देना चाहिए। यदि यह

संभव नहीं है तो उसे एक अलग कमरे में रखा जाना चाहिए। एक व्यक्ति के अलावा जो कि उसकी देखभाल कर रहा है, और किसी को भी उस कमरे में नहीं जाना चाहिए और उस व्यक्ति को भी अन्य लोगों के संपर्क में आने से पहले अपने हाथों और मुंह को धो लेना चाहिए और कपड़े बदल लेने चाहिए। घर के सभी सदस्यों को टीका लगा लेना चाहिए, यदि पहले लग चुका है तो फिर लगवा लेना चाहिए। नाक और गले के आस्राव तथा कच्छुओं को एक कागज या कपड़े में इकट्ठा करके जला देना चाहिए। दूषित चीजों को अच्छी तरह से उबालकर धो डालना चाहिए जब तक सभी कच्छू सूख कर झड़ न जायं तब तक रोगी को अस्पताल या कमरे से बाहर नहीं जाने देना चाहिए।

रोग से बड़ी आसानी से बचा जा सकता है यदि सभी नवजात शिशुओं को पैदा होने के बाद तीन या छह महीने के भीतर और फिर स्कूल जाने के समय और फिर हर तीसरे या पांचवें साल बाद टीके लगवाए जाते रहें (चित्र 18.3)। जब कभी भी आसपास यह जानपदिक रोग हो तो तुरंत टीका लगवा लेना चाहिए। चेचक से बचने के लिए टीका लगवा लेना सबसे उत्तम इलाज है।

चित्र 18.3—बच्चे को टीका लग रहा है।

चित्र 18.4—एडवर्ड जेनर
(1749—1823)

इसकी खोज 1798 में एडवर्ड जेनर ने की थी (चित्र 18.4)।

हमारे देश ने चेचक उन्मूलन प्रोग्राम शुरू किया है और आशा है कि जनता के सहयोग से भारत से इस घातक रोग का समूल नाश कर दिया जायेगा। सभी नवजात शिशुओं को टीका लगाकर उन्हें तीन या पांच साल के नियमित अंतरालों पर फिर से टीके लगाते जाते रहेंगे। प्रतिरक्षा का उच्च स्तर बनाए रखने के लिए यह बहुत आवश्यक है।

जब कभी कोई व्यक्ति अध्ययन, व्यापार कार्य अथवा आमोद-प्रमोद के लिए देश के बाहर जाना चाहता है तो उसके पास अंतर्राष्ट्रीय टीका प्रमाण-पत्र होना चाहिए, जिसे वह स्थानीय स्वास्थ्य अधिकारी से प्राप्त कर सकता है।

छोटी माता (Chickenpox) :

यह मध्यम प्रकार का परंतु बहुत संक्रामक रोग है जिसमें हल्का ज्वर और पित्तिकाएं होती हैं जो क्रमानुसार जलस्फोटों और पिटिकाओं में बदलकर अंततः कच्छुओं में परिवर्तित हो जाती हैं। लेकिन

चेचक के विपरीत कच्छुओं के झड़ने के बाद दाग नहीं पड़ते। पित्तिकाएं फसलों की तरह प्रकट होती हैं और पित्तिकाओं की हर फसल पर हल्का ज्वर हो सकता है। पित्तिकाएं सबसे पहले शरीर के धड़ वाले भाग पर दिखाई देती हैं और चेहरे व बाहुओं की अपेक्षा धड़ पर अधिक विक्षति (lesions) देखी जाती हैं।

यह रोग छोटी माता के विषाणु (वाइरस) के कारण होता है जो प्रत्यक्ष रूप से छींटों के रूप में रोगी के श्वसन पथ से विसर्जित पदार्थों अथवा रोगी द्वारा इस्तेमाल की गई दूषित वस्तुओं से फैलता है। बच्चों का यह आम रोग है। प्रायः रोग में कोई जटिलता नहीं होती। जब इस रोग का कोई मामला सामने आए तो स्वास्थ्य अधिकारी को सूचना दे देनी चाहिए क्योंकि कभी-कभी यह चेचक का मध्यम कोटि का मामला भी हो सकता है। चेचक के अंतर्गत बताई गई सभी सावधानियां इस पर भी लागू होती हैं।

छोटी माता में टीके से बचाव नहीं होता। इसकी कोई विशिष्ट चिकित्सा या वैक्सीन नहीं है।

खसरा (Measles):

खसरा बहुत अधिक संक्रामक रोग है, जिसमें ज्वर, वायुपथ का शोथ और सारे शरीर पर पित्तिकाएं होती हैं। विशेष रूप से यह पांच साल से कम उम्र के बच्चों पर आक्रमण करता है लेकिन बाद के जीवन में उनको भी हो जाता है जो इससे अछूते रह गये होते हैं। यह रोग खसरा-विषाणु (वाइरस) के कारण होता है जो नन्हीं बूंदों के रूप में संक्रमित व्यक्तियों के नाक व गले से विसर्जित पदार्थों अथवा इन पदार्थों द्वारा दूषित वस्तुओं से फैलता है।

रोग का आरंभ नाक और गले के जुकाम और ज्वर से होता है। आंखें लाल व पनीली तथा चेहरा भी लाल हो जाता है। कुछ-कुछ पित्तिकाएं पहले कान के पीछे और चेहरे पर प्रकट होकर फिर शरीर में नीचे की ओर फैलती जाती हैं। पित्तिकाओं के साथ खुजली और जलन का अनुभव भी हो सकता है। पित्तिकाओं के प्रकट होने के कुछ दिनों बाद तापमान कम हो जाता है और ये पित्तिकाएं 2-3 दिन में धीरे-धीरे मिट जाती हैं। कभी-कभी न्युमोनिया, कान का बहना, आंख के व्रण (ulcer) और यक्ष्मा सरीखी जटिलताएं भी हो सकती हैं।

बच्चे को खसरा होने पर अच्छे हवादार कमरे में रखना चाहिए और किसी भी आगंतुक को, विशेषकर बच्चों को, वहां नहीं जाने देना चाहिए। रोगी के विसर्जित पदार्थों से दूषित वस्तुओं को भली-भांति विसंक्रमित कर देना चाहिए।

इस रोग का न तो कोई विशिष्ट उपचार है और न बचाव का कोई उपयुक्त टीका ही।

कनफेड़ या गलसुआ (Mumps):

यह एक संक्रामक रोग है जिसमें ज्वर, मुंह खोलने में कठिनाई और कर्णपालि (ear lobe) के ठीक नीचे स्थित कर्णपूर्व ग्रंथियों (parotid glands) की कष्टकारी सूजन होती है।

यह रोग गलसुआ-विषाणु (वाइरस) के कारण होता है जो संक्रमित व्यक्ति के लार से फैलता है। स्वस्थ व्यक्ति में संक्रमण प्रत्यक्ष रूप से रोगी द्वारा अथवा रोगियों के लार से दूषित वस्तुओं के संपर्क में आने से ही हो सकता है। कोई भी व्यक्ति जो पहले कभी इससे पीड़ित न हुआ हो रोग पकड़ सकता है। जटिलताओं से बचने के लिए रोगी को सूजन समाप्त होने तक पूर्ण रूप से आराम करना चाहिए। वैसे तो सामान्यतया कोई जटिलताएं नहीं होतीं लेकिन कभी-कभी वृषण (testis) में सूजन और दर्द अथवा उदर में दर्द हो सकता है।

इस रोग की कोई विशिष्ट चिकित्सा व वैक्सीन नहीं है।

काली खांसी या कुकुर खांसी (Whooping cough/Pertusis):

यह छोटे शिशुओं का बहुत अधिक संक्रामक

रोग है, जिसमें श्वसन-पथ का शोथ और खांसी के दौरे पड़ते हैं। इसका कारण एक रोगाणु है, जो खांसते समय रोगी के नाक और गले से विसर्जित पदार्थों से बाहर निकलता है। यह रोगी या वाहक से निकले छींटों या बूंदों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से अथवा एकदम विसर्जित पदार्थों से दूषित वस्तुओं द्वारा फैलता है। रोग का आरंभ शीत की तरह हल्के ज्वर और जुकाम से होता है। लेकिन बाद में खांसी बहुत ही अधिक कष्टदायी हो जाती है, विशेषकर रात में, जबकि खांसी के जबर्दस्त दौरे पड़ते हैं। खांसते समय चेहरा लाल हो जाता है, उग्र खांसी के लगातार पड़ने वाले इन दौरों की समाप्ति ह्रूप या खों-खों में होती है। ह्रूप या खों-खों की यह अवाज खांसी के दौरे के बाद गहरे प्रश्वसन के दौरान वायु के वेगपूर्वक जाने से उत्पन्न होती है। प्राय: बच्चों को क़ै होती है और उनके नाक और मुंह से झागदार पदार्थ निकलता है। कभी-कभी बच्चे में जटिलताएं भी हो सकती हैं, जैसे अत्यधिक क़ै, आक्षेप (convulsion) और न्युमोनिया।

घर में जब कोई बच्चा इस रोग से पीड़ित होता है तो उसे एक अच्छे हवादार कमरे में बिस्तर पर जहां तक संभव हो सके तीन हफ्ते तक लिटा कर रखना चाहिए। खांसते समय नाक और मुंह से विसर्जित होने वाले पदार्थ एक कागज या कपड़े पर लेकर जलाए या उबाले जाने चाहिए। इसकी कोई विशिष्ट चिकित्सा नहीं लेकिन फिर भी खांसी से छुटकारा पाने और जटिलताएं रोकने के लिए बच्चे को डाक्टर की देखरेख में रखना चाहिए। काली खांसी के टीके द्वारा सभी शिशुओं को प्रतिरक्षित करके रोग से बचाव किया जा सकता है। यह टीका अलग से या त्रिविध वैक्सीन (triple vaccine) के संयोजन में उपलब्ध रहता है। 3 या 4 महीने की उम्र से एक महीने के अंतराल पर इस वैक्सीन की तीन मात्राएं ली जानी चाहिए। लेकिन एक बार बच्चे में अगर रोग शुरू हो गया तो वैक्सीन का कोई प्रभाव नहीं होता। संपर्क में आने वाले दूसरे बच्चों की सुरक्षा के लिए उनको फिरसे एक बार टीका लगा देना चाहिए।

रोहिणी या डिफ्थीरिया :

यह एक संक्रामक रोग है जो एक विशिष्ट जीवाणु (बैक्टीरिया) द्वारा होता है और जो प्राय: पांच साल तक के बच्चों को प्रभावित करता है। शीत ऋतु में यह अधिक होता है। यह रोग इस बात के लिए कुख्यात है कि बिलकुल आरंभ में इसके लक्षण बहुत मध्यम प्रकार के होते हैं और यह चेतावनी देने वाले कोई भी पूर्वलक्षण प्रदर्शित नहीं करता। गले के शोथ कंपकंपी और मध्यम ज्वर से इसकी शुरूआत होती है लेकिन कभी-कभी क़ै और सिरदर्द भी हो सकता है। कई बच्चों में बिलकुल भी ज्वर नही होता। जब बच्चा अस्वस्थ होता है तो डिफ्थीरिया की आशंका की जानी चाहिए। गले अथवा टांसिलों पर एक भूरी झिल्ली दिखलाई पड़ती है (चित्र 18.5) जो नीचे की ओर फैलकर श्वसन में कठिनाई और फटी आवाज उत्पन्न कर सकती है। इसमें नाक भी प्रभावित हो सकती है, जिसमें नाक के एक छेद से खून के रंग का नासा पदार्थ विसर्जित होता है। रोग का यदि आरंभ में और उचित रूप से उपचार नहीं किया गया तो इसके रोगाणु द्वारा उत्पन्न जीवविष हृदय तथा तंत्रिका तंत्र को प्रभावित करता है और घातक होता है।

इसके रोगाणु रोगियों और स्वस्थ व्यक्तियों की नाक और गले द्वारा विसर्जित पदार्थों में विद्यमान रहते हैं और इस प्रकार ये व्यक्ति "वाहकों" का कार्य करते हैं। ये रोगी और वाहक चूमने, बोलने, खांसने और छींकने जैसी क्रियाओं से रोग फैलाते हैं। कपड़े, बर्तन, खिलौने, पेंसिलें आदि भी संदूषित हो सकती हैं। इसके रोगाणु दूध द्वारा भी संचारित हो सकते हैं। स्वस्थ बच्चा रोगाणुओं के संपर्क में आने के दो से चार दिन के अंदर रोग पकड़ सकता है।
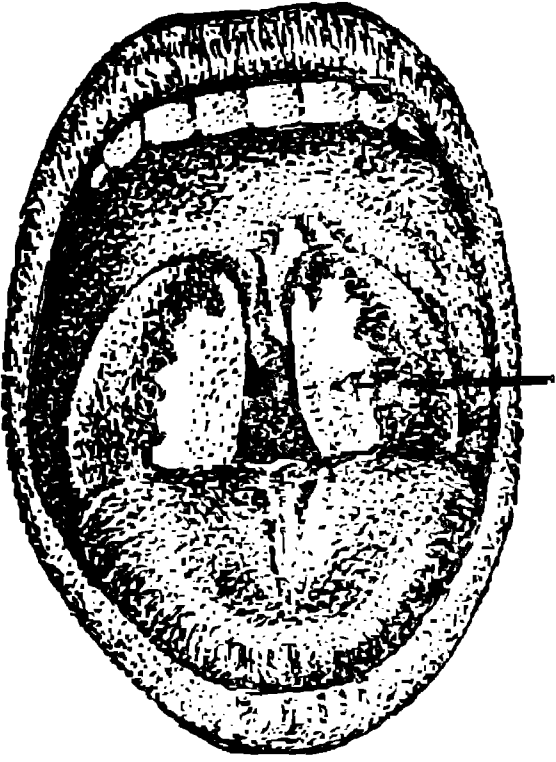
चित्र 18.5—टांसिलों पर डिफ्थीरिया का धब्बा

बच्चे के अस्वस्थ होने पर तुरंत ही डाक्टर के पास जाना चाहिए क्योंकि डिफ्थीरिया प्रति-जीवविष (antitoxin) से तुरंत उपचार करने पर सामान्यतया जीवन रक्षा हो जाती है। स्वास्थ्य अधिकारी को भी सूचना दे देनी चाहिए। अगर शहर में इस रोग का कोई पृथक् अस्पताल नहीं है तो बच्चे को एक अच्छे संवातन वाले कमरे में रखना चाहिए। बच्चों को उस कमरे में नहीं जाने देना चाहिए। रोगी द्वारा दूषित वस्तुओं और कपड़ों को विसंक्रमित कर देना चाहिए। रोगी को अन्य बच्चों से नहीं मिलने देना चाहिए। हां, यदि डाक्टर ने अनुमति दे दी हो तब अलग बात है। उन सभी बच्चों को, जो रोगी के संपर्क में आए हों, डिफ्थीरिया जीवविषाभ (toxoid) दिया जाना चाहिए और साथ ही रोग की आरंभिक पहचान के लिए डाक्टर द्वारा इन पर निगरानी रखी जानी चाहिए।

इस रोग से बचने के लिए एकमात्र महत्वपूर्ण उपाय यह है कि सभी बच्चों को उनकी उम्र के पहले ही वर्ष में डिफ्थीरिया जीवविषाभ का टीका लगा देना चाहिए। एक-एक महीने के अंतराल से दिये जाने वाले तीन इंजेक्शन प्राथमिक सुरक्षा प्रदान करते हैं। फिर प्राथमिक पाठशाला में भर्ती होते समय और उसे छोड़ते समय भी बच्चों को अनुवर्धक (बूस्टर) इंजेक्शन लगवा देना चाहिए। यह जीवविषाभ प्रायः काली खांसी वाली वैक्सीन और टेटेनस-जीवविषाभ के साथ संयोजित करके त्रिविध वैक्सीन (ट्रिपल वैक्सीन) के रूप में बेचा जाता है, जो बच्चे को इन तीनों से सुरक्षित रखती है।

* * * *

प्रतिरक्षीकरण के ब्यौरे अध्याय 13 की 13.1 सारणी में दिये गये हैं।

—संपादक

• • •
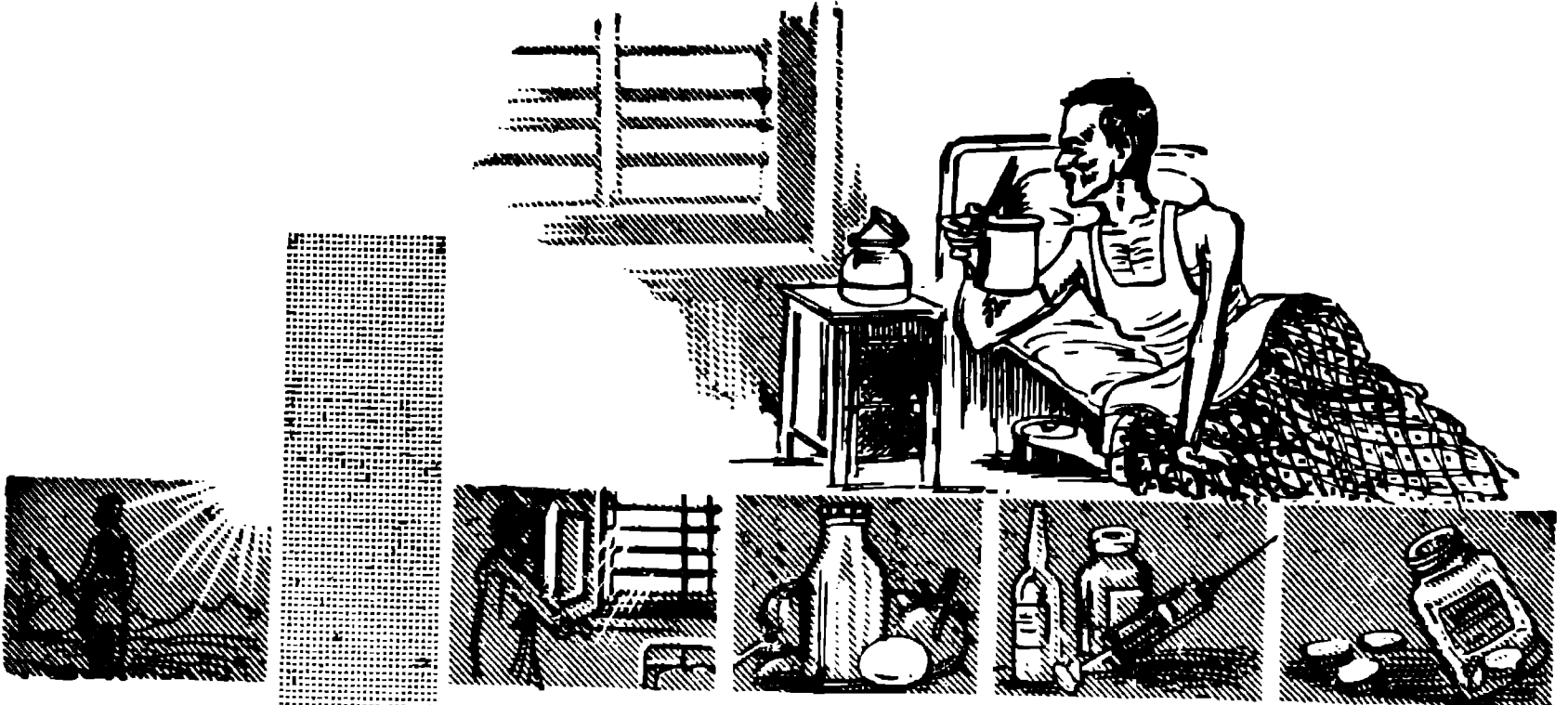
19

—डा० एम० डी० देशमुख

यक्ष्मा

यक्ष्मा (tuberculosis) या टी. बी. से, जैसा कि इसे आम भाषा में गलत तरह से पुकारा जाता है, हम वैदिक काल से परिचित हैं। 1882 में जर्मन जीवाणुविज्ञानी (bacteriologist) राबर्ट कॉक (चित्र 2.2) ने यक्ष्मा दंडाणु (tubercle bacillus) की खोज की और निश्चित रूप से सिद्ध करके दिखाया कि यही (जीवाणु) हर प्रकार की यक्ष्मा का कारण है। इसीलिए इस रोग को प्राय: कॉक रोग भी कहते हैं।

रोग का आघटन (incidence):

भारत के कुछ चुने हुए शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में समूह में लिए गये एक्सरे चित्रों के द्वारा किये गये नमूनों के सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ कि एक हजार लोगों में 13 से 25 लोग फुप्फुसीय यक्ष्मा यानी फेफड़ों की टी. बी. से पीड़ित होते हैं। इस तरह पूरे भारत में 35 लाख से लेकर 70 लाख लोग यक्ष्मा के रोगी होंगे। इनमें से 1/5 लोगों के थूक में यक्ष्मा दंडाणु होंगे जिनका अर्थ यह हुआ कि भारत में लगभग 15 लाख से लेकर 20 लाख संक्रामक रोगी हैं। लगता है यक्ष्मा शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में समान रूप से वितरित है। अपने देश में प्रति वर्ष 5 लाख व्यक्ति यक्ष्मा से मरते हैं। चूंकि यह रोग आमतौर पर प्रौढ़ अवस्था में होता है इसलिए स्थायी या अस्थायी अशक्तता के कारण जनशक्ति की जो हानि होती है वह प्रति वर्ष करोड़ों मानव-घंटों में होती है अर्थात् इतने घंटों कामकाज बंद रहता है। वैसे बच्चे भी भारी संख्या में इसके शिकार होते हैं। बच्चों में करीब 1/5 मौतें यक्ष्मा के कारण ही होती हैं। सभी वयों की दृष्टि से विचार कर कहें तो यही कहेंगे कि मलेरिया की जगह यक्ष्मा ने ले ली है, जो कि पहले मृत्य का प्रमुख कारण था लेकिन अब यक्ष्मा हमारी "नंबर एक स्वास्थ्य समस्या" हो गई है।

यक्ष्मा का नियंत्रण :

हाल ही के वर्षों में विकसित देशों ने बतलाया है कि यक्ष्मा को नियंत्रित किया जा सकता है। यहां तक कि रोग की सक्रिय या उग्र हो जाने वाली अवस्थाओं को भी इतना कम कर दिया

*　*　*　*

डा. एम. डी. देशमुख, एम. आर. सी. पी. (लंदन), टी. डी. डी. (वेल्स), ऑनरेरी यक्ष्मा विशेषज्ञ, जे. जे. अस्पताल वर्ग, बंबई।

गया है कि कई आरोग्य निवासों या सैनेटोरियमों को बंद करना पड़ेगा। लेकिन भारत में अभी तक इसके नियंत्रण के कोई लक्षण नजर नहीं आते हैं जिसकी पुष्टि निम्नलिखित बातों से होती है :-

1. मृत्यु दर अभी भी 150 प्रति, 1,00,000 व्यक्ति है।
2. उग्र अवस्था वाले रोगी बहुत संख्या में होते हैं।
3. पहली बार जब निरीक्षण किया जाता है तो पता चलता है कि अधिकांश रोगियों में रोग बहुत आगे की अवस्था में पहुंच चुका होता है।
4. समुदाय में संक्रमण की अधिकता के कारण बच्चे शुरू के ही वर्षों में संक्रमित हो जाते हैं जिससे कई जटिलताएं भी हो जाती हैं, जैसे कि कंगु यक्ष्मा (miliary tuberculosis) अथवा मस्तिष्कावरण-शोथ (meningitis)।
5. रोग द्वारा सक्रिय या उग्र रूप से ग्रस्त रोगियों के अतिरिक्त कई लोगों में भी मध्यम प्रकार का संक्रमण होता है, और इस संक्रमण की उपस्थिति धनात्मक ट्युबरकुलिन परीक्षण से पता चलती है।

भारत में 20 वर्ष की उम्र तक 70 प्रतिशत लोग संक्रमित प्रतीत होते हैं यद्यपि उनमें रोग सक्रिय रूप से भले ही न पाया जाता हो।

यक्ष्मा के फैलने के कारण :

1. निदान और उपचार संबंधी सुविधाओं का अभाव : भारत में यक्ष्मा नियंत्रण की असफलता का यह प्रमुख कारण है, वे छूटे हुए रोगी जिनका निदान नहीं हो पाता है औरों को भी संक्रमित करते रहते हैं। यहां तक कि निदान के बाद भी अनेक रोगियों में अपर्याप्त उपचार का परिणाम होता है चिरकारी रोग।

2. निर्धनता : यक्ष्मा का आघटन या होना रहन-सहन के स्तर का व्युत्क्रमानुपाती (inversely proportional) होता है। इसका मतलब यह हुआ कि आर्थिक दशा जिनकी गिरी हुई होगी यक्ष्मा का रोग उतना ही अधिक होगा। गरीबी से सभी कारक यक्ष्मा को बुरी तरह से बढ़ावा देते हैं और ये कारक हैं थकाने वाला शारीरिक श्रम, संवातन और रोशनी की अव्यवस्था वाला असंतोषजनक आवास तथा अपर्याप्त पोषण। उपरोक्त कारक व्यक्ति की रोधक्षमता कम करके उसे रोगों के प्रति अधिक सुग्राही बना देते हैं। गरीब आदमी आवश्यक दवाओं को पर्याप्त मात्रा में खरीदने में भी असमर्थ होता है, विशेष रूप से इसलिए भी कि इसकी चिकित्सा कम से कम एक या दो साल तक चलती है।

3. अतिसंकुलता (overcrowding) : अतिसंकुलता या घनी आबादी का यह भी खतरा होता है कि संक्रमित व्यक्ति से रोग निकट वाले स्वस्थ व्यक्तियों में बड़ी जल्दी फैल जाता है। यह साबित हो चुका है कि आवास या घरों की सुधरी दशाओं में रोग सचमुच कम होता है।

4. अज्ञान : अज्ञान या अपेक्षित जानकारी की कमी संभवतया रोग के फैलने का सबसे महत्वपूर्ण कारण है। रोग के सुस्पष्ट लक्षणों के बाद भी अज्ञानी व्यक्ति निदान संबंधी प्रक्रिया में विलंब करवा देता है। खांसने और थूकने जैसी अस्वच्छता वाली आदतों से रोग औरों में भी फैल जाता है। रोगी को जब अधिक समझ नहीं होती तो वह निदान के बाद लापरवाही करता है जिसकी वजह से दशा बराबर गिरती जाती है। अपर्याप्त और अनियमित चिकित्सा से और भी कई खतरे हो जाते हैं, जैसे कि प्रतिरोधी प्रकार का रोग विकसित हो जाता है जिसमें रोगाणुओं पर दवाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस तरह ये प्रतिरोधी प्रकार के रोग वाले रोगी केवल अपना ही अहित नहीं करते बल्कि इस प्रतिरोधी संक्रमण को वे औरों में भी पहुंचा देते हैं।
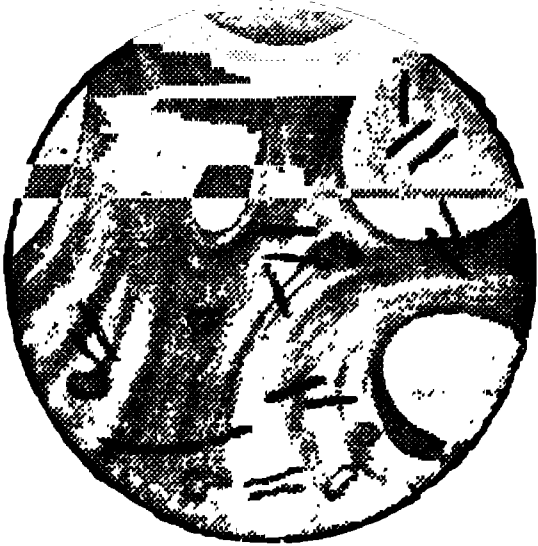
चित्र 19.2—यक्ष्मा के रोगाणु

यक्ष्मा दंडाणु का जीवन इतिहास :

यक्ष्मा का रोगाणु (चित्र 19.2) छोटा, पतला और दंड-जैसा यानी छड़-जैसा जीव होता है जो उच्चावर्धक सूक्ष्मदर्शी (high power microscope) की सहायता से देखा जा सकता है। नम अथवा सूखे थूक में यह काफी समय तक जीवित रह सकता है। रोगाणु बड़ी तेजी से गुणित होते हैं और फेफड़ों की यक्ष्मा वाले रोगी द्वारा ये रोगाणु लाखों की संख्या में खांसते समय बाहर बिखेर दिये जाते हैं। एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में संक्रमण होने का सामान्य तरीका यही खांसी वाली फुहार है (चित्र 19.3)। वैसे ये रोगाणु सूखी व संदूषित धूल से भी सांस के साथ अंदर लिये जा सकते हैं। बच्चे संदूषित थूक से सने हाथों को फिर मुंह से डाल कर वहां संक्रमण पहुंचा देते हैं। यक्ष्मा से पीड़ित माता अपने बच्चे को चूमते समय अथवा खांसते समय उसको संक्रमित करती है। रोगी की व्यक्तिगत चीजें थूक से संदूषित हो सकती हैं और इस तरह भी रोग फैल सकता है। 'फीनाइल' सरीखे विसंक्रामकों और गरमी द्वारा रोगाणुओं का नाश किया जा सकता है। ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि ढक्कनदार पात्रों में पर्याप्त सांद्रता और मात्रा वाले विसंक्रामक रसायन डालकर उनमें ही थूका जाना चाहिए या फेंकने से पहले इसे उबाल दिया जाना चाहिए।

प्राथमिक संक्रमण:

जब मानव शरीर पर पहले पहल यक्ष्मा दंडाणु द्वारा आक्रमण किया जाता है तो इसके फलस्वरूप होने वाली प्रक्रिया को प्राथमिक संक्रमण कहते हैं। यह प्राय: बचपन में ही होता है। अधिकांश अन्य रोगों की तरह इसमें भी रोगाणु प्राय: सांस द्वारा अंदर लिये जाते हैं और इस तरह प्राथमिक रोग स्थल सामान्यतया फेफड़ा ही होता है। कभी-कभार ही ये रोगाणु मुंह द्वारा लिये या निगले जाते हैं और तब प्राथमिक संक्रमण उदर में होता है। यक्ष्मा दंडाणु द्वारा शरीर पर आक्रमण किये जाने पर एलर्जी हो जाती है और यह एलर्जी

चित्र 19.3—यक्ष्मा और वायु से फैलने वाले अन्य रोगों का फैलना। वायु के माध्यम से खांसी की फुहार, संदूषित भोजन, धूल अथवा प्रत्यक्ष संपर्क से संक्रमण।
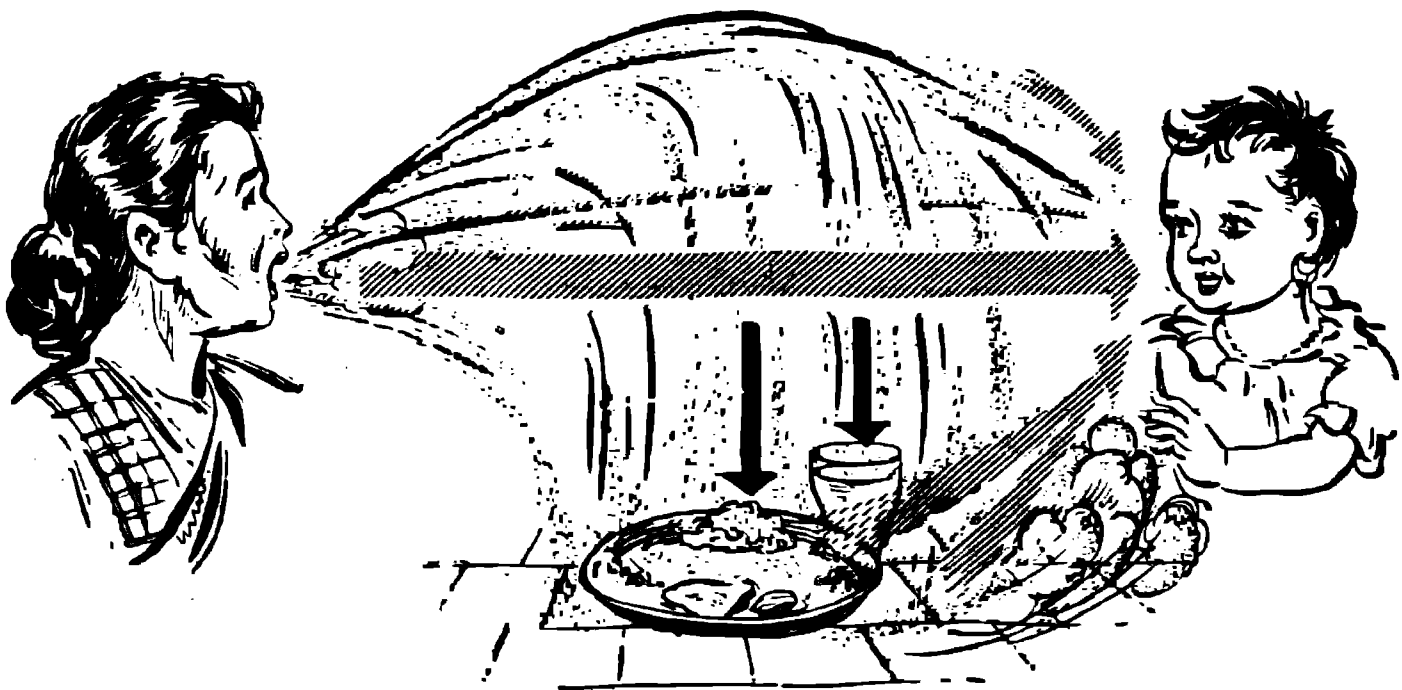
अधिकांशतया जीवन पर्यन्त चलती है जो ट्युबरकुलिन परीक्षण द्वारा ज्ञात हो जाती है। अधिक विस्तृत जानकारी के लिए इसी अध्याय में यक्ष्मा के निदान के अंतगत दी गयी सामग्री पढ़िए।

प्राथमिक संक्रमण प्राय: एक चुपचाप होने वाली प्रक्रिया है, जिसमें रोग के अप्रिय चिन्ह नहीं होते। लेकिन शरीर में रोगाणु कई साल तक जीवित रह सकते हैं और यदि किसी कारणवश शरीर की रोधक्षमता कम हो जाती है तो यह रोगाणु पुन: सक्रिय होकर रोग उत्पन्न कर सकते हैं। इसे प्रौढ़ प्रकार का रोग कहते हैं। कुछ अभागे लोगों में, विशेष रूप से जब संक्रमण बहुत छोटी उम्र में हो जाता है, प्राथमिक संक्रमण काबू से बाहर होकर क्रमिक रूप से घातक प्रकार का रोग उत्पन्न कर सकता है या कई रोगाणु रक्त प्रवाह में प्रविष्ट होकर सार्वदेहिक संक्रमण कर सकते हैं, जैसे कि कंगु यक्ष्मा या मस्तिष्क व सुषुम्ना (spinal cord) के आवरण को संक्रमित कर यक्ष्मिकीय मस्तिष्कावरणशोथ (मेनिंजाइटिस) कर सकते हैं (चित्र 25.5)। इसके अतिरिक्त कुछ दंडाणु समय-समय पर रक्त प्रवाह में प्रविष्ट हो सकते हैं और बाद में फेफड़ों, लसीका पूर्वों, हड्डियों, संधियों, उदर और वृक्क (गुर्दा) सरीखे विभिन्न अंगों में जमा होकर रोग उत्पन्न कर सकते हैं। इस तरह बचपन की यक्ष्मा को प्रौढ़ यक्ष्मा का मूलस्रोत कहा जाता है।

प्रौढ़प्रकार की फुप्फुसीय यक्ष्मा :

जैसा कि पहले भी बताया गया है, इसका उद्भव बचपन में हुए प्राथमिक अथवा प्रथम संक्रमण से होता है। प्राथमिक विक्षति फेफड़े में कहीं भी हो सकती है लेकिन प्रौढ़ प्रकार की यक्ष्मा सामान्य रूप से फेफड़ों के ऊपरी-भाग से आरंभ होती है। बचपन में खसरा और काली खांसी सरीखे रोगों के कारण शक्ति की कमी, टायफायड, मधुमेह, अत्यधिक शारीरिक श्रम, मानसिक आघात, कुपोषण तथा यक्ष्मिकीय पारिवारिक इतिहास कुछ पूर्वप्रवृत्त कारक हैं। रोग का आरंभ ग्रथियों के समूह के रूप में होता है जो फिर फेफड़ों के बड़े क्षेत्रों तक पहुंच जाता है और फिर टूटने पर वहां गुहा बन जाती है। आरंभिक अवस्थाओं में रोग को नियंत्रित करके पूरी तरह से काबू किया जा सकता हैं लेकिन अधिक समय बीतने पर तंतुमयता (fibrosis) हो जाती है और रोग चिरकारी तथा उपचार के प्रति रोधी हो जाता है।

यक्ष्मा के संकेत और लक्षण :

बिलकुल आरंभ में तो हो सकता है कि कोई लक्षण न हों लेकिन अधिकांश रोगियों में लक्षण होते हैं जो आंशिक रूप से विषों के अवशोषण यानी विषरक्तता (toxaemia), आंशिक रूप से स्थानिक नाशीय परिवर्तनों और आंशिक रूप से जटिलताओं के कारण होते हैं। कम ज्वर, अधिक नाड़ी दर, थकान, भूख न लगना, और वजन में कमी विषरक्तता के संकेत हैं। थूक वाली खांसी, छाती में दर्द और सांस लेने में कठिनाई फेफड़े के स्थानिक नाशीय परिवर्तनों के कारण होते हैं। रक्त-निष्ठीवन (haemoptysis) या थूक के साथ खून, प्लूरिसी, स्वतोजात वातवक्ष (spontaneous pneumothorax) अथवा फुप्फुसावरण (pleura) में फेफड़े का फटना स्थानिक जटिलताओं के कारण होता है। कभी-कभी स्वरयंत्रशोथ (लैरिंजाइटिस) अथवा गुदनालव्रण (fistula-in-ano) सरीखे दूरगामी जटिलताओं वाले लक्षण भी हो सकते हैं। यदि रोग का निदान जल्दी नहीं किया गया और उचित व निरंतर चिकित्सा नहीं की गई तो रोगी बहुत कृश होकर ऐसी अवस्था में पहुंच जाता है जिस से ठीक होना असंभव होता है (चित्र 19.4)।

खांसी के साथ थूक आना और कभी-कभी इसमें रक्त का पुट ऐसा महत्वपूर्ण लक्षण है जिसे ध्यान में रखा जाना चाहिए। किसी रोगी की खांसी यदि दो हफ्ते से अधिक चलती है तो उसे यक्ष्मा के निदान के लिए पूरी तरह से जांच करा लेनी चाहिए।

चित्र 19.4— यक्ष्मा की चरम अवस्थावाला रोगी। अतिकृशता पर ध्यान दीजिए। (वि.स्वा.सं. के सौजन्य से)

निदान :

शाम के समय तापमान बढ़ना, निरंतर नाड़ी की तेज गति और लगातार वजन कम होते जाना रोग के कुछ संकेत हैं। रोग के कारण फेफड़ों में होने वाले परिवर्तन कायचिकित्सक द्वारा सभी रोगियों में, आरंभिक रोग की अवस्था को छोड़कर, पहचाने जा सकते हैं। विशेषकर तभी जबकि पीठ के ऊपरी भाग में काफी ध्यान दिया गया हो जहां पर कि आमतौर पर रोग की शीघ्र पहचान के लिए छाती का 'एक्स-रे' सबसे उत्तम और एकमात्र विधि है (चित्र 19.5)। इससे अन्य मामलों में भी निदान की पुष्टि हो जाती है। एक्स-रे द्वारा छाती के स्क्रीनिंग से केवल बहुत आगे बढ़े हुए रोग की पहचान की जा सकती है और आरंभिक अवस्था में इसका कोई उपयोग नहीं है। थूक की जांच से यक्ष्मा दंडाणु का पता चलता है तो निदान की पूरी तरह से पुष्टि हो जाती है। इनके न मिलने पर भी यक्ष्मा हो सकती है।

त्वचा में यक्ष्मा दंडाणु के शुद्धीकृत सार के इंजेक्शन लगाने और 72 घंटे के बाद निरीक्षण करने से ही ट्युबरकुलिन परीक्षण किया जाता है। इंजेक्शन वाली जगह पर त्वचा का कड़ा और लाल होने का अर्थ है धनात्मक संकेत। ऋणात्मक परीक्षण से प्राय: यक्ष्मा का संदेह समाप्त हो जाता है और धनात्मक परीक्षण बतलाता है कि व्यक्ति पहले कभी रोग द्वारा संक्रमित हुआ है और यह जरूरी नहीं कि उसमें उस समय भी यक्ष्मा सक्रिय अवस्था में हो। इसलिए इस धनात्मक परीक्षण के बाद छाती का 'एक्स-रे' और थूक की जांच अवश्य की जानी चाहिए। छोटे बच्चों में धनात्मक परीक्षण यह बतलाता है कि बच्चा यक्ष्मा के प्राथमिक संक्रमण से पीड़ित है। उचित निदान के लिए खून और मूत्र की जांच से बहुत सहायता मिलती है।

इस तरह यक्ष्मा का निदान तभी सुस्पष्ट होता है जब यक्ष्मा के लक्षणों का संकेत मिलता है, छाती के एक्स-रे से फेफड़ों में धब्बे दिखलाई देते हैं और थूक में रोगाणुओं की उपस्थिति रहती है। लेकिन कभी-कभी प्रमाण इतने नहीं होते हैं। फेफड़ों वाली यक्ष्मा की सक्रियता का निदान

चित्र 19.51—सामान्य छाती का एक्स-रे
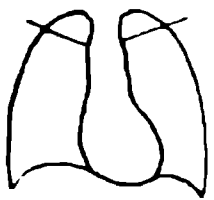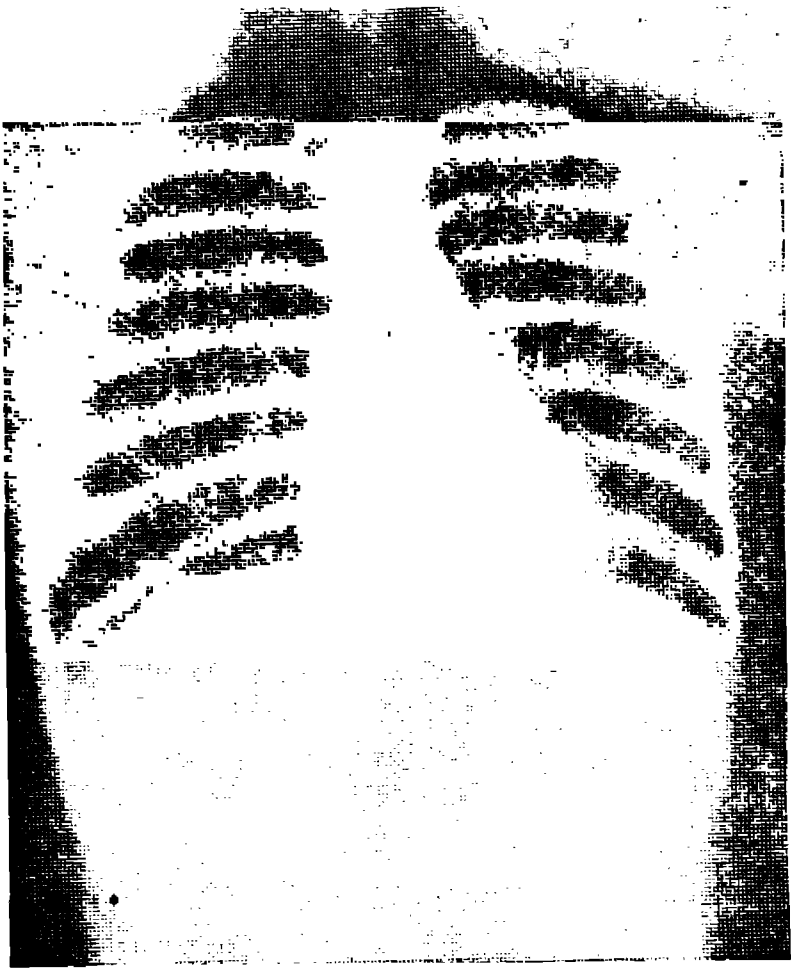
चित्र 19.52—आरंभिक यक्ष्मा दिखलाने वाला छाती का एक्स-रे

अच्छी तरह से स्थापित कर लेना चाहिए। बिना लक्षणों वाली सक्रिय विक्षति का भी पूरा उपचार किया जाना चाहिए।

चिकित्सा :

सक्षम यक्ष्मारोधी औषधियों की खोज से अब यक्ष्मा की रोगहर चिकित्सा सरल हो गई है। लेकिन पुराने समय में उपचार के निमित्त आरोग्य-निवास में लंबी अवधि तक रहना जरूरी था। आज एक औसत रोगी को बिना अस्पताल में भर्ती किए ही पूरी तरह से ठीक किया जा सकता है।

स्ट्रेप्टोमाइसिन, आइसोनियाज़ाइड और पी. ए. एस. (पैरा अमीनो सैलिसिलिक एसिड) आज की महत्वपूर्ण यक्ष्मारोधी औषधियां हैं। स्ट्रेप्टोमाइसिन का इंजेक्शन दिया जाता है और आइसोनियाज़ाइड और पी. ए. एस. मुंह से ली जाती हैं। इनमें से कम से कम दो दवाएं एक साथ ली जानी चाहिए। सबसे अच्छा संयोजन स्ट्रेप्टोमाइसिन और आइसोनियाज़ाइड का है क्योंकि इनको रोज देने से बहुत अधिक फायदा होता है। दूसरा अच्छा संयोजन आइसोनियाज़ाइड और पी. ए. एस. का है। चूंकि ये दोनों दवाएं मुंह द्वारा ली जाती हैं इसलिए घरेलू उपचार में सबके द्वारा इसी प्रभावकारी संयोजन का प्रयोग किया जाता है। कुछ रोगियों को तीनों दवाएं, एक साथ लेनी होती हैं। यह उपचार अच्छे पारंगत डाक्टर की सलाह पर ही किया जाना चाहिए। इन दवाओं को नियमित रूप से यथेष्ट मात्रा में लंबे समय तक लेना चाहिए। यहां तक कि आरंभिक अवस्था वाले रोगों में भी डेढ़ वर्ष का उपचार जरूरी होता है।

रोगहर चिकित्सा पहले तो वैयक्तिक रूप से हर रोगी को ध्यान में रख कर होनी चाहिए और फिर समुदाय विशेष के अधिकांश रोगियों के सुव्यवस्थित उपचार के रूप में।
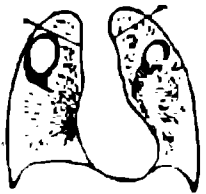
चित्र 19.53—यक्ष्मा की चरम अवस्था दिखलाने वाला छाती का एक्स-रे

दवाइयों के साथ-साथ चिकित्सा की सामान्य रूपरेखा भी निर्धारित की जानी चाहिए। चिकित्सा के आरंभ में आराम बहुत जरूरी है। एक औसत रोगी की चिकित्सा डेढ़ से लेकर 3 महीने तक की जानी चाहिए, जिसके बाद रोगी सामान्य प्रकार से काम करने योग्य हो जाता है। आहार में विशेष परिवर्तन करना जरूरी नहीं है लेकिन अशक्त रोगियों में पोषण की दृष्टि से अच्छे खाद्य पदार्थ, जैसे कि अधिक दूध व अंडे, कॉड मछली का तेल, विटामिन ए और डी तथा कैल्सियम-जैसी दवाइयां जरूरी हैं। इसका उद्देश्य घटे हुए वजन की कमी को पूरा करने वाला होना चाहिए न कि अपसामान्य रूप से अधिक वजन अर्जित करना। जलवायु-परिवर्तन जरूरी नहीं है, लेकिन रोगी को अच्छे संवातन व प्रकाश वाले कमरे में रखना जरूरी है। रोग में सबसे महत्वपूर्ण पहलू दवा खाने वाला पहलू है। लक्षणों के नियंत्रण पर ध्यान दिया जाना चाहिए, विशेषकर खांसी के नियंत्रण पर। इसका नियंत्रण बहुत जल्दी करना चाहिए।

रोग से संबद्ध दशाओं की चिकित्सा भी साथ-साथ होनी चाहिए। इसमें चिरकारी दस्त अथवा पेचिश सामान्य रूप से होती हैं। यक्ष्मा का मधुमेह से संबद्ध होना एक बुरा संयोग है। इन दोनों रोगों की यदि यथेष्ट रूप से चिकित्सा न की गई तो परिणाम असंतोषजनक होते हैं। चिकित्सा के दौरान नियमित अंतरालों पर रोगी की जांच होती रहनी चाहिए और एक्स-रे, थूक व खून की परीक्षा से प्रगति आंकी जानी चाहिए। यदि औषधि चिकित्सा के 6 से 9 महीने बाद भी रोग काफी सीमा तक बना रहता है तो शल्य द्वारा उपचार आवश्यक होगा। चिकित्सा का उद्देश्य केवल शारीरिक रोग को ठीक करना ही नहीं है बल्कि रोगी को समाज के सक्रिय व लाभदायक सदस्य के रूप में मनोवैज्ञानिक रीति से पुनः स्थापित करना भी है।

समुदाय विशेष के अधिकांश रोगियों का व्यवस्थित उपचार :

यक्ष्मारोधी औषधियों के आविष्कार से अब अधिकांश रोगियों को उनके घरों में ही ठीक किया जा सकता है। अस्पताल में केवल उन्हीं रोगियों को भर्ती करना आवश्यक होता है जिनमें रोग बहुत उग्र और चरम अवस्था में होता है और साथ ही रक्तनिष्ठीवन (थूक में खून आना) और शल्य संबंधित जटिलताएं होती हैं। सफल घरेलू उपचार के लिए निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए :—

(1) डाक्टर की सलाह के अनुसार दवाइयां नियमित और यथेष्ट मात्रा में लंबे समय तक ली जानी चाहिए।

(2) नियमित अंतरालों पर जांच व परीक्षण जरूरी है।

(3) खांसते समय व छींकते समय रूमाल का इस्तेमाल एक आदत के रूप में होना चाहिए (चित्र 19.6)।

चित्र 19.6–रूमाल का इस्तेमाल

(4) थूक को एक पात्र में इकट्ठा करके व विसंक्रमित करके उचित रूप से फेंका जाना चाहिए। जहां तहां नहीं थूका जाना चाहिए।

(5) घरों से संपर्क नियमित आयुर्विज्ञानीय पर्यवेक्षण के आधार पर होना चाहिए। ट्युबरकुलिन परीक्षण होना चाहिए। ऋणात्मक परिणाम दिखाने वाले रोगियों को बी. सी. जी. का टीका पुनः लगा देना चाहिए और धनात्मक परिणाम दर्शाने वाले रोगियों में रसायन-रोगनिरोध (chemo-prophylaxis) की व्यवस्था होनी चाहिए।

सभी रोगियों का उपचार आवश्यक है। लेकिन यक्ष्मा की समस्या इतनी बड़ी है कि कुछेक लोगों द्वारा बरती गई सावधानियों से रोग कभी भी नियंत्रित नहीं हो सकेगा। इसके लिए सामुदायिक स्तर पर सुव्यवस्थित प्रयत्न होने चाहिए।

बी. सी. जी. का टीका : बी. सी. जी., जो प्रतियक्ष्मिकीय टीका है, बैसिलस कामेट ग्वीरीन (Bacillus Calmette Guerin) का सक्रिय संवर्ध (culture) है। ट्युबरकुलिन ऋणात्मक रोगियों में इसके प्रयोग की सलाह दी जाती है। बचपन में जितनी जल्दी हो सके इसका टीका लगवा लेना चाहिए। बी. सी. जी. का टीका कोई नुकसान नहीं करता और भविष्य में यदि शरीर में यक्ष्मा के जीवाणु प्रवेश करते हैं तो यह उनके प्रति रोधक्षमता विकसित करता है। बी. सी. जी. के टीके के बारे में विस्तृत जानकारी के लिए 'संक्रामक रोगों का नियंत्रण' नामक अध्याय 13 देखिए।

राष्ट्रीय बी. सी. जी. कार्यक्रम, जो कि पूरे भारत में चल रहा है, अब लगभग पूरा हो गया है और अच्छे परिणाम के लिए यह जरूरी है कि नियमित रूप से सभी नवजात शिशुओं को बी. सी. जी. का टीका लगाया जाता रहे।

हर एक को यक्ष्मा के बारे में जानकारी होनी चाहिए कि वह किस कारण होती है, उसके क्या लक्षण हैं, कैसे इसका उपचार होता है, क्या-क्या सुविधाएं उपलब्ध हैं और कैसे इसका निरोध किया जा सकता है। सरकार के यक्ष्मा नियंत्रण कार्यक्रम के अंतर्गत यक्ष्मा के खिलाफ किए गए उपायों में सभी को सहयोग देना चाहिए।

* * * *

यक्ष्मा का निरोध इस तरह कीजिए :—

*** अच्छा पोषण।**

*** अच्छे संवातन और प्रकाश वाले घरों में निवास**

* ताजी हवा।

* बी. सी. जी. का टीका।

* स्वास्थ्य की नियमित जांच।

—संपादक

• • •

20
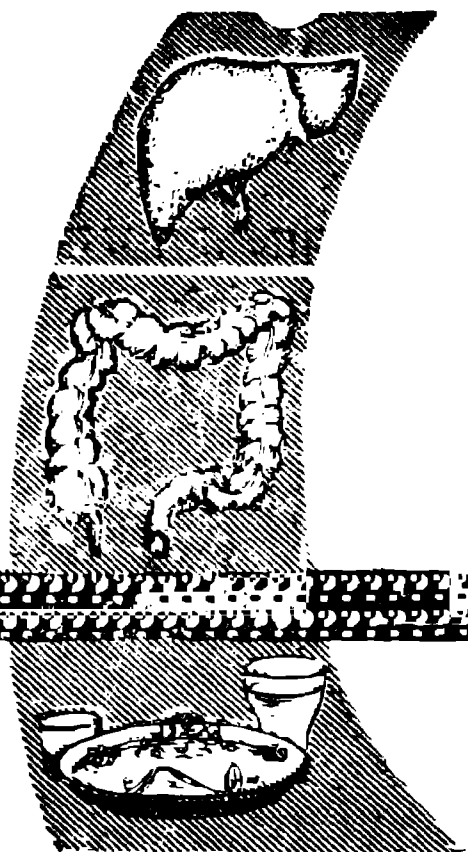
—डा० वी० एन० भावे

भोजन का पाचन

शरीर द्वारा उपयोग में लाये जाने के लिए जो भोजन हम खाते हैं उसे अवशोषण के अनुकूल बना दिया जाना चाहिए ताकि वह रुधिर प्रवाह में प्रविष्ट होकर सभी कोशिकाओं में पहुंच सके। शरीर की कोशिकाएं ऊर्जा उत्पन्न करने और अपनी वृद्धि व मरम्मत के लिए ही भोजन का उपयोग करती हैं। वे मिलीजुली विभिन्न भौतिक व रासायनिक प्रक्रियाएं जिनके द्वारा अविलेय भोजन को विलेय या घुलनशील बनाकर स्वांगीकरण (assimilation) के लिए सुचारू रूप से तैयार किया जाता है, पाचन कहलाती हैं और पाचन का यह प्रक्रम प्रमुख रूप से पाचक अंगों से स्रावित या प्रवाहित रसों की क्रिया से संपन्न होता है।

पोषण नाल (alimentary canal) एक लंबी पेशीय नली होती है (चित्र 20.3) जो अलग-अलग भागों में अलग-अलग चौड़ाई की होती है और लगभग 9 मीटर लंबी होती है। इसके पांच प्रमुख प्रभाव होते हैं: (1) मुंह और ग्रसनी या गला, (2) ग्रसिका (oesophagus या gullet) या भोजन नली, (3) आमाशय (stomach), (4) छोटी आंत या क्षुद्रांत्र (small intestine) और (5) बड़ी आंत या बृहदांत्र (large intestine) जिसमें कोलन और मलाशय (rectum) होते हैं और जिसका अंत गुदा (anus) में होता है।

मुंह :

भोजन का पाचन मुंह से शुरू हो जाता है (चित्र 20.2)। भोजन सबसे पहले दांतों से चबाया और पीसा जाता है। लार ग्रंथियों से प्रवाहित होने वाले लार का टायलिन नामक एंजाइम मंड (starch) वाले भोजन को शर्करा में बदल देता है। यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि उचित पाचन के लिए भोजन बहुत अच्छी तरह चबाया जाना चाहिए। फिर भोजन निगल लिया जाता है और भोजन-नली से होकर उसकी पेशीय क्रिया से आमाशय में पहुंचा दिया जाता है।

आमाशय :

आमाशय उदर गुहा के ऊपरी बाएं भाग में

*   *   *   *

डा. वी. एन. भावे, एम.बी., बी.एस., जनरल मेडिकल प्रैक्टिशनर, पूना; विज्ञान की अनेक स्कूली पाठ्य पुस्तकों के लेखक; सदस्य, संपादक मंडल, 'हम और हमारा स्वास्थ्य'।
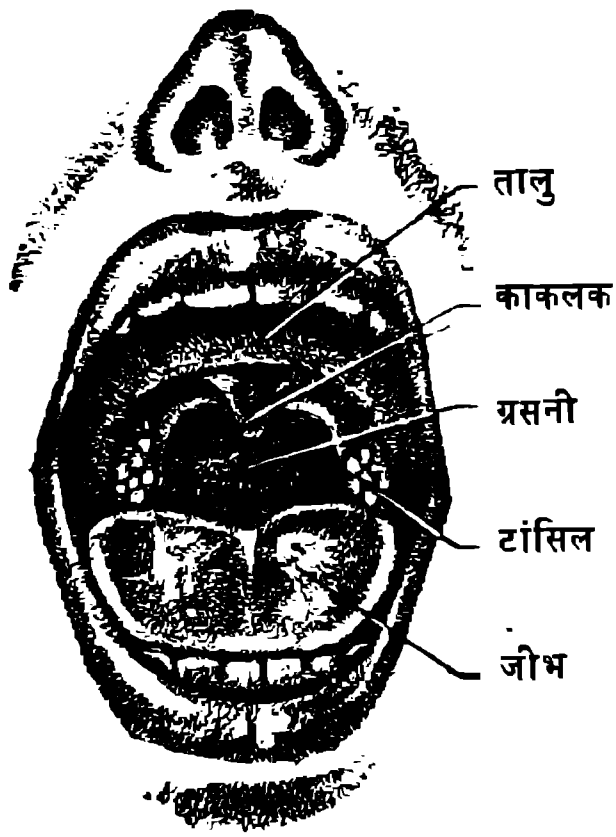
चित्र 20.2—मुख-गुहा

स्थित होता है (चित्र 20.3)। उसका आकार और आकृति इसके अंदर की वस्तुओं और इसकी भित्ति की पेशीय सक्रियता के अनुसार होती है। इसकी पेशीय भित्ति में पेशी तंतुओं के तीन स्तर होते हैं अर्थात् अनुदैर्घ्य (longitudinal), वर्तुल (circular) और तिर्यक (oblique)। इन पेशियों की क्रिया से ही आमाशय अपनी अंतर्वस्तुओं को चापता, पीसता व मथता है। भोजन के कण इस तरह और छोटी कणिकाओं में तोड़कर पाचक रसों के साथ अच्छी तरह से मिला दिए जाते हैं। आमाशय का भीतरी अस्तर 'श्लेष्मा कला' (mucous membrane) कहलाती है और इसके अंदर लाखों छोटी-छोटी ग्रंथियां होती हैं जो जठर-रसों (gastric juices) का स्रवण करती हैं (gaster, आमाशय)। इस रस में हाइड्रोक्लोरिक एसिड और रेनिन व पेप्सिन नामक एंजाइम होते हैं। रेनिन केसीन या दुग्ध-प्रोटीन का स्कंदन करता है यानी उसे जमा देता है और दूध को दही में बदल देता है। इस क्रिया से अन्य एंजाइमों द्वारा उसको आगे के पाचन में सहायता मिलती है। पेप्सिन नामक एंजाइम हाइड्रोक्लोरिक एसिड की उपस्थिति में भोजन के प्रोटीनों पर अभिक्रिया करता है और उन्हें बीच वाले उत्पादों यानी पेप्टोनों और प्रोटिओजों में बदल देता है जिनका आगे और पाचन छोटी आंत में होता है। आमाशय में भोजन 2 से 4 घंटों तक रहता है।

कभी-कभी हाइड्रोक्लोरिक एसिड का स्रवण उचित मात्रा में नहीं होता और इसके परिणाम स्वरूप प्रोटीनों पर पेप्सिन नामक एंजाइम की अभिक्रिया मन्द पड़ जाती है। कैन्सर सरीखे रोगों में अम्ल का स्रवण बहुत ही कम होता है (जठर-अनम्लता—achlorhydria)। दूसरी ओर मानसिक तनाव और आवेशात्मक गड़बड़ी में आमाशय में बहुत अधिक अम्ल उत्पन्न हो सकता है। इससे हृद्‌दाह, डकार, उदर के ऊपरी भाग में दर्द सरीखे लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। यदि यह अतिअम्लता अधिक समय तक चलती है तो यह पाचन-पथ के गंभीर रोग की चेतावनी का संकेत हो सकता है जैसे कि आमाशय अथवा ग्रहणी का पेप्टिक व्रण (peptic ulcer) और सक्षम कायचिकित्सक द्वारा इसका अन्वेषण होना चाहिए। अम्लरोधी टिकियों या चूर्ण की सहायता से रोगी द्वारा स्वयं किये गये लक्षणों के नियंत्रण से कोई गंभीर बात छिपी रह सकती है। इस तरह रोगी द्वारा स्वयं अपनी दवाई करना खतरनाक सिद्ध हो सकता है।

छोटी आंत या क्षुद्रांत्र :

छोटी आंत एक लम्बी नली होती है जो लंबाई में करीब 6.5 मीटर और चौड़ाई में 2.5 सेंमी. होती है। यह मुड़ी तुड़ी होती है लेकिन उदर गुहा में (चित्र 20.3) इसकी गति मुक्त रूप से हो सकती है। आमाशय के निचले सिरे से शुरू होकर उदर के दाहिने निचले भाग में बड़ी आंत में यह समाप्त हो जाती है। छोटी आंत का पहला 25 सेंमी. वाला भाग ग्रहणी कहलाता है और जो "C"-आकार का होता है। यकृत् से उत्पन्न पित्त और अग्न्याशय (pancreas) से उत्पन्न अग्न्याशयिक रस अपनी-अपनी वाहिनियों (ducts) से होते
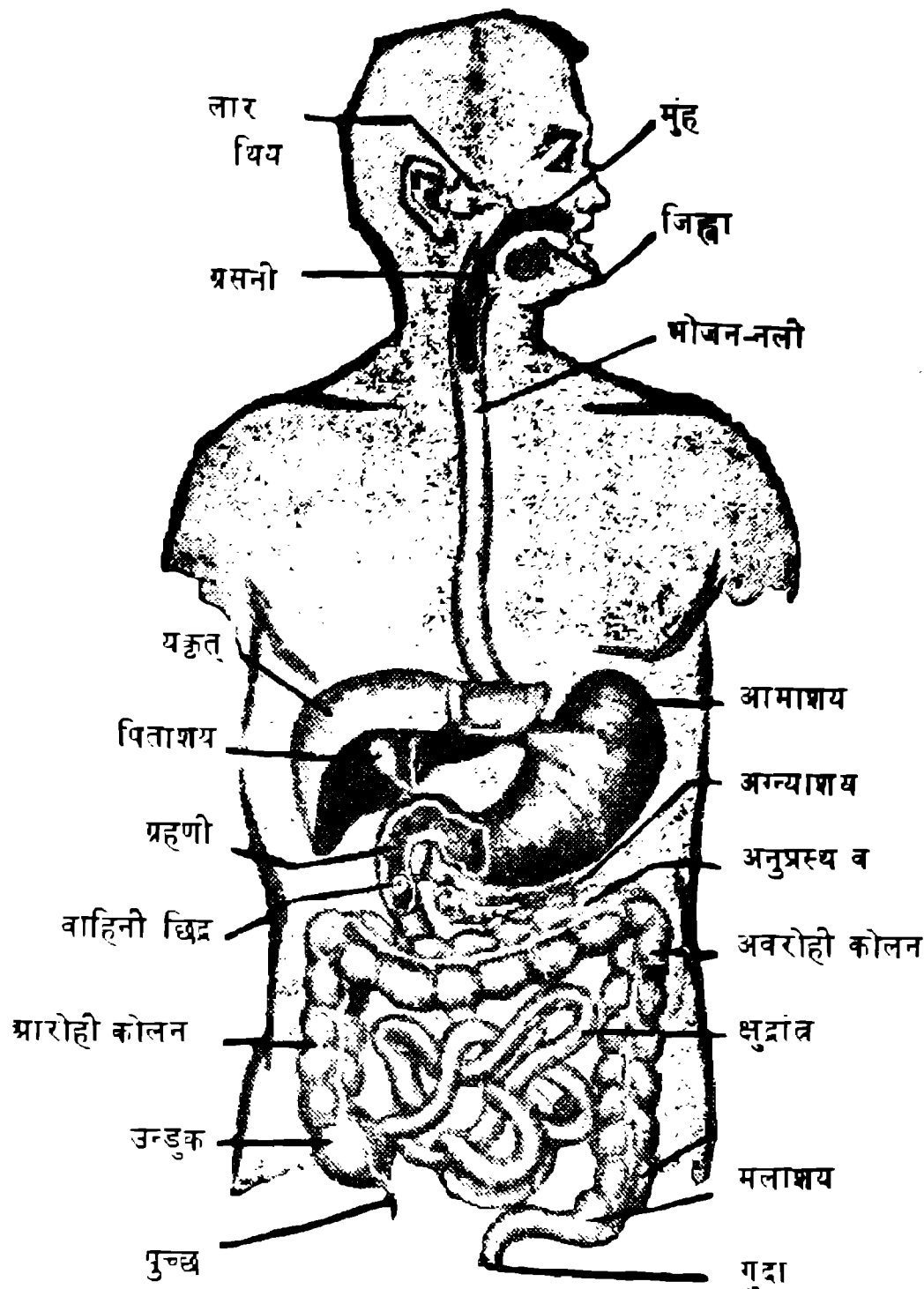
चित्र 20.3—पाचन-तंत्र के अंग (आरेखों से समझाते हुए)

हुए ग्रहणी की गुहा में आ जाते हैं और फिर आमाशय से आने वाले आंशिक रूप से पचे भोजन के साथ मिल जाते हैं। अंत की श्लेष्मा झिल्ली की अनेक ग्रथियों द्वारा उत्पन्न आंत्र-रस भी पाचन क्रिया में भाग लेता है। पित्त भोजन की वसाओं का इमल्सीकरण (emulsification) करता है। अग्न्याशयिक रस पाचन में बहुत महत्वपूर्ण होता है क्योंकि इसमें तीन शक्तिशाली एंजाइम होते हैं जो कार्बोहाइड्रेटों, प्रोटीनों और वसाओं पर अभिक्रिया करते हैं। अग्न्याशयिक रस का अमाइलेस नामक एंजाइम लार के टायलिन एंजाइम के कार्य को दोहराता है कि यदि कोई मंड अपरिवर्तित रह गए हों तो वे शर्कराओं में बदल जायं। ट्रिप्सिन (tripsin) नामक एंजाइम पेप्सिन के प्रोटीनों को पेप्टाइडों में बदलने के कार्य को दोहराता ही नहीं बल्कि पेप्टाइडों को और आगे अमीनों अम्लों में बदल देता है। लाइपेस नामक तीसरा एंजाइम इमल्सीकृत वसा को वसा अम्ल और ग्लिसरीन में बदल देता है। आंत्र-रस के एंजाइम कार्बोहाइड्रेटों और प्रोटीनों का पाचन पूरा कर देते हैं। इस तरह भोजन के सभी तीनों प्रमुख अवयवों का छोटी-आंत में पूरी तरह से पाचन हो जाता है, अर्थात् कार्बोहाइड्रेट ग्लूकोस में, प्रोटीन अमीनों अम्लों में और वसाएं वसा अम्ल और ग्लिसरीन में परिवर्तित कर दी जाती हैं। ये सभी अंत्य उत्पाद रक्त प्रवाह में अवशोषित किए जाने के उपयुक्त होते हैं।

पाचन के दौरान पेशीय भित्ति की क्रिया द्वारा भोजन आंत्र-पथ में धीरे-धीरे खिसकाया जाता है। यह क्रिया पुरःसरण (peristalsis) कहलाती है और इसमें आंत्र-पथ की भित्ति द्वारा संकुचन और शिथिलन की क्रमिक लहरें उत्पन्न की जाती हैं।

पाचन के अलावा छोटी आंत भोजन के अवशोषण का महत्वपूर्ण कार्य करती है। छोटी आंत की श्लेष्मा कला में पूरी लंबाई में लाखों छोटे छोटे उभार होते हैं जिन्हें अंकुर (villi) कहते हैं (चित्र 20.4)। प्रत्येक अंकुर में छोटी रक्त कोशिकाएं और एक छोटी लसीका वाहिका (lymph vessel) होती है। पचा भोजन अंकुर-कोशिकाओं की पतली परत से होकर रक्त अथवा लसीका में प्रवेश करता है ताकि पचा भोजन शरीर की कोशिकाओं को बांटा जा सके। भोजन का पाचन व अवशोषण छोटी आंत की पूरी लंबाई में होता है क्योंकि पुरःसरण गति द्वारा यह धीरे-धीरे नीचे खिसकाया जाता रहता है। छोटी आंत में बच रहने वाला अपचा हुआ भोजन बड़ी आंत में पहुंचा दिया जाता है। भोजन को आमाशय के निचले सिरे से बड़ी आंत में आरंभ तक पहुंचने में भोजन को करीब 6 से लेकर 8 घंटे तक लगते हैं।

यकृत् :

यकृत् शरीर की सबसे बड़ी ग्रंथि है और इसकी स्थिति उदर गुहा के दाहिने ऊपरी भाग में ठीक मध्यपट के नीचे (चित्र 20.3) होती है। कभी-कभी इसका निचला किनारा पसलियों के नीचे महसूस किया जा सकता है। यकृत् की निचली सतह में पित्ताशय (gall bladder) स्थित् होता है। यकृत् से आने वाली वाहिनी पित्ताशय की वाहिनी से मिलकर पित्तवाहिनी (common bile duct) बनाती है जो ग्रहणी में खुलती है। यकृत् शरीर का बहुत महत्वपूर्ण अंग है और जीवन की अनिवार्यता है। यह कई कार्य करता है।

पाचन के दौरान यकृत् पित्ताशय में जमा पित्त का स्रवण करता है। भोजन जब आमाशय से ग्रहणी में पहुंचता है तो पित्ताशय ग्रहणी में पित्त छोड़ देता है। यह पित्त वसाओं पर अभिक्रिया करके उन्हें एक दूधिया तरल या इमल्शन में बदल देता है। यह इमल्सीकृत वसाओं के अवशोषण में भी सहायक होता है। पाचन-पथ से ग्लूकोज अवशोषित होकर यकृत् में ग्लाइकोजन के रूप में जमा कर दिया जाता है और शरीर की कोशिकाओं द्वारा जब इसकी आवश्यकता होती है तो उस समय इसे फिर ग्लूकोज में परिवर्तित कर दिया जाता है।

यकृत् के अन्य महत्वपूर्ण कार्य भी हैं जिनका उल्लेख करना ज़रूरी है यद्यपि वे भोजन के पाचन से संबंधित नहीं हैं। यकृत् वसा के उपयोग वाली

चित्र 20.4—छोटी आंत की संरचना। दाहिनी तरफ के घेरे में छोटी आंत की भीतरी भित्ति × 250 गुना बड़ा करके दिखलाई गई है ताकि लसीका वाहिका और रक्त-कोशिकाओं वाले अंकुर दिखलाई दे सकें।
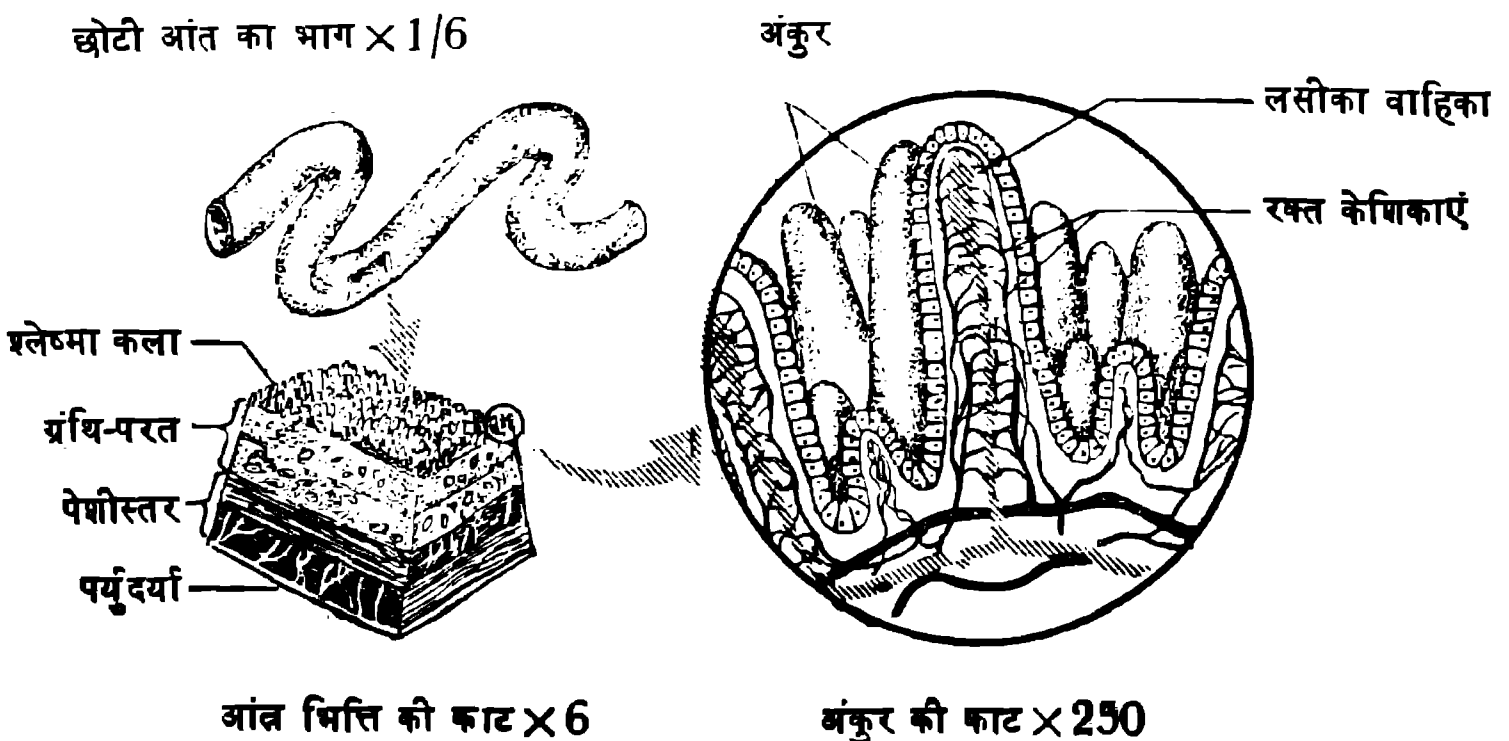
प्रक्रिया में भी भाग लेता है। प्रोटीन चयापचय के अंत्य उत्पादों के रूप में यह यूरिया और यूरीक एसिड उत्पन्न करता है। रक्त प्रवाह में प्रकट होने वाले हानिकारक पदार्थों को भी यह नष्ट कर देता है। अन्य कार्यों में भी यह सहायक होता है, जैसे लाल रक्त कणिकाओं के निर्माण और टूटने में, रक्त के स्कंदन या जमने के लिए अनिवार्य फाइब्रिनोजन नामक पदार्थ के निर्माण में विटामिनों को उत्पन्न करने और उनके संग्रहण में।

बड़ी आंत (बृहदांत्र) :

छोटी आंत उदर के दाहिने निचले भाग में अपने आरंभ होने वाले भाग के ऊपर बड़ी आंत में खुलती है। छोटी आंत और बड़ी आंत के मिलने वाले स्थान के ठीक नीचे एक अंध कोष्ठ या बंद थैली होती है जिसे उन्डुक या अंधांत्र (सीकम) कहते हैं। इस उन्डुक से जुड़ा हुआ पुच्छ या एपेन्डिक्स एक छोटी 5 से 15 सेंमी. लंबाई की कृमि रूप अंध नली या बंद नली की तरह होता है। यह पुच्छ संक्रमित, सूजा हुआ और बढ़ा हुआ हो सकता है। पुच्छ की इस अवस्था को उन्डुक-पुच्छशोथ (एपेन्डीसाइटिस) कहते हैं (चित्र 47.2)।

बड़ी आंत के भाग हैं कोलन और मलाशय। कोलन लगभग 1.5 मीटर लंबा और 6 सेंमी. चौड़ा होता है। कोलन का वह भाग जो यकृत् तक ऊपर चढ़ता है आरोही कोलन, दूसरा भाग जो बायीं ओर उदर गुहा के पार या तिल्ली तक जाता है अनुप्रस्थ कोलन और तीसरा भाग जो बायीं ओर नीचे की तरफ जाता है अवरोही कोलन कहलाता है। श्रोणि क्षेत्र (pelvic region) वाला भाग श्रोणि कोलन कहलाता है। आहार नाल का अंतिम 12 से 15 सेंमी. लंबा भाग मलाशय कहलाता है जो पेशी तंतुओं के एक छल्ले द्वारा नियंत्रित किया जाता है। इस पेशीय छल्ले को गुद-संवरणी (anal sphincter) कहते हैं।

बड़ी आंत का कार्य होता है पानी का अवशोषण करना और अर्धद्रवीय पदार्थों को कुछ-कुछ अर्ध-ठोस मल या विष्ठा में परिवर्तित कर देना। अपचे हुए सेलुलोज पर अभिक्रिया करके कुछ जीवाणु (बैक्टीरिया) विटामिन बी (B) और विटामिन के. (K) बनाते हैं जो पाचन-तंत्र में सोख लिए जाते हैं।

बड़ी आंत से होकर निकलने में खाद्य पदार्थों को प्रायः 12 से लेकर 20 घंटे लगते हैं। यदि जठर-आंत्र पथ में पुरःसरण की क्रिया मंद पड़ जाती है तो व्यक्ति को कब्ज हो सकता है। और यदि इस पथ से होकर अन्तर्वस्तुएं तीव्रता से निकल जाती हैं तो प्रवाहिका या डायरिया हो जाता है।

पाचन-तंत्र की देखभाल :

पाचन संबंधी छोटी-छोटी शिकायतों का या जब कोई विशिष्ट गड़बड़ियां न भी हों तो व्यक्ति प्रायः अपना इलाज स्वयं करने को लालायित हो जाता है। क्षुधावर्धक पदार्थ, पाचक गोलियां और मृदुविरेचक (laxative) आमतौर पर बगैर डाक्टर की सलाह के लिए जाते हैं। लेकिन इस प्रसंग में यह याद रखना चाहिए कि पाचन-तंत्र तभी स्वस्थ रहता है जब उसे दवाइयों से दूर रखा जाता है। उत्तम स्वास्थ्य के लिए निम्नलिखित नियमों की सिफारिश की जाती हैं :—

1. नियमित रूप से संतुलित आहार करिए। आहार में सब्जियों और फलों को सम्मिलित करिए ताकि उसे विटामिन राशि और रूक्षअंश (roughage) प्राप्त हो सके। ये पुरःसरण की क्रिया को भी उद्दीपित करते हैं।
2. अधिक मसालेदार व तले भोजन से परहेज रखिए।
3. भोजन को ढककर रखिए। उसे धूल और मक्खियों से भी बचाइए।

4. खाने और पीने के पहले हमेशा हाथ धोइए।
5. गरम और ताजा भोजन करिए।
6. अपेक्षा से अधिक खाने से पाचक अंगों पर अधिक जोर मत डालिए।
7. हमेशा नियत समय पर खाइए। यह बहुत महत्वपूर्ण है।
8. पाचन में सहायता पहुंचाने और कब्ज से बचने के लिए अपने भोजन में अधिक पानी और तरल पदार्थों को सम्मिलित करिए।
9. मानसिक उत्तेजना और आवेशात्मक गड़बड़ियों से बचिए, विशेषकर भोजन के समय।
10. खाने के तुरंत बाद भारी कसरत मत करिए। लेकिन थोड़ा बहुत टहलना लाभदायक रहेगा।
11. ताजी हवा में नियमित रूप से कसरत करिए।
12. नियमित रूप से स्नान आदि की आदत रखिए।
13. तंबाकू और मदिरा से परहेज रखिए।
14. बिना डाक्टर की सलाह के मृदुविरेचकों, पाचक गोलियों आदि का सेवन न करिए।

• • •

21

—डा० सी० आर० सुले

पाचन-तत्र के विकार

मानव की तंदुरुस्ती बहुत कुछ उसके पाचक अंगों की सुचारु सक्रियता पर निर्भर करती है। एक अच्छा कार्यकुशल पाचन-तंत्र मानव के लिए केवल शारीरिक तंदुरुस्ती के लिए ही आवश्यक नहीं है बल्कि उसकी मानसिक स्वस्थता के लिए भी आवश्यक है। एक दुष्पचन वाला व्यक्ति हमेशा अनाकर्षक चेहरा-मोहरा लिए रहता है। बुरे पाचन के कारण व्यक्ति कई बार चिड़चिड़े दिमाग से उल्टे निर्णय कर बैठता है।

पाचन-पथ एक लंबी नली है, जिसमें एक सिरे से भोजन प्रवेश करता है, बीच वाले भाग में पाचन होता है और दूसरे सिरे से वर्ज्य पदार्थ बाहर फेंक दिए जाते हैं। इस नली में पाचन की प्रक्रिया के लिए उचित गतिशीलता और कई स्रावों की उपस्थिति आवश्यक है। आमतौर पर पाचन-पथ के रोग तभी होते हैं जब : 1. गतिशीलता पर प्रभाव पड़ता है और इसके आम उदाहरण हैं प्रवाहिका और कब्ज, 2. स्राव बढ़ते या घटते हैं, जैसे क्रमशः पेप्टिक व्रण और कैन्सर में, 3. कैन्सर जैसी नई वृद्धि हो जाती है, और 4. विषाणुओं (वाइरसों), जीवाणुओं (बैक्टीरिया), कृमियों आदि द्वारा संक्रमण अथवा पर्याक्रमण होता है।

पाचन-तंत्र के रोगों से कुछ आम शिकायतें हो जाती हैं। वैसे तो प्रायः ये अधिक महत्व की नहीं होतीं लेकिन फिर भी इनसे सावधान रहना जरूरी है। इस अध्याय का उद्देश्य यही है कि ऐसे कुछ लक्षणों पर प्रकाश डाला जाय और यह भी कि लोग डाक्टरी सलाह उस समय लें ताकि चिकित्सा के परिणाम बहुत सफल हों। इसकी तो सभी को जानकारी है कि बुढ़ापे में कैन्सर से भारी खतरा रहता है। इसका उपचार डाक्टर प्रभावशाली विधि से तभी कर सकता है जब कि जल्दी से जल्दी उसका पता लग जाय। इसी तरह पेप्टिक व्रण भी एक आम रोग है। यह हानिरहित तभी हो सकता है जबकि इसका निदान जल्दी हो जाय और उपचार भी उचित रूप से किया जाय। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि रोजमर्रा किए जाने वाले डाक्टरी निरीक्षण से अंतिम निदान नहीं हो पाता इसलिए इस स्थिति में प्रयोगशाला और एक्स-रे के द्वारा जांच पड़ताल बहुत जरूरी है। बेकार के अन्वेषण पर ध्यान नहीं देना चाहिए लेकिन अगर डाक्टर जोर देता है तो उस पर अमल करना चाहिए।

* * * *

डा. सी. आर. सुले, एम. डी., ऑनरेरी फिजीशियन, बी. जे. मेडिकल कालेज एवं ससून जनरल अस्पताल, पूना।

यदि परिणाम से सामान्य दशा का पता चलता है तो डरने की बात नहीं और आश्वस्त हो जाना चाहिए। दुर्भाग्यवश यदि अन्वेषण के बाद किसी रोग का संकेत मिलता है तो ठीक समय पर जल्दी से और सही निदान होने के कारण उत्तम प्रकार की चिकित्सा की जा सकती है। उस पुरानी परिपाटी को छोड़ देना चाहिए कि जब किसी रोग की शिकायत और लक्षण पूरी तरह से प्रकट हों तभी रोग मुक्ति के लिए दौड़ा भागा जाय। जहां तक हो सके सही निदान की व्यवस्था पर जोर देना चाहिए। उचित समय पर ली गई सलाह से व्यक्ति स्वयं अपनी और डाक्टर की सहायता कर सकता है और फिर डाक्टर जो सलाह दे उस पर पूरी तरह विश्वास कर सकता है।

सामान्य लक्षण :

पाचन-तंत्र संबंधी कुछ शिकायतें ये हैं : 1. उदरीय वेदना, 2. भूख न लगना (अरुचि), 3. कब्ज, 4. प्रवाहिका, 5. निगरण या निगलने में कष्ट, 6. आध्मान (flatulence), 7. क़ै में खून आना (रक्तवमन —haematemesis) और टट्टी में खून (melena), 8. पीलिया, 9. क़ै या वमन, और 10. वज़न में कमी।

1. उदरीय वेदना : प्रत्येक व्यक्ति कभी न कभी उदर की वेदना से पीड़ित होता है। उदरीय वेदना करने वाली सामान्य परिस्थितियां निम्नलिखित हैं :-

1. अजीर्ण या अपाचन, गैस आदि :- उदरीय वेदना कई ऐसे कारणों से हो सकती है जिनसे जठर-आंत्र की गड़बड़ियां हो सकती हैं। यह दर्द उदर में कहीं भी हो सकता है और मध्यम या तीव्र हो सकता है। यह प्राय: नाभि के इर्द- गिर्द होता है और बहुत तीव्र नहीं होता है। दर्द का कारण अस्थायी होता है और यह मामूली घरेलू उपायों, जैसे कि सेंकने, आहार परिवर्तन आदि, से मिटाया जा सकता है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि ऐसी उदरीय वेदना किसी गंभीर रोग का सूचक लक्षण हो सकती है जैसे कि तीव्र उन्डुकपुच्छशोथ (acute appendictis) का। इसलिए घरेलू उपचार की विधियां एक घंटे में दर्द कम नहीं कर पातीं या दर्द बहुत तीव्र हो जाता है या रोग लक्षण और या स्थल की दृष्टि से परिवर्तित हो जाता है या उसके साथ कब्ज, वमन व तापमान की वृद्धि जैसे लक्षण भी प्रकट हो जाते हैं तो तुरंत चिकित्सक से दिखाना चाहिए।

2. आंत्र शूल : उदर की वेदना प्राय: आंत्र शूल के कारण होती है। आमतौर पर इसके कारण हैं—प्रवाहिका, कृमि और अंतर्घट्टित मल (impacted stool) का अवरोध। लेकिन कभी-कभी यह आंत्र-अवरोध के कारण हो सकती है जब कि यह कब्ज अथवा प्रवाहिका के साथ तीव्र रूप से होती है। लेकिन यह एक गंभीर अवस्था है और इसकी तुरंत चिकित्सा होना आवश्यक है।

3. पित्त और वृक्क शूल : पित्त अथवा वृक्क शूल का सामान्य कारण है पथरी या अश्मरी। पित्त शूल उदरीय होता है जो उदर की दाहिनी ओर उसके ऊपरी चतुर्थांश में होता है और कभी-कभी इसके साथ पीलिया भी होता है। वृक्क शूल भी उदरीय होता है जो कमर से शुरू होकर ऊरुमूल अथवा वृषणों तक फैल जाता है। ऐसी वेदना दबाव पर कम हो जाती है।

4. पेप्टिक व्रण : इसमें जो दर्द होता है उसका संबंध भोजन से होता है। भोजन के साथ-साथ घट-बढ़ सकता है। प्राय: यह अधिजठर (epigastric) क्षेत्र में होता है। क़ै करने या 'सोडा' पीने से दर्द खतम हो जाता है। यह दर्द सावधिक होता है यानी समय-समय पर 4-6 महीने के अंतराल पर होता है। पेप्टिक व्रण (चित्र 21.2) के रोगी के लिए यह बात महत्वपूर्ण है कि जब भोजन और दर्द का परस्पर संबंध खतम होकर दर्द

लगातार चलता है या जब दर्द के लक्षण बदल जाते हैं या जब क़ै लगातार होती रहती है तो डाक्टर के पास जाना चाहिए। यह व्रण में दुर्दम परिवर्तन अथवा जठर-निर्गम संकीर्णता (pyloric stenosis) जैसी जटिलता अथवा गहरे व्रण का संकेत हो सकता है। पेप्टिक व्रण का मुख्य उपचार है उचित आहार करना। इसके बारे में अध्याय 8 में बतलाया गया है। दवाई का उपयोग अति-अम्लता कम करने के लिए सुझाया जाता है। कुछ लोग बिना डाक्टर को पूछे सोडियम बाइकार्बोनेट ले लेते हैं जो कि हमेशा हानिकारक होता है।

इस प्रकार उदर वेदना के ये अंतःउदरीय कारण हैं लेकिन यह दर्द बाह्य उदरीय कारणों से भी हो सकता है, जैसे कि हृद्-धमनी घनास्रता (coronary thrombosis), न्युमोनिया अथवा कशेरुकों से होने वाली उदरीय वेदना।

उदरीय वेदना के सामान्य और गंभीर कारणों के बीच अंतर करना और चिकित्सा करने के लिए विशेष प्रशिक्षण और अनुभव की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के सभी दर्दों में हमेशा डाक्टर की सलाह लेनी चाहिए।

2. भूख न लगना (अरुचि) : भूख का न लगना बिल्कुल मनोवैज्ञानिक अथवा शरीर क्रिया-त्मक प्रक्रिया हो सकती है और जिसमें चिंता की

चित्र 21.2—पेप्टिक व्रण
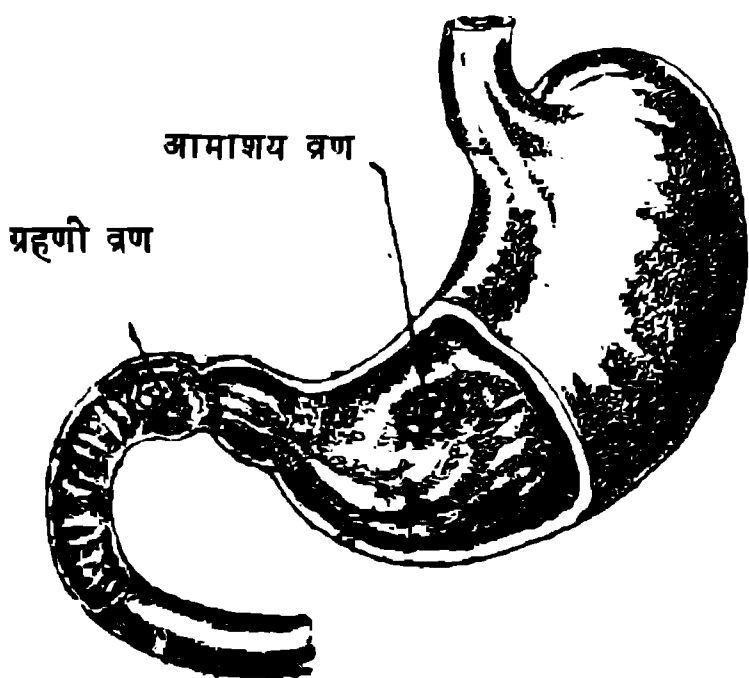
कोई बात नहीं है। इसका एक सामान्य कारण है आहार संबंधी अविवेक। ऐसे में भूख को सामान्य उपायों से बढ़ाया जा सकता है, जैसे व्रत रखना, खमीर की टिकिया लेना अथवा विटामिन बी औषधियां या क्षुधावर्धक मिश्रण का प्रयोग जो परिवार के डाक्टर से ही लेने चाहिए। भूख का न लगना सामान्य अस्वस्थता, यक्ष्मा जैसे दैहिक रोग, अथवा किसी यकृत् रोग का संकेत भी हो सकता है। आमाशय के कैन्सर में भी अरुचि एक सामान्य शिकायत होती है। कैन्सर में प्रोटीन खाद्य पदार्थों के लिए, विशेष रूप से अरुचि होती है। कई बार ऐसा भी होता है कि पक्का मांसाहारी अचानक गोश्त के प्रति अरुचि प्रकट करने लगता है। इस-लिए अरुचि यदि अधिक दिन तक चलती है तो डाक्टर की सलाह लेनी चाहिए।

3. कब्ज : कब्ज और स्वविषाक्तता (auto-intoxication) को कई बुराइयों की जड़ माना जाता है। कब्ज बहुत कष्टदायक और आम शिका-यत है। प्रायः यह अनियमित आदतों और शिथिल उदरीय पेशियों के कारण होता है। कब्ज दूर करने के लिए अधिक सब्जियों वाला पौष्टिक आहार करना चाहिए (देखिए अध्याय 8 'सामान्य रोगों में आहार'), पानी अधिक मात्रा में पीना चाहिए, ताजी हवा में कसरत करनी चाहिए विशेष रूप से उदरीय पेशियों वाली और मल त्याग की नियमित आदत बना लेनी चाहिए। बिना डाक्टर की सलाह के मृदुविरेचक लेने से सामान्यतया अधिक गड़बड़ी होने का खतरा रहता है क्योंकि इससे आंत्र पेशियों की तान में कमी आ जाती है (चित्र 21.3)। कब्ज आंत्र-अवरोध, शोथ या सूजन अथवा अर्बुद (tumour) के कारण हो सकता है। यदि कब्ज अधिक रहता है या सामान्य से अधिक समय तक रहता है, विशेष-कर 40 वर्ष की उम्र के बाद तो डाक्टरी चिकित्सा का सहारा लेना चाहिए।

4. प्रवाहिका (डायरिया) : इसके बदले यदि हम अधिक आम शब्द यानी दस्त का प्रयोग करें तो अधिक उपयुक्त होगा। प्रवाहिका मनोवैज्ञानिक कारणों से लेकर अर्बुद के कारण भी हो सकता है। अधिक खाने, अपाच्य भोजन अथवा कच्चे, अधिक पके या सड़े फलों, भोजन विषाक्तता और संक्रमण प्रवाहिका के आम कारण हैं। जब मल रक्त और अथवा श्लेष्मा से मिलकर विसर्जित होता है तो इस अवस्था को पेचिश कहते हैं। इसमें प्राय: उदरीय वेदना और ज्वर भी होता है। पेचिश और प्रवाहिका बहुत अशक्त कर देने वाला रोग है इसीलिए इनके लिए अच्छी चिकित्सा अपेक्षित है। सबसे अच्छी बात है कि आहार संबंधी विवेक से काम लिया जाय; विसर्जित हुए तरल की पूर्ति के लिए पानी जैसे तरलों को पिया जाय, साथ ही आराम करना चाहिए, पूर्ण स्वच्छता पर ध्यान देना चाहिए और डाक्टरी सलाह लेनी चाहिए। प्रवाहिका यदि आमतौर पर होती रहती है तो इसके लिए अच्छी तरह से अन्वेषण होना चाहिए, विशेषकर वृद्ध लोगों की प्रवाहिका में जो कि नेमी चिकित्सा के प्रति रोधी होती है (देखिए अध्याय 8 'सामान्य रोगों में आहार' और अध्याय 42 'बच्चों के सामान्य रोग')।

चित्र 21.3—कब्ज करने वाली शिथिल आंत।
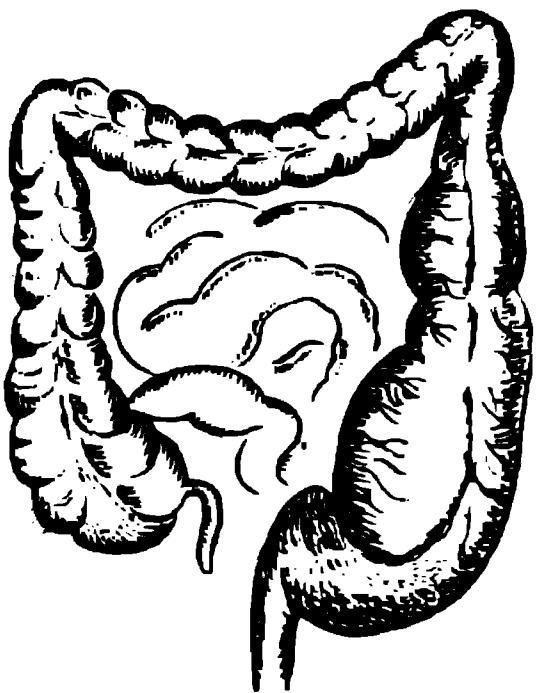
5. आध्मान (Flatulence) : आध्मान या जिसे आमभाषा में 'गैस की शिकायत' कहते हैं, अधेड़ उम्र के व्यक्तियों में परेशान करने वाली आम शिकायत होती है। इसके आम कारण हैं वायु निगलन, अधिक कार्बोहाइड्रेट वाले भोजन और एक स्थान पर बैठे रहने की आदत जिससे पाचन-अंगों की तान में कमी आ जाती है। अपचे खाद्य उत्पादों के किण्वन (fermentation) से ही गैस उत्पन्न होती है। कारण की चिकित्सा होनी ही चाहिए। चारकोल की टिकिया और अदरक, पिपरमिन्ट सरीखे वायुमारी (carminative) आधी चाय की चम्मच के बराबर ब्रैन्डी अथवा ऐरोमेटिक ऐमोनिया स्पिरिट से गैस से हाल फिल-हाल के लिए छुटकारा मिल सकता है। यद्यपि प्राय: तो यह एक अहानिकर लक्षण है लेकिन साथ ही परेशान करने वाला भी है, इसलिए इस पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

6. निगरणकष्ट : इसका अर्थ है निगलने में कठिनाई। इसका कारण मुंह, गले अथवा भोजन नली (ग्रसिका) में कहीं भी हो सकता है। निगरण-कष्ट हिस्टीरिया अथवा अरक्तता के कारण भी हो सकता है लेकिन इसका डर उस समय बढ़ जाता है जब यह ग्रसिका के कैंसर के कारण होता है, विशेष-कर बड़ी उम्र में, निगरणकष्ट को मामूली रूप में नहीं लेना चाहिए और इसके कारण का पता लगाना चाहिए।

7. रक्तवमन : रक्तवमन खून की क़ै को कहते हैं। रक्तस्राव पेप्टिक व्रण अथवा अपस्फीत (varicose) शिरा अथवा कैन्सैर वाली अप-वृद्धि के कारण हो सकता है। कारण जो भी हो और परिमाण में यह कितना ही क्यों न हो, यह एक खतरनाक लक्षण है और इसलिए तुरंत निदान और उपचार होना चाहिए। मेलीना मल में खून आता है जिससे मल काला हो जाता है। यह इस बात का संकेत है कि पाचन-पथ में ऊपर कहीं रक्तस्राव हो रहा है। मेलीना का पता चलने

पर इसे तुरन्त डाक्टर को बताया जाना चाहिए।

8. पीलिया : त्वचा, श्लेष्मा कला नेत्रश्लेष्मला (कंजंक्टाइवा) आदि का पीला पड़ जाना ही पीलिया है। मल और मूत्र के रंग की पहचान महत्वपूर्ण होती है क्योंकि इससे निदान में सहायता मिलती है। यकृत् पित्त बनाता है और पीलिया से यकृत् की गड़बड़ी होती है। पीलिया असाधारण रूप से लाल रक्त कणिकाओं के नष्ट होने के कारण भी हो सकती है। इनके नाश से पीला वर्णक या विलिरुबिन उत्पन्न हो जाता है जो पित्त में चला जाता है (देखिए अध्याय 42 'बच्चों के रोग'), या यह यकृत् से ग्रहणी में पित्त के प्रवाह में अवरोध आ जाने से भी हो सकता है। लेकिन सामान्य प्रकार की पीलिया एक विषाणु संक्रमण या अन्य प्रकार के संक्रमण के कारण हो सकती है जो यकृत् के कार्य में गड़बड़ी डाल देता है। इसमें मल भूरे रंग का और मूत्र में पित्त के कारण पीला होता है। इसमें मतली, क़ै, भूख न लगना, गैस की शिकायत, कब्ज और यकृत् क्षेत्र की मृदुता आदि लक्षण सामान्यतया विद्यमान होते हैं। रोगी को बिस्तरे पर गर्म रखना चाहिए। आहार प्रमुख रूप से दूध, कार्बोहाइड्रेटों, विटामिनप्रद खाद्य पदार्थों, कम वसा वाला और क्षोभकारी पदार्थों से रहित होना चाहिए।

9. क़ै (वमन) : क़ै प्राय: आहारिका अविवेक के कारण होती है जबकि यह संयोगवश हो जाती है। इसका कारण मामूली अपाचन अथवा कृमि हो सकते हैं। लेकिन यदि यह अक्सर होती है तो इसका अन्वेषण किया जाना चाहिए। बिना मतली के अचानक होने वाली क़ै कभी-कभी मस्तिष्क अर्बुद के कारण होती है, विशेष रूप से तब जबकि साथ-साथ सिरदर्द भी रहता है। यह साधारण माइग्रेनी सिर दर्द के कारण भी हो सकता है लेकिन फिर भी किसी अनुभवी डाक्टर से आश्वस्त हो जाना अच्छा रहता है।

क़ै का उपचार कारण के अनुसार होना चाहिए लेकिन लक्षण से छुटकारा पाने के लिए कुछ सामान्य उपाय करने चाहिए। रोगी को पूरी तरह से आराम के लिए क्षैतिज या पड़ी दशा में बिना भोजन के रखा जाना चाहिए। समय-समय पर थोड़ी-थोड़ी मात्रा में पीने के लिए पानी, चूसने के लिए बर्फ और सोडा वाटर के साथ दूध दिया जा सकता है। औषधियां डाक्टर की सलाह पर ही दी जानी चाहिए।

10. वजन में कमी : प्राय: यह कैन्सर का आरंभिक लक्षण है, विशेषकर पाचन-पथ का। बड़ी उम्र में बिना किसी कारण के वजन में कमी होना गंभीरता से लिया जाना चाहिए। वजन में कमी के अन्य कारण भी हैं। उन पर यहां विचार नहीं किया गया है।

सामान्य रोग :

सबसे अधिक सामान्य रोग दुष्पचन है। यह जल्दी-जल्दी खाने, आहार संबंधी अविवेक और आहार की अनियमित आदतों के कारण होता है। यह सही कहा गया है कि जो जल्दबाजी करता है अपाचन को शरण देता है। इसके लिए आहारिक देखरेख और उन औषधियों की सलाह दी जाती है जो कि पाचन-प्रक्रिया में सहायता देती हैं। इसके बाद नंबर आता है कब्ज व प्रवाहिका का। जब ये रोग अस्थायी होते हैं तो उपचार आसान होता है लेकिन जब अधिक समय तक चलते हैं तो इनका अन्वेषण जरूरी हो जाता है। हमारे देश में पेचिश का होना बहुत आम बात है। इसकी विशेषता है मल में रक्त व श्लेष्मा का आना। चिरकारी पेचिश प्राय: अमीबारुग्णता (amoebiasis) के कारण होती है। यद्यपि इसका उन्मूलन कठिन है तो भी रोग ठीक हो सकता है और उसके लिए डाक्टर व रोगी दोनों की दृढ़ता, अध्यवसाय और सहयोग की अपेक्षा की जाती है (देखिए अध्याय 22 'जलवाहिका रोग')। पेप्टिक व्रण एक और आम रोग है। सबसे पहले डाक्टरी उपचार करना चाहिए और ठीक होने के लिए भली भांति ध्यान देना

चाहिए। जठर-आंत्र शोथ से सभी अच्छी तरह से परिचित हैं। आमतौर पर होने वाले इस जानपदिक के नाम को हरएक अच्छी तरह जान गया है। यह आमाशय और छोटी आंत का शोथ है जो जीवाणु अथवा विषाणु सरीखे सूक्ष्मजीवों से होता है। यह संदूषित भोजन और/अथवा पानी के द्वारा जानपदिक या महामारी के रूप में फैलता है। अपने देश में कृमि भी काफी कष्ट देते हैं। विटामिन की कमी, प्रवाहिका, खुजली, उदर की वेदना और अरक्तता के अलावा ये आंतों में छेद और अवरोध सरीखी जटिलताएं भी उत्पन्न कर सकते हैं।

'बृहदांत्रशोथ' (colitis) का मतलब है बड़ी आंत की सूजन जो जीवों अथवा अन्य किसी अस्पष्ट कारण से हो सकती है। इसके दो विकार विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। रुधिर व मिग्रेनीय प्रकार की अवस्था वाले व्यक्ति को दिन में दो या अधिक बार शौच जाना पड़ता है और मल के साथ श्लेष्मा भी निकलती है। तनाव वाली अवस्थाओं में यह विशेष रूप से स्पष्ट हो जाती है। क्षोभक कोलन के रूप में यह अवस्था सुप्रसिद्ध है। अपने डाक्टर द्वारा समझाए जाने पर होशियार व्यक्ति अपने रोग को अच्छी तरह समझ सकता है। इसका सबसे अच्छा उपचार यही है कि मनोवैज्ञानिक दुर्बलता को दूर करना चाहिए। यदि ऐसा न हो सके तो दूसरा विकल्प यह है कि इस अशक्तता की उपेक्षा की जाय। एक दूसरी अवस्था है जो अशक्त कर देने वाली है लेकिन जिसके बारे में जानकारी कम है। इसका कारण मनोवैज्ञानिक है। यह अवस्था है व्रणीय बृहदांत्रशोथ (ulcerative colitis)। इसका उपचार कठिन है लेकिन यदि व्यक्ति रोग के बारे में चिंता करना छोड़ दे तो डाक्टर को बहुत सहायता मिल जाती है क्योंकि खाली इससे ही काफी सुधार हो जाएगा। यकृत् के रोग भी बहुत महत्व के हैं। संक्रमी यकृत्शोथ (hepatitis) संक्रामक रोग है। ज्वर, भूख बिलकुल भी न लगना, मितली, कै और पीलिया इसके प्रमुख लक्षण हैं। पूर्ण विश्राम बहुत आवश्यक है। यद्यपि रोग खुद तो खतरनाक नहीं है लेकिन इसकी जटिलताएं खतरनाक हो सकती हैं। (देखिए अध्याय 42 'बच्चों के सामान्य रोग' और अध्याय 8 'सामान्य रोगों में आहार')। यकृत्-सिरोसिस अशक्त करने वाला एक चिरकारी रोग है। यह संक्रमी यकृत्शोथ, पोषण संबंधी कमी अथवा मदिरा के अत्यधिक सेवन से हो सकता है। इससे उदर में आध्मान और पैरों में सूजन हो सकती है। इन रोगों की अपेक्षा कम होने वाले किंतु अधिक महत्व के होते जाने वाले रोग पाचन-पथ के विभिन्न प्रकार के कैन्सर हैं। इनकी भयानक प्रकृति और सही पूर्वानुमान न होने के कारण ही इनका महत्व है। बड़ी उम्र वाले व्यक्ति में यदि कोई लक्षण अधिक समय तक दिखलाई देता है तो कैन्सर का संदेह दूर करने के लिए उसका अच्छी तरह अन्वेषण होना चाहिए।

सिडनी स्मिथ का कथन कितना सटीक है "अच्छा पाचन ही सुखी जीवन की कुंजी है"। सुचारु पाचन के निमित्त जिन नियमों का पालन करना चाहिए वे पिछले अध्याय के अंत में दिए गए हैं।

• • •

22

—डा० डी० ए० पुंडलिक
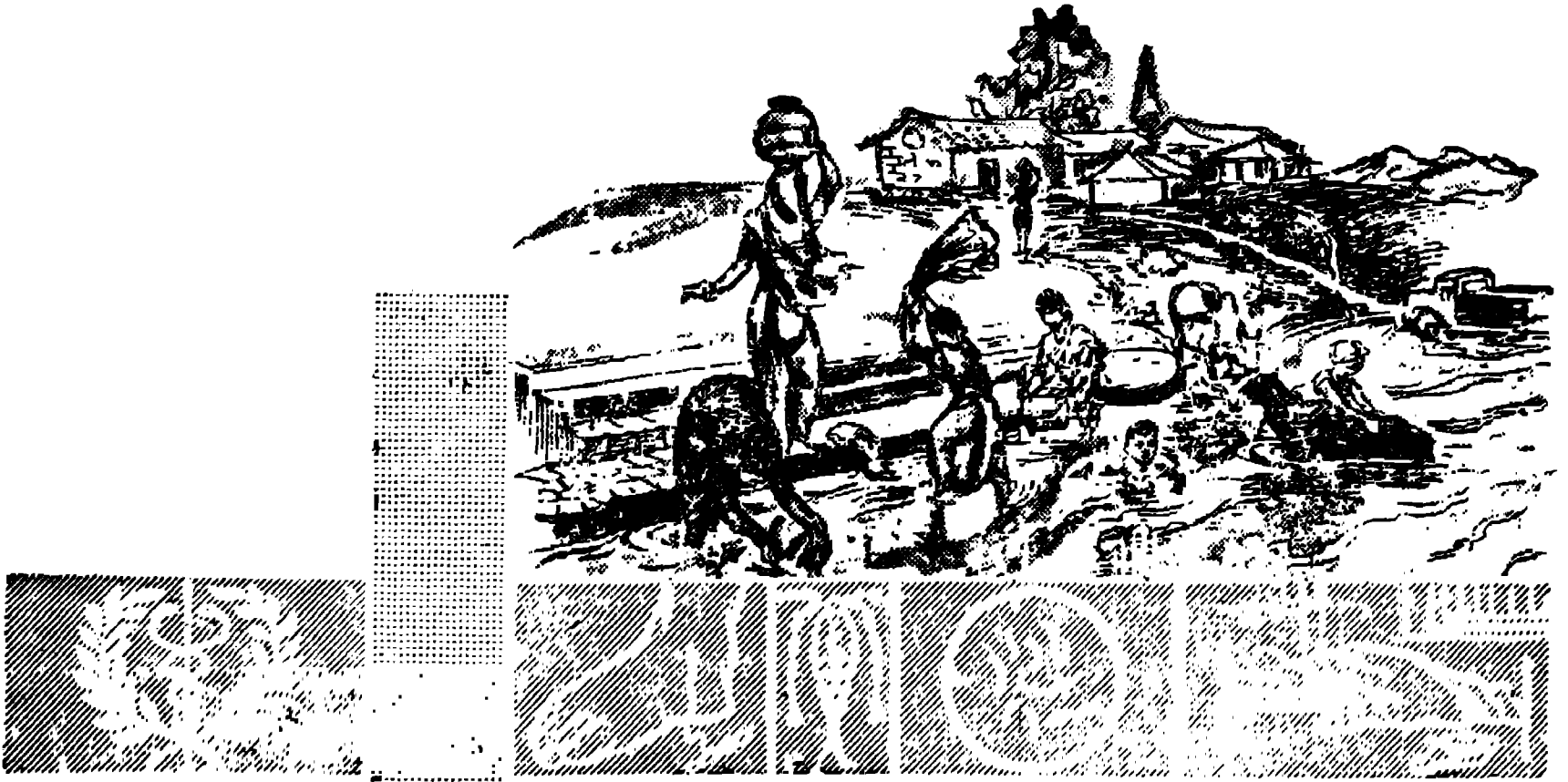
जलवाहित रोग—हैजा, टायफायड, पेचिश

आजकल कई प्रकार के रोग होते हैं। इन्हें उनके कारणों अथवा फैलने की प्रणाली अथवा उनके द्वारा शरीर के विभिन्न भागों के प्रभावित होने के आधार पर कई प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है। फैलने की प्रणाली के आधार पर किया गया वर्गीकरण अधिक महत्वपूर्ण है और साथ ही लाभकारी भी क्योंकि इस तरह इनसे हम पूरे समुदाय की रक्षा कर सकते हैं।

इस प्रणाली को आधार मानकर अनेक रोगों को एक समूह में रख दिया गया है लेकिन फिर भी इनके फैलने का तरीका एक दूसरे से इतना भिन्न है कि उनके प्रसार माध्यमों, जैसे पानी, भोजन, गंदगी आदि, के दृष्टिकोण से उन्हें पुनः और उपसमूहों में विभाजित कर दिया गया है। फिर इन रोगों की विशेषता यह भी है कि ये केवल एक ही माध्यम से नहीं फैलते बल्कि अन्य माध्यम से भी फैल सकते हैं, जैसे कि पानी के द्वारा फैलने वाले रोग मक्खियों, गंदगी आदि से भी फैल सकते हैं।

हैजा :

यह बहुत ही तीव्र संक्रामक रोग है, जो कालरा विब्रियो नामक सूक्ष्मदर्शीय रोगाणु के कारण होता है (चित्र 11.32)। हैजे के रोगी का मल व वमन हैजे के रोगाणुओं से भरे होते हैं और ये रोगाणु मुंह द्वारा संदूषित व भोजन या पेय पदार्थ लिये जाने पर दूसरे स्वस्थ व्यक्ति में पहुंच सकते हैं। रोगाणुओं के शरीर में प्रवेश करने के 1 से लेकर 5 दिन में रोग के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। रोगी को बार-बार चावल के पानी की तरह के सफेद दस्त होते हैं और यही नहीं बार-बार वमन भी होता है। वैसे दस्त होने पर उदर में कोई दर्द नहीं होता। क़ै स्वतः होकर बाहर निकल पड़ती है लेकिन इसमें उबकाई नहीं आती। यदि निरंतर होने वाले दस्त और क़ै को जल्दी नहीं रोका जाए

* * * *

डा. डी. ए. पुंडलिक, एम. बी., बी. एस., डी. पी. एच., एम. पी. एच. (यू. एस. ए.), उपनिदेशक, जन-स्वास्थ्य विभाग, महाराष्ट्र, पूना।

तो रोगी की पेशियों में 'ऐंठन' और बाद में पेशाब आना रुक जाता है। अंततः आघात वाले लक्षण प्रकट हो जाते हैं, जैसे कि त्वचा का ठंडा हो जाना और नाड़ी का अशक्त व तीव्र होना और इस तरह रोगी का निपात या शक्तिपात हो जाता है।

रोग का निदान मल अथवा वमन की सूक्ष्मदर्शी जांच से किया जा सकता है जिनमें कि कॉमा की आकृति वाले विब्रियो जीवाणु दिखलाई पड़ेंगे। यदि निदान के लिए प्रयोगशाला सुविधाएं उपलब्ध नहीं है तो रोग लक्षण निदान केवल ऊपर बताए गए लक्षणों के आधार पर किया जा सकता है।

इस रोग का निरोध किया जा सकता है। हैजे से काफी मृत्यु होती है और जब इस रोग का आक्रमण होता है तो ठीक होना बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि इलाज कितनी जल्दी शुरू किया जा सका। अस्तु, इस वस्तुस्थिति को देखते हुए इसके निरोध और तुरंत उपचार पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

निरोधी उपाय : इनमें निम्नलिखित बातें आती हैं : (क) ग्रस्त स्थानों, परिवारों तथा व्यक्तियों तक आने-जाने पर रोक, (ख) पहले ही टीके लगवा लेना, (ग) वैयक्तिक रोगनिरोध, (घ) पानी का विसंक्रमण, (ङ) अपने घरों की स्वच्छता बनाए रखना और (च) स्वास्थ्य शिक्षा।

किसी स्थान पर जब हैजा फैलता है तो आखिरी ग्रस्त व्यक्ति में रोग होने के 7 से लेकर 10 दिन तक ग्रस्त इलाके के किसी व्यक्ति को अन्य स्थानों पर नहीं जाने देना चाहिए और न ही अन्य इलाकों के लोगों को ग्रस्त इलाके में आने देना चाहिए।

राज्य स्वास्थ्य विभाग अथवा म्युनिसिपल स्वास्थ्य विभाग हर वर्ष अप्रैल और मई के महीने में टीका अभियान चलाते हैं, इसलिए इस दौरान लोगों को स्वयं ही टीके लगवा लेने चाहिए। टीके से बहुत सुरक्षा रहती है और बाद में रोग हो जाने पर आपात्स्थिति में हाय तौबा मचाने की अपेक्षा यही बेहतर रहता है।

हैजे के टीके से हैजा से बचाव अवश्य होता है लेकिन फिर भी इसके प्रति वैयक्तिक रोगनिरोधी उपाय अवश्य किए जाने चाहिए (चित्र 22.2)।

पीने के पानी को उष्णकटिबंधी लाइम क्लोराइड (TCL - ट्रापिकल क्लोराइड ऑफ लाइम) अथवा क्लोरोजेन, जो कि क्लोरीन का बहुत सांद्र विलयन होता है, से अवश्य विसंक्रमित किया जाना चाहिए। यदि यह संभव नहीं है तो पानी को जरूर उबाल लेना चाहिए।

चारों ओर स्वच्छता बनाई रखनी चाहिए ताकि मक्खियां कहीं भी न पनप सकें और भोजन को संदूषित करके रोग न फैला सकें। यदि मक्खियां हैं तो मक्खीरोधी उपाय किए जाने चाहिए। भोजन को अच्छी तरह ढक कर रखा जाना चाहिए और बाजार की धूल व मक्खियों वाली चीजों से दूर ही

चित्र 22.2—वैयक्तिक निरोधी उपाय

निरापद जल | सुरक्षित भोजन | मक्खियों का नियंत्रण | साफ हाथ | प्रतिरक्षीकरण
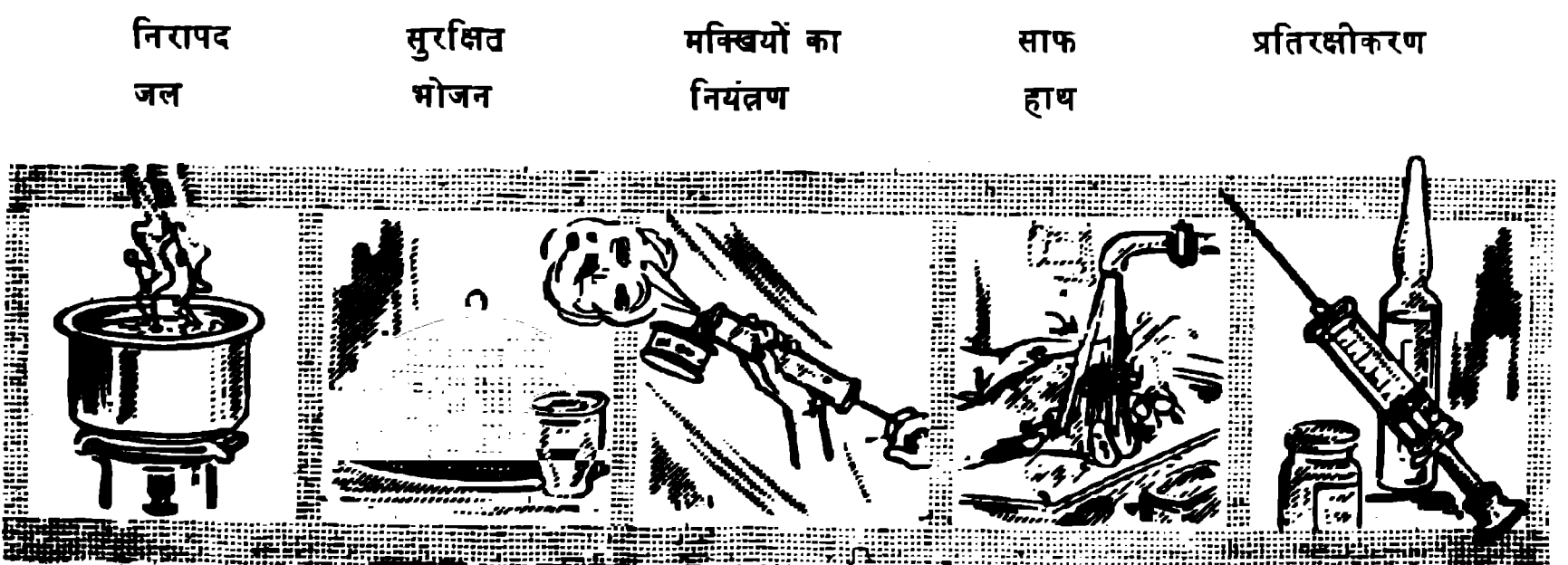
रहना चाहिए।

हैजा जैसे रोग में स्वास्थ्य शिक्षा रोग निरोध में बहुत महत्वपूर्ण होती है। लेकिन ऐसे उपाय तभी अपनाए जा सकते हैं जब कि लोग इनका महत्व समझें और इन निरोधी उपायों में सहयोग देकर इन्हें सफल बनाएं।

यदि इन उपायों के बावजूद भी हैजा फैलता है तो रोग को फैलने से बचाने के लिए निम्नलिखित बातें की जानी चाहिए। साथ ही इस संदर्भ में अध्याय 13 भी देखिए।

1. **अधिसूचना :** रोग की सूचना तुरंत ही स्वास्थ्य प्राधिकारी को दी जानी चाहिए। रोगी को पृथक् अस्पताल या पृथक् वार्ड या किसी पृथक् स्थान पर रख दिया जाना चाहिए, जहां कि संबद्ध प्राधिकारियों ने ऐसे रोगियों के उपचार की व्यवस्था कर रखी है। चूंकि दस्त और वमन से शरीर से तरल और लवण काफी अधिक मात्रा में बाहर निकल जाते हैं, इसलिए सबसे बड़ी चिकित्सा यही है कि शरीर के उस खोए हुए लवणों और तरल की जल्दी से जल्दी पूर्ति की जाय। यह कार्य प्राय: अंत:शिरीय आधान (intravenous infusion) द्वारा किया जाता है और यह केवल अस्पताल में ही संभव होता है। इस दौरान, प्यास दूर करने के लिए पानी की अथवा तेज काली कॉफी की घूंटें दी जा सकती हैं।

2. **विसंक्रमण :** जब तक रोगी घर पर ही है और उसे पृथक् अस्पताल में नहीं ले जाया जाता तो तब तक उसके मल और वमन को 5 प्रतिशत फीनाइल से आध घंटे तक विसंक्रमित किया जाना चाहिए और उसके बाद ही उसे फेंका जाना चाहिए।

3. **टीका लगाना :** सबसे बेहतर तो यही है कि रोग की एकाध घटना होने के पहले ही लोगों को टीके लगा दिए जाएं। लेकिन आम धारणा यही है कि हैजा होने के पहले लोग टीके लगवाते ही नहीं इसलिए जानपदिक के दौरान ही टीके लगाए जाते हैं।

बार-बार बताए जाने के बाद भी पुन: यह बताना जरूरी है कि नियंत्रण की अपेक्षा निरोध के सभी प्रयत्न किए जाने चाहिए। गांव और शहर के लोगों में रोग के घर के अंदर प्रविष्ट होने तक लापरवाह बने रहने वाली प्रवृत्ति को निश्चय ही समाप्त किया जाना चाहिए।

टायफायड :

यह **सामोनेला टाइफी** नामक (चित्र 22.3) रोगाणु के कारण होता है। एक दूसरा ज्वर भी होता है जिसे पैराटायफायड कहते हैं। केवल रोग लक्षण संबंधी जांच के आधार पर टायफायड और पैराटायफायड के ज्वरों का अंतर करना बहुत मुश्किल होता है। इसमें रोग की उद्भवन अवधि (incubation period) एक हफ्ते से लेकर तीन हफ्ते तक होती है।

रोग के जीव मल में विद्यमान रहते हैं। लेकिन ये मूत्र में भी विद्यमान रह सकते हैं। इसलिए ये पानी और संदूषित भोजन द्वारा प्रवाहित किए जा सकते हैं। पानी के माध्यम से इनका प्रसार उग्र महामारी कर सकता है।

इस ज्वर की अवधि दो, तीन या चार हफ्ते होती है। पहले हफ्ते के दौरान तापमान बढ़ता जाता है और फिर धीरे-धीरे सामान्य तक आ जाता है। रोग की आवृत्ति (relapse) आमतौर पर होती है।

इस ज्वर की विशेषता यह है कि इस रोग के 'वाहक' लगभग हर एक समुदाय में होते हैं। वाहक वह व्यक्ति होता है जिसके शरीर में टायफायड के रोगाणु होते हैं लेकिन वह इस रोग से पीड़ित नहीं होता क्योंकि उसके शरीर में टायफायड के रोगाणुओं के प्रति प्रतिरक्षा होती है। ऐसा व्यक्ति अपने मल और मूत्र में टायफायड के रोगाणु विसर्जित करता रहता है जो एक व्यक्ति से दूसरे
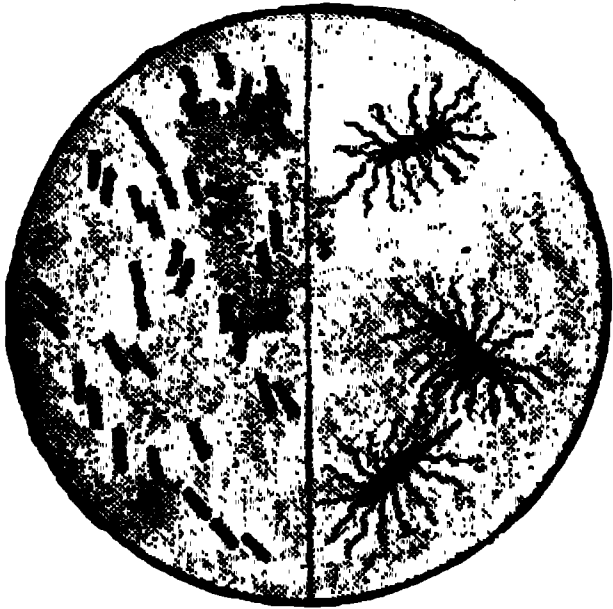
चित्र 22.3—टायफायड के रोगाणु

व्यक्ति में संदूषित भोजन व पानी के द्वारा संचारित किए जा सकते हैं (चित्र 22.4)। इसलिए इस बात की सुनिश्चिति बहुत महत्वपूर्ण है कि टायफायड ज्वर से पीड़ित होने वाला रोगी जहां तक हो सके तभी मुक्त किया जाना चाहिए जबकि उसके मल और मूत्र में इन जीवों की उपस्थिति नहीं होती।

इसके लिए अब क्लोरोमाइसिटीन सरीखी औषधियां उपलब्ध हैं जिसके कारण बीमारी की चिकित्सा उतनी बड़ी समस्या नहीं रह गई है जितनी कि कुछ वर्ष पहले हुआ करती थी। लेकिन फिर भी यह याद रखना चाहिए कि यद्यपि आधुनिक औषधियों द्वारा तापमान कुछ ही दिनों में सामान्य हो जाता है तो भी आराम, भोजन की सावधानी और उचित परिचर्या कुछ दिनों के लिए परम आवश्यक है, अन्यथा बीमारी की आवृत्ति हो सकती है।

यदि परिवार में किसी व्यक्ति को टाइफायड ज्वर होता है तो स्थानीय प्राधिकारी को इसकी सूचना दे दी जानी चाहिए। लेकिन अफसोस यह है कि इस बात का परिपालन नहीं होता।

चूंकि रोग संदूषित भोजन और पानी के कारण फैलता है इसलिए वे सभी उपाय किए जाने चाहिए जिससे कि मक्खियों व धूल आदि से भोजन का संदूषण बचाया जा सके।

उन सभी व्यक्तियों की जो भोजन संबंधी प्रतिष्ठानों में रसोइया या खाना देने का कार्य करते हैं, जांच की जानी चाहिए ताकि वे टायफायड के वाहक का कार्य न कर सकें और उनको यह भी अच्छी तरह से बता दिया जाय कि जब वे शौचालय जायें या भोजन को हाथ लगाएं तो अपने हाथ अच्छी तरह से धो लिया करें।

स्थान और मोहल्ले की स्वच्छता पर अपेक्षा से अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए ताकि मक्खियां पनप कर रोग न फैला सकें।

रोग के बचाव के लिए टायफायड का रोगनिरोधी टीका उपलब्ध रहता है। उन क्षेत्रों में जहां कि टायफायड स्थानिक है वहां हर वर्ष जून के महीने में रोगनिरोधी टीका लगवा लिया जाना चाहिए।

पेचिश :

यह रोग नहीं है बल्कि लक्षण सम्मिश्र है। इसमें श्लेष्मा और खून के साथ दस्त, उदरीय

चित्र 22.4—जलवाहित रोगों का प्रसार
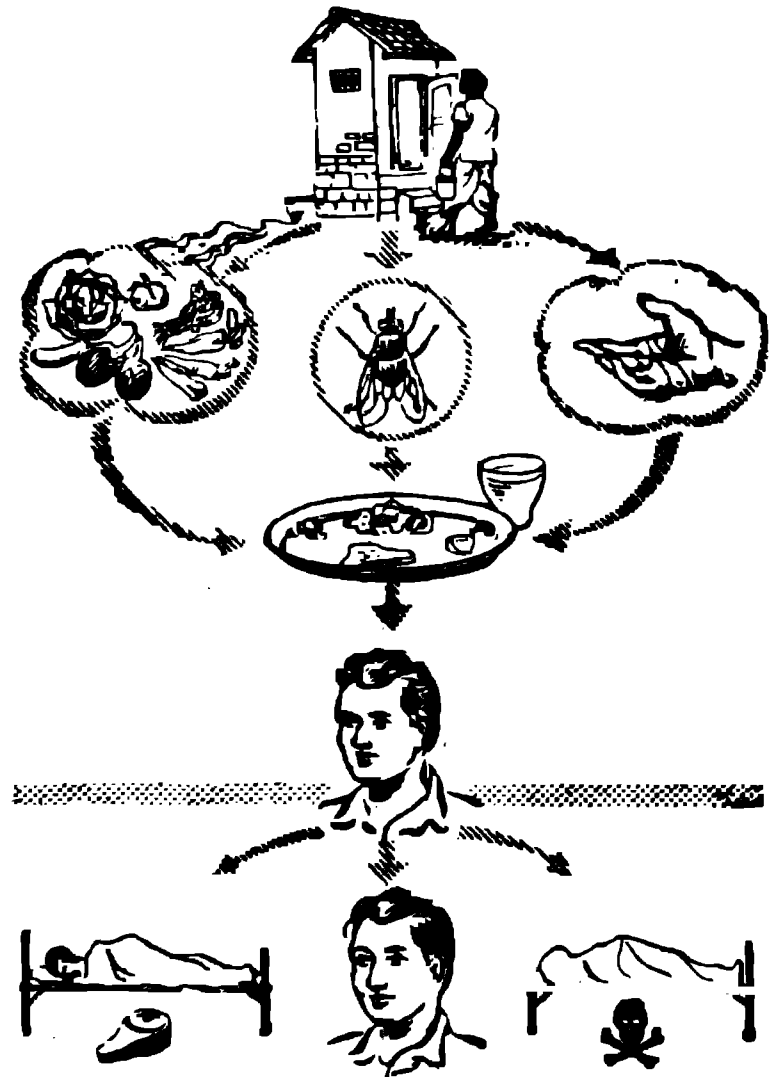
वेदना, ज्वर और सपीड़ कुंथन (tenesmus) होता है।

इस रोग के मुख्य दो प्रकार हैं—(1) **दंडाणुक** (bacillary) और (2) अमीबी (amoebic) और मल की जांच से इनका अंतर स्पष्ट किया जा सकता है। दंडाणुक पेचिश निम्नलिखित जीवों में से किसी एक के द्वारा हो सकती है—(क) शीगा बैसिलस, (ख) फ्लेक्सनर बैसिलस, अथवा (ग) सोने बैसिलस। अमीबा पेचिश **एन्टअमीबा हिस्टोलिटिका** नामक जीव के कारण होती है। प्रतिकूल परिस्थितियों में अमीबा का कायिक (vegetative) रूप रोधी प्रकार के पुटीय रूप (cystic form) में परिवर्तित हो जाता है (चित्र 22.5)। दंडाणुक या बैसिलरी पेचिश मुख्यतया मक्खियों द्वारा फैलाई जाती है जबकि अमीबी पेचिश पानी के द्वारा फैलती है।

इसलिए एक निरोधी उपाय यह है कि आस-पास 'स्वच्छता' की समुचित व्यवस्था रखनी चाहिए ताकि मक्खियां कम-से-कम पनप सकें। जब जल की आपूर्ति ठीक से छन कर नहीं होती या उचित रूप से विसंक्रमित नहीं हो पाती तो

चित्र 22.5—अमीबा और उसकी पुटी

यही अच्छा होगा कि पानी उबालकर पिया जाय। भोजन के प्रति भी सावधानी बरतना जरूरी है। पेचिश में सुझाया गया आहार ही प्रवाहिका के लिए भी है। देखिए अध्याय 8।

पेचिश का यदि ठीक से इलाज न किया जाये तो वह चिरकारी रोग बन जाता है। अमीबाओं की पुटीय अवस्थाओं को नष्ट करना बहुत मुश्किल होता है। इसलिए लक्षणों के न रहने पर भी इलाज तब तक चलता रहना चाहिए जब तक कि रोगकारी जीव शरीर से पूरी तरह से नहीं नष्ट कर दिया जाता। ऐसा न करने का मतलब होगा फिर परेशानियों को न्योता देना।

* *

संक्रमी यकृत्शोथ और आंत्रकृमि, और पोलियों का वर्णन क्रमश: अध्याय 42 में 'बच्चों के रोग' और अध्याय 26 में 'तंत्रिका-तंत्र के विकार' के अंतर्गत किया गया है। गिनी कृमि के लिए अध्याय 15 देखिए।

चूंकि ऊपर बताए गए सभी रोग संक्रामक हैं, इसलिए रोगी की परिचर्या करने वाला व्यक्ति भी इन रोगों में से किसी रोग से संक्रमित होकर रोगी बन सकता है। इसलिए उसे चाहिए कि रोगी की सेवा व परिचर्या के उपरांत और खाने या पीने के पहले अपने हाथ खूब अच्छी तरह से साबुन से धो ले। उसे रोग विशेष के लिए निरोधी टीका भी लगा लेना चाहिए।

* *

हैजा, टायफायड और पेचिश सरीखे जलवाहित रोगों से बचाव के लिए :—

1. रोगी के संपर्क में मत जाइए।

2. रोगी की परिचर्या के बाद और भोजन करने व कोई पेय पीने के पहले हाथों को साबुन से खूब अच्छी तरह धो लेना चाहिए।

3. उसी पानी को पीजिए जिसे विसंक्रमित कर लिया गया है और वही दूध पीजिए जिसे खूब उबालकर ढक कर रखा गया है।

4. भोजन व खाने की वस्तुओं को ढक कर रखना चाहिए। जिन खाद्य पदार्थों पर धूल गिरी हो या मक्खियां बैठी हों उन्हें नहीं खाना चाहिए।

5. गरम और ताजा भोजन करिए। कच्चे खाद्य पदार्थों से परहेज रखिए।

6. मक्खियों के नियंत्रण के लिए कदम उठाए जाने चाहिए।

7. निरोधी टीके लगवाइए।

8. यात्रा के दौरान अपना खुद का प्याला इस्तेमाल करिए और ठंडे पेयों की अपेक्षा गरम पेयों का सेवन करिए।

—संपादक

• • •
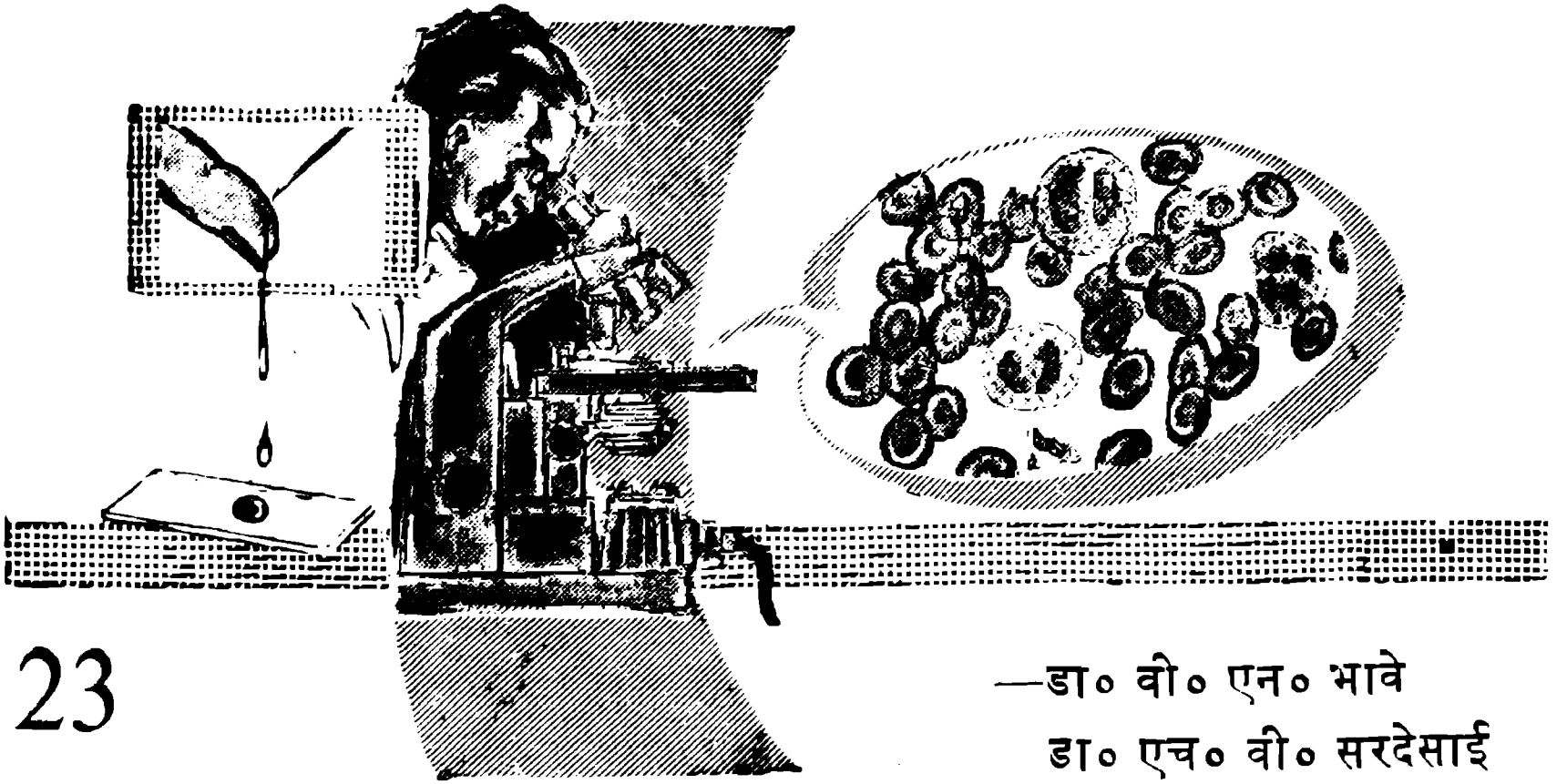
23

—डा० वी० एन० भावे
डा० एच० वी० सरदेसाई

रक्त और उसके रोग

रक्त :

रक्त शरीर में परिसंचरित होने वाला लाल तरल है। यह हृदय द्वारा धमनियों में पंप किया जाता है, केशिकाओं (capillaries) द्वारा शरीर के ऊतकों में पहुंचाया जाता है और शिराओं (veins) द्वारा फिर हृदय में वापस लाया जाता है। यह वह माध्यम है जिसके द्वारा शरीर की सभी कोशिकाएं पोषण प्राप्त करती हैं। एक प्रौढ़ मानव शरीर में करीब 4 से 5 लिटर खून रक्त वाहिकाओं के द्वारा लगातार दौरा करता रहता है। शरीर में रक्त की यह मात्रा नया रक्त बनाकर और दूषित रक्त को निकाल कर लगभग एक-सी रखी जाती है। रक्त में प्लाज्मा नामक पीला तरल भाग होता है जिसमें तीन प्रकार की असंख्य कोशिकाएं तिरती रहती हैं। ये हैं :—(1) लाल रक्त कोशिकाएं, (2) श्वेत रक्त कोशिकाएं, और (3) रक्त बिम्बाणु (platelets)। ये सभी इतनी छोटी होती हैं कि ये केवल सूक्ष्मदर्शी में ही देखी जा सकती हैं।

लाल रुधिर कोशिकाएं : इन्हें लाल रक्त कणिकाएं (corpuscles) भी कहते हैं। ये सूक्ष्म व गोलाकार बिंब या तश्तरी जैसी संरचनाएं होती हैं, जिनकी दोनों सतहें अवतल होती हैं (चित्र 23.44)। ये अनगिनत संख्या में होती हैं, एक घन मिलीमीटर रक्त में करीब 50 लाख होती हैं। स्वस्थ स्त्री में प्रति घ. सें. में 45 लाख लाल रक्त कोशिकाएं होती हैं। यदि इन्हें किनारे से सटा-सटाकर रखा जाय तो एक वर्ग सेन्टीमीटर में ये करीब 20 लाख आ जाएंगी। इनका यह लाल रंग हीमोग्लोबिन के कारण होता है, जो कि एक लोहे वाला वर्णक (pigment) है और जिसमें एक प्रोटीन पदार्थ भी होता है। हीमोग्लोबिन की आक्सीजन से भारी बंधुता है। जब फेफड़ों से होकर रक्त प्रवाहित होता है तो हीमोग्लोबिन फेफड़ों (चित्र 23.2) की वायु से आक्सीजन लेकर आक्सीहीमोग्लोबिन नामक चमकीले लाल रंग का यौगिक बना देता है। ऊतकों में प्रवाहित

* * * *

डा. वी. एन. भावे, एम. बी., बी. एस., जनरल मेडिकल प्रेक्टिशनर, पूना; विज्ञान की अनेक स्कूली पाठ्य पुस्तकों के लेखक; सदस्य, संपादक मंडल, 'हम और हमारा स्वास्थ्य'।

डा. एच. वी. सरदेसाई, एम. डी. (बम्ब.), एम. आर. सी. पी. (ई.), ऑनरेरी फिजीशियन, ससून जनरल अस्पताल तथा बी. जे. मेडिकल कालेज, पूना।

होते हुए ये लाल कोशिकाएं अपनी आक्सीजन का कुछ अंश दहन क्रिया के लिए ऊतकों को दे देते हैं (चित्र 23.3) और हीमोग्लोबिन गहरा लाल हो जाता है। इसी दौरान ये लाल कोशिकाएं ऊतकों से मुक्त हुई कार्बन-डाइ-आक्साइड को अपने में ग्रहण कर लेती हैं। एक औसत लाल कोशिका इस तरह तीन-चार महीने तक निरंतर कार्य करती रहती है और फिर तिल्ली और यकृत् द्वारा तोड़ दी जाती है। लेकिन इन टूटी-फूटी कोशिकाओं का लोहा संचित रखा जाता है और अस्थि-मज्जा (bone marrow) को भेज दिया जाता है जहां कि नष्ट हुई कोशिकाओं का स्थान लेने के लिए नई लाल कोशिकाएं लगातार बनाई जाती रहती हैं। चूंकि यह पुनः प्राप्त लोहा सभी नई कोशिकाओं के निर्माण के लिए काफी नहीं होता इसलिए इनकी आपूर्ति के लिए लौह युक्त खाद्य पदार्थों का सेवन किया जाना चाहिए।

श्वेत रक्त कोशिकाएं : इन्हें श्वेत रक्त कणिकाएं या श्वेतकोशिकाएं (leucocyte) भी कहते हैं। लाल रक्त कोशिकाओं की अपेक्षा ये बड़ी होती हैं और इनमें एक या अनेक केंद्रक (nuclei) होते हैं। ये रंगहीन तथा अनियमित आकार की होती हैं और लाल कोशिकाओं की तरह असंख्य नहीं होते हैं। श्वेत कोशिकाएं और लाल कोशिकाओं के बीच लगभग 1 और 500 का अनुपात होता है अर्थात् ये एक घन मिलीमीटर रक्त में करीब 8 से 10 हजार होती हैं। इनका निर्माण अस्थि-मज्जा और लसीका-पर्वों में होता है। श्वेत कोशिकाएं गति कर सकती हैं और अपनी आकृति भी बदल सकती हैं। ये कोशिका-भित्ति के छोटे-छोटे छिद्रों से होकर ऊतकीय अवकाशों या खाली स्थानों में और खाली स्थानों से कोशिका-भित्ति में सिमटकर आ जा सकते हैं (चित्र 23.46)। ये बाहरी कणों व जीवाणुओं को घेर कर उन्हें खा डालते हैं। शरीर में होने वाले संक्रमण के प्रति ये रक्षा सेना का महत्वपूर्ण दायित्व निभाते हैं। शरीर में संक्रमण होने पर इनकी संख्या प्रति घन मिलीमीटर 8000 से लेकर 25,000 से भी अधिक हो जाती है। इस प्रकार इनकी संख्या बढ़ने की अवस्था को श्वेतकोशिकाबहुलता (leucocytosis) कहते हैं, लेकिन इसके विपरीत कुछ दशाओं में जैसे टायफायड में, इनकी संख्या में कमी हो जाती है और इस अवस्था को श्वेतकोशिकाल्पता (leucopenia) कहते हैं। मरे हुए जीवाणुओं, श्वेत कोशिकाओं और ऊतक का मलबा पूय या 'पस' कहलाता है। श्वेत रक्त कोशिकाओं के कई प्रकार होते हैं (चित्र 23.45) और सिरे के स्लाइड में इनकी एक बूंद के लेप से डाक्टर को प्रत्येक प्रकार का प्रतिशत निकालना होता है। इओसिनोफिल प्रकार की श्वेत रक्त कोशिकाएं (चित्र 23.45-सी)

चित्र 23.2—फेफड़ों में गैस-विनिमय

रक्त कोशिका
ला. र. को
कोशिका भित्ति
फेफड़े की दीवार
फेफड़े का भीतरी भाग
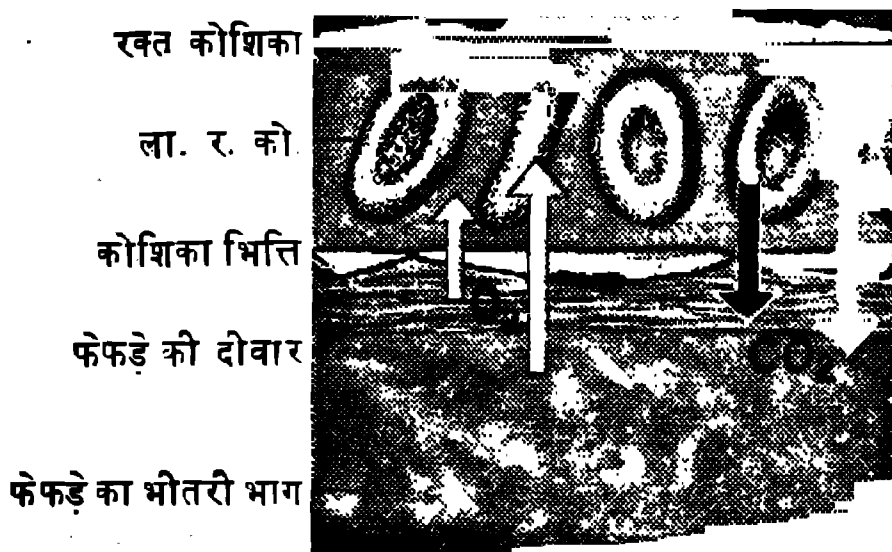
चित्र 23.3—ऊतकों में गैस-विनिमय
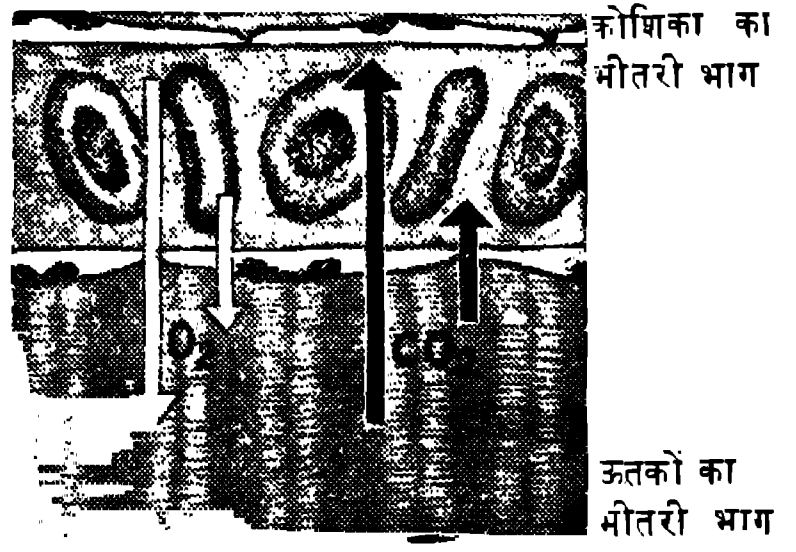
दमा, एक्जीमा सरीखी एलर्जी अवस्थाओं में अथवा शरीर में आंत्र कृमि जैसे परजीवियों के होने के कारण संख्या में बहुत अधिक हो जाती हैं।

रक्त बिंबाणु (platelets) : ये लाल रक्त कोशिकाओं की अपेक्षा छोटी और संख्या में कम होती हैं। प्रति घन सेंमी. में ये करीब 3 से 4 लाख होती हैं। ये अस्थि-मज्जा में बनती हैं। रक्त के स्कंदन या जमने में इनकी उपस्थिति अनिवार्य है।

रक्त गणन या ब्लड काउन्ट : कभी-कभी रोग के निदान के लिए इस बात की जानकारी जरूरी है कि खून के 1 घन मिलीमीटर में लाल और श्वेत कोशिकाओं की संख्या कितनी है। अंगुली में सुई चुभोकर रक्त का नमूना लिया जाता है। इस रक्त की तनुकृत बूंद एक विशेष शीशे की स्लाइड में रखी जाती है जिसमें छोटे-छोटे वर्ग वाली लाइनें खिची होती हैं (चित्र 23.5)। इस प्रकार सूक्ष्मदर्शी में प्रत्येक वर्ग की लाल व श्वेत कोशिकाओं को प्रत्यक्ष रूप से गिना जा सकता है। निदान में प्रति घन मिलीमीटर में इन कोशिकाओं की संख्या बहुत सहायक होती है। हीमोग्लोबिन-मापी या हीमोग्लोबिनोमीटर नामक विशेष उपकरण की सहायता से रोगी के रक्त में हीमोग्लोबिन की मात्रा का निर्धारण भी किया जा सकता है।

प्लाज्मा : यह रक्त का द्रवीय भाग है, जिसमें कणिकाएं तिरती रहती हैं। रंग में यह हल्का पीला होता है। इसमें 90 प्रतिशत जल और 10 प्रतिशत ठोस होते हैं और इस कारण रक्त तेजी से प्रवाहित हो सकता है। इसमें विद्यमान ठोस प्रमुख रूप से प्रोटीन ही होते हैं और जो तीन प्रकार के होते हैं : (1) एल्बुमिन, जो प्लाज्मा में जल की मात्रा का नियमन करके रक्त दाब को एक-सा बनाए रखता है, (2) ग्लोबुलिन, जिसमें विशिष्ट रोगों से लड़ने के लिए प्रभावकारी प्रति-पिंड होते हैं, और (3) फाइब्रिनोजन, जो रक्त के स्कंदन या जमने में बहुत जरूरी होता है। इन प्रोटीनों के अतिरिक्त प्लाज्मा में घुलित रूप में कई खाद्य पदार्थ भी होते हैं जैसे अमीनो अम्ल, वसाएं, ग्लुकोस, लवण और विटामिन, जो पचान-पथ से अवशोषित किए जाते हैं। लेकिन इनके अलावा आक्सीजन व कार्बन-डाइ-आक्साइड जैसी गैसें, अंतःस्रावी ग्रंथियों से स्रावित या प्रवाहित हॉरमोन, एंजाइम और यूरिया, यूरिक एसिड सरीखे वर्ज्य पदार्थ और विभिन्न लवण भी होते हैं जिन्हें कि निष्कासित करना होता है।

इस प्रकार रक्त के कई महत्वपूर्ण कार्य हैं : 1. यह आक्सीजन और भोजन के अलावा कई लाभकारी पदार्थों, जैसे हॉरमोन आदि को अपने में बहाकर ले जाता है, 2. यह वर्ज्य पदार्थों को

चित्र 23.5—रक्त-कोशिकाओं की गणन-विधि
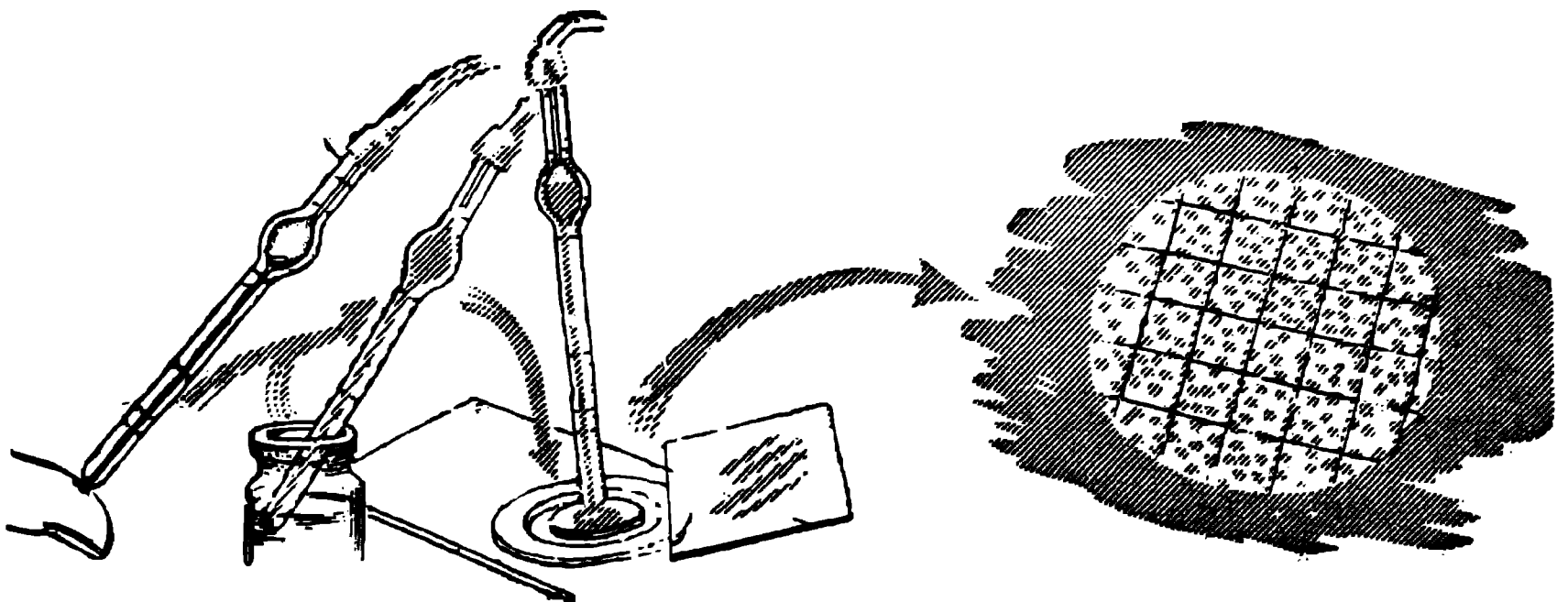
विसर्जन-अंगों में निष्कासन के लिए ले जाता है, 3. अपने प्लाज्मा की श्वेत रक्त कोशिकाओं और प्रतिपिंडों की सेना से यह रोगों से लड़कर शरीर की रक्षा करता है, 4. शरीर का तापमान एक-सा बनाए रखने में योग देता है।

रक्त स्कंदन (Clotting of Blood) : जब शरीर की कोई रक्त वाहिका कट जाती है या छिद जाती है तो तुरंत ही प्राण बचाने वाली प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। क्षत स्थान पर स्कंद (Clot) यानी खून का थक्का बन जाता है, जो खून के प्रवाह को रोक देता है (चित्र 23.61)। स्कंदन एक बड़ी जटिल प्रक्रिया है जिसमें परिवर्तनों की एक श्रृंखला होती है। सबसे पहले, रक्त बिम्बाणु टूटकर थ्रॉम्बोप्लास्टिन बनाते हैं। यह पदार्थ यकृत् में बनने वाले प्रोथ्रॉम्बिन नामक एंजाइम के साथ रक्त वाले विटामिन के. और कैल्सियम की उपस्थिति में मिल जाता है। इसका परिणाम होता है थ्रॉम्बिन का निर्माण। थ्रॉम्बिन फिर रक्त के प्रोटीन फाइब्रीनोजन के साथ मिलकर धागे जैसा पदार्थ फाइब्रिन बनाता है। फाइब्रिन के ये धागे अपनी जालिका के छेदों में लाल और श्वेत कोशिकाओं को फंसा कर स्कंद या थक्का बना लेते हैं (चित्र 23.62)। रक्त से जब स्कंद अलग कर दिया जाता है तो बचा हुआ द्रवीय अंश सीरम कहलाता है। रक्त के स्कंदन या जमने की प्रक्रिया को संक्षेप में निम्नलिखित प्रकार से समझाया जा सकता है :—

1. थ्रॉम्बोप्लास्टिन + प्रोथ्रॉम्बिन + कैल्सियम = थ्रॉम्बिन
2. थ्रॉम्बिन + फाइब्रिनोजन = फाइब्रिन
3. फाइब्रिन + लाल व श्वेत कोशिकाएं = स्कंद (थक्का)

सामान्यतया जब रक्त वाहिकाओं में बहता रहता है तो स्कंदित नहीं होता लेकिन ज्यों ही वह किसी क्षत वाहिका से बाहर निकलना शुरू करता है त्यों ही वह स्कंदित होने लग जाता है। कभी-कभी जब धमनी की दीवारों के मोटा होने (धमनीकाठिन्य --arteriosclerosis) के कारण अथवा किसी अन्य रक्तविकार से रक्त का प्रवाह मंद पड़ जाता है तो हृदय अथवा मस्तिष्क जैसे महत्वपूर्ण अंगों में स्कंदित होकर व थ्रॉम्बस बनाकर रक्त कुछ अन्य गंभीर परिणाम उत्पन्न कर सकता है। लेकिन इसके विपरीत रक्त के ठीक से स्कंदित न होने के कारण भी भयानक परिस्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं, जैसे कि हीमोफीलिया नामक रोग में।

लसीका तथा लसीका-तंत्र (Lymph and Lymphatic system) :

जब रक्त कोशिकाओं के जाल से होकर शरीर में परिसंचरित होता है तो प्लाज्मा का कुछ अंश

चित्र 23.61—रक्त का स्कंदन (जमना)
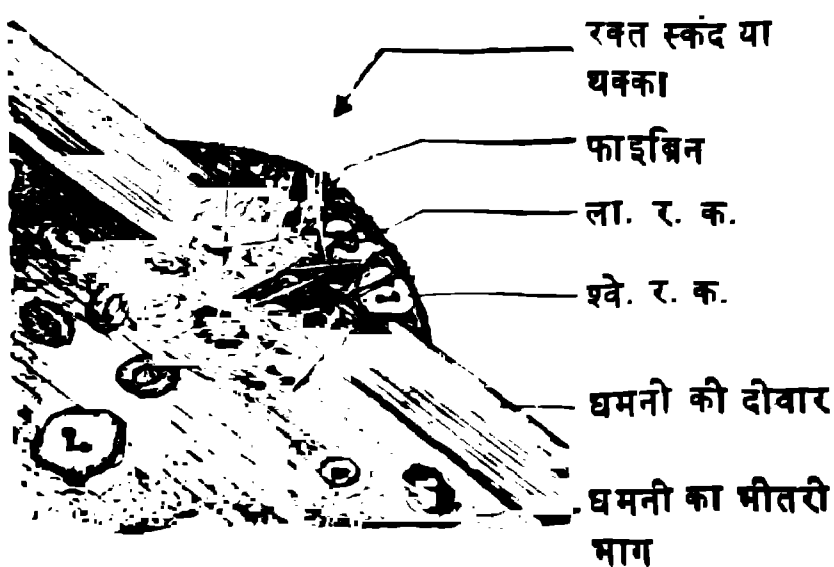
चित्र 23.62—रक्त स्कंदन की अवस्थाएं
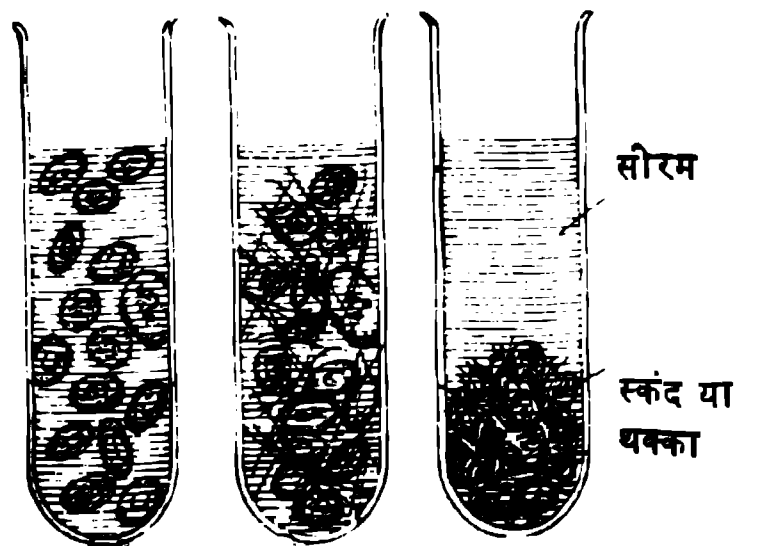
इन वाहिकाओं की पतली दीवारों से बाहर निकल जाता है और जो अपने साथ ऊतक की कोशिकाओं में पोषण व आक्सीजन ले जाता है। रिस कर बाहर निकलने वाला यही द्रव लसीका कहलाता है। लसीका में लाल रक्त कोशिकाएं अथवा अधिकांश रक्त प्रोटीन नहीं होते क्योंकि ये कोशिकाओं की पतली दीवारों से बाहर नहीं आ सकते। लेकिन कुछ श्वेत रक्त कोशिकाएं कोशिका की दीवारों की कोशिकाओं से बाहर निकल ही जाती हैं। कोशिकाओं की वृद्धि और मरम्मत के लिए लसीका उन्हें भोजन और चयापचय की प्रक्रियाओं के लिए ऊतकों को आक्सीजन प्रदान करता है। लसीका में वर्ज्य पदार्थ भी आते हैं और लसीका वाहिका नामक छोटे प्रणालों (channels) से होकर ये वर्ज्य पदार्थ सिरे पर बड़ी शिराओं से मिल जाते हैं (चित्र 23.7)। लसीका वाहिकाओं के मार्ग पर छोटे व अंडाकार लसीका-पर्व (glands) होते हैं (चित्र 12.4), जो लसीका से जीवाणु व अन्य बाहरी हानिकारक पदार्थों को छानते हैं। ये कुछ श्वेत रक्त कोशिकाएं भी उत्पन्न करते हैं। लसीका पर्वों के प्रमुख समूह विभिन्न स्थलों पर स्थित होते हैं जैसे ऊरु-मूल (groin), बगल, गर्दन, फेफड़ों, यकृत्, उदर आदि पर। संक्रमण से इन लसीका-पर्वों में सूजन आ जाती है और जिससे दर्द भी होता है। शोथ या सूजन वाले लसीका-पर्व को गिल्टी (bubo) कहते हैं।

रक्त वर्ग (Blood Groups) :

रक्ताधान (blood transfusion) के आरंभिक दिनों में दाता का खून जब उन्हें दिया जाता था तो प्रायः वे मर जाते थे। यह इसलिए कि भिन्न-भिन्न लोगों का रक्त हमेशा समान नहीं होता है। यदि दाता का खून आदाता या ग्रहण करने वाले के खून से नहीं मिलता है तो आदाता के रक्त का सीरम दाता की लाल रक्त कोशिकाओं को पुंजित कर देता है और इस प्रतिक्रिया को समूहन (agglutination) कहते हैं। यह प्रति-

चित्र 23.7—लसीका-तंत्र
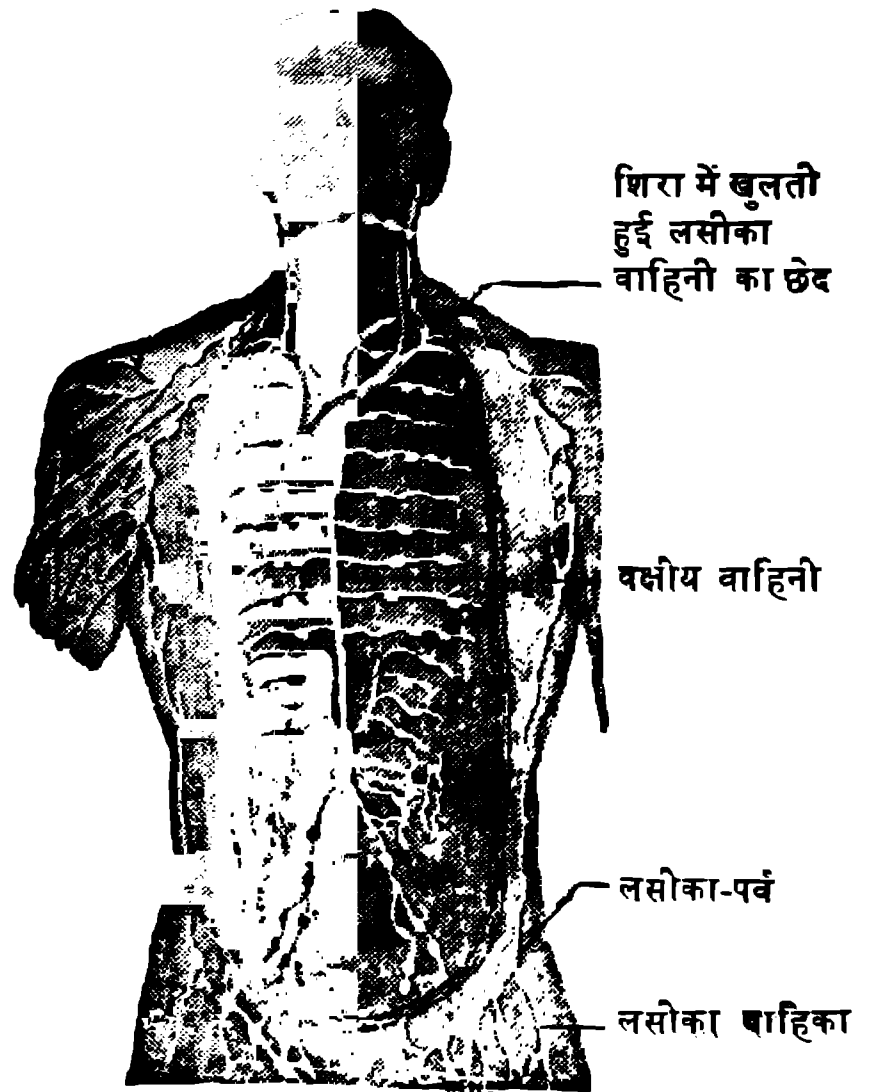
क्रिया दो पदार्थों के मिलने के कारण होती है और इन दो पदार्थों में एक है लाल रक्त कोशिकाओं वाला पदार्थ एग्लुटिनोजन और दूसरा सीरम वाला पदार्थ एग्लुटिनिन। आदाता के सीरम की दाता की लाल रक्त कोशिकाओं से होने वाली प्रतिक्रिया पर ही यहां विचार किया गया है क्योंकि रक्ताधान में दाता का सीरम तनु हो जाता है जो आदाता की कोशिकाओं का समूहन करने में असमर्थ होता है।

मानव रक्त में 'ए' और 'बी' नाम के दो प्रकार के एग्लुटिनोजन होते हैं। यदि किसी व्यक्ति की लाल रक्त कोशिकाओं में 'ए' कारक है तो वह 'ए' वर्ग वाला होता है, 'बी' कारक है तो 'बी' वर्ग वाला, इसी तरह दोनों कारक हैं तो 'ए बी' वर्ग वाला और यदि कोई कारक नहीं है तो 'ओ' वर्ग वाला। यदि 'ए' अथवा 'ए बी' वर्ग वाला रक्त 'बी' वाले में मिलाया जाय और यदि 'बी' और

'ए बी' वाला 'ए' प्रकार में मिलाया जाय तो समूहन हो जाएगा और इसका परिणाम भयंकर होगा। 'ओ' वर्ग के रक्त में कोई समूहन कारक नहीं होता इसलिए आपात् स्थिति में 'ओ' वर्ग का रक्त किसी भी व्यक्ति को दिया जा सकता है। 'ओ' वर्ग वाला व्यक्ति 'सार्विक रक्तदाता' (Universal donor) कहलाता है। इसी तरह 'ए बी' प्रकार का व्यक्ति चारों वर्गों में से किसी एक वर्ग से रक्त ले सकता है और 'सार्विक आदाता' (Universal recipient) कहलाता है क्योंकि उसके सीरम में कोई एग्लुटिनिन नहीं होता। ऊपर वाली प्रतिक्रियाएं चित्र 23.8 में समझाई गई हैं।

जब किसी रोगी में पूरा रक्ताधान किया जाना होता है तो उसके तथा दाता के रक्त वर्ग संगतता की जांच अच्छी तरह कर ली जानी चाहिए। एक शीशे की स्लाइड पर उसके खून की एक बूंद रखी जाती है और फिर चारों वर्गों के रक्त सीरम से बारी-बारी से संगतता देखी जाती है (चित्र 23.9)। रक्ताधान के लिए उसी वर्ग का रक्त लेना सबसे उत्तम रहता है।

आरएच (Rh) रक्त वर्ग : सामान्यतया 'ए बी ओ' (ABO) रक्त वर्ग अधिक प्रयुक्त होता है। लेकिन रक्त की संगतता एम, एन, पी

चित्र 23.8—रक्त वर्गों की संगतता की दृष्टि से वर्ग निर्धारण

आदाता का सीरम

दाता की रक्त कोशिकाएं	A	B	A B	O
A				
B				
A B				
O				

चित्र 23.9—रक्त संगतता

और आरएच जैसे अन्य लाल कारकों से भी देखी जाती है। सामान्य लाल रक्त कोशिकाओं में कई अन्य प्रतिजन (antigen) भी खोजे गये हैं। आनुवंशिक अध्ययन और जनकता के निर्धारण के लिए तो ये महत्वपूर्ण हैं लेकिन इसके अतिरिक्त आरएच कारक का एक विशेष महत्व है। आरएच शब्द 'रीसस' (rhesus) से व्युत्पन्न हुआ है और इसका कारण यह है कि मानव में विद्यमान यह विशेष कारक सबसे पहले रीसस बंदर में खोजा गया था। यदि पिता आरएच धनात्मक और माता आरएच ऋणात्मक है तो शिशु आरएच धनात्मक हो सकता है। ऐसा शिशु ऋणात्मक माता के आर-एच कारक के प्रति प्रतिपिंडों का निर्माण अनुप्रेरित करता है। अपरा (placenta) द्वारा इनके स्थानांतर से शिशु की रक्त कोशिकाएं नष्ट हो जाती हैं और अंततः इसका परिणाम होता है मृत्यु। अतः ऐसी माता में बाद की सगर्भता वाली दशा में यदि उसमें किसी कारण रक्ताधान किया जाना है तो आरएच कारक की जांच जरूरी होती है। यदि उसे आरएच धनात्मक रक्त दिया जाता है तो शिशु की मृत्यु हो सकती है। आर-एच कारक की उपस्थिति और अनुपस्थिति रक्त के परीक्षण से ज्ञात की जा सकती है।

रक्ताधान :

आधुनिक चिकित्सा में रक्ताधान अब एक आम बात हो गई है। खून निकालने, आघात, जली दशा, अति अरक्तता और अन्य रोगों में जिनमें खून की आवश्यकता होती है या खून नष्ट हो जाता है, रक्ताधान की आवश्यकता होती है। उन

रोगियों में जिनमें शस्त्रकर्म के फलस्वरूप रक्त की हानि होने की संभावना रहती है, उनमें भी रक्ताधान आवश्यक होता है। आजकल रक्ताधान की प्रक्रिया एक अप्रत्यक्ष प्रक्रिया है यानी ये ऐसे रक्त से संपन्न होते हैं जो 'रक्त बैंक' में प्रशीतित अवस्थाओं में रखा रहता है। रक्त इकट्ठा करने के लिए दाता को शयान स्थिति में लिटाया जाता है। फिर कोहनी के सामने शिरा में एक सुई अंदर डाली जाती है (चित्र 23.10-ए) और इस तरह एक नली से होकर रक्त को 500 घसें. वाली विसंक्रमित बोतल में प्रवाहित होने दिया जाता है। इस बोतल में रक्त का स्कंदन रोकने के लिए प्रतिस्कंदी पदार्थ के रूप में डेक्स्ट्रोस और सोडियम नाइट्रेट होते हैं। वर्ग निर्धारण के बाद रक्त को प्रशीतित्र (रेफ्रीजरेटर) में रखा जाता है और ऐसे रक्त को तीन हफ्ते तक परिरक्षित रखा जा सकता है। आवश्यकता पड़ने पर भंडारित किया गया रक्त प्लास्टिक या रबड़ की नली तथा निविष्ट की गई खोखली सुई की सहायता से आदाता की कोहनी के सामने वाली शिरा में चुआया जाता है। (चित्र 23.10-बी)। आज रक्ताधान बहुत निरापद और आम हो गया है क्योंकि रक्ताधान के पहले ही दाता और आदाता के रक्तवर्गों की हर प्रकार से जांच कर ली जाती है।

रक्त प्लाज्मा का प्रयोग अधिकांशतया तभी किया जाता है जब रक्ताधान के लिए रक्त तुरंत उपलब्ध न हो और जब रक्त कोशिकाओं की अपेक्षा रक्त आयतन की अधिक आवश्यकता होती है। यह जलने पर और अन्य क्षतिपूर्ण दशाओं में अधिक उपयोगी होता है जबकि शस्त्रकर्म आघात या शाक होते हैं जैसे लड़ाई के घाव। संपूर्ण रक्त को लेकर उसके अपकेंद्रीकरण (centrifugalising) से प्लाज्मा तैयार किया जाता है जबकि रक्त कोशिकाएं नीचे पेंदे पर और साफ प्लाज्मा ऊपर आ जाता है। संपूर्ण रक्त की अपेक्षा प्लाज्मा अधिक समय तक परिरक्षित किया जा सकता है। चूंकि प्लाज्मा में रक्त कोशिकाएं नहीं होती हैं, इसलिए इसका वर्गनिर्धारण और संगतता परीक्षण की आवश्यकता नहीं होती और इसे आसानी से यूं ही दिया जा सकता है। प्लाज्मा को हिमीकृत भी किया जा सकता है अथवा सुखाया भी जा सकता है और इस दशा में काफी लंबे समय तक रखा जा सकता है। सूखे

चित्र 23.10 ए—रक्ताधान के लिए रक्त का इकट्ठा किया जाना।

चित्र 23.10 बी—रक्ताधान
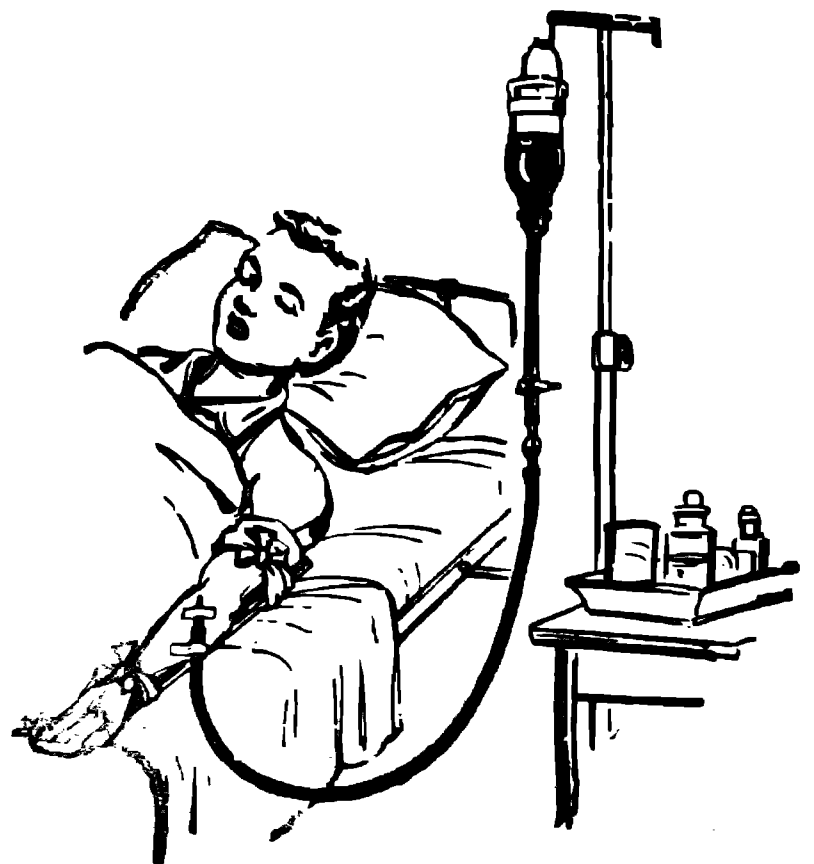
प्लाज्मा को तुरंत उपयोग के लिए निर्जीवाणुक पुनर्गठनकारी तरल में घोला जा सकता है।

रक्त के विकार

अरक्तता :

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, रक्त के कई महत्वपूर्ण कार्य हैं। वह शरीर के हरएक भाग में आक्सीजन पहुंचाता है और फेफड़ों में कार्बन-डाइ-आक्साइड वापस पहुंचा देता है। यह पोषक पदार्थों, रक्षा संबंधी पदार्थों, हॉरमोनो, एंजाइमों और विविध लवणों को ले जाता है। इसमें कई ऐसी युक्तियां होती हैं जिनसे अम्लता, तरलता, दाब आदि प्रक्रियायें स्थिर बनी रहती हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि रक्त की कमी का अर्थ होगा शरीर के सभी अंगों के कार्यों में कमी और रक्त में विभिन्न अंगों के विभिन्न प्रकार के विकार परिलक्षित हो जाते हैं। अतः खून की जांच रोगी के परीक्षण का प्रमुख अंग है और इससे महत्वपूर्ण जानकारी हो जाती है जैसे कि प्रति घनमिलीमीटर में लाल और श्वेत रक्त कोशिकाओं की संख्या, प्रत्येक लाल कोशिका में हीमोग्लोबिन का अंश, विविध श्वेत कोशिकाओं का प्रतिशत, स्कंदन काल, प्रोटीन अंश आदि। जब कभी भी हीमोग्लोबिन यानी लाल रक्त कणिका के आक्सीजन वाहक अंश की कमी हो जाती है तो इस अवस्था को अरक्तता या एनीमिया कहते हैं। अरक्तता के कई कारण होते हैं लेकिन इनमें मुख्य हैं : (1) अस्थि-मज्जा में रक्त उत्पन्न करने वाले कच्चे पदार्थों की कमी, (2) शरीर से रक्त की अत्यधिक हानि, और (3) शरीर में ही रक्त का अत्यधिक विनाश—इस प्रक्रिया को रक्तलयन (hemolysis) कहते हैं।

अरक्तता के संकेत व लक्षण : अरक्तता से पीड़ित रोगी पीला दिखलाई पड़ता है और उसकी त्वचा व श्लेष्मा झिल्ली पीली होती है। यह पीलापन नाखूनों, ओष्ठों, जीभ और नेत्र-श्लेष्मला (कंजंक्टाइवा) में भी देखा जा सकता है। भूख में कमी, ऊर्जा में कमी, चाव का अभाव, जल्दी थकान होना, कार्य करने में श्वास का फूलना, हृदय का तीव्रता से धड़कना और सामान्य दुर्बलता इसके लक्षण हैं।

1. कमी वाली या पोषण संबंधी अरक्तता : यह आहार में लोहे, फोलिक एसिड, विटामिन बी$_{12}$ और प्रोटीन की कमी से हो सकती है। लोहे और प्रोटीनों की कमी होना सबसे आम बातें हैं। लोहा पत्तीवाली हरी सब्जियों, प्याज़, आलू आदि जड़ों व कंदों के छिलकों तथा सेब सरीखे फलों के छिलकों से प्राप्त होता है। यह खजूर, गुड़ आदि में प्रचुर मात्रा में होता है। लोहे की कमी दूर करने के लिए रोजमर्रा के आहार में इन पदार्थों को शामिल कर लिया जाना चाहिए। कमी वाली अरक्तता को अच्छे पोषण से दूर रखा जा सकता है। इसके लिए अध्याय 6, 7 और 8 देखिए।

फोलिक एसिड पत्तीदार हरी सब्जियों और ताजे फलों से प्राप्त होता है। गर्भवती महिलाओं में इसकी कमी आमतौर पर हो जाती है जिससे अरक्तता हो जाती है। कभी-कभी इससे 'स्प्रू' नामक विकार हो सकता है जिससे स्थूल, सफेद व झागदार मल वाली प्रवाहिका और अरक्तता हो जाती है। शाक वाले आहार में विटामिन बी$_{12}$ नहीं होता। इसके स्रोत हैं दूध और शाक वाले खाद्य पदार्थ। मानव आंत्र में कई लाभदायक जीवाणु होते हैं जो आंत्र में विटामिन बी$_{12}$ का निर्माण करते हैं। इस प्रकार खाली शाक वाले आहार से भी विटामिन बी$_{12}$ की आपूर्ति हो जाती है। कुछ प्रतिजीवी औषधियां इन जीवाणुओं को नष्ट कर देती हैं जिससे विटामिन बी$_{12}$ की कमी हो जाती है।

भारत में प्रोटीन की कमी बहुत आम बात है और अरक्तता के हर रोग में यह पाई जाती है। दूध और दूध के उत्पादों, दाल, मूंगफली और सोयाबीन एक शाकाहारी के लिए प्रोटीन के उत्कृष्ट

स्रोत हैं और यह सुनिश्चित करने के लिए शरीर को ये सभी प्रकार के प्रोटीन उपलब्ध हों। हर व्यक्ति को अपने दैनिक आहार में इस प्रकार के सभी खाद्य पदार्थों का समावेश करना चाहिए।

जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, इस प्रकार की अरक्तता से बचने के लिए आहार में उन सभी खाद्य पदार्थों को शामिल करना चाहिए जिनमें लोहा, फ़ोलिक एसिड, विटामिन बी$_{12}$ और प्रोटीन विद्यमान हों। लेकिन जब कोई व्यक्ति अरक्तता से पीड़ित होता है तो केवल कमी दूर करने वाले ऊपर बताए गए खाद्य पदार्थों को ही नहीं दिया जाना चाहिए बल्कि इन कारकों को सांद्र रूप में मुंह द्वारा या इंजेक्शन द्वारा भी दिया जाना चाहिए। उग्र प्रकार की अरक्तता में तो रक्ताधान की आवश्यकता होती है।

2. रक्त की हानि से होने वाली अरक्तता : दूसरे प्रकार की अरक्तता खून की हानि से हो सकती है, जो बाहर से ही दिखलाई दे सकती है अथवा पहचान में नहीं आ सकती और महीनों तक चलते हुए कुछ ही समय में काफी अधिक हानि कर सकती है। किसी क्षति अथवा रक्त के वमन से रक्तस्राव पहचान में आ जाता है जैसा कि आमाशय अथवा ग्रहणी के व्रण, आमाशय के कैन्सर अथवा यकृत् की सिरोसिस में होता है। व्रण में कुछ खून की हानि हो सकती है और यह तभी पता चलेगा जब मल की जांच होगी। अंकुश कृमि या हुक वर्म (अंकाइलोस्टोमा ड्यूडीनेल) भी ग्रहणी से कुछ मात्रा में रक्त का चूषण कर अरक्तता उत्पन्न कर सकते हैं। बवासीर में खून का निकलना सुस्पष्ट रूप से देखा जा सकता है और अत्यधिक आर्तव प्रवाह होने पर भी, विशेषकर अधिक उम्र की महिलाओं में रोग के प्रति सावधानी बरतने और इससे बचने के लिए कारणों की तरफ निगाह रखनी चाहिए और इससे बचने की प्रमुख सावधानियां ये हैं : (1) संतुलित आहार, (2) ऊपर बताए गए कारकों का परिमार्जन, (3) पहले बताए गए लक्षणों के प्रकट होने पर तुरंत डाक्टर की सलाह लेनी चाहिए, और (4) शीघ्र और पूरा उपचार।

3. रक्त के नाश से होने वाली अरक्तता : रक्तलयन ऐसी प्रक्रिया है जिसमें परिसंचरण में लाल रक्त कोशिकाएं नष्ट हो जाती हैं जिससे अरक्तता हो जाती है। वैसे यह अवस्था आम नहीं है।

मलेरिया जैसे कुछ रोगों में लाल रक्त कोशिकाओं का बहुत नाश हो जाता है जिससे तीव्र अरक्तता हो जाती है।

रक्त के अन्य विकार :

कभी-कभी रक्त का रोग अपसामान्य कोशिकाओं की उत्पत्ति के रूप में प्रकट हो सकता है। ऐसा ही एक रोग श्वेतरक्तता (ल्यूकीमिया) है। इस दशा में अस्थि-मज्जा द्वारा रक्त में अपरिपक्व श्वेत रक्त कोशिकाएं समय से पहले ही छोड़ दी जाती हैं। यद्यपि ये कोशिकाएं बहुत अधिक संख्या में होती हैं तो भी ये सामान्य कार्य करने में असमर्थ होती हैं और यह सामान्य कार्य मुख्यरूप से रक्षा का होता है। ऐसे रोगी अरक्तता से भी पीड़ित होते हैं। श्वेतरक्तता (ल्यूकीमिया) रक्त के कैन्सर से संबंधित है और इसकी तीव्र दशा में कोई रोगहर उपचार नहीं होता। इसकी चिरकारी किस्म में कुछ औषधियां इस पर रोक रख सकती हैं। यद्यपि शारीरिक जांच से श्वेतरक्तता की उपस्थिति और प्रकार का संदेह किया जा सकता है लेकिन रक्त और कभी-कभी अस्थि-मज्जा की जांच किए बिना इसका निदान नहीं किया जा सकता।

एक और तरह से भी रक्त रोग हो जाते हैं और वह है रोगी द्वारा रक्तस्राव की अपसामान्य प्रवृत्ति। सामान्यतया तो रक्त में एंजाइम-खनिज-प्रोटीन तंत्र संतुलित रूप में रहता है और परिसंचरित होते समय रक्त स्कंदित नहीं होता लेकिन ज्यों ही क्षति द्वारा रक्तस्राव होता है त्यों ही उसका स्कंदन होने लगता है। यदि इस अति जटिल प्रक्रिया का कोई भी घटक नहीं है तो

स्कंदन अपसामान्य प्रकार से होता है यानी स्कंदन मंद प्रकार से होता है जो अधिक रक्तस्राव को रोकने में अक्षम होता है। रक्तचित्तिता (purpura) इसी प्रकार का एक रोग है, जो रक्त में बिंबाणुओं की कमी से हो जाता है।

हीमोफीलिया भी इसी तरह का दूसरा रोग है जिसमें स्कंदन के लिए अपेक्षित तत्वों का अभाव होता है, इसीलिए जरा-सा कट जाने मात्र पर या दांत निकलवाने पर ही रक्त काफी अधिक मात्रा में निकल सकता है। यह पैतृक रोग है और केवल पुरुषों को ही प्रभावित करता है लेकिन उनको उनकी माताओं द्वारा संचारित किया जाता है जो कि लिंग-सहलग्न (Sex linked) अभिलक्षण है। ऐसे रोगियों को रक्तस्राव के खतरे से बचे रहने के लिए विशेष रूप से सावधान रहने की जरूरत है।

* * * *

कुछ सामान्य रक्त-मान :

सीरम बिलिरूविन	0.1—0.25 मिग्रा/100 घसें.
सीरम कैल्सियम	9—11 मिग्रा/100 घसें.
रक्त कोलेस्टेरोल	140—200 मिग्रा/100 घसें.
रक्त ग्लूकोज	70 - 120 मिग्रा/100 घसें.
सीरम—	
कुल प्रोटीन	6.5—8.2 ग्रा/100 घसें.
एल्बुमिन	4.6 - 6.7 ग्रा/100 घसें.
ग्लोबुलिन	1.2—2.3 ग्रा/100 घसें.
रक्तस्राव काल (ड्यूक)	1—3 मिनट
स्कंदन काल—	
केशिकीय रक्त	4—8 मिनट
शिरीय रक्त	5—10 मिनट
हीमोग्लोबिन—	
पुरुष	14.7 ग्रा/100 घसें.
स्त्रियां	14.3 ग्रा/100 घसें.
रक्तदाब, प्रौढ़ों में—	
प्रकुंचन (systolic)	110—130 मिमी. (पारा)
अनुशिथिलन (diastolic)	60—80 मिमी. (पारा)
ला०र०क० काउन्ट, प्रौढ़ों में—	
पुरुष	4.6—6.2 दस लाख/घ. मिमी.
स्त्रियां	4.2—5.4 दस लाख/घ. मिमी.
बिंबाणु काउन्ट	200,000—600,000/घ. मिमी.
श्वे.र.क. काउन्ट	8,000—10,000/घ. मिमी.
श्वे.र.क. विभेदक काउन्ट—	
बहुरूपी	66%
लसीका कोशिका	26%
एककेन्द्रक श्वेतकोशिका	6%
इओसिनरागी	1.5%
क्षारकरागी	0.5%
ई.एस.आर. (विन्ट्रोब)—	
पुरुष	9.0 मिमी./घं
स्त्रियां	20.0 मिमी./घं.

—संपादक

• • •

24

—डा० रुस्तम जाल वकील
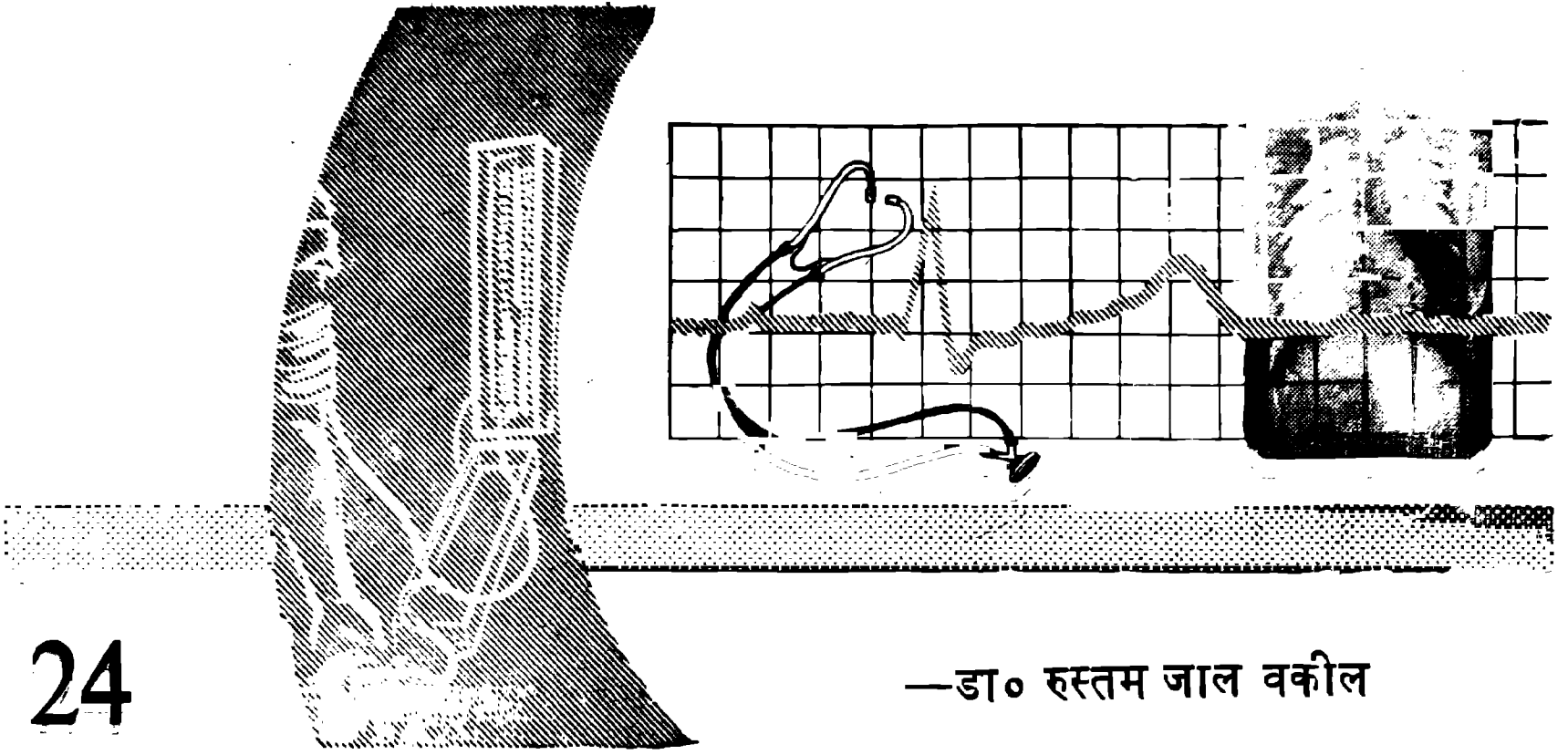
हृदय और रक्त-वाहिकाओं के सामान्य विकार

प्राचीन समय में हृदय को आत्मा का स्थल अथवा साहस, जैविक शक्ति, चरित्र, प्यार, आवेश तथा बुद्धि का केंद्र समझा जाता था। यही धारणा कुछ सीमा तक गद्य, पद्य और आधुनिक साहित्य में भी प्रचलित हुई। कुछ शब्द या अभिव्यक्तियां, जैसे कि हृदयहीन, दिलदार, हृदय अनुभूत, विशाल हृदयी, शेरदिल और सोने के दिल वाला, आए दिन इस्तेमाल होती रहती हैं और इस धारणा की पुष्टि करती हैं।

संरचना और कार्य :

हृदय अंजीर की आकृति का अंग है, जो वक्ष में दोनों फेफड़ों के बीच स्थित होता है (रंगीन प्लेट—चित्र 23.41 और चित्र 24.2)। सामान्यतया यह छाती के बीच वाले स्थल के निकट कुछ उत्केन्द्रिक रूप से स्थित होता है। इसका दो-तिहाई भाग मध्य रेखा के बायीं तरफ और एक-तिहाई भाग दाहिनी तरफ होता है। यह बंद मुट्ठी से कुछ बड़ा होता है और वजन में करीब 500 ग्राम होता है। इसका आकार और वज़न मोटे तौर पर व्यक्ति के आकार और वज़न का समानुपाती होता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में सामान्यतया यह बड़ा होता है और इसी तरह कृश व्यक्तियों की अपेक्षा बड़े व गठे शरीर वाले व्यक्तियों में भी यह बड़ा होता है। प्रौढ़ों की तुलना में बच्चों में यह आपेक्षिक रूप से बड़ा होता है और इसीलिए कभी-कभी सामान्य आकार का होने पर भी गलती से बढ़ा हुआ मान लिया जाता है।

रोग की स्थिति में हृदय आकार में बढ़ जाता है और कभी-कभी तो इतना बड़ा हो जाता है कि विश्वास करना कठिन हो जाता है। हृदय के कपाटीय रोग में तो यह छाती का आधे से अधिक भाग घेर सकता है। हृदय की यह वृद्धि (चित्र 24.2 और चित्र 24.3) दो में से किसी एक प्रकार की हो सकती है। हृदय की अतिवृद्धि (hypertrophy) में दीवारें मोटी, मजबूत और अधिक पेशीय हो जाती हैं। लेकिन विस्फारण (dilatation) में दीवारें पतली होकर तन जाती

* * * *

डा. रुस्तम जाल वकील, एम. डी. (लन्द.), एफ. आर. सी. पी. (लन्द.), ऑन. एफ. आर. सी. पी. (ग्लास.), एफ. आई. सी. ए. (यू. एस. ए), आदि; ऑनरेरी कनसल्टिंग फिजीशियन, किंग एडवर्ड मैमोरियल अस्पताल, बम्बई।
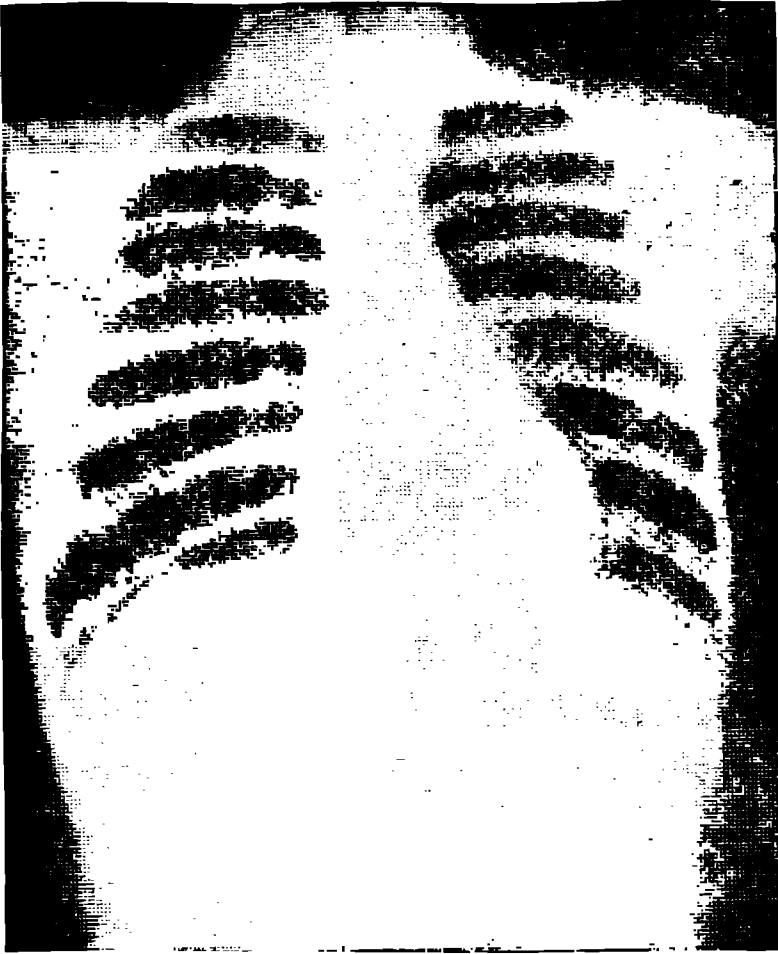
चित्र 24.2—सामान्य हृदय वाला छाती का एक्स-रे

चित्र 24.3—वर्धित हृदय को दिखलाता हुआ छाती का एक्स-रे

हैं, कक्ष बड़े हो जाते हैं और इस कारण इनमें अधिक खून भरा रहता है। हृदय की अतिवृद्धि को शक्ति अथवा अधिक कार्य करने की क्षमता का प्रतीक और विस्फारण को दुर्बलता अथवा हृदय की असफलता का प्रतीक माना जाता है।

संरचना की दृष्टि से हृदय को एक पेशीय थैली कह सकते हैं. जिसमें चार गुहिकाएं होती हैं — बायां अलिंद (auricle), बायां निलय (ventricle), दाहिना अलिंद और दाहिना निलय। बाएं और दाहिने अलिंद परस्पर एक पर्दे या दीवार द्वारा पृथक् रहते हैं जिसे अंतराअलिंद पट कहते हैं। यह पट दोनों अलिंदों के रक्त को पृथक् रखकर उनका आपस में मिश्रण नहीं होने देता। इसी तरह अंतरानिलय पट दोनों निलयों को पृथक् करता है। अलिंदों और निलयों में धमनियों और शिराओं के रक्त का मिश्रण तभी संभव है जब ऊपर बतलाए गए दोनों पटों में से किसी एक में 'छेद' या दोष हो। इस तरह जन्मजात हृद् रोग के दो महत्वपूर्ण प्रकारों में से एक रोग हो सकता है—अलिंद अथवा निलय का पट दोष।

हृदय के कपाट जटिल और लाभदायक संरचनाएं हैं जो बाएं अलिंद और निलय के बीच (द्विकपर्दी कपाट—mitral valve), दाहिने अलिंद और निलय (त्रिकपर्दी कपाट) के बीच, और महाधमनी (महाधमनी कपाट) व फुप्फुसीय धमनी (फुप्फुसीय कपाट) नामक शरीर की दो प्रमुख रक्त वाहिकाओं के मुखों पर प्रकृति द्वारा पल्लों या पर्दों के रूप में रोपे गये हैं। कपाट का उद्देश्य होता है कि रक्त का प्रवाह 'एक ही दिशा' में हो, ताकि हृदय के कार्य का सरलीकरण हो और ऊर्जा या शक्ति अनावश्यक रूप से खर्च न हो। प्राय: रूमेटी अथवा सिफिलिसी संक्रमण के परिणामस्वरूप हृदय का कपाट या तो रिसने वाला (प्रत्यावहन—regurgitation) अथवा कड़ा (संकीर्णता—stenosis) हो सकता है। पहली वाली दशा में कपाट से होकर रक्त फिर वापस आ जाता है जिससे ऊर्जा अनावश्यक रूप से खर्च होती है; और कपाट की संकीर्णता की दशा में, यद्यपि रक्त प्रवाह एक ही दशा में होता है, तो भी रक्त की धारा बहुत पतली हो जाती है।

बाएं और दाहिने अलिंद हृदय के रक्त इकट्ठा अथवा ग्रहण करने वाले कक्ष हैं, जो क्रमशः फेफड़ों से आक्सीजनीकृत रक्त और शरीर के शेष भाग से शिरीय रक्त ग्रहण करते हैं। बाएं और दाहिने निलय पंप करने वाले कक्ष हैं, जो रक्त को क्रमशः दीर्घ अथवा दैहिक और लघु अथवा फुप्फुमीय परिसंचरणों में धकेलते रहते हैं। (चित्र 23.43)

हृदय की भित्ति या दीवार तीन परतों वाली संरचना होती है, जो पतली, मुलायम व चमकदार बाहरी परत अथवा हृदयावरण (पेरीकार्डियम), (कार्डियम हृदय को कहते हैं), मोटी व पेशीय मध्य परत अथवा हृद्पेशी (मायोकार्डियम) और अस्तर के रूप में पतली भीतरी परत अथवा अंतर्हृद्कला (एन्डोकार्डियम) की बनी होती है। हृदय की इन तीन परतों में किसी एक में शोथ अथवा रोग हो जाने से क्रमशः हृदयावरणशोथ (pericarditis), हृद्पेशीशोथ (myocarditis) अथवा अंतर्हृद्कला शोथ (endocarditis) नामक रोग हो सकते हैं, जो अमुक परत के संक्रमण पर आधारित हैं।

हृदय का मुख्य कार्य, रक्त के माध्यम से, जीवन के लिए आवश्यक दो पदार्थों भोजन और आक्सीजन—को उन करोड़ों 'कोशिकाओं' में पंप करना है जो एक मानव शरीर का निर्माण करते हैं। यह तभी संभव होता है जब आक्सीजनीकृत रक्त हृदय से दूरस्थ भागों में रक्त वाहिकाओं द्वारा प्रवाहित होता है। रक्त बांटने वाली इन वाहिकाओं को धमनी और उनकी बारीक शाखाओं को केशिका कहते हैं। आवश्यक पदार्थों की आपूर्ति करने के अतिरिक्त हृदय शिरा नाम की रक्त वाहिकाओं के द्वारा एकत्रित किए गए वर्ज्य पदार्थों को भी ग्रहण करता है और फिर उन्हें उत्सर्जन-अंगों में भेज देता है ताकि अंततः उन्हें शरीर से बाहर निकाला जा सके। यांत्रिक दृष्टि से भी यदि देखा जाय तो हृदय एक दोहरे प्रकार का दक्ष पंप है जो पूरे शरीर में रक्त के परिसंचरण का कार्य करता है। फेफड़ों में होने वाले रक्त परिसंचरण को फुप्फुसीय या लघु परिसंचरण कहा जाता है और शेष शरीर के परिसंचरण को दैहिक या दीर्घ परिसंचरण। हृदय का दाहिना निलय आक्सीजनीकरण के लिए शिरीय रक्त को फेफड़ों में पंप करता है तो बायां निलय आक्सीजनीकृत रक्त को शरीर के अन्य अंगों व ऊतकों में पहुंचा देता है ताकि उनमें भोजन व आक्सीजन की आपूर्ति की जा सके।

मानव हृदय की उपलब्धियों पर आश्चर्य के सिवा और कुछ प्रकट नहीं किया जा सकता है। शक्तिशाली मोटर इंजन की तरह हृदय में महाशक्ति का संचय (हृद् शक्ति संचय) रहता है, जिसका विशेष आवश्यकता के अवसरों पर सदुपयोग किया जा सकता है। अधिक शारीरिक श्रम के अवसर पर हृदय को शरीर की आवश्यकता की पूर्ति के लिए चौगुनी अधिक मेहनत करनी होती है। प्रकृति का यह गजब का करिश्मा बिना रुके हुए निरंतर मेहनत करता रहता है। और यह श्रम यूंही साधारण प्रकार का नहीं होता, यह 70 से 75 संकुचन प्रति मिनट की दर से निरंतर चलता रहता है और प्रत्येक संकुचन पर हृदय के मुलायम कपाट खुलते व बंद होते रहते हैं और वो भी थोड़े समय के लिए नहीं बल्कि औसतन निरंतर करीब 60 वर्ष के लिए। यह सचमुच एक बहुत बड़ी बात है। अभी तक कोई भी मानव निर्मित मशीन या साधन इसकी बराबरी नहीं कर पाया है।

वह क्या चीज है जिससे हृदय की 'टिक-टिक' या 'धड़कन' निरंतर अबाध गति से चलती रहती है। इस प्रश्न ने मानव को शताब्दियों से झकझोर रखा है। हृदय के दाहिने अलिंद की भित्ति में एक छोटी संरचना होती है जिसे शिरानाल-अलिंद पर्व (sino-auricular node) कहते हैं। यही वह संरचना है जो नियमित और आवर्तित रूप से होने वाले विद्युत चार्जों द्वारा हृदय की गतिलयता को बनाए रखती है और हृदय की गति की यह दर

70 से 75 प्रति मिनट है। इसी कारण इस पर्व को प्राय: हृदय का गतिप्रेरक या नियंत्रक (pace-maker, regulator) कहा जाता है।

हृदय, कष्ट की स्थिति में (हृद् रोग) :

हृद् रोग' शब्द हृदय या शरीर की रक्त वाहिकाओं को प्रभावित करने वाले बहुत सारे रोगों के लिए प्रयुक्त होता है। हृदय और रक्त वाहिकाएं मिलकर तथाकथित हृद्वाहिका अथवा परिसंचरण तंत्र बनाती हैं।

पहले इस तंत्र के एक ही भाग यानी हृदय से ही लोग सरोकार रखते थे। लेकिन हाल की खोजों से तो यह सिद्ध हुआ है कि हृदय वाले रोगों की अपेक्षा रक्त वाहिकाओं वाले रोगों से अधिक मृत्यु होती है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में तथाकथित हृद् रोगों वाली हर 10 मौतों में 9 मौत हृदय के रोग से नहीं बल्कि रक्त वाहिकाओं के रोगों के कारण होती हैं।

पुराने समय की तुलना में आजकल 'हृद् रोग' शब्द कुछ ज्यादा ही सुनाई देता है। और इसका कारण है लोगों की जागरूकता और निदान की आधुनिक विधियां। दूसरा महत्वपूर्ण कारण है बचपन में संक्रामक रोगों और ज्वरों से होने वाली मृत्यु की दर का शनैः शनैः गिरना, जिसका परिणाम है अधेड़ों और वृद्धों की संख्या में अधिक वृद्धि। फिर चूंकि आजकल औसत आयु में भी वृद्धि हो गई है इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि वृद्धावस्था में होने वाले हृद् रोग व्यपजनित प्रकार के भी अधिक होंगे।

इन दो कारणों के अतिरिक्त यह भी है कि हाल में हृद् रोगों की यथार्थ रूप से वृद्धि देखी गई है, विशेषकर पुरुषों में। संभवतया इसका एक कारण यह भी है कि आज के आधुनिक जीवन में जो अधिक मानसिक व शारीरिक तनाव होता है वह हृदय व रक्त-वाहिकाओं को काफी अधिक सीमा तक प्रभावित करता है। भारत में हृद् रोग होने वाली अवधि 30 से 50 वर्ष की आयु वाला समय है।

हृदय के रोगी अथवा विकृत होने के प्रमुख कारण हैं : (1) हृदय के जन्मजात अथवा परिवर्धन संबंधी दोष—ऐसे रोगी बहुत कम होते हैं। (2) हृदय में होने वाले संक्रमण—इनमें प्रमुख हैं रुमेटी, सिफिलिसी और जीवाणु संक्रमण। (3) हृद्धमनी रोग—हृदय में रक्त की अपर्याप्त आपूर्ति। (4) अत्यधिक शारीरिक श्रम अथवा तनाव के कारण हृदय पर अधिक बोझ, जो अधिक रक्त दाब, चिरकालीन दमा अथवा कपाटीय हृद् रोग के कारण हो सकता है।

हृद् रोग का निदान रोगी की बीमारी की संपूर्ण जानकारी की प्राप्ति पर निर्भर करता है। इसके लिए डाक्टर द्वारा विस्तृत जांच किया जाना अनिवार्य है। आधारभूत निरीक्षणों के उपरांत प्राय: इलैक्ट्रोकार्डियोग्राम अथवा एक्स-रे सरीखे विशेष निरीक्षण किए जाते हैं।

जन्मजात सरीखे कठिन हृद् रोगों में निदान की आधुनिकतम विधियों का उपयोग करना चाहिए जैसे हृद् कैथीटर प्रवेशन (cardiac catheterization) और वाहिकाहृद्‌चित्रण (angiocardiography) का। पहली वाली विधि में एक बाहु शिरा से प्लास्टिक की नली को हृदय में प्रविष्ट कराया जाता है। इससे हृदय के प्रत्येक कक्ष के अंदर के दबाव और गैस अंश का ही पता नहीं चलता बल्कि हृदय की कुछ जटिल अपसामान्यताओं का भी पता चल जाता है। दूसरी विधि में एक विशेष तकनीक से हृदय और रक्त-वाहिकाओं के एक्स-रे फोटो लिये जाते हैं।

1. जन्मजात हृद् रोग :

पैदा होते ही हृदय के जो दोष अथवा रोग हो जाते हैं उन्हें ही जन्मजात हृद् रोग अथवा असंगति कहते हैं, जो हृदय के परिवर्धन में त्रुटि रह जाने से हो जाते हैं। लेकिन जैसा कि लोग

सोचते हैं उसके विपरीत इनमें कुछ ही ऐसे दोष हैं जो अपंग बना देते हैं या आरंभिक जीवन में घातक होते हैं। इनमें से अनेक तो बहुत लंबी उम्र तक अहानिकर प्रकार से चलते रहते हैं और अकस्मात ही पकड़ में आते हैं। यद्यपि सामान्यतया यह सोचा जाता है कि जन्मजात हृद् रोग वाले शिशु हमेशा नीले वर्ण के होते हैं ("नील शिशु" नील वर्ण के दोषपूर्ण हृदय वाले शिशु जिनके हृदय में शिरीय व धमनीय रक्त मिल जाता है) लेकिन अधिकांश में यह बात नहीं होती। गंभीर रूप से हृदय के दोष वाले शिशु सभी बातों में सामान्य दिखलाई दे सकते हैं लेकिन उनमें अक्सर खांसी, ठन्ड और आहार वाले कष्टों की प्रवृत्ति होती है। कभी-कभी इनमें अचानक अशक्त कर देने वाले लक्षण भी प्रकट हो जाते हैं, जैसे सांस लेने में कठिनाई, धड़कन में तीव्रता अथवा एड़ियों में सूजन।

दोषपूर्ण हृदय वाला शिशु क्यों जनमता है इसकी कोई उपयुक्त व्याख्या नहीं हो पाई है। यह भी संभव है कि इनमें से कुछ दोष माता में जरमन मीजिल्स सरीखे संक्रामक रोग के कारण अथवा गर्भावस्था के प्रथम तीन महीनों में कुछ हानिकारक औषधियों के सेवन के कारण हों।

यह सच है कि आजकल ऐसे रोगियों को समय पर शस्त्रकर्म के द्वारा ठीक किया जा सकता है जिन्हें कि कभी ठीक न होने वाला या असाध्य समझकर छोड़ दिया जाता था। लेकिन यह जरूरी है कि ऐसे हर रोगी के समुचित शस्त्रकर्म और उपचार के पहले जन्मजात हृद् रोग का अन्वेषण जल्दी से जल्दी और पूरी तरह से विशेषज्ञ द्वारा किया जाना चाहिए।

2. हृदय के संक्रमण

हृदय के तीन प्रमुख संक्रमण हैं रुमेटी ज्वर, सिफिलिस और जीवाणुक अंतर्हृद्शोथ। स्वच्छता की प्रवृत्ति, रोग निरोधी उपायों और प्रतिजीवी औषधियों की खोज को लाख-लाख धन्यवाद है कि इन तीनों भयानक प्रकार के संक्रमण और इनके पंगुकारी प्रभाव काफी सीमा तक कम हो गए हैं।

(क) पिछले कई वर्षों तक सारे संसार में रुमेटी ज्वर मृत्यु, रोग और अपंगता का एक प्रमुख कारण था। विशेष रूप से यह उन शिशुओं और तरुणों में अधिक होता है जो अधिक भीड़, नमी और अस्वच्छता वाले परिवेश में रहते हैं। ज्वर और जोड़ों में दर्द के अलावा रुमेटी ज्वर से हृदय के एक या अधिक कपाटों की स्थायी क्षति अथवा विरूपता हो सकती है। गले में स्ट्रेप्टोकॉकस जीवाणुओं के द्वितीयक संक्रमण के रूप में रुमेटी ज्वर कुछ में हृदय पर स्थायी प्रभाव डाल सकता है। हृदय का रुमेटी संक्रमण हृदयावरणशोथ, हृद्पेशीशोथ अथवा कपाटीय हृद् रोग का रूप ले सकता है जिसमें प्राय: द्विकपर्दी अथवा महाधमनी कपाट प्रभावित होता है। इस पंगुकारी रोग का उष्णकटिबंधी देशों में होना बहुत ही कम माना जाता था लेकिन अब यह रोग मृत्यु का एक प्रमुख कारण बन गया है।

स्वच्छता, सील और संकुलता से बचाव, लोगों में स्वास्थ्य शिक्षा का प्रचार, प्रतिजीवी औषधियों द्वारा संक्रामित गले का शीघ्र उपचार, पूतीय टॉन्सिलों का निष्कासन, रुमेटी ज्वर की तीव्र अवस्था में यथेष्ट उपचार के साथ-साथ पूरी तरह से बिस्तर पर काफी लंबे समय तक विश्राम और कपाटीय रोग होने के बाद रोगी के जीवन में उपयुक्त परिवर्तन कुछ ऐसे उपाय हैं जिन्हें पिछले कुछ सालों में रुमेटी ज्वर के आक्रोश को नियंत्रित करने की दृष्टि से सफलतापूर्वक प्रयुक्त किया गया है।

(ख) सिफिलिस की यदि चिकित्सा नहीं की गई या अधूरी चिकित्सा की जाती है तो इससे महाधमनी संक्रमण के कई वर्षों बाद क्रमिक और भयानक रूप से फूल सकती है। महाधमनी की

ऐन्यूरिज्म अवस्था को रतिज संक्रमण के आरंभिक और यथेष्ट उपचार तथा अन्य निरोधी उपायों से पिछले दो दशकों में काफी कुछ दूर कर दिया गया है।

(ग) हृदय का तीसरा प्रमुख संक्रमण जीवाणुक अंतर्हृद्शोथ है, जो गले, दांत अथवा त्वचा से पहुंचने वाले स्ट्रेप्टोकॉकस के उपभेद या स्ट्रेन द्वारा हृदय के कपाटों में होने वाले संक्रमण का परिणाम होता है। इस प्रकार के संक्रमण वाले रोगी में जिसमें कि पहले से ही कपाट क्षतिग्रस्त हैं अथवा जन्मजात हृद्दोष है तो दांत को उखाड़वाना होगा या पूतीय टॉन्सिल को निकलवाना होगा। पहले यह रोग असाध्य समझा जाता था लेकिन अब इसका उपचार किया जा सकता है।

3. हृद् धमनी रोग :

आज हृद् रोग के जो विभिन्न प्रकार हमें ज्ञात हैं लोगों की निगाह में सबसे अधिक प्रमुख हृद् धमनी रोग है। आंकड़ों से पता चलता है कि 45 वर्ष से ऊपर की उम्र वाले पुरुषों में करीब 50 प्रतिशत पुरुष हृद्धमनी रोग के शिकार होते हैं। महिलाओं की अपेक्षा पुरुषों में यह अधिक होता है (लैंगिक अनुपात करीब 6:1)। इसी तरह तरुण और वृद्धों की अपेक्षा अधेड़ों में; मोटे लोगों में; उच्च रक्त दाब, मधु मेह अथवा चिरकारी पित्ताशय के रोग से पीड़ित व्यक्तियों और बुद्धिजीवियों व अच्छे खाते-पीते वर्ग के लोगों में यह अधिक होता है। यह देश अथवा व्यक्ति की खुशहाली के सूचकांक का समानुपाती होता है और आहार में ली जाने वाली वसा की मात्रा पर निर्भर करता है।

हृदय की पेशी को रक्त की आपूर्ति करने वाली कॉरोनेरी या हृद् धमनियां (चित्र 24.4) शरीर की सबसे महत्वपूर्ण रक्त वाहिकाएं हैं। ये हृदय में उस ईंधन की आपूर्ति करती हैं जो उसके पोषण प्रदान करने वाले कार्य और मानव शरीर की अनगिनत कोशिकाओं से वर्ज्य पदार्थों के वहन के लिए आवश्यक होता है। हृद् धमनियों से होकर हृदय को होने वाली रक्त की आपूर्ति कभी स्थिर नहीं होती। यह हृदय की आवश्यकता के अनुसार हर क्षण बदलती रहती है, लेकिन हृदय आवश्यकता भी शरीर की आवश्यकता के अनुसार बदलती रहती है। एक सामान्य व्यक्ति में अत्याधिक शारीरिक जोर पड़ने पर अपना कार्य अच्छी तरह पूरा करने के लिए हृदय को सामान्य मात्रा से पांच गुना अधिक रक्त की आवश्यकता पड़ सकती है और यह मांग स्वस्थ परिहृद् वाहिकाओं द्वारा आनन-फानन में बड़ी दक्षता से पूरी कर ली जाती है।

अधिकांश व्यक्तियों में उम्र बढ़ने के साथ-साथ और अधिक रक्त दाब, मधुमेह, चिरकारी पित्ताशय रोग अथवा मोटापे से प्रभावित व्यक्तियों में शरीर की रक्त वाहिकाएं, विशेषकर हृदय और मस्तिष्क की, समय से पहले ही व्यपजनित अथवा कड़ी होने लगती हैं। धमनियों का इस तरह कम लचकीला होकर कड़ा होना धमनीकाठिन्य (atherosclerosis) अथवा ऐथिरोमा (चित्र 24.5) कहलाता है और इससे शरीर के महत्वपूर्ण अंगों में भयानक प्रभाव पड़ सकता है।

चित्र 24.4—हृदय और हृद् धमनियां
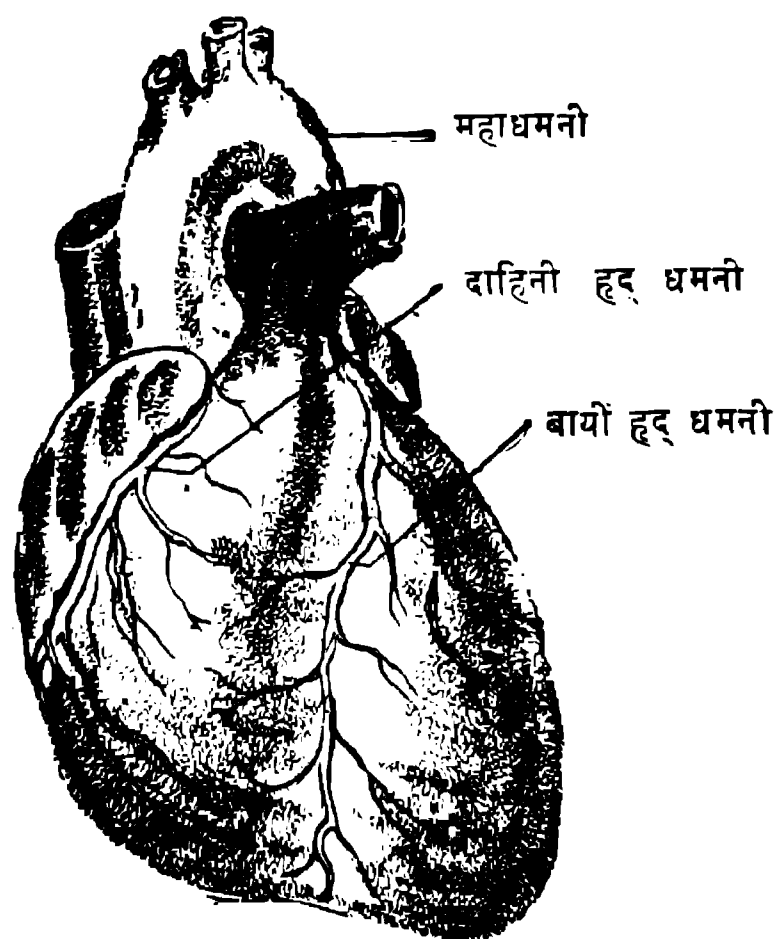
Fig. 24.4—Cardiovascular System

चित्र 24.4—हृद्वाहिका तंत्र
(कृपया पीछे देखें)

Aorta
Sup. vena cava
Heart
Coronary artery
Inf. vena cava
Abdominal aor
Artery
Vein
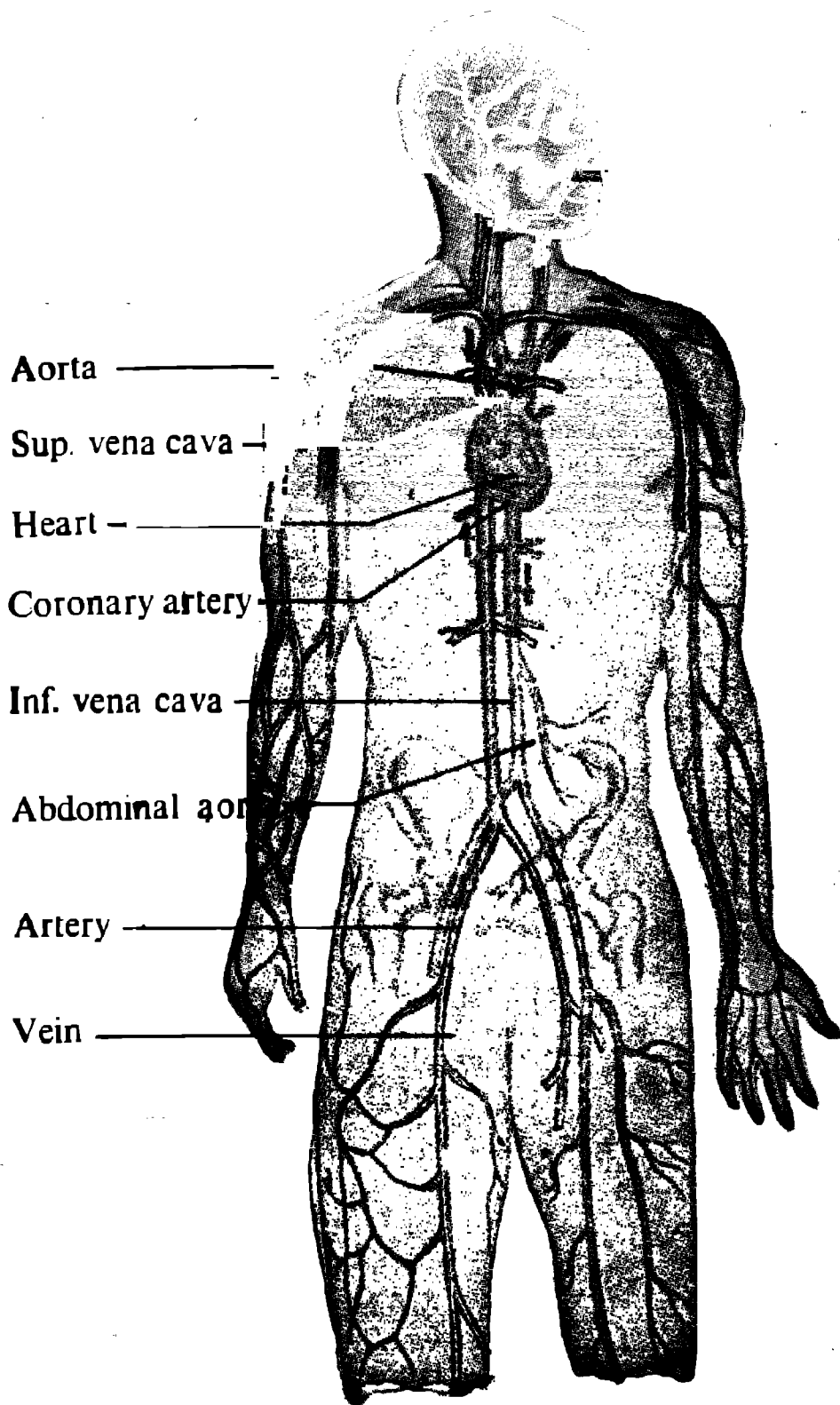
1. Heart and the blood vessels
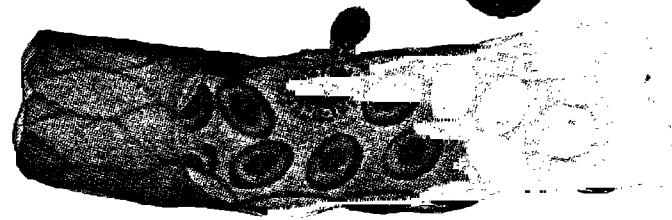
6. W.B.C. escaping from a capillary

Polymorph
Lymphocyte
Eosinophyl
Monocyte
Basophyl
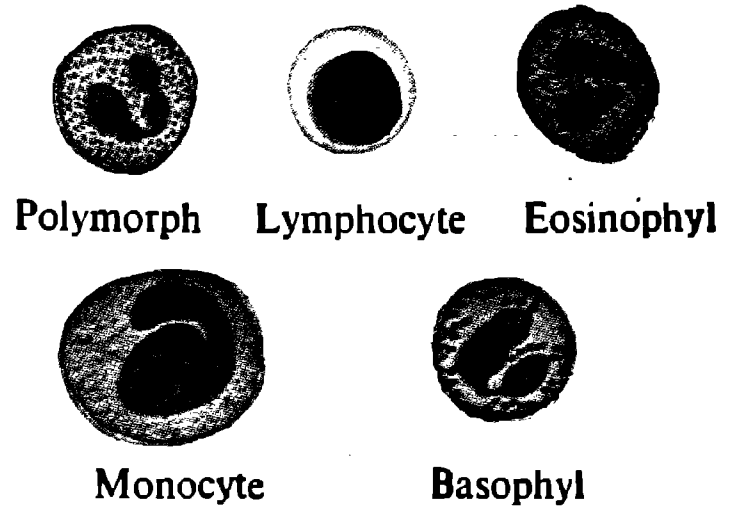
5. Varieties of white blood cells

R. B. C. s
W. B. C. s
Platelets
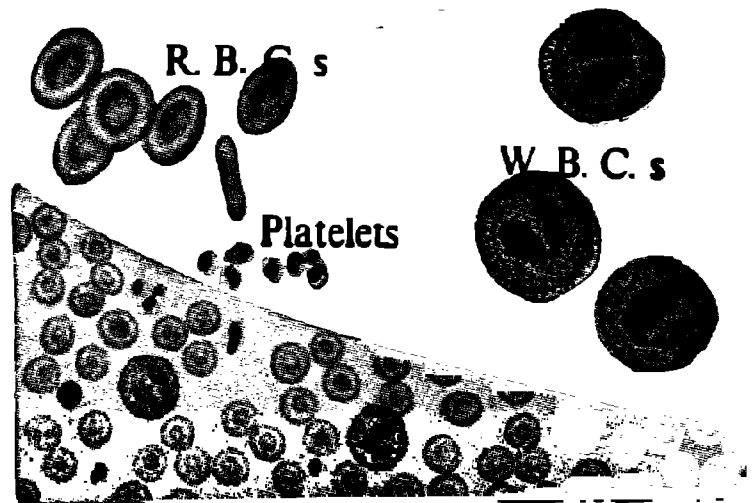
4. Blood smear showing corpuscles
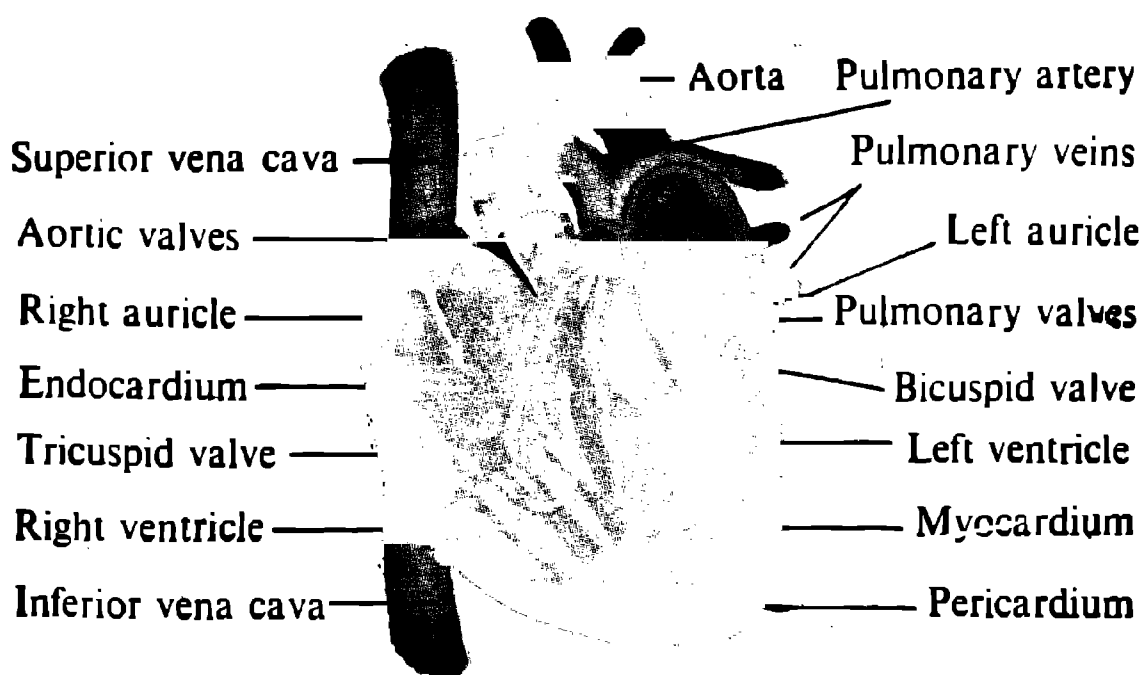
2. Heart and its chambers
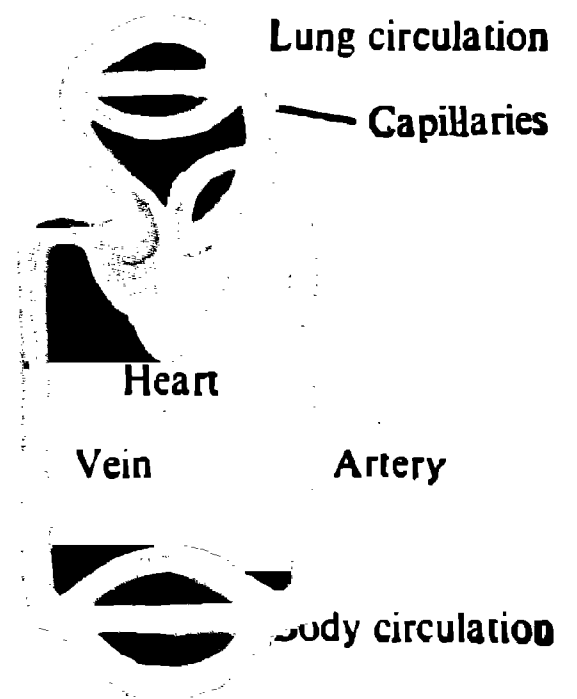
3. Course of circulation

चित्र व्याख्या

1. हृदय और रक्त वाहिका

महाधमनी (Aorta)
ऊर्ध्वमहाशिरा (Sup. vena cava)
हृदय (Heart)
हृद्धमनी (Coronary artery)
निम्न महाशिरा (Inf. vena cava)
उदर धमनी (Abdominal aorta)
धमनी (Artery)
शिरा (Vein)

2. हृदय और उसके कक्ष

ऊर्ध्वमहाशिरा (Superior vena cava)
धमनी कपाट (Aortic valves)
दायां अलिंद (Right auricle)
हृद्कला (Endocardium)
त्रिकपर्दी कपाट (Tricuspid valve)
दायां निलय (Right ventricle)
निम्न महाशिरा (Inferior vena cava)
धमनी (Aorta)
फुप्फसीय धमनी (Pulmonary artery)
फुप्फसीय सिरा (Pulmonary viens)
बायां अलिंद (Left auricle)
फुप्फसीय कपाट (Pulmonary valves)
द्विकपर्दी कपाट (Bicuspid valve)
बायां निलय (Left ventricle)
हृदपेशी (Myocardium)
हृदयावरण (Pericardium)

3. रक्त प्रवाह

फेफड़े के खून का दौरा (Lung circulation)
कोशिकाएं (Capillaries)
हृदय (Heart)
धमनी (Artery)
शिरा (Vien)
शरीर के खून का दौरा (Body circulation)

4. कणिकाएं दर्शाते हुए फैला हुआ रक्त

लाल रुधिर कोशिकाएं (R.B.C.s)
श्वेत रुधिर कोशिकाएं (W.B.C.s)
बिंबाणु (Platelets)

5. श्वेत रुधिर कोशिकाओं की किस्में

पोलीमोर्फ
(Polymorph)
लसीका कोशिका
(Lymphocyte)
इओसिनरागी
(Eosinophyl)
एककेन्द्रक श्वेतकोशिका
(Monocyte)
क्षारकरागी
(Basophyl)

6. कोशिका से जाती श्वेत रुधिर कोशिकाएं

ऐथिरोमा अथवा हृद् धमनीकाठिन्य आरंभिक अवस्थाओं में बिल्कुल लक्षण रहित हो सकता है और इसकी उपस्थिति ज्ञात करने के लिए इलेक्ट्रो-कार्डियोग्राम की आवश्यकता होती है, विशेषकर कसरत करने के बाद। इसकी प्रक्रिया बहुत धीरे-धीरे होती है और यह भी हो सकता है कि पहले के कुछ महीनों अथवा वर्षों में रोगी को कोई भी कष्ट महसूस न हो। रोग के आगे बढ़ते जाने पर छाती में दर्द हो सकता है लेकिन वह भी शारीरिक श्रम करने पर, जैसे कि तेज चलने अथवा सीढ़ियां चढ़ने पर। यह हृद्शूल प्राय: छाती के केंद्रीय भाग में छाती की हड्डी के पीछे शुरू होता है। यह दर्द ऐसा होता है मानो छाती पर बोझ रक्खा हो, या सब तरफ से दबाने वाला या जलन वाले दर्द की तरह हो सकता है जो नीचे बायीं बाहु की ओर फैलता जाता है। छाती के इस दर्द में बेचैनी, भय अथवा व्यग्रता, पीली त्वचा, अधिक पसीना व वमन हो सकता है। यह दर्द केवल कुछ क्षणों तक ही रहता है और आराम अथवा उपचार से तुरंत ठीक हो जाता है। अनेक रोगी हृद्शूल के आक्रमण से मुक्त अथवा लगभग मुक्त किए जा सकते हैं यदि उचित रूप से देखभाल और उपचार किया जाय, जैसे रोगी की क्रियाशीलता को सीमित करने, उसे आश्वासन देने, शामक देने और शरीर का वजन कम कर देने से। लेकिन इस बात का ध्यान भी रखा जाना चाहिए कि छाती के सभी दर्द हृदय के शूल हों यह जरूरी नहीं क्योंकि छाती के अन्य अंग और ऊतक भी छाती के उग्र प्रकार के दर्द उत्पन्न कर सकते हैं। इस प्रकार के दर्द गलती से सामान्य हृद्शूल नहीं समझे जाने चाहिए।

जब रक्त एक कारोनेरी वाहिका अथवा उसकी किसी शाखा से होकर बहता है तो उसका प्रवाह अपेक्षा से अधिक मंद अथवा धीमा हो जाता है और उसकी अवकाशिका (lumen) में स्कंद या थक्का बन सकता है (हृद्धमनी घनास्रता—coronary thrombosis अथवा अन्तर्रोध—occlusion)। जब हृद्धमनी में अवरोध अचानक और उग्र होता है तो हृदय की पेशी का अधिकांश भाग एकाएक रक्त से वंचित हो जाता है जिसका परिणाम होता है अचानक मृत्यु। जब अवरोध धीरे-धीरे या मध्यम होता है तो रोगी को मध्यम प्रकार का हार्ट अटैक होता है, जैसा कि अधिकांश रोगियों में होता है। मध्यम प्रकार के रोगियों में यह स्कंद कुछ हफ्तों में सोख लिया जाता है, मृत पेशी के स्थान पर एक क्षत चिह्न रह जाता है और रोगी सामान्य अथवा लगभग सामान्य स्वस्थ अवस्था में आ जाता है। जल्दी किए गए निदान और प्रभावकारी उपचार के फलस्वरूप पिछले

चित्र 24.5—सामान्य धमनी की अवकाशिका और ऐथिरोमा वाली धमनी की संकीर्णित अवकाशिका का प्रदर्शन।
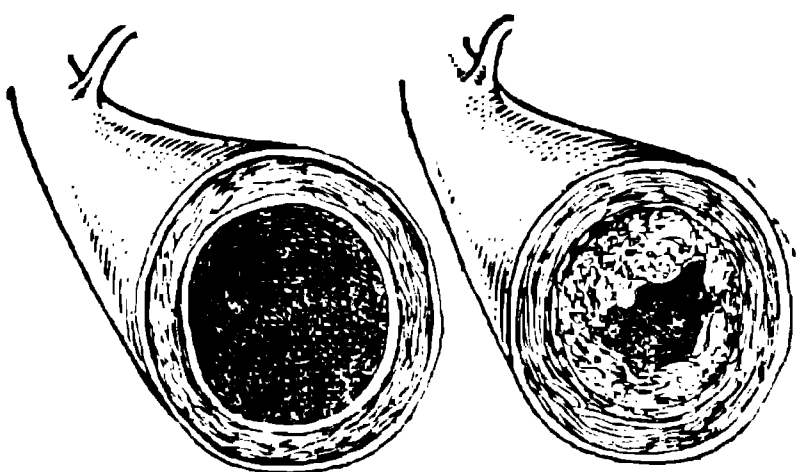
तीन दशकों में हृद्धमनी घनास्रता की मृत्यु-दर 50 प्रतिशत से घटकर करीब 15 प्रतिशत रह गई है।

इस तरह के सभी मरीजों में जहां दर्द, बेचैनी अथवा सांस लेने में कठिनाई हो, सहायता के लिए तुरंत डाक्टर को बुलवा लेना चाहिए। हृद्धमनी घनास्रता में देखभाल और उपचार का सबसे अनिवार्य और महत्वपूर्ण उपाय है आराम। अच्छे परिणाम के लिए आराम पूरा व लंबी अवधि का होना चाहिए और यह मानसिक व शारीरिक दोनों प्रकार का होना चाहिए। कम से कम पहले छह हफ्तों में तो यह होना ही चाहिए। प्रायः घबरा जाने वाले और निपट सीधे रिश्तेदार हृदय रोगों के सुचारु रूप से ठीक होने में बाधा डालने के लिए जिम्मेदार होते हैं। इसलिए बेहतर यही होगा कि पहले कुछ दिनों के लिए उन्हें बीमार के कमरे में जाने ही न दिया जाय। बिस्तर पर पूरी तरह आराम करने से ऐसे रोगी को कई तरह से फायदा पहुंचता है। हृदय की क्रिया को मंद करने से हृदय को अपने आप अधिक आराम मिल जाता है। इससे क्षतिग्रस्त पेशी का उचित उपचार होता रहता है और दृढ़ व बने रहने वाले क्षत-चिन्ह का निर्माण हो जाता है।

पिछले कुछ वर्षों में हृदय रोगों (हार्ट अटैक) के उपचार के नेमी उपाय के रूप में स्कंदन रोधी (anticoagulant) चिकित्सा को काफी अधिक अपनाया गया है। इससे रक्त स्कंद के बनने और फैलने को रोकने में सहायता मिलती है। इस उपचार से हृदय रोग (हार्ट अटैक) से संबंधित मृत्यु-दर को करीब 24 प्रतिशत से 15 प्रतिशत तक घटा दिया गया है।

4. अधिक रक्त दाब :

हृदय पर अधिक बोझ पड़ने का एक प्रमुख कारण अधिक रक्त दाब है। 'रक्त-दाब' का अर्थ है रक्त वाहिकाओं के अंदर के रक्त का उनकी दीवारों पर डाला गया दबाव (चित्र 24.6)। इस दबाव का सामान्य से काफी अधिक हो जाने का मतलब है उच्च रक्त दाब अथवा अतिरक्त दाब (hypertension) की अवस्था आ जाना। सही सही यह कहना बहुत कठिन है कि किसी दी हुई वय के लिए सामान्य रक्त दाब क्या है। लेकिन फिर भी व्यावहारिकता की दृष्टि से औसत प्रकुंचन (systolic) और अनुशिथिलन (diastolic) दाब (इन दोनों के अंतर को स्पंद दाब—pulse pressure कहते हैं) ज्ञात किए गए हैं और जिन्हें मोटे तौर पर आधार माना जाता है। जीवन बीमा निगम द्वारा वय विशेष के लिए माने गए औसत रक्त दाबों की सारणी आगे दी गई है :

चित्र 24.6—रक्त दाब ज्ञात करना

रक्त दाब उस दाब को नोट करके ज्ञात किया जाता है जो बांह के चारों ओर बंधे रबड़ के थैले में हवा को पंप करके धमनी से होकर जाने वाला रक्त के प्रवाह को रोकने के लिए जरूरी होता है।
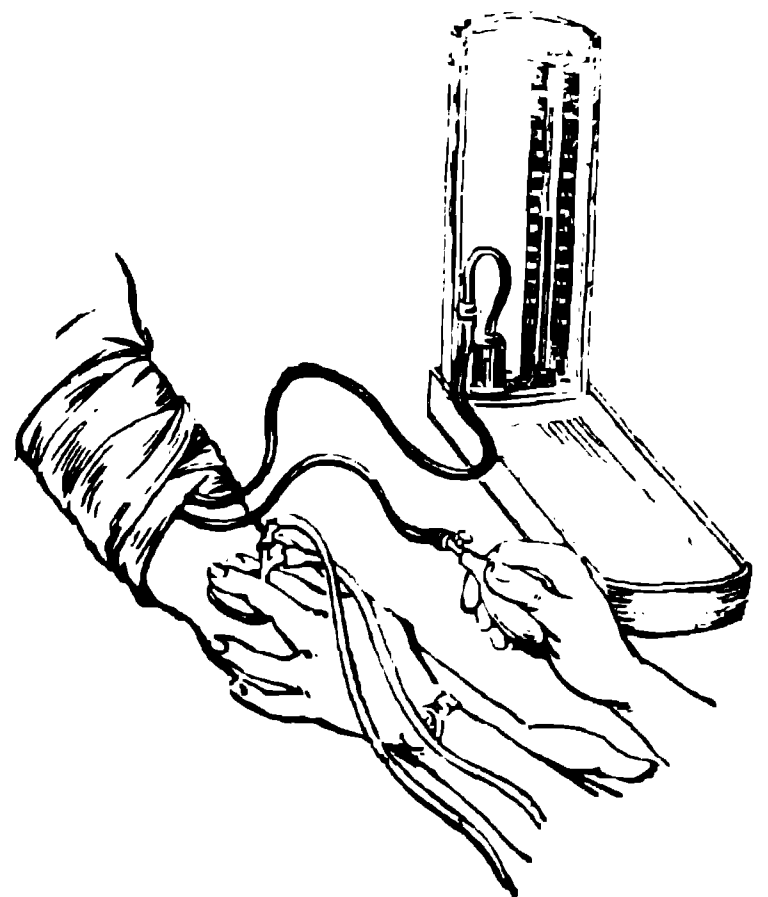
वय (उम्र)	प्रकुंचन रक्त दाब	अनुशिथिलन रक्त दाब	स्पंद दाब
20	118	78	40
25	120	80	40
30	122	82	40
35	124	84	40
40	127	86	41
45	130	88	42
50	133	90	43
55	138	92	46
*60	143	94	49
*65	148	96	52

(*अन्य स्रोत से)

वृद्ध व्यक्तियों में प्रकुंचन दाब (पारे का) 160 मिमी. तक हो सकता है लेकिन प्रकुंचन में 170 मिमी. से ऊपर और अनुशिथिलन में 90 मिमी. से ऊपर विकृतिजन्य हो सकता है और इस पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

अधिक रक्त दाब होने से बाएं निलय से रक्त के मुक्त प्रवाह में प्रतिरोध आ जाता है और बायां निलय हृदय का एक प्रमुख पंपकारी कक्ष है। इस प्रतिरोध के कारण हृदय को बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ता है और अंततः उसमें अपवृद्धि हो जाती है और कार्य करने में अक्षम हो जाता है। अतिरक्तदाब वाला हृद रोग संभवतया आज का सबसे सामान्य प्रकार है। भारत में हृद् रोग के प्रत्येक तीन रोगियों में से एक व्यक्ति इसी रोग से पीड़ित होता है। अधिक वय वालों में प्रति वर्ष जो असंख्य मौतें होती हैं वे अधिक रक्त दाब और उसकी जटिलताओं के कारण ही होती हैं। अधिकांश रोगियों में रक्त दाब बढ़ने का कारण अस्पष्ट रहता है और इसलिए इनको ज्ञानहेतुक अतिरक्त दाब का रोगी कहा जाता है। वृक्क (गुर्दे) और आंख की उग्र प्रकार की जटिलताओं की अवस्था को, जो घातक होती है, दुर्दम अतिरक्तदाब कहा जाता है। लेकिन यह भी अच्छी बात है कि ऐसे रोगियों की संख्या बहुत कम होती है और अधिक रक्त दाब वाला औसत रोगी 'सुदम्य' (benign) होता है और इसमें सामान्य जीवन कार्य करते हुए काफी लंबे समय तक जिंदा रह सकता है।

रक्त दाब के बारे में जो ज्ञात है वह यह है कि "दबाव बढ़ाने वाला" कोई कारक या रासायनिक पदार्थ रक्त-धारा में प्रविष्ट कर जाता है, रक्त के साथ परिसंचरण करता है और फिर सारे शरीर में छोटी रक्त वाहिकाओं में ऐंठन उत्पन्न करता है, जिससे दाब बढ़ जाता है। इस कारक या पदार्थ की प्रकृति स्पष्ट नहीं हो पाई है। अधिक रक्त दाब का एक महत्वपूर्ण और पूर्वप्रवृत्त कारण है मानसिक तनाव और चिंता।

अधिक रक्त दाब के कई रोगियों में तो कोई भी इस प्रकार के लक्षण नहीं पाए जाते और वे इस रोग की उपस्थिति के बारे में पूरी तरह से बेखबर होते हैं लेकिन नेमी डाक्टरी निरीक्षण में अचानक चिकित्सक द्वारा अतिरक्तदाब की खोज हो जाती है। सामान्य प्रकार के अतिरक्तदाब के जो पूरे खरे लक्षण बताए जा सकते हैं वे हैं - सिर-दर्द, सिर चकराना, धड़कन, थकान, चंचलता और संप्रवाहन (flushing)।

हृदय, मस्तिष्क, वृक्क (गुर्दे) और आंख सरीखे महत्वपूर्ण अंगों को दोषपूर्ण रक्त आपूर्ति से जब रोग जटिल हो जाता है तो कई किस्म के लक्षण अथवा जटिलताएं उत्पन्न हो जाती हैं (हृद्शूल, हृद्धमनी घनास्रता, हृद्पात, हृद्जन्य दमा, 'आघात' अथवा रक्ताघात (apoplexy), यूरीमिया और दुर्बल दृष्टि)।

चूंकि अधिक रक्त दाब एक लक्षण-समूह है जिसमें कई किस्म के विकारों का योग होता है इसलिए सभी रोगियों पर लागू होने वाला कोई मानक उपचार निर्धारित नहीं।

मानसिक तनाव और चिन्ताओं से छुटकारा पाने के लिए वक्त पर ली गई मध्यम प्रकार की शामक औषधि उपयोगी रहती है, लेकिन केवल

दवाओं पर ही बहुत अधिक निर्भर नहीं रहना चाहिए। आहार पर अधिक ध्यान देकर और शारीरिक व मानसिक श्रम को कम करके काफी लाभ उठाया जा सकता है। अतिरक्तदाब वाले प्राय: बड़े चुस्त और महत्वाकांक्षी व्यक्ति होते हैं, जो सामाजिक और बौद्धिक स्तर में काफी ऊपर होते हैं। उपचार के दौरान तुनुकमिज़ाजी या बहुत अधिक प्रतिबंध उन पर कष्टकारी प्रभाव डाल सकता है और अन्तत: विक्षिप्ति (neurosis) की स्थिति उत्पन्न हो सकती है अथवा वे उपचार करना बिलकुल बंद कर दें।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए सामान्यतया एक इष्टतम अथवा आदर्श दाब (प्राय: सामान्य औसत रक्त दाब से अधिक) होता है जो उसको माफिक होता है। रक्त दाब का इस स्तर से नीचे होना अच्छाई के बदले हानि ही करेगा। अतिरक्तदाब में 'अल्प उपचार' के बजाय 'अतिउपचार' प्राय: अधिक खतरनाक होता है।

अधिकांश अतिरक्तदाब वाले रोगियों के लिए आज के प्राधिकारी विशेषज्ञ आंशिक विश्राम व्यवस्था, मानसिक शिथिलता, नमक और कैलोरियों पर मध्यम प्रकार का प्रतिबंध (ऊर्जादायक भोजन), और एक या अधिक दवाओं की सिफारिश करते हैं ताकि रक्त दाब कम किया जा सके और पेशाब अधिक उत्पन्न किया जा सके।

5. रक्ताधिक्य हृद्पात (Congestive cardiac failure) :

आम आदमी के लिए 'हृदपात' (हार्ट फेल्योर) का मतलब होता है आकस्मिक मृत्यु। लेकिन आयुर्विज्ञान की भाषा में इसका अर्थ कुछ दूसरा ही होता है। विज्ञान की भाषा में 'हृद्पात' शब्द का अर्थ है हृदय द्वारा अपने कार्यों को दक्षतापूर्वक न कर पाना। हृदय का अपने कार्य में अक्षम होने का परिणाम होता है शरीर के ऊतकों में पर्याप्त आक्सीजन व पोषण की आपूर्ति न होना। इससे क्या होता है कि हृदय की संचित शक्ति में धीरे-धीरे गिरावट आती जाती है। हृद्पात की आरंभिक अवस्थाओं में हृदय ऊतकों की रक्त वाली मांग को आराम की दशा और यहां तक कि खड़े होने, चलने, झुकने आदि की सामान्य परिश्रम व तनाव वाली दशाओं में भी पूरा करता रहता है, लेकिन ताबड़तोड़ शारीरिक परिश्रम व तीव्र गतिशीलता की मांग को वह पूरा नहीं कर पाता, जैसे कि दौड़ने अथवा ऊंचाई पर चढ़ने में।

प्रकृति के आधार पर और इस बात के आधार पर भी कि हृदय का कौन-सा कक्ष पहले अक्षम होता है, आयुर्वैज्ञानिकों ने हृद्पात को अनेक प्रकारों में विभाजित किया है। बायीं तरफ वाले अथवा बायीं ओर वाले निलयी-पात में आरंभिक गड़बड़ी बायें निलय से शुरू होती है। यह अधिक रक्त दाब और महाधमनी कपाट वाले रोगों में होता है। दाहिनी ओर अथवा दाहिनी तरफ वाले निलयी-पात में आरंभिक गड़बड़ी दाहिने निलय को प्रभावित करती है, जैसे कि चिरकारी श्वसनी-शोथ और दमा में। डिफ्थीरिया और उग्र अरक्तता में दोनों निलयों का पात साथ-साथ ही होता है। 'अति निकासी पात' (high output failure) में हृदय से रक्त अधिक निकलता है लेकिन तब भी हृदय की क्रियाशीलता अक्षम रहती है। इस प्रकार का पात विटामिन बी$_1$ (B_1) की भारी कमी और अवटुअतिक्रियता (hyperthyroidism) के रोगियों में देखा जाता है।

इनमें से प्रत्येक प्रकार के हृद्पात की अपनी विशेषता होती है और उसके विशिष्ट लक्षणों व संकेतों से उसे पहचाना जा सकता है। उदाहरण के लिए, दोनों टांगों में सूजन, बढ़ा हुआ और दबाने पर दर्द करने वाला यकृत् (जिगर) और उभरी ग्रीवा शिराएं दाहिने ओर के निलयी-पात का संकेत देती हैं, जबकि फेफड़ों का रक्ताधिक्य बायीं ओर के निलयी-पात का बोध कराता है।

विभिन्न प्रकार के हृद्पातों में सबसे सामान्य और महत्वपूर्ण बायीं ओर का निलयी-पात होता है क्योंकि यह बहुत अधिक होता है और इसमें भयानक जटिलताएं भी उत्पन्न हो जाती हैं।

हृद्पात के रोगियों के लिए आराम, मानसिक शिथिलन आदि बहुत जरूरी हैं, जोकि अन्य हृद् रोगों में भी सुझाए गए हैं। फिर भी हृदय को सबल बनाने के लिए विशेष चिकित्सा की आवश्यकता होती है और ऊतकों में अत्यधिक मात्रा में मौजूद तरल पर ध्यान दिया जाना चाहिए। इसे या तो शरीर में अधिक देर तक रुका नहीं रहना चाहिए या इसका मूत्र के रूप में विसर्जन हो जाना चाहिए। डाक्टर इस निमित्त प्रायः डिजिटेलिस और लवणमुक्त आहार की सिफारिश करते हैं। औषधि का सेवन डाक्टर द्वारा सुझाई गई विधि के अनुसार बड़ी निष्ठापूर्वक किया जाना चाहिए।

आमूल परिवर्तन :

वर्तमान शताब्दी के आरंभ होने के साथ-साथ इस शाखा विशेष में, जोकि हृदय और उसके रोगों से संबंध रखती है, आमूल चूल परिवर्तन हुए हैं, बल्कि यूं भी कह सकते हैं कि एक बिलकुल नए विज्ञान 'हृदयरोगविज्ञान' (cardiology) का जन्म हुआ है। पुरानी कई मान्य धारणाओं को छोड़ देना पड़ा है और पिछले कुछ दशकों में असंख्य नई धारणाएं अपना ली गई हैं।

उपचार की बिलकुल नई उन्नत विधियों में अतिरक्तदाब के लिए नई औषधियों, जीवाणुक अंतर्हृद्कलाशोथ और सिफिलिस का प्रतिजीवी औषधियों द्वारा उपचार, हृद्धमनी घनास्रता में स्कंदनरोधी पदार्थों का प्रयोग और कुछ प्रकार के हृद् रोगों में रेडियो-ऐक्टिव समस्थानिकों (isotopes) के विवेकपूर्ण प्रयोग का उल्लेख किया जा सकता है।

पिछले कुछ वर्षों में हृद्शस्त्र कर्म ने इतनी तीव्र प्रगति की है कि जन्मजात व रुमेटी हृद् रोग तथा अतिरक्तदाब व हृद्धमनी रोग के जिन अनेक रोगियों को पहले निराशाजनक और असाध्य मान लिया जाता था, उन्हें वक्त पर किए गए शस्त्रकर्म उपायों द्वारा नया जीवन प्रदान किया गया है।

अभी कुछ ही वर्ष पहले हृदय का रुकना एक समाप्ति की अवस्था समझी जाती थी जिसमें जिंदा रहने की कोई संभावना नहीं होती थी। लेकिन वैज्ञानिकों ने वह अभूतपूर्व करिश्मा कर दिखलाया है कि हृदय की क्रियाशीलता के कुछ मिनटों के लिए समाप्त हो जाने के बाद भी विशेष विद्युत् युक्तियों द्वारा उन्होंने हृदय में पुनः जान फूंककर उसे कार्यक्षम बना दिया। पिछले दशक की उत्कृष्ट वैज्ञानिक उपलब्धियों में 'कृत्रिम हृदय' नामक मानव निर्मित अति जटिल साधित्र (appliance) का उल्लेख करना युक्तिसंगत होगा। यह इसी दृष्टिकोण से बनाया गया है कि शस्त्रकर्म संबंधी क्रियाकलाप के समय अस्थायी तौर पर इसका प्रयोग किया जा सके।

हाल ही में हृद् और हृद्धमनी रोग से पीड़ित अशक्त व्यक्तियों के पुनर्वास अथवा लाभकारी रोजगार संबंधी समस्या पर ध्यान देना बहुत उचित रहा है। चूंकि हृद् रोगी प्रायः अपने जीवन की चरम अवस्था और ऊंचे सामाजिक अथवा बौद्धिक स्तर पर होते हैं, इसलिए उनका पुनर्वास करना अथवा शारीरिक, मानसिक, आवेगात्मक सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से उनको अधिक से अधिक उपयोगिता की सीमा पर लाना बहुत जरूरी और महत्वपूर्ण बात है।

* * * *

हृद् रोग को परिलक्षित करने वाले लक्षणों पर तुरंत ध्यान दिया जाना चाहिए। ऐसे लक्षण ये हैं :

1. हल्का श्रम करने पर सांस का फूलना, जैसे सीढ़ियां चढ़ने पर।

2. छाती में दर्द अथवा कसमसाहट की अनुभूति होना। दर्द बायीं बाहु, गर्दन अथवा जबड़े की ओर फैल सकता है। तनिक श्रम करने पर ही दर्द की अनुभूति हो जाती है।

3. पांवों की सूजन।

4. थकान, धड़कन, सिर चकराना और बराबर सिरदर्द।

इन लक्षणों से शंका हो सकती है लेकिन यह जरूरी नहीं कि इनका अर्थ हृद् रोग ही हो।

हृद् रोग और रक्त वाहिकाओं के रोगों में ली जाने वाली सावधानियां :

1. सामयिक रूप से स्वास्थ्य की जांच, विशेषकर 40 वर्ष से अधिक उम्र वाले व्यक्तियों की और उनकी भी जिनमें हृदय अथवा रक्त दाब वाले रोग का पुराना इतिहास है।

2. अधिक धूम्रपान करने वालों, अतिरक्त-दाब वालों, मधुमेह के रोगियों तथा मोटापा वाले व्यक्तियों में हृद् रोग के पारिवारिक इतिहास और 40 वर्ष से अधिक उम्र वाले व्यक्तियों के स्वास्थ्य की सामयिक जांच।

3. हृद् रोग के किसी भी लक्षण के प्रति तुरंत उपचार।

4. सामान्य सीमाओं में मध्यम आहार, कम वसा खाना और शरीर के भार को बनाए रखना।

5. अधिक धूम्रपान, भारी भोजन और अत्यधिक मदिरा सेवन से परहेज।

6. मध्यम प्रकार का नियमित व्यायाम।

7. दैनिक रूप से सामयिक और युक्तिसंगत आराम। काम के अलावा नियमित छुट्टियों के दिन आनंद।

8. मानसिक तनाव और दुश्चिंताओं से परहेज।

इस विषय पर अधिक जानकारी के लिए डा० रुस्तम जाल वकील द्वारा लिखित "स्वास्थ्य और रोग में हृदय" (The Heart in Health and Disease) नामक पुस्तक देखिए जो बम्बई विश्वविद्यालय का प्रकाशन है।

—संपादक

• • •
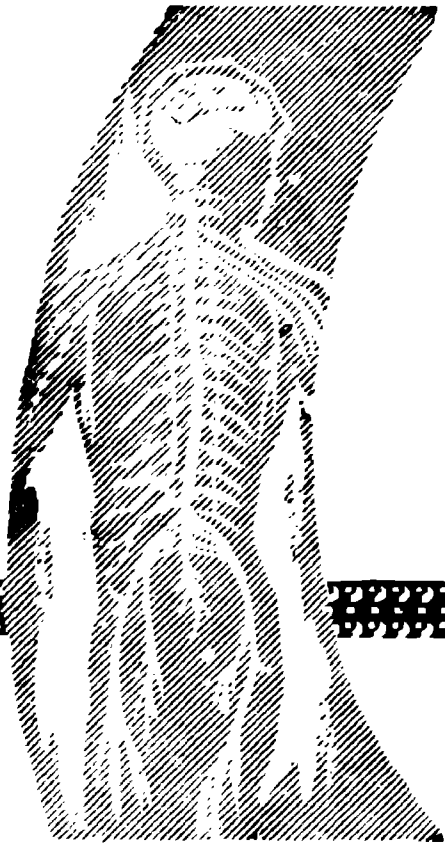
25

—डा० वी० एन० भावे

तंत्रिका तंत्र

वह तंत्र, जो शरीर के अन्य सभी तंत्रों का संचालन और समन्वय करता है तंत्रिका तंत्र कहलाता है (चित्र 25.2)। केंद्रीय तंत्रिका तंत्र (Nervous System) में आते हैं—(क) मस्तिष्क, जो अस्थिल कपाल (cranium) में बंद रहता है और (ख) मेरुरज्जु अथवा सुषुम्ना, जो मस्तिष्क से नीचे की ओर चलती है और कशेरुका दंड (vertebral column) में सुरक्षित रहती है। मस्तिष्क व सुषुम्ना से निकलने वाली विभिन्न तंत्रिकाएं ही परिसरीय (peripheral) तंत्रिका तंत्र की रचना करती हैं। आंतरिक अंग स्वसंचालित (autonomic) तंत्रिका तंत्र द्वारा नियंत्रित होते हैं। केंद्रीय और परिसरीय तंत्रिका तंत्र के रोग सामान्यतया पक्षाघात सरीखे दिखलाई देने वाले दोष उत्पन्न कर देते हैं जबकि स्वसंचालित तंत्रिका तंत्र के रोग प्रायः शरीर के विभिन्न अंगों के कार्य करने की शक्ति को नष्ट कर देते हैं। तंत्रिका तंत्र की क्रियाविधि समझने के पहले उसकी संरचनाओं को विस्तार में समझना आवश्यक है।

संरचना :

जिस तरह यकृत् सरीखा अंग असंख्य छोटी इकाइयों या यकृत् कोशिकाओं का बना होता है उसी तरह तंत्रिका तंत्र भी तंत्रिका कोशिका नामक इकाइयों का बना होता है (चित्र 25.3)। प्रत्येक तंत्रिका कोशिका के दो भाग होते हैं, कोशिका और तंत्रिका तंतु (nerve fibre)। मामूली धागे की तरह दिखलाई देने वाली सामान्य तंत्रिकाएं और कुछ नहीं बस इसी तरह के तंतुओं के पूल या गुच्छ हैं जो बंधनकारी ऊतक द्वारा एक साथ बंधे होते हैं और ऐसा प्रत्येक तंतु तंत्रिका कोशिका से आरंभ होता है। तंत्रिका कोशिका आवेग (impulse) को उत्पन्न कर सकती है और यह अन्य तंत्रिका कोशिकाओं में उत्पन्न इसी तरह के आवेगों को ग्रहण व संप्रेषण करने का कार्य भी कर सकती है। तंत्रिका तंतु में आवेग को उत्पन्न करने वाली इस तरह की कोई शक्ति नहीं होती लेकिन विद्युत्धारा का चालन करने वाले एक बिजली के तार की तरह यह तंत्रिका कोशिका द्वारा उत्पन्न आवेग के

* * * *

डा. वी. एन. भावे, एम. बी., बी. एस., जनरल मेडिकल प्रैक्टिशनर, पूना; विज्ञान की अनेक स्कूली पाठ्य पुस्तकों के लेखक; सदस्य, सम्पादक मंडल 'हम और हमारा स्वास्थ्य'।
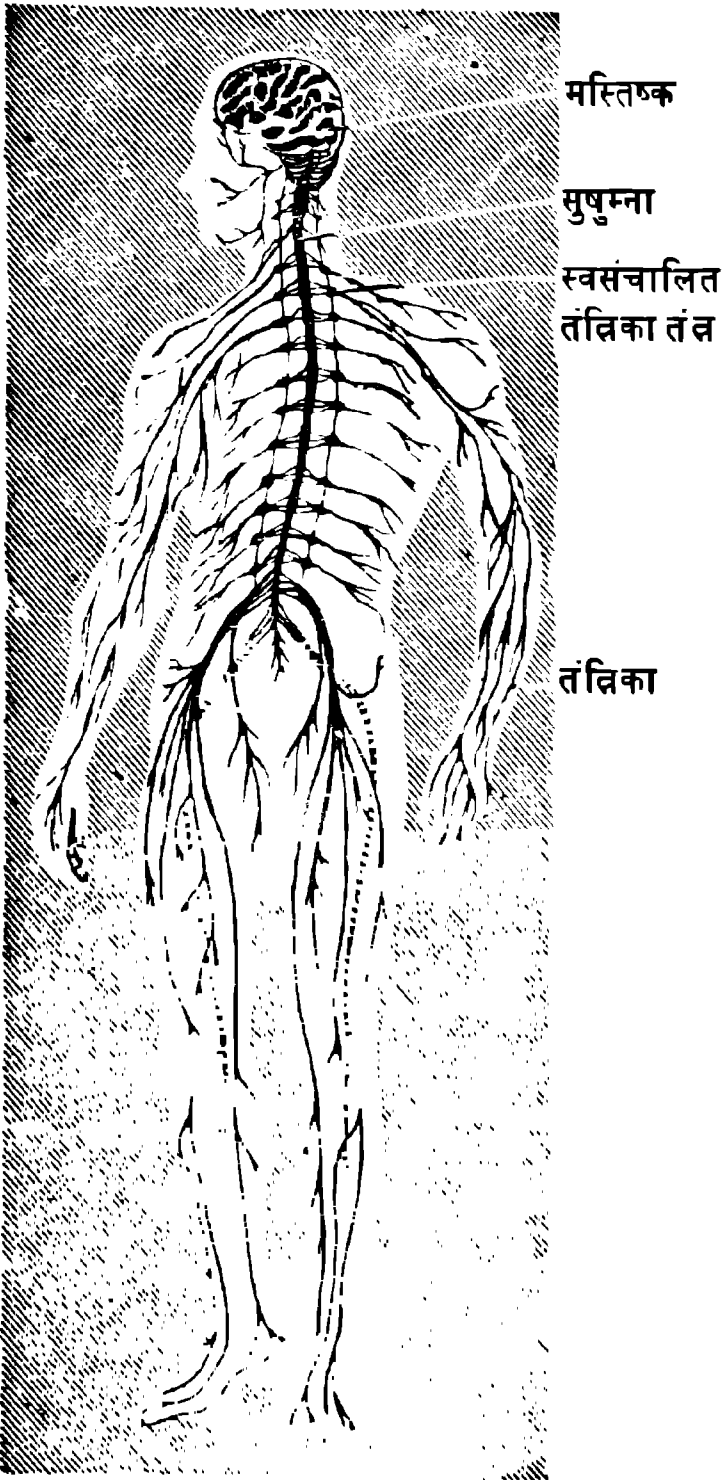
चित्र 25.2—तंत्रिका तंत्र

चालक का कार्य करता है। तंत्रिका कोशिका के मरने या नष्ट होने पर उससे निकलने वाला तंतु अपना कार्य करने में असमर्थ हो जाता है। वह तंत्रिका जो आवेग को तंत्रिका कोशिका में ले जाती है और संवेदना (sensation) उत्पन्न करती है संवेदी तंत्रिका (sensory nerve) कहलाती है। उदाहरण के लिए, त्वचा के नीचे फैली हुई वे तंत्रिकाएं जो स्पर्श, तापमान और दर्द की संवेदना को मस्तिष्क के तंत्रिका केंद्रों तक ले जाती हैं संवेदी तंत्रिकाएं कहलाती हैं। आंख को मस्तिष्क से जोड़ने वाली तंत्रिका भी संवेदी तंत्रिका है। लेकिन तंत्रिका केंद्र से पेशी सरीखे किसी अंग अथवा ऊतक
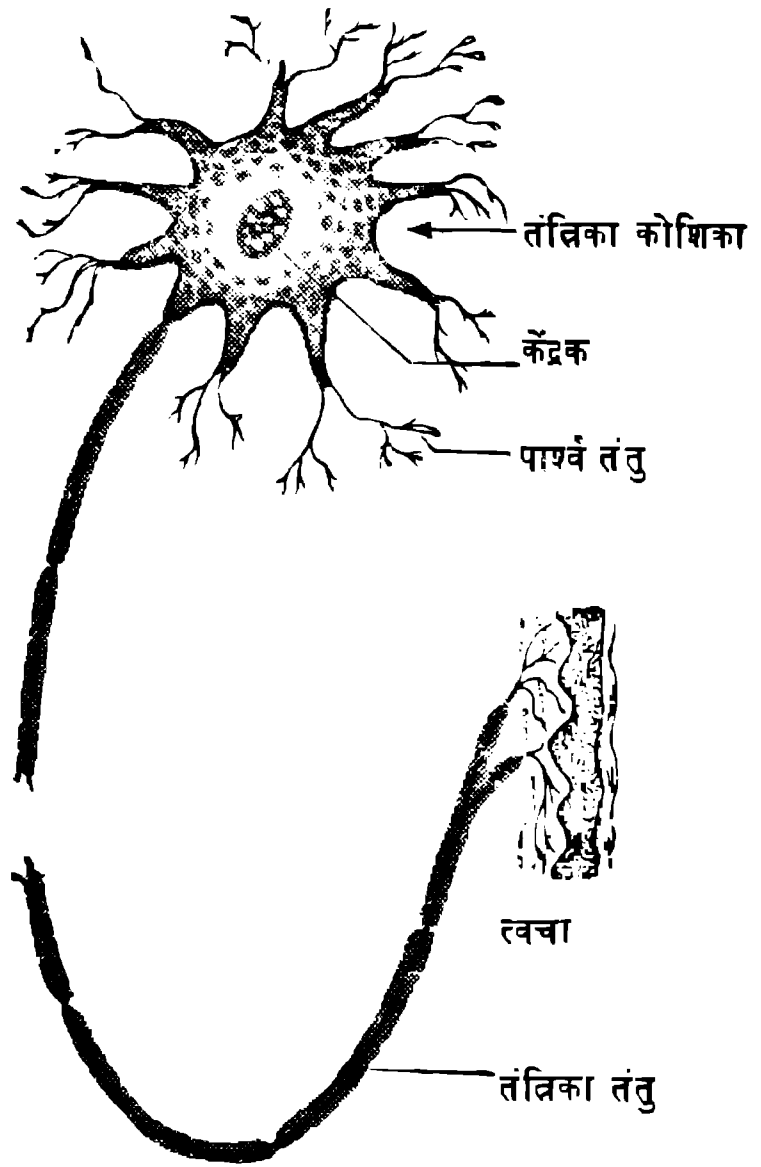
चित्र 25.3—तंत्रिका कोशिका

तक आवेग ले आने वाली तंत्रिका प्रेरक तंत्रिका (motor nerve) कहलाती है।

मस्तिष्क :

यह कपाल, करोटि या खोपड़ी नामक हड्डी के बॉक्स में बंद रहता है। यह तीन झिल्लियों द्वारा ढका रहता है जिन्हें तानिका या मस्तिष्कावरण (meninges) कहते हैं। ये झिल्लियां सुषुम्ना को ढकने वाली झिल्लियों तक आगे बढ़ी हुई होती हैं (चित्र 25.6)। सबसे अंदर की दो झिल्लियों के बीच का स्थान एक तरल से भरा रहता है जिसे प्रमस्तिष्कमेरु-तरल (cerebrospinal fluid) कहते हैं। हड्डी वाले कपाल के अलावा ये झिल्लियां और तरल भी मस्तिष्क को सुरक्षा प्रदान करते हैं। मस्तिष्क तीन प्रमुख भागों में विभाजित होता है वृहत् मस्तिष्क अथवा प्रमस्तिष्क (cerebrum), लघु मस्तिष्क अथवा अनुमस्तिष्क (cerebellum) और सुषुम्ना शीर्ष (medulla

चित्र 25.4—मस्तिष्क के भाग
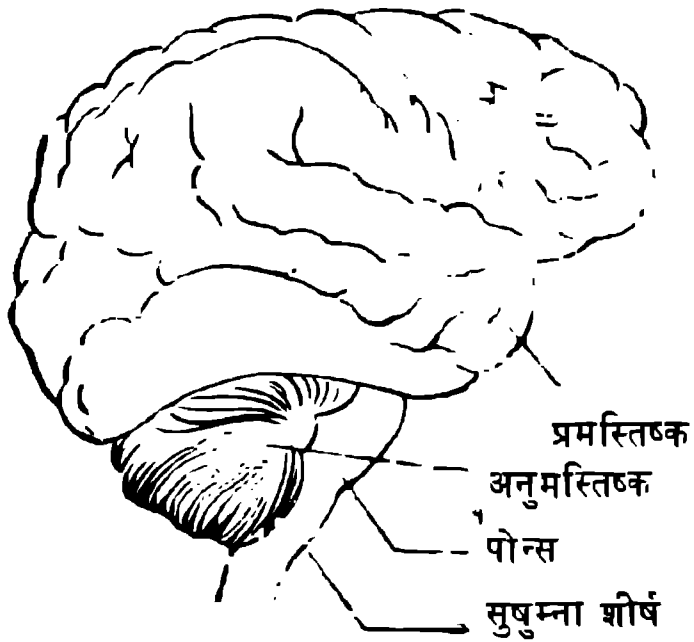
चित्र 25.4—प्रमस्तिष्क के क्षेत्र

oblongata) (चित्र 25.4)।

प्रमस्तिष्क : कपाल या खोपड़ी की गुहा के अधिकांश भाग में यही भरा होता है और इसके दो आधे भाग या गोलार्द्ध होते हैं। मस्तिष्क की सतह अखरोट की तरह संवलित या चुन्नटदार होती है। बाहर से मस्तिष्क धूसर होता है क्योंकि मुख्यतया यह तंत्रिका कोशिकाओं का बना होता है लेकिन भीतरी पदार्थ या भाग तंत्रिका तंतुओं के कारण सफेद दीखता है, जो तंत्रिका-कोशिकाओं से शुरू होकर अंदर की ओर बढ़ जाते हैं। वृहत् मस्तिष्क के विभिन्न भाग भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं (चित्र 25.5)। इस तरह मस्तिष्क की पिछली तरफ वाला भाग दृक् तंत्रिका द्वारा आंख से लाए गए दृष्टि आवेगों को ग्रहण करके उनका अर्थ निकालता है। मस्तिष्क का एक विशेष भाग, जोकि संवेदी क्षेत्र कहलाता है, शरीर के विभिन्न भागों के स्पर्श, तापमान और दर्द के संवेदी आवेगों को ग्रहण करता है। दूसरा भाग प्रेरक क्षेत्र कहलाता है जो शरीर की विभिन्न पेशियों में तंत्रिका तंतु भेजता है और उनका संकुचन करता है। प्रमस्तिष्क बुद्धि या मेधा, इच्छा, आवेश, स्मरणशक्ति सरीखी उन अधिक विकसित क्षमताओं का स्थल है जो मानव को विशिष्ट रूप से सम्पन्न किए हुए हैं। जब वृहत् मस्तिष्क के किसी विशेष भाग में क्षति या रोग होता है तो उस भाग से संबद्ध कार्य विशेष के न होने से उसकी अक्रियता का प्रकटीकरण हो जाता है। प्रेरक क्षेत्र में क्षति का परिणाम होता है दूसरी तरफ की पेशियों का पक्षाघात क्योंकि प्रेरक क्षेत्र की एक ओर के तंत्रिका तंतु पार करते हुए दूसरी तरफ पहुंचते हैं। ललाट पालि (frontal lobe) के प्रभावित होने से व्यवहार में परिवर्तन हो जाते हैं। भाग विशेष के क्षतिग्रस्त होने के अनुसार व्यक्ति में मिरगी के दौरे, शरीर के किसी भाग या एक तरफ का अंगघात या लकवा अथवा संवेदनाहीनता, सुन्नता, शरीर के किसी भाग में झुनझुनी, देखने की शक्ति का नष्ट होना आदि कई बातें हो सकती हैं।
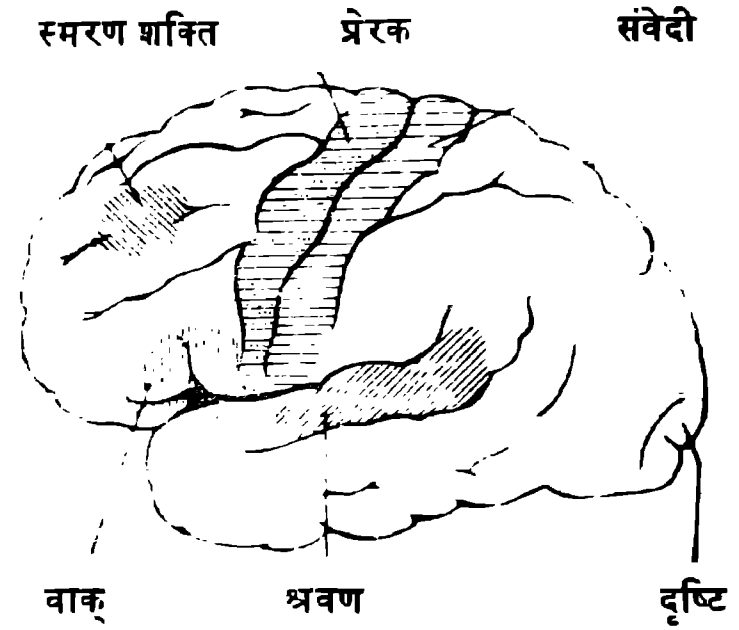
अनुमस्तिष्क : यह प्रमस्तिष्क के नीचे और पीछे होता है और शरीर के संतुलन में सहायता पहुंचाना इसका कार्य है। प्रभावित होने पर विभिन्न गतियों का समन्वय करने में यह असमर्थ हो जाता है और चलने और खड़े रहने में अस्थिरता आ जाती है।

सुषुम्ना-शीर्ष या मेरुरज्जु-शीर्ष (मेडुला) : यह दीर्घायत भाग मस्तिष्क का सबसे निचला भाग होता है। यह रक्त परिसंचरण और श्वसन जैसे महत्वपूर्ण कार्यों का नियमन करता है।

सुषुम्ना या मेरु-रज्जु :

सुषुम्ना, मस्तिष्क का ही नीचे को बढ़ा हुआ भाग है और कशेरुका-दंड नामक हड्डी की नली
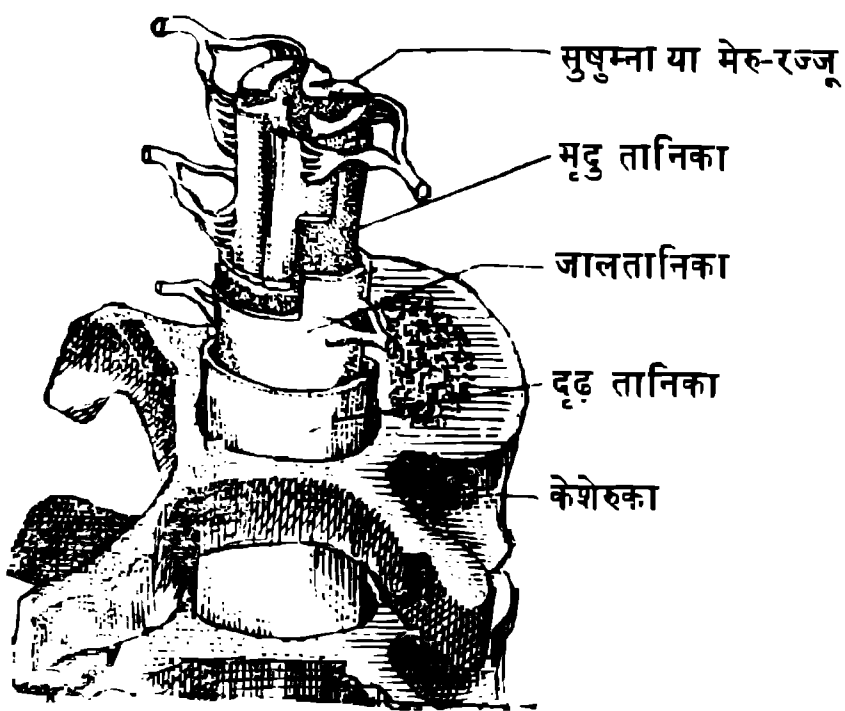
चित्र 25.6—सुषुम्ना की तानिकाएं या आवरण

में सुरक्षित रहती है। मस्तिष्क की ही तरह यह भी तीन आवरणों से ढकी रहती है, जिन्हें तानिकाएं या आवरण (meninges) कहते हैं (चित्र 25.6)। स्पर्श, दर्द और तापमान आदि के विविध संवेदी आवेग संवेदी तंत्रिका तंतुओं द्वारा चालित होते हैं और त्वचा से ऊपर की ओर सुषुम्ना से होकर वृहत् मस्तिष्क के विपरीत तरफ पहुंचा

चित्र 25.7—संवेदी और प्रेरक आवेग का पथ
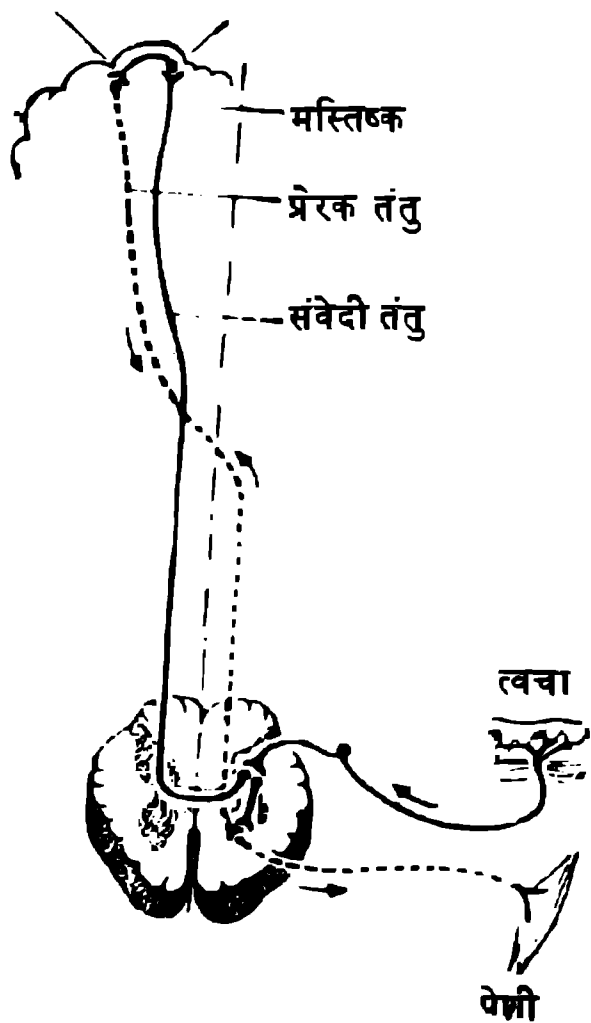
दिए जाते हैं (चित्र 25.7)। सुषुम्ना, प्रेरक तंत्रिका तंतुओं से होकर प्रेरक आवेगों को मस्तिष्क से ले जाकर विभिन्न पेशियों को चालित करती है। सुषुम्ना के प्रभावित होने पर एक या दोनों निचली भुजाओं में संवेदनाहीनता व अंगघात और पेशाब व मल त्याग की प्रक्रियाएं नियंत्रण के बाहर हो जाती हैं।

प्रतिवर्ती क्रियाएं (Reflex action) : सामान्यतया स्पर्श, दर्द और तापमान आदि का संवेदी आवेग त्वचा से सुषुम्ना में ग्रहण किया जाता है और ऊपर की ओर मस्तिष्क के संवेदी स्थल तक पहुंचा दिया जाता है (चित्र 25.7), जहां पर संवेदना विशेष के रूप में उसका अर्थ निकाला जाता है। इसके तुरंत बाद जैसे ही मस्तिष्क अनुक्रिया दिखलाना शुरू करता है, एक प्रेरक आवेग (या जिसे आदेश भी कहते हैं) पहले मस्तिष्क के प्रेरक क्षेत्र से नीचे सुषुम्ना की की ओर फिर पेशियों की ओर संप्रेषित कर दिया जाता है जिसके परिणामस्वरूप इच्छित गति सम्पन्न हो जाती है। यदि ऐसे व्यक्ति का उदाहरण लें जिसकी सुषुम्ना क्षतिग्रस्त या संक्रमित है तो हम देखेंगे कि उसके पैर के तलुवे को गुदगुदाने पर वह पैरों को एकदम खींच लेगा, यद्यपि वह व्यक्ति स्वयं गुदगुदी की संवेदना से बेखबर है। इसी तरह कोई व्यक्ति यदि अनजाने में बिना देखे हुए किसी गर्म वस्तु को छू लेता है तो क्षति से बचने के लिए उसका हाथ स्वतः ही दूर हट जाएगा (चित्र 25.3)। यह इसलिए होता है कि सुषुम्ना के धूसर द्रव्य (grey matter) की तंत्रिका कोशिकाएं तंत्रिका केन्द्रों का कार्य करती हैं। ये कोशिकाएं संवेदी आवेश ग्रहण करती हैं तथा स्वयं ही प्रेरक आवेग की शुरूआत भी कर सकती हैं और इस तरह मस्तिष्क को कोई सूचना दिए बगैर भाग विशेष में तदनुकूल गति सम्पन्न करा सकती हैं (चित्र 25.9)। यह क्रिया स्वचालित अथवा प्रतिवर्ती क्रिया होती है। चलने, सीढ़ियां
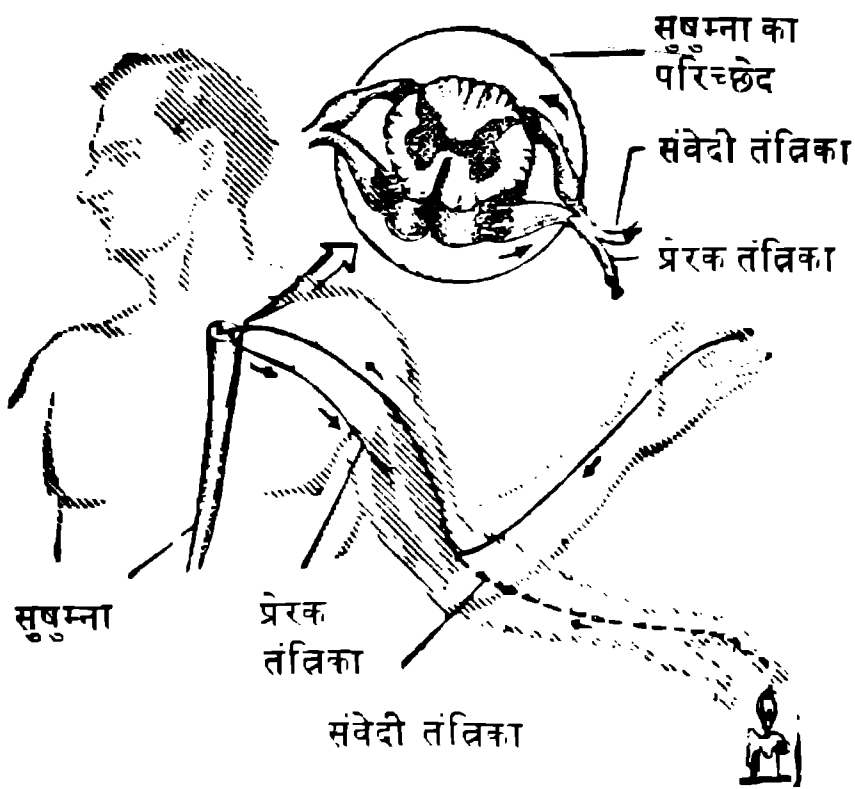
चित्र 25.8—प्रतिवर्ती क्रिया

चढ़ने और यहां तक कि साइकिल चलाने वाली सामान्य गतियां आरम्भ में तो ऐच्छिक होती हैं लेकिन बार-बार इनकी पुनरावृत्ति होने पर ये प्रतिवर्ती बन जाती हैं और इस तरह व्यक्ति इनके होने में बेखबर रहता है। लगातार अच्छी या बुरी बातें करने पर हमारे अंग स्वत: ही वैसा करने के लिए प्रशिक्षित हो जाते हैं और इसी आधार पर अच्छी या बुरी आदतें बन जाती हैं। कुछ भागों की सुरक्षा के लिए प्रतिवर्ती क्रिया बहुत लाभकारी होती है। यदि नेत्र गोलक को छुआ जाय तो आंख की रक्षा करने के लिए पलकें एकदम बंद हो जाती हैं।

यदि जानुफलक (knee cap) के ठीक नीचे वाली कंडरा (tendon) पर हल्के से थपकी दी जाय तो टांग तुरंत आगे की ओर झटक दी जाती

चित्र 25.9—प्रतिवर्ती क्रिया का पथ
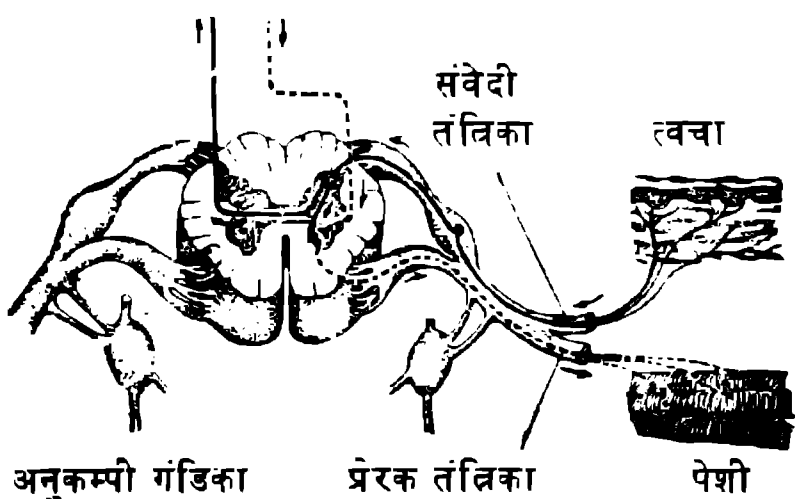
है। इसे घुटने वाला झटका (प्रतिक्षेप) कहा जाता है। यद्यपि मस्तिष्क के प्रेरक क्षेत्र वाला रोग या क्षति झटके को बढ़ा-चढ़ा देता है लेकिन सुषुम्ना की क्षति में यह लुप्त हो जाता है। इस प्रकार प्रतिवर्तों के परिवर्तनों से तंत्रिका तंत्र के कुछ रोगों के निदान में डाक्टर को बहुत सहायता मिलती है।

तंत्रिकाएं :

मस्तिष्क से निकलने वाली तंत्रिकाओं को कपालीय तंत्रिका (cranial nerve) कहते हैं और जब इनमें रोग होते हैं तो अंधेपन, चेहरे का पक्षाघात आदि लक्षण प्रकट हो जाते हैं। इसी तरह सुषुम्ना या मेरु-रज्जु से निकलने वाली तंत्रिकाएं मेरु तंत्रिकाएं (spinal nerve) कहलाती हैं और जब ये रोग द्वारा प्रभावित होती हैं तो भुजाओं में दर्द, संवेदनाहीनता अथवा अंगघात हो सकता है।

स्वसंचालित तंत्रिका तंत्र :

इसकी रचना कशेरुकादंड के दोनों ओर स्थित गंडिकाओं (ganglia) की शृंखला से होती है जो कपाल या करोटि से लेकर श्रोणि (pelvis) तक फैली होती हैं (चित्र 25.2)। ये गंडिकाएं, जोकि तंत्रिका कोशिकाओं के समूह हैं, आपस में तंत्रिका तंतुओं द्वारा जुड़ी रहती हैं (चित्र 25.9)। कुछ तंतु केंद्रीय तंत्रिका तंत्र से भी संपर्क स्थापित किए रहते हैं। स्वसंचालित तंत्रिका तंत्र सभी अनैच्छिक (involuntary) पेशियों और हृदय, फेफड़े, आमाशय आदि आंतरिक अंगों तथा परिसंचरण और श्वसन सरीखे महत्वपूर्ण कार्यों को नियंत्रित करता है। स्वसंचालित तंत्रिका तंत्र के विकास सिर चकराने, मूर्च्छा, धड़कन, उदरीय गैस, पसीना आना सरीखे लक्षण उत्पन्न करते हैं। ऐसे लक्षण प्राय: आंतरिक अंगों के रोगों द्वारा भी उत्पन्न होते हैं इसलिए स्वसंचालित तंत्रिका तंत्र के विकारों के निदान के लिए सावधानीपूर्वक निरीक्षण किया जाना बहुत आवश्यक है।

तंत्रिका तंत्र की देखभाल या सावधानी के लिए 'मानसिक स्वास्थ्य' वाला अध्याय 27 देखिए।

• • •

26

—डा० एच० वी० सरदेसाई
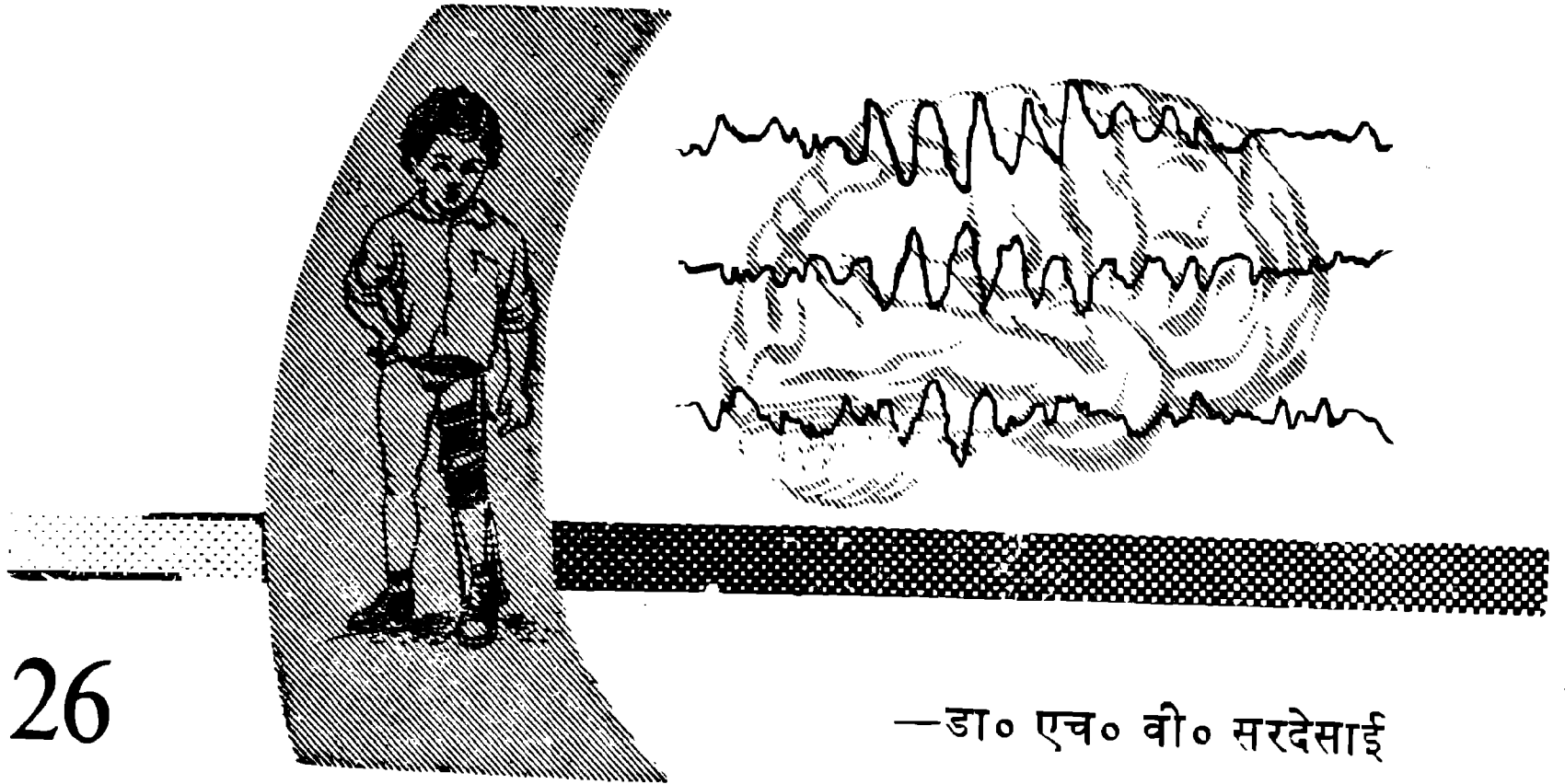
तंत्रिका तंत्र के सामान्य विकार

तंत्रिका तंत्र के विकारो में मानव की कई बीमारियां आती हैं। वस्तुतः प्रतिजीवी औषधियों के आविष्कार और उष्णकटिबंधी रोगों के निरोध और नियंत्रण के बाद सबसे अधिक मृत्यु दर व्यप-जनित तंत्रिका रोगों की है; जैसे पक्षाघात का। तंत्रिका तंत्र के विकारों से उत्पन्न कुछ सामान्य दशाएं नीचे दी गई हैं :

शिरोवेदना या सिरदर्द :

सिरदर्द सबसे आम शिकायत है। इसके होने से यह जरूरी नहीं कि मस्तिष्क का कोई रोग हो लेकिन हो भी सकता है। प्रायः यह थकान, मानसिक तनाव, जुकाम, ज्वर, कब्ज आदि विविध कारणों से हो सकता है और तंत्रिका तंत्र के किसी भयानक रोग का प्रतीक नहीं। ऐस्पिरीन सरीखी औषधियां बगैर कारण जाने हुए नहीं ली जानी चाहिए क्योंकि हो सकता है कि नीचे छिपा कारण बिना उपचार के ही रह जाय। सिर दर्द के साथ यदि क़ै, दृष्टिक्षीणता अथवा शरीर के किसी भाग का अंगघात या लकवा है तो यह बुरा सगुन यानी गंभीर लक्षण है और डाक्टर द्वारा इसकी पूरी जांच होनी चाहिए। सिरदर्द का सबसे सामान्य कारण माइग्रेन है, जिसमें रोगी द्वारा एक ओर का सिरदर्द महसूस किया जाता है। इसकी प्रस्पंदी प्रकृति सुपरिचित है। प्रायः यह आंख के सामने काले धब्बे नजर आने वाले कुछ सूचक लक्षणों की छोटी अवधि के बाद सुबह शुरू होता है। दर्द बहुत तीव्र होता है लेकिन जैसे-जैसे सूरज ढलता जाता है वैसे-वैसे कम होता जाता है। ऐसे पूर्वरूप या सूचक लक्षणों में सबसे उत्तम काम होगा पूरी तरह से विश्राम करना। वैसे इसके उपचार के लिए कुछ विशिष्ट औषधियां भी हैं लेकिन उनका सेवन डाक्टर की ही सलाह पर करना चाहिए।

अपस्मार या मिरगी :

इस बीमारी में प्रभावित व्यक्ति को कभी-कभी मिरगी के दौरे पड़ते हैं। कुछ रोगियों में एक अजीब-सी अनुभूति होती है, जो दौरे से जरा पहले हर रोगी के लिए एक ही होती है। इसे 'पूर्वाभास'

* * * *

डा. एच. वी. सरदेसाई, एम. डी. (बम्ब), एम. आर. सी. पी. (ई.), अवैतनिक, कायचिकित्सक, ससून जनरल अस्पताल एवं बी. जे. मेडिकल कालेज, पूना।

(aura) कहते हैं। इसके बाद रोगी जोर से चिल्लाता है और उसमें आक्षेप (convulsion) होने लगते हैं। प्रायः इसके साथ कपड़ों में पेशाब व मल भी निकल जाता है और मुंह से झाग निकलने लगता है। ऐसे दौरे या तो अर्बुद (रसौली), विद्रधि (फोड़े) सरीखे मस्तिष्क के आंतरिक रोगों के कारण हो सकते हैं या इनका कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं भी हो सकता है। बाद वाली स्थिति में इसे अज्ञातहेतुक अपस्मार (idiopathic epilepsy) कहते हैं और जीवन के आरंभिक काल में दौरे आने का यह सामान्य कारण है। फिर भी यदि व्यक्ति को 40 वर्ष की आयु के बाद पहली बार दौरे पड़ते हैं तो उसे पूरी तरह से अपनी डाक्टरी जांच करवा लेनी चाहिए।

जिस व्यक्ति को कभी-कभी दौरे पड़ते हैं उसे तैरना, पेड़ पर चढ़ना अथवा मशीन से काम नहीं करने देना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से उसे क्षति पहुंच सकती है। दौरे के समय व्यक्ति की उचित देखभाल की जानी चाहिए। रोगी को खुली हवा में रखने के लिए उसके चारों ओर की भीड़ को हटा देना चाहिए और कमर व गर्दन के इर्द-गिर्द पहने हुए कपड़ों को ढीला कर देना चाहिए। आक्षेपों को जबर्दस्ती कम करने का प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिए। दांतों के बीच एक मोटा कपड़ा रख देना चाहिए ताकि जीभ के कटने का अंदेशा न रहे। उसके चेहरे पर ठंडे पानी के छींटे देने चाहिए। जब तक वह पूरी तरह से चेतन और निगलने लायक न हो जाय तब तक मुंह से कुछ नहीं दिया जाना चाहिए।

आनन-अंगघात यानी चेहरे का लकवा :

यह एक सामान्य रोग है। प्रायः यह अचानक हो जाता है। व्यक्ति जब दूसरे दिन सवेरे उठता है तो उसे अचानक पता चलता है कि उसके चेहरे में कुछ गड़बड़ हो गया है। इसमें आधा चेहरा बिलकुल हिलता-डुलता नहीं और उसी तरफ कान के बीच प्रायः कुछ दर्द होता है। पानी पीने में कठिनाई होती है और अंगघात वाली तरफ की आंख पूरी तरह बंद नहीं की जा सकती (चित्र 26.2)। यदि रोगी को अपने दांत दिखलाने को कहा जाता है तो मुंह का कोण केवल स्वस्थ तरफ ही खिंच पाता है। अधिकांश रोगी उपचार के प्रति अच्छी प्रगति दिखलाते हैं और अच्छे भी हो जाते हैं लेकिन कुछ में थोड़ी बहुत दुर्बलता रह ही जाती है। यह रोग प्रायः ठंडी हवा के थपेड़ों के लगने से हो जाता है, इसलिए चेहरे के लकवे से बचने के लिए चेहरे को ठंडी हवा के झोंकों से बचा कर रखना चाहिए।

पक्षाघात (Hemiplegia) :

दूसरा तंत्रिक रोग पक्षाघात है। कुछ ही मिनटों या घंटों में शरीर के आधे भाग को लकवा मार जाता है, और यदि लकवा शरीर के दाहिनी ओर है तो वाणी भी लुप्त हो जाती है या किसी-न-किसी रूप में प्रभावित हो जाती है। यह आघात दो पृथक् प्रकार की क्षतियों से हो सकता है :

1. मस्तिष्क का रक्तस्राव, जब प्रायः अधिक रक्त दाब के कारण मस्तिष्क की कोई धमनी फट जाती है, अथवा 2. मस्तिष्क में अपर्याप्त रक्त आपूर्ति के कारण मस्तिष्क का रोधगलन

चित्र 26.2—चेहरे का अंगघात (दाहिनी तरफ)

(infarction—किसी भाग की स्थानिक विनष्टि), जैसे कि धमनी में स्कंद या थक्का बनने के कारण मस्तिष्क में रक्तस्राव वाले रोगी का भविष्य बहुत बुरा होने का डर रहता है लेकिन रोधगलन की क्षति वाले रोगी का इतना बुरा नहीं होता और यदि ठीक उपाय किए जायें तो अधिकांश रोगियों के जीवन की रक्षा की जा सकती है। एक बार जब तीव्र आघात गुजर जाता है तब भौतिक चिकित्सा (physiotherapy) ही संभव उपचार है (देखिए अध्याय 51)। पक्षाघात, वृद्धों को ग्रसित करने वाला एक बहुत आम रोग है। अपनी अपूर्ण अवस्था में यह निश्चित अंगघात नहीं करता लेकिन इससे बाहु की दुर्बलता अथवा किसी-न-किसी रूप में मस्तिष्क की कार्यक्षमता की हानि हो सकती है। इस तरह ऐसा रोगी देखा जा सकता है जिसमें वाणी, अथवा चिंतन-मनन की शक्ति अथवा स्मरणशक्ति आदि तो लुप्त हो जाती है लेकिन फिर भी शरीर के अन्य सभी कार्य सामान्य रूप से चलते रहते हैं। ऐसे सभी लक्षणों में व्यक्ति को बिस्तर पर पूरा आराम करना चाहिए और डाक्टर की सलाह लेनी चाहिए।

अधरांगघात (Paraplegia) :

दूसरा महत्वपूर्ण तंत्रिक रोग अधरांगघात है, जिसमें दोनों निचली भुजाओं की शक्ति क्षीण हो जाती है और व्यक्ति कमर से नीचे लकवे का शिकार हो जाता है। यह केंद्रीय तंत्रिका तंत्र या परिसरीय तंत्रिकाओं के रोगों से हो सकता है। अतः निदान पर पहुंचने के लिए पूरी तरह से निरीक्षण होना चाहिए। एक बार सही कारण ज्ञात होने पर विशिष्ट उपायों से इसका उपचार संभव हो सकता है और इसमें सुषुम्ना का शस्त्र-कर्म (ऑपरेशन) अथवा औषधि चिकित्सा की जाती है।

मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis) और पोलियो :

ये दोनों काफी सामान्य व्याधियां हैं। मस्तिष्कावरणशोथ या तानिका शोथ किसी भी उम्र के व्यक्ति को प्रभावित कर सकता है। मस्तिष्कावरणशोथ में मस्तिष्क के आवरण या परतें प्रभावित होती हैं और व्यक्ति में अधिक ज्वर, तेज सिरदर्द, कड़ी गर्दन, वमन और कभी-कभी बेहोशी आदि के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। निदान के लिए रोगी के मस्तिष्क-मेरु तरल (cerebrospinal fluid) का निरीक्षण किया जाना चाहिए।

पोलियो अथवा शिशु अंगघात प्रायः छोटे बच्चों को प्रभावित करता है। यह पोलियो विषाणु (वाइरस) के कारण होता है जो संदूषित जल, भोजन अथवा पेयों को ग्रहण करने से शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। इसका आरंभ ज्वर, बदन में दर्द, हाथ-पैरों के दर्द आदि से होता है। कभी-कभी इसका परिणाम होता है प्रभावित भुजा का अंगघात और इस पर यदि समुचित ध्यान नहीं दिया जाय तो यह जीवन पर्यन्त चल सकता है। इस रोग से पीड़ित अभागे रोगियों के स्वास्थ्य लाभ और स्वतंत्र जीवन के लिए पुनरुत्थान (rehabilitation) ही सच्ची आशा है। (देखिए अध्याय 51, 'विकलांगों का पुनरुत्थान') पोलियो से बचने के लिए आरंभिक शैशवावस्था में ही निरोधी टीका लगवा लेना चाहिए। इसकी वैक्सीन मुंह द्वारा भी तीन खुराकों में दी जा सकती है और तीनों खुराकों में परस्पर चार से छः हफ्ते का अंतर होना चाहिए। विस्तृत जानकारी के लिए अध्याय 13 देखिए।

तंत्रिकाशोथ (Neuritis) और तंत्रिकार्ति (Neuralgia) :

परिसरीय तंत्रिकाएं, जोकि सुषुम्ना या मेरुरज्जु और मस्तिष्क से निकलती हैं, कई प्रकार से रोगों द्वारा ग्रसित होती हैं। जब तंत्रिकाएं ठीक से कार्य करना बंद कर देती हैं और बाहर से कोई विकृति दिखलाई नहीं देती तो ऐसी दशा को तंत्रिकार्ति कहा जाता है। लेकिन जब तंत्रिका में किसी दृश्य रोग की पहचान हो जाती है तो इस दशा को तंत्रिकाशोथ कहा जाता है।

तंत्रिकार्ति में दर्द किसी विशिष्ट तंत्रिका से शुरू होकर उसके पथ पर चलता जाता है। प्रायः इसका ठीक-ठीक कारण ज्ञात नहीं होता। तंत्रिकार्ति का दर्द प्राय: एक लहर की तरह आता है जो बहुत तीव्र हो सकता है लेकिन तंत्रिकाशोथ में यह सामान्यतया स्थिर होता है। माइग्रेन वाला सिर दर्द भी एक प्रकार की तंत्रिकार्ति है और इसी तरह शियाटिक भी, जिसमें जांघ के पीछे आसन तंत्रिका (sciatic nerve) के पथ पर दर्द होता है।

तंत्रिकाशोथ में, तंत्रिका की सूजन अथवा व्यपजनन हो जाता है। चूंकि परिसरीय तंत्रिकाओं में प्रेरक और संवेदी दोनों प्रकार के तंतु होते हैं इसलिए होने वाला रोग दो प्रकार से हो सकता है। इसमें रोगी शरीर के विभिन्न भागों में कमजोरी की शिकायत करते हैं और अपने अनुसार इन तंत्रिकाओं द्वारा सेवित होने वाले क्षेत्रों में दर्द, झुनझुनी व सुन्नता और जलन अथवा संवेदनाहीनता जैसी असुविधाओं का अनुभव करते हैं। ये विकार प्रायः शरीर के परिसरीय अथवा दूरस्थ भागों में होते हैं इसलिए इस दशा को 'परिसरीय तंत्रिकाशोथ' कहते हैं।

परिसरीय तंत्रिकाशोथ कई विकारों से उत्पन्न हो सकता है, जैसे विटामिन की कमी, क्षति, मधुमेह, कुष्ठरोग, विषाणु संक्रमणों, एलर्जी आदि से। यदि इसका असली कारण ज्ञात हो जाय तो इन रोगियों के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है। कभी-कभी शामक औषधियों से, ग्रस्त भागों के ऊष्मा उपचार और उन्हें आराम की स्थिति में रखकर बेचैनी दूर की जाती है।

सारांश में कह सकते हैं कि तंत्रिका तंत्र शरीर के कई तीव्र और चिरकारी रोगों के रूप में प्रभावित होता है और ये रोग आंतरिक अंगों और कंकाल दोनों के हो सकते हैं। लेकिन इनके उपचार के लिए उचित जानकारी एक अनिवार्यता है।

• • •

27
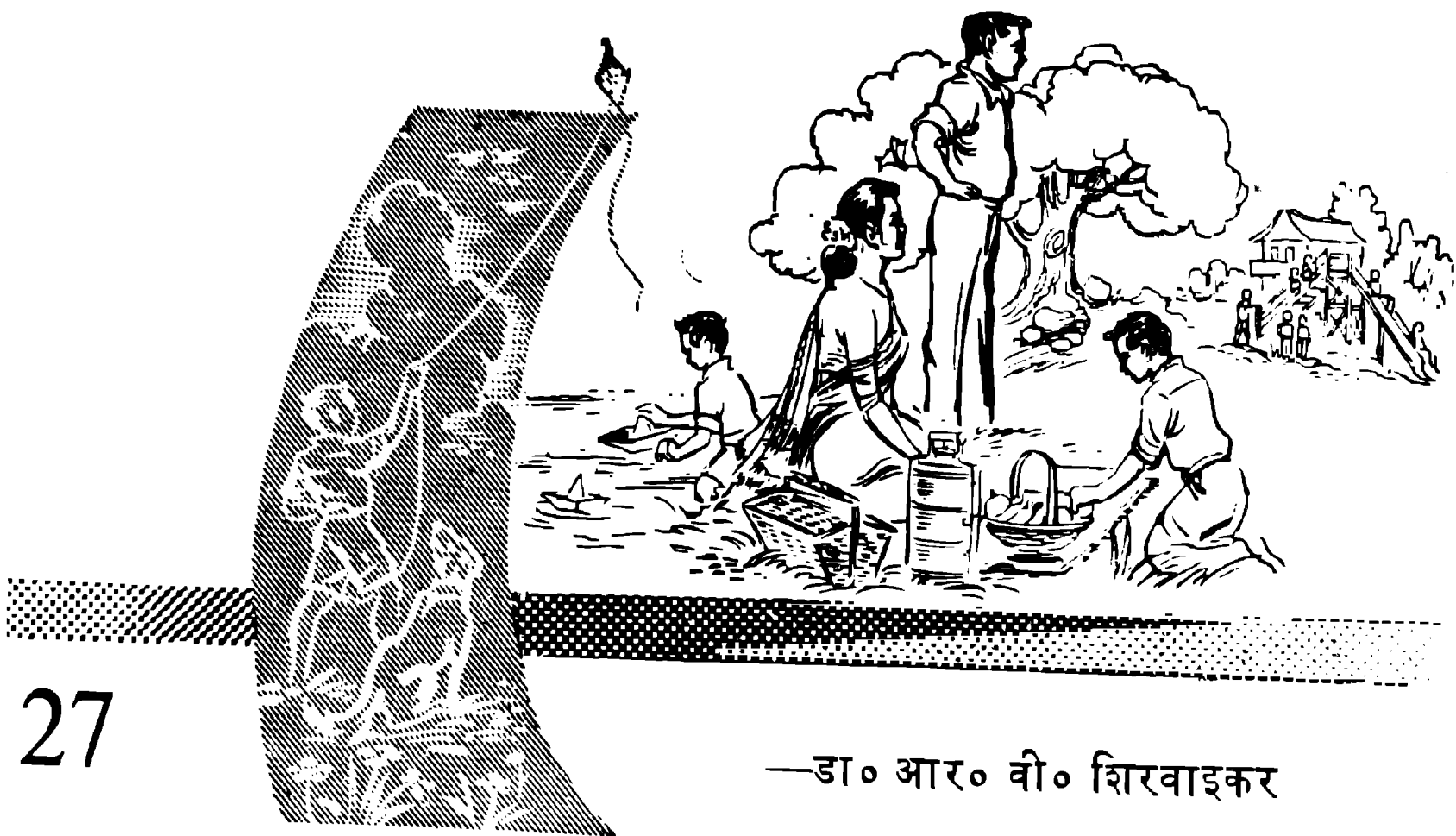
—डा० आर० वी० शिरवाइकर

मानसिक स्वास्थ्य

मन :

पुराने समय में मानव के लिए शरीर की अपेक्षा मन अधिक दुर्ग्राह्य रहा है और इसीलिए इसको प्रायः 'अन्तरात्मा' अथवा 'आत्मा' तक कहा जाता रहा है और कभी कुछ समय पहले ही इसकी प्रकृति और कार्यों के बारे में निश्चित रूप से जाना जा सका है। लेकिन अभी भी मन और उसके विकारों के बारे में बहुत कुछ जानना बाकी है।

मन एक भावबोधक शब्द है जो मस्तिष्क के जटिल क्रियात्मक पहलू को उजागर करता है। जब व्यक्ति चेतन होता है यानी अपने परिवेश के प्रति जागरूक रहता है तभी वह अपने को प्रकट करता है जबकि वह सोचता (विचार) व अभिव्यक्त (बोलता अथवा लिखता है) करता है, जब वह अनुभव (आवेश) करता है, और जब वह याद करता (स्मृति) व वास्तविक रूप से कार्य (व्यवहार) करता है।

मन के विभिन्न क्रियात्मक स्तर हैं : ऊपर का या सतही चेतन मन और नीचे या गहराई वाला अवचेतन और अचेतन मन। सामान्यतया व्यक्ति को केवल चेतन मन का ही ज्ञान होता है। लेकिन व्यक्ति को उस अवचेतन मन का अनुभव भी हो सकता है जो कुछ स्मृतियों और वृत्तियों का संग्रह किए रहता है। और यह अनुभव तभी होता है जब आत्मविश्लेषण किया जाता है अथवा भेदक विचार कौंधता है या जब कोई अपने स्वयं के असामान्य व्यवहार के प्रति समाधान खोजने की कोशिश करता है। अचेतन मन तक जानकारी की पहुंच नहीं होती और इसमें बचपन की अप्रिय स्मृतियां, गहरे जमे हुए भय अथवा 'मनोग्रंथियां' और वर्जित इच्छाएं संचित रहती हैं। यह उन अपसामान्य आवेगों का स्रोत है, जो अपसामान्य विचारों और मानसिक रूप से विकृत व्यवहार

* * * *

डा. आर. वी., शिरवाइकर, एम. बी., बी. एस. (बम्ब.), डी. पी. एम. (इंगलैंड); सुपरिटेन्डेन्ट, सेन्ट्रल मैन्टल हास्पिटल, यर्वदा, पूना-6; अवैतनिक मनोविकार विज्ञानी, ससून जनरल अस्पताल एवं प्राध्यापक, मनोविकार विज्ञान, बी. जे. मेडिकल कालेज, पूना।

का निर्धारण करते हैं। सामान्य व्यक्ति में विचार और व्यवहार को, 'अहं' या सामान्य व्यवहार का नियमन करने वाले 'स्व' के अंश द्वारा, ऐसे आवेगों से प्रभावित नहीं होने दिया जाता।

शरीर और मन :

आवेश केवल शरीर के क्रियाकलापों का ही नहीं बल्कि विभिन्न अंगों का चालन-बल भी है। भय के कारण व्यक्ति अपनी रक्षा की तैयारी करता है और इसमें वह केवल तेजी से सोचता ही नहीं बल्कि साथ-साथ उसकी धड़कन तेज हो जाती है, रक्त दाब अधिक हो जाता है और सांस भी तेजी से चलने लगती है।

कभी-कभी ये आवेश अंगों पर बहुत अधिक हावी होकर उनके कार्यों में बाधा पहुंचा सकते हैं, जैसे दुःख से भूख में कमी होना; चिंता से धड़कन का तेज होना; तनाव से सिरदर्द होना और गुस्से से चेहरे का तमतमा जाना। इस प्रकार रोजमर्रा की जिंदगी में मन शरीर को प्रभावित करता है।

लेकिन शरीर भी मन को प्रभावित करता है। जब शरीर में बीमारी की कोई शिकायत नहीं होती तो व्यक्ति हंसमुख और चुस्त बना रहता है। लेकिन जब शरीर में सिरदर्द, कब्ज, अधिक ठंड या जुकाम, जोड़ों का दर्द आदि की शिकायत होती है तो व्यक्ति बहुत दुःखी और चिड़चिड़ापन महसूस करता है। इसीलिए यह उक्ति प्रसिद्ध है कि 'स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन होता है।'

अतः शरीर और मन का चोली-दामन का साथ है इनको अलग नहीं किया जा सकता और अच्छे स्वास्थ्य के लिए दोनों बराबर महत्वपूर्ण हैं।

स्वास्थ्य और मन :

चूंकि मन का विकार गूढ़ होता है इसलिए शरीर की अपेक्षा इसकी पहचान करना प्रायः कठिन होता है। यहां तक कि सामान्य अवस्था में भी मन भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में इतने भिन्न प्रकार से अपने विकार प्रकट करता है कि व्यक्ति को सोचना पड़ जाता है कि सामान्य मन क्या है?

एक खामोश और शांत व्यक्ति उतना ही सामान्य होता है जितना कि उसका बातूनी और मनमौजी पड़ोसी, यद्यपि दोनों में काफी अंतर होता है। संक्षेप में कहें तो कहेंगे कि एक सामान्य परिसर (range) होता है जिसमें ऐसी सभी विविधताएं समायोजित हो जाती हैं। भिन्न-भिन्न समाजों, संस्कृतियों और धर्मों में इनकी सीमाएं भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। वैसे भी प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से भिन्न होता है और उसका एक अपना मानक या सामान्यता होती है जो उसके मानसिक जीवन के अनुसार होती है। स्वस्थ मन की अभिव्यक्तियां विभिन्न प्रकार से होती हैं लेकिन एक-जैसी परिस्थितियों में ये अभिव्यक्तियां लगभग समान होती हैं। मन का व्यवहार लचीला होता है और वह बदलते वातावरण के अनुसार अपने को समंजित कर लेता है। स्वस्थ मन की यह विशेषता है कि वह अपने आवेगों और सामाजिक दायित्वों में बराबर संतुलन बनाए रहता है।

रोग और मन :

अपनी सामान्य अवस्था से विचलित होना ही विकार होता है। कुल मिलाकर मन के विकार के निम्नलिखित घोषित लक्षण हैं :

1. अत्यधिक चिंता और बिना बात का डर।
2. बेचैनी और अनिद्रा।
3. आवेशों की अधिकता अथवा अभाव।
4. अवास्तविक अथवा काल्पनिक विचारों में खोए रहना।
5. असाधारण और अनोखा आचरण।
6. अपनी और अपने पर आश्रितों की देखभाल में लापरवाही।

मोटे तौर पर कह सकते हैं कि मानसिक विकारों के दो मुख्य समूह हैं, (i) कायिक और

(ii) क्रियात्मक । कायिक विकारों में मस्तिष्क प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होता है, जबकि क्रियात्मक विकारों में मस्तिष्क तो सामान्य रहता है लेकिन उसके कार्य में बाधा पहुंचती है। दूसरे प्रकार के विकार में आगे दो और उपसमूह होते हैं, अर्थात् मनोविक्षिप्ति (psychoses) और विक्षिप्ति (neuroses)। सामान्य भाषा में इन्हें क्रमश: "पागलपन" और "अधीरता" कहते हैं।

मन के कायिक रोग वृद्धावस्था (जरा), मदिरा (एल्कोहॉल), सिफिलिस, मिरगी (दौरे) और धमनी रोग (धमनीकाठिन्य) से हो जाते हैं। ऐसे रोगों से व्यक्तित्व और मेधा (बुद्धि और स्मृति) का ह्रास होने लगता है और इस कारण व्यक्ति भुलक्कड़, अस्तव्यस्त, फटेहाल, मंदबुद्धि और एक क्रिया को बार-बार दोहराने वाला हो जाता है। बहुत कम व्यक्ति होते हैं जो इन विकारों की चरम अवस्थाओं से उबर पाते हैं। आरम्भिक अवस्था वाले रोगी उचित उपचार से ठीक हो सकते हैं।

क्रियात्मक मनोविक्षिप्ति में आवेशों, विचारों और व्यवहार पर भारी प्रभाव पड़ता है। बाद वाली अवस्थाओं में तो व्यक्तित्व पर भी असर पड़ता है।

विखंडित मनस्कता अथवा विखंडित व्यक्तित्व (schizophrenia) सब से आम दशा है और यह सामान्यतया उन लोगों को प्रभावित करती है जो प्राय: जीवन की चरम अवधि यानि तरुण अवस्था में अल्पभावी व एकांत वाली प्रकृति तथा पलायनवादी होने के कारण जीवन की मांगों के अनुसार अपने को ढाल नहीं पाते। ऐसे अधिकांश रोगी विरक्ति (आवेशहीनता), अलगाव, अलास्य, स्वप्नचित्र (काल्पनिक विचारों) और सनक की अपनी अलग दुनिया में खोए रहते हैं। कई तो बिना बात के अपने आप विशेष प्रकार से मुस्कराते रहते हैं। ऐसे में उपचार केवल आरंभिक अवस्थाओं में ही कारगर होता है। ऐसे अधिकांश रोगी अंतत: चिरकारी और असाध्य हो जाते हैं।

उन मौजी और सामाजिक प्रकार के कुछ व्यक्तियों को उन्माद और अवसाद प्रभावित कर देते हैं जो इस प्रवृत्ति को अपनी पिछली पीढ़ियों से प्राप्त करते हैं। उनके मन में आवेशों की एक असामान्य लहर उमड़ती है जिसमें उल्लास (आनंद और क्रोध) अथवा अवसाद (दु:ख) होता है।

उल्लास के कारण उन्माद वाले व्यक्ति बेचैन, निद्राहीन, बातूनी और हिंसात्मक भी बन जाते हैं लेकिन अवसाद वाले व्यक्ति दु:खी अथवा बेचैन, हताश, निद्राहीन और आत्महत्या की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। ये दोनों रोग अपने आप एकाएक ठीक हो जाते हैं और इनका उपचार आसानी से किया जा सकता है, लेकिन इनकी आवृत्ति प्राय: होती रहती है।

मनोविक्षिप्ति के रोगियों की उत्तम चिकित्सा मानसिक अस्पतालों में ही होती है क्योंकि घर में उनकी व्यवस्था करना बहुत कठिन होता है। ऐसे रोगियों की विद्युत् आक्षेप चिकित्सा (E.S.T.) की जाती है और कई रोगियों को इससे फायदा भी होता है। प्रशांतक (tranquilizers) अथवा रोगियों को शांत करने वाली औषधियां, जो कि मादक न हों, भी यदि पर्याप्त मात्रा में काफी लंबे समय तक दी जाती रहें तो प्रभावकारी होती हैं।

विक्षिप्ति अथवा तंत्रिका विकार काफी अधिक होते हैं और इनका निदान प्राय: ठीक से नहीं हो पाता क्योंकि ये विकार शारीरिक विकारों की ही तरह दिखाई देते हैं, जैसे दर्द, धड़कन, सिर चकराना आदि। वैसे रोगी का साधारण व्यवहार ठीक या सामान्य होता है। व्यक्तित्व पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

चिंता की अवस्था में, जो कि सबसे सामान्य दशा है, व्यक्ति में अपने कल्याण के बारे में बहुत ही अधिक चिंता और परेशानी व्याप जाती है।

यद्यपि उसका शरीर स्वस्थ होता है लेकिन तब भी वह कई रोगों का भय खाता है, विशेष रूप से हृद् रोग का, और इस तरह वह उनके लक्षणों की शिकायत भी कर सकता है। डाक्टर द्वारा आश्वासन दिये जाने पर भी उसे विश्वास नहीं होता।

हिस्टीरिया में व्यक्ति समझता है कि उसे कोई रोग है और अनजाने में ही वैसी नकल करता है और दया की दृष्टि से लोगों का ध्यान खींचने की कोशिश करता है।

मनोग्रस्ति (obsession) की अवस्थाओं में व्यक्ति का मन पूरी तरह से संदेहों और अनिश्चयों से भरा रहता है जिसका परिणाम यह होता है कि उसे एक ही विषय पर बार-बार सोचना पड़ता है और वह एक क्रिया को बार-बार दोहराता है, जैसे कि बार-बार बिना बात के हाथ धोते जाना। इस रोग का उपचार बहुत कठिन होता है और धीरे-धीरे चिरकारी बनता चला जाता है। चिंता की अवस्था और हिस्टीरिया का उपचार आरंभिक अवस्था में मनोचिकित्सा (विश्लेषण) और प्रशांतकों द्वारा किया जा सकता है और मनोविक्षिप्ति की अपेक्षा इनकी आवृत्ति प्रायः कम होती है।

मानसिक स्वास्थ्य की देखभाल :

मन की अपेक्षा शरीर की देखभाल करना अधिक सरल होता है लेकिन यदि अनावश्यक रूप से बोझ और तनाव न हो, विशेष रूप से रचना की दृष्टि से पूर्वप्रवृत्त (दुर्बल मन वाले) व्यक्तियों में, तो अच्छा मानसिक स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए निम्नलिखित निर्देशों का पालन किया जा सकता है :

1. मन के लिए नींद और शिथिलन उतने ही जरूरी हैं जितना कि शरीर के लिए आराम और पोषण। रात में कम से कम 6 घंटों की गहरी नींद जरूरी है। दिन के समय भी कम से कम कुछ देर के लिए व्यक्ति को चाहिए कि वह रोजमर्रा की चिंताओं से विलग होकर श्रांति की अवस्था में रहे और अपना मनोविनोद भी करे। लेकिन साथ ही साथ यह देखना भी जरूरी है कि वह श्रांति भी इतनी लंबी अवस्था में न रहे कि वह काम करने की अवधि से अधिक लंबी हो जाय और इस बात का ध्यान रखना भी जरूरी है कि ऐसा करना एक आदत और पलायनवादी प्रवृत्ति न बन जाय।

2. अपने अंतरंग मित्रों से अपने कटु अनुभवों और अन्य परेशानियों के उन्मुक्त और स्पष्ट विचार-विमर्श से मन को बाधा पहुंचने वाले आवेशों और तनावों का जमाव नहीं होता। व्यक्ति को अपने जीवन-साथी अथवा अपने अच्छे दोस्त से सहचारिता रखनी चाहिए ताकि परेशानियों का बोझ अकेले ही न झेलना पड़े।

3. अपने साधनों (परिलब्धियों) और सीमाओं (दायित्वों) की जानकारी बहुत जरूरी है ताकि व्यक्ति के सोचने और करने में सूझबूझ और संतुलन रहे। अपने विचारों की वास्तविक जांच और परख से, जोकि दूसरों के द्वारा सुझाए गए विचारों से ही संभव है, गलत सोचने और करने की रोकथाम में बहुत सहायता मिलती है।

4. स्वस्थ मनोरंजन के प्रति रुचि बनाए रखने से सुस्त मन उद्दीपित हो जाता है और इस तरह वह शैतान की कार्यशाला नहीं बन पाता। पाठ्येतर पठन और सामाजिक क्रियाकलाप सरीखे मानसिक व्यायाम व शौक, खेल, कला और शिल्प संबंधी अभिरुचियां और बागवानी सरीखे दिलचस्पी वाले कार्य मन के लिए उतने ही जरूरी हैं जितना शरीर के लिए कसरत है।

5. किसी भी प्रकार के कार्य का तनाव, चाहे वह कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो, मन में पनपने नहीं देना चाहिए। अपने मानसिक जीवन के सभी पहलुओं से भी उतना ही ग्रहण करना चाहिए जितना की पचाया जा सके, विशेष रूप से महत्वाकांक्षा।

इन उपायों से मानसिक विकारों से बचा जा सकता है और यह उपचार से सरल हैं।

• • •
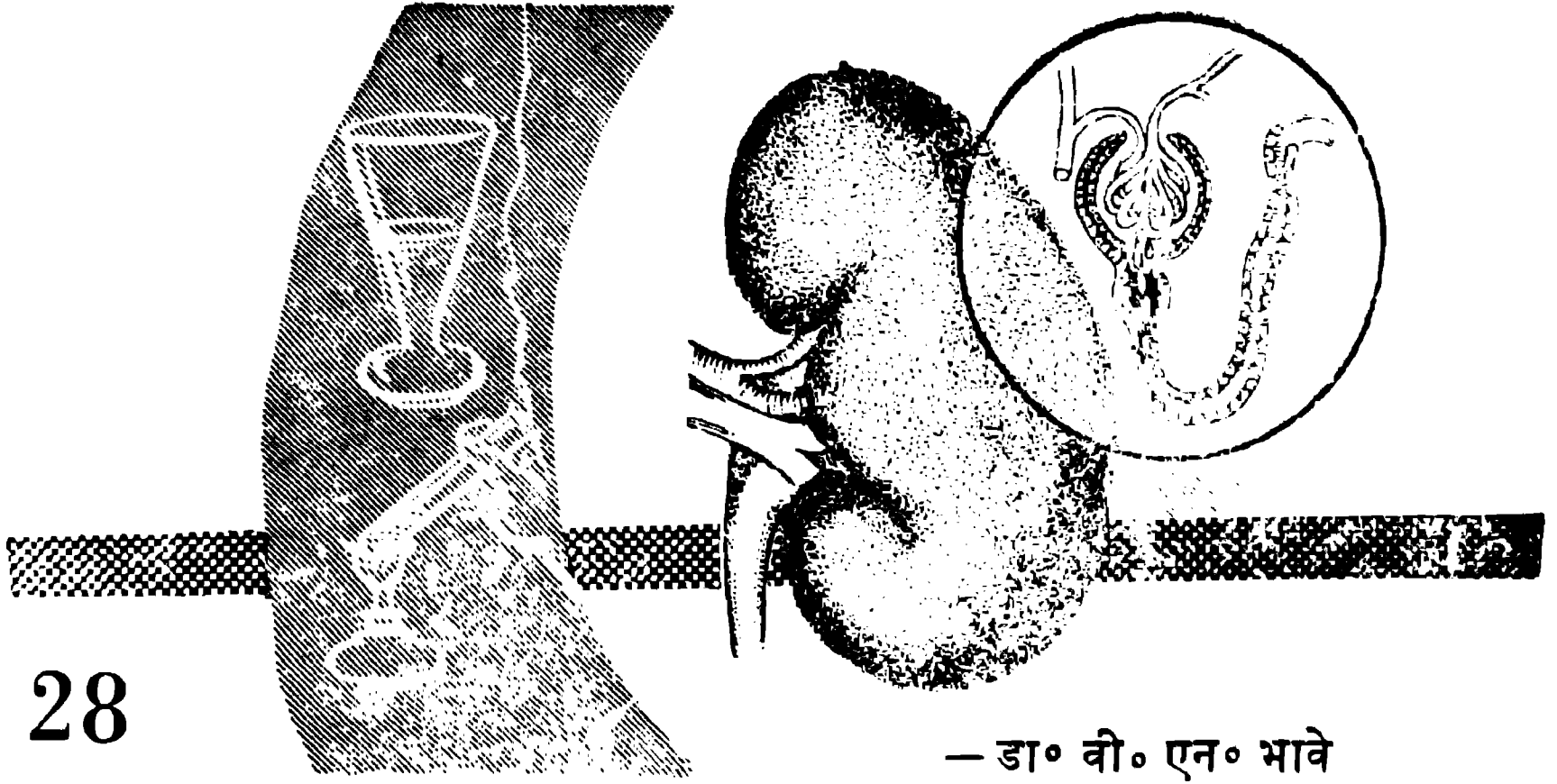
28

—डा० वी० एन० भावे

मूत्र-तंत्र

मानव शरीर के सारे क्रिया-कलाप चयापचयी प्रक्रियाओं से उत्पन्न ऊर्जा पर निर्भर करते हैं। इन चयापचयी प्रक्रियाओं में वर्ज्य पदार्थ भी बनते हैं, जैसे कार्बन-डाइ-आक्साइड, यूरिया, यूरिक अम्ल और अन्य चयापचयी वर्ज्य पदार्थ। यदि ये सभी पदार्थ शरीर में अधिक देर तक रहते हैं तो ऊतकों के लिए ये हानिकारक हो सकते हैं, अत: इन्हें जल्दी से जल्दी शरीर से निकाल देना ही बेहतर होता है। रक्त ही इन वर्ज्य पदार्थों को निकालता है और इस निमित्त वह इन्हें विविध उत्सर्जन-अंगों में पहुंचा देता है। कार्बन-डाइ-आक्साइड और पानी हवा में फेफड़ों द्वारा उत्सर्जित किए जाते हैं। यूरिया, अतिरिक्त जल और कई लवण त्वचा की स्वेद ग्रंथियों द्वारा पसीने के रूप में विसर्जित कर दिए जाते हैं। यूरिया, यूरिक अम्ल, पानी और अन्य चयापचयी वर्ज्य पदार्थ वृक्कों (गर्दों) द्वारा मूत्र के रूप में निष्कासित कर दिए जाते हैं। मूत्र-तंत्र का कार्य है पेशाब उत्पन्न करके उसका निष्कासन करना। वृक्क, पेशाब उत्पन्न करते हैं और प्रत्येक वृक्क से निकलने वाली गवीनी नामक दो नलिकाएं वृक्कों से मूत्र को मूत्राशय में ले जाती हैं। मूत्राशय में ही पेशाब जमा रहता है। यह मूत्राशय श्रोणि में स्थित एक पेशीय थैली के रूप में होता है। जब मूत्राशय पूरा भर जाता है तो व्यक्ति को पेशाब करने की इच्छा होती है और जो फिर मूत्रमार्ग द्वारा शरीर से बाहर निकाल दी जाती है। चित्र 28.2 में मूत्र-तंत्र की आंतरिक रचना दिखलाई गई है।

वृक्क (गुर्दे) :

वृक्क सेम की आकृति के युगल अंग हैं, जो मेरुदंड के दोनों ओर उदर गुहा में ऊपर अन्य अंगों के पीछे स्थित होते हैं। वृक्कों में इतनी भारी संचित शक्ति होती है कि यदि क्षति या बीमारी के कारण एक वृक्क को निकालना भी पड़ जाय तो दूसरा वृक्क दोनों वृक्कों का कार्य कर सकता है। इसके भीतरी अवतल सीमांत पर वृक्क-धमनी से होकर रक्त इसमें प्रवेश करता है और वृक्क-शिरा द्वारा वापस चला जाता है। वृक्कों में रक्त एक बहुत ही विलक्षण निस्यंदक या छन्ने से होकर गुजरता है।

*　　*　　*　　*

डा. बी. एन. भावे, एम. बी., बी. एस., जनरल मेडिकल प्रैक्टिशनर, पूना; अनेक स्कूली पाठ्य पुस्तकों के लेखक, सदस्य, सम्पादक मंडल, 'हम और हमारा स्वास्थ्य'।
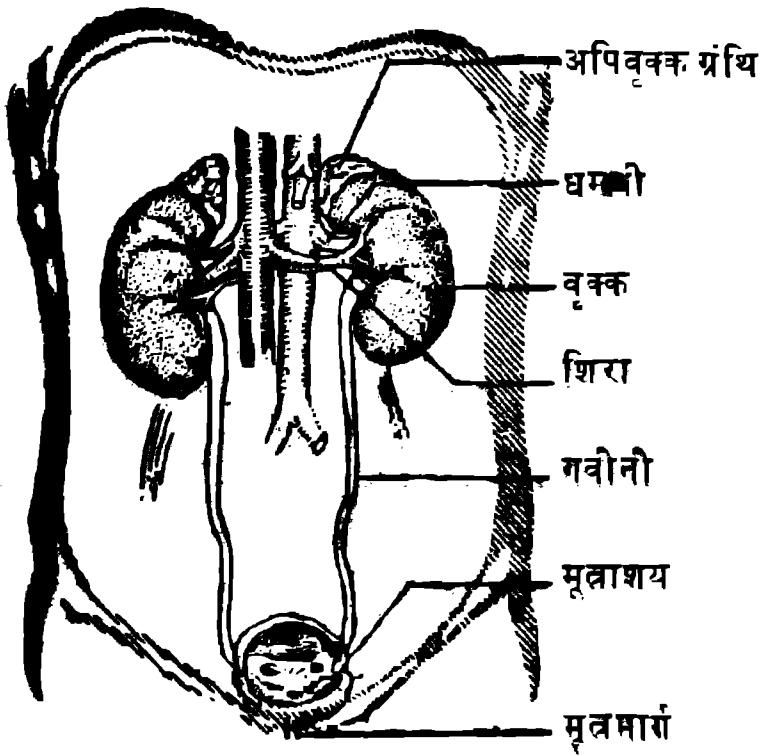
चित्र 28.2—मूत्र-तंत्र

प्रत्येक वृक्क करीब 10 लाख सूक्ष्मदर्शीय क्रियात्मक इकाइयों का बना होता है, जिन्हें **वृक्काणु** (nephron) कहते हैं। वृक्क में प्रवेश करने पर वृक्क-धमनी विभाजित और फिर उप-विभाजित होकर छोटी-छोटी शाखाओं में हो जाती है। अंततः प्रत्येक छोटी शाखा पतली भित्ति की केशिकाओं वाले गुच्छ में विभाजित हो जाती है, जिसे **केशिकास्तवक** (glomerulus) कहते हैं। प्रत्येक केशिकास्तवक एक पतली दीवार वाली प्याले-जैसी संरचना में आवृत्त होता है, जिसे **बोमैन संपुट** (Bowman's capsule) कहते हैं (चित्र 28.3) और जो एक लंबी कुंडलित नलिका में खुलता है। केशिकास्तवक और बोमैन संपुट मिलकर मालपीजी पिंड (Malpighian body) कहलाते हैं। मालपीजी पिंड और कुंडलित नलिकाएं, जो गवीनी की श्रोणि में खुलते हैं, मिलकर वृक्काणु बनाते हैं। वृक्काणु निस्यंदक या छन्ने की इकाई है। वृक्क का बाहरी भाग कार्टेक्स कहलाता है और इसमें मुख्यतया मालपीजी पिंड होते हैं। आंतरिक भाग मेडुला कहलाता है और इसमें मुख्य रूप से नलिकाएं होती हैं।

वृक्क निस्यंदकों या छन्नों का कार्य करते हैं। जैसे-जैसे रक्त केशिकाओं (केशिका स्तवकों) से

चित्र 28.3—आंतरिक रचना दिखलाती हुई वृक्क की खड़ी काट। दाहिने चित्र में वृक्क के एक भाग की काट को बहुत अधिक अभिवर्धित करके दिखलाया गया है।
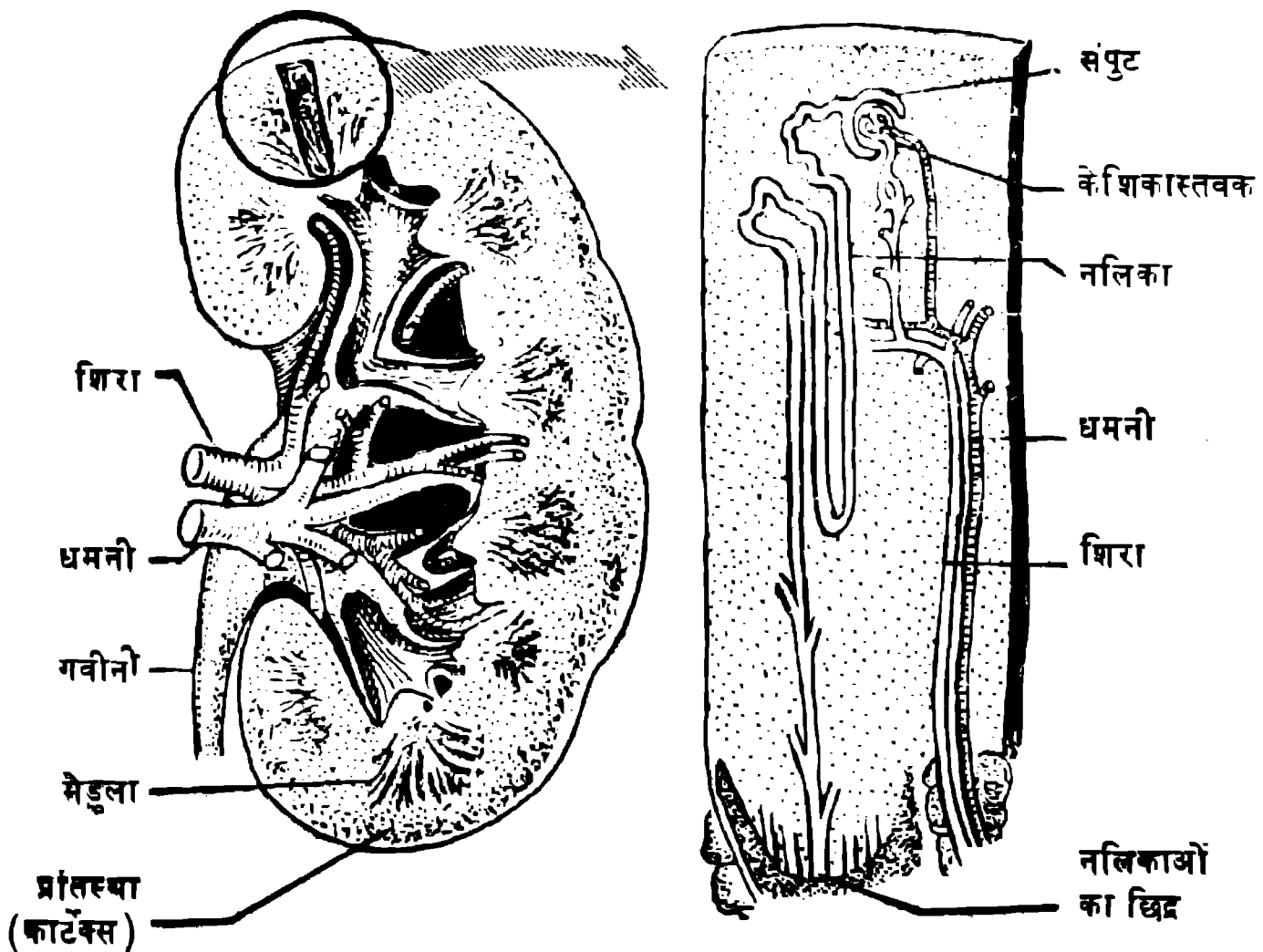
होकर गुजराता है वैसे-वैसे पानी, ग्लूकोज, यूरिया, यूरिक अम्ल, फोस्फेट तथा कई अन्य पदार्थ संपुट में छान लिए जाते हैं, जहां से होकर वे नलिकाओं से गुजरते हैं। ग्लूकोज, अधिकांश जल आदि कई पदार्थ, जो शरीर के लिए लाभदायक होते हैं, कुंडलित नलिकाओं में पुनः अवशोषित कर लिए जाते हैं और सांद्र पेशाब संग्राहक नलिकाओं से होकर गवीनी की गोणिका में पहुंच जाती है। मूत्र बूंद-बूंद करके बनता है और मूत्राशय में यह गवीनी से होकर पहुंचता है, जहां से इसे इच्छानुसार विसर्जित किया जाता है।

एक दिन में विसर्जित की जाने वाली मूत्र की मात्रा करीब 1500 मिली. है लेकिन यह मात्रा परिवर्तनशील है। गरमी के मौसम में यह मात्रा कम होती है जबकि पसीना अधिक होता है लेकिन जाड़े के मौसम में यह मात्रा अधिक होती है क्योंकि उस समय पसीने के द्वारा पानी कम विसर्जित होता है। अधिक मात्रा में पानी और चाय व कॉफी सरीखे पेय लेने से भी पेशाब की मात्रा बढ़ जाती है। इस प्रकार वृक्क और त्वचा जल लवणों का उत्सर्जन करते हुए एक दूसरे की सहायता करते हैं। सामान्यतया अभिक्रिया में मूत्र कुछ अम्लीय होता है और इसका आपेक्षिक घनत्व (specific gravity) 1010 और 1025 के बीच होता है (पानी का 1000 होता है)। इसमें यूरिया, यूरिक अम्ल और कार्बन-डाइ-आक्साइड कार्बोनेट के रूप में तथा सोडियम, पोटेशियम, कैल्सियम तथा मैगनीशियम के क्लोराइड, सल्फेट व फोस्फेट सरीखे लवण पाए जाते हैं।

मूत्र का आपेक्षिक घनत्व, प्रतिक्रिया और अंतर्वस्तुएं कुछ रोगों में बदल जाती हैं, इसलिए प्रायः इसकी परीक्षा से रोग के निदान में सहायता मिलती है। वृक्क-रोग में इसका आपेक्षिक घनत्व कम लेकिन मधुमेह में अधिक हो जाता है। मूत्राशय और वृक्कों में संक्रमण होने पर मूत्र अभिक्रिया में क्षारीय हो सकता है। कभी-कभी व्यक्ति पेशाब में अपसामान्य घटकों का विसर्जन भी कर सकता है, जैसे वृक्क अथवा यकृत् (जिगर) अथवा दैहिक रोगों में एल्बुमिन, पित्त वर्णकों, शर्करा और एसीटोन का। इन घटकों की पहचान रासायनिक परीक्षण द्वारा भी की जा सकती है (चित्र 28.4)। मूत्र की सूक्ष्मदर्शीय जांच लाल रक्त कोशिकाएं, पूय (पस) कोशिकाएं, जीवाणु (बैक्टीरिया), निर्मोक या केंचुल (वृक्क की छोटी-छोटी नलिकाओं के टुकड़े) अथवा रवे दर्शाती है।

चित्र 28.4—मूत्र परीक्षा (भौतिक, रासायनिक और सूक्ष्मदर्शीय)
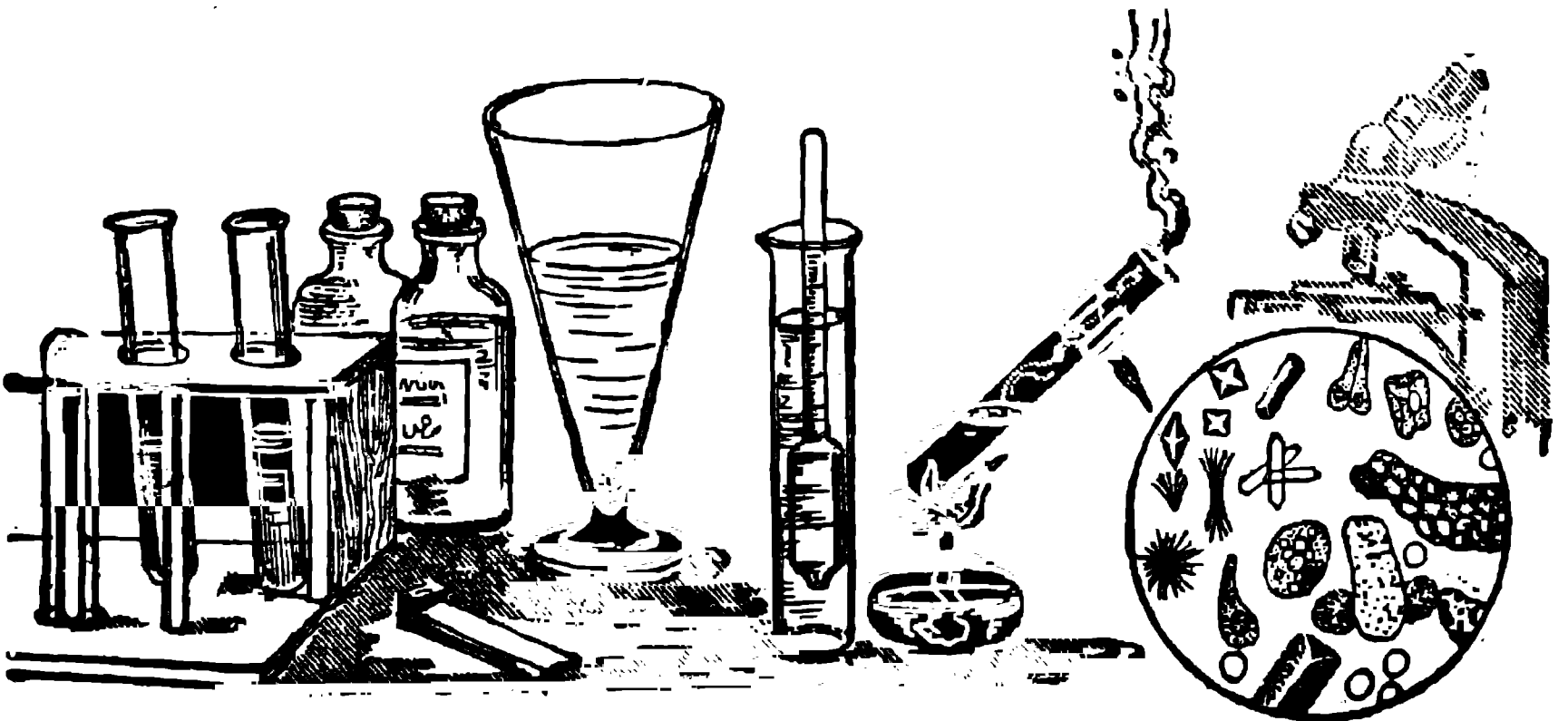
देखभाल :

वृक्कों का स्वास्थ्य तभी बनाया रखा जा सकता है जब आहार में तरल पदार्थ यथेष्ट मात्रा में लिए जाते रहें। औसत व्यक्ति को प्रतिदिन करीब छह से आठ गिलास तरल पदार्थों (1 गिलास—250 मिली.) की आवश्यकता होती है और गरमी की ऋतु में तो यह मात्रा और बढ़ाई जानी चाहिए। वृक्कशोथ (nephritis—वृक्क की सूजन) का खतरा शरीर के हर प्रकार के संक्रमण के आरंभिक और प्रभावकारी उपचार द्वारा कम किया जा सकता है, विशेषकर टॉन्सिलों और मूत्राशय के संक्रमण का। मूत्र-तंत्र के संक्रमण से संभव शिकायत की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए बल्कि तुरंत उसकी परवाह करनी चाहिए।

○ ○ ○

29

—डा० सी० आर० सुले
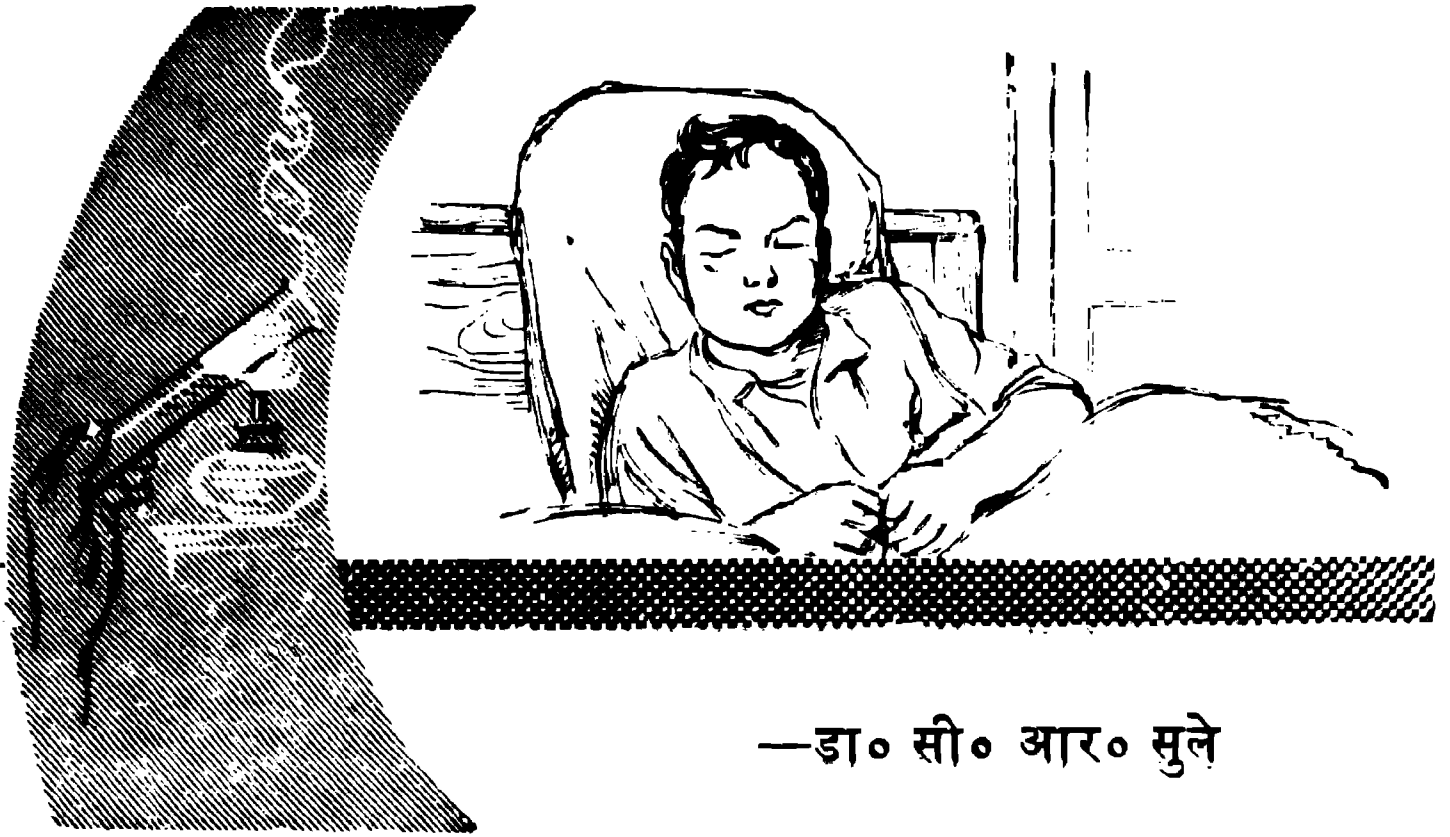
मूत्र-तंत्र के विकार

मानव की खुशहाली या कल्याण में वृक्कों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। यदि शरीर के आंतरिक वातावरण को इष्टतम संतुलन पर रखा जा सके तो जीवन को परिरक्षित रखा जा सकता है। और यह वृक्कों का ही कार्य है। शरीर के लिए आवश्यक पदार्थों को ये परिरक्षित रखते हैं और अधिक मात्रा में जमा हो जाने वाले पदार्थों को बाहर निकाल फेंकते हैं और खतरनाक पदार्थों का निर्विषीकरण कर देते हैं। वृक्कों में कार्य करने की इतनी जबर्दस्त क्षमता होती है कि यदि वृक्क के ऊतक को कितने ही परिमाण में क्षति क्यों न पहुंची हो ये उसके कार्य की क्षतिपूर्ति कर लेंगे। इसलिए यदि किसी वृक्क रोग की संपूर्णता तक रुका जाय तो तब तक काफी अधिक नुकसान हो चुकेगा। अत: मूत्र-तंत्र के मामूली लक्षण की तुरंत जांच और चिकित्सा की जानी चाहिए।

वृक्क-रोग के कई कारण हैं। संक्रमित दांत अथवा टॉन्सिल, डिप्थीरिया और अन्य सामान्य संक्रमण, जिनमें वृक्कों से लेकर विषैले पदार्थों का निराकरण होता है, तथा मूत्राशय से होकर प्रविष्ट करने वाला संक्रमण वृक्क-रोग उत्पन्न कर सकता है। पारे (मरकरी) और सीसे (लेड) सरीखे विषों के अंतर्ग्रहण तथा सल्फा-औषधियों व अन्य औषधियों के गलत सेवन से वृक्कों को नुकसान पहुंच सकता है। मूत्र के प्रवाह में अवरोध, अर्बुद और धमनियों के कड़े होने सरीखे व्यपजननीय परिवर्तनों से भी वृक्कों को क्षति पहुंच सकती है।

मूत्र-तंत्र के सामान्य और महत्वपूर्ण रोग निम्नलिखित हैं :

1. **तीव्र वृक्कशोथ** : यह वृक्कों की तीव्र सूजन है। यह शिशुओं और किशोरों का आम रोग है, जो प्राय: टॉन्सिलशोथ सरीखे ऊपरी श्वसन-पथ के संक्रमण के बाद होता है। पेशाब मात्रा में कम और रंग में धूमिल लाल होती है। चेहरे में कुछ सूजन हो जाती है, और ऐसा विशेष रूप से सुबह उठते समय देखा जा सकता है। समय पर उपचार न होने पर इससे शरीर में सामान्य रूप से सूजन, अधिक रक्त दाब और हृद्पात हो सकता है। अधिकांश रोगियों में तो रोग को ठीक किया जा सकता है लेकिन दुर्भाग्य से कुछ रोगियों में इससे चिरकारी वृक्कपात हो जाता है। यदि कोई शिशु ऊपरी श्वसन-पथ के संक्रमण से थोड़ी मात्रा में

* * * *

डा. सी. आर. सुले, एम. डी., अवैतनिक कायचिकित्सक, ससून जनरल अस्पताल और बी. जे. मेडिकल कालेज, पूना।

लाल पेशाब विसर्जित करता है अथवा सुबह उसके पलकों में सूजन दिखलाई देती है तो उसे तुरंत डाक्टर के पास ले जाना चाहिए। अधिक पेशाब के उद्देश्य से बच्चे को अधिक तरल देना हानिकारक हो सकता है। इसमें आहार के लिए देखिए अध्याय 8.

2. चिरकारी वृक्कशोथ : यह वृक्कों की चिरकारी सूजन है। कभी-कभी यह तीव्र वृक्कशोथ का परिणाम होता है, लेकिन अधिकांश रोगियों में इसका कारण ज्ञात नहीं होता। वृक्क ऊतक को बहुत अधिक क्षति पहुंचने से बाद में वृक्कपात हो जाता है। रोगी को भूख कम लगती है और वह थका हुआ व कमजोर लगता है। रक्त चयापचयी उत्पादों के साथ मिलकर विषाक्त हो जाता है क्योंकि रोगी वृक्क द्वारा उनका उत्सर्जन हो ही नहीं पाता। इस दशा को यूरीमिया कहते हैं जिसमें रक्त विषैले पदार्थों से भरा हुआ होता है। अधिकांश चिरकारी वृक्क रोगों का ऐसी ही असहाय अवस्था वाला अंत होता है। इस अवस्था के बिगड़ने पर रोगी को मतली, कै और कभी-कभी प्रवाहिका (डायरिया) होती है। उसे अधिक रक्त दाब भी हो सकता है। कष्टकर हिचकियां भी हो सकती हैं। रक्त की सारी रासायनिक प्रक्रियाएं बदल जाती हैं और रोगी की मानसिक अवस्था में भी परिवर्तन आ जाते हैं। आरंभ में रोगी मंद और सुस्त रहता है। आक्षेप भी हो सकते हैं। अंततः रोगी बेहोशी या कोमा की अवस्था में पहुंच जाता है। यूरीमिया में अस्पताल में रखकर बहुत अधिक देखभाल की आवश्यकता होती है और उपचार द्वारा जीवन अवधि को भी बस कुछ दिनों के लिए और बढ़ाया जा सकता है क्योंकि पूरी तरह से ठीक होना तो संभव ही नहीं है।

3. गोणिकावृक्कशोथ (Pyelonephritis) : यह वृक्क और वृक्क-गोणिका का संक्रमण है। तीव्र गोणिकावृक्कशोथ में रोगी को ज्वर व कमर में दर्द होता है और मूत्र के साथ पूय या पस भी निकलता है। ऐसी अवस्था मधुमेह के रोगियों में आमतौर पर पाई जाती है क्योंकि वे संक्रमण के प्रति अधिक सुग्राही होते हैं और इसलिए इनमें उपचार होना भी कठिन रहता है। गोणिकावृक्कशोथ की चिरकारी किस्म में पहले तीव्र गोणिकावृक्कशोथ की अवस्था आती है। रोग की बाद वाली अवस्था चिरकारी वृक्कशोथ की ही तरह होती है और इसीलिए इस बात का महत्व है कि मूत्र संक्रमणों का तुरन्त इलाज करा लिया जाना चाहिए।

4. अपवृक्कीय संलक्षण (Nephrotic syndrome) : यह तीव्र और चिरकारी वृक्कशोथ के बीच की अवस्था है। रोगी पेशाब की सामान्य अथवा अधिक मात्रा विसर्जित करता है और साथ ही शरीर में भारी सूजन हो जाती है और संक्रमणों के प्रति वह सुग्राही हो जाता है। इस अवस्था का रोग शैशवावस्था में कभी-कभी ठीक हो जाता है लेकिन प्रौढ़ों में प्रायः यह चिरकारी वृक्कपात की ओर अग्रसर हो जाता है।

5. वृक्कीय अश्मरी या पथरी : इससे सभी अच्छी तरह से परिचित हैं। कई रोगियों में इन पथरियों (चित्र 29.2) के कोई लक्षण प्रकट नहीं होते लेकिन लाक्षणिक होने पर इनसे एक विशेष रोग का रूप उत्पन्न हो जाता है। पेशाब के साथ-साथ विविध मात्रा में रक्त का भी विसर्जन हो सकता है। पथरी से तीव्र बृहदांत्र-वेदना होती है जो पीठ से शुरू होकर नीचे जांघों के सामने, अथवा उस ओर के वृषण अथवा भग तक फैल जाती है। यह दर्द प्रायः इतना तेज होता है कि इससे छुटकारा पाने के लिए डाक्टर के पास जाना पड़ता है।

सही निदान के लिए, रवों व लाल रक्त कोशिकाओं के निमित्त मूत्र की जांच और मूत्र-अंगों के एक्स-रे फोटो बहुत आवश्यक होते हैं। कभी-कभी पथरी पेशाब में भी आ जाती है और इससे कुछ आराम मिल जाता है, लेकिन अधिकांश रोगियों
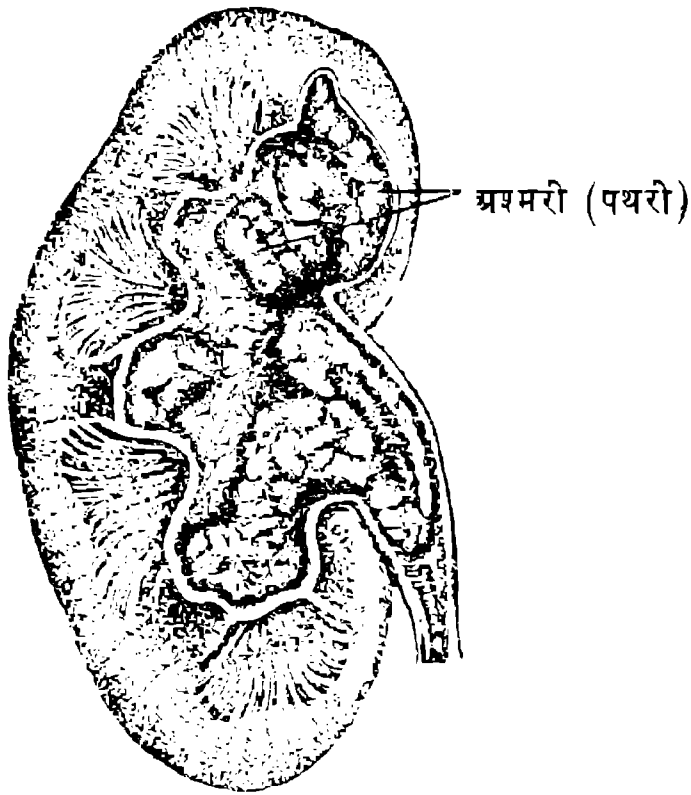
चित्र 29.2—वृक्क में अश्मरी या पथरी

में पथरी निकालने के लिए शस्त्रकर्म की आवश्यकता होती है और देर करने से तो कभी ठीक न होने वाली वृक्क की क्षति को न्यौता देना है। वृक्क से पथरी मूत्राशय में नीचे आकर वहां भी वृद्धि कर सकती है और अगर छोटी है तो पेशाब के साथ बाहर निकल सकती है। मूत्राशय में रहने पर यह पेशाब करते समय कष्टकारी होती है और पेशाब में खून भी निकाल देती है। जिस व्यक्ति को बार-बार अश्मरी (पथरी) द्वारा तकलीफ होती है, उसे पेशाब को पतला करने के लिए पानी अधिक मात्रा में पीना चाहिए और आहार में ऐसे पदार्थों से परहेज रखना चाहिए जिनमें आक्ज़ेलेटों की अधिक मात्रा हो। अश्मरी में किए जाने वाले भोजन के लिए अध्याय 8 देखिए।

6. वृक्क का कैंसर : वृक्क का कैंसर कम ही देखने को मिलता है लेकिन जब यह होता है तो बहुत भयानक होता है। इसके दो प्रकार हैं—एक बचपन में होने वाला और दूसरा प्रौढ़ अवस्था में होने वाला। यह कई तरह से प्रकट हो सकता है लेकिन बहुधा इसमें पेशाब के साथ बिना दर्द के खून आता है। प्रौढ़ों या वृद्धों में इस प्रकार की शिकायत होने पर तुरंत अधिक-से-अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।

7. वर्धित या बढ़े हुए पुरस्थ (Enlarged prostate) : यह विशिष्ट रूप से वृद्धावस्था का रोग है। पुरस्थ या प्रॉस्टेट के बढ़ने से मूत्राशय की ग्रीवा (चित्र 29.3 और 47.7) पर मूत्र के प्रवाह में अवरोध हो जाता है और बाद में यह वृक्कों पर भी असर डाल सकता है। रोगी को बार-बार पेशाब आता है, विशेषकर रात में। पेशाब करने में तकलीफ होती है, विशेषकर तब जब व्यक्ति जोर लगाता है। कभी-कभी ऐसी अवस्था भी आ सकती है कि पेशाब रुका ही रह जाता है। ऐसा ठन्ड लगने पर हो सकता है। मूत्राशय में कैथेटर लगाने से अवरोध अस्थायी रूप से दूर हो सकता है लेकिन प्रायः शस्त्रकर्म उपचार जरूरी हो जाता है। वर्धित पुरस्थ यदि दुर्दम प्रकार है तो शल्य चिकित्सा और भी आवश्यक हो जाती है।

इन सामान्य और महत्वपूर्ण मूत्र-रोगों के अलावा कई अन्य मूत्र-रोग भी है, जैसे जन्मजात कुरचनाएं, वाहिका असामान्यताएं, मूत्राशय शोथ, मूत्रमार्ग शोथ आदि।

विविध प्रकार के अन्वेषण हैं जिनके द्वारा डाक्टर को वृक्क व अन्य मूत्र अंगों के रोगों के निदान में सहायता मिलती है। इन अन्वेषणों के उदाहरण हैं—मूत्र की रासायनिक व सूक्ष्मदर्शीय जांच (चित्र 28.4), वृक्क कार्यक्षमता परीक्षण, वृक्कों व मूत्र-पथ के एक्स-रे चित्र, मूत्राशयदर्शी या सिस्टोस्कोप द्वारा मूत्राशय के भीतरी भाग की जांच।

निष्कर्ष :

वृक्क के कार्य की पूर्ति अन्य किसी भी अंग से नहीं की जा सकती। आजकल यद्यपि क्षतिग्रस्त वृक्कों को बदलने के प्रयत्न किए जा रहे हैं लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से वृक्क अपरिवर्तनशील हैं। वृक्क-रोगों के उपचार का यही उद्देश्य है कि अधिक-से-अधिक कार्यक्षमता की दृष्टि से इन अंगों
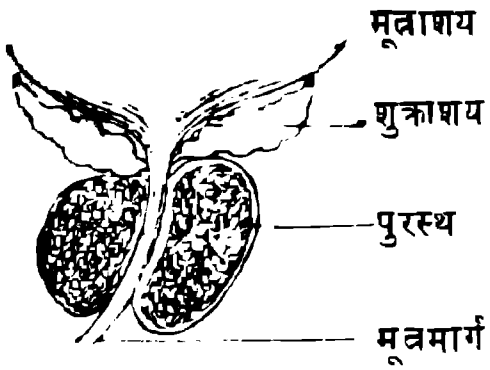
चित्र 29.31—सामान्य पुरस्थ (प्रॉस्टेट)

चित्र 29.32—बढ़े हुए पुरस्थ (प्रॉस्टेट)

का परिरक्षण। रोगी डाक्टर को इस बात में सहयोग दे सकता है कि वह रोग के आरम्भिक लक्षण दिखते ही डाक्टर के पास चला जाये और फिर निष्ठापूर्वक उसकी सलाह पर अमल करे। मूत्र संबंधी कुछ सामान्य शिकायतें निम्नलिखित हैं :

1. बार-बार पेशाब आना।
2. पेशाब करने में तकलीफ होना।
3. पेशाब के साथ खून आना।
4. पेशाब बहुत अधिक या बहुत कम मात्रा में करना।
5. शरीर अथवा चेहरे पर सूजन।
6. अरुचि, मतली, कै अथवा हिचकियां।
7. वृक्क-शूल, जैसा पहले वर्णित किया गया है।
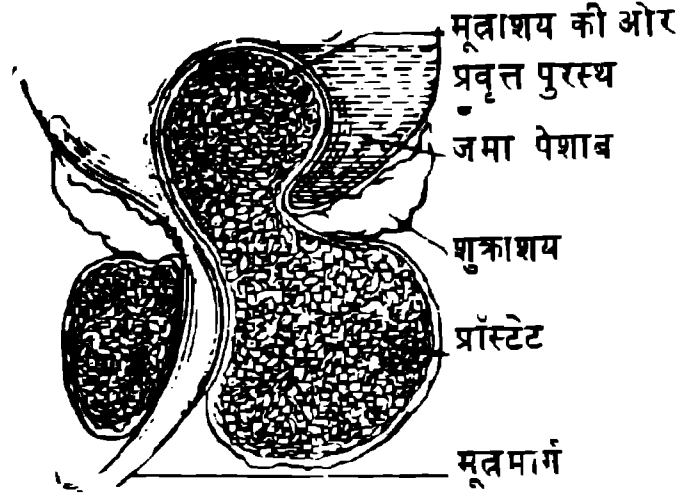
वृक्क रोगों के कई घरेलू उपचार और बाजार वाली दवाइयां हैं। इस तरह इनसे खुद ही इलाज करने का लाभ भी है। वृक्क एक ऐसी नाजुक यंत्रावली है जो पूर्ण रूप से संतुलित है। इसका खराब होना तभी संभव है जब इसके साथ खिलवाड़ या गड़बड़ की जाये। लेकिन इस संदर्भ में एक विशेषज्ञ की राय से उत्तम राय और किसी की भी नहीं हो सकती।

वृक्कों की देखभाल के लिए अध्याय 28 देखिए।

• • •

30

—डा० डी० एन० मुले

त्वचा और उसके विकार

त्वचा के सामान्य रोगों और त्वचा की उचित देखभाल की जानकारी के लिए त्वचा के बारे में आधारभूत तथ्यों का जानना आवश्यक है।

त्वचा की संरचना :

त्वचा की तीन प्रमुख परतें होती हैं—(1) बाह्यत्वचा (epidermis) : यह सबसे ऊपरी और कागज की तरह पतली परत होती है, जिसमें छोटी-छोटी कोशिकाएं होती हैं; (2) अन्तस्त्वचा या त्वचा (corium, dermis) : यह बाह्य-त्वचा के नीचे वाली परत है, जो तंतुक ऊतक की बनी होती है और जिसमें अन्य महत्वपूर्ण रचनाएं होती हैं; (3) अधस्त्वक् ऊतक (subcutaneous tissue) : यह सबसे भीतरी परत होती है जिसमें वसा होती है और जो कुशन या गद्दी का कार्य करती है।

बाह्यत्वचा :

बाह्यत्वचा में सबसे बाहर से अंदर की ओर जाने के क्रम में निम्न परतें होती हैं :

शल्क स्तर (stratum cornium) : यह शृंगी (horny) परत है जो मृत कोशिकाओं की बनी होती है। ये मृत कोशिकाएं केरेटिन नामक जटिल प्रोटीन की बनी होती है। इस परत की मोटाई त्वचा के स्थल पर निर्भर करती है। हथेलियों और तलुओं पर यह सबसे अधिक मोटी होती है।

प्ररोही स्तर (stratum germinativum) : यह बाह्यत्वचा का बहुत सक्रिय भाग है। सबसे भीतर कोशिकीय परत बनाने वाली आधारी कोशिकाएं मातृ कोशिकाएं होती हैं जो निरंतर विभाजन करते हुए संतति कोशिकाओं (daughter cells) को ऊपर धकेलती रहती हैं। कोशिकाओं के ऊपर धकेले जाने पर निरंतर परिवर्तन होता रहता है। कोशिकाओं के केंद्रकों का व्यपजनन (degen-ration) होता रहता है, कोशिकाएं चपटी होती जाती हैं और सबसे ऊपरी परत के निकट कोशिकाओं में कणिकाएं होती हैं। दो या तीन परत मोटी ये कोशिकाएं कणिकीय स्तर बनाती हैं। इस परत और ऊपरी शृंगी स्तर (चित्र 30.2) के बीच

* * * *

डा. डी. एन. मुले, एम. बी., बी. एस., डी. वी. डी. (बम्ब.), स्टाफ सर्जन डर्मेटोलाजिस्ट, (त्वचाविज्ञानी), विलिंगडन अस्पताल, नयी दिल्ली।
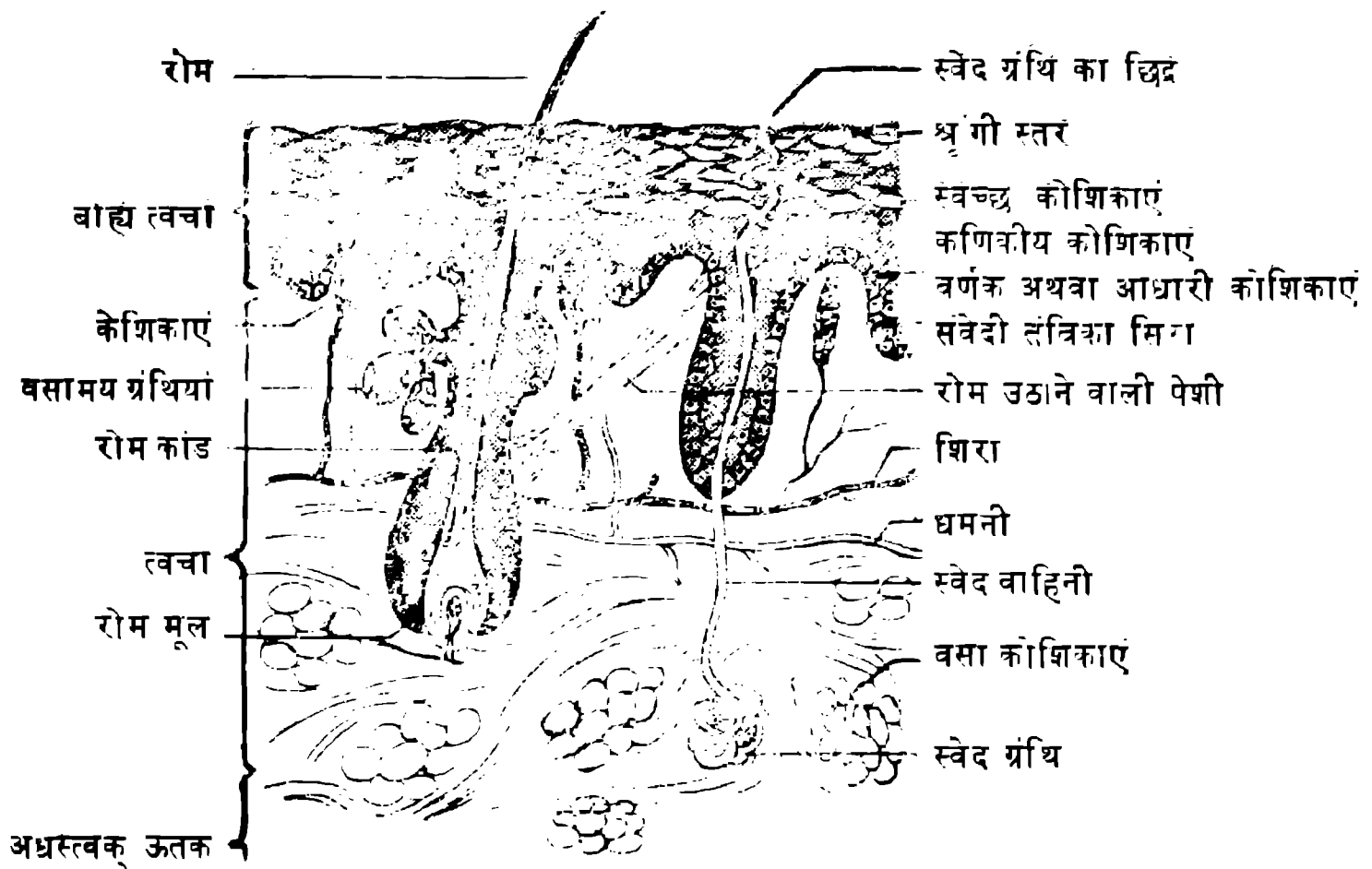
चित्र 30.2—त्वचा की संरचना (खड़ी काट)

में एक परिवर्ती क्षेत्र (transitional zone) होता है, जिसे स्वच्छ स्तर (stratum lucidum) कहते हैं।

शृंगी कोशिकाएं शनैः शनैः उतार कर फेंकी जाती हैं लेकिन हमें इसका आभास नहीं होता। त्वचा के रोगों में त्वचा पर सफेद पपड़ी अथवा शल्क (scale) दिखलाई देते हैं। ये कुछ नहीं बस शृंगी स्तर के शल्क होते हैं। शल्कन का मतलब है कि केरेटिनीभवन (keratinisation) के सामान्य चक्र में बाधा पहुंची है।

आधारी कोशिका परत में मेलेनिन कोशिकाएं भी होती हैं, जो मेलेनिन नामक वर्णक उत्पन्न करती हैं। यही परत त्वचा के रंग के लिए उत्तरदायी होती है। त्वचा में मेलेनिन की अनुपस्थिति से श्वित्र या ल्यूकोडर्मा* की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। सक्रिय मेलेनिन कोशिकाएं और उनके द्वारा उत्पन्न होने वाली मेलेनिन की मात्रा ही व्यक्ति को गोरा या काला बनाती है। त्वचा का औसत रंग उन केशिकाओं पर भी निर्भर करता है जो बाह्यत्वचा के नीचे होती हैं। मेलेनिन के रासायनिक सूत्र में परिवर्तन कर देने से वह सफेद हो जाता है इसलिये हाइड्रोजन परआक्साइड से विरंजित किए जाने पर बाल भूरे अथवा विवर्ण हो जाते हैं।

बाह्यत्वचा में रक्तवाहिकायें, केशिकाएं अथवा तंत्रिकाएं नहीं होती। लसीका कोशिकाओं के बीच बारीक वाहिकाओं से होता हुआ कोशिकाओं का पोषण करता है।

त्वचा अथवा अन्तस्त्वचा :

यह तंतुक ऊतक की बनी होती है। और इसमें कई महत्वपूर्ण रचनाएं होती हैं, जैसे—रोम कूप, वसामय ग्रंथियां, स्वेद ग्रंथियां, रक्त वाहिकाएं, तंत्रिकाओं के सिरे और रोम पुटकों से जुड़ी छोटी पेशियां।

* श्वित्र या ल्यूकोडर्मा—ये सफेद चमकदार धब्बे होते हैं जो शरीर के किसी भाग पर भी पाए जा सकते हैं। यह न तो जन्मजात है और न संक्रामक। यह एक हानिरहित अवस्था है जिसमें व्यक्ति केवल देखने में ही बुरा लगता है। कोई भी विशिष्ट चिकित्सा उपलब्ध नहीं है।

बाल और गंजापन : रोम या बाल में नीचे आधार पर एक बल्ब-जैसी रचना होती है जिसे रोम मूल कहते हैं। उससे रोम कांड निकलता है, जो बाह्य-त्वचा को भेदकर सतह पर आ जाता है। बाल बाह्यत्वचा के एक विशेष ऊतक से निकलता है और जो त्वचा या अंतस्त्वचा में दब जाता है। इस ऊतक में मेलेनिन कोशिकाएं होती हैं जो बाल को रंग प्रदान करती हैं। बाल केरेटिन का बना होता है।

बाल लगातार वृद्धि नहीं करते रहते हैं लेकिन इन में एक वर्धन प्रावस्था और एक सुप्त प्रावस्था होती है। शिरोवल्क या खोपड़ी की त्वचा वाले बालों की,जो एक दिन में करीब 0.35 मिमी. की वृद्धि करते हैं, औसत वर्धन अवधि दो से छह साल तक होती है। लेकिन कुछ व्यक्तियों में यह वर्धन अवधि पच्चीस वर्ष तक भी होती है क्योंकि ऐसी स्त्रियों से सभी परिचित हैं जिनके बाल घुटनों तक लंबे होते हैं। एक बार में शिरोवल्क के 5 प्रतिशत बाल सुप्त प्रावस्था में होते हैं और यह सुप्तावस्था कुछ महीनों से अधिक नहीं होती और बाल सुप्तावस्था में ही झड़ते हैं। सुप्त बालों को बढ़ने वाले बालों की अपेक्षा उनके कूपों (follicle) से आसानी से निकाल लिया जा सकता है। यही कारण है कि लघु सुप्तावस्था वाले व्यक्तियों की आम शिकायत रहती है कि कंघी करने या धोने पर उनके बाल झड़ते रहते हैं। जब तक गिरे बालों के बदले नए बाल आते रहते हैं तब तक गंजापन नहीं होता। लेकिन अधिक तापमान और अन्य लंबी बीमारियों में वे लंबी सुप्तावस्था में चले जाते हैं और झड़ने लग जाते हैं। कुछेक व्यक्तियों में ही बालों की यह हानि स्थायी होती है और तभी गंजापन आ जाता है। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती जाती है वैसे-वैसे स्थायी सुप्तावस्था में चले जाने वाले रोम कूपों की संख्या बढ़ती जाती है, कूपों में क्षय होने लगता है और शिरोवल्क के बाल कम घने हो जाते हैं।

बालों की वृद्धि और झड़ना आनुवंशिक या पैतृक गुण होता है और परिवारों में गंजापन चलता रहता है। पारिवारिक प्रकार के गंजेपन को किसी भी उपचार द्वारा ठीक नहीं किया जा सकता, भले ही विज्ञापनों में इस प्रकार के आश्वासन दिए जाते हैं। शिरोवल्क रोगों अथवा अन्य बीमारियों के कारण बालों के बहुत अधिक झड़ने पर त्वचा विशेषज्ञ से सलाह लेना उचित होता है।

वसामय ग्रंथियां : वसामय ग्रंथियां रोम कूपों के निकट स्थित होती हैं। इनमें एक छोटी वाहिनी होती है जो उसी प्रणाल में खुलती है जिससे होकर बाल चलता है। ये ग्रंथियां त्वग्वसा (sebum) नामक एक संमिश्र तेलीय पदार्थ उत्पन्न करती हैं, जो त्वचा में फैल जाता है और त्वचा व बालों को मुलायम रखता है। इसका स्रवण निरंतर होता रहता हैं लेकिन मात्रा बदलती रहती है। त्वग्वसा की कार्यक्षमता पर परिवेश का बहुत असर पड़ता है। लंबे गर्म मौसम में त्वग्वसा अधिक उत्पन्न होती है।

स्वेद ग्रंथियां : ये त्वचा या अंतस्त्वचा में स्थित होती हैं जो त्वचा की सतह पर खुलती हैं। ये ग्रंथियां पसीना उत्पन्न करती हैं लेकिन उसका संग्रह नहीं करती हैं। स्वेद ग्रंथियों का नियंत्रण मस्तिष्क के उस केंद्र द्वारा होता हैं, जो शरीर के तापमान का नियमन करता है। जब शरीर के तापमान की अपेक्षा बाहरी वातावरण का ताप-मान अधिक होता है तो ये ग्रंथियां अधिक पसीना उत्पन्न करती हैं, जो त्वचा की सतह से वाष्पित होकर शरीर को ठंडा रखता है।

बगलों या कक्षाओं, जघन स्थल और चूचुकों के इर्द-गिर्द विशेष प्रकार की ग्रंथियां होती हैं। इनका स्राव वैसे तो गंधहीन होता है लेकिन त्वचा में विद्य-मान जीवाणुओं और उनकी सक्रियता से एक अजीबसी गंध आ जाती है।

नाखून : ये केरेटिनयुक्त कोशिकाओं के समांगी पुंज के बने होते हैं। नाखून की जड़ वाली कोशिकाएं वृद्धि करती हैं तो नाखून निरंतर बढ़ते

रहते है। औसतन प्रतिदिन इनकी वृद्धि 0.1 मिमी० होती है।

त्वचा के कार्य :

अपने कार्य के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों में त्वचा की मोटाई और बनावट अलग-अलग होती है। उदाहरण के लिए, हथेलियों और तलुओं में त्वचा मोटी और जोड़ों के इर्द-गिर्द पतली और ढीली होती है। उम्र के बढ़ने के साथ-साथ त्वचा में कई परिवर्तन होते रहते हैं। त्वचा हमारे शरीर और वातावरण के बीच की सीमा हैं।

त्वचा के मुख्य कार्य निम्न हैं :

1. शरीर के ऊतकों की क्षति से रक्षा करना।

2. अधिकांश रसायन इससे होकर शरीर में प्रवेश नहीं कर सकते। इस प्रकार संमिश्र रासायनिक वातावरण से शरीर की रक्षा करना।

3. गरमियों में रक्त वाहिकाओं के विस्फारण और अधिक पसीना उत्पन्न करने तथा जाड़ों में रक्त वाहिकाओं के संकुचन और पसीना कम उत्पन्न करने से ऊष्मा का नियमन करना।

4. पसीने के रूप में वर्ज्य पदार्थों का उत्सर्जन करना। पसीने में पानी, सोडियम क्लोराइड (नमक), यूरिया आदि होते हैं।

5. स्पर्श, दर्द, गरमी और ठंड की संवेदना के लिए यह ज्ञानेंद्रिय है, क्योंकि इसमें तंत्रिका के सिरे प्रविष्ट होते हैं।

6. यह अभिव्यक्ति का अंग भी है क्योंकि यह लाल पड़ने, पीला पड़ने तथा पसीना-पसीना हो जाने के रूप में शर्म, क्रोध, भय आदि भावों को भी प्रकट करती है।

त्वचा के सामान्य रोग

त्वचा के कुछ सामान्य रोगों का वर्णन नीचे किया गया है :

पिटिका (pimple) या सामान्य पनसिका (acne vulgaris) :

यौवनारंभ में लड़के और लड़कियां दोनों पिटिकाओं से परेशान रहते हैं। इस उम्र में हॉरमोनों का असंतुलन होता है, जिससे त्वचा की शृंगी परतों में मोटाई आ जाती है। इस मोटाई से वसामय ग्रंथियों के छिद्रों में अवरोध आ जाता है। यौवनारंभ में वसामय ग्रंथियां पुरुषों में संभवतया टेस्टेस्टेरॉन नामक हॉरमोन की वृद्धि से और स्त्रियों में प्रोजेस्टेरान नामक हॉरमोन की वृद्धि से सक्रिय हो जाती हैं। इसी से यह गड़बड़ी हो जाती है।

हवा की आक्सीजन के संपर्क में आने पर शृंगी प्लग काला पड़ जाता है। अतः काले आवरण वाली पिटिका त्वक्कील या ब्लैक हैड (blackhead, comedone) कहलाती है। अधिकांश व्यक्तियों में यह खुल जाती है जिससे त्वग्वसा (सीबम) बाहर निकल जाती है और ग्रंथि पुनः सामान्य प्रकार से कार्य करने लगती है। कुछ में सक्रिय ग्रंथि स्फीत होकर या फूलकर पिटिका को उभार देती है। यह संक्रमित होकर कष्टकारी पूयस्फोटिका (pustule) उत्पन्न कर सकती है। कभी-कभी ही यह विद्रधि या फोड़े में विकसित होती है।

कुछ लड़के और लड़कियों में तो ये त्वक् कीलें और पिटिकाएं कम होती हैं लेकिन कुछ में ये बहुत अधिक संख्या में उत्पन्न होती हैं जिससे चेहरा देखने में बहुत सुंदर नहीं लगता। चूंकि इस तरुण अवस्था में युवक युवतियां चेहरे की सुंदरता के प्रति कुछ अधिक ही सावधान होते हैं इसलिए चेहरे की इस असुंदरता से वे कुछ शंकालु हो जाते हैं।

आदत के अनुसार त्वक् कील वाले व्यक्ति शीशे के सामने खड़े होकर इन पिटिकाओं को नोच-नोच कर तथाकथित 'बीजों' को निकालते रहते हैं, जो कुछ नहीं बस गाढ़ी सूखी त्वग्वसा या त्वचा की वसा होती है। लेकिन यह एक हानिकारक आदत है क्योंकि ये त्वक् कील पहले से ही संक्रमित हैं और इससे संक्रमित पदार्थ आसपास के ऊतकों में पहुंच जाता है। यह क्षति ठीक होने

पर चेहरे पर गहरे नोकीले चिन्ह छोड़ देती है जिससे चेहरा और अधिक असुंदर हो जाता है।

इस व्याधि के उपचार के लिए कई घरेलू तथा विज्ञापन द्वारा बाजार वाली दवाएं आजमाई जाती हैं। कुछ भले ही लाभकारी हों लेकिन अन्य दवाओं के बारे में कुछ कहना संदेहास्पद है क्योंकि वे त्वचा के लिये क्षतिकारक भी हो सकती हैं। व्यक्ति त्वक् कीलों से बचने के लिए त्वचा की देखभाल वाली सावधानियां भले ही बरत ले लेकिन जहां तक औषधि उपचार का प्रश्न है वह तो विशेषज्ञ की सलाह से ही करना चाहिए।

चेहरे की त्वचा को स्वच्छ और सूखा रखने के लिए रोज दिन में साबुन-पानी से चेहरे को तीन चार बार धोना चाहिए। नहाने वाला कोई भी अच्छा साबुन इसके लिए उपयोगी होगा। साबुन को नीचे से ऊपर की ओर कम से कम दो मिनट तक, हो सके तो, खुरदुरे कपड़े से मलना चाहिए। कोशिश यही रहनी चाहिए कि चेहरे को तेजी से न रगड़ा जाए। फिर चेहरे को पानी से अच्छी तरह से धो लेना चाहिए। जब विक्षतियां सूजन और पूय या पस वाली हों तो एक गर्म तौलिया लेकर उस स्थल को दिन में एक या दो बार पांच मिनट तक सेंकना चाहिए। इससे कष्ट देने वाली विक्षतियां आसानी से जल्दी खुल जाएंगी।

आहार संबंधी संयम भी बरतना जरूरी है। काजू, बादाम, पिस्ता और मूंगफली सरीखे नट या दृढ़फलों तथा चौकलेट व चौकलेटी पेयों से परहेज रखना चाहिए क्योंकि ये वसामय ग्रंथियों की क्रियाशीलता को उद्दीपित करते हैं। जहां तक हो सके आहार में तेल, घी, मक्खन सरीखी वसाओं और शर्करा की मात्रा कम से कम रखनी चाहिए। इसमें ताजे फलों, सब्जियों और दूध वाले सुसंतुलित आहार की सलाह दी जाती है।

त्वक्वसास्रवण (seborrhoea) या रूसी (dandruff) :

जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है त्वचा से श्रृंगी परत का गिरना शल्कों के रूप में होता है और यही बात सिर की त्वचा या शिरोवल्क पर भी लागू होती है। लेकिन जब यह विशल्कन इतनी अधिक सीमा तक बढ़ जाता है कि बालों में कंघी करने पर शल्क कंधों पर गिरकर बालों पर फैल जाते हैं तो इसे त्वक्वसास्रवण और पपड़ी या छिलकों को रूसी कहते हैं। यौवनारम्भ में त्वचा की श्रृंगी परत वृद्धि करती है और साथ ही वसामय ग्रंथियों की सक्रियता भी। इस उम्र में लड़के और लड़कियां इन तेलीय शल्कों का निर्मोचन करते हैं। यह तैलमयता वसामय ग्रंथियों द्वारा स्रावित त्वग्वसा (सीबम) के कारण होती है। कनपटी पर अस्थायी रूप से बालों का झड़ना हो सकता है लेकिन वह फिर जल्दी ही रुक जाता है। बिना संक्रमण वाली रूसी स्थायी गंजापन नहीं करती है। यदि त्वक्वसास्रवण स्थायी रूप से होता रहता है तो यह अन्तःजात विशेषता है रोग नहीं।

इसमें शिरोवल्क को नियमित रूप से धोने और उस पर बुर्श चलाने की सलाह दी जाती है। शल्कों को निकालने के लिए आगे से पीछे की ओर बालों के बुर्श को दस बार चलाना जरूरी है। साथ ही इससे शिरोवल्क में केशिकाओं वाले रक्त का अच्छा परिसंचरण भी हो जाता है।

जब त्वक्वसास्रवण के साथ-साथ शिरोवल्क में चकत्तों में त्वग्रक्तिमा (erythema—लालिमा) भी होती है तो इसे त्वक्वसास्रावी त्वक्शोथ (seborrhoic dermatitis) कहते हैं। यह माथे, भौंहों, नासा वलनों, कान के किनारों और छाती के ऊपरी भाग में भी हो सकती है। उग्र अवस्था में ये चकत्ते रिसने भी लगते हैं और संक्रमित भी हो सकते हैं। इस प्रकार के त्वचा वाले संक्रमण में डाक्टर की सलाह भी ली जानी चाहिए।

त्वचा का संक्रमण विषाणुओं, जीवाणुओं, कवकों (फफूंदियों) और परजीवियों के कारण होता है। इनमें से कुछ का वर्णन अगले पृष्ठों में दिया गया है :

जीवाणु-संक्रमण :

इम्पेटाइगो : यह प्राय: नव शिशुओं में होता है और जो वायुकोशीय पित्तिका (vesicular rash) का कारण है । ये पित्तिकाएं टूट कर त्वचा को खरोंचदार-सा बना देती हैं और इससे त्वचा निरंतर रिसती रहती है । रिसकर निकला सीरम सूखकर अल्पपारदर्शी कच्छू (स्कैब) बना देता है जो शहद के रंग के या पीले होते हैं । आमतौर पर ये चेहरे, नाक के इर्द-गिर्द, ओंठों अथवा कानों पर होते हैं । लेकिन शरीर का कोई भी भाग प्रभावित हो सकता है । दवा लगाने के पहले प्रभावित क्षेत्र को साबुन-पानी से धोना और कच्छुओं (स्कैबों) को निकालना जरूरी है । इसमें मुंह से ली जाने वाली औषधियों और मलहम बहुत प्रभावकारी होते हैं ।

फोड़ा (boils) अथवा रोमकूपशोथ (follic-) ulitis) : रोम कूप का संक्रमण एक आम बात है, विशेषकर गरमियों में । पसीने से लथपथ नम त्वचा जीवाणुओं की वृद्धि के लिए एक उपयुक्त शरणस्थली है । पिटिका बाल के आधार पर पनपती है । यह बढ़ती है और पूय (पस) बनता है । इससे कई बालों की जड़ें संक्रमित हो सकती हैं जिसके फलस्वरूप क्षेत्र विशेष में पूयस्फोटिका पित्तिका प्रकट हो जाती है । यह कष्टदायी होता है और इससे खुजली होने लगती है । पुरुषों में दाढ़ी वाले क्षेत्र में संक्रमण होना आम बात है । नाई द्वारा बिना साफ किए हुए उस्तरे से दाढ़ी बनाना इसका कारण है और इसलिए इसे नाई वाली खुजली कहते हैं ।

कवक संक्रमण :

ये ग्रीष्म ऋतु के रोग हैं, जो कवकों अथवा फफूंदियों के कारण होते हैं (चित्र 11.34) और जो त्वचा के विभिन्न भागों को प्रभावित करते हैं, जैसे कि ऊरु-मूल की धोबी खुजली जबकि कवक पांव का संक्रमण करता है, अथवा शरीर के किसी भाग का दाद ।

शिरोवल्क का दाद अधिकांशतया शिशुओं में होता है, जिसमें ऐसा धब्बा या चकत्ता होता है जहां पर बाल नहीं होते । कुछ किस्मों में जीवाणु द्वारा भी संक्रमण हो जाता है । इसलिए रोग से बचाव जरूरी है । बच्चों को स्कूल नहीं जाना चाहिए और अपना सिर हमेशा टोपी से ढक के रखना चाहिए । आधुनिक दवाओं के प्रयोग से किसी भी प्रकार का कवक संक्रमण अब समस्या नहीं रह गया है जितना कि वह दस साल पहले हुआ करता था ।

शरीर के अन्य भागों पर होने वाला दाद पिटिका के रूप में शुरू होता है, जो परिसर पर वृद्धि करते हुए बीच के भाग को साफ छोड़ देता है। कवक के संक्रमण का एक सक्रिय छल्ला बखूबी देखा जा सकता है । इसमें शल्कन भी हो सकता है । खुजली मध्यम प्रकार की या उग्र प्रकार की हो सकती है । जाड़ों में जब कि त्वचा शुष्क होती है संक्रमण सुप्त रहता है और रोगी इसलिए परवाह नहीं करता क्योंकि खुजली नहीं होती है ।

परजीवी पर्याक्रमण (Parasitic infestation):

1. पामा या स्केबीज अथवा खुजली : एक विशेष प्रकार की बरुथी या चिचड़ी (mite) त्वचा पर आक्रमण करके खुजली का प्रमुख लक्षण उत्पन्न करती है । खुजली के सामान्य स्थल हैं अंगुलियों के बीच की त्वचा, कलाई, कक्षाएं या बगलें, ऊरु-मूल, जननेंद्रिय, एड़ियां और पदांगुष्ठ ।

चित्र 30.3—त्वचा के नीचे खुजली वाली चिचड़ी
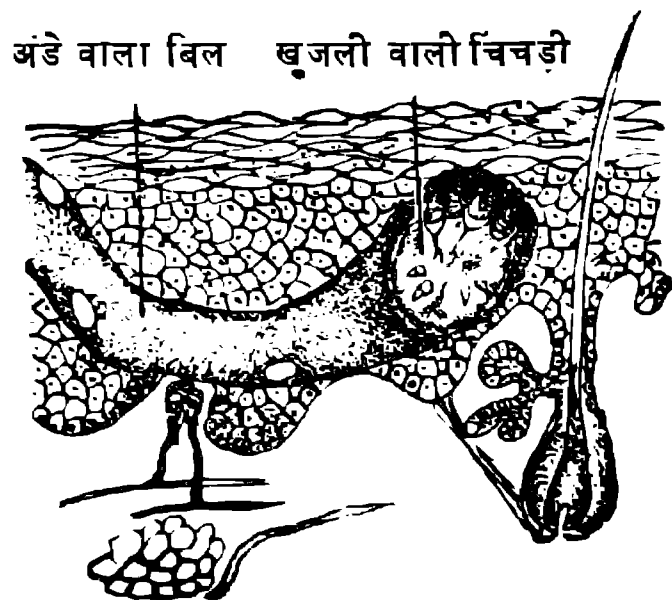
मादा चिचड़ी त्वचा में प्रविष्ट करके वहां अंड़े देती है। (चित्र 30.3)। अंड़ों से नन्हें-नन्हें डिम्भक फूटते हैं जो प्रौढ़ चिचड़ियों में परिवर्धित होते हैं। नर, मादा को निषेचित करने के बाद जल्दी ही मर जाता है। मादा चिचड़ियां प्रायः अपने बिलों से शाम को या रात में नींद के समय बाहर निकलती हैं जबकि शरीर गर्म होता है। यही वह समय है जब बुरी तरह से खुजली होती है जो असहनीय होती है। यदि ठीक से सफाई नहीं रखी जाती तो विक्षतियां संक्रमित हो सकती हैं और पित्तिका उत्पन्न हो सकती हैं। सारा परिवार बड़ी जल्दी संक्रमित हो जाता है। कुछ चिचड़ियां कपड़ों में ही रहती हैं। इस संदर्भ में अतिरिक्त जानकारी अध्याय 14 में दी गई है।

इसलिए कुछ दिनों तक सभी कपड़ों और बिस्तर वाले कपड़ों को उबालना बहुत जरूरी है। कायचिकित्सक द्वारा बताई गई औषधि को शाम को मलना चाहिए ताकि चिचड़ियों पर आसानी से असर डाला जा सके। स्केबीज के नियंत्रण और उपचार में बेंजिल बेंजोएट नामक मलहम का प्रयोग बहुत प्रभावकारी होता है। परिवार के सभी सदस्यों का उपचार एक ही समय पर होना चाहिए ताकि फिर चिचड़ी का पर्याक्रमण न हो।

2. यूकोपसर्ग (Pediculosis) अथवा जूंओं का पर्याक्रमण :

शरीर पर तीन प्रकार के जूंओं का पर्याक्रमण होता है, अर्थात् सिर की जूं, देह की जूं और जघन यूका या जघन क्षेत्र की जूं का। इनके अंडे रोम कांड से धूसर चित्तियों वाली सफेद अंडाकार संरचना के रूप में चिपके रहते हैं (चित्र 14.7)।

अंडे बहुत छोटे होते हैं और 'लीख' (लिक्षा—nit) कहलाते हैं। ये त्वचा पर और बालों के बीच रहकर खुजली करते हैं। यद्यपि जूएं गंदा रहने के कारण होती हैं लेकिन कभी-कभी जूंएं कुछ ऐसे व्यक्तियों पर भी पाई जाती हैं जोकि स्वच्छ रहते हैं। स्कूलों में लड़के और लड़कियों से एक-दूसरे पर जूंएं चली जाती हैं।

इनके पर्याक्रमण से बचने के लिए खूब सफाई होनी चाहिए। और डी. डी. टी. सरीखे कीट-नाशियों द्वारा उपचार होना चाहिए। दवाई डालने के बाद बालों पर एक अच्छी व बारीक कंघी फिरानी चाहिए।

अंधौरी या घर्मराजिका (प्रिकली हीट)

ये स्वेद ग्रंथियों की अव्यवस्था के कारण होती है और गरमियां शुरू होने पर अधिकांश लोगों ने इनका अनुभव किया होगा। स्वेद ग्रंथियों के छेद केरेटिन (शृंगी) कोशिकाओं द्वारा बंद हो जाते हैं। गरमियां आने पर स्वेद ग्रंथियों को अचानक कार्य करने के लिए अनुप्रेरित किया जाता है लेकिन पसीना बाहर नहीं निकल पाता क्योंकि छेद बंद रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि भरा हुआ पसीना एक छोटी थैली-सी बना लेता है। भारी संख्या में इस प्रकार की विक्षतियां गर्दन के चारों ओर, छाती में, कमर के चारों ओर तथा चेहरे पर प्रायः देखी जाती हैं। ये विक्षतियां खुजलीदार हो जाती हैं और पसीने से प्रचंड हो जाती हैं। व्यक्ति को बहुत परेशानी होती है। किसी भी प्रकार का उपचार काम नहीं आता। ऐसे में शरीर को पंखे के नीचे या ठंडी हवा में ठंडा रखना चाहिए और आराम करना चाहिए। कसरत करने से अंधौरियां और बिगड़ जाती हैं क्योंकि कसरत करने से पसीना अधिक आता है।

विक्षतियां प्रायः चार से आठ दिन में गायब हो जाती हैं जबकि व्यक्ति द्वारा जलवायु अनुकूलन कर लिया जाता है। यह आम अनुभव है कि कुछ दिनों के लिए बंबई जाने वाले व्यक्तियों में अंधौरियां हो जाती हैं, लेकिन लोनावला अथवा पूना सरीखे ठंडे स्थान पर जाने से चौबीस घंटे में ये गायब हो जाती हैं और उन्हें तुरंत आराम मिल जाता है।

अंधौरियां बिगड़ती तब हैं जब लगातार कई दिन तक ये चलती रहती हैं और संक्रमित होती हैं। संक्रमण स्वेद ग्रंथियों तक पहुंच सकता है जो अन्दर टूटकर कष्टकारी फोड़े उत्पन्न कर सकते हैं। ऐसे में अपने परिवार के डाक्टर की सलाह लेनी चाहिए।

छाजन या एक्जीमा

इस शब्द का प्रयोग प्रायः त्वचा की खुजली वाली या बिना खुजली वाली अनेक दशाओं के लिए किया जाता है। सूजन या शोथ के कारण हैं, कोई संक्रमण, क्षोभक—रासायनिक अथवा भौतिक, अथवा दवा की एलर्जी अथवा मनःकायिक प्रतिक्रिया। उपचार करने के पहले एक्जीमा के कारण का पता लगाना चाहिए और इसके लिए त्वचा विशेषज्ञ की सलाह ली जानी चाहिए। यद्यपि एक्जीमा के कई प्रकार तो बिना किसी विशिष्ट उपचार के ठीक हो जाते हैं लेकिन कई ऐसे प्रकार हैं जो सालों तक बने रहते हैं।

कई ऐसे दैहिक रोग हैं जो त्वचा में प्रकट होते हैं लेकिन इस अध्याय में उनका वर्णन नहीं किया गया है।

त्वचा और शिरोवल्क की देखभाल :

सामान्य बुद्धि का नियम तो यही है कि स्वयं को स्वच्छ रखा जाय। यह कहना वैसे तो आसान है पर इसका समझाना बड़ा कठिन है क्योंकि अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा स्वच्छता की परिभाषाएं अलग-अलग हो सकती हैं।

त्वचा की देखभाल मौसम पर निर्भर करती है। गर्म और नम मौसम में दिन में एक या दो बार साबुन व पानी से खूब अच्छी तरह मल-मल के नहाना जरूरी होता है लेकिन सूखे जाड़े वाले महीनों में ऐसा करना हानिकारक होगा और यदि नहाने में ठंडे पानी और अधिक साबुन का प्रयोग किया गया तो खुजली भी हो सकती है।

साबुन त्वचा को शुष्क कर देते हैं और शुष्क त्वचा में ही खुजली होती है। इसलिए जाड़ों में साबुन बहुत कम इस्तेमाल करना चाहिए लेकिन कक्षाओं (बगलों) और जोड़ों को धोने के लिए इसका इस्तेमाल किया जाना चाहिए। त्वचा का प्राकृतिक तेल अलग नहीं करना चाहिए। हल्के गर्म पानी में धीरे-धीरे स्नान करने से केरेटिन वाली परत पानी सोख लेती है तो बड़ा आराम मिलता है। बहुत अधिक ठंड और खुश्क मौसम में त्वचा को मली जाने वाली कुछ अधिक चिकनाई की आवश्यकता होती है। मलने के लिए वैसलीन और पैराफीन तेल अच्छे नहीं होते क्योंकि अन्ततः ये त्वचा को खुश्क ही करते हैं। यदि हाइड्रोजन-कृत तेल (जैसे डालडा या अन्य वनस्पति घी) गीली त्वचा पर मले जाते हैं तो पानी के साथ मिलकर ये त्वचा पर पतली तह (फिल्म) बना लेते हैं। पैरों के तलवों की बिवाइयों या फटे स्थानों पर "कौकुम तेल" मलने से फायदा होता है।

गरमियों में, दिन में तीन या चार बार मुंह धोना चाहिए। नीचे से ऊपर की ओर साबुन लगा कर एक या दो मिनट तक मलना चाहिए और फिर काफी पानी से खंगालकर अच्छी तरह से धो लेना चाहिए। जाड़े के दिनों में एक या दो बार धोना काफी है। रात के समय कोल्ड क्रीम का इस्तेमाल भी किया जा सकता है।

शिरोवल्क और बालों की सफाई हफ्ते में एक या दो बार काफी है। बालों में बुर्श करने से फायदा ही पहुंचता है। वैसे प्रत्येक व्यक्ति का कंघा या बालों का बुर्श अलग होना चाहिए।

प्रसाधन सामग्रियां इतनी अधिक हैं और उनके प्रयोग में भी इतनी अधिक विविधता है कि उनके बारे में बतलाना यहां संभव नहीं है। लेकिन फिर भी सावधानी के बतौर एकाध शब्द कहना अयुक्तिसंगत न होगा। चेहरे की क्रीमों, लिपस्टिकों, बाल के रंगों आदि में अनेक रसायन प्रयुक्त होते हैं, जिनसे एलर्जी वाली प्रतिक्रियाएं होती हैं। यदि खुजली या त्वक्शोथ होता है तो यह इनके प्रयोग की एलर्जी वाली प्रतिक्रिया हो सकती है, इसलिए इसके उपचार के लिए तुरंत विशेषज्ञ की सलाह ली जानी चाहिए।

• • •
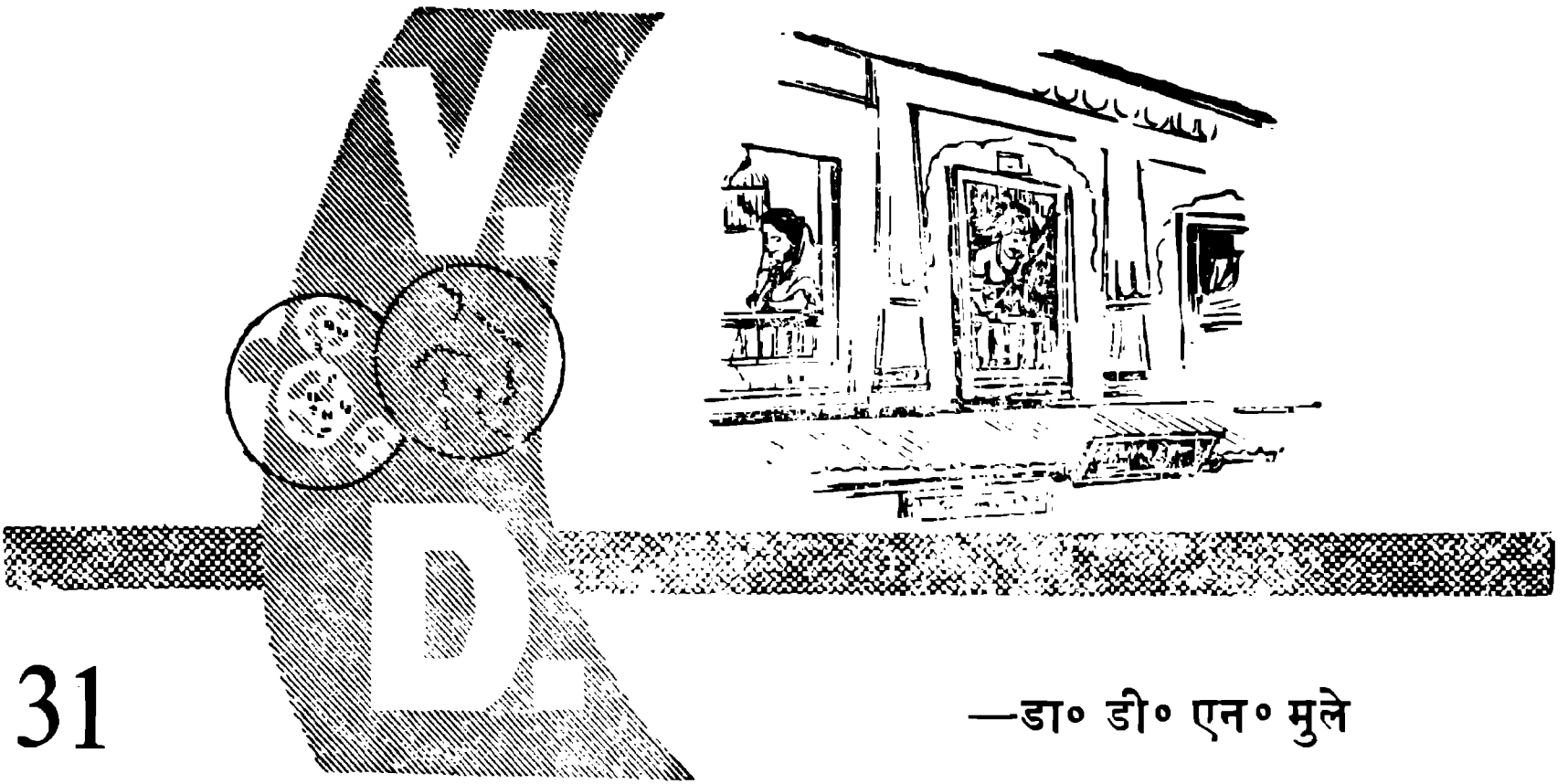
31

—डा० डी० एन० मुले

रतिज रोग

रतिज रोग (Venereal Diseases), हमेशा मैथुन (सम्भोग) द्वारा ही संक्रमित होते हैं। अन्य प्रकार से होने वाला संक्रमण नगण्य होता है।

सिफिलिस :

अपनी आरंभिक अवस्था में यह रोग जननेन्द्रिय पर एक कड़ी पिटिका (papule) के रूप में होता है। पिटिका टूटने पर व्रण उत्पन्न करती है। यदि संक्रमित नहीं होता तो ठीक होने पर यह व्रण एक बारीक चिह्न छोड़ जाता है। ऊरु-मूल के लसीका-पर्व बड़े हो जाते हैं। ये सभी विक्षतियां दर्द नहीं करती हैं इसलिए रोगी इन पर अधिक ध्यान नहीं देता।

स्पाइरोकीटा पॅलिडा (चित्र 11.32) ही वह **सूक्ष्मजीव है जो मैथुन के समय त्वचा में प्रविष्ट हो जाता है और फिर करीब तीन हफ्ते बाद सिफिलिस पहले पिटिका रूप में और फिर व्रण के रूप में प्रकट हो जाती है। इस प्रारंभिक अवस्था के बाद ये जीव रक्त प्रवाह के साथ शरीर के सभी अंगों में पहुंच जाते हैं। दूसरी अवस्था में रोग त्वचा में अनेक प्रकार की पित्तिकाओं के रूप में प्रकट हो जाता है।** पित्तिकाएं अस्थायी और बिना खुजली वाली होती हैं। तीसरी अवस्था में, हृदय, यकृत्, मस्तिष्क और हड्डी सरीखे महत्वपूर्ण अंग प्रभावित होने लगते हैं। सभी रतिज रोगों में उपचार की अपेक्षा इनसे बचे रहना ही बेहतर होता है।

आधुनिक चिकित्सा से सिफिलिस आसानी से ठीक की जा सकती है लेकिन सार्वजनिक स्वास्थ्य की दृष्टि से अनुवर्ती रक्त-परीक्षण आवश्यक है। इसमें रोगी के साथ-साथ उसके साथी की परीक्षा, जांच और चिकित्सा जरूरी भी है और महत्वपूर्ण भी।

सुजाक या गोनोरिया :

यह रोग गोनोकॉकस नामक (चित्र 31.2) रोगाणु द्वारा होता है, जो मैथुन करते समय संक्रमित होता है। उद्भवन 1 से लेकर 10 दिन तक होता है। गोनोकॉकस के रोगाणु पुरुष में मूत्रमार्ग की सूजन या शोथ और स्त्री में मूत्रमार्ग व योनि की सूजन या शोथ कर देते हैं और फिर सपूय या पसदार तरल निकलता है। पेशाब करते समय जलन और कठिनाई हो सकती है। पहले नवजात

* * * *

डा. डी. एन. मुले, एम. बी., बी. एस., डी. वी. डी. (बम्ब.), स्टाफ सर्जन, त्वचा विज्ञानी, विलिंगडन अस्पताल, नयी दिल्ली।
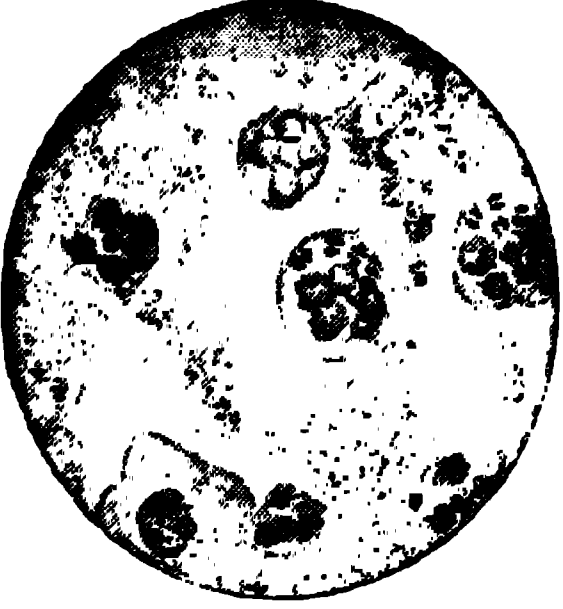
चित्र 31.2—गोनोकॉकस
पूय (पस) कोशिका में रोगाणु जोड़ों में दिखलाई दे रहे हैं।

शिशु में नेत्रश्लेष्मलाशोथ सरीखी जटिलताएं बहुत आम हुआ करती थीं जिससे अंधापन हो जाता था और प्रौढ़ों में मूत्रमार्ग के आकुंचन से पेशाब करने में बहुत तकलीफ होती थी। लेकिन अब प्रभावकारी आधुनिक उपचार विधि से इस रोग की जटिलताएं बहुत कम होती जा रही हैं।

शैंकराभ (Chancroid) :

यह रोग एक-दूसरे जीवाणु द्वारा होता है। रोग में जननेन्द्रियों पर अनेक कष्टकारी व सतही व्रण बन जाते हैं। इन व्रणों से रिसाव होता है और कुछ सूजन भी होती है। रोगकारी जीव डकरी दंडाणु या डकरी बैसिलस कहलाता है। संक्रमण के 3 से लेकर 14 दिन बाद विक्षतियां दिखलाई देती हैं। ऊरु-मूल में लसीका-पर्व बड़े होकर दर्द उत्पन्न कर सकते हैं और विकसित होकर फोड़े में परिवर्तित हो सकते हैं जिसे कि गिल्टी कहते हैं। आधुनिक उपचार से यह रोग आसानी से ठीक किया जा सकता है।

यद्यपि आधुनिक उपचार विधि रतिज रोगों को पूरी तरह से ठीक करने में बहुत प्रभावकारी है तो भी सुयोग्य डाक्टर द्वारा जल्दी से जल्दी इसका पूरा उपचार और लंबे समय तक रोगी की देखरेख बहुत जरूरी है। अपर्याप्त और अधूरी चिकित्सा से चिरकारी अवस्था आ जाती है, जब कि चमत्कारी दवाएं भी अपना असर खो बैठती हैं।

रतिज रोगों से बचने के लिए, निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं :

1. नैतिक शिक्षा का उच्च स्तर।
2. पति-पत्नी को दूसरों से मैथुनी संबंध नहीं रखने चाहिए।
3. सुयोग्य डाक्टर की सलाह से निरोधी उपायों पर ध्यान दीजिए।

• • •

32
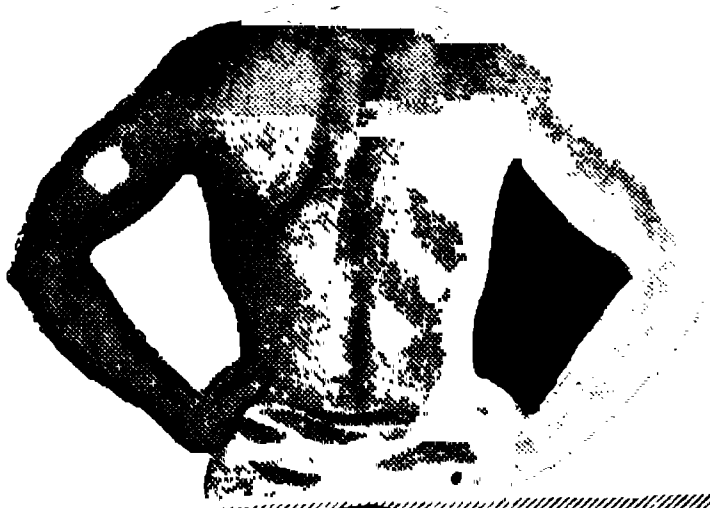
डा० आर० वी० वर्डेकर

कुष्ठ

कुष्ठ एक संचारणशील रोग है। इसलिए हरएक व्यक्ति को इसके हर पहलू के बारे में जानना जरूरी है ताकि वह अपने और अपने परिवार के सदस्यों को इससे बचा सकें। जब संचारणशील रोगों के बारे में सामान्य रूप से कहा जाता है तो इनसे बचाव की दो विधियां दिमाग में आती हैं। पहला यानी प्राथमिक निरोधी उपाय है रोग विशेष का टीका लगवा लेना और दूसरा या द्वितीयक निरोधी उपाय है आरंभ में ही निदान और उपचार द्वारा रोग के नाशी प्रभावों से बचे रहना। कुष्ठ के संदर्भ में अभी तक ऐसा कुछ नहीं है कि प्राथमिक बचाव किया जा सके, लेकिन आरंभिक अवस्था में इसका निदान किया जा सकता है और आधुनिक दवाओं से इसे पूरी तरह से ठीक किया जा सकता है।

रोगकारी जीव :

कुष्ठ रोग कुष्ठ दंडाणु या लेप्रोसी बैसिलस अथवा 'माइकोबैक्टीरियम लेप्री' नामक सूक्ष्मजीव से होता है (चित्र 32.2)। यह दंडाकार जीव हैं जो कुछ बातों में यक्ष्मा दंडाणु या 'ट्यूबर्कल बैसिलस' से मिलता-जुलता है यद्यपि दोनों जीव अन्य बातों में बिलकुल विपरीत हैं।

ऊतक प्रतिक्रिया :

कुष्ठ में अनेक प्रकार के लक्षण दिखलाई देते हैं, जो आंशिक रूप से रोग की अवस्था और आंशिक रूप से कुष्ठ दंडाणुओं द्वारा शरीर के संक्रमण के परिणामस्वरूप होने वाली अनुक्रिया-स्वरूप ऊतकों की प्रतिक्रिया पर निर्भर करते हैं। कई लोगों के ऊतक कुष्ठ के दंडाणुओं के प्रति अच्छा प्रतिरोध दिखलाते हैं। यदि आक्रमणकारी दंडाणु संख्या में कम होते हैं तो रोग के लक्षणों के प्रकट हुए बिना ही वे नष्ट हो जाते हैं किंतु यदि ये अधिक संख्या में होते हैं तो प्रतिरोधी प्रकार के व्यक्तियों में भी रोग हो सकता है। यह इसीलिए होता है कि ऊतकों और जीवों में परस्पर संघर्ष के दौरान दोनों नष्ट हो जाते हैं। शरीर के ऊतकों के नष्ट होने से ही रोग के लक्षण प्रकट हो जाते हैं और रोगकारी जीवों के नष्ट होने से रोगी असंक्रामक बन जाता है। प्रतिरोधी व्यक्तियों में पाया जाने वाला इस प्रकार का रोग अकुष्ठिक या

* * * *

डा. आर. वी. वर्डेकर, बी.एस.सी., एम. डी., डाइरेक्टर, गांधी स्मारक कुष्ठ फाउन्डेशन, वर्धा।

चित्र 32.2—कुष्ठ का माइकोबैक्टीरियम

लेप्रोमाहीन (non-lepromatous) कुष्ठ कहलाता है जो सामान्यतया असंक्रामक होता है।

उन व्यक्तियों में, जो अधिक प्रतिरोध नहीं दिखला सकते, आक्रमणकारी जीव गुणित होकर सारे शरीर में फैल जाते हैं। इस प्रकार का रोग कुष्ठिक या लेप्रोमायुक्त (lepromatous) कुष्ठ कहलाता है। इसमें, आरंभिक अवस्था में, अधिक ऊतक नाश नहीं होता, इसलिए आरंभिक लक्षणों का आसानी से बोध नहीं होता। केवल चरम अवस्था में ही लक्षण प्रकट होते हैं।

इन दो प्रकार के रोगों में यानी अकुष्ठिक और कुष्ठिक कुष्ठ में, पहले वाला प्रकार असंक्रामक और बाद वाला प्रकार आरंभ से ही हमेशा संक्रामक होता है। इससे पता चलता है कि रोग की संक्रमणशीलता मुख्यतया रोग के प्रकार पर निर्भर करती है न कि बाहुओं की विरूपता अथवा व्रणों की उपस्थिति पर।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि कुष्ठ बहुत धीरे-धीरे होने वाला रोग है और उतना संक्रामक नहीं है जितना कि लोग सोचते हैं। साथ ही यह जानना भी महत्वपूर्ण है कि रोग के आरंभिक लक्षण चरम अवस्था के लक्षणों से बहुत भिन्न होते हैं। लोग रोग की केवल चरम अवस्था को ही जानते हैं आरंभिक अवस्था को नहीं। लेकिन देखा जाय तो विरूपता के बचाव और उसके सामाजिक व आर्थिक परिणामों के दृष्टिकोण से आरंभिक अवस्था ही अधिक महत्वपूर्ण है।

संक्रामक रोग :

चूंकि दोनों प्रकार के रोगियों में लक्षण अलग-अलग तरह से प्रकट होते हैं इसलिए इस बात का अनुमान करना संभव है कि कौन-सा रोगी संक्रामक है और कौन असंक्रामक। लेकिन संक्रमणशीलता निर्धारित करने वाले अन्तिम परीक्षण में त्वचा के चकत्ते से खुरचन ले ली जाती है, उचित विधि से उसका रंजन (रंगाई) किया जाता है और फिर सूक्ष्मदर्शी में उसकी जांच की जाती है। यदि खुरचन वाले पदार्थ में कुष्ठ दंडाणु होते हैं तो इसे संक्रामक समझा जाता है और यदि नहीं पाए जाते तो इसे असंक्रामक माना जाता है। भारत में करीब 80 प्रतिशत रोगी असंक्रामक और केवल 20 प्रतिशत ही संक्रामक होते हैं। अतः इससे यही निष्कर्ष निकला कि कुष्ठ का निदान त्वचा के लेप में पाए जाने वाले जीवों की उपस्थिति पर निर्भर नहीं करता क्योंकि कोई व्यक्ति कुष्ठ रोग से पीड़ित हो सकता है भले ही उसकी त्वचा के लेप में दंडाणु न मिलें।

आरंभिक संकेत और लक्षण :

1. अकुष्ठिक या लेप्रोमाहीन प्रकार : अकुष्ठिक प्रकार के आरंभिक लक्षण या तो त्वचा में एक या अधिक चकत्तों (चित्र 32.3) के रूप में अथवा त्वचा में कहीं भी बिना चकत्तों के शरीर के कुछ भागों में संवेदना के अभाव के रूप में प्रकट हो सकते हैं। दोनों किस्म सामान्यतया असंक्रामक होते हैं।

सामान्य त्वचा के रंग की तुलना में यह चकत्ता या तो फीके रंग का (अल्पवर्णकित) या लाल होता है। सामान्यतया चकत्ते की सीमा आस-पास की त्वचा से सुस्पष्ट रूप से अलग पहचानी जा सकती है। चकत्ते में न तो खुजली होती है, न जलन और न दर्द ही और इसीलिए रोगी इनकी उपेक्षा करता है। ये चकत्ते पीठ, नितंब या पुट्ठों, जांघों अथवा शरीर में कहीं भी हो सकते हैं। यदि

चित्र 32.3—क्रमशः चेहरे, पुट्ठों तथा पीठ पर कुष्ठ के आरंभिक चकत्ते।

ये पश्च भागों पर होते हैं तो रोगी को काफी समय तक इनके होने के बारे में पता भी नहीं चल सकता। आरंभिक अवस्था में चकत्ते और त्वचा की बनावट का स्तर एक-सा होता है लेकिन रोग के बढ़ने पर चकत्ते का स्तर त्वचा की सतह से ऊंचा उठ जाता है। समतल या एकसार चकत्ते स्पर्श, गरमी और दर्द की संवेदना की अनुभूति भले ही करें या न करें लेकिन उभरे चकत्ते कभी नहीं करते हैं। कुष्ठ के समतल चकत्तों का श्वित्र या ल्यूकोडर्मा के चकत्तों से अंतर अवश्य स्पष्ट होना चाहिए। कुष्ठ का चकत्ता श्वित्र के चकत्ते की तरह चमकदार सफेद नहीं होता।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कुछ रोगियों में चकत्ता उत्पन्न नहीं होता और शरीर के कुछ भागों में स्पर्श, गरमी और दर्द की संवेदना का ही अभाव होता है।

2. कुष्ठिक या लेप्रोमायुक्त प्रकार : कुष्ठिक प्रकार में आरंभिक परिवर्तन त्वचा के रंग और बनावट में कुछ परिवर्तन होने से प्रकट हो जाता है किंतु काले रंग के रोगियों में यह एक या दो साल तक पहचान में नहीं आ पाता। लेकिन ये रोगी इस अवस्था में भी संक्रामक होते हैं।

अग्रवर्ती संकेत और लक्षण :

चूंकि कुष्ठ धीरे-धीरे बढ़ने वाला रोग है इसलिए रोगी में कुष्ठ की विरूपता और अन्य असुंदरताओं के विकसित होने में कई साल लग जाते हैं। उन व्यक्तियों में, जो आरंभिक अवस्थाओं में उपचार नहीं करते हैं, रोग बढ़ता जाता है, नये-नये चकत्ते प्रकट होते रहते हैं और कोहनी व घुटने के पीछे तथा एड़ी व कलाई के इर्द-गिर्द की तंत्रिकाएं प्रभावित हो जाती हैं। इसके परिणामस्वरूप हाथ व पैरों में सुन्नता आ जाती है और अंगुलियां व अंगूठे मुड़ने लगते हैं (चित्र 32.4)। कुष्ठ के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से होने वाली विरूपताएं यहीं पर आकर रुक जाती हैं। इसके बाद जो अन्य विरूपताएं होती हैं, जैसे कि अंगुलियों व अंगूठों का अपक्षय तथा हाथ व पैर के व्रण, वे सुन्न बनी बाहुओं के गलत प्रयोग के कारण होती हैं। अपनी

बाहुओं का सही प्रयोग करने वाले रोगियों में ऐसी अतिरिक्त विरूपताएं उत्पन्न नहीं होतीं। ऊपर बताई गई विरूपताओं के अतिरिक्त कुष्ठिक प्रकार के रोगियों में चेहरे व कर्ण पल्लवों में ग्रंथिकाएं, भौंहों के कुछ भाग का लोप, नाक का चपटापन और आंखों की हानि देखी जा सकती है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि कुष्ठ रोगी भिखारी केवल तभी बन सकता है जब कि वह पूरी तरह से विरूप और कुरूप हो चुकता है। और ऐसा रोग के प्रथम चिह्नों के प्रकट होने के कई साल बाद होता है। यद्यपि एकाध रोगी भिखमंगा हो जाता है लेकिन अन्य कई ऐसे होते हैं जो कुष्ठ रोगी हैं पर समाज से इस रूप में परिचित नहीं होते हैं और भिखमंगों के रूप में नहीं आये होते हैं। अधिकांश संक्रामक रोगी वे हैं जो भिखमंगे नहीं बने होते हैं तथा इस रूप में परिचित नहीं हैं और समाज में मुक्त रूप में मिलते-जुलते रहते हैं। रोगी के भिखमंगा बनने का मतलब है स्वाभाविक रूप से बिलकुल अलग कट जाना। अतः सभी भिखमंगे कुष्ठ रोगियों को अलग करने से भी संक्रमण के वास्तविक स्रोत का निराकरण नहीं हो सकेगा।

चित्र 32.4—कुष्ठ के कारण हाथ की विरूपता

कुष्ठ का प्रसार :

कुष्ठ वायु या जल के द्वारा 'नहीं' फैलता है। यह आनुवंशिक या पैतृक रोग भी 'नहीं' है। यदि रोगी मां-बाप से बच्चे को अलग कर दिया जाय तो उसमें रोग विकसित नहीं होगा। कुष्ठ सिफिलिस या सुजाक के कारण 'नहीं' होता है जैसा कि आम लोगों की धारणा होती है। कुष्ठ रोग तभी संचारित होता है जब कोई व्यक्ति रोगी व्यक्ति के घनिष्ठ संपर्क में काफी लंबे समय तक रहता है। यह संपर्क त्वचा से त्वचा अथवा संक्रामक रोगी के इस्तेमाल किए हुए कपड़ों और बर्तनों के माध्यम से होता है। आकस्मिक संपर्क रोग उत्पन्न करने के लिए काफी नहीं होता है। घनिष्ठ और बार-बार होने वाले संपर्क से ही रोग का संचारण संभव होता है। प्रौढ़ों की अपेक्षा बच्चे अधिक सुग्राही होते हैं। किसी रोगी के संपर्क में आने के करीब 2 से 5 साल बाद ही रोग विकसित हो पाता है। किसी-किसी में तो यह समय और भी अधिक लंबा होता है।

क्योंकि 90 प्रतिशत से अधिक कुष्ठ रोगी भिखारी नहीं बनते और वे समाज में ही रहते हैं। अतः इनमें जो आरंभिक लक्षणों वाले रोगी हैं उनका पता नहीं चलता। इस तरह सैकड़ों सार्वजनिक स्थानों में हरएक व्यक्ति अनजाने में रोज ही ऐसे व्यक्तियों के संपर्क में आता है। इस प्रकार परिवार में भले ही कोई कुष्ठ रोग से पीड़ित न हो तब भी उसमें कुष्ठ रोग हो सकता है। यह धारणा निर्मूल है कि समाज में रोगी भिखारी इस रोग को फैलाते हैं। कोई भी व्यक्ति उन्हीं व्यक्तियों के घनिष्ठ और लंबे संपर्क में आता है जोकि भिखारी नहीं बने होते हैं। और भिखारियों के ऐसे संपर्क में शायद ही कोई व्यक्ति आए। भिखारियों द्वारा हाथ में रखे गए पैसे या नोटों से औरों में संक्रमण नहीं होता। जिस रोगी में विरूपता और लक्षण प्रकट नहीं होते वह रोग

फैलाने में बहुत खतरनाक साबित होता है क्योंकि उसे पहचानकर उससे अलग बचा नहीं जा सकता।

कुष्ठ से रक्षा :

भारत में करीब 20 लाख कुष्ठ रोगी हैं, जिनमें करीब चार लाख संक्रामक हैं। सभी संक्रामक रोगियों के लिए कॉलनियां बनाना बहुत ही खर्चीला काम है इसलिए यह संभव नहीं है। आज केवल 20,000 रोगियों के आवास के लिए ही कॉलनियां उपलब्ध हैं। इनमें वृद्धि करके सभी चार लाख संक्रामक रोगियों को आवास प्रदान करना बड़ी असंभव बात है। माना कि यदि किसी न किसी तरह उनके आवास का प्रबंध भी कर लिया जाये और उनके पृथक्करण के नियम भी बना लिए जायें तो भी उन आरंभिक लक्षणों वाले लाखों संक्रामक रोगियों का क्या होगा जोकि पहचान में नहीं आते। अतः समाज से सभी संक्रामक रोगियों का निष्कासन असंभव होता है। इसलिए यह ज्ञात करना जरूरी है कि संक्रमण रोकने के लिए अन्य क्या उपाय किए जायें?

रोगियों की संक्रामकता को रोकने और उन्हें ठीक करने के लिए अब एक बहुत सक्षम औषधि उपलब्ध है। यदि उचित चिकित्सा पर्याप्त समय तक की जाये तो सभी रोगियों को ठीक किया जा सकता है। यदि सारे 20 लाख रोगियों की चिकित्सा शुरू कर दी जाये तो आरंभिक लक्षणों वाले रोगियों में विरूपता की अवस्था के पहले ही उन्हें ठीक कर लिया जाएगा और लोक स्वास्थ्य की दृष्टि से इस तरह संक्रामक रोगी धीरे-धीरे असंक्रामक और हानिरहित हो जाते हैं। यह औषधि सस्ती भी है और टिकिया के रूप में होती है। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि इतना कुछ होने पर भी केवल 15 प्रतिशत रोगी ही चिकित्सारत हैं। शेष 85 प्रतिशत बिना इलाज के चल रहे हैं क्योंकि या तो उन्हें कुष्ठ रोग के ठीक होने की दृष्टि से जानकारी नहीं होती, या उन्हें समाज से निष्कासित होने का भय रहता है या उन्हें यह पता ही नहीं होता कि वे कुष्ठ रोग से पीड़ित हैं। यदि चारों ओर चिकित्सा न कराने वाले और अज्ञात प्रकार के संक्रामक कुष्ठ रोगी रहेंगे तो व्यक्ति रोग से सुरक्षित कैसे रह सकता है। इसलिए यह हरएक के हक में अच्छा रहेगा यदि कुष्ठ रोग के ऊपर वर्णित तथ्यों की जानकारी रहे और समुदाय के सभी रोगियों का तुरंत उपचार किया जाये। कुष्ठ भी अन्य रोगों की तरह एक रोग है इसलिए हर कायचिकित्सक जानता है कि कुष्ठ का निदान और उपचार कैसे किया जाये। यदि किसी व्यक्ति में कुष्ठ के आरंभिक लक्षण प्रकट हो जाते हैं और वह अपने परिवार के डाक्टर की सलाह लेता है तो उसे आश्वस्त रहना चाहिए कि डाक्टर उसे कभी कुष्ठ निदानशाला या क्लीनिक में नहीं भेजेगा, जहां जाने से वह कतराता है।

कुष्ठ रोग से सुरक्षा के लिए नीचे तीन बातें दी जा रही हैं, जिनका पालन समुदाय के हर व्यक्ति को करना चाहिए :

1. परिवार के सभी सदस्यों समेत हर व्यक्ति को परिवार के चिकित्सक द्वारा साल में एक बार जांच करवा लेनी चाहिए और यदि कुष्ठ के लक्षण नजर आते हैं तो तदनुसार उपचार करा लेना चाहिए। यदि संक्रामक प्रकार की स्थिति है तो रोगी को घर में ही पृथक् स्थल पर रखने की व्यवस्था कर देनी चाहिए।

2. यदि सालाना होने वाली दो जांचों में संदेहास्पद लक्षण प्रकट होते हैं तो परिवार के चिकित्सक की सलाह लेनी चाहिए।

3. कुष्ठ से संबंधित जानकारी जहां तक हो सके अधिक से अधिक व्यक्तियों तक फैला देनी चाहिए जिससे उनके अज्ञान को दूर किया जा सके और उनके द्वारा वक्त पर की जाने वाली चिकित्सा से औरों को भी संक्रमण से बचाया जा सके। ● ● ●

33

—डा० वी० एन० भावे
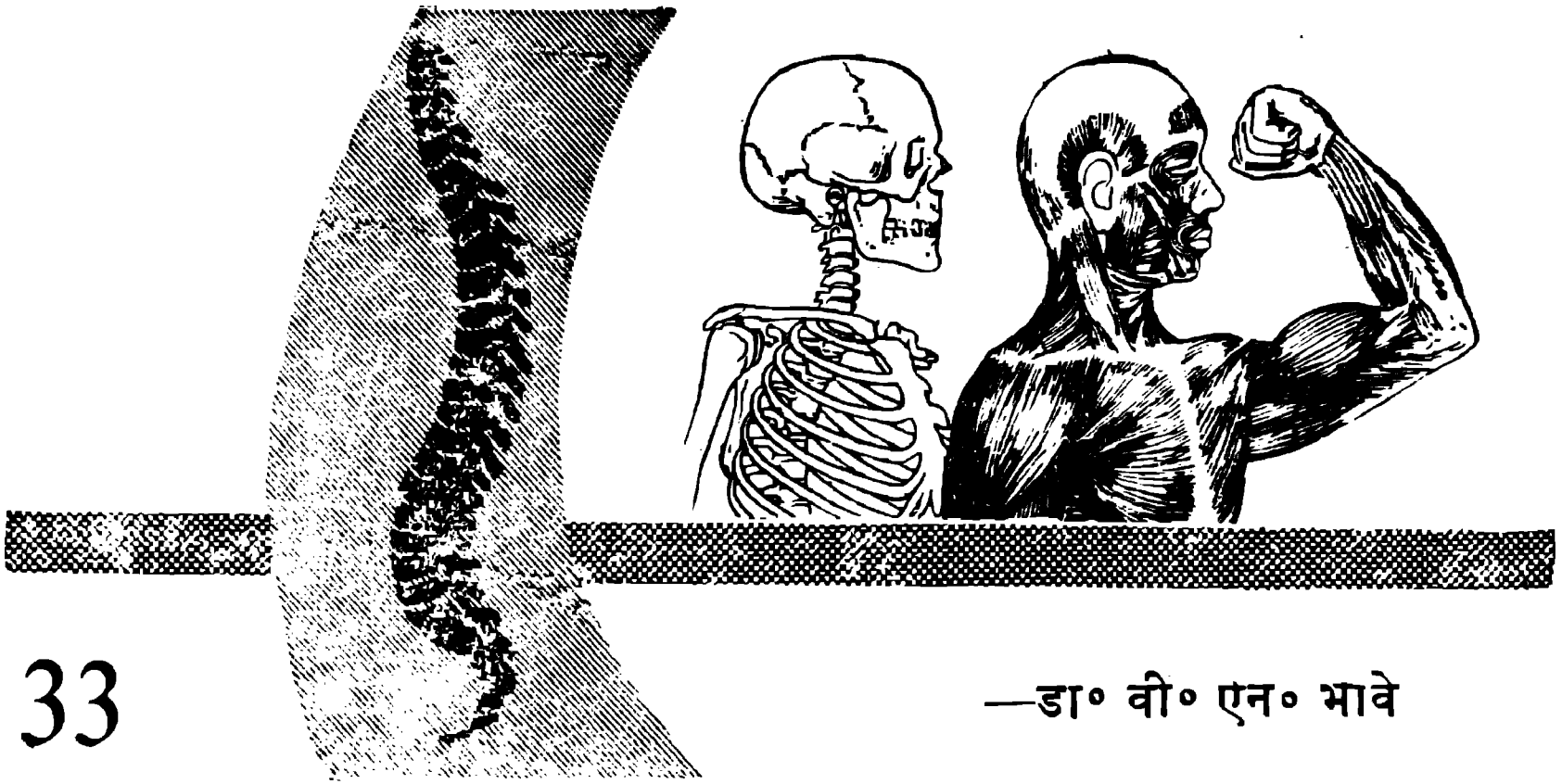
अस्थियां, संधियां और पेशियां

शरीर में अस्थियां (हड्डियां), संधियां (जोड़) और पेशियां प्रमुख रूप से गति से संबद्ध होती हैं। इनके समन्वय से इतनी अबाध और सुचारु गति होती है कि कोई भी मानवनिर्मित युक्ति इसका मुकाबला नहीं कर सकती।

हड्डियां

मानव शरीर का अस्थि कंकाल (चित्र 4.51) भी इंजीनियरी नमूने की एक उत्कृष्ट कलाकृति है, जिसमें विभिन्न भाग भिन्न-भिन्न प्रकार के निश्चित कार्य करने के लिए सुव्यवस्थित रूप में रहते हैं। हड्डियां ही शरीर का ढांचा बनाती हैं और अंदर के नाजुक भागों की रक्षा करती हैं। मस्तिष्क करोटि या खोपड़ी द्वारा और हृदय व फेफड़े छाती की हड्डियों द्वारा सुरक्षित रहते हैं। संरचना की दृष्टि से हड्डियां लोहे की तरह ही मजबूत होती हैं लेकिन गजब की बात यह है कि वज़न में वे लोहे से कई गुना हल्की होती हैं। शरीर की गति के दौरान हड्डियां पेशियों के उत्तोलकों (लीवर) का कार्य करती हैं।

मानव शरीर में 213 हड्डियां होती हैं अर्थात् 22 खोपड़ी की हड्डियां, 6 कान की छोटी हड्डियां, 1 गर्दन की हड्डी, 33 कशेरुक, 1 छाती की हड्डी, 24 पसलियां, 64 ऊर्ध्व पादों की हड्डियां और 62 अध:पादों की हड्डियां। अधिक हड्डियों के कारण ही शरीर की गति संभव हो पाती है अन्यथा शरीर एक कड़ी निश्चल संरचना के रूप में अक्रिय ही रहता।

हड्डियों की संरचना : हड्डियां निष्क्रिय अथवा अजीवित संरचनाएं नहीं हैं बल्कि शरीर के सजीव व चेतन अंग हैं। हड्डी सक्रिय कोशिकाओं की बनी होती हैं जिनके गुणन या विभाजन करने से पुराने पदार्थ में नये अतिरिक्त अस्थि पदार्थ के मिलते जाने से हड्डी वृद्धि करती जाती है। जब कोई हड्डी टूटती है तो उसका टूटा हुआ प्रत्येक सिरा दूसरे से जुड़ने के लिए वृद्धि करना आरंभ कर देता है और नया भाग कैल्सियम लवणों से इतना अधिक सराबोर हो जाता है कि कड़ी व मजबूत नयी हड्डी बन जाती है। हड्डियां एक पतली झिल्ली से

* * * *

डा. वी. एन. भावे, एम. बी., बी. एस.; जनरल मेडिकल, प्रैक्टिशनर पूना; विज्ञान की अनेक स्कूली पाठ्य पुस्तकों के लेखक, सदस्य, संपादक मंडल, 'हम और हमारा स्वास्थ्य'।

ढकी होती हैं जो उनकी सतह पर घनिष्ठ रूप से जुड़ी रहती है (चित्र 32.2)। इसे पर्यस्थिकला (पेरीऑस्टियम—पेरी=चारों ओर, ऑस=हड्डी) कहते हैं। इससे होकर रक्त वाहिकाएं गुजरती हैं जो हड्डी के अंदर जाकर उसे पोषण प्रदान करती हैं। हड्डी की वृद्धि में पर्यस्थिकला का महत्वपूर्ण योगदान होता है। यदि किसी लंबी हड्डी को, जैसे कि जांघ की हड्डी को, लंबाईवार काटा जाये तो पता चलता है कि हड्डियों के सिरे सरंध्र अथवा स्पंज-जैसे लेकिन कांड या बीच वाला भाग ठोस और कड़ा होता है (चित्र 32.2)। स्पंज-जैसी हड्डी में लाल मज्जा होती है जो लाल तथा श्वेत रक्त कोशिकाओं का निर्माण करती है। लाखों पुरानी लाल रक्त कोशिकाएं हर मिनट नष्ट होती रहती हैं और उनका स्थान लेने के लिए नई स्वस्थ कोशिकाएं बनती रहती हैं। लंबी हड्डी के कांड की गुहा में पीली मज्जा भरी रहती है, जिसमें कुछ लाल व श्वेत रक्त कोशिकाओं के अतिरिक्त वसा भी होती है जो जरूरत के समय अतिरिक्त भोजन के काम आती है।

हड्डियां अस्थि कोशिकाओं से मिलकर बनी होती हैं। ये कोशिकाएं रक्त वाहिकाओं वाली छोटी-छोटी नलिकाओं के चारों ओर वृत्तों या गोल घेरों में विन्यस्त होती हैं। प्रत्येक अस्थि कोशिका कैल्सियम के लवणों की सघन परतों से घिरी होती है। ये परतें छोटी-छोटी रक्त वाहिकाओं द्वारा छिद्रित होती हैं क्योंकि अंदर पहुंचकर वे अस्थि-कोशिकाओं का पोषण करती हैं। कैल्सियम कार्बोनेट और फोस्फेटों के कारण ही हड्डियां इतनी कड़ी होती हैं। बच्चों में हड्डियां बहुत कड़ी नहीं होती हैं क्योंकि उनमें कैल्सियम लवणों की मात्रा अपेक्षतया कम अनुपात में होती है। लवणों के अतिरिक्त हड्डियों में गोंद अथवा वह प्राणि पदार्थ होता है जो लवणों को चिपकाए रखता है और साथ ही उन्हें कड़ा व लचकीला भी बनाए रखता है। वृद्ध व्यक्तियों में हड्डियां हल्की व भुरभुरी या भंजनशील हो जाती हैं क्योंकि हड्डियों में यह प्राणि पदार्थ कम होता जाता है और लवण अधिक अनुपात में होते हैं। इसीलिए वृद्धों में हल्के झटके से ही हड्डी टूट जाती है।

हड्डियों की देखभाल : छोटे बच्चों की हड्डियां मुलायम और लचीली होती हैं इसलिए इनकी देखभाल अच्छी तरह से होनी चाहिए कि उनमें विरूपता न आ जाये (चित्र 33.3)। हड्डी के
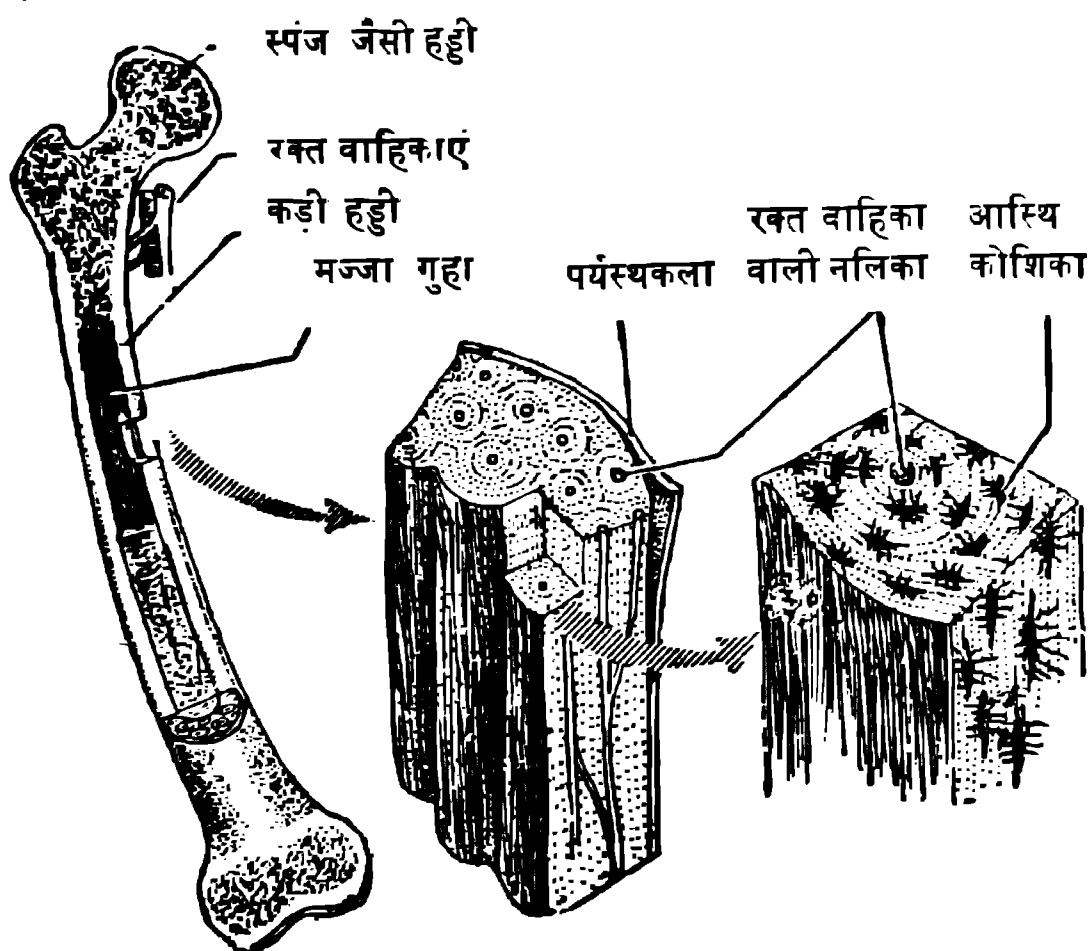
चित्र 33.2—हड्डी की संरचना

बाईं ओर वाले चित्र में जांघ की हड्डी की खड़ी काट दी गई है जिसमें आंतरिक रचना दिखलाई गई है। बाकी दो चित्रों में इसके भागों को बड़ा करके विस्तृत और सूक्ष्मदर्शीय संरचना दिखलाई गई है।
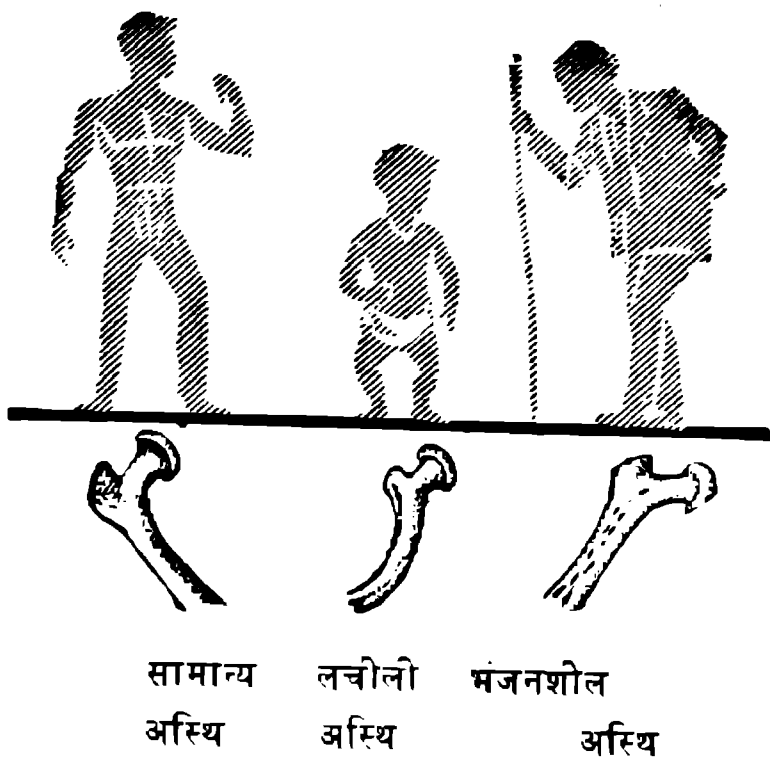
चित्र 33.3—अस्थि संगठन के परिवर्तन

निर्माण के लिए कैल्सियम और फासफोरस अनिवार्य हैं और इनके लवणों के समुचित उपयोग के लिए विटामिन डी. जरूरी है। इसलिए आहार में विशेषकर छोटे बच्चों के आहार में, दूध, अन्डे, मसूर, हरी सब्जियों सरीखे खाद्य पदार्थों को सम्मिलित करना चाहिए। संस्थिति संबंधी गलत आदतों से प्राय: थकान जल्दी आ जाती है और दक्षता भी कम हो जाती है। इससे संस्थिति वाली कई अपसामान्यताओं का श्रीगणेश हो सकता है, और अंततः जिसका परिणाम होता है संरचनात्मक दोष और कुस्वास्थ्य। इसलिए बच्चों को ठीक बैठना और खड़ा होना सिखाया जाना चाहिए। काम न करने वाले सुस्त आदमियों की हड्डियां कभी मजबूत नहीं हो सकतीं इसलिए हर व्यक्ति को चुस्त रहकर काम करते रहना चाहिए। कसरत के दौरान पेशियां हड्डियों को खींचती हैं और उन्हें मजबूत बनाती हैं। वृद्धावस्था में हड्डियां भंजनशील हो जाती हैं और हल्के झटके से ही इनके टूटने का डर रहता है। इसलिए ऐसे कार्यों को करने में सावधानी बरतनी चाहिए जिनमें गिरने या फिसलने का खतरा रहता है और इनसे जहां तक हो सके बच के ही रहना चाहिए।

जोड़ या संधियां :

हड्डियां शरीर का ढांचा बनाती हैं और जोड़ इनको गति के योग्य बनाते हैं। दो या दो से अधिक हड्डियों के परस्पर मिलने या जुड़ने को ही संधि कहते हैं। खोपड़ी की हड्डियों की संधियों को छोड़कर बाकी सभी संधियां गतिशील होती हैं। संधि पर हड्डियों को एक साथ जोड़े रखने का कार्य मजबूत श्वेत तन्तुओं के समूहों द्वारा संपन्न होता है, जिन्हें स्नायु (लिगामेन्ट) कहते हैं। चल संधि (चित्र 33.4) में हड्डियों के सिरे एक पतली उपास्थि (कार्टिलेज) द्वारा ढके रहते हैं ताकि सतहें चिकनी हो सकें। प्रत्येक दो कशेरुकों (वर्टिब्रा) के बीच के उपास्थित-खंड धक्कों को झेलने वाली रचनाओं का कार्य करते हैं। संधि को ढके रहने वाली झिल्ली चिकने स्नेहक तरल का स्रवण करती है जिसे श्लेषक तरल (सिनोवियल फ्लूइड) कहते हैं और जिसके कारण जोड़ पर गति बहुत आसान हो जाती है।

शरीर में कई किस्म की संधियां होती हैं (चित्र 33.5) और इनके द्वारा विभिन्न प्रकार से गति होती है। कुछ संधियों में, जैसे कि कशेरुकों के बीच की संधियों में केवल एक सीमित प्रकार की गति संभव है लेकिन अधिकांश संधियों में हड्डियां काफी अधिक सीमा तक गति कर सकती हैं, कंधे

चित्र 33.4—संधि की संरचना
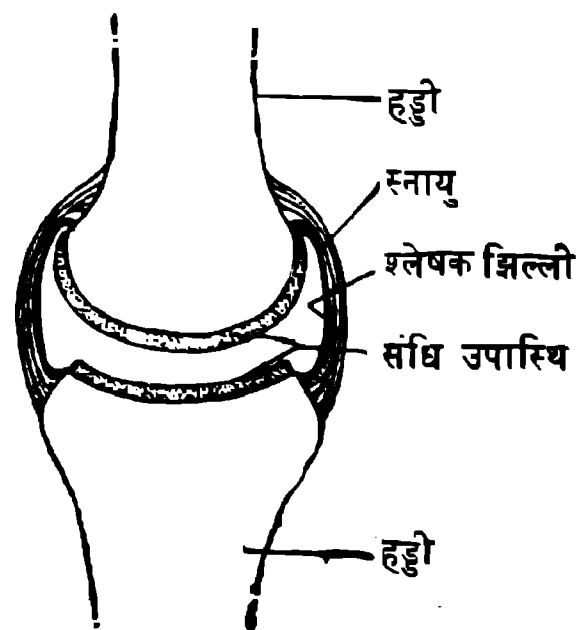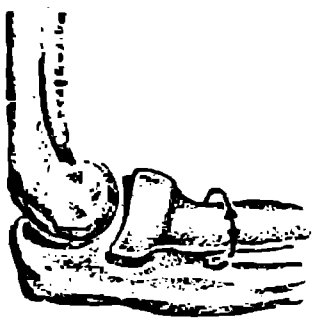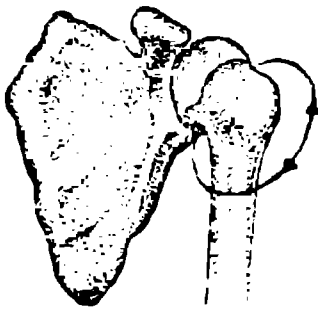
घुराग (पीवट) संधि उलूखल (बॉल और सॉकेट) संधि
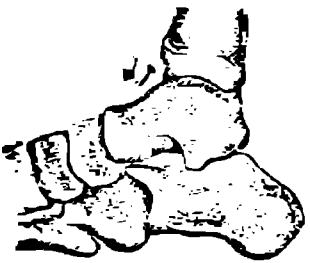
संसर्पी (ग्लाइडिंग) संधि कोर (हिंज) संधि

चित्र 35.5—संधियों के प्रकार

और कूल्हे वाली संधियां सभी दिशाओं में घूम सकती हैं; अंगुलियों के बीच वाली तथा कोहनी व घुटने वाली संधियां केवल आगे और पीछे की दिशा में गति कर सकती हैं; और कलाई तथा गुल्फ या एड़ी की संधियां—केवल संसर्पी गति कर सकती हैं। बहि: प्रकोष्ठिका (रेडियस) और अंत:प्रकोष्ठिका (अलना) के बीच की संधियां केवल घूर्णन ही कर सकती हैं।

देखने पर पता चलता है कि ऊर्ध्व और अध: पादों में कई संधियां होती हैं, जिससे शरीर हर तरह की गति कर सकता है। अंगुलियों में आपस में होने वाली दक्षिणवर्त गति और विशेष रूप से अंगूठे की अन्य अंगुलियों के प्रति सन्निकटन गति करना मानव की प्ररूपी विशेषता है।

संधियों की देखभाल : किसी संधि पर सामान्य सीमा से बाहर जबर्दस्ती गति करना हमेशा हानिकारक होता है। आकस्मिक मरोड़ वाली गति के कारण प्राय: गुल्फ संधि में मोच आ जाती है और इन हड्डियों को पकड़े रहने वाले स्नायु टूट सकते हैं (चित्र 34.4)। मोच में इस प्रकार की क्षतिग्रस्त संधि को पूरा आराम देना जरूरी है। इसमें मालिश करना या मलना खतरनाक होता है।

पेशियां :

हड्डियां शरीर का ढांचा बनाती हैं और इनके बीच विभिन्न संधियों की सहायता से ही विविध प्रकार से गति हो पाती है। लेकिन वस्तुत: वह क्या चीज है जिसके कारण गति संभव हो पाती है? हड्डियों को ढकने वाले कुछ मांसल भाग होते हैं जिन्हें पेशियां कहते हैं (चित्र 4.52), और इन्हीं से गति को संचालित करने वाली शक्ति प्राप्त होती है। सभी जीवधारियों के लिए चलन एक बड़ी आवश्यकता है। उन्हें भोजन प्राप्त करना होता है, उसे मुंह तक ले जाना होता है, उसे चबाना होता है। जीवन यापन के लिए अन्य विविध प्रकार की गतियां करनी होती हैं। वे पेशियां जो इच्छानुसार गति करती हैं ऐच्छिक (वॉलन्टरी) पेशियां कहलाती हैं।

लेकिन कुछ गतियां अनैच्छिक होती हैं। हृदय की पेशियां रक्त को पंप करती हैं और प्रश्वसन के समय मध्यपट (डायफ्राम) संकुचन से वक्ष की गुहा को फैला देता है। इस दुनिया में शिशु का आना भी गर्भ की पेशियों के संकुचन से ही संभव हो पाता है। इस प्रकार वे पेशियां जो इच्छानुसार नियंत्रित नहीं की जा सकतीं अनैच्छिक (इनवॉलन्टरी) पेशियां कहलाती हैं।

शरीर का वजन आधे से अधिक तो पेशियों के ही कारण होता है। यदि एक सामान्य पेशी का, जैसे अग्र बाहु की द्विशिरस्का (बाइसेप्स) पेशी का, अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होता है कि उसमें काय या पेशी-पिंड नामक बीच वाला मोटा
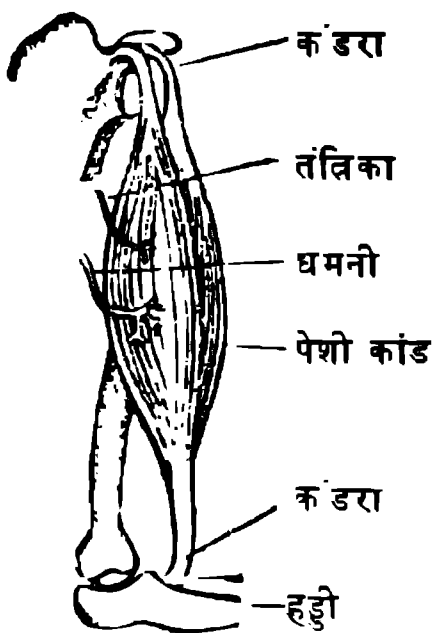
चित्र 33.6—पेशी। एक धमनी और एक तंत्रिका द्वारा इसका संभरण होता है।

भाग होता है जो प्रत्येक सिरे पर कंडरा (टन्डन) नामक तंतुमय रज्जुओं के रूप में धीरे-धीरे बारीक होता जाता है (चित्र 33.6)। पेशियों की कंडराएं हड्डियों में स्थित होती हैं और जिनके बीच संधि होती है। पेशी में लंबे तंतुओं का समूह होता है, जिसमें छोटा होने अथवा संकुचन की क्षमता होती है। जब कोई पेशी संकुचित होती है तो उन हड्डियों को खींचती है जिनसे कि वह जुड़ी होती है और इस तरह इस प्रक्रिया से गति संपन्न होती है। पेशी को पोषण धमनी के द्वारा प्राप्त होता है। पेशी, भोजन की रासायनिक ऊर्जा को कार्य के रूप में यांत्रिक ऊर्जा में परिवर्तित कर देती है। पेशी स्वयं ही संकुचन नहीं करती। यह तंत्रिका के द्वारा मस्तिष्क से जुड़ी रहती है और जब कभी संकुचन की जरूरत होती है तो मस्तिष्क प्रेरक (मोटर) तंत्रिका के माध्यम से पेशी को संकुचन का आदेश भेज देता है।

जब द्विशिरस्का पेशी संकुचन करती है तो वह बहिःप्रकोष्ठिका (रेडियस) के ऊपरी सिरे को खींचती है, जिससे कि वह जुड़ी रहती है, और इस तरह अग्रबाहु बाहु की दिशा में उठा दी जाती है (चित्र 33.7)। क्रियाओं के प्रत्येक सेट के लिए पेशियों के विरोधी समूह होते हैं। बाहु की पिछली ओर त्रिशिरस्का (ट्राइसेप्स) पेशी होती है, जो द्विशिरस्का के संकुचन पर शिथिल या लंबी हो जाती है। जब अग्रबाहु को सीधा किया जाना होता है तो त्रिशिरस्का छोटी होकर अंतःप्रकोष्ठिका (अलना) के ऊपरी सिरे को खींचती है और द्विशिरस्का शिथिल होकर ऐसी गति होने देती है। इस प्रकार विरोधी पेशियों को एक दूसरे से समन्वय रखते हुए कार्य करना होता है।

अनैच्छिक पेशियां, जैसे कि हृदय, रक्त वाहिकाओं, पाचन-पथ और मध्यपट (डायाफ़ाम) की पेशियां, संबद्ध आवश्यक कार्य को मस्तिष्क और स्वसंचालित तंत्रिका तंत्र के निर्देशन में करती हैं।

पेशियों की देखभाल : अच्छे स्वास्थ्य के लिए पेशियों को मजबूत होने के साथ उचित तान का और कार्य करने में सक्षम होना चाहिए। इसलिए

चित्र 33.7—द्विशिरस्का पेशी की क्रिया
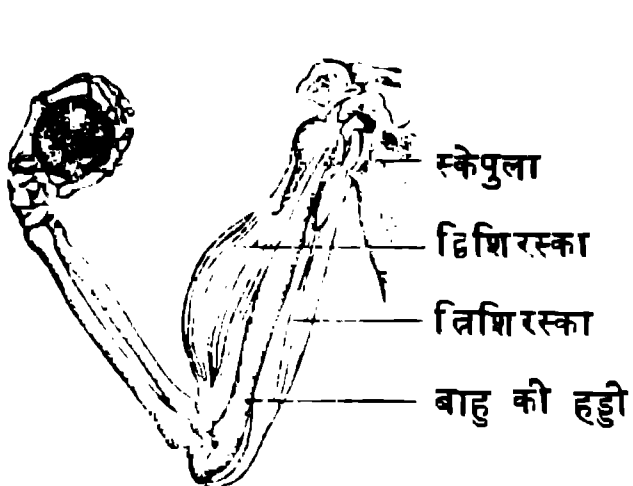
संकुचित द्विशिरस्का
शिथिल त्रिशिरस्का
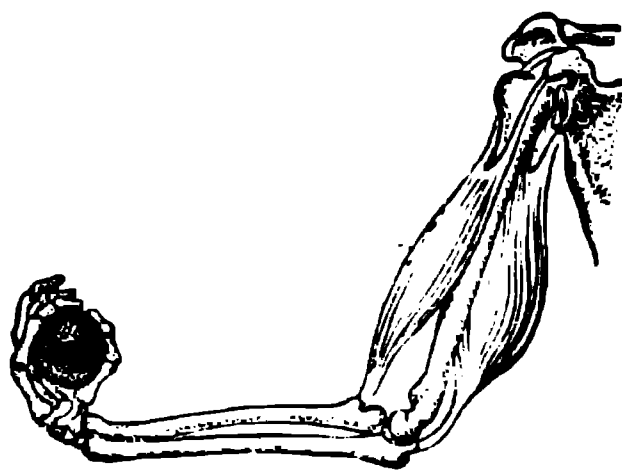
शिथिल द्विशिरस्का
संकुचित त्रिशिरस्का

पेशी निर्माण व मरम्मत के लिए आहार में प्रोटीन और पेशीय ऊर्जा के लिए कार्बोहाइड्रेट सम्मिलित किए जाने चाहिए। नियमित रूप से किया जाने वाला व्यायाम पेशियोंको व्यवस्थित रखकर मज-बूत बनाता है। व्यायाम के दौरान हृदय तेजी से धड़कता है और श्वास गहरी व तीव्र हो जाती है जिससे सभी ऊतकों में आक्सीजन और भोजन की सुचारू रूप से आपूर्ति हो जाती है। व्यायाम से दिमाग भी चुस्त रहता है और उत्साह की अनुभूति रहती है। मजबूत पेशियां और हड्डियां शरीर को आकर्षक संस्थिति में रखती हैं। साथ ही इससे बैठने, खड़े रहने और चलने की आकर्षक शैली और चुस्ती वाली अच्छी आदतें बन जाती हैं। व्यक्ति के शरीर की संस्थिति सचमुच उसके जीवन की गरिमामय उपलब्धि है।

यद्यपि कार्य और व्यायाम पेशियों के परिवर्धन के लिए उत्तम होते हैं लेकिन कार्य के अधिक बोझ से थकान हो जाती है। शरीर के अन्य अंगों की तरह पेशियों को भी आराम की जरूरत होती है। पेशियों को दक्ष बनाये रखने के लिए अधिक कार्य करने के बाद प्रतिदिन शिथिलन या विश्राम और 6-8 घन्टे की नींद बहुत ज़रूरी है।

• • •

34

—डा० एम० एन० शहाणी
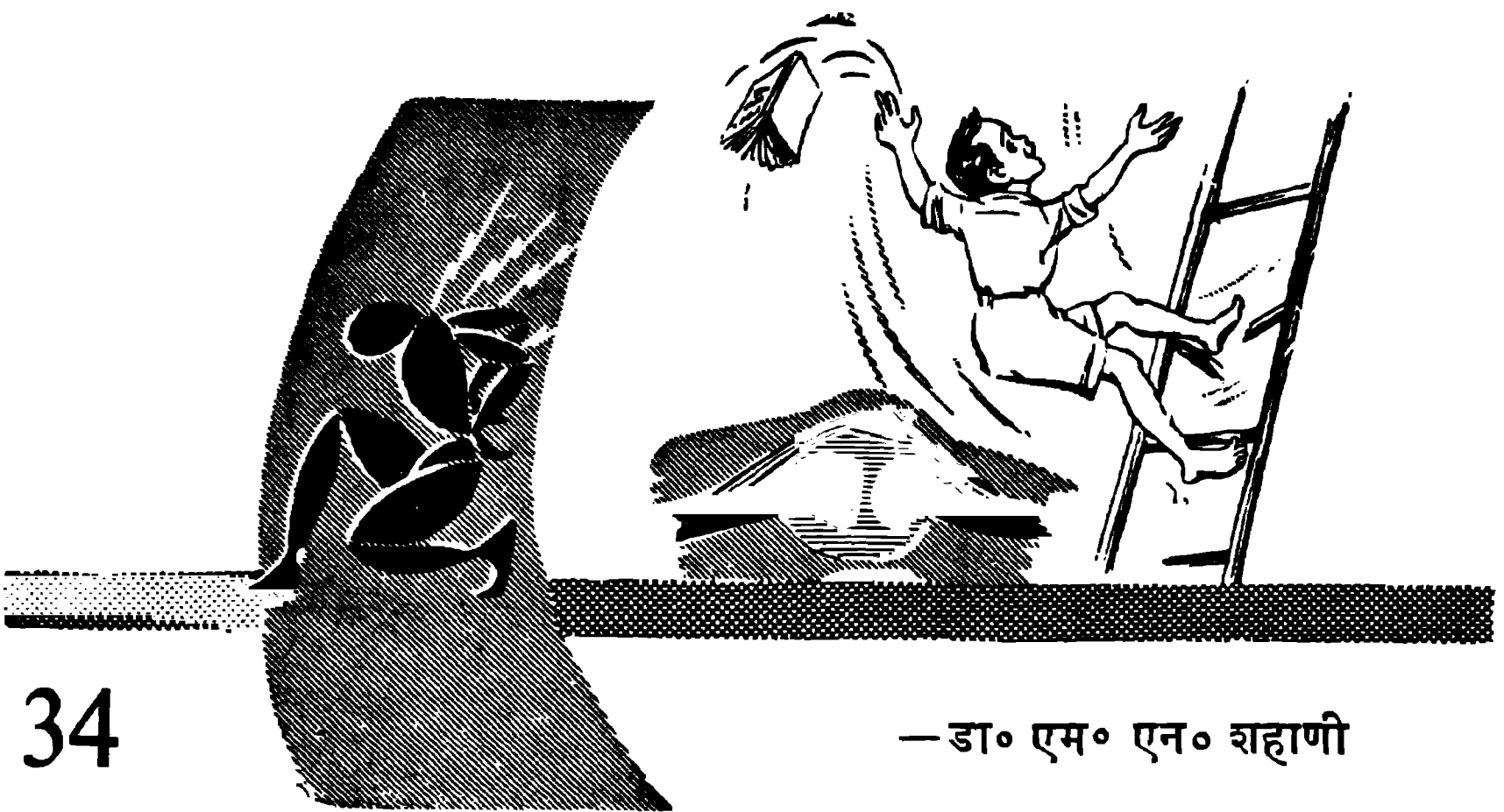
अस्थियों, संधियों औरपेशियों के सामान्य रोग

भारत में हड्डियों और संधियों (जोड़ों) के विकार के कारण होने वाली अस्वस्थता और अशक्तता की दर काफी चौंकाने वाली है। लेकिन इनमें से कई विकारों से तो बचा जा सकता है। बचपन में जन्मजात विरूपताएं, कमी के रोग और तीव्र संक्रमण आमतौर पर पाए जाते हैं; परेशानियों और तनाव के विकार, चिरकारी संक्रमण और सामान्य दैहिक रोग प्रायः प्रौढ़ावस्था में; और व्यपजनन व्याधियां वृद्धावस्था के रोग हैं।

छोटे बच्चों के रोग :

1. मुद्गरपाद अथवा उन्नत-अंतर्गत टेलिपेस (क्लबफुट अथवा टेलिपेस इक्वीवोवेरस) : यह सबसे सामान्य विरूपता (चित्र 34.2) है जो बच्चों के जन्म के समय देखी जाती है। अधिकांशतया इसका सामान्य कारण होता है गर्भ का गर्भाशय में गलत स्थिति में रहना। एक या दोनों पांव दोषपूर्ण हो सकते हैं। इस विरूपता में पांव की एड़ी और तलवा अंदर और ऊपर की ओर मुड़े होते हैं, और इसे यदि सुधारा नहीं गया तो बच्चा पैर की बाहरी तरफ से चलना शुरू कर देता है। ऐसे पैर को अच्छी तरह सुधारने का एक ही उपाय है कि उपचार जन्म के बाद जल्दी से जल्दी शुरू कर दिया जाय जबकि पैर लचीले और पेशियां मुलायम तथा हड्डियां विरूपित नहीं होतीं। आरंभिक अवस्था में यह उपचार विरूपता के हस्तोपचार व सुधार तथा कुछ दिनों तक पेरिस प्लास्टर सरीखे उपयुक्त स्प्लिन्ट लगाने जैसी विधि से किया जा सकता है। बड़े बच्चों में शल्य क्रिया आवश्यक होती है।

2. रिकेट्स : पश्चिमी देशों में रिकेट्स रोग उन्नत आहार के कारण बहुत कम हो गया है। लेकिन हमारे देश में यह कई बच्चों में अभी भी देखा जाता है। यह रोग विटामिन डी की कमी से होता है और बच्चे के दूध छुड़ाए जाने पर आमतौर पर यह छः महीने की उम्र से दो साल की उम्र तक देखा जाता है। इसमें आंतों से कैल्सियम का

* * * *

डा. एम. एन शहाणी, एम. एस. (ऑर्थो.), प्रवै. सहा. विकलांग सर्जन, जी. एस. मेडिकल कालेज एवं के. ई. एम. अस्पताल, बंबई।

चित्र 34.2—मुद्‌गरपाद

चित्र 34.3—धनुर्जंघा और संघट्ट जानु

कम अवशोषण हो पाता है और इसके फलस्वरूप हड्डियों में भी इसका जमाव नहीं हो पाता है, विशेषकर वृद्धि करने वाले सिरों में। इसका परिणाम होता है हड्डियों का मुलायम हो जाना और साथ ही उनकी वृद्धि और परिवर्धन में कमी।

पहले लक्षण हैं बैचेनी और क्षोभ। पेशियां ढीली थलथली और पेट निकला हुआ होता है। हड्डियों के सिरे मोटे हो जाते हैं और कलाई के ठीक ऊपर प्रकोष्ठ (fore arm) की हड्डियों में यह सुस्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। सबसे सामान्य विरूपताएं हैं 'संघट्ट जानु' (knock knees) यानी टकराते घुटने और 'धनुर्जंघा' (cow legs चित्र 34.3) यानी धनुष की आकृति की टांगें। खोपड़ी, मेरुदंड और श्रोणि की हड्डियों की विरूपता भी हो सकती है। स्त्रियों की श्रोणि विरूपता बाद में प्रसव के समय अवरोध उत्पन्न कर सकती है। इसके उपचार में इंजेक्शन द्वारा विटामिन डी की काफी मात्रा दी जाती है। अध: पादों की उग्र विरूपता में शल्य क्रिया द्वारा ही सुधार किया जा सकता है।

रिकेट्स से बचाव के लिए छोटे बच्चों को विटामिन डी बहुल आहार दिया जाना चाहिए अथवा कॉड यकृत् के तेल (कॉड लिवर ऑयल), संश्लेषी विटामिन डी सरीखे विटामिन संपूरकों का प्रयोग और धूप का सेवन करना चाहिए।

3. **स्कर्वी :** स्कर्वी विटामिन सी की कमी से होती है। प्राय: यह शिशु आहार के अति विसंक्रमीकरण के कारण हो जाती है, जिससे विटामिन सी नष्ट हो जाता है। इस रोग में मसूढ़ों से खून निकलने और त्वचा के नीचे रक्तस्राव सरीखे लक्षणों के अतिरिक्त एक दूसरा सुप्रकट लक्षण है पर्यस्थिकला (periosteum) के नीचे रक्तस्राव के कारण लंबी हड्डियों के सिरों की सूजन। टांगें कुछ सूजी हुई होती हैं और छूने पर दर्द करती हैं। ये ऐसी निश्चल हो जाती हैं मानो इन्हें लकवा मार गया हो। मसूढ़ों से खून निकल सकता है और पेशाब व विष्ठा में भी खून आ सकता है। उग्र रूप में कमी होने पर इसका उपचार विटामिन सी की अधिक मात्रा से किया जा सकता है। आरंभिक अवस्था में शिशुओं को संतरे का रस देकर कमी से बचाया जा सकता है।

स्कर्वी से बचने के लिए आहार में विटामिन सी बहुल पदार्थ दिए जाने चाहिए, जैसे कि संतरे व नींबू सरीखे निंबु फल, आंवला, अमरूद, ताजी सब्जियां आदि। अत: बच्चों को आंवला, कच्चे आम सरीखे खट्टे फल खाने से नहीं टोकना चाहिए क्योंकि इनमें विटामिन सी बहुत अधिक मात्रा में होता है।

4. तीव्र अस्थिमज्जाशोथ (Osteomyelitis) : यद्यपि प्रतिजीवी औषधियों की खोज के कारण हड्डियों का संक्रमण बहुत कम हो गया था तो भी इन प्रतिजीवियों के प्रति प्रतिरोधी जीवाणुओं के विकसित हो जाने से यह फिर अधिक होने लगा है।

हड्डी का संक्रमण तीव्र रूप में सामान्यतया बच्चों में देखा जाता है और यदि इसे आरंभिक अवस्था में न रोका गया तो यह चिरकारी रूप में चलता रहेगा। प्राय: हड्डी के सिरे प्रभावित होते हैं और प्रभावित होने वाले सबसे सामान्य स्थल हैं घुटने वाली संधि के ठीक नीचे और ठीक ऊपर वाले स्थल। इससे शिशु को अधिक ज्वर भी हो जाता है। प्राय: संधि के निकट संक्रमण वाले स्थल पर उग्र पीड़ा, मृदुता और सूजन होती है। गति करने में भी दर्द होता है और बच्चा बाहु को हिलाना बिल्कुल बंद कर देता है।

यदि इसका आभास काफी पहले हो जाता है तो प्राय: 24 घंटे के अंदर ही प्रतिजीवी औषधि की अधिक मात्रा से फायदा पहुंच जाता है। लेकिन यदि शिशु में सुधार के कोई लक्षण नहीं नजर आते तो आपात् स्थिति में हड्डी के विनाश को बचाने के लिए हड्डी की विद्रधि वाले पदार्थ को बगैर समय बरबाद करे उलीच लेना चाहिए। अत: ऐसे में तुरंत ही सर्जन की सलाह लेनी चाहिए।

5. तीव्र पोलियो : पोलियो एक तीव्र रोग है जो इक्के दुक्के और जानपदिक (महामारी) दोनों रूपों में पाया जाता है। पोलियो वैक्सीन के नेमी प्रयोग से आशा की जाती है कि यह कम होने लगेगा। यह विषाणु संक्रमणशील होता है जो मेरु-रज्जु को विशेष रूप से प्रभावित करता है। यद्यपि कोई भी उम्र रोगसक्षम नहीं है तो भी प्राय: यह रोग एक साल की उम्र से लेकर पांच वर्ष की उम्र वाले बच्चों में अधिक होता है। तीव्र व्याधि की अवधि करीब 3-4 हफ्ते होती है।

आरंभिक लक्षण सामान्यतया वैसे ही होते हैं जैसे मामूली तीव्र संक्रमण में होते हैं। सामान्य रूप से 'शीत' अथवा गलशोथ वाली अस्वस्थता होती है और शरीर का तापमान 38°—39°C (100°—102°F) तक चढ़ जाता है। साथ ही सिर दर्द, उनींदापन, क़ै और दस्त सरीखे लक्षण भी हो सकते हैं। शाखाओं की पेशियों में दर्द और मृदुता एक विशेष लक्षण है। संधियों की गति होने पर इसमें और अधिक वृद्धि हो जाती है। रोग में यह भी हो सकता है कि पेशियों पर असर न पड़े। लेकिन यदि अंगघात होता है तो वह रोग के आरंभ में ही प्रकट हो जाता है लेकिन यह तीव्र रोग वाली स्थिति के समाप्त होने के बाद कुछ दिन के विलंब से भी हो सकता है। अध:पादों की पेशियां सामान्यतया प्रभावित होती हैं, यद्यपि ऊर्ध्व पादों, उदर, धड़ और गले की पेशियों को भी लकवा मार सकता है।

यदि अंगघात होता है तो मुख्य उपचार है आराम। औषधियां भी दर्द कम करने और आराम देने के ध्येय से दी जाती हैं। पेशी के दर्द को दूर करने के लिए फलालैन के कपड़े द्वारा गर्म पानी का सेंक लाभकारी रहता है। अंगघात वाली शाखा या पाद को तकिए, रेत के थैले अथवा स्प्लिन्टों से सहारा देना चाहिए ताकि विरूपता न हो जाय। नितंब या कूल्हे और घुटने कुछ मुड़े हुए और पांव सीधी स्थिति में यानी न तो मुड़े और न फैले हुए होने चाहिए। पेशी के दर्द के कम होने के बाद, शरीर की सभी महत्वपूर्ण संधियों में दिन में 2-3 बार निष्क्रिय रूप से गति करनी चाहिए, जिससे कि संधियों के कड़ेपन, पेशियों के छोटे होने और विरूपता से बचा जा सके। अपेक्षा से अधिक उपचार से होने वाली थकान से बचना चाहिए। डाक्टर की देखरेख में ही ऐसा करना उत्तम रहता है। स्वतंत्र रूप से वजन बर्दाश्त कराने के पहले अंगघात को अंतिम रूप से आंकने और अपनाए जाने वाले उपचार के उद्देश्य से

विशेषज्ञ चिकित्सक द्वारा रोगी की जांच होनी चाहिए। आधुनिक साधनों और भौतिक चिकित्सा द्वारा घात या लकवे वाली पेशी को ठीक करके उसे पूरी तरह से शरीरक्रियात्मक कार्यों को करने के लिए सक्षम बनाया जा सकता है।

जब सांस लेने में कठिनाई होती है तो सामान्यतया उसका अर्थ होता है कि श्वसन से संबद्ध पेशियों को लकवा मार गया है और रोगी को ऐसे में जल्दी से जल्दी अस्पताल पहुंचा देना चाहिए, जहां कि लोहे के फेफड़े के माध्यम से कृत्रिम श्वसन की व्यवस्था रहती है।

पोलियो से बचाव : शैशवावस्था के अन्य टीकों की तरह हर बच्चे को पोलियो से बचाने के लिए टीका लगवा लेना चाहिए। अब तो ऐसी वैक्सीन उपलब्ध है जो मुंह द्वारा 1 से लेकर $1\frac{1}{2}$ महीने के अंतराल पर तीन बार दी जाती है।

जानपदिक रोग या महामारी के दौरान बच्चे में होने वाली मामूली बीमारी को भी तब तक पोलियो के कारण ही समझना चाहिए जब तक कि जांच द्वारा कोई और रोग ज्ञात न हो जाय। यह कहना संभव नहीं कि किस रोगी में अंगघात होगा और किस में नहीं। लेकिन हां कुछ बातें अवश्य हैं जिनसे परहेज रखना चाहिए ताकि अंगघात के आक्रमण से बचा जा सके और सबसे महत्वपूर्ण है पेशियों की थकान और क्षति से बचना। और ऐसा बिस्तर पर पूरी तरह से विश्राम लेकर ही किया जा सकता है। महामारी के दौरान किसी पदार्थ के अंतःपेशीय इंजेक्शन अथवा टॉंसिलों के आपरेशन से बचना चाहिए।

पोलियो का वर्णन अध्याय 13 में 'संक्रामक रोगों का नियंत्रण', अध्याय 26 में 'तंत्रिका तंत्र के सामान्य विकार' और अध्याय 51 में 'विकलांग रोगियों का पुनर्वास' के अंतर्गत किया गया है।

नव वयस्कों के रोग :

1. संधियों की यक्ष्मा : जब तक लोग अल्पपोषित रहेंगे और संकुलता व गंदी बस्तियों वाले आवास का नियंत्रण नहीं होगा तब तक भारत में यक्ष्मा एक भारी समस्या बनी ही रहेगी। आमतौर पर बच्चे और तरुण वयस्क हड्डियों व संधियों की यक्ष्मा से ग्रस्त होते हैं। प्रायः मेरुदंड, नितंब, घुटने और कोहनी की संधियां प्रभावित होती हैं। सामान्यतया अस्थिल विक्षति फेफड़े अथवा लसीका-पर्व विक्षति के बाद ही होती है।

दर्द, पेशीय ऐंठन और प्रभावित संधि की गति की सीमा-बद्धता वाले तीन लक्षण और साथ ही अन्य सामान्य लक्षण, जैसे कि हल्का ज्वर, भूख और वजन की कमी, प्रायः यक्ष्मा की विक्षति के द्योतक हैं। अधःपाद के ग्रस्त होने पर रोगी प्रायः चलते समय लचक कर चलता है। संधि की विपरूता, फोड़ा बनने के कारण उसके चारों ओर की सूजन और पेशियों की क्षीणता रोग की चरम सीमा के लक्षण हैं।

इनमें से अगर कोई भी लक्षण विद्यमान है तो एक्स-रे और अन्य प्रकार का अन्वेषण अनिवार्य है। प्रतियक्ष्मा औषधियों की खोज से रोगग्रस्त संधियों का ठीक होना और उनका सुचारु रूप से कार्य करना सरल हो गया है। यह सचमुच ही सत्य है यदि संधि के समग्र रूप से नष्ट होने के पहले ही रोग की अवस्था की आरंभ में ही पहचान हो जाय।

2. मोच और संधिच्युति (sprains and dislocations) : मेरुदंड या रीढ़ की हड्डी, एड़ी और घुटने में मोच आ जाना आम बात है। यह अत्यधिक आयास अथवा संधि की बेढंगी या मरोड़ वाली गति के कारण आ जाती है, जिससे संधि (चित्र 34.4) के इर्द-गिर्द वाले स्नायुओं और ऊतकों को क्षति पहुंच जाती है। कसरतियों और पहलवानों में मोच आ जाना आम बात है। रोगी क्षतिग्रस्त संधि के दर्द, सूजन और गति की सीमाबद्धता तथा पेशीय ऐंठन से पीड़ित रहता है। यह देखने के लिए कि अस्थिभंग (fracture)

चित्र 34.4–गुल्फ (एड़ी) संधि की मोच

नहीं है हमेशा एक्स-रे लिए जाने चाहिए।

सामान्य मोचों का उपचार शीत संपीडन और तीव्र दर्द खतम होने तक एक दृढ़ व लचीली पट्टी बांधने तथा इसके बाद ऊष्मा पहुंचाने, मालिश व कसरत से किया जा सकता है। लेकिन उग्र मोच में शुरू में पूरी तरह से आराम देने के लिए लचीली पट्टी के बदले प्लास्टर के सांचे की जरूरत होती है। ('प्रथम सहायता' वाला अध्याय 52 भी देखिए)।

तरुण वयस्कों में कंधे की संधिच्युति आमतौर पर हो जाती है (चित्र 34.5)। यह संधि की बलकृत गति से हो जाती है जब कि बांह उठाई व

चित्र 34.5—कंधे वाली संधिच्युति

बाहर की ओर घुमाई जाती है। संधिच्युति को कम करना बहुत आवश्यक है और कम-से-कम गति करने तथा यथेष्ट आराम देने से इसका उपचार करना चाहिए, अन्यथा कंघी करने, दाढ़ी बनाने सरीखी सामान्य गतियों में भी जब बांह उठाई जाती है तो प्रायः बार-बार संधिच्युति हो सकती है।

जबड़े की संधिच्युति तभी होती है जब कि मुंह बहुत अधिक खोला जाता है, जैसे कि हंसने, जम्हाई लेने आदि में। संधिच्युति होने पर व्यक्ति न तो मुंह बंद कर पाता है, न बोल पाता है और न निगल ही पाता है। इस अवस्था में काफी दर्द होता है। मुंह को कम-से-कम खोलना आसान है और इससे बड़ी जल्दी आराम मिलता है।

3. रुमेटाइड संधिशोथ (Rheumatoid arthritis) : रुमेटाइड संधिशोथ दैहिक रोग की अभिव्यक्ति है, जिसमें केवल संधियां ही नहीं बल्कि पेशियां और हृदय भी प्रभावित होते हैं। रोग के कारक को अभी अच्छी तरह नहीं समझा जा सका है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में यह तीन गुना अधिक होता है। इसका आरंभ धीरे-धीरे होता है जो हाथ और पैरों पर असर डालता है। बाद में शरीर की अन्य संधियां भी प्रभावित होती हैं। इसमें जोड़ों में दर्द, कड़ापन और विरूपता हो जाती है। ये लक्षण कई सालों तक चल सकते हैं। कई रोगियों में विसर्ग (remmission) की अवधि भी आ सकती है। प्रायः जोड़ में सूजन और पेशियां बहुत दुर्बल व अनुपयोगी हो जाती हैं। ये विरूपताएं, विशेषकर हाथों (चित्र 34.6) और घुटनों की, चरम अवस्था में बहुत उग्र व पंगुकारी हो सकती हैं।

दर्द और सूजन दूर करने का महत्वपूर्ण उपचार है प्रभावित जोड़ को पूरा आराम देना। विरूपता से बचने और उसके सुधार के लिए स्प्लिन्टों का समुचित प्रयोग किया जाता है। दर्द दूर करने के लिए कभी-कभी डाक्टरों द्वारा ऐस्पिरीन और
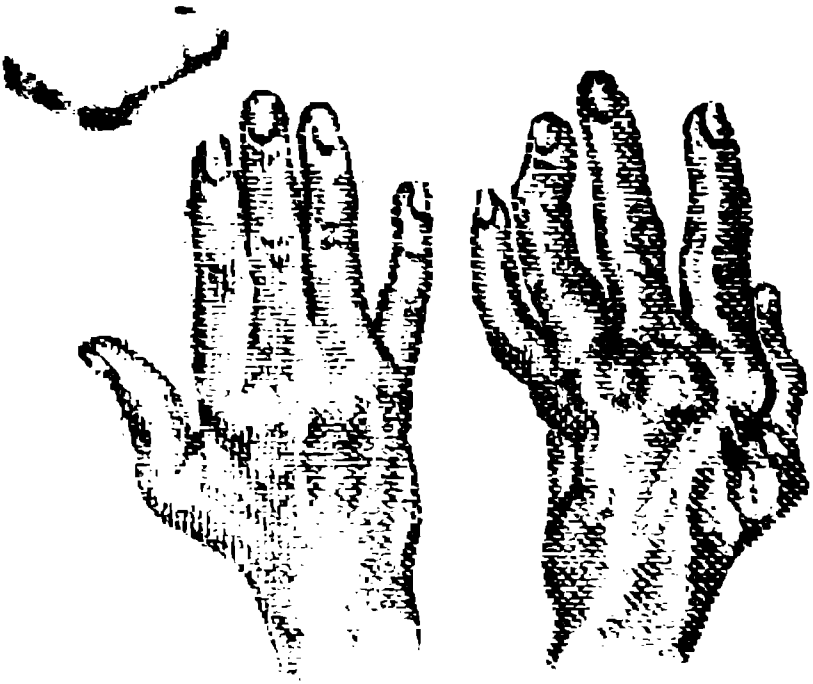
चित्र 34.6—हाथों का रुमेटाइड संधिशोथ

कॉर्टिसोन सरीखी औषधियां सुझाई जाती हैं। तीव्र लक्षणों के कम होने के बाद गरमी, मालिश और कसरत से बहुत फायदा पहुंचता है। इनसे जोड़ों के कड़ेपन से बचाव हो जाता है और पेशियां भी दुर्बल नहीं होने पातीं। पंगु बने रोगियों में संधि संचालन की दृष्टि से शस्त्रकर्म उत्तरोत्तर अधिक भूमिका निभा रहा है।

4. अस्थिमृदुता (Osteomalacia) : अस्थिमृदुता वयस्कों में होने वाला हड्डियों का विकार है जो बच्चे में होने वाले रिकेट्स की तरह है। यह हड्डियों के शनैः शनैः होने वाले विकैल्सीभवन और मृदुकरण के कारण होता है। इसका परिणाम होता है श्रोणि की काफी कुछ विरूपता। यह प्रायः 25 से लेकर 35 साल की उम्र वाली स्त्रियों में सगर्भता के बाद होती है। आरंभिक लक्षण हैं शाखाओं या भुजाओं में दर्द और दुर्बलता। नितंब की विरूपता से प्रसव में भी कठिनाई हो सकती है। कैल्सियम लवणों के साथ विटामिन डी मुंह या इंजेक्शन द्वारा देने से इसमें सुधार होता है। रोग से बचने के लिए प्रसवावस्था और स्तन्यस्रवण में कैल्सियम, फॉस्फोरस और विटामिन डी की अधिकता वाला आहार लेना चाहिए।

5. पृष्ठवेदना (Backache) : विकास के दौरान मानव ने जो ऊर्ध्व संस्थिति या सीधा खड़े होने की स्थिति अर्जित की है उसकी कीमत उसने पृष्ठवेदना या पीठ के दर्द के रूप में चुकाई है। यह एक व्यापक लक्षण है और जो कई कारणों से होता है, जैसे कि सामान्य दुर्बलता, दोषपूर्ण संस्थिति, मोच व अन्य क्षतियों कटिवेदना या कमर दर्द, रुमेटिज़्म या आमवात, यक्ष्मा व रीढ़ की हड्डी के अन्य रोगों आदि से। इसकी देखभाल और उपचार कारण पर निर्भर करता है।

नव वयस्कों में पृष्ठवेदना का सबसे सामान्य कारण है कशेरुकों के बीच चक्र में होने वाला भ्रंश (prolapse—चित्र 34.7)। इसकी शुरुआत प्रायः भारी वज़न उठाने सरीखे भारी कामों के बाद अकस्मात हो जाती है। पृष्ठवेदना के साथ-साथ प्रायः दर्द की अनुभूति भी होती है जो एक या दोनों टांगों में नीचे की ओर चलता है। मेरुदंड की गति बहुत कष्टदायक और सीमित होती है। रोगी में दुर्बलता, विशेषकर पाद या पांव की पेशियों की और टांगों की झुनझुनी तथा सुन्नता भी हो सकती है।

तीव्र दौरे में दर्द खतम होने तक सख्त बिस्तर पर लिटाए रखकर पूरा आराम देने से फायदा होता है। ऐस्पिरीन और मॉरफीन सरीखी दवाएं कभी-कभी दर्द कम करने के लिए दी जाती

चित्र 34.7—कशेरुक चक्र का भ्रंश
(कशेरुक दंड से होकर ली गई अनुदैर्घ्य काट)
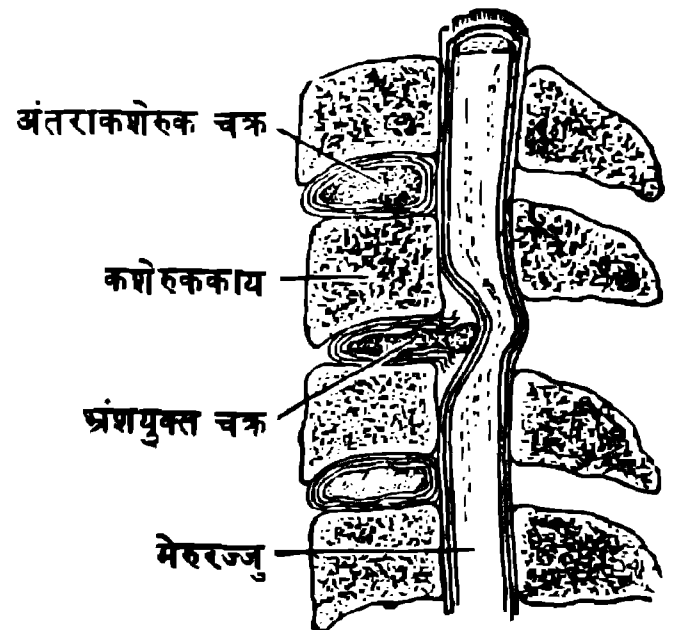
हैं। एक बार दर्द कम होने पर रोगी को कटि कोर्सेट की सहायता से वजन उठाने दिया जाता है। लेकिन ऐसा करने में उसे अपनी पीठ के प्रति सावधान रहना होता है और रीढ़ की हड्डी पर जोर न पड़ जाये इसलिए रीढ़ की हड्डी को आगे की ओर मुड़ने से बचाना होता है। पीठ की पेशियों की तान बनाए रखने के लिए उसे कसरत सीखनी होती है। लेकिन इन सभी सावधानियों के बावजूद भी यदि रोगी को बार-बार पृष्ठवेदना के दौरे पड़ते हैं अथवा उसमें पेशियों की दुर्बलता सरीखे अन्य लक्षण दिखलाई पड़ते हैं तो शस्त्रकर्म द्वारा भ्रंशयुक्त चक्र को निकालने के लिए शल्य-चिकित्सक की सलाह लेनी चाहिए। स्त्रियों में पृष्ठवेदना के लिए 'स्त्रियों के सामान्य विकार' वाला अध्याय 38 देखिए।

अधेड़ावस्था और वृद्धावस्था के रोग :

1. अस्थिसंधिशोथ (Osteoarthritis) : यह जीवन के उत्तरार्द्ध का अनिवार्य रूप से होने वाला रोग है। यह संधि पर वयोवृद्धि के परिणामस्वरूप होने वाला व्यपजननी परिवर्तन है। सामान्यतया यह एकल प्रकार की संधि पर होता है, जैसे घुटने की संधि में। लेकिन इससे रीढ़ की हड्डी, नितंब और अंगुलियां भी प्रभावित हो सकती हैं, विशेषतया रोग की सामान्य अवस्था में लक्षणों का प्रारंभ धीरे-धीरे होता है। दर्द का होना सबसे प्रमुख लक्षण है और साथ ही संधि में कड़ापन भी आ जाता है। आराम की अवधि के बाद पहली बार गति करने में बहुत अधिक दर्द होता है, जैसे कि सुबह बिस्तर से उठने में। संधि का कड़ापन सुबह बहुत अधिक होता है और गति होते जाने पर धीरे-धीरे कम होता जाता है। लेकिन दशा बिगड़ने पर संधि में विरूपता आ जाती है और गति बहुत सीमित हो जाती है और दर्द बहुत उग्र रूप से होने लगता है।

यह एक व्यपजननी रोग है इसलिए इसका स्थाई सुधार नहीं है, लेकिन दर्द से राहत और संधि की गति संभव हो जाती है। अस्थिसंधिशोथ प्रायः भारी गठन वाले अथवा मोटे व्यक्तियों में होता है और बचाव के उपाय के रूप में इष्टतम स्तर तक वजन कम करना अपेक्षित है। रोगी को चाहिए कि कार्य करने भर के लिए अपने जीवन को संधियों की क्षमता के अनुसार समंजित कर ले और उन पर अधिक जोर न डाले। दर्द दूर करने और संधि के सुचारु संचालन के लिए भौतिक चिकित्सा बहुत महत्व की होती है। गरमी, मालिश और कसरत की तीन मिलीजुली क्रियाएं करते रहना चाहिए। कुछ परिस्थितियों में संधि में हाइड्रोकॉर्टिजोन इंजेक्शन लाभदायक होते है, विशेषकर तब जब कि दर्द एक ही क्षेत्र में सीमित होता है। यह इंजेक्शन सिर्फ शल्य चिकित्सक द्वारा ही पूरी अपूतिक तैयारी के साथ दिया जाना चाहिए।

2. अन्य व्यपजननी विकार : गर्दन में एक बाहु अथवा दोनों बाहुओं में फैलने वाला या बिना इनमें फैले हुए होने वाला दर्द (ग्रीवा-अपकशेरुता—cervical spondylosis) और कंधों का दर्द व कड़ापन बड़े बूढ़ों में होने वाले दो सामान्य व्यपजननी विकार हैं।

गर्दन में दर्द गर्दन के कशेरुकों के व्यपजननी परिवर्तनों के कारण होता है, जिसमें तंत्रिकाओं में क्षोभ और दबाव की अनुभूति होती है। सामान्य लक्षण है गर्दन में बार-बार कड़ापन आ जाना। फिर यह दर्द एक या दोनों बाहुओं में फैल जाता है। साथ ही रात में अंगुलियों में झुनझुनी और सुन्नता परेशान करती है। कभी-कभी बाहु अथवा हाथ की पेशियों में दुर्बलता आ जाती है। अधिकांश रोगियों को पारंपरिक उपचार से आराम पहुंचाता है, जैसे कि ऊष्मा पहुंचाने, गर्दन के कर्षण (traction) और ग्रैव कॉलर के प्रयोग से आराम पहुंचा कर। ऊपरी सिरों पर जब पेशियों की दुर्बलता होती है तभी शस्त्रकर्म वाली चिकित्सा आवश्यक होती है।

अचल स्कंध' (frozen shoulder) शब्द का अर्थ है इस उम्र में होने वाला कंधों का सामान्य कड़ापन। कंधे वाले जोड़ के इर्दगिर्द उग्र प्रकार का दर्द होता है, विशेषकर जब कि बाहु ऊपर उठाई जाती है। जोड़ पर मृदु ऊतक हड्डियों से जुड़ जाते हैं, जिससे संधि की गति रुक जाती है। उपचार में सक्रिय और अक्रिय दोनों प्रकार की गतियां महत्वपूर्ण होती हैं। ऊष्मा पहुंचाकर, हाइड्रोकॉर्टिजोन के इंजेक्शन देकर और कंधे के हस्तोपचार द्वारा दर्द कम करके उपचार अधिक सरल हो जाता है।

3. अस्थिभंग (Fractures) : सामान्य रूप से अस्थिभंग के प्रकारों का वर्णन अध्याय 47 में 'सामान्य शस्त्रकर्म विकार' के अंतर्गत किया गया है। यहां केवल जांघ की हड्डी के ऊपरी सिरे (ऊर्विका की गर्दन) वाले अस्थिभंग का ही वर्णन किया गया है जो कि वृद्धावस्था का सबसे सामान्य अस्थिभंग है। वृद्ध व्यक्तियों की हड्डियां भुरभुरी या भंजनशील हो जाती हैं क्योंकि अस्थिद्रव्य में प्राणि पदार्थ बहुत कम हो जाता है। अतः ऐसा अस्थिभंग मामूली बात में भी हो जाता है, जैसे कि कालीन के किनारे पर ठोकर खाने, कुर्सी पर से अचानक उठने, स्नानगृह में फिसलने आदि पर।

रोगी खड़ा होने या चलने में असमर्थ हो जाता है। क्षतिग्रस्त टांग छोटी लगती है और बाहर की तरफ घूमती है। नितंब-संधि पर टांग की गति से बहुत दर्द होता है। इस अस्थिभंग के निदान के लिए ये लक्षण काफी हैं। यदि अस्थिभंग अंतर्घट्टित प्रकार का है और व्यक्ति इसके बावजूद भी चलता है तो ऐसा करने पर वह क्षति में और अधिक वृद्धि कर देगा और सामान्य व सरल प्रकार के अस्थिभंग को और अधिक जटिल बना देगा। जंघा की हड्डी वाला अस्थिभंग घातक भी हो सकता है। रोगी के बचने और अस्थिभंग के जुड़ने के अवसर तभी उत्तम होते हैं जब कि उपचार जल्दी से जल्दी शुरू कर दिया जाता है।

अस्थिभंग से बचाव के लिए बड़े बूढ़े व्यक्ति को अपना कार्य करते समय सावधान रखना चाहिए और ऐसा कोई खतरा नहीं उठाना चाहिए कि गिरने का भय रहे।

• • •
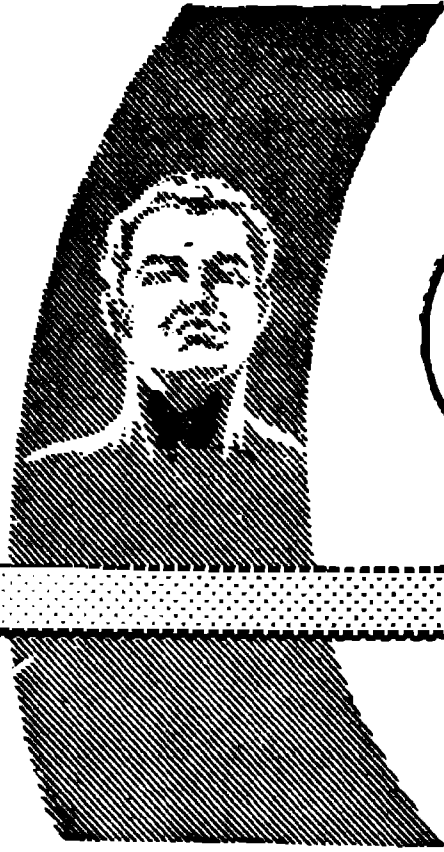
35

—डा० ए० एन० गोगटे

अंत:स्रावी तंत्र

ग्रंथियां ठोस अंग हैं जो स्राव उत्पन्न करती हैं। ऐसा वे उन पदार्थों के बूते पर करती हैं जो कि रक्त के माध्यम से उन तक लाये जाते हैं और उन तक रक्त की आपूर्ति काफी अधिक होती है। जैसा कि चित्र 35.2 में आरेख द्वारा समझाया गया है। शरीर की ग्रंथियों को दो प्रकारों में बांटा जा सकता है। बायीं ओर लार ग्रंथि सरीखी ग्रंथि दर्शाई गई है। इस ग्रंथि से स्राव एक छोटी नलिका या वाहिनी के द्वारा बाहर निकलता है और यह वाहिनी स्राव को अपेक्षित अंग तक पहुंचाती है। इस प्रकार लार ग्रंथि में बनने वाला लार लार-वाहिनी द्वारा मुंह में ले जाया जाता है। यह क्रिया स्थानिक होती है अर्थात् इसका उद्देश्य होता है मुंह को गीला रखना और मंड वाले पदार्थों के पाचन में सहायता पहुंचाना। वाहिनी वाली ऐसी ग्रंथि बाहर स्रवण करने वाली ग्रंथि या बहि:स्रावी (exocrine) ग्रंथि कहलाती है। शरीर में इस प्रकार की कई ग्रंथियां होती हैं, विशेष रूप से पाचन-पथ और त्वचा में।

इसके विपरीत शरीर में कुछ ऐसी भी ग्रंथियां हैं जिनमें ऐसी वाहिनियां नहीं होती हैं। ऐसी ग्रंथि चित्र 35.2 में दाहिनी ओर दर्शाई गयी है। ऐसी ग्रंथि का स्राव फिर रक्त में ही प्रवाहित कर दिया जाता है। इसलिए ऐसी ग्रंथि को वाहिनीहीन ग्रंथि, अंदर स्रवण करने वाली ग्रंथि या अंत:स्रावी ग्रंथि कहते हैं और इसके स्राव को हॉरमोन कहते हैं। रक्त के माध्यम से विभिन्न हॉरमोन शरीर में परिसंचारित होकर शरीर के सभी ऊतकों व कोशिकाओं में पहुंचते हैं। इस प्रकार आंतरिक स्रवण की क्रिया अधिक व्यापक होती है। ये हॉरमोन कोशिकाओं और ऊतकों की चयापचयी प्रक्रियाओं को प्रभावित करते हैं। जिस स्थल पर इनकी क्रिया होती है उसे ही लक्ष्य कहा जाता है। भिन्न-भिन्न हॉरमोनों के लक्ष्य भिन्न-भिन्न होते हैं। वाहिनीहीन ग्रंथियां ही अंत:स्रावी तंत्र बनाती हैं और स्वास्थ्य व रोग की दृष्टि से आयुर्विज्ञान की जिस शाखा में इनका अध्ययन किया जाता है उसे अंत:स्राविकी (endocrinology) कहते हैं।

अंत: स्राविकी काफी तेजी से प्रगति करती चली

*　　*　　*　　*

डा. ए. एन. गोगटे, एम. डी., सहायक कायचिकित्सक, जे. जे. अस्पताल एवं ग्रान्ट मेडिकल कालेज, बंबई, अंत: स्राविकी विशेषज्ञ।
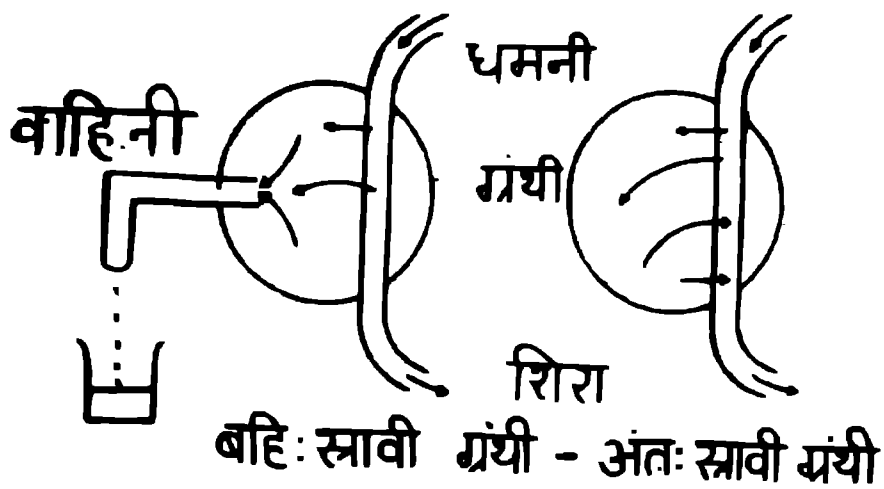
चित्र 35.2—बहि:स्रावी व अंत:स्रावी ग्रंथि की संरचना

जा रही है। प्रगति का द्योतक यह है कि आम आदमी भी इससे लाभान्वित है, क्योंकि अधिकांश व्यक्ति 'ग्रंथियों' और 'हॉरमोनों' के प्रति जागरूक हैं। उनके लिए संभवतया 'ग्रंथि-विकार' वैसा ही है जैसा कि 'जठर विकार' और 'हृद विकार' है। नीचे दिए गए वर्णन से पाठक को अंत:-स्रावी तंत्र की क्रियाविधि सुस्पष्ट हो जायेगी।

पुरुष और स्त्री के शरीर में जो छह प्रमुख अंत:स्रावी ग्रंथियां हैं वे क्रमश: चित्र 35.3 और 35.4 में दर्शाई गई हैं। लिंग-ग्रंथियों को छोड़कर स्त्रियों और पुरुषों में बाकी ग्रंथियां एक-सी हैं। प्रत्येक ग्रंथि का वर्णन पृथक् रूप से नीचे किया जा रहा है।

पीयूषिका (Pituitary) :

पीयूषिका ग्रंथि सिर में मस्तिष्क के नीचे स्थित होती है। यह अंडाकर ग्रंथि व्यास में करीब 10 मिमी. होती है और छोटी होते हुए भी बहुत महत्वपूर्ण कार्य करती है।

इसका पिछला भाग या 'पश्च पालि' दो हॉर-मोनों का स्रवण करती है और जो सामान्य रूप से पिट्यूट्रिन कहलाए जाने वाले पदार्थ के घटक हैं। वृक्क पर अभिक्रिया करते हुए पहला हॉरमोन पेशाब की मात्रा को कम करता है और इस तरह शरीर के पानी की मात्रा का नियमन करता है। इसे प्रतिमूत्रल या मूत्ररोधी हॉरमोन कहते हैं। यह तो सभी जानते हैं कि अधिक पानी पिए जाने पर पेशाब अधिक आता है। इसके विपरीत जब अधिक समय तक पानी कम पिया जाता है या गरमी के मौसम में पसीना निकलने या इसी तरह की अन्य क्रियाओं से शरीर से पानी निकल जाता है तो पेशाब की मात्रा बहुत कम हो जाती है। पहली वाली अवस्था में इस हॉरमोन का स्रवण कम हो जाता है या बिलकुल बंद हो जाता है, और बाद वाली अवस्था में इसके स्रवण में वृद्धि हो जाती है।

पश्च पालि का दूसरा हॉरमोन ऑक्सीटोसिन है। यह हॉरमोन अनैच्छिक पेशियों को संकुचन के लिए उद्दीपित करता है। इसका महत्वपूर्ण कार्य है प्रसव के दौरान गर्भाशय के संकुचन को उद्दी-

चित्र 35.3—पुरुष की अंत:स्रावी ग्रंथियां

चित्र 35.4—स्त्री की अंत:स्रावी ग्रंथियां
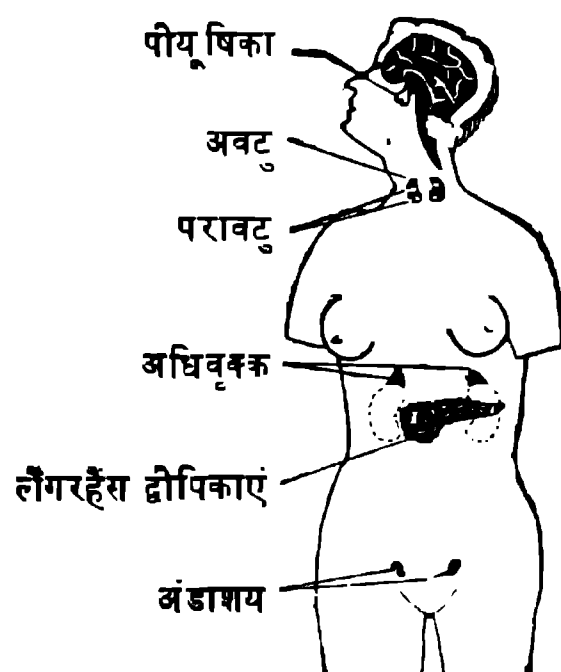
पित करना। यह दुग्धस्रावी स्तनों से दूध के प्रवाह में भी सहायक होता है। वैसे दूध का स्रवण अग्र पीयूषिका के स्तनपोषी हॉरमोन से ही उद्दीपित होता है। ऑक्सीटोसिन इस हॉरमोन के स्रवण के लिए अग्र पीयूषिका को उद्दीपित करता है। इस प्रकार ऑक्सीटोसिन को शिशु के जन्म और बाद में माता द्वारा उसके पोषण से संबंधित बहुत महत्वपूर्ण कार्य करने होते हैं।

पीयूषिका ग्रंथि के अगले भाग को 'अग्र पालि कहा जाता है और यह अनेक हॉरमोनों का स्रवण करता है। सबसे पहले तो यह वृद्धि हॉरमोन स्रावित करता है जो शैशवावस्था में कंकालीय वृद्धि और परिवर्धन को उद्दीपित करता है। ऊपर बताए गए दोनों हॉरमोन यानी वृद्धि हॉरमोन और स्तनपोषी हॉरमोन क्रमशः अपने लक्ष्यों हड्डियों और स्तनों—पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालते हैं। अग्र पीयूषिका द्वारा स्रावित होने वाले अन्य हॉरमोन भी हैं जिनका लक्ष्य सारा शरीर अथवा कोई परिसरीय ऊतक नहीं है बल्कि अन्य अंतःस्रावी ग्रंथियां हैं। ऐसे हॉरमोन पोषी हॉरमोन कहलाते हैं और अंतःस्रावी ग्रंथियों पर इनकी अभिक्रिया अन्योन्य प्रकार की अथवा नियंत्रक प्रकार की होती है। अवटु (thyroid), अधिवृक्क प्रांतस्था (कॉर्टेक्स) और लिंग ग्रंथियां अग्र पीयूषिका के प्रभाव में होती है। अग्र पीयूषिका इन ग्रंथियों की क्रिया को किस तरह नियंत्रित करती है यह इस ग्रंथि और उदाहरण के लिए, अवटु ग्रंथि के पारस्परिक संबंध को जानने से ही समझा जा सकता है, और यह चित्र 35.5 में समझाया गया है।

अवटुपोषी (थाइरोट्रॉफिक) हॉरमोन अवटु को उद्दीपित करके थाइरॉक्सिन की अधिक मात्रा का स्रवण करती है, और अवटु द्वारा स्रावित थाइरॉक्सिन अग्र पीयूषिका का अवनमन करता है और इस प्रकार अवटुपोषी हॉरमोन का स्रवण कम कर देता है। वैसे देखने में अग्र पीयूषिका के परावटु (parathyroid), अग्न्याशय और अधि-

चित्र 35.5—अग्र पीयूषिका और अवटु ग्रंथि का अन्योन्य संबंध
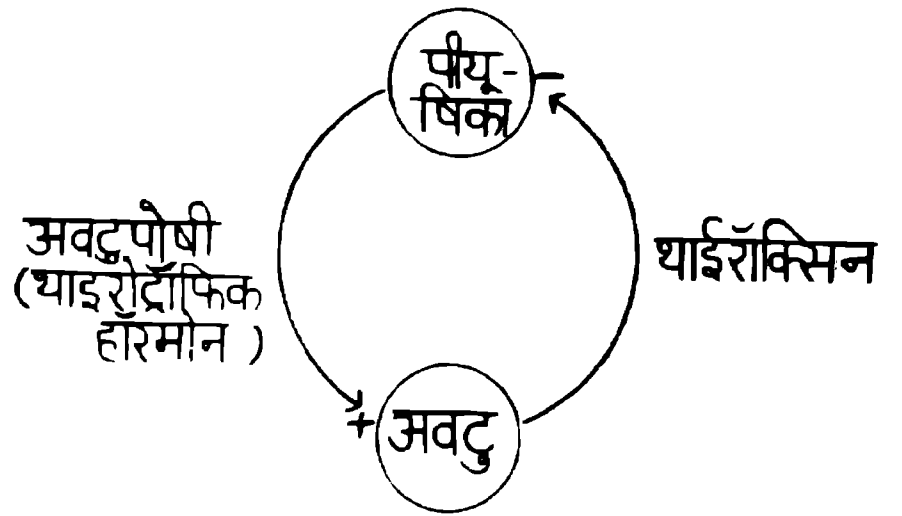
वृक्क अंतस्था (मेडुला) पर अभिक्रिया करने वाले कोई पोषी हॉरमोन नहीं है।

अपने पोषी हॉरमोनों द्वारा अन्य अंतःस्रावी ग्रंथियों की क्रिया पर नियंत्रण रखने के कारण अंतःस्रावी तंत्र में अग्र पीयूषिका का एक विशिष्ट स्थान है और इसीलिए, इस ग्रंथि को प्रायः 'अंतःस्रावी वाद्यवृंद का मुखिया' कहा जाता है। पीयूषिका को अन्य ग्रंथियों की क्रिया को नियंत्रित करने की जो शक्ति मिली है उसका कारण है उसका मस्तिष्क के अधश्चेतक (हाइपोथैलेमस) नामक भाग के निकट स्थित होने और उससे सम्बन्धित रहना। इस प्रकार सारा अंतःस्रावी तंत्र तंत्रिका-तंत्र के नियंत्रण में लाया जाता है।

अवटु (थाइरॉयड) :

इस ग्रंथि में पिरेमिड की आकृति की दो पालियां होती हैं, जो एक सेतु द्वारा जुड़ी होती हैं और इससे उसका आकार अंग्रेजी के 'एच' (H) अक्षर की तरह होता है। यह ग्रंथि गर्दन के सामने निचले वाले भाग में स्थित होती है और कंठ व श्वासनली के घनिष्ठ संपर्क में रहती है। थाइरॉयड से उत्पन्न होने वाला हॉरमोन थाइराक्सिन कहलाता है, जिसमें आयोडीन बहुत अधिक होती है। भोजन और पानी में थाइरॉक्सिन के उत्पादन के लिए आयोडाइड अनिवार्य हैं।

थाइरॉक्सिन शरीर की सभी कोशिकाओं के

चयापचय और ऊर्जा-उत्पादन को उद्दीपित करता है। जब इस हॉरमोन का स्रवण अधिक मात्रा में होता है तो शरीर में उत्पन्न होने वाली अधिक ऊष्मा के रूप में इसकी अभिव्यक्ति होती है।

परावटु (पैराथायरॉयड) :

ये छोटी ग्रंथियां गर्दन में, प्रत्येक ओर दो-दो की संख्या में, अवटु ग्रंथि के पिछले भाग के घनिष्ठ संपर्क में स्थित होती हैं। अवटु ग्रंथियों के स्राव को पैराथार्मोन कहते हैं। यह हॉरमोन शरीर के दो महत्वपूर्ण तत्वों—कैलिसयम और फॉसफोरस के चयापचय को प्रभावित करता है। ये तत्व मुख्य रूप से हड्डियों और दांतों में पाए जाते हैं लेकिन ये शरीर के तरल पदार्थों में भी पाए जाते हैं। फॉसफोरस शरीर की सभी कोशिकाओं के जीवद्रव्य (प्रोटोप्लाज़म) का महत्वपूर्ण घटक है। पैराथार्मोन की सक्रियता रक्त में कैल्सियम और फॉसफोरस के स्तर में परिवर्तन से परिलक्षित हो जाती है।

अधिवृक्क (adrenal) ग्रंथियां :

संख्या में दो अधिवृक्क ग्रंथियां, वृक्क के ऊपरी सिरे के निकट उदर में दोनों ओर एक-एक होती हैं। इसलिए इन्हें सुप्रारीनल ग्रंथि भी कहते हैं। प्रत्येक अधिवृक्क ग्रंथि के दो भाग होते हैं अंतस्था (मेडुला) नामक भीतरी भाग और प्रांतस्था (कॉर्टेक्स) नामक बाहरी भाग। दोनों भाग महत्वपूर्ण कार्य करते हैं।

अधिवृक्क-अंतस्था एड्रोनेलीन और नारेड्रीनेलीन नामक हॉरमोनों का स्रवण करती है। ये हॉरमोन कई महत्वपूर्ण अभिक्रियाएं करते हैं, जैसे कि त्वचा व उदरीय अंतरंगों की रक्त वाहिकाओं का संकीर्णन तथा विस्फारण और पेशियों को रक्त की अधिक आपूर्ति, हृद् दर व रक्त दाब में वृद्धि, चिकनी पेशियों का शिथिलन और यकृत् के ग्लाइकोजन का ग्लूकोज में परिवर्तन। इस प्रकार अधिवृक्क-अंतस्था का कार्य तंत्रिका तंत्र के अनुकंपी तंत्रिका तंत्र नामक भाग से अंतरंग रूप से संबंधित होता है, जो तंत्रिका के सिरों पर एड्रीनेलीन धर्मोत्तेजक (adrenergic) हॉरमोन के मुक्त हो जाने से भी कार्य करता है। इन ग्रंथियों का स्राव 'लड़ो या भागो नामक अनुक्रिया' में शरीर को बड़ी तेजी से पेशीय सक्रियता के लिए तैयार कर देता है। आवेशात्मक उद्दीपन बड़ी शीघ्रता से एड्रोनेलीन धर्मोत्तेजक का स्रवण करने लगते हैं।

अधिवृक्क-प्रान्तस्था कॉर्टिकोस्टेरॉइड नामक कई हॉरमोनों का स्रवण करती है। एल्डोस्टेरोन सरीखे कुछ कॉर्टिकोस्टेरॉइड प्रमुख रूप से खनिजों अथवा सोडियम व पोटेशियम सरीखे इलेक्ट्रोलाइटों के चयापचय को प्रभावित करते हैं। इसीलिए इन्हें खनिजकॉर्टिकॉइड कहते हैं। कोशिकाओं और ऊतकों के सामान्य कार्य के लिए शरीर में इलेक्ट्रोलाइटों की इष्टतम मात्रा का होना अनिवार्य है।

अधिवृक्क-प्रांतस्था द्वारा स्रावित होने वाले अन्य कॉर्टिकोस्टेरॉइड मुख्य रूप से कार्बोहाइटों के चयापचय को प्रभावित करते हैं। ये रक्त-शर्करा की मात्रा बढ़ा देते हैं और ऐसी क्रिया करते हैं जो इंसुलिन वाली क्रिया के विपरीत होती है। कार्बोहाइड्रेट चयापचय के अतिरिक्त ये प्रोटीन और वसा के चयापचय को भी प्रभावित करते हैं और शोथरोधी होते हैं। अंत वाली क्रिया में एक परिचित पदार्थ और है, जो शोथ वाली दशाओं में उपचार के लिए प्रयुक्त होता है,जिसे कार्टिजोन कहते हैं।

इस प्रकार ये कार्टिकॉइड शरीर के महत्वपूर्ण जैव कार्यों का नियंत्रण करते हैं और इसीलिए अधिवृक्क-प्रांतस्था अंतःस्रावी तंत्र में एक विशिष्ट स्थान रखती है। अधिवृक्क-प्रांतस्था के निकाले जाने पर शरीर की हालत बिगड़ती जाती है और अंततः मृत्यु ही हो जाती है।

अधिवृक्क-प्रांतस्था पुलैंगिक और स्त्रीलैंगिक हॉरमोनों का स्रवण भी करती है, जिनकी क्रिया वृषण और अंडाशय के हॉरमोनों की ही तरह होती है। इनका वर्णन आगे किया गया है।

अग्न्याशय (Pancreas) :

उदर में आमाशय के पीछे (चित्र 20.3) ही यह बड़ी ग्रंथि स्थित होती है। यह एक मिश्रित ग्रंथि है। इसका बाहरी स्राव भोजन के पाचन में लाभकारी होता है और अग्न्याशयिक रस कहलाता है। इसका अंत:स्रावी तरल इन्सुलिन नामक हॉरमोन है। यह अग्न्याशय के छोटी कोशिकाओं के समूहों द्वारा स्रावी होता है जिन्हें लैंगरहैन्स द्वीपिकाएं कहते हैं। इन्सुलिन कार्बोहाइड्रेट चयापचय में सहायक होता है। यह सहायक इस रूप में होता है कि इसके द्वारा शरीर कोशिकाएं अधिक ग्लूकोज का उपभोग करने लगती हैं और साथ ही यकृत् में इसको ग्लाइकोजन में परिवर्तित कर देता है ताकि ग्लूकोज़ इस रूप में भविष्य के उपभोग के लिए जमा रहे। इन्सुलिन की क्रिया से रक्त में ग्लूकोज़ कम हो जाता है। इन्सुलिन की कमी से जाना पहचाना रोग 'मधुमेह' हो जाता है, जिसका वर्णन पृथक् रूप से अध्याय 37 में किया गया है।

अग्न्याशयिक द्विपिकाओं द्वारा उत्पन्न होने वाला दूसरा हॉरमोन ग्लूकोगॉन है जिसकी क्रिया इन्सुलिन की क्रिया के विपरीत होती है।

लिंग ग्रंथियां अथवा जननद (Gonads) :

पुंलैंगिक ग्रंथि वृषण है जिसकी स्थिति वृषण-कोश में और स्त्रीलैंगिक ग्रंथि अंडाशय है जिसकी स्थिति श्रोणि में होती है। दोनों ओर एक-एक ग्रंथि होती है। जननदों के दो प्रकार के कार्य होते हैं। पहला कार्य है जनन-कोशिकाओं का उत्पादन, जो वृषण में शुक्राणु और अंडाशय में अंडाणु होते हैं और दूसरा कार्य है हॉरमोनों का उत्पादन।

लैंगिक ग्रंथियों की सक्रियता यौवनारंभ के करीब आरंभ होती है और वर्धमान किशोर प्रौढ़ बनने लगता है। इसकी अभिव्यक्ति बाहरी और भीतरी लैंगिक अंगों के परिवर्धन और द्वितीयक लैंगिक लक्षणों यानी पुरुष और स्त्री वाले लक्षणों के प्रकट होने पर हो जाती है। दोनों में यौवनारंभ करीब 13 वर्ष की उम्र पर होता है और फिर यह एक क्रमबद्ध प्रकार से होता चला जाता है। लड़कियां अपेक्षतया तेजी से परिवर्धन करती हैं और उनका यौवनारंभ से संबद्ध परिवर्धन करीब 16 वर्ष की उम्र तक पूरा हो जाता है। इसके विपरीत लड़कों में परिवर्धन कुछ धीमा होता है और यह परिवर्धन प्रक्रिया 20 वर्ष की उम्र तक चल सकती है। इस दौरान लड़के और लड़कियां दोनों में ऊंचाई में तेजी से वृद्धि होती है और इसे 'वृद्धि की तीव्रता' कहा जाता है। लड़कों में यह बहुत ही अधिक होती है जो शारीरिक कद और ऊंचाई में लड़कियों से बाजी मार ले जाते हैं।

पुरुष में वृषण द्वारा उत्पन्न हॉरमोन टेस्टोस्टेरोन है। यह हॉरमोन बाहरी व आंतरिक जननांगों की वृद्धि को उद्दीपित करता है और द्वितीयक पुंलैंगिक लक्षणों का निर्धारण करता है, जैसे कि पेशीय गठन, आवाज का बदलकर भारी हो जाना, चेहरे पर बालों यानी मूंछों और दाढ़ी का आना आदि। स्त्रियों में अंडाशय दो प्रकार के हॉरमोन स्रावित करता है जिन्हें ईस्ट्रोजन और प्रोजेस्टेरोन कहा जाता है। ये स्त्रियों में बाहरी व भीतरी जननांगों के परिवर्धन का निर्धारण करते हैं और इनकी चक्रीय क्रियाशीलता गर्भाशय में चक्रीय परिवर्तन उत्पन्न करती है तथा ऋतुस्राव का आरंभ हो जाता है। हॉरमोनों से द्वितीयक स्त्रीलैंगिक लक्षणों का परिवर्धन भी होता है, जैसे स्तनों, वसा का स्त्रियोचित वितरण तथा स्त्रियों वाले उभारों का। कुछ द्वितीयक लक्षण दोनों लिंगों में समान होते हैं, जैसे कक्षाओं या बगल के बाल व जघन-रोम और यह प्रभाव पड़ता है अधिवृक्क-प्रान्तस्था से स्रावित स्त्रीलैंगिक व पुंलैंगिक हॉरमोनों से।

स्त्रीलैंगिक हॉरमोनों का एक विशेष कार्य है कि ये सगर्भता का प्रारंभ व संचालन करते हैं और शिशु के जन्म के बाद स्तंयस्रवण की प्रक्रिया में

योग देते हैं। गर्भावस्था में स्त्री में हॉरमोनों के बड़े जटिल परिवर्तन होते हैं जो अपरा (placenta) के माध्यम से होते हैं और अपरा से भी कुछ हॉरमोन स्रावित होते हैं। जरायु (chorionic)-गोनेडोट्रोफिन नामक हॉरमोन, जो कि अपरा का हॉरमोन है, गर्भवती स्त्री के मूत्र में आरंभिक अवस्था में विसर्जित किया जाता है और इसी के आधार पर अनेक सगर्भता परीक्षण किए जाते हैं।

उम्र अधिक होने के साथ-साथ, दोनों लिंगों में, जननदों की सक्रियता कम होती जाती है। स्त्रियों में यह क्रिया कुछ शीघ्रता से होती है और लगभग 50 वर्ष की अवस्था में अंडाशयी सक्रियता बिलकुल समाप्ति पर आ जाती है। इसे रजोनिवृत्ति (menopause) अथवा जनन-विवृत्ति काल (climacteric) या 'जीवन क्रम परिवर्तन' कहा जाता है। ऋतुस्राव के बंद हो जाने और प्राथमिक व द्वितीयक लैंगिक लक्षणों में प्रतिक्रामी परिवर्तनों के रूप में इनकी अभिव्यक्ति होती है। पुरुष में यह प्रक्रिया बहुत अधिक समय लेती है और जननद सक्रियता—हॉरमोन उत्पादन व जनन-कोशिका उत्पादन—70 वर्ष की उम्र तक भी चल सकती है।

अन्य ग्रंथियां :

दो और ग्रंथियां हैं, जिनके कार्य के बारे में अभी ठीक से ज्ञात नहीं है। इनमें एक है पिनियल ग्रंथि, जो सिर में स्थित होती है और वस्तुत: मस्तिष्क का एक भाग है। यह ग्रंथि एक हॉरमोन का स्रवण करती है, जो अधिवृक्क-प्रांतस्था पर अभिक्रिया करने के उपरांत एल्डोस्टेरोन का स्रवण उद्दीपित करती है। दूसरी ग्रंथि है थाइमस जो वक्ष में स्थित होती है। इस ग्रंथि के बारे में जो कुछ ज्ञात है वह यह है कि यह गर्भ की अवधि और आरंभिक शैशवावस्था में विद्यमान रहती है और उसके उपरांत यह मुरझाकर नगण्य आकार की हो जाती है। संभवतया इस का कार्य प्रतिरक्षा या रोधक्षमता से संबंधित होता है।

—डा० ए० एन० गोगटे

36 अंत:स्रावी विकार

शरीर के अन्य अंगों की तरह अंत:स्रावी ग्रंथियों (endocrine glands) में भी अनेक प्रकार के रोग हो सकते हैं। ये हैं —परिवर्धन संबंधी दोष, क्षति, शोथ, संक्रमण, व्यपजनन और अर्बुद का बनना। यह स्वाभाविक ही है कि रोग के कारण ग्रंथि के सामान्य हॉरमोन स्रवण में बाधा पहुंच जाती है और शरीर में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन झलकने लगते हैं। अंत:स्रावी ग्रंथियों के रोगों और इनकी अभिव्यक्तियों को 'अंत:स्रावी विकार' या एक शब्द में 'अंत:स्रावीविकृति' (endocrinopathy) कहते हैं।

हर अंत:स्रावी विकार के दो भाग होते हैं, (1) ग्रंथि की संरचना और आकार में परिवर्तन, और (2) उसके हॉरमोन स्रवण के कार्य में परिवर्तन और साथ ही इसके परिणामस्वरूप होने वाली अभिव्यक्तियां। इन दोनों परिवर्तनों के बारे में जानना आवश्यक है क्योंकि ये ही वे बुनियाद बनाते हैं जिस पर डाक्टर का अंत:स्रावी विकारों का निदान आधारित होता है।

1. संरचना और आकार के परिवर्तन :

रोग परिवर्तन के कारण ग्रंथि की संरचना बदल जाती है और इसके परिणामस्वरूप उसका आकार सामान्य से छोटा या बड़ा हो जाता है। वृषण और अवटु सरीखी सतही ग्रंथियों में ऐसे परिवर्तन को सामान्य निरीक्षण से आसानी से आंक लिया जा सकता है। अवटु की सूजन को तो एक आम आदमी भी जान लेता है। प्राय: हर आदमी ने ऐसे व्यक्ति की गर्दन के बीच में सामने ऐसी सूजन अवश्य देखी होगी और जब वह व्यक्ति भोजन या पानी निगलता है तो यह सूजन साथ-साथ ऊपर उठती रहती है। अवटु ग्रंथि की इस परिचित सूजन को घेंघा (goitre) कहते हैं (चित्र 36.2)।

पीयूषिका ग्रंथि का विवर्धन या बड़ा आकार इस तरह पता लगाया जा सकता है कि जब यह बड़ी होती है तो प्राय: यह आर-पार जाने वाली दृक तंत्रिकाओं (optic nerve) पर दबाव डालती है। इससे दृष्टि संबंधी गड़बड़ियां हो जाती हैं। बढ़ी हुई पीयूषिका ग्रंथि खोपड़ी में भी दबाव उत्पन्न करती है, जैसे कि मस्तिष्क के अर्बुद में जिसमें सिर दर्द और वमन सरीखे लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार यद्यपि पीयूषिका

* * * *

डा. ए. एन. गोगटे, एम. डी., अवै. सहायक कायचिकित्सक, जे. जे. अस्पताल और ग्रान्ट मेडिकल कालेज, बंबई, अंत:स्राविकी विशेषज्ञ।

चित्र 36.2—घेंघा या गलगंड

ग्रंथि काफी भीतर स्थित होती है तो भी इसका बढ़ा हुआ आकार पहचान में आ जाता हैं।

अन्य ग्रंथियों के मामले में, जैसे अधिवृक्क ग्रंथि में, ऐसा परिवर्तन विशेष एक्स-रे परीक्षणों तथा अन्य विशष्टि तकनीकों के द्वारा ही आंका जा सकता है।

2. ग्रंथि के कार्य वाले परिवर्तन :

रोगी ग्रंथि के हॉरमोन स्रवण में कई प्रकार के परिवर्तन हो सकते हैं। सबसे पहले तो मात्रा में परिवर्तन होता है जिसमें हॉरमोन की मात्रा या तो बढ़ जाती है या कम हो जाती है। पहली वाली दशा में, इस गड़बड़ी को अतिकार्य और बाद वाली दशामें कार्यअल्पता कहते हैं। उदाहरण के लिए, पीयूषिका रोग के परिणामस्वरूप पीयूषिका-अतिक्रियता (hyperpituitarism) अथवा पीयूषिका-अल्पक्रियता (hypopituitarism) हो जाती है जिससे क्रमशः महाकायता अथवा वामनता हो जाती है (चित्र 36.3)।

कभी-कभी रोगी ग्रंथि द्वारा स्रावित किये जाने वाले हॉरमोन में गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है यानी सामान्य रूप से अपना हॉरमोन स्रावित करने के बदले वह भिन्न प्रकार का हॉरमोन स्रावित करने लगती है। उदाहरण के लिए, रोगी अंडाशय सामान्य स्त्री हॉरमोनों को उत्पन्न करने के बदले पुंहारमोनों का स्रवण करने लगता है। इससे पुरुषों के संलक्षण प्रकट होने लगते हैं, जैसे स्त्री में मूंछ और दाढ़ी का आ जाना। इस प्रघटना को 'पुंवत्तभवन' (verilization) अथवा पुंसत्वभवन' (masculinization) कहते हैं और इसमें कई किस्म के अंडाशयी अर्बुद भी देखे जाते हैं। इसी तरह पुरुष में अपसामान्य रूप से कार्य करने वाले वृषण के कारण कभी-कभी स्त्री संलक्षण प्रकट हो जाते हैं, जैसे वक्ष या छातियों का बड़ा हो जाना और जिसे स्त्रीभवन (feminization) कहा जाता है।

पूरी शारीरिक जांच के साथ-साथ नेमी परीक्षणों द्वारा, जैसे रक्त व मूत्र की जांच, एक्स-रे और इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम या विद्युत्हृद्लेख द्वारा, ग्रंथि के हॉरमोन स्रवण संबंधी गुणात्मक और मात्रात्मक परिवर्तनों को प्रदर्शित किया जा सकता है अथवा कम से कम अनुमान तो किया ही जा सकता है। फिर भी यह सिद्ध करने के लिए कि स्राव अधिक, कम अथवा गुणों की दृष्टिसे अपसामान्य है रक्त, शरीर के तरलों अथवा मूत्र

चित्र 36.3—महाकाय, सामान्य और बौना व्यक्ति
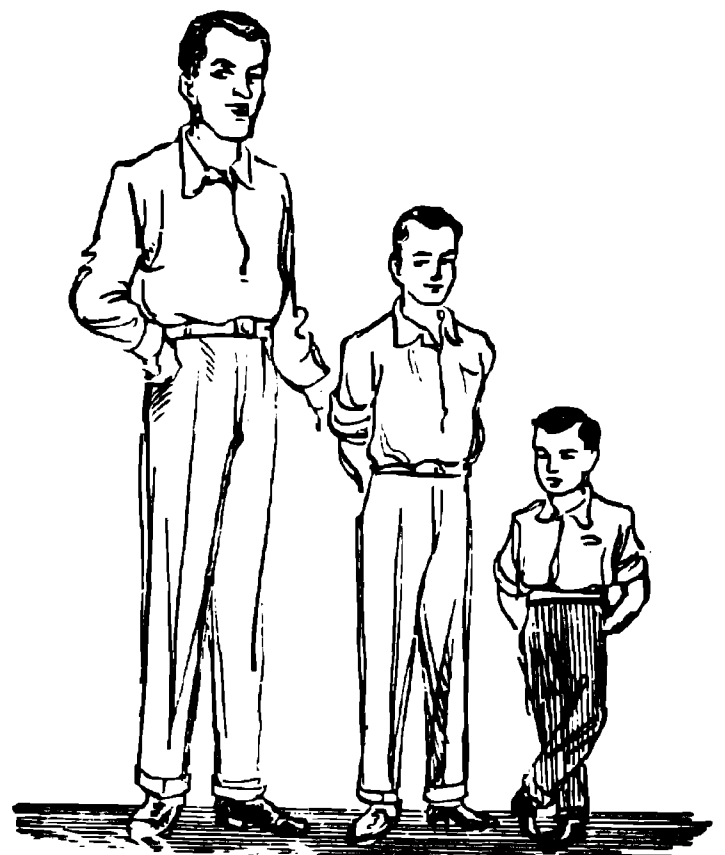
में हॉरमोन अथवा उसके विघटन वाले उत्पादों का प्रदर्शन व आमापन करना जरूरी है। इन प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त की जाने वाली विधियों को 'हॉरमोन परख' कहते हैं। ये सामान्यतया दो प्रकार की होती हैं --रासायनिक और जैविक (जो प्राणियों पर किए गए अध्ययन पर आधारित हैं।)

यह जानने के बाद कि अंत:स्रावी विकार क्या होता है अब अंत:स्रावी तंत्र के विविध रोगों को अच्छी तरह समझा जा सकता है। सारणी 36.1 से प्रत्येक अंत:स्रावी ग्रंथि, अतिक्रियता, अल्प-क्रियता और अपसामान्य क्रियाशीलता के परिणाम स्वरूप होने वाले रोगों के नाम और शरीर में प्रत्येक के द्वारा होने वाली अभिव्यक्ति की जान-कारी हो जाएगी। अवटु ग्रंथि के मामले में कार्य बाधा के लक्षण न होकर अपसामान्य सूजन ही हो सकती है। ग्रंथि की ऐसी अवस्था को सामान्य घेंघा कहते हैं।

इस सारणी को उल्टी तरह से भी इस्तेमाल किया जा सकता है। रोग की अभिव्यक्ति वाले खाने में देखने पर पाठक को पता चल जाएगा कि अमुक लक्षणों और चिह्नों से किस अंत:स्रावी विकार का अनुमान करना चाहिए और फिर उसकी पुष्टि के लिए अन्य जांच और अन्वेषण विस्तार में किये जा सकते हैं

फिर भी यहां सावधानी के दो शब्द जरूरी हैं। यदि ऐसे लक्षण या चिह्न मौजूद हैं तो एकदम इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंच जाना चाहिए कि अनिवार्य रूप से ग्रंथि का विकार है ही। वामनता या बौनापन इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। अंत:-स्रावी विकारों के अतिरिक्त वामनता अथवा रुद्ध वृद्धि आनुवंशिक अथवा पारिवारिक कारणों अथवा कुपोषण अथवा फेफड़े, हृदय या यकृत् के चिरकारी रोग के कारण भी हो सकती है। विस्तृत इतिहास और आर्युविज्ञानीय जांच के आधार पर ही डाक्टर असली कारण का पता लगाकर फिर उसकी ठीक-ठीक चिकित्सा कर सकता है।

उपचार :

सही निदान करने के बाद रोग का उपचार उसकी प्रकृति के अनुसार किया जाना चाहिए कि वह ग्रंथि विशेष की अल्पक्रियता, अतिक्रियता अथवा अपसामान्य क्रियाशीलता यानी किस बात के कारण है।

अल्पक्रियता : यदि किसी ग्रंथि द्वारा स्रावित होने वाला हॉरमोन कम है या पूरी तरह से अविद्यमान है तो उपचार के लिए शरीर में वह हॉरमोन दिया जाना चाहिए। इस उपचार को 'प्रतिस्थापन-चिकित्सा' (replacement therapy) कहते हैं। इनमें कुछ हॉरमोन प्राणियों से प्राप्त होते हैं और बहुत महंगे होते हैं। अधिकांश अब संश्लेषित भी किए जा चुके हैं और जो प्राय: अधिक मंहगे नहीं होते। यद्यपि कुछ हॉरमोन, जैसे कि लैंगिक व अवटु हॉरमोन, मुंह से लिए जा सकते हैं और अन्य हॉरमोनों को, जैसे कि इन्सुलिन, ए. सी. टी. एच. और गोनेडोट्रॉफिन, इंजेक्शन द्वारा दिया जाता है क्योंकि इन्हें यदि मुंह द्वारा दिया जाएगा तो ये पाचक रसों द्वारा नष्ट हो जाते हैं।

कुछ में, 'प्रतिस्थापन-चिकित्सा' काफी अधिक समय तक की जानी होती है यहां तक कि जीवन पर्यन्त भी। 'अनवटु वामनता' (चित्र 36.4) की अवस्था तभी आती है जब वर्धमान भ्रूण में अवटु ग्रंथि का बिलकुल भी परिवर्धन नहीं होता। ऐसे रोगी में थाइरॉक्सिन की आपूर्ति जीवन पर्यन्त करती रहनी पड़ती है, लेकिन थाइरॉयड हॉरमोन सरीखे हॉरमोनों को लेने में कोई परेशानी नहीं होती क्योंकि इन्हें मुंह द्वारा लिया जा सकता है। लेकिन इंजेक्शन द्वारा लिए जाने वाले हॉरमोन कुछ परेशानी वाले हैं क्योंकि इन्हें रोज-रोज जो लेना होता है। उदाहरण के लिए, मधुमेह के रोगी को इन्सुलिन का इंजेक्शन रोज लेना होता है।
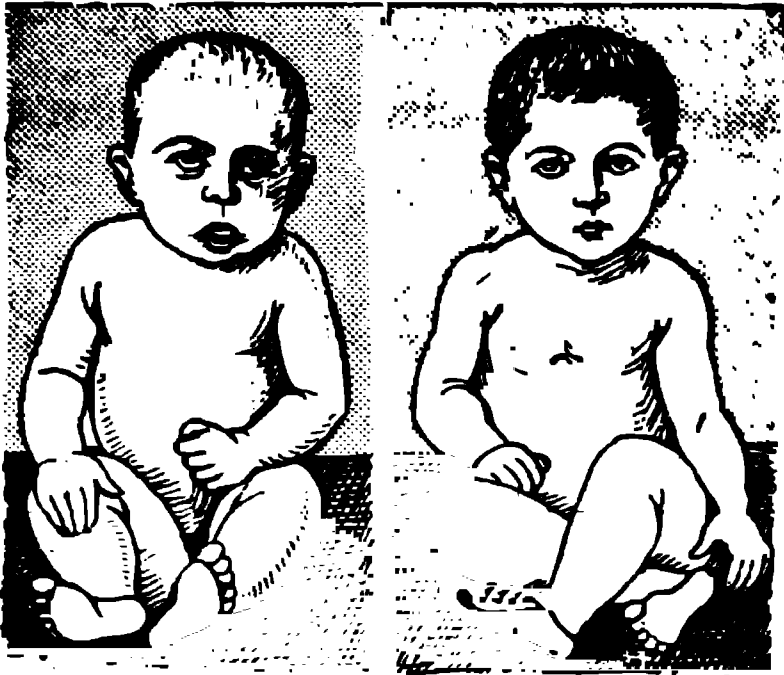
उपचार के पहले उपचार के बाद

चित्र 36.4—अवटुवामनता (क्रेटिनता)

लेकिन औषधि निर्माताओं और वैज्ञानिकों ने इस समस्या को काफी कुछ सीमा तक सुलझा लिया है। उदाहरण के लिए, टेस्टोस्टेरोन इंजेक्शन 'डिपो' अथवा दीर्घप्रभावी रूप में दिए जाते हैं। ऐसे इंजेक्शनों का प्रभाव दो या तीन हफ्ते तक रहता है। इसी तरह कुछ टेस्टोस्टेरोन औषधियां 'रोप' (implant) के रूप में उपलब्ध होती हैं, जोकि दवा की टिक्की होती हैं और जिन्हें शस्त्रकर्म द्वारा रोगी की त्वचा के बीच आरोपित कर दिया जाता है। इस स्थल से हॉरमोन लगभग नौ महीने की अवधि में धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा करके अवशोषित किया जाता है।

अतिक्रियता : ग्रंथि की अतिक्रियता में उपचार की निम्नलिखित विधियों में से एक विधि अपनाई जानी चाहिए :

(क) ग्रंथि का हॉरमोन स्रवण उपयुक्त औषधियों से अवनमित हो जाता है। उदाहरण के लिए, अवटुअतिक्रियता (hyperthyroidism) में थायोयूरिया समूह के यौगिक दिए जाने चाहिए।

(ख) ग्रंथि पूरी या उसका एक भाग शस्त्रकर्म द्वारा निकाला जा सकता है। आज की आधुनिक शस्त्रकर्म तकनीकों से यह संभव है।

(ग) यदि शस्त्रकर्म द्वारा ग्रंथि नहीं निकाली जा सकती तो उसका विकिरण द्वारा नाश किया जाता है। उदाहरण के लिए, पीयूषिका ग्रंथि का अर्बुद डीप एक्स-रे द्वारा उपचारित किया जा सकता है। इसी तरह उसमें एक रेडियोएक्टिव रोप भी प्रविष्ट कराया जा सकता है, ताकि रेडियोऐक्टिवता से अर्बुद की विनष्टि हो सके। अवटु अतिक्रियता में रेडियोऐक्टिव आयोडीन को उचित मात्रा में देने से अवटु ग्रंथि को नष्ट किया जा सकता है।

ऊपर बताए गए अनुसार अतिक्रियता और अल्पक्रियता के उपचार के अतिरिक्त, आहार, खनिज व तरल पदार्थों का अंतर्ग्रहण विटामिन अंतर्ग्रहण, शारीरिक क्रियाशीलता आदि कारकों पर भी अमल करना चाहिए लेकिन सब डाक्टरी सलाह पर होना चाहिये।

हॉरमोन और कैन्सर :

आधुनिक अंतःस्राविकी के माध्यम से अंतःस्रावी विकारों के निदान और उपचार वाले क्षेत्र में काफी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। आयुर्विज्ञान की अन्य किसी शाखा की तरह इसके द्वारा भी अनेक अभागे पीड़ितों को दुःख से छुटकारा मिला है। एक दूसरा क्षेत्र और भी है जिसमें इसने सहायता पहुंचाई है और वह है कैन्सर का उपचार। विभिन्न प्रकार के कैन्सरों और हॉरमोनों में पारस्परिक संबंध ज्ञात किए गए हैं। उदाहरण के लिए, शस्त्रकर्म द्वारा लैंगिक ग्रंथियों के निकालने अथवा विकिरण द्वारा विनाश से स्तन और प्रोस्टेट के कैन्सरों में सुधार किया जाता है। कई ऐसे रोगी, जिनमें रोग बहुत पहले से था और जिनमें आपरेशन नहीं हो सकता था, आपरेशन द्वारा पीयूषिका ग्रंथि के निकालने के बाद काफी लंबी अवधि तक जीवित रहे हैं।

अंतःस्रावी विकारों का निवारण :

यद्यपि अंतःस्रावी विकारों के कारण, निदान

सारणी 36.1—अंतःस्रावी ग्रंथियों के रोगों की प्रमुख अभिव्यक्तियां

ग्रंथि	अतिक्रियता		अल्पक्रियता		अपसामान्य कार्य	
	रोग	अभिव्यक्तियां	रोग	अभिव्यक्तियां	रोग	अभिव्यक्तियां
अग्र पोयूषिका	महाकायता	अत्यधिक लंबाई	वामनता	कम ऊंचाई	—	—
	अग्र अतिशयता	चेहरे, जबड़े, हाथों, पांवों की वृद्धि, मधुमेह	शिशुकायता	लघुता के साथ लैंगिक मंदता	—	—
	लैंगिक काल-पूर्वपक्वता	कालपूर्व लैंगिक परिवर्धन	सिमोंड रोग	कमजोरी, अशक्तता, बालों का झड़ना	—	—
पश्च-पोयूषिका	—	—	उदक मेह	अधिक पेशाब करना व प्यास	—	—
अवटु	नेत्रोत्सेधी घेंघा	दुर्बलता, अधीरता, उदग्र आंखें अनार्तव	मिक्सिडीमा	शरीर में सूजन, बालों का झड़ना, सुस्ती, अत्यार्तव	—	—
	—	—	अवटुवामनता	शिशु की मंद वृद्धि		
परावटु	परावटु अति-क्रियता	वृक्क की अश्मरी, मृदु हड्डियां	परावटु अल्पक्रियता	टेटनी अथवा अनैच्छिक पेशी स्फुरण	—	—
अग्न्याशय	अतिइन्सु-लिनता	अल्पग्लूकोज-रक्तता (रक्त-शर्करा में कमी)	मधुमेह	मूत्र में शर्करा, मोटापा, त्वचा संक्रमण, विलंबित विरोहण	—	—
अधिवृक्क-प्रांतस्था	कुशिंग संलक्षण	मोटापा, अति-रक्तदाब मधुमेह	ऐडिसन रोग	अशक्तता, कमजोरी, वर्णकता, अल्प-रक्तदाब	ऐंड्रोजन अथवा ईस्ट्रोजन का अधिक उत्पादन	स्त्री का पुंसत्वभवन, पुरुष का स्त्रीभवन
अधिवृक्क-अंतस्था	अर्बुद	अतिरक्तदाब, पेशाब में शर्करा	—	—	—	—
वृषण	कालपूर्व यौवनारंभ	कालपूर्व लैंगिक परिवर्धन	जननद अल्प-क्रियतना	नपुंसकता, बंध्यता	स्त्रीभवन वाला रोग	पुरुष में स्त्रीलैंगिक लक्षण
अंडाशय	कालपूर्व यौवनारंभ	कालपूर्व लैंगिक परिवर्धन	जननद अल्प-क्रियता	ऋतुस्राव की अनियमितता, बंध्यता, कामो-दासीनता	पुंसत्व-भवन वाले अर्बुद	स्त्री में पुंलैंगिक लक्षण

और उपचार के बारे में बहुत कुछ मालूम है लेकिन इन विकारों के बचाव के बारे में बहुत कम जानकारी है। एक के बारे में ज्ञात है कि जहां आयोडीन की कमी से घेंघा हो जाता है वहां आयोडीन वाले लवणों का प्रयोग करना चाहिए। इससे स्थानिक रूप से होने वाले घंघे के रोग में काफी कुछ कमी हो जाती है।

फिर भी एक बात है जहां अंत:स्रावी विकार उत्पन्न करने का बहुत खतरा है और इसको निश्चित रूप से रोका जा सकता है। और यह है हॉरमोनों का अविवेकपूर्ण और अनधिकृत प्रयोग। 'ग्रंथि वाले विकारों' के उपचार के लिए कई व्यापारिक औषधियों का ऐसा विज्ञापन किया जाता है कि लोग उधर आकर्षित हो जाएं, जैसे कि मोटापा, यौन कमजोरी, छोटे कद, ऋतुस्राव की अनियमितता और इसी प्रकार के अन्य रोग। कुछ विज्ञापन वाले तो यहां तक करते हैं कि पाठक को लुभाने के लिए ग्रंथियों की तस्वीरें खींचकर और उनकी क्रियाविधि का भी भलीभांति वर्णन करते हैं। कुछ विज्ञापित औषधियों में समर्थ हॉरमोन होते हैं। लेकिन जब तक डाक्टर द्वारा ऐसी कमी की जांच नहीं की जाती और हॉरमोन की कमी का निदान नहीं कर लिया जाता तब तक ऐसे हॉरमोनों का लिया जाना, जो कि आवश्यक न भी हों, लाभ के बदले हानि कर सकते हैं (देखिए अध्याय 55 'स्वऔषध प्रयोग और दवाओं का दुरुपयोग')। यह तो मालूम ही है कि विभिन्न अंत:-स्रावी ग्रंथियों की संतुलित क्रिया रहती है और इमसे स्वास्थ्य बना रहता है। हॉरमोनों का अविवेकपूर्ण प्रयोग इस संतुलन को बिगाड़ सकता है। इस तरह अंत:स्रावी विकार की ऐसी शुरुआत की जा सकती है जोकि पहले अस्तित्व में नहीं होती।

• • •
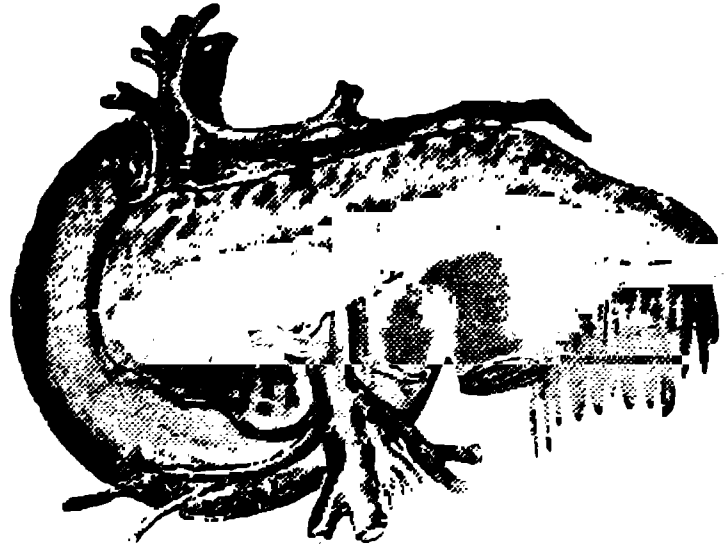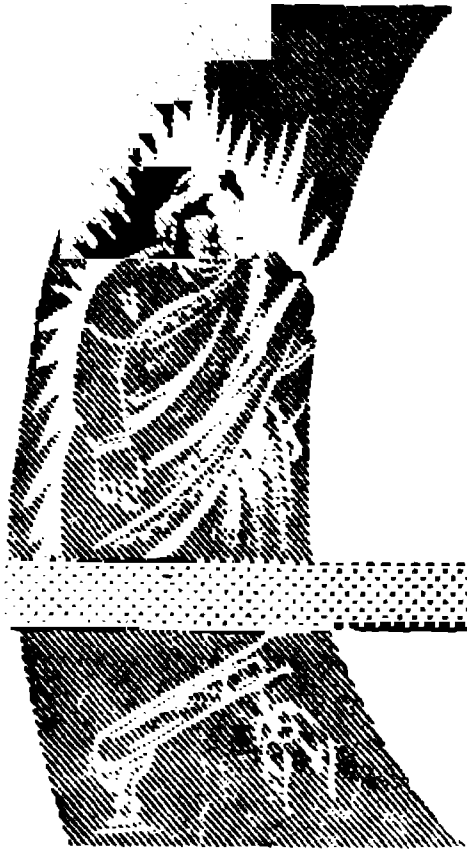
37

—डा० एस० एस० अजगांवकर

मधुमेह (डायबेटीज मेलिटस)

मधुमेह सभ्यता के युग वाला रोग है, जो समाज में बुद्धिजीवियों और उत्पादनकारी वर्ग को अधिक प्रभावित करता है। यह रोग बगैर पूर्व चेतावनी के धीरे-धीरे आता है और यदि इसका ठीक से उपचार न किया गया तो बहुत बढ़ जाता है। संक्रामक रोगों के भली-भांति नियंत्रित हो जाने के बाद मधुमेह आज मानव का प्रमुख शत्रु होता जा रहा है। लेकिन आधुनिक उपचार से अधिक जटिलताएं और मृत्यु नहीं हो पातीं। इससे जीवन अवधि लंबी हो जाती है और चिरकारी जटिलताओं वाली संबद्ध समस्याएं घातक नहीं होतीं लेकिन अशक्त बना देती हैं। अतः हरएक को मधुमेह के बारे में ज्ञान होना चाहिए और यह जानकारी भी होनी चाहिए कि इसके होने पर किस तरह अच्छा और दीर्घावधि का जीवन बिताया जा सकता है। मधुमेह का रोगी अन्य किसी भी व्यक्ति की तरह चुस्त हो सकता है।

मधुमेह क्या है ?

मधुमेह चयापचय का रोग है जो इन्सुलिन की कमी के कारण होता है। यह अंतःस्रावी ग्रंथियों के असंतुलन के परिणामस्वरूप होता है। यह ऐसा रोग है जिसमें शरीर का पोषण प्रभावित होता है क्योंकि ऊतकों द्वारा भोजन की शर्कराओं और मंडों का उचित या यथेष्ट रूप से उपयोग नहीं हो पाता। इसलिए रक्त में शर्करा का जमाव इतना हो जाता है कि जो वृक्कों (गुर्दों) की क्षमता वाले स्तर से अधिक हो जाता है। इसका परिणाम होता है पेशाब में शर्करा के साथ खनिजों और जल में घुलनशील विटामिनों का विसर्जित होना। मधुमेह के कुछ रोगियों में पेशाब में शर्करा नहीं भी हो सकती है किंतु रक्त में शर्करा की अधिक मात्रा हो सकती है। ऐसे भी रोगी होते हैं जिनमें पेशाब में शर्करा होती है लेकिन रक्त में शर्करा का उच्च स्तर नहीं होता और इस दशा को वृक्क शर्करामेह (renal glycosuria) कहते हैं। शरीर के ऊतकों में भुखमरी फैल जाती है जिससे शरीर के प्रोटीन और वसाओं का बड़ी जल्दी उपभोग कर लिया जाता है और इसका परिणाम होता है वजन में कमी।

* * * *

डा. एस. एस. अजगांवकर, जेड. एल ओ. (विएना), एल. एम. (डबलिन), एल. सी. पी. एस. (बम्ब.), मधुमेह क्लीनिक, जे. जे. अस्पताल, बंबई; अवै. मंत्री, भारतीय मधुमेह एसोसिएशन।

रक्त में शर्करा का उपभोग न हो पाना इन्सुलिन की अपर्याप्तता के कारण होता है और इन्सुलिन वह हॉरमोन है जो अग्न्याशय के लैंगरहेन्स द्वीपिका समूह की बीटा कोशिकाओं द्वारा उत्पन्न होता है। ऊतकों में ऑक्सीजन की सहायता से शर्करा के दहन के लिए इन्सुलिन जरूरी होता है। इन्सुलिन की कमी पूर्ण अथवा आपेक्षिक और कई कारणों से हो सकती है।

मधुमेह के आरंभिक संकेत :

मधुमेह की पहचान आकस्मिक रूप से डाक्टरी जांच के दौरान होती है जबकि रोगी ऐसी शिकायतें करता है जो कि मधुमेह से संबंधित नहीं होती हैं। आरंभिक अवस्था में मधुमेह के कोई प्रारूपी लक्षण नहीं होते हैं, जैसे कि अधिक भूख, मुंह का सूखापन व अधिक प्यास, बार-बार अधिक पेशाब करना और इसकी अत्यावश्यकता का अनुभव करना आदि। यदि निम्नलिखित लक्षण मौजूद हैं तो मधुमेह का संदेह किया जा सकता है : बिना बात के अधिक थकान व सामान्य कमजोरी— शारीरिक व मानसिक, वजन में कमी, शरीर में वेदना और दर्द, दृष्टि बाधा के कारण बार-बार चश्मे के लेन्स बदलने की आवश्यकता पड़ना, जननांगों में खुजली व सूजन तथा नपुंसकता। यदि किसी के परिवार में मधुमेह का इतिहास है तो 35 वर्ष की उम्र के बाद मूत्र की जांच करवा लेना बुद्धिमानी की बात है। पूरा भोजन करने के तीन घंटे बाद शर्करा की जांच की जानी चाहिए।

हर एक व्यक्ति जिसके परिवार में मधुमेह का इतिहास रहा है उसे मधुमेह का वाहक अनुमानित किया जाना चाहिए। ये वाहक मधुमेह के प्रति सुग्राही होते हैं। मोटे व्यक्तियों में भी मधुमेह अधिक होता है। मधुमेह शहर में रहने वालों और एक जगह बैठे रहने या बैठकर काम करने वाले व्यक्तियों में अधिक होता है। बच्चों की अपेक्षा प्रौढ़ इसके प्रति अधिक सुग्राही होते हैं। मधुमेह के असली कारण के बारे में अभी तक पता नहीं है।

निदान :

इस प्रकार के सुग्राही व्यक्तियों में जीवन में कोई भी बोझ या तनाव मधुमेह उत्पन्न कर सकता है, जैसे यौवनारंभ, सगर्भता, रजोनिवृति अथवा मानसिक तनाव या चिंता। ऐसे रोगियों में भले ही प्ररूपी लक्षण न हों तो भी आरंभिक अवस्था में पूरा भोजन करने के 2-3 घन्टे बाद बेनेडिक्ट रीएजेन्ट में मधुमेह की पहचान की जा सकती है। मंद प्रकार के मधुमेह में मूत्र के बिलकुल सुबह वाले नमूने में शर्करा नहीं भी हो सकती है और इस तरह कई रोगियों की पहचान नहीं हो पाती। मोटे तौर पर 100 में से 90 मधुमेह रोगियों में केवल मूत्र परीक्षा से ही मधुमेह की पहचान की जा सकती है। बाकी लोगों में पूरा भोजन करने के डेढ़ से दो घन्टे बाद रक्त की जांच अथवा ग्लूकोज सहिष्णुता जांच से निदान हो सकता है (चित्र 37.2)। मंद प्रकार के मधुमेह रोगियों में बिना खाये रक्त शर्करा सामान्य सीमा में हो सकती है अर्थात् 80 से 120 मिग्रा. प्रति 100 मिली.।

रोगी के रक्त शर्करा स्तर के अनुसार मधुमेह को मंद, मध्यम प्रकार से उग्र अथवा उग्र प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। रक्त शर्करा वक्र में, जिसके आधार पर मधुमेह का निदान होता है, निम्नलिखित लक्षण होते हैं : 1. बिना खाये रक्त शर्करा 120 मिग्रा.% से अधिक, 2. ग्लूकोज देने के बाद अधिकतम स्तर 170 मिग्रा.% से अधिक, और 3. दो घंटे बाद रक्त शर्करा स्तर 130 से अधिक।

यदि मधुमेह समुचित रूप से नियंत्रित किया जाता है तो बिना किसी जटिलता के मधुमेह रोगी करीब-करीब सामान्य जीवन जीता है। यदि वह यह नहीं जानता कि अपने रोग को कैसे नियंत्रित
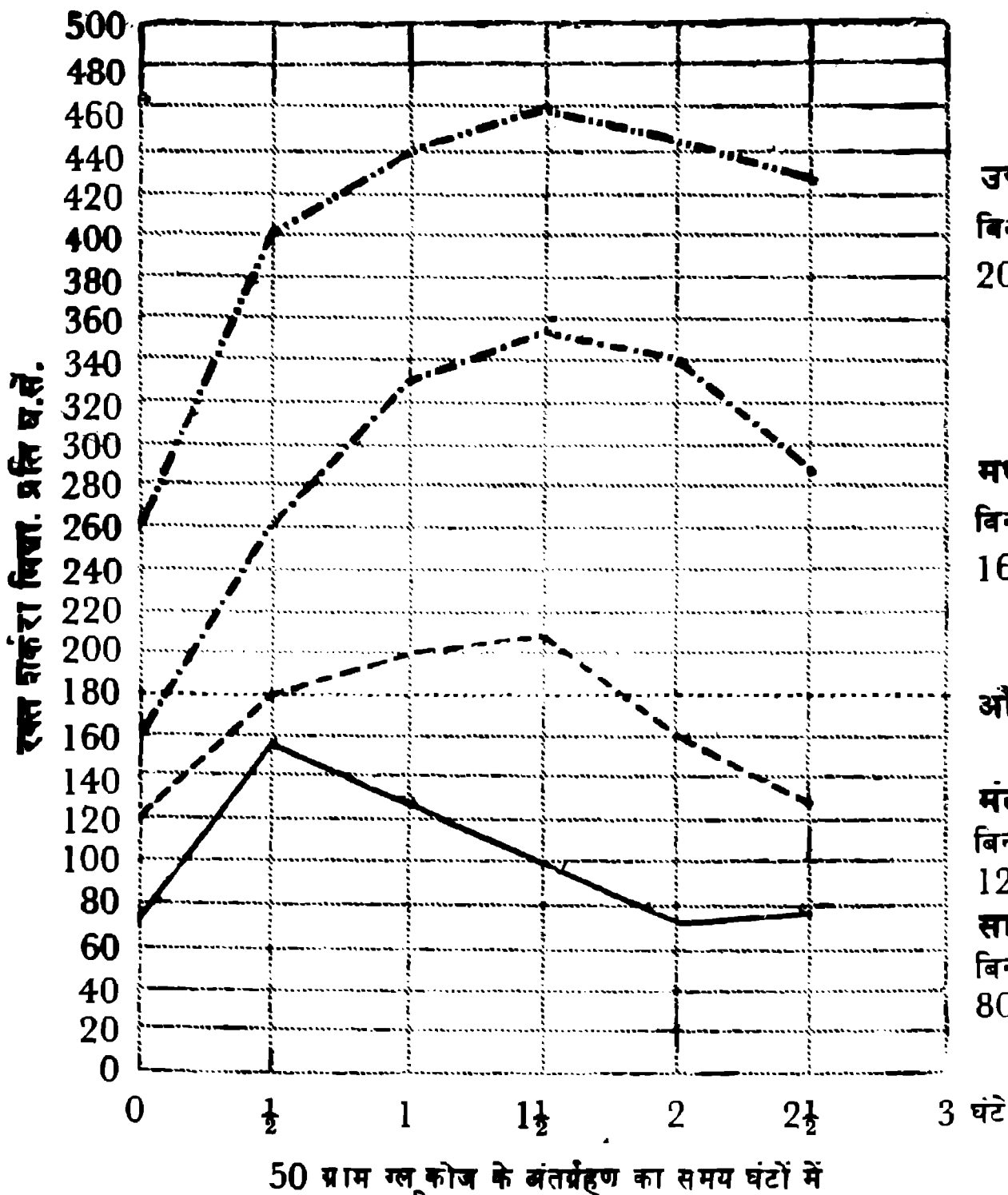
चित्र 37.2—ग्लूकोज सहिष्णुता-वक्र

करना चाहिए तो कुछ जटिलताएं हो सकती हैं जो उसे अपंग बना सकती हैं।

मधुमेह के उपद्रव या जटिलताएं :

मधुमेह पर यदि समुचित नियंत्रण नहीं हो सके तो इसे उपद्रवों या जटिलताओं का रोग ठीक ही कहा गया है। इन उपद्रवों या जटिलताओं को (1) तीव्र उपद्रवों और (2) चिरकारी उपद्रवों में विभाजित किया जा सकता है। इन्सुलिन, प्रति-जीवी औषधियों और मधुमेह के इतिहास की समुचित जानकारी को लाख-लाख धन्यवाद। इन्हीं के कारण मधुमेह के भयानक तीव्र उपद्रवों यानी मधुमेह कोमा या बेहोशी, जो कि आयुर्विज्ञान की दृष्टि से आपात्कालीन स्थिति है और यदि इसकी सुचारु चिकित्सा न की गई तो घातक होती है, कारबंकल और तीव्र गैंग्रीन का नियंत्रण ही नहीं समूल नाश भी किया जा सका है। मधुमेह के रोगियों की जीवन अवधि शताब्दी के आरंभ में 4.7 वर्ष थी लेकिन यह बढ़कर 18 वर्ष हो गयी है, और वे अब मधुमेह के कारण नहीं मरते बल्कि रोग के ठीक से नियंत्रित न किए जाने पर उसके चिरकारी उपद्रवों या जटिलताओं के कारण मरते हैं। इसके अतिरिक्त मधुमेह के रोगी, यदि अनियंत्रित रहते हैं तो यक्ष्मा सरीखे संक्रमणों के प्रति अधिक सुग्राही होते हैं और ऐसे संक्रमण से मंद प्रकार का मधुमेह उग्र प्रकार का हो जाता है।

महत्वपूर्ण चिरकारी उपद्रव या जटिलताएँ :

1. दृष्टि बाधा अथवा अंधता।

2. गरमी, वेदना, शीत, स्पर्श, कंपन और अन्य तंत्रिक कार्यों की संवेदना में बाधा। अधः-पादों में तंत्रिकार्ति, विशेषकर रात में।

3. वृक्कीय हानि अथवा वृक्कपात से रक्त में वर्ज्य पदार्थों का जमाव।

4. हृद् रोगों और अतिरक्त-दाब को अधिक बढ़ावा।

5. पादों या शाखाओं का शुष्क गैंग्रीन।

6. गर्भपात, मृतजन्म आदि का अधिक खतरा।

अतः तीव्र या चिरकारी यानी सभी प्रकार के उपद्रवों से बचाव, उपचार का सबसे महत्वपूर्ण पहलू है। मधुमेह रोगी द्वारा इन उपद्रवों से बचने के लिए एक विशेष प्रकार का जीवन अपनाना होता है।

मधुमेह का नियंत्रण :

मधुमेह इन्सुलिन की कमी वाला, आपेक्षिक अथवा पूर्ण, चयापचय का रोग है। इसलिए जो भी चीज शरीर के चयापचय का स्थिरीकरण करती है और उसे सामान्य के निकट लाती है उपचार का भाग बन जाती है।

मधुमेह का नियंत्रण निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

(क) अग्न्याशय पर जोर कम करने के लिए आहार का समंजन।

(ख) रक्त के अधिक शर्करा स्तर को सामान्य स्तर के निकट लाने और मूत्र को शर्करामुक्त रखने के लिए, यदि आवश्यक हो तो, पर्याप्त इन्सुलिन की आपूर्ति करना।

(ग) अग्न्याशय को उद्दीपित करके अधिक इन्सुलिन उत्पन्न करने के लिए मुंह द्वारा मधुमेहरोधी औषधियां लेना।

(घ) नियमित व्यायाम।

उत्तम परिणामों के लिए मधुमेह का नियंत्रण सालों तक किया जाना चाहिए। आरंभिक मधुमेह में उपचार आक्रामी प्रकार का होना चाहिए जिससे कि अग्न्याशय को आराम मिल सके और यदि संभव हो सके तो विसर्ग (Remission) की अवस्था प्राप्त हो सके जिसमें मधुमेह के रोगी को लंबी अवधि तक यूं ही रखा जा सके।

(क) आहार :

मधुमेह का सबसे महत्वपूर्ण और आधारभूत उपचार आहार के माध्यम से होता है। आहार को शरीर की आवश्यकता के अनुसार समंजित किया जाना चाहिए न कि स्वाद या भूख के अनुसार। व्यक्ति के वज़न, उम्र और गठन के अनुसार शरीर के इष्टतम वजन के लिए 30 कैलोरी प्रति कि. ग्रा. अथवा इससे कम होना चाहिए अर्थात् 60 किलोग्राम (132 पौन्ड) वज़न वाले पुरुष के लिए 1800 कैलोरियों वाला आहार होना चाहिए।

यदि मधुमेह रोगी अधिक वजन वाला है तो प्रति ग्राम 25 कैलोरियों की ही आपूर्ति की जानी चाहिए। दुबले पतले और कम वजन वाले मधुमेह रोगी वयस्क और बच्चे के लिए स्वतंत्र रूप से अच्छा आहार होना चाहिए।

इन्सुलिन की अपर्याप्त मात्रा वाले मधुमेह रोगी में ऊतकों द्वारा शर्करा का उपभोग नहीं हो पाता है। इस तरह ग्लूकोज के रक्त में बहुतायत से रहने पर भी दहन के लिए आवश्यक इस ईंधन के लिए शरीर भूख से तड़पता रहता है। ग्लूकोज का उपभोग न होने पर भोजन के अन्य घटकों का उपयोग भी ठीक से नहीं हो पाता है। चूंकि इन्सुलिन पर्याप्त मात्रा में नहीं होता है इसलिए इन्सुलिन के अधिक उत्पादन के लिए अग्न्याशय पर जो जोर पड़ता है उसे कम कर दिया जाना

चाहिए और ऐसा आहार लिया जाना चाहिए कि अग्न्याशय को आराम मिले और स्वास्थ्य भी अच्छा बना रहे।

मधुमेह के रोगी को अपना भोजन चुनना और अपने-अपने आहार को समंजित करना आना चाहिए। भोजन चुनने में उसे भोजन का संघठन ज्ञात रखना चाहिए, विशेषकर उसके शर्करा अंश का। इस प्रसंग में 37.1 और 37.2 सारणियां बहुत लाभदायक सिद्ध होंगी। चावल, गेहूं, बाजरा, ज्वार, नचनी सरीखे अनाजों में 70 से 80% कार्बोहाइड्रेट होते हैं; दालों में 56 से 60%; नट या दृढ़फल में 10—20%; दूध में 5%; पत्तेदार सब्जियों में 3—5%; बिना पत्ती की सब्जियों में 6—15%; जड़ों और कंदों में 15 से 25%। ताजे फलों में, यद्यपि उनका स्वाद मीठा होता है, शर्करा केवल 5% (तरबूज) से लेकर 35% (केला) तक होती है।

कार्बोहाइड्रेट और प्रोटीन एक ग्राम में करीब 4 कैलोरियां और वसा 1 ग्राम में करीब 9 कैलोरियां होती हैं। अधिक विस्तृत जानकारी के लिए अध्याय 6 देखिए।

भोजन चुनने में निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए :

1. सांद्र या गाढ़ी मिठाइयों* से परहेज रखना चाहिए क्योंकि इनका अवशोषण बड़ी तेजी से होता है और चूंकि ये मात्रा में कम होते हैं इसलिए भूख की संतुष्टि तब तक नहीं करतीं जब तक इन्हें अधिक मात्रा में न लिया जाय।
2. आलू, शकरकंद, साबूदाना सरीखे पदार्थों से, जिनमें कार्बोहाइड्रेट अधिक मात्रा में होता है, परहेज रखना चाहिए।
3. चावल, गेहूं, ज्वार, ब्रेड, रोटी या चपाती वाले धान्यों को, जिनमें अपेक्षतया कार्बोहाइड्रेट का प्रतिशत अधिक होता है, नपी तुली व कम मात्रा में लेना चाहिए। दाल और नट या दृढ़फल मर्यादित मात्रा में लिए जाने चाहिए।
4. फल और जड़ वाली सब्जियां शर्करा अंश ज्ञात होने पर ही खाई जानी चाहिए। 10 से 15% कार्बोहाइड्रेट वाले फल कम से कम 100 ग्राम खाए जाने चाहिए।
5. 3 से 5% और 6 से 15% कार्बोहाइड्रेट वाली सब्जियां और चाय, काफी अथवा सूप सरीखे बगैर चीनी के पेय लिए जाने चाहिए।
6. मांस, मछली और अंडे, जिनमें शर्करा नहीं होती, सामान्य मात्रा में लिए जा सकते हैं। एक शाकाहारी व्यक्ति को 600 मिली. (2 भरे गिलास) दूध प्रतिदिन लेना चाहिए।

आहार में 180 से 200 ग्राम कार्बोहाइड्रेट, 60 ग्राम प्रोटीन और 70 से 90 ग्राम वसाएं होनी चाहिए (दूध और नट या दृढ़फलों से भी) ताकि औसत प्रौढ़ व्यक्ति के लिए अपेक्षित 1800 कैलोरियां उपलब्ध हो सकें।

यदि मधुमेह रोगी का आहार उचित रूप से नियंत्रित नहीं रहता है तो इन्सुलिन अथवा मुंह द्वारा अल्पग्लूकोजरक्तता करने वाली औषधियां लेने से भी रोग पर ठीक से नियंत्रण नहीं होगा। स्थायी मधुमेह में मूलभूत उपचार आहार है और दवाएं गौण हैं। यदि रोगी मोटा है तो प्रायः आहार का नियंत्रण ही सही उपचार है।

मधुमेह के उपचार के शुरू होने पर बिना पकाए खाद्य पदार्थों को तोल और माप लेना चाहिए, विशेषकर उन खाद्य पदार्थों को जिनका कैलोरी मान और कार्बोहाइड्रेट अंश अधिक होता

---

* मधुमेह के रोगी को यदि मिठाई की लालसा है तो उसे सैकरीन और उस जैसे मीठे पदार्थ लेने चाहिए। लेकिन इन पदार्थों को भी मर्यादित मात्रा में लेना चाहिए।

है ताकि रोगी को शरीर में लिए जाने वाले भोजन का सही अंदाजा हो सके। इसके लिए तराजू और प्याले, चम्मच सरीखे मानक मापक किचन के लिए उपयोगी रहेंगे और इनका ही प्रयोग किया जाना चाहिए। प्रत्येक मधुमेह रोगी को अपने प्रतिदिन के आहार की मात्रा में और अंश के बारे

सारणी 37.1—100 कैलोरी देने वाले खाद्य पदार्थों की मात्रा ग्राम में दिखलाती हुई।

खाद्य पदार्थ	ग्राम
धान्य	
बाजरा, ज्वार, मक्का, रागी (नचनी), चावल सभी रूपों में—पपड़ी या परत, फुलाया हुआ और कच्चा, गेहूं सभी रूपों में—आटा, सूजी, दलिया	30
गेहूं की ब्रेड	45
दालें	
सभी किस्में	39
दूध और दूध के उत्पाद	
मलाई निकले दूध का चूर्ण	30
गाय का दूध	150
भैंस का दूध	90
नट या दृढ़ फल	15 से 20
मांस, मछली और अंडे	
अंडे	75
मटन, कलेजी	60
मछली (बगैर तली हुई)	120
मुर्गी	100
शहद, शर्करा, गुड़	
सभी मोटे तौर पर 5 चाय चम्मच भर	25
चॉकलेट	20
तेल, घी, वसाएं	
2 चाय चम्मच भर मक्खन	15
सब्जियां	
शकरकंद	70
आलु, सिघाड़ा	90
हरी मटर, आलु कंद	100
फल	
सीताफल	87
केला	71
अंजीर	95
अंगूर	328
अमरूद	150
जामुन	125
करोंदा (सूखा)	29
पका आम	210
तरबूज	630
संतरा	210
नाशपाती	200
अनन्नास	200
किशमिश	33
अन्य	
नीरा	220
साबूदाना	30
राजगीरा	28

सारणी 37.2—भोजन का चुनाव

बिना रोक के लिये जा सकने वाले खाद्य पदार्थ

संसाधन—स्वाद के अनुसार मसाले और अचार। चाय व कॉफी (बिना चीनी की), सोडावाटर। पतले सूप, शोरबा, रसा, गिलेटिन जो मीठा न हो। नींबू, सेकरीन (सोडियम साइक्लमेट), सिरका।

खाद्य पदार्थ जिनसे परहेज रखा जाना चाहिए

शरबत सरीखे मीठे पेय, कोला व क्रीम के व्यंजन। चॉकलेट व अन्य प्रकार की कैन्डी, खीर, हलवा, खोए की मिठाइयां, लड्डू सरीखे मीठे व्यंजन, एल्कोहॉली पेय, नट या दृढ़फल और आलु के चिप।

अपने कायचिकित्सक की सलाह ले लेनी चाहिए।

मधुमेह रोगी के लिए जिंदगी भर डाइटिंग करना जरूरी है। आहार के बारे में वह और उसका कायचिकित्सक जितने अधिक प्रबुद्ध रहेंगे, इन्सुलिन व मुंह द्वारा अल्पग्लूकोजरक्तता वाली औषधियों के रूप में उतने ही अच्छे परिणाम उन्हें नजर आएंगे। इससे बहुत कम उपद्रव होंगे।

मधुमेह रोगी को सार रूप में एक सलाह दी जा सकती है, 'खाओ, लेकिन परितृप्ति के लिए नहीं। खाने की मेज पर से पूरी भूख मिटाने के पहले ही उठ जाओ यानी भरपेट खाना मत खाओ और इस तरह अधिक दिन तक जियो और स्वस्थ रहो। दुबारा भोजन लेने के समय "ना" कहने की आदत बना लो। यदि ऐसा कर लिया तो समझो तुमने मधुमेह के रोग पर आधी विजय पा ली।'

(ख) इन्सुलिन :

मधुमेह के रोगी को प्रायः अतिरिक्त इन्सुलिन की आवश्यकता होती है। आजकल इस्तेमाल होने वाली इन्सुलिन सामान्यतया पशुओं, भेड़ों, सूअरों आदि के अग्न्याशय से प्राप्त की जाती है। इन्सुलिन-चिकित्सा रोगहर नहीं बल्कि स्थानापन्न विधि है, एक विकल्प है। व्यापारिक तौर पर कई इन्सुलिन औषधियां बाजार में मिलती हैं। शीघ्र कार्य करने वाली इन्सुलिन क्रिया की तीव्रता में वृद्धि कर देती है। इसके विपरीत देर से असर करने वाली इन्सुलिन क्रिया की अवधि बढ़ा देती है। मध्यम प्रकार की इन्सुलिन क्रिया की तीव्रता और अवधि दोनों में वृद्धि करती है।
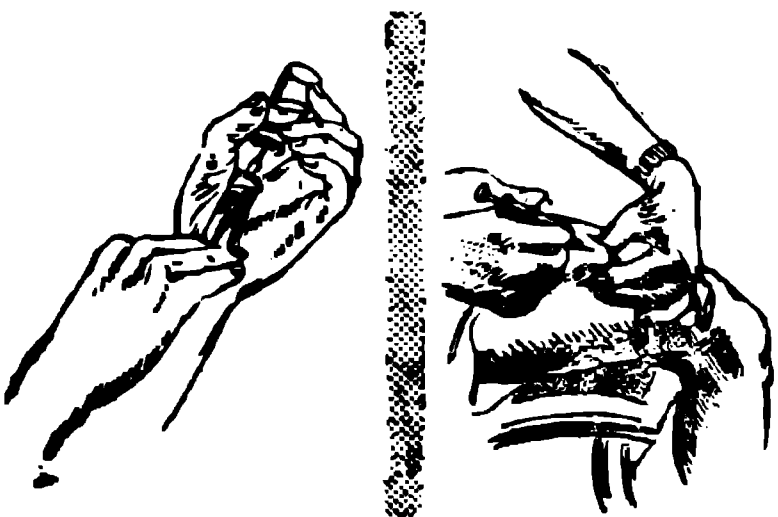
इन्सुलिन की कार्यक्षमता केवल कार्बोहाइड्रेटों के उपयोग तक ही सीमित है और इन्सुलिन का इंजेक्शन आहार की अधिकता को प्रभावित नहीं करेगा। इन्सुलिन को आहार के अनुसार और आहार को इन्सुलिन के अनुसार समंजित किया जाना चाहिए। इन्सुलिन का एक यूनिट आहार में प्रायः लगभग 2 से 3 ग्राम शर्करा को प्रभावित करता है।

इन्सुलिन का मुख्य कार्य होता है अधिक रक्त शर्करा स्तर को सामान्य स्तर पर लाना और इस तरह यह मधुमेह की अवस्था को नियंत्रित रखती है। कॉमा व संक्रमण सरीखे उपद्रवों में इन्सुलिन बहुत आवश्यक है। मधुमेह वाले बच्चों, कम वज़न वाले प्रौढ़ों और गर्भवती स्त्रियों के लिए भी यह जरूरी है।

मधुमेह के प्रत्येक रोगी को खुद ही इंजेक्शन द्वारा इन्सुलिन लेने की कला सीख लेनी चाहिए। (चित्र 37.3)। इससे नियमित उपचार होता रहेगा और रोग पर नियंत्रण रहेगा। जब तक इन्सुलिन-उपचार चलता है उसे तब तक डाक्टर से इन्सुलिन की मात्रा निर्धारित करा लेनी चाहिए

चित्र 37.3—स्वयं इंजेक्शन लगाने की विधि

पहचान-कार्ड

मैं मधुमेह का रोगी हूं

यदि मैं बेहोश हो जाऊं तो ऐसा इन्सुलिन की प्रतिक्रिया के कारण हो सकता है। मुझे तुरन्त मेरे कायचिकित्सक अथवा अस्पताल तक पहुंचाने की कृपा करें। यदि मैं निगलने में समर्थ रहूं तो मुझे शर्करा कैन्डी, फलों का रस अथवा मीठा पेय दें।

नाम ________________ फोन ________

पता ______________________________

कायचिकित्सक ____________ फोन ________

पता ______________________________

और शर्करा की दृष्टि से पेशाब की जांच भी कराते रहना चाहिए। उसे पहले भोजन खाए बिना इन्सुलिन नहीं लेनी चाहिए।

यह जरूरी नहीं है कि इन्सुलिन एक बार शुरू हुई तो जिन्दगी भर ही इन्सुलिन रहेगी। रक्त-शर्करा के स्तर को कम करने से इन्सुलिन भूख को उद्दीपित करती है। अतः मोटा मधुमेह रोगी इन्सुलिन का जितना कम इस्तेमाल करे उतना अच्छा है।

इन्सुलिन प्रतिक्रियाएं : यद्यपि इन्सुलिन मधुमेह रोगियों के लिए वरदान है तो भी अगर समझदारी से इसका इस्तेमाल न किया गया तो यह अधूरा वरदान है। अधिक मात्रा से रक्त-शर्करा स्तर को अचानक 50 से 60 मिग्रा. % या इससे नीचे गिराने पर थकान, कमजोरी, अधीरता, चक्कर आने, भूख, बेचैनी, सिरदर्द, पसीना आने वाले लक्षणों की शृंखला शुरू हो जाती है और अंततः अल्पग्लूकोज़रक्तता वाली बेहोशी या कॉमा की अवस्था आ जाती है। यह सलाह दी जाती है कि प्रत्येक मधुमेह रोगी को, जिसे कि इन्सुलिन लेनी होती है, अपने पास डायरी अथवा पर्स में पहचान-कार्ड रखना चाहिए जिसमें यह लिखा रहना चाहिए कि यह मधुमेह का रोगी है और इन्सुलिन लेता है। इससे दुर्घटना नहीं होने पाएगी जो कि मधुमेह रोगी के साथ घट सकती है। इसे अपने साथ ग्लूकोज़ पावडर भी रखना चाहिए ताकि जैसे ही उसे अल्पग्लूकोजरक्तता की कमी के लक्षण लगें वैसे ही वह उसे ले सकता है। कार चलाने वाले अथवा किसी भी प्रकार की मशीन चलाने वाले मधुमेह रोगी को इन्सुलिन प्रतिक्रियाओं के प्रति बहुत सावधान रहना चाहिए।

इन्सुलिन उपचार वाले मधुमेह रोगी को निम्न रक्त शर्करा स्तर के कारण होने वाली उग्र इन्सुलिन प्रतिक्रिया और अधिक रक्त शर्करा स्तर से होने वाले मधुमेह कॉमा के बीच का अंतर स्पष्ट होना चाहिए क्योंकि दोनों के उपचार भिन्न हैं। निम्नलिखित सारणी से एक नजर में अल्पग्लूकोज-रक्तता वाले कॉमा और मधुमेह वाले कॉमा का अंतर सुस्पष्ट हो जाएगा।

सारणी 37.3 इन्सुलिन प्रतिक्रिया और मधुमेह वाले कॉमा में अंतर

	इन्सुलिन प्रतिक्रिया	मधुमेह वाला कॉमा
प्रारंभ	अचानक (मिनट)	मंद (धीरे) (दिन)
भोजन अंतर्ग्रहण	बहुत कम	बहुत अधिक
इन्सुलिन	बहुत अधिक	बहुत कम
प्यास	कुछ नहीं	बार-बार
भूख	बार-बार	नहीं
वमन	कभी-कभार	आमतौर पर
उदर शूल	नहीं	बार-बार
त्वचा	गीली	सूखी
कंप	बार-बार	नहीं
रूप-रंग	पीला, कमजोर	लाल, बहुत भूखा
श्वसन	सामान्य	द्रुत
मानसिक अवस्था	उदासीन, क्षोभक, हिस्टीरिया वाली	बेचैन और दुःखी
बेहोशी	अचानक हो सकती है।	धीरे-धीरे होती है।
मूत्र में शर्करा	दूसरे नमूने में हमेशा अनुपस्थित	विद्यमान

इन्सुलिन इंजेक्शनों से एलर्जी वाली प्रतिक्रियाएं भी हो सकती हैं; जैसे त्वचा पित्तिकाएँ, खुजली, शोफ आदि और इंजेक्शन वाले स्थल पर ऊतक-क्षय (necrosis)। स्थानिक प्रतिक्रियाओं से बचने के लिए इंजेक्शन वाले स्थल बार-बार बदलते रहने चाहिए। इससे इन्सुलिन का अवशोषण उचित रूप से हो सकेगा।

(ग) अन्य औषधियां :

मधुमेह के उपचार में हाल ही में जो अल्पग्लूकोजरक्तता वाली औषधियां निकली हैं वे न तो मुंह द्वारा ली जाने वाली इन्सुलिन हैं और न इन्सुलिन का स्थानापन्न या विकल्प ही हैं। सामान्य मधुमेह में अल्पग्लूकोजरक्तता वाली

औषधियां, जो कि मुंह द्वारा ली जाती हैं, मधुमेह के नियंत्रण में बहुत लाभकारी होती हैं; जैसे कि टोलब्यूटामाइड सरीखे सल्फोनिलयूरिया यौगिक। ये औषधियां बिना डाक्टर की सलाह के नहीं ली जानी चाहिए।

मुंह द्वारा ली जाने वाली औषधियां इनमें इस्तेमाल की जाती हैं—(i) हाल में हुए मधुमेह के स्थायी प्रकारों में जो केवल आहार द्वारा नियंत्रित नहीं किए जा सकते हैं; (ii) जहां इन्सुलिन की आवश्यकता 40 यूनिट तक होती है; (iii) मधुमेह रोगी जो विषालु नहीं होते और (iv) दृक्, तंत्रिक अथवा मानसिक दोषों वाले मधुमेह रोगी जो स्वयं इंजेक्शन नहीं लगा सकते।

मुंह द्वारा ली जाने वाली औषधियां इनमें हानिकारक होती हैं—(i) अस्थायी और दुबले पतले मधुमेह रोगियों, किशोर मधुमेह रोगियों, उन मधुमेह रोगियों में जो कीटोन अम्लमयता (अम्ल विषाक्तता) के प्रति सुग्राही होते हैं, और (ii) मधुमेह, शस्त्रकर्म और ज्वर-संक्रमण वाले मधुमेह के तीव्र उपद्रवों में।

यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि आहार पर समुचित रूप से ध्यान नहीं रखा जाता तो मुंह से ली जाने वाली अल्पग्लूकोजरक्तता औषधियां अधिक काम की नहीं होतीं; जैसे कि इन्सुलिन के मामले में। मुंह द्वारा ली जाने वाली मधुमेहरोधी औषधियों में उनके लाभ का महत्वपूर्ण पहलू यही है कि इनसे रक्त शर्करा पर नियंत्रण रहता है, भले हो कोई औषधि इस्तेमाल की गई हो। मुंह द्वारा ली जाने वाली अल्पग्लूकोजरक्तता वाली औषधियों की द्वितीयक असफलताएं हो सकती हैं यानी वे बाद में असफल हो सकती हैं। कुछ समय तक उनका प्रभाव रह सकता है और फिर वे निष्प्रभावी सिद्ध हो सकती हैं।

(घ) व्यायाम :

मोटे प्रौढ़ मधुमेह रोगियों के लिए आहार के बाद जो लाभकारी चीज है वह है कसरत, लेकिन वह इतनी अधिक थकाने वाली नहीं होनी चाहिए कि हृदय और रक्त-वाहिकाओं पर बोझ पड़े। कसरत जब मधुमेह के उपचार के रूप में की जाती है तो निर्धारित सीमा से अधिक आहार नहीं किया जाना चाहिए अन्यथा कसरत के अच्छे प्रभाव नष्ट हो जाते हैं; जैसे शरीर के वजन की कमी और रक्त-शर्करा का स्तर। कसरत के साथ-साथ सुरक्षित रहने के लिए इन्सुलिन की आवश्यकता होती है जो या तो शरीर में ही उत्पन्न होती है या इंजेक्शन द्वारा बाहरी स्रोत से ली जाती है। इन्सुलिन लेने वाले रोगियों में अकस्मात् अल्पग्लूकोजरक्तता न हो इसके लिए कसरत इन्सुलिन और आहार दोनों के अनुकूल होनी चाहिए। अनियमित रूप से जोरदार कसरत की अपेक्षा नियमित प्रकार से टहलने-जैसी कसरत उत्तम होती है क्योंकि जोरदार कसरत से मधुमेह रोगी की चयापचय-क्रिया में गड़बड़ी पहुंचती है। पेशियां ग्लूकोज पर आश्रित होती है और कसरत से वे इसका उपयोग कर लेती हैं।

(ङ) त्वचा की देखभाल :

त्वचा को हमेशा सुरक्षित रखना चाहिए ताकि खरोंचों, कटने, दरारों और छालों के माध्यम से होने वाले संक्रमण से बचाव किया जा सके। मधुमेह रोगी की त्वचा कवक रोगों, अन्य संक्रमणों, फोड़ों और कारबंकल के प्रति अधिक सुग्राही होती है। इन संक्रमणों के फैलने के पहले ही इनकी देखभाल तुरंत कर ली जानी चाहिए, अन्यथा मधुमेह रोगी की दशा बिगड़ सकती है। आयोडीन, कारबोलिक एसिड आदि क्षोभक प्रतिरोधियों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए और घावों तथा संक्रमण स्थलों को डेटोल अथवा सेवलोन सरीखे प्रतिरोधियों द्वारा उपचारित करना चाहिए। संक्रमण के नाश के लिए डॉक्टरों द्वारा प्रतिजीवी पदार्थ भी सुझाए जाते हैं।

(च) पांवों की देखभाल :

अनियंत्रित मधुमेह में दोषपूर्ण परिसंचरण के कारण पैरों के क्षतिग्रस्त होने के अधिक अवसर होते हैं। रोगों में रक्त का परिसंचरण व्यवस्थित रखने के लिए संस्थिति संबंधी कसरतें लाभकारी रहती हैं। सांद्र या तेज पूतिरोधी, दाह कर देने वाली गरमी, कसे जूते अथवा चप्पलों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। मुलायम चमड़े अथवा फोम रबड़ के जूते या चप्पलें उपयुक्त होती हैं और इनसे पैरों को क्षति नहीं पहुंचती। कसे गेटिसों का इस्तेमाल नहीं किया जाना चाहिए।

दीर्घकालीन मधुमेह :

अधिक समय से चलने वाला मधुमेह यदि ठीक से नियंत्रित नहीं किया जाता तो इससे चिरकारी उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे अन्धता, गैंग्रीन, हृद्‌रोग अथवा वृक्क की क्षति। ये उपद्रव अगर व्यक्ति को मारते नहीं तो अपंग तो बना ही देते हैं। मधुमेह का ऐसा रोगी परिवार के लिए भार बन जाता है। इन उपद्रवों से बचने के लिए मधुमेह की पहचान हो जाने वाली अवस्था से नियमित नियंत्रण रखना चाहिए। आधुनिक उपचार द्वारा मधुमेह के रोगी की आयु बढ़ाई जा सकती है। अब यह रोगी के हाथ में है कि वह अपनी जीवन अवधि को लंबी कर दे। यह उसका सौभाग्य है कि वह आहार, औषधियों, कसरत और एक विशेष जीवन शैली अपनाकर और रोग पर नियंत्रण रखकर लंबी आयु अर्जित कर सकता है। वे रोगी जो अपने पर नियंत्रण रखते हैं और अपने डॉक्टर की सलाह वाली उपचार विधि पर चलते हैं हमेशा अच्छा स्वास्थ्य बनाए रखते हैं। मधुमेह की जानकारी होना ही उपचार का सबसे महत्वपूर्ण पहलू है।

शिशुओं में मधुमेह :

वर्तमान समय में प्रौढ़ों की अपेक्षा बच्चों में होने वाला मधुमेह अभी भारत में नगण्य है। इन्सुलिन की खोज के पहले किशोर मधुमेह रोगियों में मर्त्यता बहुत अधिक थी। लेकिन ऐसा बच्चा अब पूरा जीवन जी सकता है। मधुमेह वाले बच्चों को वृद्धि के लिए पूर्ण भोजन चाहिए और मोटे व्यक्तियों के आहार की तरह उनका आहार सीमित नहीं होना चाहिए। केवल सांद्र या अधिक चीनी वाली मिठाई, कैन्डी आदि का परहेज रखा जाता है। ऐसे रोगियों को यदि उचित रूप से नियंत्रित न किया गया तो वे अचानक कीटोन अम्लमयता (अम्ल विषाक्तता) वाले होकर कॉमा की अवस्था में जा सकते हैं, लेकिन उपचार करने पर तुरंत ही इनमें सुधार हो जाता है। यदि रोग की पहचान के तुरंत बाद बहुत जोरों से उपचार किया जाता है तो मधुमेह के विसर्ग की संभावना रहती है।

प्रयोगशाला में अन्वेषण :

मधुमेह की उचित जानकारी और नियंत्रण के लिए प्रयोगशाला में अन्वेषण करना बहुत जरूरी है। सबसे महत्वपूर्ण अन्वेषण है शर्करा के लिए मूत्र की जांच। लेकिन इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के मूत्र परीक्षण भी जरूरी हैं ताकि डाक्टर का मधुमेह के उपद्रवों के बारे में ज्ञान प्राप्त हो सके, और ये परीक्षण हैं एसीटोन, एल्बूमिन और क्लोराइडों वाले परीक्षण।

मूत्र में शर्करा का बेनेडिक्ट परीक्षण :

एक परखनली (टेस्ट ट्यूब) में 5 मिली. बेनेडिक्ट घोल डालिए और इसे उबलने तक गरम करिए (घोल की जांच के लिए)। एक ड्रॉपर की सहायता से इसमें मूत्र की 8 बूंदें डालिए (चित्र 37.4)। मिश्रण को फिर गर्म कीजिए और ठंडा होने दीजिए। परखनली में सामान्य आविलता (turbidity) या मैलापन शर्करा उपस्थिति का संकेत देता है, जो शर्करा की मात्रा के अनुसार हरा, पीला अथवा ईंट की तरह लाल रंग का अवक्षेप बनने के कारण होता है (हरा करीब 0.5%, पीला 1% और लाल 2% से अधिक शर्करा वाला)। बाद में यह अवक्षेप परखनली के तल पर बैठ जाता है।
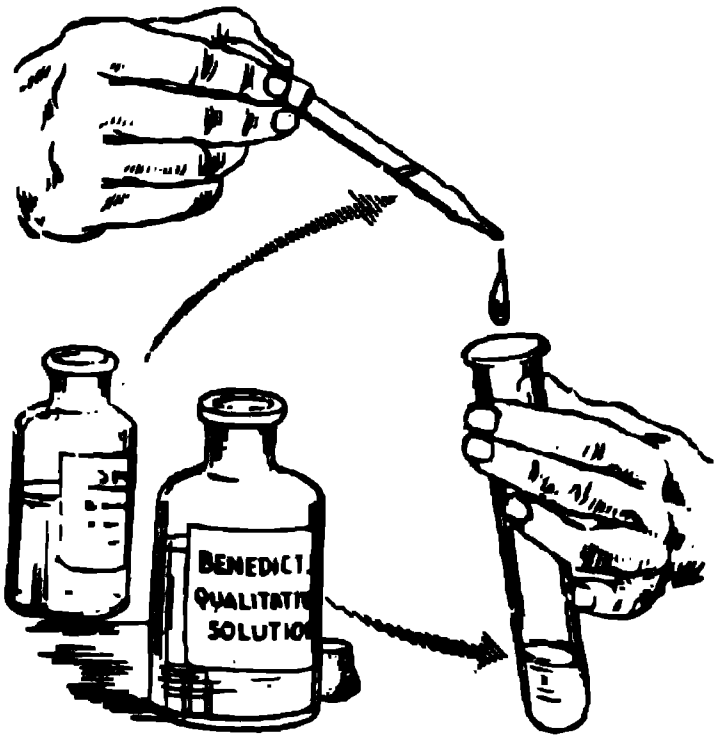
चित्र 37.4—शर्करा के लिए मूत्र की जांच

मूत्र में एसीटोन खतरनाक होता है और इस पर तुरंत ध्यान दिया जाना चाहिए। इसका अर्थ है अम्लमयता और कीटोन अम्लमयता, जोकि एक तीव्र उपद्रव है लेकिन यदि इसका तुरंत ही उचित उपचार कर लिया जाय तो यह ठीक भी हो जाता है। इस तरह मधुमेहज कॉमा से बचाव हो जाता है जोकि एक आयुर्विज्ञानीय आपात्कालीन स्थिति है। मूत्र में एल्बुमिन आने का मतलब है कि मूत्र-पथ में कुछ गड़बड़ियां चल रही हैं यानी यह इस बात का संकेत है कि वृक्क अथवा मूत्र मार्ग में कोई क्षति है। इससे यह आभास मिलता है कि मधुमेह रोगी की जांच और अन्वेषण और अधिक सावधानी से किया जाना चाहिए और रोग पर सुचारु नियंत्रण रखा जाना चाहिए।

रक्त शर्करा परीक्षण, सामान्य रक्त परीक्षण, रक्त यूरिया और रक्त कोलेस्टेरोल सरीखे रक्त अन्वेषण व्यक्ति की मधुमेह वाली अवस्था की सही तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। डॉक्टर द्वारा ये अन्वेषण बार-बार रोग को आंकने और उसके उपचार के निमित्त सुझाए जाते हैं। यदि वृक्क ठीक से कार्य नहीं कर रहा है, जैसे कि अनियंत्रित प्रकार के दीर्घकालीन मधुमेह में, तो मूत्र में बिलकुल भी शर्करा नहीं होगी या थोड़ीसी होगी जिससे हमें झूठा आभास और सुरक्षा का भाव मिलता है कि मधुमेह में कमी होती जा रही है। ऐसे रोगियों में रक्त शर्करा परीक्षण से मधुमेह के नियंत्रण के बारे में सही जानकारी मिल जाती है।

मधुमेह के रोगी को यह विचारना चाहिए कि उसकी खुशहाली केवल उसी के लिए महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि उसके परिवार के लिए भी है। मधुमेह को नियंत्रित करने का हर प्रयत्न किया जाना चाहिए और बार-बार नियमित अंतरालों पर डाक्टर की सहायता से उपचार के परिणामों को आंक लिया जाना चाहिए, और डाक्टर प्रयोगशाला के ऊपर वर्णित अन्वेषण कार्यों से उपचार को निर्धारित करेगा। मधुमेह का उपचार जीवन पर्यंत चलता है और अच्छे परिणामों के लिए निरंतर
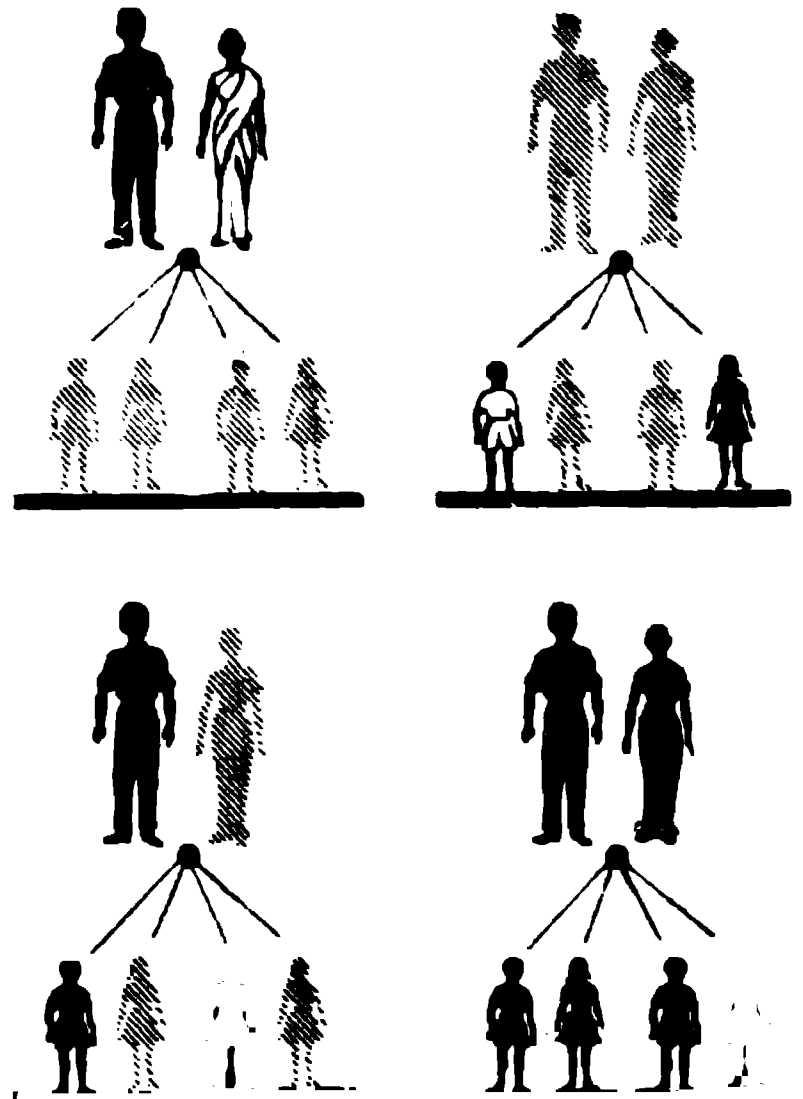
काली तस्वीर—मधुमेह वाला, सफेद तस्वीर—बिना मधुमेह वाला, हल्के रंग की झीनी तस्वीर—वाहक।

चित्र 37.5—मधुमेह और आनुवंशिकता का संबंध। चित्र में दिखलाया गया है कि आनुवंशिकता किस प्रकार मधुमेह प्रारंभ करने में योग देती है।

सारणी 37.4—25 वर्ष की उम्र के बाद भारतीय पुरुष और स्त्रियों में अपेक्षित वजन :

ऊंचाई सेंमी. में	वजन किलोग्रामों में		
	छोटा गठन	मध्यम गठन	बड़ा गठन
पुरुष			
152	45.4 — 48.4	49.4 — 53.0	52.0 — 56.2
155	47.0 — 51.0	50.5 — 54.3	53.5 — 58.0
157	48.6 — 52.0	51.9 — 55.6	54.3 — 58.8
160	49.8 — 53.9	53.0 — 57.0	50.9 — 60.9
163	51.4 — 55.6	54.3 — 58.8	57.6 — 62.5
165	52.7 — 56.8	55.9 — 60.0	59.2 — 64.1
168	54.3 — 57.4	57.6 — 61.6	60.9 — 66.1
170	55.6 — 60.0	59.2 — 63.7	62.5 — 67.8
173	57.2 — 61.6	60.9 — 65.3	64.1 — 69.4
175	58.8 — 63.3	62.5 — 67.0	65.7 — 71.4
178	60.4 — 65.0	64.1 — 68.6	67.4 — 73.5
180	62.0 — 67.0	65.7 — 70.6	69.0 — 75.5
183	63.6 — 68.6	67.4 — 72.2	70.7 — 77.2
स्त्रियां			
147	42.5 — 45.3	44.9 — 48.2	47.8 — 51.9
150	42.9 — 46.1	45.7 — 49.0	48.6 — 52.7
152	43.7 — 47.0	46.5 — 49.8	49.4 — 53.5
155	44.9 — 48.2	47.8 — 51.0	50.6 — 55.1
157	46.1 — 49.4	49.0 — 52.3	51.9 — 56.3
160	47.4 — 51.0	50.6 — 53.9	53.5 — 58.0
163	48.6 — 52.3	51.9 — 55.1	54.3 — 59.2
165	50.2 — 53.9	53.1 — 57.2	56.3 — 61.2
168	51.4 — 55.5	54.3 — 58.8	58.0 — 62.9

1 इंच=2.54 सेंमी., 1 सेंमी.=0.4 इंच; 1 पौं.=0.45 किग्रा., 1 किग्रा.=2.2 पौं.

देखभाल रखना अनिवार्य है। अत: यह सुनिश्चित कर लिया जाना चाहिए कि समाज के बुद्धिजीवी और उत्पादन वाले वर्ग का मधुमेह रोगी परि-संपत्ति बन कर रहे न कि बोझ बनकर।

मधुमेह के नियंत्रण के लिए, रोगी को चाहिए कि :

1. वह प्रस्तावित आहार करे जिसे मौके-मौके पर आंक लिया जाना चाहिए।
2. वह अपने कायचिकित्सक की सलाह पर इन्सुलिन अथवा अन्य औषधियां ले।
3. बार-बार मूत्र की जांच कराए।
4. ग्लूकोज़ स्तर, कोलेस्टेरोल और यूरिया के लिए हर छ: महीने में रक्त की जांच कराए।
5. यह देखने के लिए कि प्रस्तावित उपचार ठीक चल रहा है या नहीं और वह ठीक परिणाम दे रहा है या नहीं साल में कम से कम तीन बार डाक्टर के पास जाए।

मधुमेह से बचाव :

बहुत ही अच्छा हो यदि मधुमेहपूर्वी अवस्था में मधुमेह की पहचान कर ली जाय और फिर उससे बचा जाय। और यह पहचान मोटापा और मधुमेह की आनुवंशिकता वाले व्यक्तियों और ऐसी माताओं में की जानी चाहिए जिनके प्रगामी रूप से बड़े बच्चे होते हैं।

मधुमेह के दो रोगियों को आपस में विवाह नहीं करना चाहिए। उनके बच्चे भी हमेशा मधु-मेह के रोगी ही होंगे (चित्र 37.5)। यदि एक मधु-मेह रोगी बिना मधुमेह वाले व्यक्ति से विवाह करता है तो मधुमेह वाला बच्चा होने के अवसर बहुत ही कम होंगे; हां तब बात अलग है जब कि बिना मधुमेह वाला व्यक्ति रोग का वाहक हो। जिनकी मधुमेह वाली आनुवंशिकता होती है और जो एक जगह स्थिर होकर या बैठकर अपना व्यावसायिक काम करते हैं, उन्हें तीस वर्ष के बाद अधिक भोजन नहीं करना चाहिए जब कि वृद्धि रुक जाती है। मधुमेह वाले व्यक्तियों की मर्त्यता अतिरिक्त या अधिक वजन के प्रति अनुक्रमानु-पाती होती है (चित्र 37.6)। सारणी 37.4 में 25 वर्ष से ऊपर वाले पुरुष और स्त्रियों के अपेक्षित वजन दिए गए हैं।

आशा का संदेश :

यद्यपि मधुमेह का रोग हमें 2500 वर्ष से भी अधिक समय से ज्ञात है लेकिन इसकी असली जानकारी केवल पिछले 75 वर्षों में ही हुई है।

सामान्य वजन : निम्न मधुमेह-मर्त्यता

अधिक वजन का 5 से 14 प्रतिशत : मधुमेह के कारण मर्त्यता दुगुनी हो जाती है।

अधिक वजन का 15 से 24 प्रतिशत : मधुमेह के कारण पुरुषों में सामान्य वजन की अपेक्षा मर्त्यता चार गुनी।

अधिक वजन के 25 प्रतिशत से अधिक : मधुमेह के कारण पुरुषों में सामान्य वजन की अपेक्षा दस गुनी मर्त्यता।

चित्र 37.6—मोटापे और मधुमेह से होने वाली मर्त्यता का संबंध। चित्र से पता चलता है कि पुरुषों में 45 वर्ष की आयु के बाद मोटापे के साथ-साथ किस तरह मृत्यु दर बढ़ती जाती है।

आहार और कसरत से भले ही मधुमेह के रोगी की आयु में कुछ वर्ष अधिक जुड़ जाते हैं लेकिन 1921 में इन्सुलिन की खोज के बाद ही मधुमेह के उपचार में क्रांति आई। मधुमेह के रोगियों की जीवन अवधि में वृद्धि हो गई है। कॉमा और कारबंकल सरीखे तीव्र और घातक उपद्रव, जो मधुमेह वालों को, भारी संख्या में, मौत का कारण हुआ करते थे, अब लगभग हानि रहित कर दिए गए हैं। सगर्भता (गर्भावस्था), जिसमें हर प्रकार के गर्भपात का डर रहता था, अब पूरी अवधि तक निर्विघ्न रूप से चलती है। नियंत्रित मधुमेह रोगी को शस्त्रकर्म के पहलू से भी कोई भय नहीं है। मधुमेह रोगियों का अब बीमा किया जा सकता है। इससे पता चलता है कि मधुमेह के उपचार में कितनी प्रगति हो गई है।

मधुमेह का रोगी, जो अपनी देखभाल सफलतापूर्वक करता है औरों के लिए भी आशा का संदेशवाहक होता है जिससे कि वे भी अपने जीवन संग्राम में सफल हो सकें।

* * *

मधुमेह के नियंत्रण में देखभाल :

1. रोग की अच्छी जानकारी।
2. उचित रूप से समंजित आहार और शरीर के वजन का नियंत्रण।
3. कसरत।
4. इन्सुलिन और औषधियां अथवा अल्पग्लूकोजरक्तता वाली औषधियां।
2. प्रतिजीवी औषधियां।

—संपादक

अधिक जानकारी के लिए पढ़िए :

'ए गाइड फॉर द डाएबेटिक' लेखक डा० एस० एस० अजगांवकर, प्रकाशक—भारतीय मधुमेह एसोसिएशन, बम्बई तथा हैक्स्ट फार्मास्युटिकल्स लि०, बम्बई, पृष्ठ 99, रु० 6।

• • •
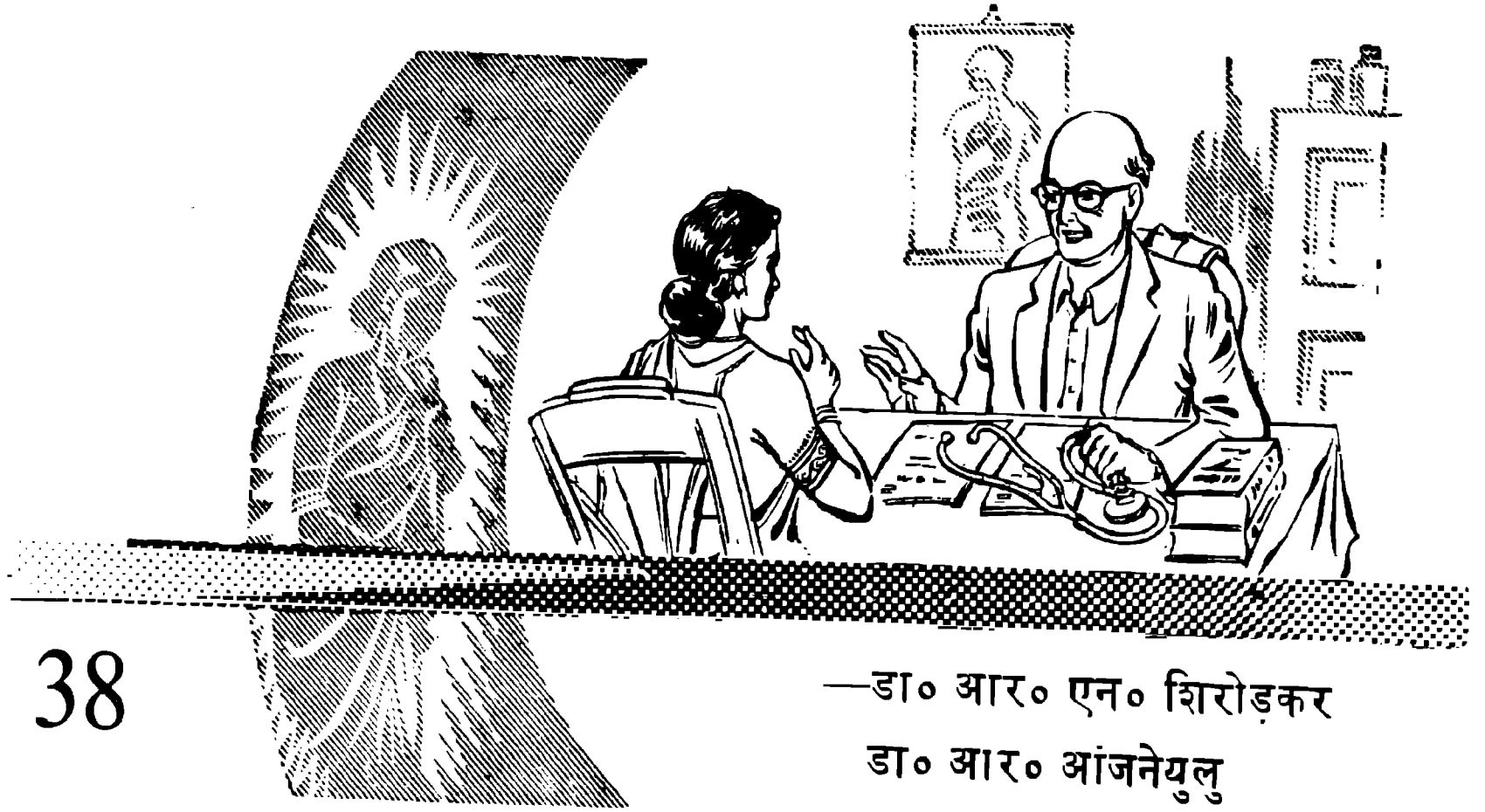
38

—डा० आर० एन० शिरोड़कर
डा० आर० आंजनेयुलु

स्त्रियों के सामान्य विकार

आर्तव या ऋतुस्राव :

जन्म से लेकर वृद्धावस्था तक निरंतर चलते रहने वाले परिवर्तनों की शृंखला ही जीवन का सार है। प्रथम ऋतुस्राव परिपक्वता के पथ का मार्गपट्ट है। यौवनारंभ में शुरू होकर आर्तव-चक्र बच्चा जनने की उम्र तक चलता रहता है। इसका प्रयोजन है सभी स्त्रियों के शरीर को एक विशेष जैविक कार्य के लिए तैयार करना अर्थात् जनन के लिए।

शरीर-क्रिया विज्ञान : यह एक विस्मयकारी बात है कि मस्तिष्क के आधार पर स्थित पीयूषिका ग्रंथि ऋतुस्राव से संबद्ध है। यह रक्त प्रवाह में दो प्रकार के रासायनिक संदेहवाहकों या दूतों का स्रवण करती है जिन्हें हॉरमोन कहते हैं। इनमें से एक शरीर की वृद्धि को नियंत्रण में रखता है और दूसरा आर्तव-चक्र को प्रभावित करता है।

श्रोणि में जनन-अंग स्थित रहते हैं (चित्र 38.2)। इनमें गर्भाशय (uterus) या बच्चादानी की रचना इस प्रकार होती है कि उसमें बच्चे की वृद्धि व परिवर्तन हो सके। गर्भाशय के दोनों ओर फैलोपी नलिकाएं (fallopian tubes) और अंडाशय (ovaries) होते हैं। इन नलिकाओं के खुले सिरे झल्लरीदार होते हैं और अंडाशयों के इर्द-गिर्द मुड़े रहते हैं। अंडाशय अंड उत्पन्न करने वाले अंग हैं और प्रत्येक अंडाशय में हजारों पुटक (follicle) अथवा अंड-कोष होते हैं। नियमित अंतरालों पर पीयूषिका के हॉरमोन इन अंडाशयों में से किसी एक में एक अंड को परिपक्व होने या पकने के लिए उद्दीपित करते हैं। तब वह अंड अपने कोष से टूट कर अंडाशय से बाहर निकल जाता है और इस प्रक्रम को अंडोत्सर्ग (ovulation) कहते हैं। अंड या अंडाणु (ovum) जैसे ही अंडाशय से निकलता है फैलोपी

* * * *

डा. आर. एन. शिरोड़कर, एम. डी. (बम्ब.); एफ. आर. सी. एस. (इंग.); परामर्शी प्रसूतिविज्ञानी एवं स्त्रीरोग-विज्ञानी, जे. जे. अस्पताल, बम्बई; भूतपूर्व प्रोफेसर ग्रांट मेडिकल कालेज, बम्बई।

डा. आर. आंजनेयुलु, एम. डी., प्रोफेसर, प्रसूतिविज्ञान एवं स्त्रीरोगविज्ञान, बी. जे. मेडिकल कालेज एवं ससून जनरल अस्पताल, पूना।
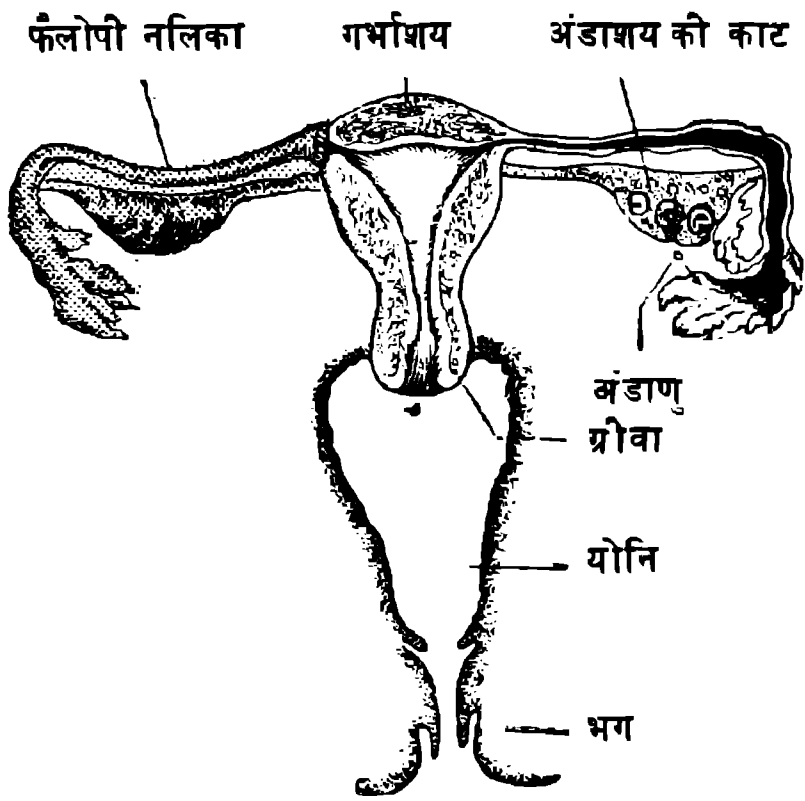
चित्र 38.2—स्त्री जनन-अंग (सामने का दृश्य)

नलिका में पकड़ व खींच लिया जाता है (चित्र 39.6) और इस तरह नलिका से होते हुए गर्भाशय तक पहुंच जाता है।

प्रकृति ने यह व्यवस्था रखी है कि गर्भाशय के अस्तर (अंतर्गर्भाशयकला—endometrium) में खूब अच्छी तरह से रक्त-वाहिकाओं और ग्रंथियों की आपूर्ति रहे; और इस तरह हर महीने गर्भाशय बच्चे के लिए बहुत सुंदर रूप से तैयार रहता है। अंतर्गर्भाशयकला मोटी व स्पंज-जैसी होती जाती है और रक्त संग्रह करती है। यदि नलिका से होकर जाने वाला अंड (अंडाणु) निषेचित हो जाता है तो गर्भाशय वर्धमान भ्रूण या शिशु को पोषण प्रदान करता रहेगा। अगर सगर्भता की स्थिति नहीं आती है तो ये सारी तैय्यारियां व्यर्थ हो जाती हैं। अंतर्गर्भाशयकला और जमा रक्त का त्याग करके उन्हें योनि से होकर शरीर के बाहर विसर्जित कर दिया जाता है (चित्र 38.3)। योनि वह मार्ग है जो गर्भाशय से शुरू होकर 'शरीर के बाहर' खुलता है। यह रक्त प्रवाह आर्तव-प्रवाह या ऋतुस्राव कहलाता है।

ऋतुस्राव एक नियमित चक्र में चलता है और आर्तव-चक्र कहलाता है। यह चक्र ऋतुस्राव के एकदम बाद शुरू होता है और तब तक चलता रहता है जब तक स्त्री ऋतुस्राव करती रहती है और अंड का निषेचन होकर सगर्भता की स्थिति नहीं आ जाती।

सलाह : ऋतुस्राव एक सामान्य कार्य या प्रघटना है। इसमें कोई चमत्कार नहीं है। लेकिन खेद की बात है कि अभी भी कुछ स्त्रियां यह विश्वास करती हैं कि ऋतुस्राव एक बीमारी या अभिशाप है और वे यह सोचती हैं कि यह वह समय है जब उनका गंदा खून बाहर निकलता है। यह हर स्त्री में होता है और सामान्य ऋतुस्राव स्त्री के अच्छे स्वास्थ्य का प्रमाण होता है।

प्रत्येक स्त्री को अपने आर्तव का लेखा-जोखा रखना चाहिए क्योंकि इसके न होने का अर्थ है सगर्भता का पहला संकेत। अत: नौकरी पेशा स्त्रियों को भी अपने आर्तव का लेखा-जोखा रखना चाहिए ताकि वे इसके अचानक हो जाने से कहीं बीच में परेशानी में न फंस जाएं। वैसे आर्तव काल में छुट्टी लेने की जरूरत नहीं है।
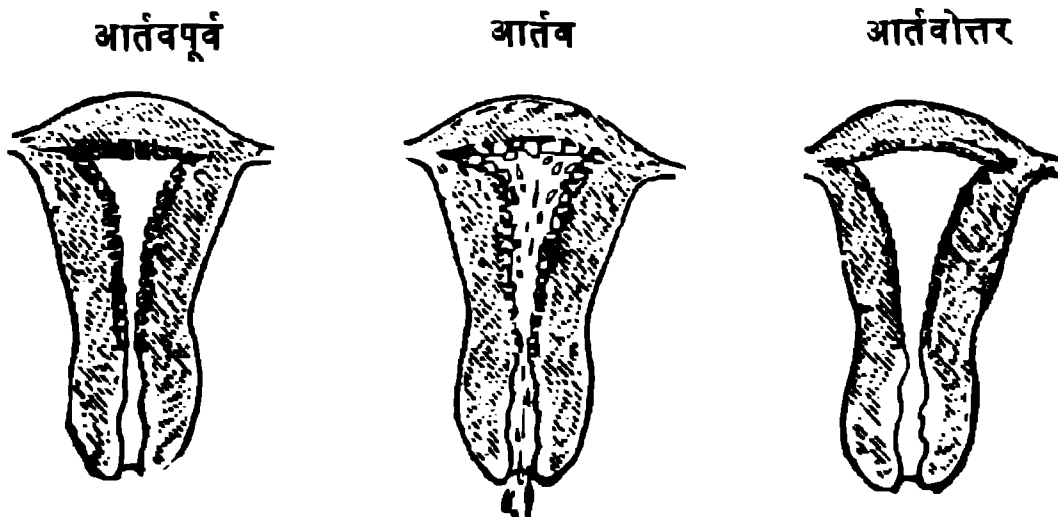
चित्र 38.3—गर्भाशय के आर्तव-चक्र की तीन अवस्थाएं

ऋतुस्राव के पहले या इसके दौरान मन:स्थिति में परिवर्तन, हल्की थकान, अनिद्रा, स्तनों में हल्की सूजन या मृदुता आ सकती है। यह सब हॉरमोनों की तीव्र सक्रियता के कारण होता है। लेकिन इन्हें सामान्य प्रक्रिया के अन्तर्गत समझना चाहिए। जब ये बातें अचानक होती हैं या बहुत उग्र रूप में होती हैं तो चिकित्सक की सलाह लेनी जरूरी है।

रोज स्नान करना शरीर को सुरक्षित ही नहीं रखता बल्कि लाभकारी भी है। ऋतुस्राव के दौरान पसीना उत्पन्न करने वाली ग्रंथियां भी हॉरमोन सक्रियता के कारण बहुत अधिक सक्रिय रहती हैं। इसलिए त्वचा की रक्षा के लिए नहाना बहुत जरूरी है। इस प्रसंग में स्वच्छता की दृष्टि से प्रयुक्त किए जाने वाले उपधान या वस्तुएं विसंक्रमित होनी चाहिए। इसके लिए स्वच्छता नैपकिन, अथवा गद्दी या उपधान (पैड) अथवा योनि पिचु (vaginal tampon) का प्रयोग करना चाहिए। ऋतुस्राव के दौरान इन्हें बार-बार बदलते रहना चाहिए। पिचु बहुत अच्छे रहते हैं और यदि ठीक साइज में इन्हें इस्तेमाल किया जाय तो ये क्षोभ नहीं करते। अविवाहित लड़कियां यदि इनका इस्तेमाल करें तो कोई हानि नहीं है। ऋतुस्राव एक बिलकुल शरीरक्रियात्मक प्रक्रम है और आधुनिक स्त्रियां, जो अंडोत्सर्ग और ऋतुस्राव का शरीर-क्रिया विज्ञान समझती हैं, अनुभव करती हैं कि ऋतुस्राव जनन-चक्र का बाहर से दिखलाई देने वाला प्रमाण है।

सामान्य विकार

1. ऋतुस्राव का न होना :

इसे 'अनार्तव' (amenorrhoea) भी कहते हैं। ऋतुस्राव 9 साल की उम्र से लेकर करीब 16 साल की उम्र तक कभी भी आरंभ हो सकता है। विभिन्न परिवारों और एक ही परिवार के विभिन्न सदस्यों में यह भिन्न-भिन्न प्रकार से हो सकता है। यदि किसी लड़की को 16 या 17 साल की उम्र तक ऋतुस्राव नहीं हुआ है तो उसे चिकित्सक की सलाह लेनी चाहिए। ऐसी अवस्था को प्राथमिक अनार्तव कहते हैं। इसका कारण जनन-मार्ग में कोई अवरोध हो सकता है जिसे डाक्टर आसानी से ठीक कर सकता है।

ऋतुस्राव के पहले वर्ष कई लड़कियों में ऋतुस्राव अनियमित प्रकार से होता है और यहां तक कि कभी-कभी तो एकाध महीने तक नहीं हो सकता है। लेकिन धीरे-धीरे शरीर समंजित होता जाता है और ऋतुस्राव फिर नियमित चक्र के रूप में स्थिर हो जाता है। हर एक स्त्री का चक्र अलग प्रकार का होता है। कुछ में यह हर 21वें दिन और कुछ में 35-35 दिन तक भी नहीं होता। औसत अवधि 28 दिन की होती है। आर्तव चक्र के स्थिर होने के बाद भी स्वास्थ्य के सामान्य परिवर्तनों अथवा नेमी परिवर्तनों अथवा मानसिक उत्तेजना और मौसम के परिवर्तन से भी इस पर प्रभाव पड़ सकता है। कभी-कभी पहले साल के बाद भी यह अनियमित हो जाता है अथवा पूरी तरह से भी रुक सकता है। इस अवस्था को द्वितीयक अनार्तव कहा जाता है। इसका कारण जनन-अंगों के परिवर्तन का दोष अथवा ऋतुस्राव से संबद्ध विभिन्न अंगों में परस्पर अनुपयुक्त समंजन भी हो सकता है अथवा यह यक्ष्मा सरीखे रोगों के कारण भी हो सकता है। हर हालत में बिना देर किए हुई अच्छी तरह से अन्वेषण और उचित उपचार किया जाना चाहिए।

2. वेदनामय ऋतुस्राव

इसे 'कृच्छ्रार्तव' (dysmenorhoea) भी कहा जाता है। ऋतुस्राव के दौरान कभी-कभार थोड़ी बहुत असुविधा के अलावा अधिक परेशानी नहीं होनी चाहिए। सामान्य रूप से आर्तव ऐंठन नहीं होनी चाहिए। ऐंठन से मुक्त अच्छा आर्तव-स्वास्थ्य का अच्छे शारीरिक स्वास्थ्य और अच्छी मानसिक स्थिति से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

स्वास्थ्य की सामान्य आदतें जैसे कि अच्छी संस्थिति, कसरत, पर्याप्त आहार, नियमित आंत्र-गति कष्टकर ऋतुस्राव से बचने में महत्वपूर्ण योग देती हैं। उचित रूप से विश्राम और कसरत करने से तनाव दूर हो जाते हैं जो कि ऐंठन उत्पन्न करते हैं। ऐस्पिरीन सरीखे पदार्थों वाली वेदनाहर टिकियाएं दर्द जरूर भगा देती हैं लेकिन ऐसे दर्द, में जिसमें कि स्त्री रोजमर्रा का काम न कर पाए, उसे डाक्टर की सलाह लेनी चाहिए।

3. अत्याधिक ऋतुस्राव :

रक्तस्राव की अवधि हरएक स्त्री में अलग-अलग होती है। यद्यपि औसत अवधि करीब 4 दिन की होती है तो भी कुछ में यह केवल 3 दिन की और कुछ में 7 दिन तक की भी हो सकती है। इसका प्रवाह दूसरे व तीसरे दिन प्रायः अधिक होता है। यदि ऋतुस्राव बहुत अधिक होता है अथवा इसकी अवधि सामान्य से अधिक होती है तो इसे अत्यार्तव (menorrhagia) कहते हैं।

पांच से दस प्रतिशत जवान लड़कियों में यौवनारंभ के समय ऋतुस्राव बहुत अधिक और लम्बे समय तक चलता है। यह हॉरमोन तंत्र की अधिक सक्रियता अथवा रक्त स्कंदन तंत्रिका दोष के कारण हो सकता है। इस प्रकार पूरी तरह से बिस्तर में आराम करने और लोहे व मल्टीविटामिन औषधियों से अरक्तता का उपचार करने से ऐसी विषम अवस्था से राहत पाई जा सकती है। धीरे-धीरे ऋतुस्राव सामान्य प्रकार का हो जाता है।

प्रसव अथवा गर्भपात के बाद कुछ महीने तक ऋतुस्राव प्रायः अनियमित, अत्यधिक और लंबी अवधि का होता है। लेकिन उपयुक्त औषधियों से इसका उपचार किया जा सकता है। गर्भाशय के अर्बुद्ध, जैसे तंतुपेशी अर्बुद्ध (fibroid) और श्रोणि के संक्रमण अत्यार्तव उत्पन्न करते हैं, और ऐसे में ऋतुस्राव अत्यधिक ही नहीं तकलीफदेह भी होता है। स्थायी रूप से यदि अत्यार्तव रहता है तो अरक्तता हो जाती है और सामान्य स्वास्थ्य पर भी कुप्रभाव पड़ता है। अतः ऐसे में पूरी तरह से जांच करके उचित उपचार किया जाना चाहिए।

4. अंतराआर्तव रक्तस्राव :

इसे रक्तप्रदर (metrorrhagia) भी कहते हैं। दो आर्तवों के बीच रक्तस्राव नहीं होना चाहिए। लेकिन यदि ऐसा होता है तो श्रोणि में किसी स्थानिक गड़बड़ी के कारण हो सकता है। यह बच्चादानी या गर्भाशय के मुंह के कैंसर का आरंभिक संकेत हो सकता है। इसका पहला संकेत मैथुन के बाद कुछ-कुछ रक्तस्राव होना या खून आना हो सकता है। दुर्भाग्यवश रजोनिवृत्ति के दौरान ऋतुस्राव अनियमित हो जाता है लेकिन स्त्रियां इसे बिलकुल भी अनियमित नहीं मानतीं और यह महसूस नहीं करतीं कि ठीक इसी प्रकार का रक्तस्राव गर्भाशय के मुंह के कैंसर में भी होता है। और जब तक डॉक्टर निदान करता है तब तक अवस्था काफी आगे बढ़ चुकी होती है। हर समय जब कि ऋतुस्राव अनियमित, अधिक अथवा अंतराआर्तव काल में होता है तो तुरंत डाक्टर की सलाह ली जानी चाहिए।

5. सफेद विसर्जन या श्वेतप्रदर (Leucorrhoea):

ऋतुस्राव के कुछ दिन पहले अथवा बाद योनि से सामान्य से कुछ अधिक आस्राव निकलना आम है। सामान्यतया इस आस्राव के साथ और कोई लक्षण नहीं होते हैं और कोई दुर्गंध भी नहीं होती। तरुण लड़कियों में, वर्धन काल में, अत्यधिक आस्राव निकलता है। यह बहुधा अधिक कार्य, मानसिक तनाव और अनुपयुक्त आहार के कारण होता है। कभी-कभार अस्वच्छता और कपड़ों के संदूषण से भी अत्यधिक आस्राव उत्पन्न हो सकता है। वैयक्तिक स्वच्छता से इसका निवारण किया जा सकता है।

निकलने वाला कोई भी आस्राव जिसमें बार-बार पेशाब आना, पेशाब करते समय जलन का अनुभव होना तथा जनन-क्षेत्र में स्थानिक क्षोभ व खुजली होना सरीखे लक्षण दिखलाई देते हैं तो उनका अन्वेषण किया जाना चाहिए। बदबूदार और खून के रंग वाला आस्राव गर्भाशय के मुंह (ग्रीवा) के कैन्सर का लक्षण है।

6. पृष्ठवेदना :

गर्भावस्था के बाद वाले महीनों के दौरान पीठ की स्नायुओं और पेशियों पर जो बोझ पड़ता है वह प्रसव के बाद पृष्ठवेदना करता है। प्रसव अवस्था में आराम करके, पर्याप्त आहार लेकर और उचित व्यायाम से इसे दूर किया जा सकता है।

गर्भाशय के मुंह (ग्रीवा) में मंद संक्रमण और प्रसूति के बाद गर्भाशय के पश्च विस्थापन से प्राय: पृष्ठवेदना हो जाती है और साथ ही श्वेत आस्राव भी निकलता है। ऐसी स्त्रियों में प्रसूति के छह हफ्ते बाद प्रसवोत्तर जांच में यह शिकायत सुनने को मिलेगी। गर्भाशय को पेसरी द्वारा ठीक स्थिति में रखके और ग्रीवा (cervix) के दहनकर्म (कॉटरी-करण) से पृष्ठवेदना प्राय: ठीक हो जाती है।

कमर के दर्द का कारण वृक्क और मूत्रनली में भी हो सकता है, किसी प्रकार का संक्रमण या कमर की हड्डियों का विकार भी हो सकता है। इसलिये कमर के दर्द के सभी मामलों का अच्छी तरह से परीक्षण तथा समुचित अन्वेषण किया जाना चाहिए।

7. रजोनिवृत्ति (Menopause) :

रजोनिवृत्ति का शाब्दिक अर्थ है ऋतुस्राव का बंद हो जाना। यह सामान्य परिवर्तन का एक प्रमुख लक्षण है जिसे लैंगिक क्षीणता काल या जनननिवृत्ति (climacteric) कहते है। हमारे देश में यह प्राय: 40 से 45 वर्ष की उम्र में होता है। ऋतुस्राव या तो अचानक बंद हो सकता है या अधिकांशतया लंबे अंतरालों के बाद बद होता है और धीरे-धीरे कम होकर अंतत: बिलकुल रुक जाता है।

रजोनिवृत्ति प्राय: जनन-सक्रियता की समाप्ति है। इससे यह गलत अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि यह लैंगिक जीवन और पारिवारिक आनन्द का अंत है। यहां तक कि पढ़े-लिखे वर्ग की स्त्रियां भी रजोनिवृत्ति काल के निकट आने पर उसके भय से मानसिक ग्रंथियों का शिकार हो जाती हैं। वे सोचती हैं कि ऋतुस्राव बंद होने का मतलब है विक्षिप्ति, स्त्रैण लक्षणों की कमी, पति के प्यार में कमी, और कुछ तो इसका संबंध कैन्सर से ही जोड़ लेती हैं। स्त्रियों को चाहिए कि वे रजोनिवृत्ति को जीवन के परिवर्तन के रूप में लें न कि जीवन के अन्त के रूप में।

अधीरता, ऋतुस्राव की बाधाएं, थकान, मानसिक चिड़चिड़ापन, अवसाद, सिर दर्द और अधिक उत्तेजना आदि कुछ प्रमुख लक्षण हैं जो रजोनिवृत्ति से संबद्ध हैं। ये ऋतुस्राव बंद होने के कुछ महीने या वर्ष बाद प्रकट होते हैं और नियमित ऋतुस्राव के दौरान कभी भी नहीं होते हैं। इन लक्षणों का अनुभव बहुत कम स्त्रियों द्वारा किया जाता है और अधिकांश में तो ऐसी कोई शिकायत ही नहीं होती। दु:ख के साथ कहना पड़ता है कि इस विशेष समय पर कोई असुविधा या छोटी-सी भी शिकायत होती है तो उसे रजोनिवृत्ति का लक्षण समझा जाता है।

इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि अनियमित रक्तस्राव अथवा अत्यधिक लंबे समय तक रक्तस्राव होना कभी भी रजोनिवृत्ति के निकट होने का लक्षण नहीं हैं। यह गर्भाशय के कैन्सर अथवा अन्य रोग के कारण हो सकता है और इसकी जांच करवा लेनी चाहिए। इसी तरह जब रजोनिवृत्ति में विलंब हो जाता है यानी यह 50 साल या बाद तक भी नहीं होती तो ऐसा गर्भाशय के अर्बुद अथा कैन्सर के कारण हो सकता है।

यथेष्ट आराम, मोटापे से बचने के लिए आहार का उचित नियंत्रण, अच्छी नींद के लिए मंद शामकों का प्रयोग और कभी-कभी हॉरमोन की टिकियों का प्रयोग ही ऐसी चीजें हैं जो रजोनिवृत्ति के लक्षणों के नियंत्रण के लिए आवश्यक हैं। हॉरमोन की टिकियाएं डाक्टर की अच्छी देखरेख में ली जानी चाहिए अन्यथा इनसे अनियमित रक्तस्राव हो सकता है।

कई स्त्रियों के लिए तो रजोनिवृत्ति वरदान सिद्ध होता है। जनन-अवधि के तनाव के समाप्त होने से मानसिक प्रशांति और प्रसन्नता होती है। इसके बाद स्त्री अपने सारे परिश्रमों के इनाम के रूप में बड़े गर्व से अपने बड़े बच्चों की खुशी की तरफ केन्द्रित हो सकती है।

8. बंध्यता (Sterility) :

विवाह के बाद दो साल तक सामान्य मैथुन संबंधों और बिना गर्भनिरोधक उपायों के प्रयोग के यदि सगर्भता की अवस्था नहीं आती तो दम्पति को बंध्य या बांझ समझा जा सकता है। यह बिलकुल सच है यदि विवाह 25 वर्ष से अधिक की आयु में नहीं हुआ है। इसके बाद स्त्री में जनन-क्षमता धीरे-धीरे कम होने लगती है और देर से विवाह करने वाले सभी व्यक्तियों में यदि छह महीने से एक वर्ष के भीतर गर्भधारण नहीं किया जाता तो दम्पत्ति को अपनी जांच करा लेनी चाहिए।

बंध्यता या बांझपन पुरुष, स्त्री अथवा दोनों में हो सकती है। यह बात महत्वपूर्ण है कि पति और पत्नी की या तो पृथक् रूप से या दम्पत्ति के रूप में साथ-साथ जांच की जानी चाहिए।

अधिक काम, चिंताएं, वर्तमान जीवन के बोझ व तनाव और संभवतया अत्यधिक धूम्रपान कुछ ऐसे कारक हैं जो पुरुष की जनन-क्षमता को कम करने में योग देते हैं। वृषणों का अल्पपरिवर्धन भी एक कारण हो सकता है। पुंसत्व को प्रभावित किए बिना कुछ संक्रमण ऐसे हो सकते हैं जो शुक्राणु उत्पन्न न होने देने से बंध्यता की स्थिति ला सकते हैं।

स्त्रियों में जनन-क्षमता के लिए यौवनारंभ और किशोर अवस्था के दौरान उचित वृद्धि व परिवर्धन होना अनिवार्य है। पोषण संबंधी कमी, विशेषकर प्रोटीनों की कमी से जनन-अंगों का अल्पपरिवर्धन और अंत:स्रावी तंत्र का असंगत संचालन हो सकता है। यही कारण है कि अनियमित और कम ऋतुस्राव वाली स्त्रियां प्राय: बंध्य होती हैं।

फेफड़ों के यक्ष्मा से प्राय: जनन-क्षमता कम नहीं होती है लेकिन यदि यह जनन-अंगों को प्रभावित करती है तो इससे बंध्यता हो जाती है। इस अवस्था में अन्य कोई लक्षण उत्पन्न नहीं होते और इस तरह लक्षण छिपे रहकर केवल बंध्यता ही उत्पन्न कर सकते हैं।

कुछ स्त्रियों में प्रकृति के अनुसार अंडोत्सर्ग नहीं होता और इसीलिए वे बंध्य रह जाती हैं। अन्य स्त्रियों में मैथुन के गलत समय पर होने से भी बंध्यता रह सकती है। गर्भधारण के लिए जनन-क्षम अवधि अंडोत्सर्ग के समय या इसके लगभग होती है। यह प्राय: अगले ऋतुस्राव के प्रारंभ से 14 दिन तक होती है।

लंबे समय तक गर्भनिरोधकों के प्रयोग से जनन-अंगों में संक्रमण हो जाने से भी बंध्यता हो सकती है। मैथुन के तुरंत बाद भग को स्वच्छ रखने के उद्देश्य से पूतिरोधी पदार्थों से डूश (डूशिंग) करने से भी बंध्यता हो सकती है क्योंकि इससे शुक्राणु मर जाते हैं। संक्रमण से भी बंध्यता हो जाती है क्योंकि इससे फैलोपी नलिकाओं में अवरोध आ जाता है। ऐसा प्राय: एक शिशु के जन्म के बाद देखा जाता है जब कि प्रसूति अवस्था का संक्रमण नलिकाओं का अवरोध करके द्वितीयक बंध्यता नामक स्थिति उत्पन्न कर देता है।

ऐसा भी हो सकता है कि कुछ में अच्छी तरह से अन्वेषण के उपरांत भी किसी एक में (न पति में और न पत्नी में) भी कुछ अपसामान्यता का

पता न चले। कभी-कभी ही परीक्षणों से ऐसी अवस्था सामने आएगी जो सगर्भता के विपरीत संकेत दे। फिर भी हरएक में अच्छी तरह से अन्वेषण कर लिए जाने चाहिए। कुछ अन्वेषण तो बहुत समय लेने वाले और कठिन होते हैं। लेकिन स्त्रियों में गर्भधारण करने और जनन करने की जो प्रबल इच्छा होती है उससे यह सब कुछ बहुत सरल हो जाता है।

• • •

39

—डा० जी० एम० फड़के
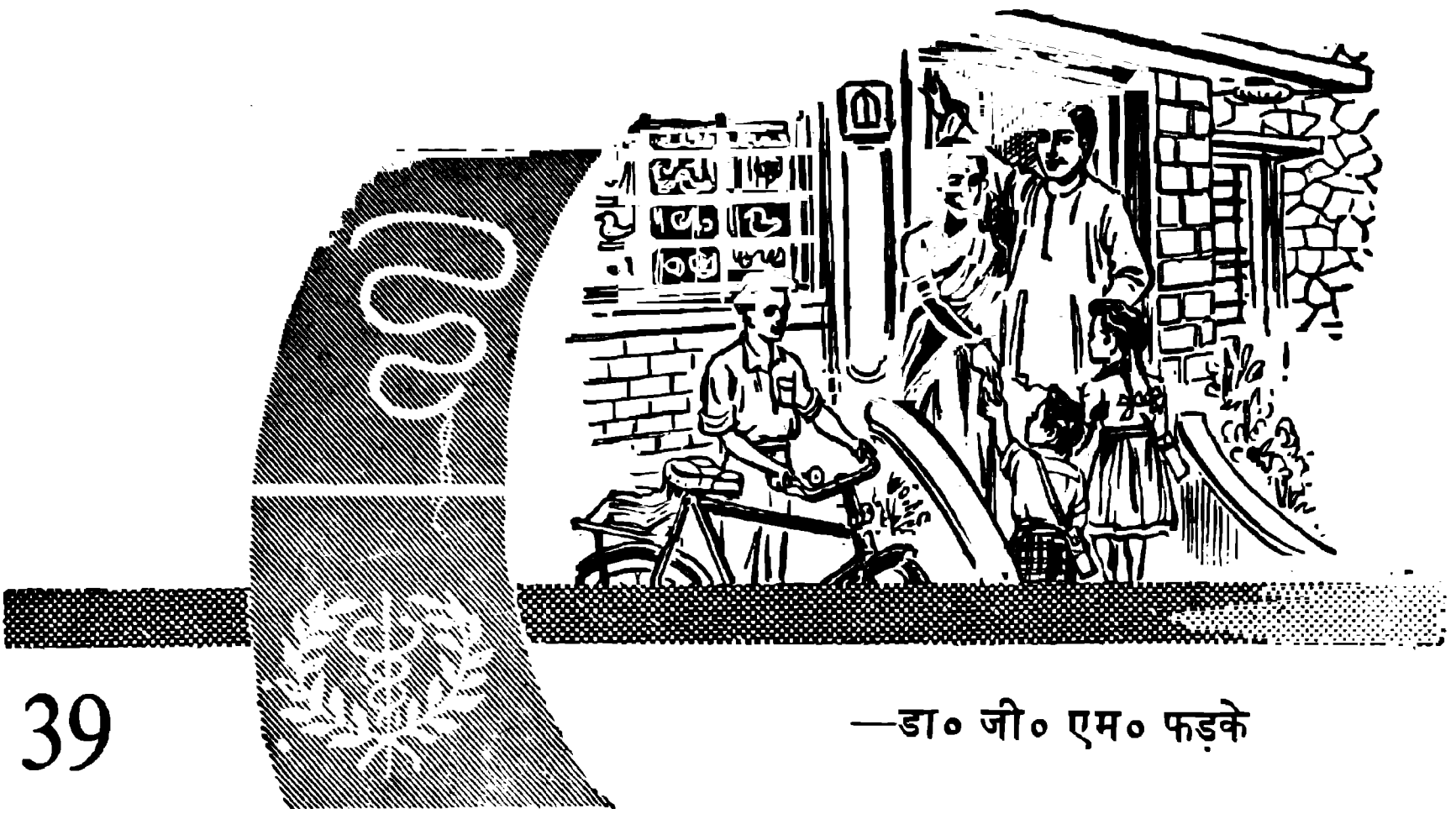
परिवार नियोजन

"परिवार नियोजन" से हरएक व्यक्ति भली-भांति परिचित है लेकिन इसके महत्व को हरएक नहीं समझता है क्योंकि उससे संबंधित पूरी जानकारी आसानी से उपलब्ध नहीं होती। सरल शब्दों में परिवार नियोजन का अर्थ है सीमित अथवा प्रतिबन्धित परिवार। परिवार शब्द का क्या अर्थ है? शब्दकोश में परिवार का अर्थ इस तरह दिया गया है: "परिवार एक विवाहित पुरुष और स्त्री की इकाई है जिसमें कम-से-कम एक बच्चा होता है।" वैसे एक से अधिक बच्चे भी हो सकते हैं।

परिवार नियोजन की आवश्यकता :

अब तक भारत में क्या सारे विश्व में ही पिछली अनेक शताब्दियों से छोटे व बड़े परिवार रहे हैं। आजकल ही वह क्या बात हो गई है कि परिवार नियोजन इतने महत्व का हो गया है? इसका प्रमुख कारण है दुनिया की आबादी का एकाएक बढ़ जाना, विशेषकर पिछले 30-40 सालों में। यह आबादी इतनी अधिक बढ़ गई है कि यदि इस स्थिति का अपेक्षाकृत कम समय में नियंत्रण नहीं किया गया तो इस दुनिया में सभी लोगों का शान्ति और सन्तुष्टि से रहना कठिन हो जाएगा।

अकाल, जानपदिक रोग (महामारियां) और लड़ाइयां मानव के तीन महत्वपूर्ण अभिशाप हैं। इनके द्वारा आकस्मिक रूप से होने वाली मौतों से आबादी की अत्यधिक बढ़ोतरी को प्रत्येक घटना के दौरान बहुत कुछ रोक के रखा गया है। 1961 में, भारत में, जन्म दर 1000 को आबादी में करीब 40 के लगभग थी और मृत्यु दर 1000 में 20 के लगभग। पिछले 30 वर्षों में आयुर्विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में हुई खोजों और प्रगति से मृत्यु दर बहुत नीचे आ गई है। साथ ही लोक स्वास्थ्य कार्यक्रम के अंतर्गत प्रविष्ट किए गए निरोध उपायों से भी लोगों के स्वास्थ्य व गठन में सुधार हुआ है जिसके कारण प्रति वर्ष होने वाली मृत्यु दर में बहुत अधिक कमी आई है। लेकिन जन्म दर पहले की ही तरह अधिक है। अत: इसका

* * * *

(स्वर्गीय) डा. जी. एम. फड़के, एफ. आर. सी. एस. (इंग०); अवै. निदेशक, परिवार कल्याण ब्यूरो, भारतीय परिवार नियोजन एसोसिएशन, बम्बई; अवै. सर्जन, के. ई. एम. अस्पताल, बम्बई।

वास्तविक परिणाम रहा है आबादी में आकस्मिक वृद्धि ।

19वीं शताब्दी तक दुनिया की आबादी करीब 250 करोड़ थी । पिछले 50 वर्षों में यह 200 करोड़ अधिक बढ़ गई है और यदि आबादी इसी दर से अगले 600 वर्षों तक बढ़ने दी जाये तो गणना करने पर ज्ञात होगा कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपने सामान्य कार्य करने के लिए केवल 1 वर्ग-मीटर जमीन बच रहेगी। दूसरे शब्दों में, इसका मतलब होगा केवल "खड़े होने लायक जगह"। यदि हम इस बात की चिन्ता करना छोड़ भी दें कि 600 वर्ष बाद जो होगा सो होगा, फिर भी ऐसी आबादी से अपने देश में क्या बुरे परिणाम हो सकते हैं उनको महसूस करना तो अनिवार्य है ।

इस शताब्दी के आरंभ में भारत की आबादी 24 करोड़ थी। पहले 30 वर्षों में यह केवल 4 करोड़ बढ़ी और फिर अगले 30 वर्षों में यह 16 करोड़ और अधिक बढ़ी और 1961 की पिछली जनगणना में ये आंकड़े करीब 44 करोड़ तक पहुंच गये। यह बहुत खतरे की बात है कि अगले 10 वर्षों के दौरान वस्तुतः इसमें करीब 21% की वृद्धि हुई है। और यह बढ़कर 51 करोड़ के लगभग हो गयी ।

आबादी की वृद्धि से देश के आर्थिक स्तर पर बहुत असर पड़ता है क्योंकि लोगों के लिए भोजन, आवास, वस्त्र, नौकरी आदि की व्यवस्था करनी होती है। यदि बढ़ती आबादी के अनुसार ही खाद्य उत्पादन व औद्योगिक विकास होता रहता तो परिवार नियोजन का प्रश्न ही न उठता। इधर आबादी तो ज्यामितीय रूप से बढ़ती है लेकिन उधर खाद्य उत्पादन आदि अंकगणितीय रूप से बढ़ते हैं। इसका एहसास माल्थस को 150 वर्ष पहले हो गया था ।

चूंकि अपने देश की सरकार को इन बढ़े लोगों के लिए भी हर प्रकार की व्यवस्था करनी होती है इसलिए केंद्रीय सरकार के लिए यह बड़ी चुनौती थी। यह अनुभव करने के बाद कि प्रत्येक पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत सभी परियोजनाएं और योजनाएं आबादी की वृद्धि के कारण सफल नहीं रहीं, योजना आयोग ने परिवार नियोजन कार्यक्रम को सबसे अधिक प्रमुखता दी जिसका नंबर चौथी पंचवर्षीय योजना में कृषि के एकदम बाद है। स्वतंत्रता के बाद कृषि और उद्योगों के क्षेत्र में तीव्र प्रगति हुई लेकिन इनसे प्राप्त होने वाला पैसा लोगों के जीवन मान में सुधार लाने के बदले अतिरिक्त आबादी के लिए बाहर से अधिक खाद्य निर्यातित करने में खर्च किया जाता रहा। भारत सरकार ने अनुभव किया कि प्रत्येक क्षेत्र में विकास करने में आबादी की वृद्धि रोड़ा अटका देती है।

वाशिंगटन में हाल ही में एक अंतर्राष्ट्रीय खाद्य गोष्ठी में सर्वसम्मति से इस बात पर सहमति प्रकट की गई कि आबादी और खाद्य उत्पादन में होड़ लगी हुई है। विशेषज्ञों का कहना है कि उपलब्ध जमीन से किसी भी तरह पर्याप्त भोजन उत्पन्न करना असंभव है इसलिए बड़े जबर्दस्त तरीके से इस बात का समर्थन किया गया और साथ ही साथ आबादी की वृद्धि पर भी रोक रखी गई। यदि आने वाले कुछ वर्षों में इस बात में संतोष-जनक रूप में सफलता प्राप्त नहीं की गई तो लड़ाइयां अपरिहार्य रहेंगी। यह खतरनाक स्थिति मृत्यु दर के गिरने और जन्म दर के करीब-करीब उतने ही रहने से उत्पन्न हुई है।

दूसरे तरह से, छोटे पैमाने पर परिवार की तुलना देश से की जा सकती है। बड़े परिवार की हानियां समाज के तीनों वर्गों—धनी, मध्यम और निर्धन—द्वारा अनुभव की जाती है। धनी वर्ग में परिवार के हर सदस्य को भोजन प्राप्त कराने की समस्या नहीं होगी लेकिन बार-बार की सगर्भता से माता की तंदुरुस्ती पर निश्चित रूप से प्रभाव पड़ेगा। मध्यम वर्ग दोनों प्रकार से प्रभावित होता है। उसे बच्चों को भोजन उपलब्ध ही नहीं कराना है बल्कि उनकी शिक्षा और अन्य आवश्यकताओं

की पूर्ति भी करनी होती है। पुराने जमाने में समाज के निर्धन वर्ग द्वारा बड़े परिवार को अच्छा व लाभकारी समझा जाता था। अधिक सदस्य खेतों व फैक्टरियों आदि में काम करके प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में परिवार की आमदनी बढ़ाते थे। दुर्भाग्य से अब उनकी हालत भी बड़ी दयनीय हो गई है क्योंकि अपने छोटे से जमीन के टुकड़े पर इतने ढेर सारे सदस्यों का उपयोग कहां तक किया जाय। अपर्याप्त उद्योगों के अभाव में बेरोजगारी एक नियमित खतरा है। गरीब परिवारों को न तो पर्याप्त व पोषक भोजन प्राप्त होता है और न आवश्यकता पूर्ति के कपड़े और न ही रहने के लिए स्वास्थ्यकर आवास ही उपलब्ध हो पाते हैं, जिनका परिणाम यह होता है कि उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता और वे वस्तुत: बीमार रहते हैं (चित्र 39.2)। इसीलिए समाज के सभी वर्गों को बड़े परिवारों की हानियों के प्रति बहुत अधिक जागरूक होना चाहिए।

भारत सरकार द्वारा पूरे देश में शहरी व देहाती दोनों इलाकों में परिवार नियोजन के प्रति लोगों के दृष्टिकोण वाले सर्वेक्षणों से इस तथ्य की अच्छी तरह से पुष्टि की जा चुकी है और देहाती इलाकों में तो ऐसे सर्वेक्षण शहरों की अपेक्षा अधिक ही किए गए। पूरे देश में यह इच्छा व्याप्त है कि परिवार छोटा हो। लेकिन इसे कैसे प्राप्त किया जाय?

इसके केवल दो हल हैं--या तो मृत्यु दर में वृद्धि की जाय या जन्म दर कम की जाय। पहली वाली बात तो सभ्य समाज में अमानवीय है। अत: अन्य कोई विकल्प ही नहीं है सिवाय इसके कि जन्म दर में कमी की जाय।

सगर्भता की अवस्था कैसे आती है:

यह एक अच्छी बात है कि डाक्टरी पेशे के लोगों को यह जानकारी है कि सगर्भता की अवस्था कैसे आती है और इसीलिए विभिन्न

चित्र 39.2—अनियंत्रित परिवार

चरणों में बाधा पहुंचाकर इसे रोका जा सकता है।

यह एक सामान्य ज्ञान की बात है कि स्त्री द्वारा गर्भधारण किए जाने के लिए पुरुष और स्त्री का निकटता का संबंध जरूरी है। इस मिलन या सहवास में पुरुष की जनन-कोशिकाएं स्त्री के शरीर में पहुंचकर उसकी जनन-कोशिका से सम्मिलन करती हैं और इसी का परिणाम सगर्भता है (चित्र 39.3)।

पुरुष और स्त्री के शरीर में दो महत्वपूर्ण ग्रंथियां हैं जिन्हें क्रमश: वृषण और अंडाशय कहते हैं। ये नर और स्त्री जन्न तंत्रों के महत्वपूर्ण अंग हैं जैसा कि क्रमश: चित्र 39.4 और 39.5 में दिखलाया गया है। लैंगिक ग्रंथियों के दो महत्वपूर्ण कार्य होते हैं। एक है संबद्ध जनन-कोशिकाएं उत्पन्न करना और दूसरा है हॉरमोन उत्पन्न करना। ये हॉरमोन ही मैथुन करने की इच्छा जाग्रत करते हैं। एक बार उत्पन्न होने पर ये जनन-कोशिकाएं पुरुष में 'वाहिका' (वास) नामक नलिका से और स्त्री में फैलोपी नलिका से गुजर कर जनन-मार्ग के दूरस्थ भागों में प्रविष्ट करती हैं। अंत में दोनों लिंगों की जनन-कोशिकाएं स्त्री
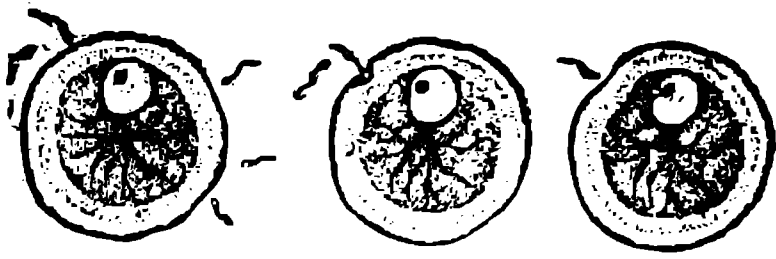
चित्र 39.3—शुक्राणु का अंड से सम्मिलन

के जनन-पथ में मिलती हैं और इस सम्मिलन का परिणाम होता है सगर्भता।

स्त्री की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह प्रति माह एक जनन-कोशिका उत्पन्न करती है। यह अंतराआर्तव काल के लगभग बीच में उत्पन्न होती है। इस जनन-कोशिका या अंडाणु की, जैसा कि इसे कहा जाता है, जीवन अवधि बहुत छोटी होती है। यह करीब 48 घंटों तक ही जीवित रहता है और इस बीच यदि यह पुरुष की जनन-कोशिका या शुक्राणु से सम्मिलन नहीं करता तो यह नष्ट हो जाता है और स्त्री के शरीर से बाहर फेंक दिया जाता है। इस बात पर ध्यान देना भी जरूरी है कि जब तक स्त्री ऋतु-स्राव करती रहती है तब तक वह ऐसी ही जनन-कोशिकाएं उत्पन्न करती रहती है यानी करीब 40-45 वर्ष की आयु तक।

इसके विपरीत पुरुष में शुक्राणु निरंतर तब तक उत्पन्न होते रहते हैं जब तक कि वह बहुत अधिक आयु का नहीं हो जाता यहां तक कि 70 वर्ष की आयु या इससे अधिक समय तक भी। इस तरह पुरुष स्त्री को किसी भी दिन गर्भ धारण करवा सकता है लेकिन स्त्री अंतराआर्तव काल के बीच में केवल दो दिन ही गर्भ धारण कर सकती है। इन शरीरक्रियात्मक तथ्यों के कारण विविध उपायों से सगर्भता रोकने के बारे में सोचा जा सकता है। विविध गर्भनिरोधक उपाय इन्हीं तथ्यों पर आधारित हैं।

मैथुन के समय शुक्राणु योनि में जमा हो जाते हैं। शुक्राणु ऊपर गर्भाशय से होकर फैलोपी नलिका में प्रविष्ट हो जाते हैं और यहीं शुक्राणु व अंडाणु का सम्मिलन होता है (चित्र 39.6)। यह निषेचित अंडाणु गर्भाशय की गुहा में आ जाता है, जहां वह अंतिम रूप से उसकी दीवार से दृढ़तापूर्वक जुड़

चित्र 39.4—पुरुष के जनन-अंग (पार्श्व दृश्य)
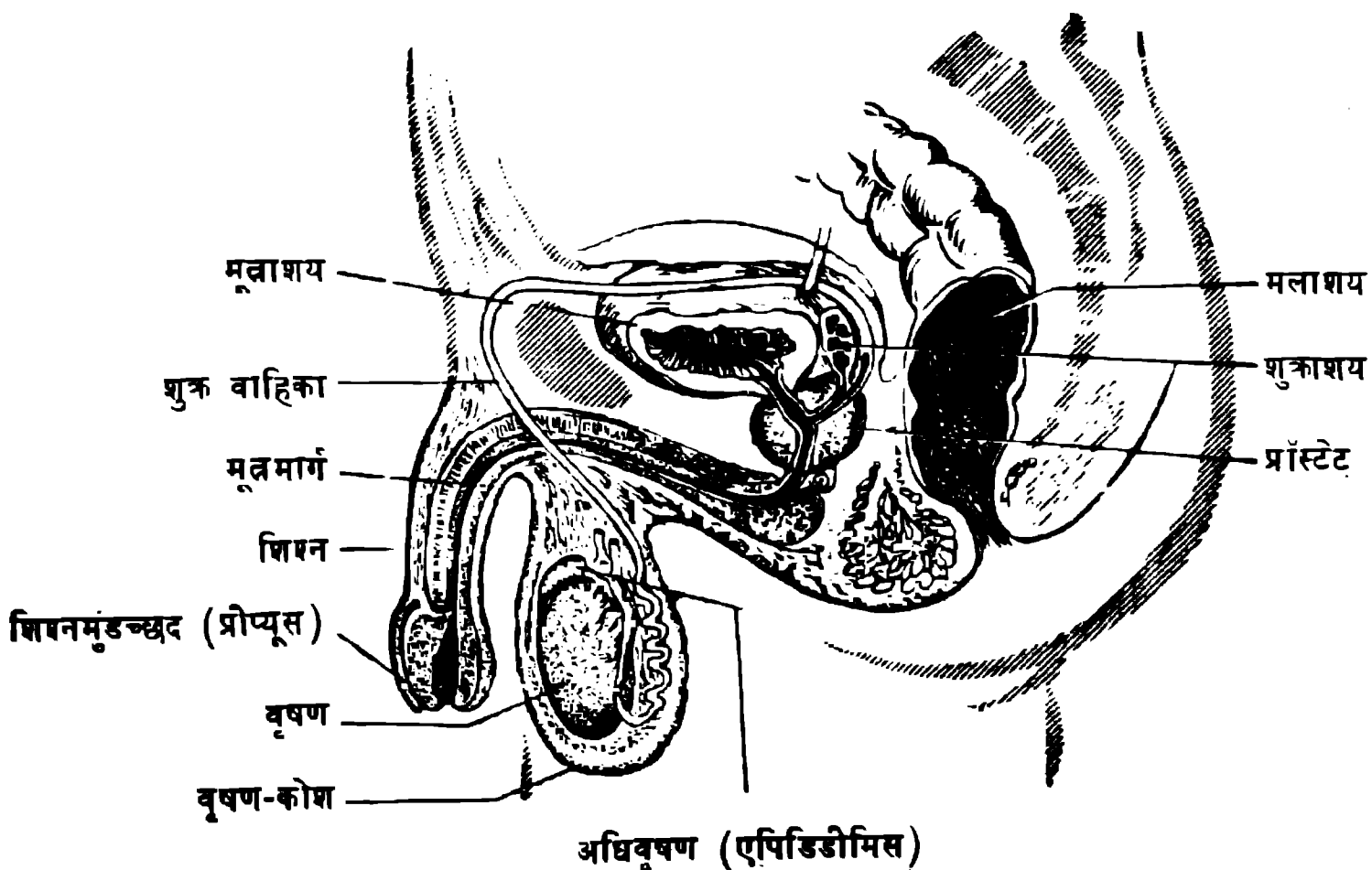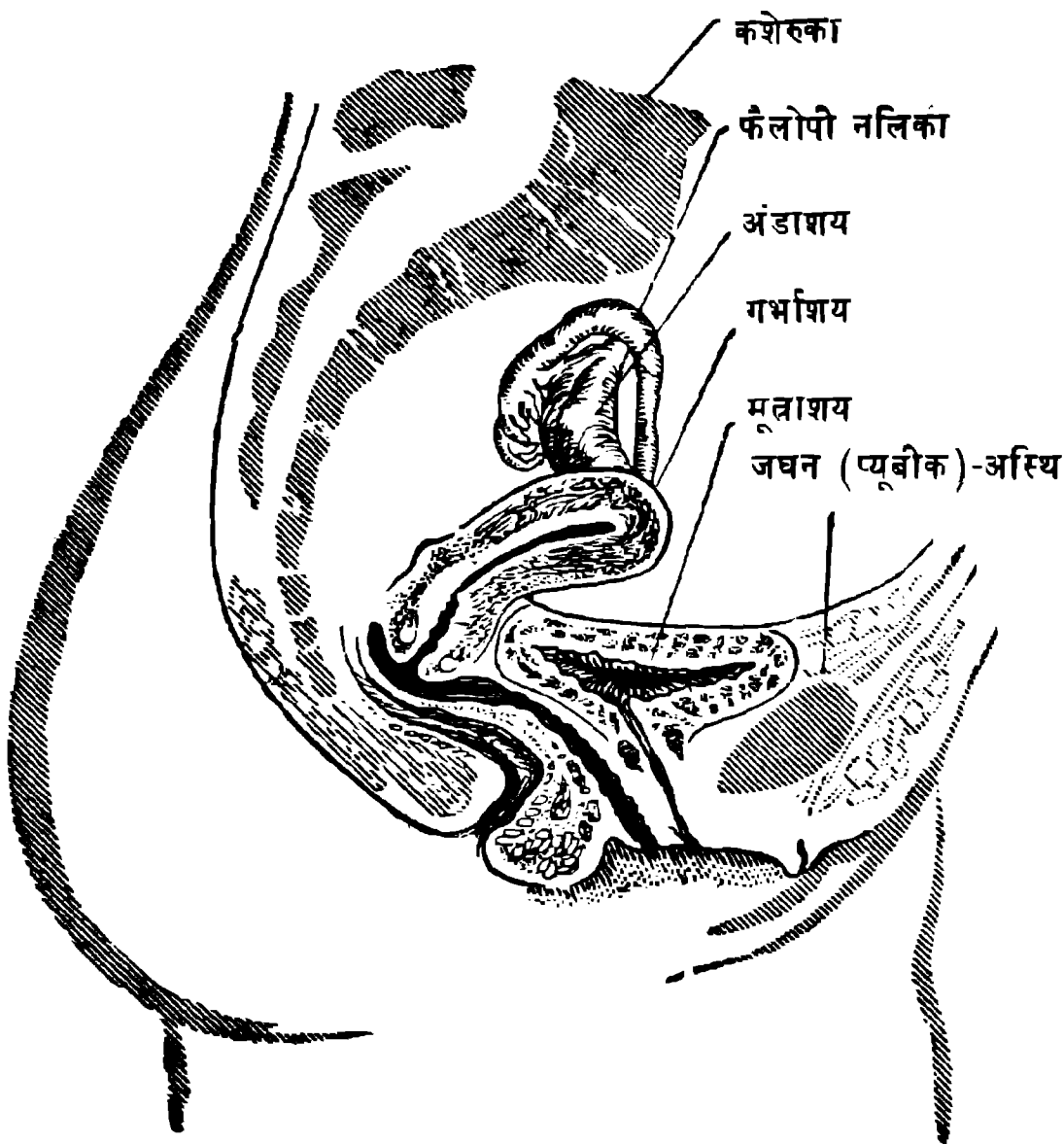
चित्र 39.5—
स्त्री के जनन-अंग
(पार्श्व दृश्य)

जाता है। इस समय के बाद गर्भावस्था का आरंभ हो जाता है।

गर्भ निरोध की विधियां :

ऊपर वर्णित सामान्य बातों में, जिनसे सगर्भता की स्थिति आती है, विभिन्न अवस्थाओं में बाधा पहुंचाई जा सकती है, जो कि जनन-पथ की आंतरिक रचना से स्पष्ट हो जाएगा। सगर्भता को रोकने के कुछ तरीके नीचे दिये जाते हैं :

1. संयम : इसका मतलब है मैथुन से दूर रहना अर्थात् पुरुष व स्त्री को सहवास नहीं करना चाहिए। यह सबसे सरल और सस्ता उपाय है। लेकिन यह अव्यावहारिक है। ऐसे सम्मिलन को रोकना मानव की प्राथमिक आधारभूत आवश्यकताओं के विरुद्ध जाता है और एक औसत व्यक्ति द्वारा इसका पालन नहीं किया जा सकता।

2. अंतरित मैथुन (Coitus interruptus) : यह दूसरा सस्ता उपाय है। इस विधि में मैथुन के दौरान पुरुष ठीक विसर्जन के पहले ही अपने शिश्न को योनि से बाहर निकाल लेता है। लेकिन बाहर निकालने की यह प्रक्रिया उचित समय पर होनी चाहिए अन्यथा वीर्य की शुरु वाली कुछेक बूंदें भी यदि योनि में पहुंच गईं तो गर्भ रह जायेगा क्योंकि इन्हीं बूंदों में शुक्राणुओं की अधिक संख्या होती है। यह विधि सभी दम्पतियों को अच्छी नहीं लग सकती। पूर्ण या वास्तविक मैथुन वह होता है जिसमें दोनों जनों को पुरुष द्वारा शिश्न बाहर निकालने के पहले ही कामोन्माद (orgasm) हो जाय। सामान्यतया स्त्रियां पराकाष्ठा या चरम पर धीरे-धीरे बाद में पहुंचती हैं। अतः यह हो सकता है कि स्त्री उस समय पराकाष्ठा पर न पहुंच पाए जिस समय कि पुरुष विसर्जन करता है, किंतु यदि वह शिश्न योनि में ही रहने देता है तो स्त्री को उचित प्रकार से उद्दीपन का अनुभव होगा और कुछ ही क्षणों बाद वह भी पराकाष्ठा या चरम पर पहुंच जाएगी। यदि पुरुष इस तरह अंतरित मैथुन

चित्र 39.6—
अंडाणु से सम्मिलन के लिए शुक्राणु की यात्रा और गर्भाशय में अंत:स्थापित होने के लिए निषेचित अंडाणु की वहां तक की यात्रा।
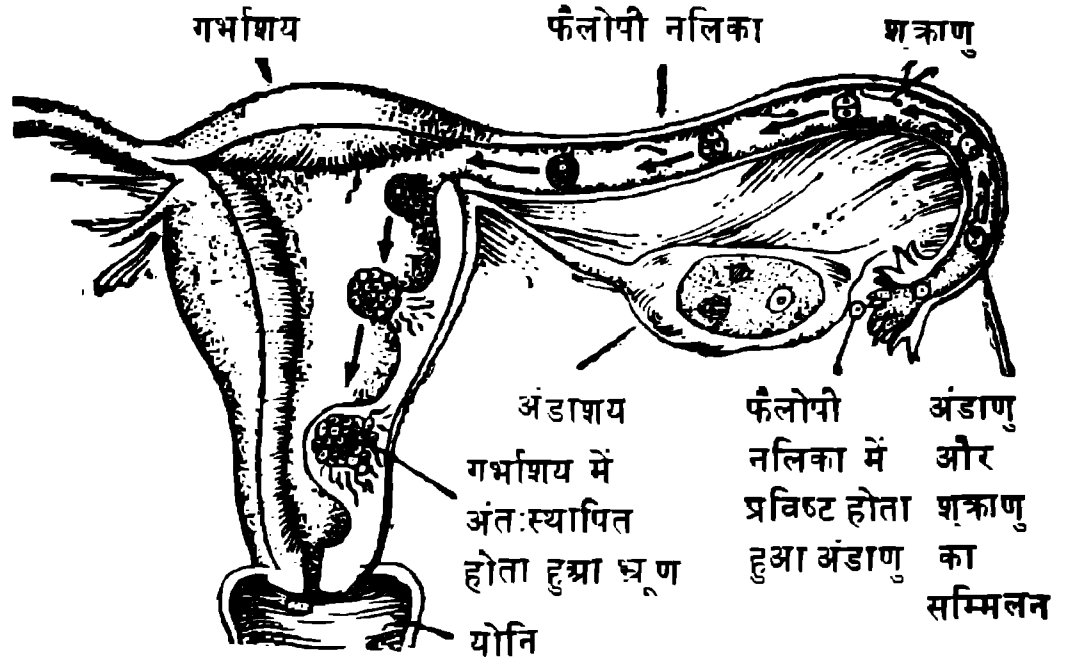
की विधि में हर समय शिश्न बाहर निकालता रहेगा तो स्त्री असंतुष्ट रह जायेगी। यदि ये घटनाएं नेमी रूप से दोहराई जाती रहेंगी तो उसके तंत्रिका तंत्र पर काफी खराब प्रभाव पड़ेगा और वह मानसिक रूप से अस्तव्यस्त रह सकती है। इसी तरह पुरुष भी मानसिक तनाव में रहेगा क्योंकि उसे शिश्न बाहर निकालने का कार्य बहुत ठीक समय पर करना होगा। सामान्यतया इस विधि को खतरे से खाली नहीं माना जाता।

3. तालबद्ध विधि (Rhythm method) : इस विधि में पति-पत्नी को मैथुन के लिए वह दिन छोड़ना पड़ेगा जिस दिन अंडाणु अंडाशय से निकलता है। वैसे सिद्धान्त रूप में तो यह बहुत सुंदर और सरल लगता है लेकिन किसी स्त्री के अंडोत्सर्ग का सही दिन मालूम करना बहुत कठिन है, और फिर उस समय तो और भी कठिन होता है जब कि उसका ऋतुस्राव अनियमित रूप से होता हो। किंतु उस स्त्री में, जो प्रत्येक 28 दिन के बाद या इसी तरह नियमित रूप से ऋतुस्राव करती है, उस दिन की गणना करना बहुत सरल होता है जिस दिन कि अंडाणु निकलता है। यह भी सस्ती व सरल विधि है लेकिन अविश्वसनीय है।

4. निषेचन का निरोध : पुरुष और स्त्री जनन-कोशिकाओं को एक दूसरे के सम्पर्क में आने से रोका जा सकता है। यह दो प्रकार से किया जा सकता है। स्त्री द्वारा मैथुन के पहले योनि के अंदर पट या डायफ्राम के रूप में न भेदा जाने वाला रबड़ का परदा पहना जा सकता है। इसी तरह पुरुष द्वारा मैथुन के पहले या उसके दौरान एक रबड़ की झिल्ली (कंडोम या फ्रेंच लेटर) पहनी जा सकती है। ये बहुत प्रभावकारी होते हैं किंतु अंततोगत्वा महंगे पड़ते हैं। फिर इसमें स्त्री को डायफ्राम के सुप्रयोग के लिए थोड़ा बहुत प्रशिक्षण भी चाहिए ही। इसमें कुछ एकांत या छिपाव की भी आवश्यकता होती है जो कि आज की भारतीय आबादी के घने आवास में मुश्किल से ही मिल पाता है। यदि इन विधियों को होशियारी से इस्तेमाल किया जाय तो ये खतरे से खाली होती हैं। ये विशेष रूप से दो सगर्भताओं के बीच उचित अंतराल रखने के लिए बहुत उपयुक्त होती हैं। माता के अच्छे स्वास्थ्य के लिए अंतराल रखना बहुत जरूरी होता है। इस प्रसंग में पूर्ण रूप से निर्देश और जानकारी प्राप्त करने के लिए निकट के परिवार नियोजन एवं कल्याण केंद्र में जाना अच्छा रहता है।

5. शुक्राणुओं को नष्ट करना : यह विधि तब कारगर होती है जब मैथुन से पहले योनि में झाग बनाने वाली चीज, जली या टिकिया का प्रयोग किया जाता है। इन शुक्राणुनाशी पदार्थों के संपर्क में आने पर जनन-कोशिकाएं नष्ट और प्रभावहीन हो जाती हैं। लेकिन यह विधि बहुत विश्वसनीय नहीं है क्योंकि कुछ शुक्राणु बचकर निकल जाते हैं।

6. अंडोत्सर्ग का निरोध : इसमें अच्छी सफलता मिल पाई है। कृत्रिम रूप से निर्मित कुछ हॉरमोन जब मुंह द्वारा ग्रहण किए जाते हैं तो वे अंडाशय से अंडाणु के निकलने पर रोक लगा देते हैं। इन स्त्रियों वाली गोलियों पर पश्चिमी देशों में बहुत प्रयोग किए गए हैं और इन्हें बहुत विश्वसनीय पाया गया है। बस इसमें उलझन यही है कि यह गोली महीने में 25 दिन तक रोज ली जानी चाहिए जब तक कि सगर्भता की इच्छा न हो और यह 10 से 15 वर्ष या इससे भी अधिक की अवधि हो सकती है। ये गोलियां महंगी भी होती हैं अत: गरीब देश के लिए ये गोलियां अव्यावहारिक हैं, विशेष रूप से तब जब कि ग्रामीण क्षेत्र में इन्हें भारी पैमाने पर इस्तेमाल किया जाना है। पुरुष के लिए अभी तक ऐसी गोलियां नहीं बन पाई हैं।

7. आरोपण रोकने की विधि : आरंभ में डा. ग्राफेनबर्ग ने सगर्भता रोकने के लिए गर्भाशय की गुहा में सोने या चांदी के छल्ले-जैसी चीज का प्रयोग किया। यह बहुत सफल रहा। लेकिन कुछ अन्य लोगों में, जिन्होंने इसका प्रयोग किया, कुछ उपद्रव या जटिलताएं हो गईं और इस उत्कृष्ट विधि का प्रयोग होना बंद हो गया। हाल ही में इस विधि को फिर से शुरु किया गया है। अब विविध आकार और नाप वाली प्लास्टिक की सर्पिल रचनाएं उपलब्ध हैं, जैसे लिप्पी लूप। ये प्रविष्ट करने में सरल रहती हैं और सस्ती भी होती हैं। जब तक लूप गर्भाशय की गुहा में रहेगा सगर्भता की स्थिति नहीं आएगी। अपने देश में यह विधि बड़े पैमाने पर इस्तेमाल की जाती है क्योंकि यह अब प्रयोग की अवस्था से काफी आगे निकल चुकी है।

वंध्यीकरण संबंधी आपरेशन (नसबंदी) : जनन-कोशिकाओं को उनके मार्ग में रुकावट डालकर आगे बढ़ने से रोका जा सकता है। दोनों लिंगों में यानी पुरुष और स्त्री दोनों में नलिकाओं से एक छोटा भाग काटकर ऐसा किया जा सकता है। इस आपरेशन को पुरुष में शुक्रवहा-उच्छेदन (vasectomy) और स्त्री में नलिका-उच्छेदन (tubectomy) कहा जाता है। शुक्रवहा-उच्छेदन (चित्र 39.7) में पुरुष की शुक्राणु का वहन करने वाली नली या शुक्र वाहिका का केवल भाग ही काटा जाता है और नलिका-उच्छेदन में (चित्र 39.8) स्त्री की फैलोपी नलिका का छोटा भाग ही निकाला जाता है। स्त्री में यह आपरेशन एक बड़ी प्रक्रिया है लेकिन पुरुष में यह बहुत मामूली प्रक्रिया होती है जो स्थानिक संज्ञाहरण द्वारा संपन्न की जाती है। पुरुष में इस आपरेशन को करने में करीब 10 मिनट लगते हैं और इसके बाद उसे तुरंत ही घर भेज दिया जाता है लेकिन उससे यह कहा जाता है कि वह टांकों के निकालने तक कुछ दिन घर पर ही आराम करे। इसमें उसे यह सावधानी रखनी होती है कि अगले तीन महीने तक निरोध उपायों के बिना मैथुन नहीं करना होता है जब तक कि उसके तंत्र से शुक्राणु पूरी तरह से बाहर नहीं फेंक दिए जाते। वीर्य के सूक्ष्मदर्शी अध्ययन से ही इस बात की संपुष्टि की जा सकती है कि उसमें शुक्राणु नहीं हैं।

चित्र 39.7—शुक्रवहा-उच्छेदन आपरेशन
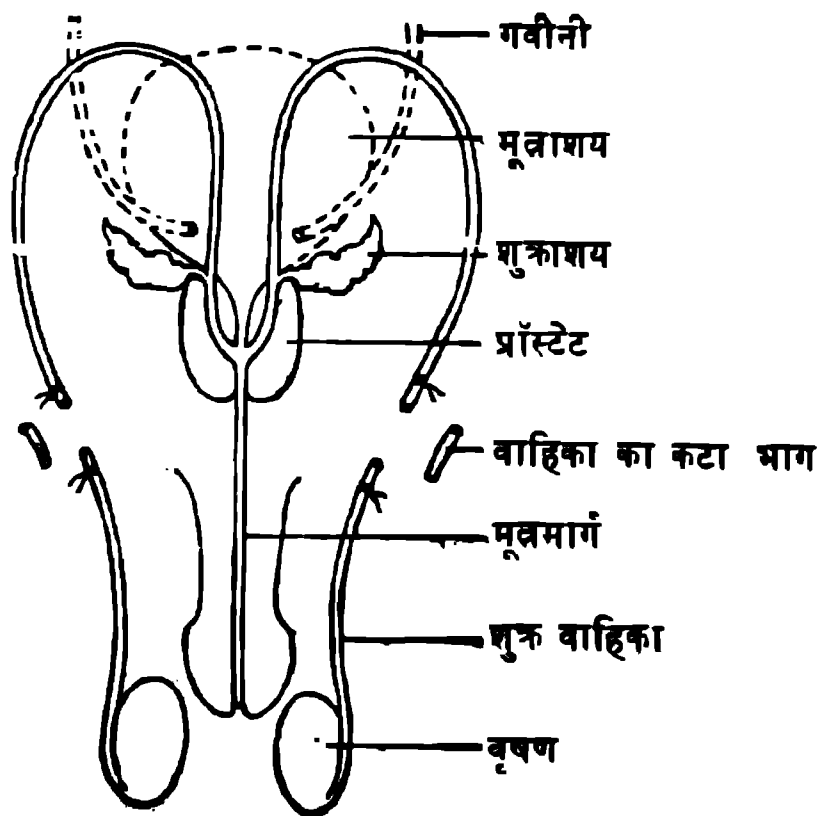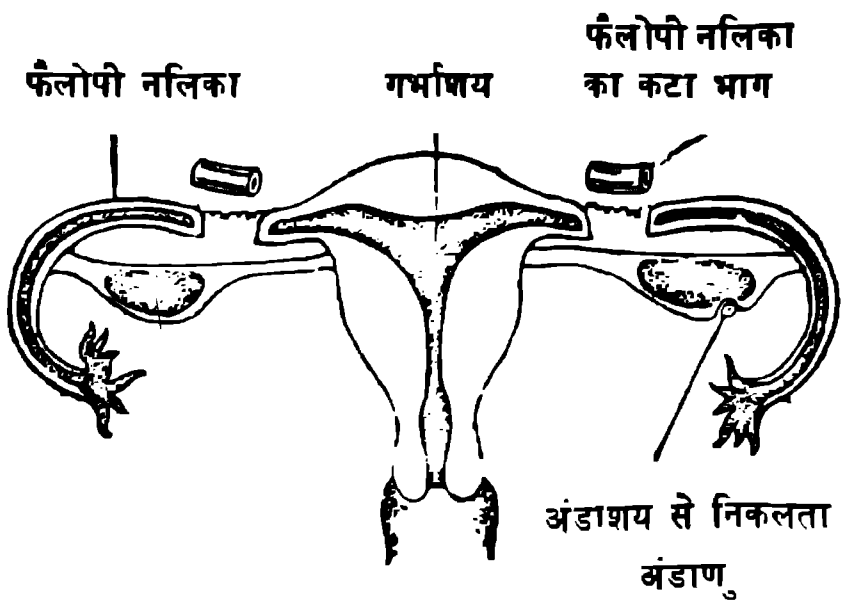
चित्र 39.8—नलिका-उच्छेदन आपरेशन

अभिशंसित विधियां :

यह जानना जरूरी है कि किन गर्भनिरोधकों की सिफारिश की जानी चाहिए ? विभिन्न विधियों की प्रक्रिया को अच्छी तरह समझने का प्रयत्न किया गया है। यह दंपति की मर्जी पर ही है कि वह किस विधि को चुनता है। किसी भी देश में कठिन और महंगी विधियां लोकप्रिय नहीं हो सकतीं। शस्त्रकर्म द्वारा वंध्यीकरण और अंतःगर्भाशयी प्लास्टिक लूप को छोड़कर सभी विधियों की सबसे बड़ी हानि यह है कि इन विधियों को मैथुन की इच्छा पर हरएक बार तब तक इस्तेमाल करना होगा जब तक कि पत्नी गर्भ धारण कर सकती है। आज भारत में परिवार नियोजन के लिए शुक्रवहा-उच्छेदन और अंतःगर्भाशयी लूप वाली विधियां बहुत अधिक प्रयुक्त हो रही हैं।

वंध्योकरण आपरेशन : जैसा कि पहले बताया जा चुका है किसी भी लिंग में वंध्यीकरण आपरेशन में शरीर से न तो कोई ग्रंथि निकाली जाती है और न उसके कार्य में हस्तक्षेप ही किया जाता है। इस लिए इससे शरीरक्रियात्मक गड़बड़ियों की संभावना नहीं रहती। दंपति पहले की तरह मैथुन आदि का आनन्द ले सकता है और इसलिए इस आपरेशन की बहुत अधिक सिफारिश की जाती है।

लेकिन कुछ लोग आत्मविश्लेषी होते हैं और जननांगों के आपरेशन के बाद कई कष्टों की कल्पना करते रहते हैं। इस प्रसंग में एक प्रश्नावली तैयारी की गई और जिनके आपरेशन किए गए थे उनसे उनकी निष्पक्ष राय पूछी गयी। सबसे आशाप्रद उत्तर प्राप्त हुए। हरएक आपरेशन की प्रभावशीलता और विश्वसनीयता से बहुत संतुष्ट है और अन्य विधियों की अपेक्षा इसकी जोरदार सिफारिश करता है। ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिला कि इमसे नपुंसकता हुई हो। वस्तुतः हरएक केस में नपुंसकता मानसिक गड़बड़ियों के कारण होती है। इस दृष्टिकोण से यदि आवश्यकता हो तो चित्रों द्वारा व्यक्ति को आपरेशन की क्रियाविधि समझा देनी चाहिए। इससे गलत धारणा वाले और मानसिक रूप से अशांत या क्षुब्ध लोगों के दिमाग से सारा भय दूर हो जाता है।

नपुंसकता के भय के अतिरिक्त एक और बात है कि लोग इस आपरेशन को अनुत्क्रमणीय समझते हैं यानी वे समझते हैं कि एक दफा हो जाने के बाद इसको फिर ठीक नहीं किया जा सकता। यह बात कुछ समय पहले थी लेकिन अब नई तकनीक के द्वारा विशेषज्ञ सर्जन शुक्र वाहिका के कटे सिरों को फिर जोड़ सकते हैं। हमारे पास कई ऐसे उदाहरण हैं जिनमें शुक्रवाहिका-उच्छेदन को पलटने से फिर से सगर्भता संभव हुई है।

व्यक्तियों को आपरेशन के लिए कब आना चाहिए ?

यह पहले भी बताया जा चुका है कि वंध्यीकरण आपरेशन के बाद कोई शरीरक्रियात्मक अशक्तता नहीं होगी, इसलिए इसे किसी भी उम्र में कराया जा सकता है। वैसे व्यावहारिक रूप में इसे तभी कराना चाहिए जब परिवार के 3 बच्चे हो जायें और अधिक बच्चों की चाह न हो। कुछ बच्चों की मृत्यु होने पर भी हो सकता है कि कोई फिर बच्चा पालने की अतिरिक्त जिम्मेदारी न लेना चाहे क्योंकि व्यक्ति के अवकाश प्राप्त करने के पहले उसका वह बच्चा अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सकता।

इस आपरेशन की सलाह तब तक नहीं दी जा सकती जब तक कि सबसे छोटा बच्चा (दूसरा या तीसरा) करीब 2 साल का नहीं हो जाता। यह इसलिए कि हमारे देश में शिशु मर्त्यता अधिक है। 2 से 3 वर्ष की उम्र तक इसका खतरा बहुत कम हो जाता है क्योंकि तब तक बच्चे शैशवावस्था के आकस्मिक रोगों वाली विषम व कष्टकर अवस्था से पार हो जाते हैं।

शुक्रवहा-उच्छेदन (वैसेक्टोमी) के बाद कोई भी जटिलताएं नहीं होतीं। लेकिन आपरेशन के बाद व्यक्ति को मुक्त रूप से बिना गर्भनिरोधकों के मैथुन करने से पहले 3 महीने तक रुका रहना चाहिए। इस समय तक पहले से जमा सभी शुक्राणु शरीर से बाहर निकल जाते हैं। फिर भी वीर्य के सूक्ष्मदर्शी अध्ययन द्वारा इस बात की संपुष्टि की जा सकती है।

आपरेशन के बाद कुछ लोग सोचते हैं कि वीर्य पतला हो गया है और मात्रा भी कम हो गई है। यह सब कल्पना मात्र ही है। हरएक स्वस्थ व्यक्ति में वीर्य का गाढ़ापन समय-समय पर बदलता रहता है। वीर्य प्रॉस्टेट, शुक्राशयों और वृषणों के स्रावों का मिश्रण होता है। इस मिश्रण में वृषणों का योगदान तो पूरे का लगभग 1/10 होता है और इसका अंदाज कोरी आंख से हो भी नहीं सकता। इस बात के काफी प्रमाण हैं इसलिए इस प्रसंग में बिलकुल भय नहीं होना चाहिए।

अंतर्गर्भाशयी लूप : परिवार नियोजन के लिए भारत में आज यह सबसे अधिक अच्छी विधि है, इसलिए इसकी सिफारिश की जाती है। लूप प्लास्टिक की अक्षोभक कुंडलित अथवा धनुषाकार रचना होती है जिसे गर्भाशय गुहा में प्रविष्ट किया जा सकता है (चित्र 39.9)। इससे सगर्भता नहीं होती लेकिन इसका सुस्पष्ट कारण ज्ञात नहीं है। लूप बहुत ही प्रभावशाली और सस्ता गर्भनिरोधक है जिसे संभवतया उत्कृष्ट युक्ति के रूप में बड़े पैमाने पर इस्तेमाल किया जा सकता है। यह एक हानिरहित गर्भनिरोधक है और कैन्सर सरीखा कोई रोग उत्पन्न नहीं करता।

अधिक बच्चों की इच्छा होने पर इसे इच्छानुसार निकाला जा सकता है। पहले और दूसरे बच्चे में अंतराल रखने के लिए भी यह अच्छी विधि है। दूसरे या तीसरे बच्चे के बाद, दंपति की इच्छा के अनुसार, शुक्रवहा-उच्छेदन अथवा नलिका-उच्छेदन की सिफारिश की जाती है।

लूप के बारे में कुछ महत्वपूर्ण बातों में विचार करना जरूरी है। इसे सुप्रशिक्षित व्यक्ति द्वारा ही प्रविष्ट किया जाना चाहिए। कुछ दिनों तक कुछ रक्तस्राव, ऐंठन और पृष्ठवेदना हो सकती है। एस्परीन की दो-दो टिकिया प्रतिदिन तीन से चार बार लेने से ऐंठन और पृष्ठवेदना नियंत्रित हो हो जाती है। लूप प्रविष्ट करने के कम-से-कम दो दिन तक डूश और मैथुन नहीं करना चाहिए। अगले दो ऋतुस्राव सामान्य की अपेक्षा जल्दी, भारी अथवा अधिक दिन वाले हो सकते हैं। यदि रक्तस्राव सामान्य से अधिक होता है तो बिस्तर पर आराम करना चाहिए और विशेषज्ञ डाक्टर की सलाह लेनी चाहिए।

कभी-कभी लूप ऐंठन अथवा रक्तस्राव के साथ नष्ट हो सकता है। इसे ध्यान से देखते रहना चाहिए और डाक्टर को बताया जाना चाहिए। महीने के अंत में आवधिक रूप से जांच करवाई

चित्र 39.9—लूप और गर्भाशय में स्थित लूप
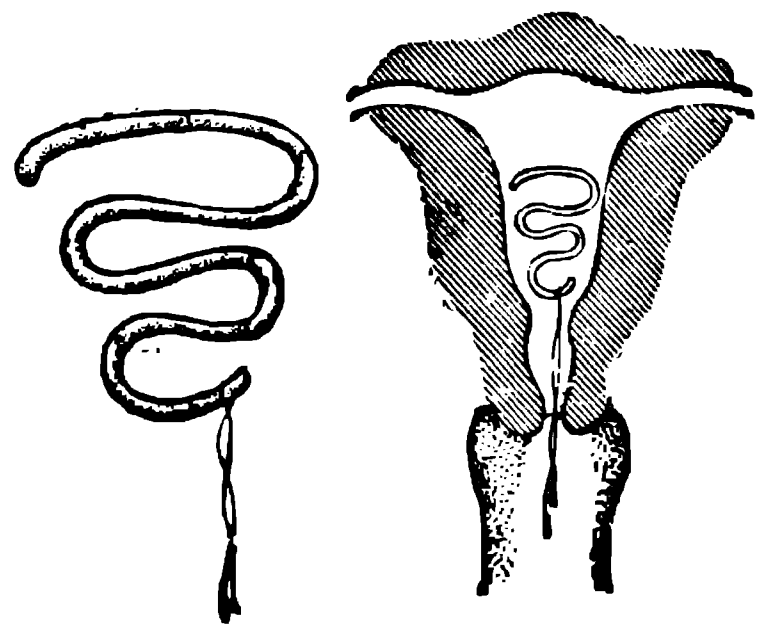
जानी चाहिए। लूप से लाखों स्त्रियों को लाभ पहुंचा है जो इसे लगवाने पर मजे में हैं। इसके बारे में जो कुछ भी गलत धारणाएं और विचार हैं वे अपवाद हैं और सामान्यतया सच नहीं हैं। यदि कोई संदेह, प्रश्न अथवा कठिनाइयां हैं तो किसी भी परिवार नियोजन एवं कल्याण केंद्र अथवा अपने डाक्टर की सलाह लीजिए।

इनके अतिरिक्त अब परिवार नियोजन के बारे में अधिक विस्तार में जाना सम्भव नहीं है। महत्वपूर्ण बातें ऊपर बताई जा चुकी हैं और उद्देश्य की प्राप्ति की मोटी रूपरेखा भी सुझा दी गई है। किसी तरीके को न अपनाने की अपेक्षा किसी भी तरीके को अपनाना अच्छा है। सबसे प्रभावशाली विधि वह है जो सही रूप में और नियमित रूप से प्रयुक्त की जाती है। अधिक विस्तृत जानकारी किसी भी परिवार कल्याण व नियोजन केंद्र से प्राप्त की जा सकती है।

• • •

40

—डा० आर० आंजनेयुलु

सगर्भता के दौरान की देखभाल और मातृ स्वास्थ्य*

स्त्री के जीवन में सबसे महत्वपूर्ण घटना है उसकी प्रथम सगर्भता और प्रसव। इसलिए इस दुनिया में स्वस्थ शिशु को प्रविष्ट करने के लिए अच्छी सेहत का होना बहुत आवश्यक है। अपने देश में, अभी तक भी, कई स्त्रियों की मृत्यु सगर्भता और प्रसव के दौरान होती है। कई स्त्रियों में शिकायतें बनी रह जाती हैं और चिरकारी अस्वास्थ्य चलता चला जाता है। सगर्भता के दौरान अच्छी देखभाल का मतलब है कि इन खतरों को कम से कम कर देना। अपने स्वास्थ्य पर ही अगली पीढ़ी का स्वास्थ्य निर्भर है और वस्तुतः किसी देश के स्वास्थ्य में "मातृ स्वास्थ्य" या जच्चा का स्वास्थ्य एक अकेला बहुत महत्वपूर्ण कारक है।

सगर्भता के लक्षण :

यह तो आपको मालूम ही है कि जब आपको ऋतुस्राव नहीं होता तो इसका अर्थ है कि आप सगर्भता की अवस्था में आ गई हैं। आपको अपने स्तनों में असामान्य मृदुता और भरापूरापन अनुभव होगा। चूचुक और उसके चारों ओर का पीला क्षेत्रक कुछ काला पड़ जाता है। आपको पेशाब करने के लिए बार-बार जाना पड़ सकता है। हो सकता है कि अपने रुचि के भोजन में भी आपको स्वाद न आए और आपमें असामान्य लालसाएं उत्पन्न हो सकती हैं। जिस समय आपको दूसरा ऋतुस्राव होता उस अवधि में आपको प्रातः अस्वस्थता या प्रातः वमन हो सकता है।

डाक्टर को सलाह कब लेनी चाहिए :

सगर्भता के आरंभ में ही डाक्टर के पास जाना चाहिए। वह आपकी सगर्भता की संपुष्टि करेगा और बतलाएगा कि सब कुछ ठीक है। कभी-कभार ही फैलोपी नलिका में सगर्भता होती है, जो कि गर्भाशय के बगल में होती है। यह एक खतरनाक अवस्था है। उचित रूप से जांच करने पर ही इसका निराकरण किया जा सकता है। डाक्टर

* * * *

*यह अध्याय विशेष रूप से माताओं (जच्चाओं) को संबोधित है।

डा. आर. आंजनेयुलु, एम. डी., डी. जी. ओ., प्रोफेसर, प्रसूतिविज्ञान एवं स्त्रीरोगविज्ञान, बी. जे. मेडिकल कालेज तथा ससून जनरल अस्पताल, पूना।

आपके कुछ परीक्षण व जांच करेगा। यह सब आप और आपके बच्चे के स्वास्थ्य के हक में ही है। यदि कुछ अपसामान्य होता है तो इनसे उसे दूर करने में सहायता मिलती है और आरंभिक अवस्था में उसका सफलतापूर्वक उपचार किया जा सकता है। सामान्य रक्त-परीक्षण से पता चल जाएगा कि आप में कहीं अरक्तता तो नहीं है। इससे आपके रक्त-वर्ग का पता भी चल जाता है। यह सगर्भता की बाद वाली स्थिति अथवा प्रसव के बाद की स्थिति में लाभकारी हो सकता है। मूत्र परीक्षण से वृक्क के रोग और मधुमेह को दूर किया जा सकता है। हृदय और फेफड़ों के निरीक्षण से पता चल जाएगा कि उनमें कहीं गड़बड़ी तो नहीं है। आपके आरंभिक रक्त-दाब और वजन को भी नोट कर लिया जाता है।

आरंभिक कष्ट :

पहले तीन महीनों में प्रातः अस्वस्थता आपको परेशान कर सकती है। सुबह बिस्तर से उठने के पहले आप एक प्याला चाय और बिस्कुट खा लिया करें। इस दौरान वसीय खाद्य पदार्थों का परहेज करें, अनेक बार कम-कम मात्रा में भोजन करें और फल व सलाद का अधिक प्रयोग करें। कभी-कभी यह अस्वस्थता दोपहर के बाद या शाम को भी हो सकती है। ऐसे में तुरंत बैठ जाइए या लेट जाइए और फिर कुछ अवश्य खाइए। ऐसा प्रायः होता ही है। लेकिन यदि यह स्थिति लगातार बनी रहती है या उग्र हो जाती है तो अपने डाक्टर की सलाह लीजिए। आरंभिक हफ्तों में गर्भपात की संभावना रहती है। योनि से रक्तस्राव और उदर शूल इसकी चेतावनी देने वाले लक्षण हैं। बिस्तर पर आराम करिए और डाक्टर को सूचना दीजिए। शारीरिक और मानसिक विश्राम उपचार का महत्वपूर्ण उपक्रम है। यदि जमे रक्त के टुकड़े निकलते हैं तो उन्हें डाक्टर को दिखलाइए क्योंकि इनसे आगे के उपचार में सहायता मिलेगी।

पोषण :

गर्भाशय में बच्चे की वृद्धि की मांग के अनुसार आपके शरीर में कुछ परिवर्तन होते हैं। बच्चेदानी या गर्भाशय आकार में बड़ा होता जाता है, स्तन परिवर्धित होते जाते हैं और बच्चे के पोषण के लिए अधिक रक्त और आक्सीजन गर्भाशय में भेजा जाता है। बच्चे के विभिन्न अंगों के परिवर्धन के लिए उचित खाद्य पदार्थ पर्याप्त मात्रा में भेजा जाता है। अतः जो कुछ आप खाती हैं वह आप और आपके विकासमान बच्चे के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। आपको अधिक दूध के अतिरिक्त अंडे, गोश्त सरीखे खाद्य पदार्थ भी लेने चाहिए क्योंकि इनमें प्रोटीन या शरीर का निर्माण करने वाले पदार्थ होते हैं। चावल और आलू सरीखे अधिक मंड वाले खाद्य पदार्थ अधिक मत लीजिए। हरी सब्जियां खूब अधिक मात्रा में ली जानी चाहिए क्योंकि इनमें विटामिन और खनिज प्रचूर मात्रा में होते हैं। आपके आहार में फल भी सम्मिलित किए जाने चाहिए। अरक्तता से बचने के लिए लोहा अनिवार्य है। सगर्भता के दौरान संतुलित आहार भी लोहे की अपेक्षित मात्रा की आपूर्ति नहीं कर पाता है। इसलिए इसकी आपूर्ति के लिए लोहे वाली टिकियाएं ली जानी चाहिए। बच्चे की हड्डियों और दांतों के परिवर्धन के लिए कैल्सियम की जरूरत होती है। कैल्सियम की अपेक्षित मात्रा की पूर्ति दूध कर सकता है, इसलिए इसे किसी न किसी रूप में नियमित रूप से लिया जाना चाहिए, अन्यथा आपको कैल्सियम टिकिया या शरबत के रूप में लेना होगा। अधिक नमक मत लीजिए। इससे आपकी टांगों, हाथों और चेहरे पर सूजन हो सकती है और आपको रोगी होने की अनुभूति होगी। पानी भी आप उतनी ही मात्रा में लीजिए जितनी कि आप रोज लेती हैं (कृपया 'पोषण' वाले अध्याय 6 और 7 देखिए)।

सगर्भता के दौरान वाले पोषण और जन्म के

बाद वाले वर्षों में बच्चे के स्वास्थ्य में गहरा संबंध है। यदि बच्चे का स्वास्थ्य आरंभ में गर्भाशय में और स्तनपान करते समय अच्छा है तो बीमारी के समय उससे लड़ने के लिए उसके शरीर में प्रबल बुनियादी शक्ति रहती है। असंतुलित आहार से माता या जच्चा में हीनताजन्य अरक्तता (deficiency anaemia) उत्पन्न हो जाती है। इससे कालपूर्व प्रसव होगा और दुग्धस्रवण भी कम होगा। आहार में प्रोटीन की कमी से रक्त प्रोटीनों की कमी हो जाती है और टांगों में सूजन, अरक्तता और विषरक्तता (toxaemia) हो जाती है। कैल्सियम की कमी वाले आहार से बच्चा रिकेट्स और दांतों के क्षरण (caries) वाले रोगों की ओर पूर्वप्रवृत्त हो जाता है। टांगों की ऐंठन भी कैल्सियम की कमी से हो जाती है। इन कारणों से आपको सगर्भता की पूरी अवधि में विटामिन और खनिज संपूरक पदार्थ नियमित रूप से लेते रहने चाहिए।

बच्चे के जन्म से पहले वाली सलाह :

रोज नहाना जरूरी है लेकिन पानी बहुत ठंडा या बहुत गर्म नहीं होना चाहिए। ढीले-ढाले कपड़े पहने जाने चाहिए। वे इतने तंग न हों कि आपके उदर या वक्ष को कस दें। ऊंची एड़ी वाले जूते न प्रहनिए क्योंकि इनसे शरीर का गुरुत्व केंद्र बदल जाता है, आपके शरीर का संतुलन भी गड़बड़ा सकता है और आपकी कमर के दर्द का कारण बन सकता है। सगर्भता के प्रथम तीन महीनों और आखिरी एक महीने में यात्रा नहीं करनी चाहिए क्योंकि आरंभिक हफ्तों में इससे गर्भपात और आखिरी महीने में कालपूर्व प्रसव हो सकता है। हवाई जहाज की यात्रा से ऑक्सीजन के दबाव की विभिन्नता हो सकती है और इससे भीतर स्थित बच्चे को हानि पहुंच सकती है। अतः यात्रा से पूर्व आप डाक्टर की सलाह अवश्य ले लें। यह अच्छा ही होगा यदि आखिरी तीन महीनों में आप मैथुन न करें। यदि आपको पहले कभी गर्भपात हुआ है तो पहले तीन महीनों में भी मैथुन न करें। सगर्भता के दौरान किसी भी प्रकार के ड्रग का इस्तेमाल न करें। इससे गर्भाशय को निश्चय ही हानि पहुंचेगी। शाम की घूमघाम या पैदल चलने का क्रम आपके लिए अच्छा रहेगा। इससे आपकी पेशियों की तान ठीक रहेगी, आपका रक्त परिसंचरण सुधरे रूप में होगा और आपकी मानसिक स्थिति भी अच्छी रहेगी। साइकिल चलाने, तैरने और थकाने वाली अन्य कसरतें नहीं करनी चाहिए। सिलने के लिए पैर वाली मशीन का प्रयोग भी मत कीजिए। बच्चे के लिए कपड़े तैय्यार करने के लिए की गई अधिक बुनाई से भी आंखों पर जोर पड़ सकता है और सिरदर्द हो सकता है। दोपहर के बाद हमेशा आराम करना चाहिए। रात में अधिक देर तक जगा नहीं रहना चाहिए। अच्छा स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए रात भर अच्छी तरह से आराम करना बेहतर होता है। यदि आप नौकरी कर रही हैं और हल्के-फुल्के किस्म का काम है तो उसे छोड़ने की जरूरत नहीं है। लेकिन सातवें महीने के बाद नौकरी पर जाना उचित नहीं।

कभी-कभी अधिक मिर्चें, मसाले व वसीय खाद्य पदार्थ लेने पर आपको आमाशय यानी पेट और गले में जलन का अनुभव हो सकता है, इसलिए इनसे परहेज रखिए। इससे छुटकारा पाने के लिए सोडामिन्ट की टिकियाएं लाभकारी होती हैं।

गर्भावस्था के दौरान कब्ज की परेशानी रह सकती है। लेकिन हरी सब्जियों और फलों के सेवन से आप इसे दूर कर सकती हैं। बवासीर से बचने के लिए आप इस पर अमल कर सकती हैं। यदि आप बवासीर से परेशान हों भी तो उपचार के लिए उपलब्ध मलहमों का प्रयोग कर सकती हैं। इससे दर्द से भी छुटकारा हो जाएगा और बवासीर भी अंदर से होकर ठीक हो जाएगी। इसमें कोई हानि नहीं यदि आप कब्ज से बचने के

लिए मृदु विरेचक के रूप में सेना या सनाय औषधियों का प्रयोग करें। लेकिन कभी भी तरल पैराफीन का प्रयोग न करें, क्योंकि इससे आहार नाल में विटामिनों का अवशोषण रुक जाएगा। उग्र प्रकार के विरेचकों को, जैसे कि रेंडी का तेल (कैस्टर आयल), नहीं लिया जाना चाहिए। टांगों में शिराएं अपस्फीत (varicose) होकर असुविधा उत्पन्न कर सकती हैं। जब कभी भी आप बिस्तर पर लेटकर या कुर्सी पर बैठकर आराम करें, हमेशा पैरों को ऊपर रखें। इससे आपको बहुत आराम मिलेगा। उदर शूल और किसी भी अवस्था में योनि से रक्तस्राव होना खतरनाक लक्षण है। यदि रक्तस्राव कम है तब भी इसकी उपेक्षा मत करिए। तुरंत ही डाक्टर से सम्पर्क स्थापित कीजिए।

डाक्टर के पास निरीक्षण के लिये जायें :

सगर्भता के छह महीने बाद डाक्टर के पास हर पंद्रह दिन में जाना जरूरी है। हरएक बार वजन, रक्त दाब और मूत्र परीक्षा की रिपोर्ट को ध्यान से देखा जाता है। अचानक वजन और रक्त दाब में वृद्धि हो जाना अच्छे लक्षण नहीं हैं। आरंभिक अवस्था में ही इनका उपचार कर लिया जाना चाहिए। आखिरी हफ्तों में पैरों की सूजन हो ही जाती है लेकिन यदि आप देखें कि आपके विवाह वाली अंगूठी कस गई है अथवा चेहरे पर सूजन आ गई है, नजर धुंधली सी हो गई है, पेशाब की मात्रा कम हो गई है अथवा लगातार सिरदर्द रहता है या सिर चकराता है तो आपको तुरंत डाक्टर की सलाह लेनी चाहिए। ये सब रक्तविषक्कता के लक्षण हैं। आरंभिक अवस्था में यदि इनका उपचार न किया गया तो इनसे दौरे पड़ सकते हैं या बेहोशी हो सकती है। यही कारण है कि जब आप डाक्टर के पास निरीक्षण के लिए जाती हैं तो वह हर बार ऐसे वैसे प्रश्न पूछेगा। डाक्टर से कुछ भी मत छिपाइए। यदि आपको अपने या अपने बच्चे के बारे में कोई भी संदेह हो तो वह डाक्टर से पूछकर दूर कर लिया करें।

इन निरीक्षणों के दौरान डाक्टर बच्चे की स्थिति की जांच करेगा (सारणी 40.1)। यदि उसकी स्थिति ठीक नहीं तो वह हल्के से हेर-फेर करके उसे ठीक कर देगा। आखिरी एक महीने में ये निरीक्षण हफ्ते-हफ्ते होने चाहिए। श्रोणि मार्ग का आन्तरिक निरीक्षण यह देखने के लिए किया जाता है कि बच्चे के बाहर आने के लिए पर्याप्त स्थान है या नहीं। आवश्यकता पड़ने पर श्रोणि मार्ग का एक्स-रे भी लिया जा सकता है। इस प्रकार डाक्टर आपको आश्वस्त कर देगा कि सब ठीक है। यदि मार्ग अपर्याप्त है तो सीजरी (caesarean) आपरेशन द्वारा सुरक्षित प्रसव कराया जा सकता है।

अपने डाक्टर से सलाह मशविरा कर लीजिए कि आप प्रसव कहां कराना चाहेंगी। बहुत अच्छा हो यदि पहला प्रसव अस्पताल में ही हो। इसी तरह जिन औरतों में कठिन प्रकार के प्रसव पहले हुए हैं उनके प्रसव अस्पताल में ही होने चाहिए।

प्रसव का आरंभ :

यद्यपि आपका डाक्टर आपको प्रसव की संभावित तिथि बता देगा (देखिए सारणी 40.2) तो भी यह जरूरी नहीं कि वह हमेशा निश्चित तिथि पर ही हो। इसमें कोई भी नुकसान नहीं होगा

सारणी 40.1–प्रसूति विज्ञान के आंकड़े

बुघ्न (फंडस) अथवा गर्भाशय के ऊपरी किनारे पर सामान्य तल, जबकि स्त्री पीठ के बल होती है, निम्न प्रकार से होता है :–

सगर्भता का महीना	सामान्य तल
चौथा	जघनास्थि से 3-4 सेंमी. ऊपर।
पांचवां	जघनास्थि और नाभि के बीच में।
छठवां	नाभि पर।
सातवां	नाभि से 3-4 सेंमी. ऊपर।
आठवां	नाभि से 6-8 सेंमी. ऊपर।
नवां	छाती की हड्डी के निचले सिरे पर।
दसवां	नाभि से 6-8 सेंमी. ऊपर।

सारिणी 40.2 — प्रसव की निश्चित तिथि का परिकलन करना

जनवरी	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	
अक्टूबर	**8**	**9**	**10**	**11**	**12**	**13**	**14**	**15**	**16**	**17**	**18**	**19**	**20**	**21**	**22**	**23**	**24**	**25**	**26**	**27**	**28**	**29**	**30**	**31**	**1**	**2**	**3**	**4**	**5**	**6**	**7**	**नवंबर**
फरवरी	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	...	...	...	
नवंबर	**8**	**9**	**10**	**11**	**12**	**13**	**14**	**15**	**16**	**17**	**18**	**19**	**20**	**21**	**22**	**23**	**24**	**25**	**26**	**27**	**28**	**29**	**30**	**1**	**2**	**3**	**4**	**5**	...	...	...	**दिसंबर**
मार्च	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	
दिसंबर	**6**	**7**	**8**	**9**	**10**	**11**	**12**	**13**	**14**	**15**	**16**	**17**	**18**	**19**	**20**	**21**	**22**	**23**	**24**	**25**	**26**	**27**	**28**	**29**	**30**	**31**	**1**	**2**	**3**	**4**	**5**	**जनवरी**
अप्रैल	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30		
जनवरी	**6**	**7**	**8**	**9**	**10**	**11**	**12**	**13**	**14**	**15**	**16**	**17**	**18**	**19**	**20**	**21**	**22**	**23**	**24**	**25**	**26**	**27**	**28**	**29**	**30**	**31**	**1**	**2**	**3**	**4**		**फरवरी**
मई	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	
फरवरी	**5**	**6**	**7**	**8**	**9**	**10**	**11**	**12**	**13**	**14**	**15**	**16**	**17**	**18**	**19**	**20**	**21**	**22**	**23**	**24**	**25**	**26**	**27**	**28**	**1**	**2**	**3**	**4**	**5**	**6**	**7**	**मार्च**
जून	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30		
मार्च	**8**	**9**	**10**	**11**	**12**	**13**	**14**	**15**	**16**	**17**	**18**	**19**	**20**	**21**	**22**	**23**	**24**	**25**	**26**	**27**	**28**	**29**	**30**	**31**	**1**	**2**	**3**	**4**	**5**	**6**		**अप्रैल**
जुलाई	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	
अप्रैल	**7**	**8**	**9**	**10**	**11**	**12**	**13**	**14**	**15**	**16**	**17**	**18**	**19**	**20**	**21**	**22**	**23**	**24**	**25**	**26**	**27**	**28**	**29**	**30**	**1**	**2**	**3**	**4**	**5**	**6**	**7**	**मई**
अगस्त	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	
मई	**8**	**9**	**10**	**11**	**12**	**13**	**14**	**15**	**16**	**17**	**18**	**19**	**20**	**21**	**22**	**23**	**24**	**25**	**26**	**27**	**28**	**29**	**30**	**31**	**1**	**2**	**3**	**4**	**5**	**6**	**7**	**जून**
सितंबर	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30		
जून	**8**	**9**	**10**	**11**	**12**	**13**	**14**	**15**	**16**	**17**	**18**	**19**	**20**	**21**	**22**	**23**	**24**	**25**	**26**	**27**	**28**	**29**	**30**	**1**	**2**	**3**	**4**	**5**	**6**	**7**		**जुलाई**
अक्टूबर	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	
जुलाई	**8**	**9**	**10**	**11**	**12**	**13**	**14**	**15**	**16**	**17**	**18**	**19**	**20**	**21**	**22**	**23**	**24**	**25**	**26**	**27**	**28**	**29**	**30**	**31**	**1**	**2**	**3**	**4**	**5**	**6**	**7**	**अगस्त**
नवंबर	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30		
अगस्त	**8**	**9**	**10**	**11**	**12**	**13**	**14**	**15**	**16**	**17**	**18**	**19**	**20**	**21**	**22**	**23**	**24**	**25**	**26**	**27**	**28**	**29**	**30**	**31**	**1**	**2**	**3**	**4**	**5**	**6**		**सितंबर**
दिसंबर	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27	28	29	30	31	
सितंबर	**7**	**8**	**9**	**10**	**11**	**12**	**13**	**14**	**15**	**16**	**17**	**18**	**19**	**20**	**21**	**22**	**23**	**24**	**25**	**26**	**27**	**28**	**29**	**30**	**1**	**2**	**3**	**4**	**5**	**6**	**7**	**अक्टूबर**

सफेद अंक ऋतुस्राव का प्रथम दिन बताते हैं। काले अंक प्रसव की संभावित तिथि के द्योतक हैं यानी यदि अंतिम ऋतुस्राव के प्रथम दिवस की तिथि 21 अप्रैल है तो प्रसव की संभावित तिथि 26 जनवरी होगी।
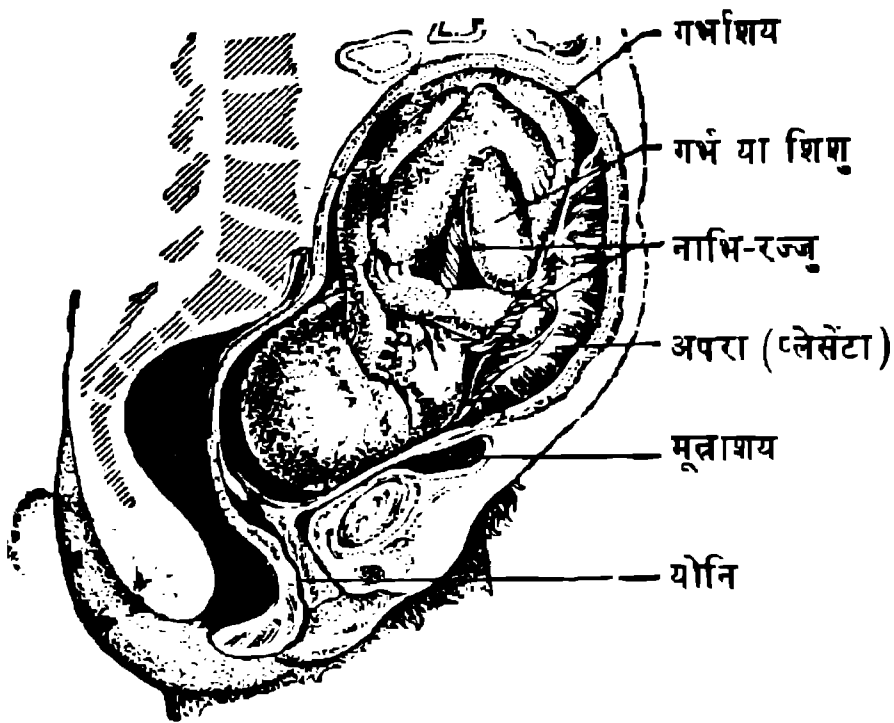
चित्र 40.2—माता के गर्भाशय में भरे पूरे महीने वाला गर्भ।

यदि इस तिथि के एक हफ्ते या दस दिन बाद भी प्रसव हो। आखिर के कुछ दिनों में आपको गर्भाशय के संकुचन से काफी दर्द हो सकता है। ये पाचन की गड़बड़ियों के कारण हो सकता है। लेकिन यदि यह दर्द पीठ से शुरू होकर आगे उदर की ओर आता है और धीरे-धीरे तीव्रता से और बार-बार होता है तथा योनि से रक्त से सना आस्राव भी निकलता है तो इसका मतलब है कि आपको प्रसव पीड़ा है। ऐसे में तुरंत डाक्टर से संपर्क कीजिए। प्रसव में काफी अधिक पेशीय जोर लगाना पड़ता है। इस पीड़ा को दूर करने के लिए आपको हल्का-फुल्का पोषक आहार व औषधियां दी जाएंगी और इससे आपको व आपके बच्चे को कोई हानि नहीं पहुंचेगी और आपको यह भी बताया जाएगा कि पीड़ा के बीच में किस तरह विश्राम लेना चाहिए। आपका अपने डाक्टर पर विश्वास और गर्भावस्था में अच्छी देखभाल बहुत महत्वपूर्ण पहलू है, क्योंकि इनसे आपको वह सहायता और शक्ति मिलती है जिससे कि आपका प्रसव सुरक्षित रूप से और कम कष्ट के साथ होता है। ईश्वर की कृपा से आपको इन सब कष्टों का सुफल मिलेगा एक सुंदर, मोटा और तन्दुरुस्त बच्चा।

प्रसव के बाद :

प्रसव के बाद का समय आप और आपके बच्चे के बीच परस्पर समंजन का समय है। आपको आराम चाहिए और आपके बच्चे को नींद। इसलिए आप आराम में बाधा पहुंचाने वाले अधिक आगंतुकों को मत आने दीजिए। बच्चे के लिए मां का दूध सबसे प्राकृतिक और आदर्श भोजन है। इससे आप और आपके शिशु में गहरी मनोवैज्ञानिक संतुष्टि का विकास होता है। स्तन्य पोषण से आपकी बच्चेदानी भी सामान्य अवस्था में आ जाएगी। उष्णता या गरमी के लिए अथवा श्रोणि अंगों के प्रत्यावर्तन (involution) के लिए चारपाई के नीचे आग रखना जरूरी नहीं है। लेकिन जाड़ों में इसका प्रयोग किया जा सकता है। लेकिन इसमें यह देखना जरूरी है कि चारपाई आग से काफी ऊंचाई पर है। इस अवधि में आपको संक्रमण से अपनी सुरक्षा रखनी चाहिए। ऐसा सैवलोन अथवा डेट्टोल सरीखे पूतिरोधियों के उचित प्रयोग और निर्जीवाणुक पोतड़ों (diaper) के प्रयोग से किया जा सकता है। पहले जब उचित देखभाल नहीं की जाती थी तो बच्चे के जन्म के बाद वाले संक्रमण से कई जच्चाओं की मृत्यु हो जाया करती थी। इस अवधि के दौरान आपकी सक्रियता बिलकुल हल्के-फुल्के काम तक ही सीमित रहनी चाहिए। बच्चा ही आपका सारा समय और शक्ति ले लेगा। आपको अपनी उदरीय और श्रोणि पेशियों की तान बनाए रखने के लिए कसरतों की सलाह दी जाएगी। मालिश भी अच्छी रहती है और इससे पेशियों की तान भी ठीक रहती है। लेकिन मालिश केवल एक या दो महीने तक ही की जानी चाहिए, इससे अधिक लम्बे समय तक नहीं।

प्रसवोत्तर सलाह :

प्रसव के बाद आपको छह हफ्ते की अवधि का विश्राम करना चाहिए। इसके बाद डाक्टर द्वारा प्रसवोत्तर निरीक्षण किया जाना चाहिए। यह निरीक्षण प्रसवपूर्व निरीक्षणों की तरह ही आवश्यक

है। बच्चेदानी के विस्थापन और गर्भाशय ग्रीवा (बच्चेदानी का मुंह) के संक्रमण का उपचार इसी समय अच्छी तरह से किया जा सकता है। इससे बाद में होने वाले गर्भाशय के कैंसर से बचाव होगा। यह बहुत अच्छा समय है जब आप अपने डाक्टर से अपने परिवार नियोजन के बारे में विचार-विमर्श कर सकती हैं (देखिए अध्याय 39)। यदि विभिन्न सगर्भताओं के बीच उचित अंतराल रखा जाय और यदि बच्चों की सीमित संख्या रखी जाय तो आपका स्वास्थ्य अच्छा बना रहेगा। परिवार नियोजन के आदर्श वाक्य पर अमल करना बहुत लाभकारी रहेगा : "पहले बच्चे के लिए देरी मत कीजिए, दूसरे के लिए जल्दी मत करिए और तीसरे की इच्छा मत रखिए।" अपने ऋतुस्राव के बाद आपको जो संदेह है उसका भी समाधान कर लीजिए। कुछ में यह जल्दी हो जाता है और दुग्धस्रवण काल में कुछ में यह छह महीने या एक साल तक भी नहीं हो सकता है। प्रसव के बाद वाले कुछ ऋतुस्राव या आर्तव अनियमित और प्रचुर मात्रा वाले हो सकते हैं। इससे कहीं भयभीत न हो जाइएगा। औषधियों से इनको ठीक किया जा सकता है।

दुग्धस्रवण की अवधि में यदि आप पुनः गर्भ धारण कर लेती हैं तो इसमें कोई हानि नहीं है। दुबारा गर्भवती होने पर आपको फिर से उन्हीं सलाहों पर अमल करना है। "यह जरूरी नहीं कि शरीर और मस्तिष्क की हृष्टपुष्टता से गर्भावस्था में कोई गड़बड़ियां और जटिलताएं उत्पन्न न हों।" इसलिए भावी सगर्भताओं में ढिलाई न बरतिए। याद रखिए कि, "अभ्यास से ही व्यक्ति पक्का हो पाता है" वाली पुरानी कहावत सगर्भता और प्रसव पर चरितार्थ नहीं होती है।

• • •
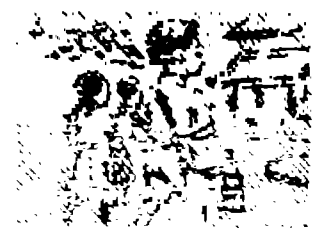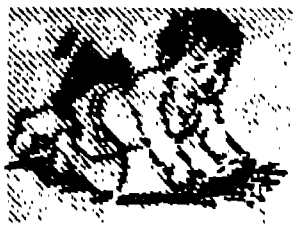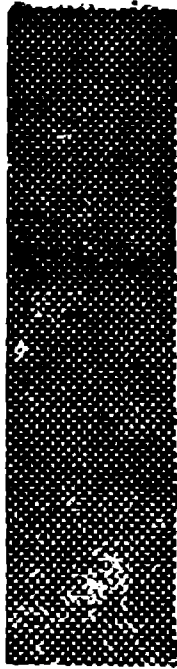
41

—डा० एम० वी० फड़के

शिशु की देखभाल

किसी भवन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग उसकी नींव है । यदि नींव पक्की है तो उस पर भारी संरचना खड़ी की जा सकती है । ठीक यही बात हमारे तरुण प्रौढ़ों के स्वास्थ्य पर भी लागू होती है । मजबूत व तंदुरुस्त प्रौढ़ की बुनियाद शैशव के दौरान ही पड़ जाती है, इसलिए यदि शैशव के दौरान और इसके बाद वाले वर्षों में शिशु की देखभाल को अधिक महत्व दिया जाता है तो यह स्वाभाविक ही है ।

बच्चे की देखभाल को मोटे तौर पर कालक्रम के अनुसार निम्नलिखित अवधियों में विभाजित किया जा सकता है : —

1. गर्भावस्था की देखभाल—मां के गर्भाशय वाला जीवन, 2. जन्म के समय वाली देखभाल, 3. शिशु अवस्था में देखभाल—पहले वर्ष का जीवन, 4. बचपन के समय वाली देखभाल, जिसमें (क) स्कूल पूर्व अवस्था, (ख) स्कूल की अवस्था और (ग) किशोर अवस्था की देखभाल शामिल है।

1. गर्भावस्था के समय की देखभाल :

वर्धमान गर्भ को पूरी तरह से भोजन के लिए मां पर निर्भर रहना पड़ता है । अत: यह स्वभाविक है कि गर्भ सामान्य रूप से वृद्धि व परिवर्धन तभी कर पाएगा जब मां का पोषण-स्तर बहुत उत्कृष्ट कोटि का होगा । इस से संबद्ध विस्तृत जानकारी अध्याय 40 में दी गई है ।

पोषण की व्यवस्था के अतिरिक्त मां (जच्चा) को संक्रमण तथा अन्य विषम परिस्थितियों से भी बचाया जाना चाहिए, जैसे कि खतरनाक विकिरणों से क्योंकि ये कारक गर्भ की सामान्य वृद्धि पर बुरा प्रभाव डालते हैं । इन पहलुओं पर विस्तृत जानकारी अध्याय 13, 40 और 44 में दी गई है ।

2. जन्म के समय वाली देखभाल :

किसी व्यक्ति के जीवन में यह बहुत कठिन समय होता है । मां के गर्भाशय की सुरक्षित दुनिया में नौ महिने बिताने के बाद, नवजात शिशु अचानक

* * * *

डा. एम. वी. फड़के, एम. आर. सी. पी., डी. सी. एच. (लन्दन), निदेशक बाल चिकित्साविज्ञान विभाग, ससून जनरल अस्पताल तथा बी. जे. मेडिकल कालेज, पूना ।

पूरी तरह से नए वातावरण में डाल दिया जाता है जहां कि वह हर प्रकार के प्रतिकूल प्रभावों के संपर्क में आता है, जैसे कि तापमान के परिवर्तन, संक्रमण आदि के। जीवन के प्रथम वर्ष के दौरान 50% से अधिक मृत्यु जन्म के पहले हफ्ते के दौरान होती हैं। इसलिए यह बहुत महत्वपूर्ण है कि इस दौरान जीवन की क्षति यानी मृत्यु को रोकने के लिए बहुत सावधानियों का प्रयोग किया जाय।

शिशु के पैदा होते ही एक निर्जीवाणुक जाली (गॉज) की सहायता से उसका गला साफ कर देना चाहिए और नाभि-रज्जु को बांध कर निर्जीवाणुक कैंची से काट के उसकी भलीभांति महरम पट्टी कर दी जानी चाहिए। नवजात शिशु में पूयता और टेटेनस के संक्रमण निर्जीवाणुक औजारों और मरहम पट्टी में लापरवाही के कारण ही होते हैं।

ऐसा करने के उपरांत शिशु की अच्छी तरह से जांच कर ली जानी चाहिए ताकि यह देख लिया जाय कि उसमें कोई अपसामान्यता के दोष तो नहीं है; जैसे मुंह और पैर दोष, गुदा की अनुपस्थिति के दोष आदि। यह करने के बाद शिशु को गुनगुने पानी से नहलाकर साफ सुथरी चद्दर व कम्बल में लपेट करके शिशु शैया या खटोले में लिटा देना चाहिए। अधिक संख्या में लोगों व रिश्तेदारों द्वारा शिशु को ललक से देखने और पकड़ने को निरुत्साहित किया जाना चाहिए क्योंकि इन लोगों के द्वारा शिशु में संक्रमण होने का भय रहता है।

3. शिशु अवस्था में देखभाल :

किसी व्यक्ति के जीवन में दो प्रमुख अवधियां होती हैं जिस समय कि वृद्धि बहुत तेजी से होती है। पहली अवधि है गर्भधारण करने के समय से लेकर भ्रूण बनने और दूसरे वर्ष के अंत तक की। और दूसरी तीव्र वृद्धि वाली अवधि है किशोर अवस्था वाली।

इन अवधियों के दौरान शरीर को वृद्धि के लिए बहुत अधिक खाद्य पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है और यदि शरीर की मांगें पूरी नहीं होतीं तो वृद्धि रुक जाती है।

शिशु के पोषण की माप करने का सबसे अच्छा तरीका है उसका वजन लेते रहना (सारणी 41.1 और 2)। पहले छह महीनों तक (चित्र 41.2) हर हफ्ते, बाद में एक साल की उम्र तक पन्द्रह दिन में और दूसरे वर्ष के दौरान महीने-महीने में वजन लिया जाना चाहिए। जीवन के पहले और

सारणी 41.1—जन्म से लेकर 12 महीने तक* शिशु का औसत वजन

जन्म पर वजन : 2500 ग्राम

उम्र (महीने)	वजन (ग्राम)	उम्र (महीने)	वजन (ग्राम)
एक	2900	सात	6100
दो	3500	आठ	6450
तीन	4100	नौ	6800
चार	4700	दस	7150
पांच	5300	ग्यारह	7500
छः	5700	बारह	7800

*'वृद्धि एकक', भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसन्धान परिषद्, पूना के आंकड़ों पर आधारित (1000 ग्राम = किग्रा. = 2.2 पौंड)।

चित्र 41.2—शिशु का वजन लेना।

सारणी 41.2—महाराष्ट्र में शिशुओं की औसत ऊंचाई और वजन*

उम्र वर्ष	लड़के		लड़कियां	
	खड़े होने पर सेंमी. में ऊंचाई	किग्रा. में वजन	खड़े होने पर सेंमी. में ऊंचाई	किग्रा. में वजन
1	71.0	7.8	71.1	7.4
1.5	72.5	8.7	74.8	8.8
2	81.0	9.9	79.0	9.3
2.5	82.7	10.6	83.1	9.8
3	89.0	11.8	88.7	11.3
4	96.0	13.2	95.4	12.7
5	102.0	14.4	102.0	14.3
6	108.0	16.0	107.2	15.4
7	113.0	17.3	110.5	16.4
8	118.6	18.9	118.0	18.5
9	123.2	20.6	121.6	20.1
10	127.6	22.2	126.9	22.0
11	132.0	24.6	132.3	25.3
12	136.5	26.7	138.4	28.2
13	141.9	29.7	142.7	32.0
14	148.3	34.0	147.1	35.0
15	152.8	37.5	149.6	37.8
16	158.6	42.3	151.4	39.9
17	161.3	44.8	159.1	40.9
18	162.1	45.7	162.5	41.2
19	164.4	47.9	163.1	41.5
20	164.0	48.2	163.6	41.8

*वृद्धि एकक', भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद्, पूना के आंकड़ों पर आधारित। 10 सेंमी.=3.9 इंच, 1 किग्रा०=2.2 पौंड।

दूसरे वर्ष के दौरान बच्चे की देखरेख करने वालों को उसके (1) पोषण और (2) संक्रमण से बचाव वाले पहलुओं पर अधिक ध्यान देना चाहिए।

शिशुओं का अशन (पोषण) :

जीवन के पहले वर्ष के दौरान पोषण का प्रमुख स्रोत दूध ही होता है।

स्तन पोषण : शिशु के लिए सबसे उत्तम और उपयुक्त दूध है स्तन का दूध क्योंकि इसमें सभी अवयवों या घटकों का उचित अनुपात होता है। यह प्रायः स्वच्छ व निर्जीवाणुक होता है और

इसमें कुछ प्रतिपिंड भी होते हैं जो कुछ संक्रमणों को रोकते हैं। अन्य स्रोतों से प्राप्त होने वाले दूध की अपेक्षा स्तन वाले दूध से जठर-आंत्र की गड़बड़ियां बहुत कम होती हैं।

शिशु के जन्म के बाद पहले दो दिनों के दौरान माता में दूध का मुक्त प्रवाह नहीं होता। इस अवधि में शिशु के पहले दिन सादा उबला पानी अथवा ग्लूकोज का पानी और दूसरे दिन भैंस या गाय का तनुकृत दूध देना चाहिए। लेकिन इस अवधि के दौरान जच्चा और बच्चा दोनों को स्तन पोषण का अभ्यास कराना चाहिए।

पोषण की आवृत्ति :—औसतन मां द्वारा बच्चे को $2\frac{1}{2}$ से लेकर 3 घंटे के अंतराल पर दूध पिलाया जाना चाहिए। यद्यपि पक्की तरह से इसकी कोई समय-सारणी नहीं होती तो भी बच्चे के रोने पर हर समय तुरंत अप्रतिबंधित रूप से दूध पिलाना भी ठीक नहीं है। कुछ लोगों का ख्याल है कि बच्चे को रात के समय दुग्ध पान नहीं कराना चाहिए। यह गलत है। बच्चा प्रायः 1 बजे सुबह के करीब भूख अनुभव करता है और इस समय उसे अवश्य दूध पिलाया जाना चाहिए। हरएक बार दूध पिलाने के बाद उसे कंधे पर उठाकर पीठ पर धीरे से तब तक थपकी देते रहना चाहिए जब तक कि वह डकार नहीं ले लेता (चित्र 41.3)। इसे वायु निकालना कहते हैं। ऐसा करने के बाद शिशु को पुनः उसकी शैया या खटोले पर लिटा देना चाहिए।

स्तनपोषण कब तक कराना चाहिए :—यह सभी जानते हैं कि कुछ माताएं अपने बच्चों को दो साल के बाद तक भी स्तनपान कराती रहती हैं। इस प्रश्न का उत्तर यही है कि माता द्वारा बच्चे को काफी लंबे समय तक दुग्ध पान कराते जाने में कोई हर्ज नहीं है यदि उसके स्तनों में इतना दूध आता रहता है और बच्चा 6 महीने के बाद अन्य ठोस खाद्य पदार्थ भी ग्रहण करता है और स्तन पान करने के साथ-साथ अन्य खाद्य

चित्र 41.3—गैस या वायु निकालने के लिए बच्चे को कंधे पर उठाना।

पदार्थों को खाने में अरुचि नहीं दिखलाता। फिर सामान्य रूप से माता को बच्चे के एक वर्ष का हो जाने पर स्तन पोषण धीरे-धीरे कम करके समाप्त कर देना चाहिए।

दुग्धेतरपोषण : शिशु को ऊपरी दूध से पोषण देने का मतलब है 'मां के दूध का अपर्याप्त मात्रा में होना'।

यह किस तरह ज्ञात किया जाय कि माँ का दूध कम पड़ता है? इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए निम्न बातों से सहायता मिलेगी :- 1. वजन में वृद्धि न होना, 2. वजन की वास्तविक कमी, 3. नींद में कमी, 4. चिड़चिड़ापन और क्षोभ, 5. कब्ज, और 6. निर्जलीभवन (dehydration)।

दूध का चयन :—सामान्य प्रकार से उपलब्ध होने वाले दूध हैं : (1) भैंस का दूध, (2) गाय का दूध, (3) बकरी का दूध और (4) डिब्बा-बंद दूध।

इन दूधों में मां के दूध से अधिक प्रोटीन होता है और भैंस के दूध में अधिक वसा होती है।

औसतन एक महीने के शिशु के लिए पिलाने

लायक दूध तैयार करने की सबसे सरल विधि निम्न प्रकार से है :

गाय और बकरी का दूध :- दूध को उबालिए; फिर पानी उबालिए। 60 घ. सेंमी. दूध लेकर उसमें 30 घ.सेंमी पानी और एक चाय की चम्मच के बराबर चीनी (ग्लूकोज नहीं) डालिए और इस तरह बनाए गए दूध को शिशु को पिलाइए।

भैंस का दूध : चूंकि इस दूध में वसा अत्यधिक मात्रा में होती है इसलिए इससे क्रीम निकाल ली जानी चाहिए और इसे फिर गाय के दूध वाले सूत्र की विधि द्वारा पिलाया जाना चाहिए।

डिब्बाबंद दूध : प्राय: डिब्बाबंद या टिन वाले कई प्रकार के दूध उपलब्ध रहते हैं लेकिन डाक्टर द्वारा सुझाया गया प्रकार ही प्रयुक्त किया जाना चाहिए।

डिब्बाबंद दूध के फायदे ये हैं : यह निर्जीवाणुक होता है, इसका संघठन हमेशा स्थिर होता है, दूध के कणों को और बारीक प्रकार से तोड़ दिया जाता है जिससे दूध सुपाच्य हो जाता है।

इसके नुकसान हैं : यह महंगा होता है, कभी-कभी इसकी आपूर्ति नियमित नहीं होती है और अंत में, इसके तैयार करने की विधि जरा बोझिल होती है। सामान्यतया इसके तैयार करने का सूत्र है 1 कलछी दूध के चूर्ण में 30 घ. सेंमी. उबला पानी डालकर फिर उसे अच्छी तरह से चलाना। प्राय: इसमें चीनी नहीं डाली जाती।

पोषण की तकनीक :

बोतल : खड़ी या नाव के आकार की बोतल का प्रयोग करना चाहिए। सामान्य मिश्रण वाली बोतल में निपल लगाकर इस्तेमाल करना ठीक नहीं है। चूंकि ऐसी बोतल में हवा निकलने के लिए कोई द्वार नहीं होता है इसलिए जब शिशु दूध चूसता है तो निर्वात की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इससे निपल चिपक जाएगा और उससे दूध के प्रवाह में बाधा पहुंचेगी।

निपल : निपल में किया गया छेद न तो बहुत बड़ा और न बहुत छोटा ही होना चाहिए और साथ ही यह इस प्रकार का होना चाहिए कि इससे दूध बूंद-बूंद करके निकले न कि बड़ी धार के रूप में।

दूध पिलाते समय मां को चाहिए कि वह बोतल को बच्चे की छाती पर न रखे और न ही उसे बोतल को यूं ही रखके व बच्चे को छोड़कर चले जाना चाहिए। इससे क्या होगा कि जैसे-जैसे दूध का तल नीचे जाता है वैसे-वैसे वायु निगरण होने लगता है। बोतल पकड़ने का सही तरीका यह है कि उसको इस तरह झुका कर रखा जाय कि निपल हमेशा दूध से भरा रहे। (चित्र 41.41 और 41.42)।

बोतल की सामान्य देखभाल : कई माताएं समझती हैं कि बोतल को हरएक बार दूध पिलाने के बाद साबुन पानी से धो देना काफी है। लेकिन यह ठीक नहीं है। बोतल को बुश से धोने के

चित्र 41.41—दूध की बोतल पकड़ने का सही तरीका

चित्र 41.42—दूध की बोतल पकड़ने का गलत तरीका
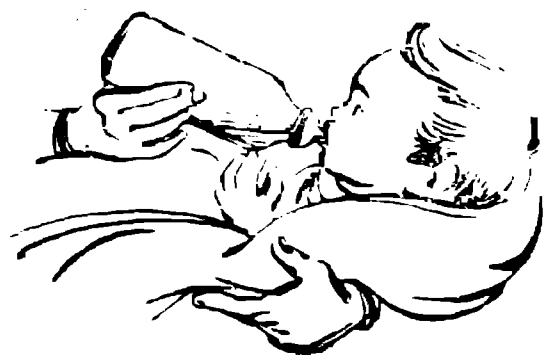
अतिरिक्त बोतल और निपल को दूध पिलाने के बाद हर बार उबाल लिया जाना चाहिए और उनको उचित रूप से इस प्रकार ढक के रखना चाहिए कि अगली बार दूध पिलाते समय तुरंत उनका इस्तेमाल किया जा सके।

संपूरक : दूध वाले पोषण के दौरान विटामिन और खनिजों के संपूरक भी आवश्यक हैं क्योंकि मां के दूध और प्राणियों के दूध दोनों में इनकी कमी रहती ही है। विटामिनों में विटामिन डी बहुत महत्वपूर्ण है। सामान्य रूप से यह मछली के यकृत् तेल में पाया जाता है। एक दिन में करीब 400 अंतर्राष्ट्रीय यूनिटों की आवश्यकता होती है और इसे या तो सांद्र विटामिन बूंदों के रूप में दिया जा सकता है, जोकि बाजार में उपलब्ध रहता है, या कॉड लिवर ऑयल या मछली की कलेजी के तेल के रूप में दिया जा सकता है। रोजमर्रा की जरूरत को पूरा करने के लिए इसे 3 महीने की उम्र पर प्रतिदिन चाय के चम्मच की चौथाई मात्रा से शुरू किया जा सकता है और फिर मात्रा को धीरे-धीरे बढ़ाकर एक वर्ष की उम्र में चम्मच भर के दिया जा सकता है। दूसरा आवश्यक विटामिन है विटामिन सी जिसकी दैनिक मात्रा 25 मि. ग्राम होनी चाहिए। इसे सन्तरे के रस अथवा मीठे नींबू के रस के रूप में प्रतिदिन 60 घ. सेंमी. के हिसाब से देना चाहिए लेकिन यह काफी महंगा पड़ सकता है। इससे सस्ता उपाय होगा कि विटामिन सी की 15 मि. ग्राम वाली टिकियाएं खरीद ली जायं और आधी गोली प्रतिदिन के हिसाब से खूब पीसकर थोड़े शहद में मिलाकर दी जायं। खनिजों में सबसे महत्वपूर्ण खनिज है लोहा। लोहे की बहुत कम मात्रा की आवश्यकता होती है और इसकी आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रतिदिन बच्चे को पत्तीदार सब्जियों व मटर का सूप दिया जाना चाहिए (पोषण संबंधी अधिक जानकारी के लिए अध्याय 6 व 7 देखिए।)

स्तन्य मोचन (Weaning) :

इसका मतलब है स्तनपोषण को बंद कर देना, लेकिन व्यावहारिक रूप में देखा जाये तो इसका मतलब है दूध के अलावा बच्चे को ठोस व तरल खाद्य पदार्थ खिलाने की प्रक्रिया।

इस विषय का वर्णन बहुत संक्षेप में किया जाएगा। मोटे तौर पर सिद्धांत रूप में शिशु को बहुत कम उम्र से ही मुलायम गूदेदार खाद्य पदार्थ दिये जा सकते हैं। इन खाद्य पदार्थों को चबाने की आवश्यकता नहीं पड़ती इसलिए इन्हें दूध के दांत फूटने के बहुत पहले 3 महीने की उम्र में भी दिया जा सकता है। प्रत्येक नये खाद्य पदार्थ को आहार में पहले अच्छी तरह से स्थापित कर लिया जाना चाहिए और तभी नई मद को प्रविष्ट किया जाना चाहिए। इस प्रकार इस व्यवस्था के दौरान काफी सब्र की जरूरत होती है।

स्तन्य मोचन प्रक्रिया की मोटी रूपरेखा निम्न प्रकार से है :—

उम्र	भोजन का प्रकार
1 महीना	सब्जी व गोश्त का सूप।
3 महीना	फैरेक्स, घर में बना धान्य भोजन, उबले अंडे की जर्दी का चौथाई भाग रोज।
4 से 6 महीना	उबला अथवा गूदेदार आलू, चावल की कांजी और दाल का पानी।
6 से 9 महीना	बहुत मुलायम चावल और दाल, रस्क, पूरा अंडा।
9 से 12 महीना	लुगदीनुमा बनाई गई चपाती (ब्रेड) तथा दूध, क़ीमा किया गया गोश्त, उबली मछली।

संक्षेप में यूं कह सकते हैं कि शिशु के एक साल का होने तक उसे वह सभी कुछ खा लेना चाहिए जो कि वयस्क खाते हैं।

सामान्य देखभाल :

मुंह की देखभाल : शिशु के अस्थायी दांतों के निकलने के पहले उसका मुंह साफ करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। ग्लिसरीन की फुरेरी से जीभ साफ करने की आदत ठीक नहीं है क्योंकि इससे मुंह की मुलायम श्लेष्मा झिल्ली को क्षति पहुंच सकती है और फिर उसमें संक्रमण हो सकता है।

बच्चे के जब दांत आ जायें तो उसे मुलायम बच्चे वाले ब्रुश और मृदु पेस्ट से दिन में भोजन करने के बाद प्रतिदिन दो बार दांत साफ करना सिखलाना चाहिए।

मुलायम गूदेदार खाद्य पदार्थ, मिठाइयां और चॉकलेट बच्चों को नहीं खाने देना चाहिए क्योंकि इनसे जीवाणुओं के पनपने की परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं और इससे दंतक्षय शुरू हो सकता है। चबाए जाने वाले खाद्य पदार्थों से दांत मजबूत रहते हैं और साथ ही वे साफ भी हो जाते हैं।

दांत निकलना (दंतोद्भवन) : यह कोई बीमारी नहीं है और इसके उपचार की कोई जरूरत नहीं होती, और इसका वर्णन विस्तार में अध्याय 49 में किया गया है।

स्वच्छता की आदतें डालना : सामान्यतया बच्चा एक साल की उम्र में आंत्र पर नियंत्रण करना और दो साल की उम्र में मूत्राशय पर नियंत्रण करना सीख जाता है। यद्यपि आंत्र और मूत्राशय की नियमितता से संबद्ध आदतों का डालना लाभकारी रहता है लेकिन कुछ माता-पिता इसे बहुत गंभीरतापूर्वक लेते हैं और इसमें अति करके इसे पूजा या धर्म संबंधी बात बना देते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए क्योंकि इससे बच्चे के दिमाग में सारी प्रक्रिया के बारे में प्राय: गलत विचार बन जाते हैं और यहां तक कि इससे उग्र रूप से आधिज (मानसिक) कब्ज की दशा भी उत्पन्न हो सकती है जिसे ठीक करना काफी कठिन होता है।

स्नान : बच्चे को रोज मृदु साबुन और गुनगुने पानी से नहलाया जाना चाहिए। पानी बहुत गरम नहीं होना चाहिए। यद्यपि नहाने के पहले तेल से मालिश करने की आदत एक अच्छी बात है लेकिन औषधियुक्त वाष्प में बच्चे को लिए रहने से कोई लाभ नहीं पहुंचता। इससे कोई ठोस फायदा न होकर उल्टे कभी-कभी दुर्घटना ही हो जा सकती है।

कपड़े : गर्मियों में बच्चे के कपड़े ढीले व हल्के-फुल्के होने चाहिए, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो। जाड़ों में ढेर सारे कसे कपड़े पहनाकर और फिर उसे कंबल में एक कसी गठरी-सा बनाकर बिलकुल नहीं रखना चाहिए। इससे बच्चे को असुविधा तो होगी ही लेकिन इससे बुरे परिणाम भी हो सकते हैं, जैसे कि पसीने द्वारा शरीर से पानी की कमी और शरीर के तापमान में वृद्धि।

खेल और खिलौने : बच्चे को अपने शरीर को हिलाने-डुलाने में पूरी स्वतंत्रता देनी चाहिए और उसे अपनी दुनिया में मनमाने ढंग से विचरण करने देना चाहिए। खेल के लिए उसको दिए जाने वाले खिलौने मुलायम, बिना धार वाले किनारों के, बिना पेंट वाले और काफी मजबूत होने चाहिए।

संक्रमण से बचाव :

"इस वय में विभिन्न प्रकार से होने वाला संक्रमण रोग और मृत्यु का अकेला ही सबसे महत्वपूर्ण कारक है।" निरोधक उपायों के आधारभूत सिद्धांत निम्नलिखित हैं

(1) संक्रमित व्यक्तियों के संपर्क से दूर रहना। संक्रमण के फैलाव को रोकने के लिए अच्छी तरह से हाथ धोना बहुत आवश्यक है। बच्चे को खिलाने व पकड़ने के पहले हाथों को अच्छी तरह से धोना चाहिए।

(2) स्वच्छता बनाए रखना।

(3) निम्नलिखित प्रकार से प्रतिरक्षीकरण प्रक्रिया को अपनाना।

इष्टतम प्रतिरक्षीकरण अनुसूची :

उम्र	**प्रक्रिया**
जन्म पर	बी. सी. जी.
3 महीना	चेचक का टीका (प्राथमिक)
4 महीना	पहली मात्रा : त्रिविध (ट्रिपल) ऐन्टीजन इंजेक्शन और मुंह द्वारा पोलियो वैक्सीन
5 महीना	दूसरी मात्रा : —वही—
6 महीना	तीसरी मात्रा : —वही—
$1\frac{1}{2}$ साल	अनुवर्धक मात्रा, त्रिविध प्रतिजन इंजेक्शन

समय	**प्रक्रिया**
प्राथमिक पाठशाला में भर्ती के समय	1. चेचक का टीका फिर से। 2. अनुवर्धक मात्रा, त्रिविध प्रतिजन इंजेक्शन 3. टायफायड वैक्सीन, 2 मात्राओं में 4. ट्यूबरकुलिन परीक्षण और बी. सी. जी., यदि परीक्षण ऋणात्मक है तो।
प्राथमिक पाठशाला छोड़ने पर	1. चेचक का टीका फिर से। 2. अनुवर्धक मात्रा, डिपथीरिया और टेटेनस टॉक्सायड (दोहरी वैक्सीन)। 3. टायफायड वैक्सीन।
जीवन पर्यन्त	1. चेचक का टीका फिर से, प्रत्येक 3 से 5 वर्ष की अवधि में। 2. टेटेनस टॉक्सायड, प्रत्येक 3 से 5 वर्ष की अवधि में। 3. टायफायड वैक्सीन प्रत्येक 1 से 2 वर्ष की अवधि में।

4. बचपन के दौरान देखभाल :

शैशव या शिशु अवस्था के बाद बच्चा अपेक्षतया अधिक सुरक्षित अवस्था में प्रवेश करता है। यह अवस्था 3 प्रमुख उपप्रभागों में विभाजित की गई है— (क) स्कूलपूर्व अवस्था, (ख) स्कूल अवस्था और (ग) किशोर अवस्था। इन तीनों अवस्थाओं में जो विशेष समस्याएं हैं उनके बारे में बहुत संक्षेप में वर्णन किया जायेगा।

स्कूलपूर्व अवस्था वाला बालक : इस उम्र में बालक नये-नये कौशल अर्जित करता रहता है और अपनी गुप्त शक्ति के द्वारा नयी-नयी बातें खोजता रहता है। वह इन नये कौशलों का अभ्यास करता रहता है और उन्हीं के आधार पर अपने चारों ओर की दुनिया की खोज करता रहता है।

इस प्रावस्था में वह ऐसी बातें भी कर सकता है जो कि उसके माता-पिता को पसंद नहीं होतीं लेकिन माता-पिता को उसे इन अर्जित की हुई नयी क्षमताओं का विकास करने देना चाहिए। अत्यधिक रूप से उसकी क्रियात्मकता पर प्रतिबंध और नियंत्रण से उसमें निराशा और व्यवहार संबंधी समस्याएं उत्पन्न हो सकती हैं।

बालक को इस तरह प्रशिक्षित किया जाना चाहिए कि वह शौच आदि जाने के बाद अपने गुदा और जनन क्षेत्रों को स्वच्छ रखे और हरएक बार साबुन व पानी से अपने हाथ अच्छी तरह से धोए।

स्कूल अवस्था : बालक के जीवन में यह सबसे अधिक सुरक्षित अवस्था है और इस समय सबसे विशेष समस्या है बालक की आवश्यकता के अनुसार पोषण की पूर्ति। कई बच्चे इस अवस्था में

खेलकूद में तीव्र रूप से सक्रिय रहते हैं इसलिए इस अत्यधिक सक्रिय अवस्था में शक्ति के अपव्यय की पूर्ति के लिए अतिरिक्त कैलोरियों की व्यवस्था की जानी चाहिए।

किशोर अवस्था : यह बालक की ऐसी अवस्था है जब वह दूसरी तीव्र वृद्धि वाली अवस्था में प्रवेश करता है। इस तरह पोषण संबंधी आवश्यकताएं आनुपातिक रूप से अधिक हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त बालक में उसकी लैंगिक ग्रंथियों के परिवर्धन के कारण उसमें सूक्ष्म किंतु बड़ा परिवर्तन होने लगता है, जैसे कि पुरुष में आवाज के परिणामी परिवर्तन, जनन अंगों की वृद्धि आदि; और स्त्री में स्तनों का परिवर्धन तथा ऋतुस्राव का आरंभ। इस प्रावस्था के दौरान बच्चे में काफी कुछ मानसिक बाधाएं उत्पन्न हो जाती हैं। उसके दिमाग में यौन संबंधी कई प्रश्नों का ऊहापोह चलता रहता है।

परिवार का चिकित्सक ही, जो कि शैशव से बच्चे को देखता रहा है, इस प्रावस्था के नाजुक हालतों की देखभाल कर सकता है। माता-पिता को अपने परिवार के चिकित्सक तथा बाल चिकित्साविज्ञानी का पूरा लाभ उठाना चाहिए। उनसे अनौपचारिक और मुक्त रूप से सभी समस्याओं पर चर्चा करनी चाहिए।

स्वास्थ्य की जांच

बचपन की पूरी अवस्था में यह देखना बहुत जरूरी है कि बच्चा क्रमिक रूप से शारीरिक और मानसिक परिवर्धन कर रहा है या नहीं। इसके लिए बच्चे के स्वास्थ्य की हर साल नियमित रूप से जांच होती रहनी चाहिए और उसका सम्पूर्ण ब्यौरा रखा जाना चाहिए। स्वास्थ्य की जांच में शारीरिक माप, जैसे कि ऊंचाई, वजन, छाती और उदर की माप के अलावा आंख, दांत, कान, नाक, गला त्वचा आदि की जांच समेत संपूर्ण सामान्य स्वास्थ्य परीक्षा भी सम्मिलित है (चित्र 41.5)। इस प्रकार की नेमी जांच के दौरान ही प्रायः बच्चों के दोष और रोगों का पता चलता है। इस प्रकार के दोषों के आम उदाहरण हैं—दृष्टि दोष, विशेषकर एक आंख की दोषपूर्ण दृष्टि, दांत का खोखलापन, मामूली प्रकार का त्वचा रोग अथवा वजन में वृद्धि न होना; और समय पर इनका उपचार करके इनको आगे बढ़ने से रोका जा सकता है। स्वास्थ्य की नेमी जांच के लिए परिवार के डाक्टर के पास जाना चाहिए। वैसे यह स्कूल के प्राधिकारियों का कर्त्तव्य है कि वे सभी विद्यार्थियों के स्वास्थ्य की जांच सालाना रूप में करें और फिर स्वास्थ्य संबंधी रिपोर्ट अभिभावकों को भेजा करें ताकि अभिभावक अपने बच्चों के उन दोषों पर ध्यान देकर उनका तुरंत उपचार कर लिया करें। वह कहावत हमेशा याद रखी जानी चाहिए कि, "नौ नगद न तेरह उधार" यानी वक्त पर कमी को दूर करना हमेशा लाभकारी रहता है।

आवेशात्मक परिवर्धन: इस पहलू से चर्चा किए बिना बच्चे की देखभाल कभी पूरी नहीं कही जा सकती। यह हमेशा याद रखना चाहिए कि जिस प्रकार शारीरिक दृष्टि से बच्चों का विकास अच्छी तरह होना चाहिए उसी प्रकार उनका आवेशात्मक विकास भी सामान्य और स्वस्थ रूप में होना चाहिए। जहां तक बच्चे के व्यवहार या "प्रकृति" का संबंध है, जब कि वह कुछ संस्कारों को लेकर पैदा होता है, इसमें कोई संदेह नहीं है कि उसके व्यवहार के परिणामी स्वरूप में वातावरण का बहुत बड़ा हाथ होता है। यद्यपि वातावरण में सबसे महत्वपूर्ण सदस्य उसके माता और पिता हैं तो भी बच्चे के संपर्क में आने वाले पड़ोसी, शिक्षक, साथ खेलने वाले आदि भी महत्वपूर्ण हैं।

बच्चे के मस्तिष्क की स्वस्थ वृद्धि के लिए सबसे महत्वपूर्ण गुण है प्यार और सुरक्षा। बच्चे को यह अनुभव होना चाहिए कि दूसरों के द्वारा उसे प्यार किया जा रहा है, चाहा जा रहा है और
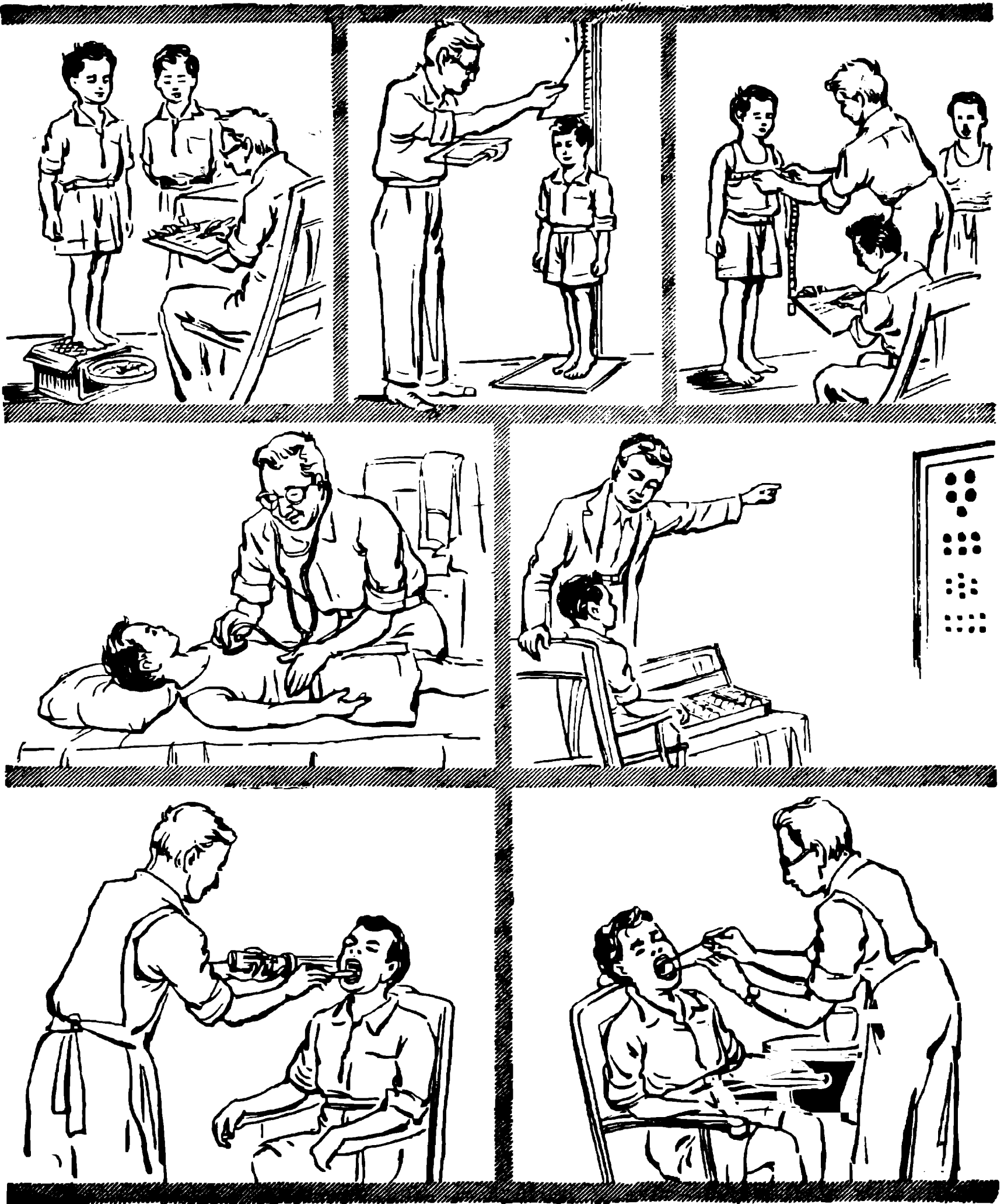
चित्र 41.5—समय-समय पर की जाने वाली स्वास्थ्य की जांच ।

यह इसलिए की जाती है कि बच्चे के शारीरिक व मानसिक परिवर्धन को समय-समय पर आंका जा सके और किसी दोष अथवा रोग को आरंभ में ही पहचान लिया जा सके । इसमें शारीरिक माप के अलावा संपूर्ण सामान्य व दैहिक रोग लक्षण संबंधी परीक्षण और मूत्र परीक्षण आदि विविध स्क्रीनिंग परीक्षण सम्मिलित हैं। स्वास्थ्य की इस प्रकार की जांच वयस्क व्यक्तियों की भी होनी चाहिए।

उसकी आवश्यकता महसूस की जा रही है । सुरक्षा की वह भावना व्याप्त होनी चाहिए कि उसका भी परिवार और समुदाय में कोई विशिष्ट स्थान है ।

इस प्रकार इस प्रसंग में माता-पिता, शिक्षकों और पड़ोसियों आदि संबद्ध व्यक्तियों का निश्चित रूप से उत्तरदायित्व है । शराब पीकर घर में झगड़ना, जातीय व वर्ग भेद, शिक्षकों का असहानुभूति पूर्ण व्यवहार और वातावरण के अन्य कई कारक बच्चे में निराशा व हतोत्साह के बीज बो देते हैं और इनका परिणाम होता है बच्चे में समाजविरोधी व्यवहार का विकास (देखिए अध्याय 27 'मानसिक स्वास्थ्य') ।

मानसिक रूप से स्वस्थ बच्चे अवश्य ही अच्छे दोस्त, अच्छे कार्यकर्ता, अच्छे साथी, अच्छे माता-पिता और अच्छे नागरिक बनेंगे ।

[illegible] मानसिक स्वास्थ्य के लिए प्रत्येक बच्चे को [illegible] आवश्यकता होती है : 1. प्यार, 2. सुरक्षा, 3. स्वतं[illegible], 4. पथ-प्रदर्शन 5. स्वीकृति, 6. संरक्षण, 7. विश्वास, अ[illegible] 8. नियंत्रण ।

अंतिम उद्देश्य :

अत: बच्चे के लालन-पालन में हमारा प्रयत्न इस प्रकार का होना चाहिए कि बच्चा केवल शारीरिक रूप से ही संतोषजनक वृद्धि न करे बल्कि मानसिक रूप से भी संतोषजनक वृद्धि करे । जब ऐसा बच्चा पूरी तरह से वयस्क होने पर, समाज और समुदाय में लाभदायक और रचनात्मक सदस्य के रूप में अपना स्थान ग्रहण करता है तभी व्यक्ति यह कहने का हकदार होता है कि "मैंने अपना काम बखूबी निभाया है" ।

* * * *

अधिक जानकारी के लिए देखिए : 'बेबी ऐन्ड चाइल्ड केयर', लेखक—डा० बेंजामिन स्पोर्क, कॉडिनल संस्करण, पॉकेट बुक्स इनकार्पो., न्यूयार्क ।

• • •

42

—डा० जो० सील्हो
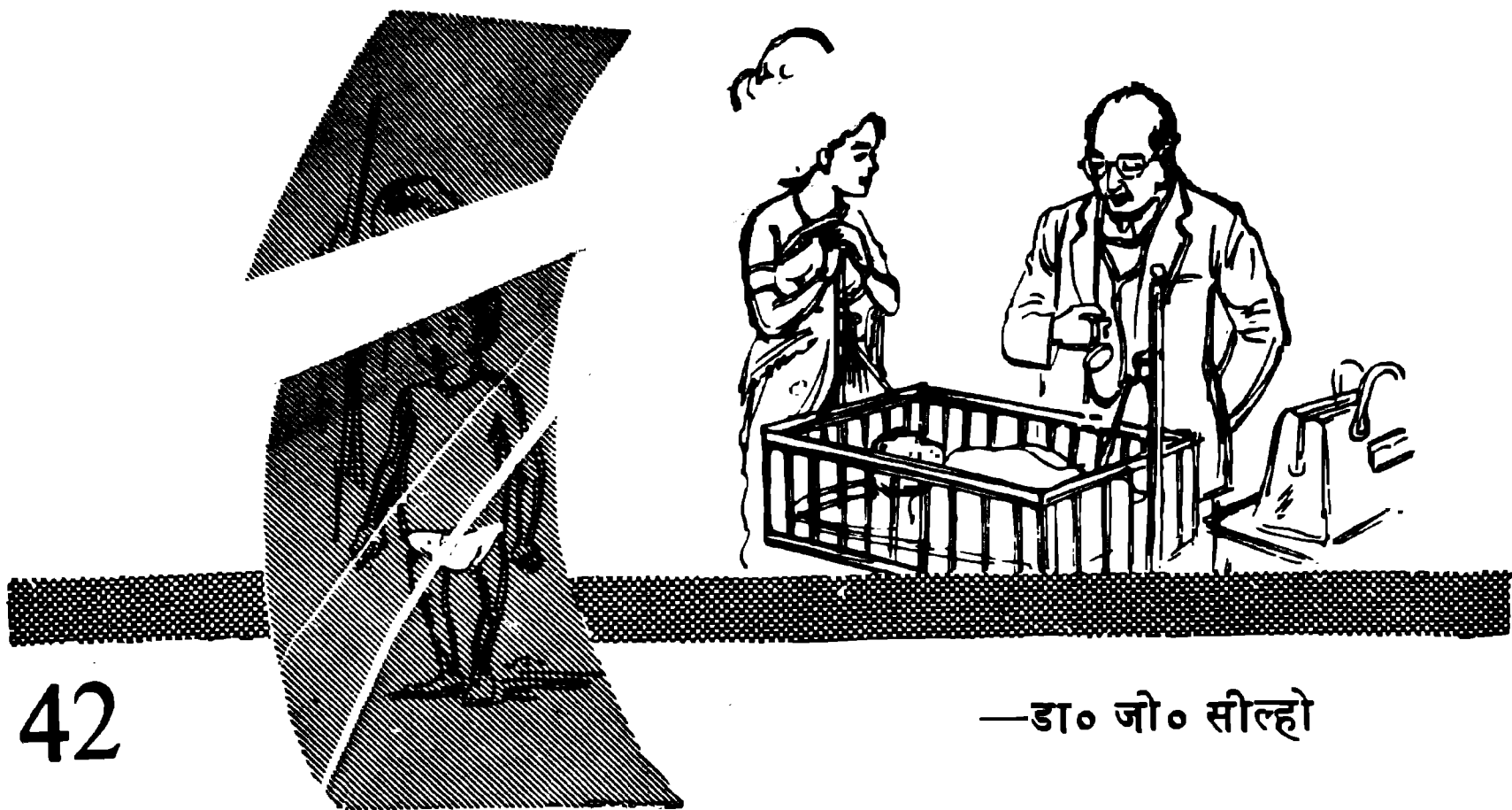
बच्चों के सामान्य रोग

बच्चों की बीमारियां बड़ों की बीमारियों से कई बातों में भिन्न होती हैं। बच्चों को अपने शरीर में प्रतिरक्षा प्रक्रिया विकसित करनी होती है। अपस्मार या मिरगी अथवा विक्षिप्ति या पागलपन सरीखे रोग तो वंशागत हो सकते हैं। उचित वृद्धि और परिवर्धन में बाधा पहुंचाने वाली कुछ दशाएं —जैसे अपर्याप्त भोजन अथवा अनुपयुक्त पोषण, अस्वास्थ्यकर पास-पड़ोस और लापरवाही—रिकेट्स, स्कर्वी अथवा सूखा रोग (मरास्मस) उत्पन्न कर सकती हैं। ये रोग फिर अन्य तीव्र रोगों के महत्वपूर्ण कारक बन जाते हैं, जैसे जठरआंत्र-पथ के रोगों के। बड़े बच्चों में रोग के लक्षण बहुत कुछ प्रौढ़ों की ही तरह होते हैं लेकिन बच्चों में विशेषता उस समय होती है जब वे 2 या तीन वर्ष के होते हैं और उनमें वाक् शक्ति का विकास नहीं हो जाता। इस दौरान रोग के वस्तुपरक लक्षणों पर ही विश्वास करना होता है क्योंकि बच्चा अपनी शिकायत को शब्दों में प्रकट करने में असमर्थ होता है।

बच्चों के रोगों से माता-पिता चिंतित हो जाते हैं। एक बच्चा जो कुछ ही घंटे पहले भला-चंगा होता है थोड़े से समय में भयानक रूप से बीमार पड़ सकता है। लेकिन खतरनाक लक्षणों के बावजूद वह बड़ी जल्दी से पूरी तरह ठीक भी हो सकता है। आरंभिक जीवन में, गरमियों में, मुख्यतया आंत्र और, जाड़ों में, श्वसन-पथ का संक्रमण होता है। बचपन के कुछ आम रोगों—जैसे रिकेट्स, सूखा रोग (मरास्मस) तथा खसरा, चेचक, छोटी माता, काली खांसी, डिफ्थीरिया, पोलियो आदि संक्रामक रोगों का वर्णन अन्य अध्यायों में किया गया है इसलिए उनका वर्णन यहां नहीं किया जा रहा है। बच्चों के कुछ अन्य रोग नीचे वर्णित किए गए हैं।

1. प्रवाहिका या डायरिया :

यह बच्चों का सबसे आम रोग है। शायद ही कोई बच्चा हो जो किसी न किसी अवस्था में इससे पीड़ित न हुआ हो। अन्य विकसित देशों की अपेक्षा भारत में गरीबी, अज्ञान और अस्वास्थ्यकर दशाओं के कारण प्रवाहिका या

* * * *

डा. जॉर्ज सील्हो, एम. बी., बी. एच. वाई., एम. आर. सी. पी. (लंदन), एफ. सी. पी. एस., अवै. बाल रोग कायचिकित्सक, ग्रान्ट मेडिकल कालेज तथा जे. जे. अस्पताल, बम्बई।

दस्त लगना एक आम बात है। हर उम्र के बच्चे इससे पीड़ित होते हैं लेकिन उन नन्हें शिशुओं में यह रोग विशेष रूप से अधिक होता है जो स्तन्य-पोषित नहीं बल्कि बाहर के दूध पर पोषित होते हैं। गरम मौसम के आरंभ होने पर यह रोग अधिक होता है। प्रवाहिका को मोटे तौर पर दो समूहों में बांटा जा सकता है : (i) असंक्रामक और (ii) संक्रामक।

असंक्रामक प्रवाहिका : कई प्रकार की असंक्रामक प्रवाहिका कुछ खाद्य पदार्थों की ऐलर्जी अथवा उनके प्रति असहिष्णुता से हो सकती है। ऐसे बच्चे कुछ प्रकार के दूधों या खाद्य पदार्थों को पचाने में असमर्थ होते हैं। यह परेशानी गाय या भैंस के दूध अथवा आहार में सम्मिलित किए गए किसी नए खाद्य पदार्थों के कारण हो सकती है, जैसे धान्यों, मछलियों, दालों, तेलों, मसालों आदि से। पाचन की गड़बड़ी मंद प्रकार की शूल या कुछेक बार मल विमर्जन करने तक सीमित रह सकती है अथवा शूल, वमन, प्रवाहिका, ज्वर और त्वचा-पित्तिका सहित उग्र प्रकार की भी हो सकती है। ऐसे उदाहरणों में सावधानीपूर्वक उन विशेष खाद्य पदार्थों को बच्चे के आहार से अलग करना होगा और जब तक किसी उपयुक्त खाद्य पदार्थ का पता नहीं चलता तब तक बच्चे को सहायता पहुंचाने के लिए कोई पाचक औषधि और ऐलर्जी से लड़ने के लिए कोई दवा देनी होगी।

प्रवाहिका लार, जठर-रस, पित्त तथा अग्न्याशयिक व आंत्र-रस सरीखे पाचक रसों की अपर्याप्तता के कारण भी हो सकती है। इन उदाहरणों में पाचन क्रिया अपूर्ण रहती है और भोजन के अवशोषण में भी बाधा पहुंचती है। अपूर्ण रूप से पचा अवशिष्ट आंत में क्षोभ उत्पन्न करके प्रवाहिका उत्पन्न करता है। मल मात्रा में अधिक और बदबूदार हो सकता है। बच्चे का वजन भी नहीं बढ़ता और सामान्य वृद्धि भी नहीं होती। ऐसे बच्चों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाना चाहिए और डाक्टर द्वारा निदान पर पहुंचने के पहले उनकी कई तरह से जांच की जानी चाहिए। इसके बाद भी बच्चे को सामान्य स्थिति में आने पर कई महीने लग सकते हैं।

बहुत लंबे समय तक बच्चा जब भूखा रहता है, जैसे कि लंबी बीमारी में, और फिर एकदम पूरा भोजन करने लगता है तो उसकी आंत इस नए भार को सहने की स्थिति में नहीं होती और इसलिए भी प्रवाहिका हो जाती है। लंबी बीमारी के बाद आहार में मात्रा और गुणता की वृद्धि धीरे-धीरे और सावधानी से की जानी चाहिए।

कुछ प्रकार की प्रवाहिकाओं के लिए तंत्रिकीय कारक भी उत्तरदायी हैं। कुछ शिशुओं में दांत निकलने के समय भी दस्त लग सकते हैं। अधीरता, अति चिंता और भय की अवस्था से भी प्रवाहिका हो सकती है। कभी-कभी प्रवाहिका केवल एक दिन के लिए ही हो सकती है जैसे इम्तहान अथवा किसी उत्तेजक घटना के समय। यह लंबी अवधि की भी हो सकती है यदि चिंता की अवस्था अधिक समय तक चलती है।

संक्रमी प्रवाहिकाएं : ये अधिक भयानक होती हैं और अनेक लोगों की मृत्यु का कारण भी। केवल उचित देखभाल से ही ये रोकी जा सकती हैं। संक्रमण का सबसे आम कारण 'ई. कोलाइ' नामक जीवाणु है जो सामान्यतया आंत्र-पथ में रहता है। इस रोगाणु के कुछ प्रकार गुण अथवा लक्षण परिवर्तन करते रहते हैं, आंत्र में क्षोभ उत्पन्न करते हैं और तीव्र प्रकार की प्रवाहिका करते हैं।

इस रोगाणु के बाद नंबर उस समूह वाले जीवाणुओं का आता है जो टायफायड ज्वर करते हैं जिसे साल्मोनेला समूह कहते हैं। प्रवाहिका करने वाले बड़े आकार के परजीवियों में जिआर्डिया संभवतया सबसे आम है (चित्र 42.2)।

इससे बहुत उग्र प्रकार की प्रवाहिका होती है। भारत में, प्रौढ़ व्यक्तियों में, अमीबीय संक्रमण बहुत आम है लेकिन बच्चों और शिशुओं में यह कम होता है। कुछ प्रवाहिकाएं विषाणुओं (वाइ-रस) के कारण भी होती हैं।

इन संक्रमी प्रवाहिकाओं में शिशु 24 घंटे की अवधि में 5 से 30 दस्त कर सकता है। जब मल बार-बार विसर्जित होता है तो वह पनीला होता है। आरंभ में दस्त बड़े लेकिन बाद में ये छोटे जाते हैं। इनमें खून और श्लेष्मा भी हो सकती है। शिशु को टट्टी करते समय जोर लगाना पड़ता है। टट्टी करने के पहले और बाद में शूल होता है और मल विसर्जित करने के लिए जोर लगाना पड़ सकता है। साथ ही वमन और ज्वर भी हो सकता है। बार-बार कै होने के कारण शिशु को खिलाना-पिलाना असंभव हो सकता है। शरीर का तापमान 37.8° से 40.0° सेन्टीग्रेड (100 से 104 डिग्री फारेनहाइट) हो सकता है। पनीले दस्तों और वमन के कारण शिशु के शरीर से तरल पदार्थों और लवणों का निकास होता रहता है और निर्जलीभवन तथा अम्लमयता (एसिडो-सिस) की स्थिति आ सकती है। यह एक बहुत खतरनाक स्थिति है। त्वचा सूखी हो जाती है, आंखें नीचे धंस जाती हैं, करोटि-अंतराल (फॉन्टेनेल), यदि खुले होते हैं तो, अवनमित हो जाते हैं और जीभ सूख जाती है। शिशु प्यासा हो जाता है, लालायित होकर पानी पीता है तथा हाथ व पैर ठंडे पड़ जाते हैं। उदर फूला हुआ हो जाता है। शिशु आक्षेपों से भी पीड़ित हो सकता है।

ऐसे शिशुओं की जीवन रक्षा के लिए शक्ति-प्रद उपचार आवश्यक होता है। सबसे पहली जरूरत होती है शरीर से तरलों व लवणों की हानि को पूरा करना। निर्जलीभवन की खतरनाक स्थिति में तरल और लवण शिरा द्वारा दिए जाने चाहिए, चाहे शिशु की उम्र कितनी ही क्यों न
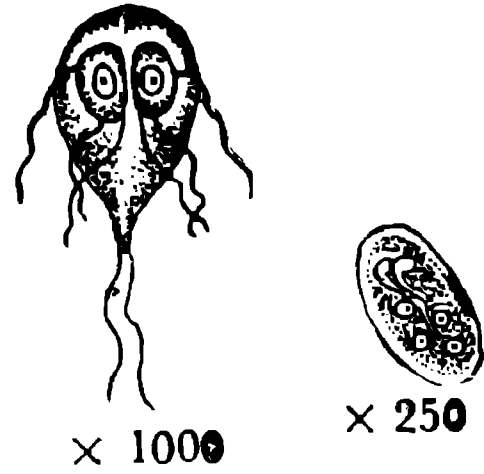
चित्र 42.2—जिआर्डिया और उसका अंडा

हो। संक्रमी प्रवाहिका के उपचार में आधुनिक औषधियां बहुत प्रभावकारी होती हैं। शिशु का पोषण उसे आरंभ से ही जल्दी खिलाने-पिलाने से भली भांति होता है, जिसमें उसे केले और सेब जैसे फलों के गूदे तथा दही व छाछ सरीखे प्रोटीन खाद्य पदार्थों का अधिक इस्तेमाल कराया जा सकता है।

अन्य आंत्र-परजीवी भी प्रवाहिका कर सकते हैं। अमीबा का जिक्र पहले भी किया जा चुका है। कुछ बच्चों में गोल कृमि (राउंड वर्म) प्रवा-हिका करते हैं और उनके मल में खून भी आ सकता है। सूत्र कृमि गुदा के इर्द गिर्द खुजली करते हैं और खुजली दूर करने के लिए बच्चा थोड़ा बहुत मल बार-बार विसर्जित करता है। प्रवाहिका रोकने के लिए कृमियों का उपचार जरूरी है।

इन प्रवाहिकाओं का निवारण शौचालय से आने के बाद अच्छी तरह से हाथ धोने, मल पदार्थ के सुचारु निपटान, भोजन को घरेलू मक्खियों से बचाने और केवल उबला और गरम भोजन करने से किया जा सकता है।

प्रवाहिका का उपचार लक्षण और कारण दोनों का उपचार होता है। प्रवाहिका के लक्षणों को रोका जा सकता है लेकिन यह केवल अस्थायी रूप से ही होगा यदि कारण का पता ज्ञात नहीं होता तो। चूंकि हमेशा ही नए संक्रमण, नई एलर्जी अथवा तनाव की नई स्थिति के अवसर होते हैं

इसलिए बार-बार प्रवाहिका होने की संभावना रहती है। स्वास्थ्यकर दशाओं में रहने और सावधानीपूर्वक जीवन बिताने से ये संभावनाएं कम से कम तो की ही जा सकती हैं, भले ही इन्हें पूरी तरह से दूर न भी किया जा सके।

प्रवाहिका रोकने के उपाय निम्नलिखित प्रकार से हैं :

(i) शिशुओं के स्तन्यपोषण को बढ़ावा दिया जाय।

(ii) शिशुओं की देखभाल और स्वास्थ्य संबंधी सभी बातों की शिक्षा माता को दी जाय।

(iii) दूध आपूर्ति का यथेष्ट पर्यवेक्षण।

(iv) घर में दूध की देखभाल और बाहरी दूध से शिशु के पोषण संबंधी निर्देशों से माता को अवगत करना।

(v) भोजन-स्वच्छता का परिपालन।

(vi) अत्यधिक गरमी के दिनों में अधिक भोजन से परहेज।

देखभाल : प्रवाहिका से पीड़ित बच्चे को बार-बार थोड़ी मात्रा में पानी दिया जाना चाहिए ताकि इससे शरीर से निकले तरल की पूर्ति की जा सके। जौ का पानी या छेने का पानी भी दिया जा सकता है। आसानी से पचने वाले खाद्य पदार्थ ही दिए जाने चाहिए। दूध की अपेक्षा मट्ठा आसानी से पच जाता है। ग्लूकोज से लाभ के बजाय हानि होने की संभावना रहती है क्योंकि इसका परिणाम होता है पेट में वायु। बिना दूध और कम चीनी वाली हल्की चाय दी जा सकती है। दूध से पोषित होने वाले बच्चों में दूध के पाचन के लिए सोडियम साइट्रेट का एक कण या चाय के चम्मच के आधे के बराबर चूने का पानी दूध, पीते समय हर बार दिया जा सकता है। बिना दूध किंतु चुटकी भर चीनी या स्वाद के अनुसार नमक, वाली अरारोट की कांजी दी जा सकती है। शिशु को गर्म और आराम वाली अवस्था में रखा जाना चाहिए।

चूंकि घरेलू उपचार में खतरे के अधिक अवसर हो सकते हैं और इनमें समय भी अधिक खर्च हो सकता है इसलिए प्रवाहिका वाले सभी बच्चों को शीघ्रता से डाक्टर के पास ले जाना चाहिए।

2. कृमि :

सारे विश्व के बच्चे कृमियों से ग्रस्त रहते हैं और केवल मात्रा का ही अंतर होता है। कृमियों में सबसे आम गोल कृमि हैं और इसके बाद नंबर आता है सूत्र कृमियों व अंकुश कृमियों (हुक वर्म) का और सबसे बाद में नंबर आता है फीता कृमियों (टेप वर्म) का।

कृमियों के कई चिन्ह और लक्षण होते हैं लेकिन इनमें कोई भी निदानात्मक नहीं होता। यह निश्चित रूप से तभी कहा जा सकता है जब कि कृमि अथवा उसके अंडे को सूक्ष्मदर्शी द्वारा मल में पहचाना जाता है।

भूख की कमी, उदर वेदना, वृद्धि का रुकना, हल्का ज्वर, चिड़चिड़ापन, दांत किटकिटाना, नाक कुरेदना, खांसी, गुदा खुजलाना, बाहर निकला उदर, दौरे पड़ना, बिस्तर में पेशाब करना, प्रवाहिका आदि लक्षण कृमियों के कारण बताए गए हैं। शरीर से कृमियों को निकाल देने के बाद सारे लक्षण खत्म हो जाते हैं और इस तरह ये सारे लक्षण कृमियों की उपस्थिति से जोड़े जा सकते हैं।

गोल कृमि (चित्र 42.3) कभी-कभी खतरनाक लक्षण उत्पन्न कर सकते हैं। अधिक संख्या में होने पर ये एक पूंज या समूह में मिलकर आंत्र

चित्र 42.3—गोल कृमि और उसका अंडा
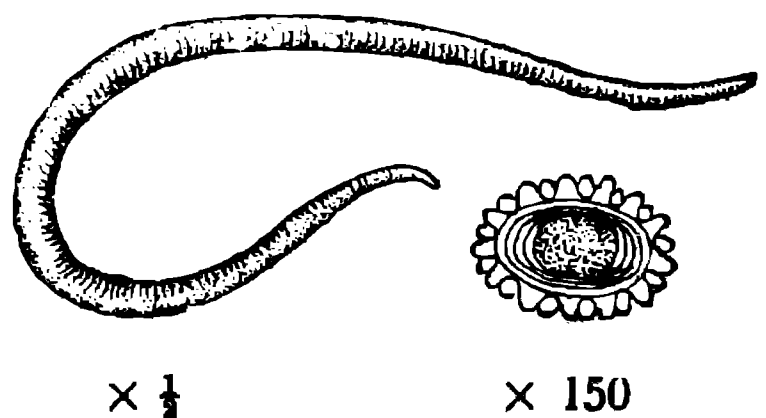
में अवरोध अथवा रुकावट उत्पन्न कर सकते हैं। कुछ बच्चे क़ै के साथ भी कृमियों को बाहर निकाल देते हैं।

सूत्र कृमि (चित्र 42.4) आंत्र के निचले सिरे पर बड़ी तेजी से गुणन करते हैं और अंडे भी देते हैं। ये कृमि गुदा वाले सिरे पर बाहर निकलते हैं और घूमकर परिगुद क्षेत्र में अपने अंडे देते हैं। ये योनि तक भी पहुंच सकते हैं। ये कृमि इस तरह स्थानिक क्षोभ उत्पन्न करते हैं और खुजली तथा बिस्तर में पेशाब करने का भी कारण होते हैं। सूत्र कृमि मल में धागे के छोटे-छोटे टुकड़ों के रूप में दिखलाई देते हैं और इनके अंडों को सूक्ष्मदर्शी में देखा जा सकता है।

अंकुश कृमि (हुक वर्म—चित्र 42.5) दूसरे प्रकार का छोटा कृमि है जो आंत में पाया जाता है। यह आंत्र की दीवार से चिपक जाता है और वहां से खून चूस कर अरक्तता करता है। कभी-कभी इसमें अरक्तता बहुत उग्र होती है। मल में ये अंकुश कृमि कोरी आंख से भी दिखाई दे सकते हैं लेकिन इनके अंडों को सूक्ष्मदर्शी में पहचानकर ही इनकी उपस्थिति का पता लगाया जाता है।

फीता कृमि (चित्र 42.6) नाम इसलिए दिया गया है कि ये चपटे होते हैं और फीते की तरह दिखलाई देते हैं। बच्चों में इनकी कई किस्में पाई जाती हैं। ये कृमि सखंड यानी खंड वाले होते हैं। ये खंड जनक कृमि से टूटकर मल में छोटे-छोटे सफेद टुकड़ों के रूप में दिखलाई देते हैं जो बाहर रेंगते नजर आते हैं। ये तब भी बाहर निकल सकते हैं जब कि बच्चा मल विसर्जित नहीं कर रहा है। पूरी तरह से परिवर्धित कृमि एक मीटर से भी अधिक लंबा हो सकता है। सिर के निकट वाले खंड छोटे होते हैं और यह कृमि अपने "चूषकों" द्वारा आंत्र की दीवारों से चिपका रहता है। फीता-कृमि एक विशेष प्रकार की अरक्तता उत्पन्न करता है। सूक्ष्मदर्शी द्वारा मल का निरीक्षण करने पर खंडों के अतिरिक्त कई अंडे भी देखे जा सकते हैं।
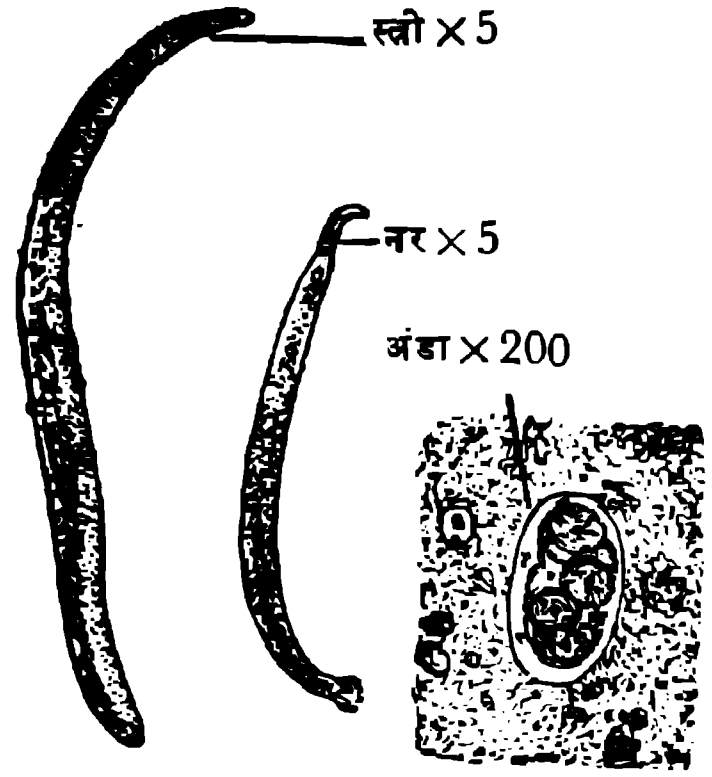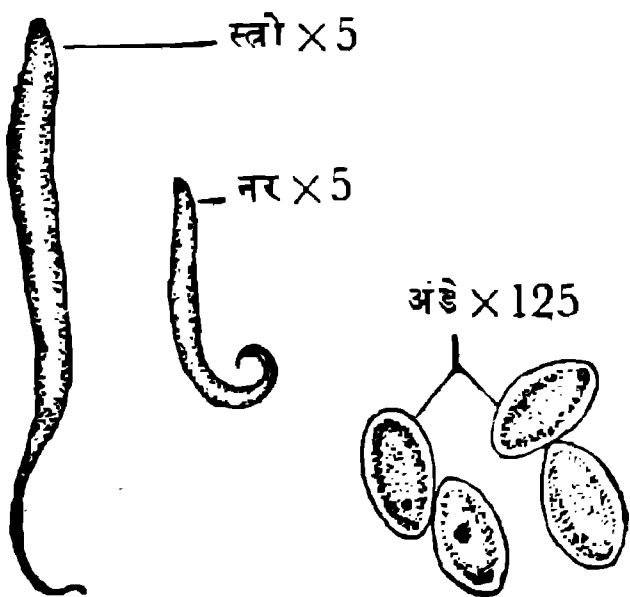
इनमें से कोई भी कृमि अपने आप आंत्र में वृद्धि

चित्र 42.4—सूत्र कृमि और उसका अंडा

चित्र 42.5—अंकुश कृमि और उसका अंडा

चित्र 42.6—प्रौढ़ फीता कृमि, उसका सिर और अंडा (अंडे को × 150 परिवर्धित करके दिखलाया गया है)

अंडा सिर प्रौढ़ कृमि (टुकड़ों में)
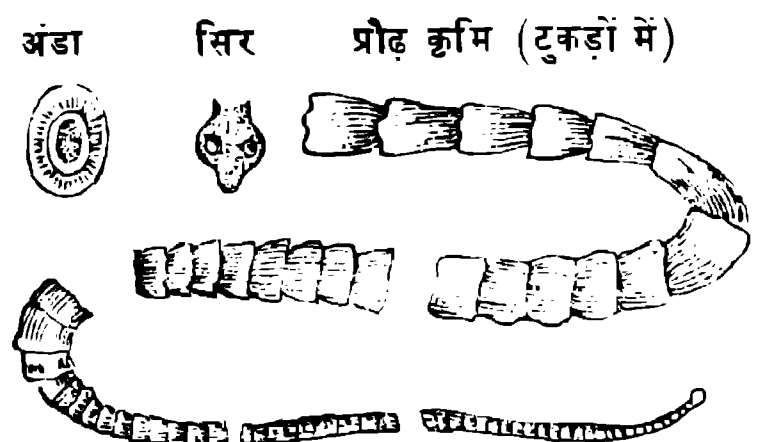
नहीं कर पाता है। ये तभी वृद्धि कर पाते हैं जब इनके अंडे अथवा डिम्भक (लारवा—नन्हें कृमि) आंत में लाए जाते हैं। गोल कृमि के अंडे पाचन-पथ में संदूषित भोजन अथवा पानी के साथ पहुंच जाते हैं और वहीं आंत में ये फूटते हैं। तब इनके डिम्भक या शिशु पहले रक्त के प्रवाह से होते हुए और फिर फेफड़ों, श्वास नली, ग्रास-नली से होते हुए आंत में पहुंच जाते हैं, जहां वे परिपक्व प्रौढ़ कृमि में परिवर्धित हो जाते हैं (चित्र 11.2)। सूत्रकृमि उन अंडों से फूटते हैं जो मुंह में हाथ द्वारा या मल पदार्थ द्वारा संदूषित खाद्य पदार्थ के साथ पहुंच जाते हैं। अंकुश कृमि (एंकाइलोस्टोमा) के अंडे गर्म व नम भूमि में फूटते हैं और फिर इसके भ्रूण मानव शरीर में नंगे पैरों को बेध कर छोटी रक्त वाहिकाओं में प्रवेश कर जाते हैं। अंतः ये आंत्र में पहुंच जाते हैं। फीता कृमि (टेप वर्म) के जीवन चक्र का कुछ भाग मानव शरीर के बाहर सूअर या गाय के शरीर में चलता है और ऐसे संदूषित मांस को खाने से संक्रमण हो जाता है जिसमें कि कृमि के भ्रूण होते हैं। इसलिए लोगों में जो धारणाएं व्याप्त हैं कि बहुत अधिक चीनी वाली चीजें खाने से ये कृमि उत्पन्न हो जाते हैं वे सब गलत हैं।

कृमियों के पर्याक्रमण को रोकने के लिए स्वास्थ्य संबंधी आदतें जरूरी हैं। विष्ठा या मल का अच्छी तरह से निपटान शौच आदि जाने के बाद और खाना खाने के पहले हाथों को खूब अच्छी तरह से धोना दो मुख्य अनिवार्यताएं हैं।

इन कृमियों को औषधियों की सहायता से शरीर के बाहर निकाला जा सकता है। लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि आदमी कितनी जल्दी फिर इनसे संक्रमित हो जाता है, इसलिए मल की जांच बार-बार करते रहना चाहिए। उपचार की तो कई विधियां हैं। कृमियों को बाहर निकालने के अलावा उनके द्वारा डाले गए प्रभावों का भी उपचार किया जाना चाहिए।

3. क़ै या वमन :

बच्चों को क़ै होना आम शिकायत है। प्रौढ़ों की अपेक्षा ये बड़ी जल्दी क़ै करते हैं। जितना ही बच्चा छोटा होगा वह उतनी ही अधिक क़ै करेगा। वमन निम्नलिखित कारणों में से किसी एक या अनेक कारणों से हो सकता है, इसलिए उसका उपचार कारण के ही अनुरूप होना चाहिए।

(i) अधिक ठूंस कर खाना :—दोषपूर्ण अशन या खाने की विधि के कारण बच्चे बहुत अधिक वायु का निगरण कर लेते हैं। आमाशय के लिए इस वायु और दूध को समाए रहना बहुत मुश्किल हो जाता है। इसलिए यह सब एक धार वाली क़ै के रूप में बाहर निकाल दिया जाता है। बढ़े हुए टॉन्सिल और एडिनॉइड वाले बच्चे रात को अपना मुंह खुला रख के सोते हैं, इसलिए ये काफी अधिक वायु निगरण कर लेते हैं और इस कारण आधी रात या तड़के सबेरे क़ै करने लगते हैं। बड़े बच्चे पेटू होने के कारण अधिक खाकर क़ै करते हैं।

(ii) आमाशय, आंत्र और यकृत्, अथवा उदरीय आस्तर या पर्युदर्या (पेरीटोनियम) का रोग :— इन अंगों की सूजन या शोथ से क़ै हो सकती है। इसकी शुरुआत क़ै से और अंत प्रवाहिका में हो सकता है। तीव्र प्रवाहिका, तीव्र यकृत्-शोथ (जिगर की सूजन) आम उदाहरण हैं। अपाचन क़ै का आम कारण है।

(iii) मध्यपट (डायफ्राम) वक्षा और उदर की पेशियों की तीव्र अत्यधिक गति भी क़ै का कारण है। इसका अच्छा उदाहरण काली खांसी या कुकुर खांसी है जिनमें बच्चा उग्र खांसी के बाद क़ै करता है। कुछ बच्चे जोर से हंसने पर, कुछ-कुछ दौड़ने के बाद और कुछ उस समय क़ै करते हैं जब गले की जांच के समय उनकी जीभ दबाने पर गले में गुदगुदी होती है।

(iv) खाद्य पदार्थों और पेयों के प्रति ऐलर्जी :—शरीर द्वारा कई खाद्य पदार्थों व पेयों

को अस्वीकृत करके क़ै के रूप में बाहर निकाल दिया जाता है और इस तरह ऐलर्जी का प्रदर्शन हो सकता है। ऐसी संवेदनशीलता हर एक व्यक्ति में अलग-अलग प्रकार से होती है और इसकी पहचान तभी होती है जब उसी खाद्य पदार्थ या दवाई देने पर फिर क़ै होने लगती है।

(v) शरीर के किसी भाग में संक्रमण का प्रदर्शन क़ै और ज्वर के रूप में हो सकता है। सबसे सामान्य हैं श्वसन-पथ के संक्रमण। इसके बाद नंबर आता है आंत्र, मूत्र-पथ, मस्तिष्कावरण और मस्तिष्क के संक्रमणों का।

(vi) क़ै के साथ तीव्र दर्द भी हो सकता है। दांत में दर्द, कान में दर्द, कृमियों के कारण उदरीय शूल, पर्युदर्याशोथ (पेरिटोनियम की सोजिश) का दर्द इसके उदाहरण हैं। क़ै के साथ प्राय: तेज सिर दर्द विशेषतया माइग्रेन होता है।

(vii) सूंघने, देखने और संतुलन में बाधा :— बुरी गंध से क़ै को बढ़ावा मिलता है। आंखों पर जोर पड़ने से भी क़ै हो सकती है। जहाज या हवाई जहाज के डगमगाने और ऊंची-नीची गति, कार या बस में तेजी से चलने, झूला झूलने, चक्र-दोला में खेलने अथवा इसी तरह की किसी अन्य क्रियाशीलता से, जिसमें बार-बार और आकस्मिक रूप से शरीर की संस्थिति के परिवर्तन होते हैं, क़ै हो सकती है।

(viii) खोपड़ी के भीतर अधिक तनाव :— यह उन बच्चों में होता है जिनमें मस्तिष्कावरणशोथ (मेनिंजाइटिस), मस्तिष्क की सूजन (मस्तिष्क-शोथ) अथवा मस्तिष्क में तरल इकट्ठा हो जाता है (जलशीर्ष)। यह अधिक रक्त दाब के कारण भी हो सकता है, जैसे तीव्र वृक्क रोग अथवा दुर्घटना के कारण खोपड़ी के अंदर रक्तस्राव अथवा [illegible] [illegible] रक्त-वाहिका के फटने से।

(ix) भोजन के मार्ग में अवरोध :—यह भोजन नली, आमाशय, आंत्र अथवा दूर वाले सिरे यानी गुदा तक हो सकता है। ये अवरोध जन्म से ही हो सकते हैं। इसके उदाहरण हैं—भोजन नली का संकीर्ण होना या बंद होना, गुदा छिद्र की अनुपस्थिति, आमाशय के दाहिने सिरे अथवा आमाशय के एकदम बाद आंत्र का बारीक होना। ये अवरोध बाद में भी हो सकते हैं। यह अवरोध तीव्र प्रकार का भी हो सकता है जैसे आहार-नाल का विपाशन (strangulation) अथवा चिरकारी भी हो सकता है जब कि घाव ठीक होकर संकुचित होने वाला निशान छोड़ जाते हैं। इन सभी गड़बड़ियों का उपचार शस्त्रकर्म द्वारा होना चाहिए।

(x) जब रक्त में विषैले पदार्थ जमा हो जाते हैं :— इसका अच्छा उदाहरण है "अम्लमयता"। इस दशा में, शरीर में, कुछ टूटने वाले पदार्थों के उत्पादन और निष्कासन में परस्पर असंगतता रहती है। बच्चा एक या दो दिन तक सभी कुछ क़ै के रूप में बाहर निकाल देता है। विषैले पदार्थ भी जमा हो सकते हैं जब कि यकृत् और वृक्क बुरी तरह से क्षतिग्रस्त हो जाते हैं, जैसे कि क्रमश: यकृत्‌शोथ और यूरीमिया में। ऐसे में क़ै का भयंकर महत्व होता है।

(xi) मनोवैज्ञानिक कारण : माता-पिता यदि बच्चे को उसकी इच्छा के विरुद्ध कुछ करने को कहते हैं तो क़ै विरोध प्रदर्शन के रूप में भी हो सकती है। यह अवांछित मांग भोजन, पढ़ाई, खेल, सहयोगियों अथवा किसी भी क्रियाकलाप से संबद्ध हो सकती है लेकिन जब कभी भी उसे भोजन दिया जाता है या देने में जबर्दस्ती की जाती है तो यह विरोध क़ै का रूप ले सकता है।

यद्यपि ऊपर क़ै से संबंधित कई कारणों का वर्णन किया गया है लेकिन हमेशा असाधारण कारणों के पहले क़ै के सामान्य [illegible] कारणों पर ही विचार करना चाहिए। नन्हे शिशुओं के पालन-पोषण में पेट का ठूंस कर भरा जाना एक आम कारण है, जिसका कोई उपचार नहीं है सिवाय इसके कि दूध की मात्रा कम कर दी जाय। क़ै

आमाशय के फूलने से भी हो जाती है, जिसका कारण है हवा जो खाते-पीते समय निगल ली जाती है। इसे निकालने के लिए बच्चे को सीधी स्थिति में या कंधे पर रखना चाहिए (चित्र 41.3)। क़ै करने वाले बच्चे को प्रायः चार घंटे के अंतराल से पहले नहीं खिलाना चाहिए।

क़ै का प्रभाव : कभी-कभार मौके से हुई एक क़ै का अधिक महत्व नहीं होता। लगातार क़ै होने का मतलब है शरीर से तरल और भोजन की हानि। यदि यह बहुत तीव्र है तो इससे उग्र प्रकार का निर्जलीभवन और यहां तक कि आक्षेप भी हो सकते हैं। क़ै के कारण बच्चे में कब्ज हो जाता है, वह कम पेशाब करता है और उसके वजन में वृद्धि नहीं होती।

देखभाल : जब किसी शिशु या बेहोश बच्चे को क़ै होती है तो उसे एक तरफ कर देना चाहिए ताकि भोजन वायु-मार्ग में प्रवेश न कर सके। मुंह को पानी से साफ करना चाहिए। जब क़ै किया पदार्थ नाक के रास्ते भी निकलता है तो नाक भी साफ की जानी चाहिए।

क़ै का उपचार करने का मतलब है कारण का उपचार और बच्चे को अन्य मार्गों से भोजन व तरल पदार्थों की आपूर्ति। जब कभी कोई बच्चा लगातार क़ै करता चला जाता है तो यही बेहतर है कि तुरंत ही डाक्टर की सलाह ली जाय क्योंकि उसका सही कारण ज्ञात करना और इंजेक्शनों द्वारा भोजन व तरल पदार्थ देना बहुत जरूरी है। वैसे ऐसा किसी-किसी केस में ही करना पड़ता है। क़ै के अधिकांश रोगियों का उपचार औषधियों द्वारा किया जा सकता है और किसी-किसी में तो इनकी भी आवश्यकता नहीं पड़ती।

4. कब्ज :

यह कब समझा जाय कि बच्चे को कब्ज हो गया है? बच्चे का हरएक दिन आंत्र की गति करना यानी आंत खाली करना जरूरी नहीं है। कुछ बच्चे तो तब भी बड़े मजे में रहते हैं जबकि उनकी आंतें दो दिन में एक बार खाली होती हैं। जब आंत्र की अंतर्वस्तुओं को निकालने की इच्छा करती है लेकिन आंत्र के कम संकुचन या अंतर्वस्तुओं के कड़े होने के कारण इन्हें बाहर निकालने में कठिनाई होती है तब कहा जाएगा कि बच्चे को कब्ज है। अतः बच्चा यदि तीन दिन में एक बार मुलायम मल विसर्जित करता है या रोज कड़ा मल विसर्जित करता है तो कहा जाएगा कि उसे कब्ज है। इस प्रकार विष्ठा या मल को धकेलने में जो ताकत लगानी पड़ती है वही मायने रखती है।

कब्ज के सामान्य कारण है शरीर में तरल पदार्थों को कम मात्रा में लेना, अधिक वसा व प्रोटीन किंतु बहुत कम कार्बोहाइड्रेटों वाला असंतुलित आहार, सब्जियों व फलों, जैसे रफेज वाले आहार, की कमी और दोषपूर्ण मल-त्याग की आदत। यह बाद वाला कारण स्कूली बच्चों में बड़े महत्व का होता है। कभी-कभी तीव्र प्रवाहिका, अथवा टायफायड ज्वर अथवा किसी भयानक बीमारी के बाद भी कब्ज हो सकता है। गुदा के दर्द वाली अवस्थाओं जैसे विदर (फिशर) और उपद्रवी बवासीर से कब्ज हो जाता है क्योंकि बच्चा मल विसर्जित करने में असमर्थ होता है। लगातार क़ै करने वाले बच्चे और अल्पपोषण वाले बच्चे भी कब्ज से पीड़ित हो जाते हैं। कुछ बच्चे मनोवैज्ञानिक प्रभाव के कारण भी अपना मल रोके रख सकते हैं।

उपचार कारण पर निर्भर करता है। भोजन पर ध्यान देने और तरल पदार्थों के अंतर्ग्रहण तथा नियमित रूप से मल विसर्जन से अधिकांश बच्चों को फायदा होने लगेगा। गाय या भैंस के दूध पर पोषित होने वाले बच्चे के पीने वाले दूध में कुछ क्रीम और थोड़ा पानी डालने से लाभ पहुंचेगा। सभी स्थानिक दशाओं का उपचार कर लिया जाना चाहिए। कभी-कभी तुरंत पेट साफ करने के लिए ग्लिसरीन की सिरिंज अथवा ग्लिसरीन की बत्ती

(वर्तिका) का प्रयोग किया जाता है।

चिरकारी कब्ज के सफल उपचार के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ होना सबसे पहली आवश्यकता है और इसका कारण पता लगाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। चिरकारी कब्ज में रेंडी का तेल (कैस्टर आॅयल) का कोई स्थान नहीं है। रेचकों और एनिमा का बार-बार प्रयोग करने से कष्ट दूर करने के बजाय बढ़ जाते हैं।

5. उदर की गैसें :

शिशु इस असुविधाजनक स्थिति में हर समय रोता ही रहता है। 15 दिन से लेकर 3 महीने की उम्र के बीच वाले बच्चों में यह शिकायत पाई जाती है, भले ही उनका भोजन किसी भी प्रकार का क्यों न हो। शाम होने पर उनकी यह बेचैनी और अधिक बढ़ जाती है और आधी रात तक चलती रहती है। उदर फूल जाता है और अंगुलियों से बजाने पर वह ढोल की तरह बजता है। वायु या गैस निकालने के लिए शिशु रेंगता और छटपटाता रहता है। यदि वह ऐसा करने में सफल होता है तो वह कुछ हल्का महसूस करता है लेकिन उदर फिर उसी तरह भर जाता है। रोते जाने से वह फिर ढेर सारी हवा निगल लेता है। सबसे अधिक परेशानी इस बात की होती है कि जितनी तेजी से गैस बनती है उतनी तेजी से वह निकल नहीं पाती। बड़े बच्चे भी गैसों से पीड़ित हो सकते हैं। ये भोजन में अत्यधिक कार्बोहाइड्रेटों वसाओं के कारण होती है। गैस बदबूदार हो सकती है और तब तो विशेष रूप से अधिक ही जब कि बच्चा कब्ज से पीड़ित होता है।

इन "गैसों" के कारण कई कष्ट होते हैं। इनमें एक है दर्द और दूसरा उदर में खटका। कुछ बच्चे छाती में बेचैनी महसूस करते हैं और उनमें धड़कन तेज हो सकती है अथवा छाती में दर्द हो सकता है। जब शिशुओं, ठुमक कर चलने वाले बच्चों और स्कूली बच्चों के पेट व आंते फूली होती हैं तो वे ठीक तरह से नहीं सोते हैं। उन्हें कुस्वप्न भी हो सकते है। कुछ रात में लगातार खांसते रहते हैं।

उपचार में कारण की खोज की जाती है और ज्ञात होने पर उसका निराकरण किया जाता है। आंत्र की सुचारु गति के लिए दवाइयां दी जाती हैं ताकि गैस बाहर निकल सके। हर तरह से कब्ज दूर किया जाता है। गर्म पानी, ग्राइप वाटर और गुनगुने पानी में ब्रान्डी देना अच्छे घरेलू उपचार हैं।

6. भूख न लगना :

यह ऐसा लक्षण है जिससे आज कई माता-पिता परेशान रहते है। वे इस बात को मान ही नहीं सकते कि उनका बच्चा भी एक मानव है और उसमें अपने प्रकार की विभिन्नताएं हो सकती हैं। वे चाहते हैं कि शुरु से लेकर आखिर तक हर दिन उसकी भूख एक-सी बनी रहे और जो कुछ उसको दिया जाय उसे वह मजे में समान रूप से हजम करता रहे क्योंकि वे सोचते हैं कि भोजन उसके लिए अच्छा है। लेकिन विडंबना यह है कि सब दिन वस्तुतः बात ऐसी नहीं होती है। जैसे-जैसे शिशु बढ़ता जाता है वैसे-वैसे अपने वजन के अनुपात में उसे उतने भोजन की आवश्यकता नहीं होती जितनी की आरंभिक शिशु अवस्था में हुआ करती थी क्योंकि इस अवस्था में उसकी बाढ़ धीमी हो जाती है। फिर उसके अपने विचार, अपनी इच्छाएं होती हैं कि वह क्या खाना चाहेगा और कब खाना चाहेगा। बच्चे के इस भाव व परिवर्तन के न समझे जाने और भोजन के समय, मात्रा और गुणता वाली रूढ़ अनुसूची पर जोर देने का परिणाम होता है "भूख न लगने के कष्ट की शुरुआत"। दिन ब दिन यह समस्या अधिक बड़ी होती चली जाती है। जिसे नासमझ प्यारे माता-पिता द्वारा और अधिक बढ़ावा दे दिया जाता है। माता-पिता खाना खाने की जितनी अधिक जिद करते जाते हैं बच्चे में उतनी अधिक अरुचि उत्पन्न होती

जाती है और जोर जबर्दस्ती से जो ठूंसा जाता है उसे वह क़ै के रूप में निकाल देता है। माता-पिता और बच्चे के इस आपसी मतभेद को इस लक्षण का पहला कारण कहा जा सकता है।

किसी तीव्र अथवा चिरकारी संक्रमण के बाद भी भूख न लगने की स्थिति आ सकती है। श्वसन-पथ के संक्रमण, यकृत् के रोग और आंत्र के संक्रमणों में, तीव्र प्रावस्था में, प्राय: भोजन की अरुचि उत्पन्न हो जाती है। यदि उचित रूप से ध्यान नहीं रखा गया तो इस बात का खतरा बना रहता है कि यह नापसंदगी भूख न लगने की अवस्था में न पहुंच जाय। चिरकारी रोगों में जैसे कि यक्ष्मिकीय संक्रमण में, संभवतया ज्वर पहले भूख में गड़बड़ करता है और फिर पाचक स्रावों में परिवर्तन कर देता है जिससे भूख जाग्रत हो ही नहीं पाती।

भूख न लगना अन्य किसी संक्रमण के कारण भी हो सकता है जिसका कि आभास न हो पा रहा हो। ऐसा उस समय हो सकता है जब कि बच्चा प्रथमत: यक्ष्मा से संक्रमित होता है। कभी-कभी बच्चे में प्राथमिक संक्रमण का एकमात्र लक्षण ही भूख न लगना हो सकता है। गले के मध्यम प्रकार के संक्रमण व स्कर्वी के कारण जो भूख की कमी होती है वह तभी सुधरती है जब कि रोग का उपचार किया जाता है। गोल कृमियों को भूख न लगने के कारण के रूप में संबद्ध करना ठीक नहीं लगता।

कभी-कभी अत्यधिक थकान से भी भूख नहीं लगती। यह उस सामान्य बच्चे में हो सकता है जो किसी प्रतियोगिता वाले खेलकूद के लिए बड़ा कड़ा प्रशिक्षण ले रहा है अथवा उस कमजोर बच्चे में हो सकता है जो स्कूल के सामान्य क्रिया-कलापों में अपने को असमर्थ पाता है। यह थकान मानसिक भी हो सकती है जैसे कि इम्तहान के दिनों में या जब बच्चा माता-पिता द्वारा प्रताड़ित किया जाता है।

कभी-कभी बच्चा इतना थका हुआ होता है कि वह खा नहीं पाता। बच्चे का एक दूसरा प्रकार भी होता है जो भोजन में रुचि नहीं लेता यानी वह बच्चा जो पढ़ाई में लगा रहता है या सृजनात्मक अथवा मनोविनोद वाले कार्यों में खोया रहता है और भोजन करने को झंझट का काम समझ कर उसमें समय नष्ट नहीं करना चाहता। ऐसा बच्चा क्षुधापूर्ति के लिए जल्दी-जल्दी उल्टे-सुल्टे दो चार निवाले पेट में डाल लेता है लेकिन इससे माता-पिता की इच्छा पूरी नहीं होती।

भूख न लगने वाले सभी मामलों में बच्चे की पूरी तरह से जांच और संबद्ध अन्वेषण भी होने चाहिए ताकि किसी अव्यक्त रोग या माता-पिता व बच्चे के बीच के वैमनस्य का प्रमाण मिल सके।

यदि कारण कोई रोग है तो परिणाम अच्छा निकलता है। यदि माता-पिता व बच्चे के बीच तनाव वाले संबंध होते हैं तो इसके लिए काफी सब्र और तरकीब की जरूरत होती है। इस बीच बच्चे का वजन नहीं बढ़ता और वह हताश माता-पिता के लिए चिंता का कारण बन जाता है। बाहर से निराशाजनक दिखलाई देने वाली इस स्थिति में भी ऐसे बच्चों में सुधार हो जाता है यदि माता-पिता अत्यधिक चिन्ता न दिखलाएं।

7. पीलिया :

यह एक लक्षण है। यह इस बात का संकेत देता है कि यकृत् में उत्पन्न होने वाला पित्त वर्णक इतना अधिक है कि यकृत् उसका पूरा निपटान नहीं कर सकता। इसकी अधिक मात्रा रक्त में ही रह जाती है और इसीलिए आंख की सफेदी और त्वचा पीली हो जाती है। कुछ वर्णक पेशाब में भी विसर्जित होता है और इसीलिए पेशाब रंग में लाल या पीली हो जाती है। यह भी हो सकता है कि आंत्र में प्रवाहित होने से पहले ही पित्त का अवरोध हो जाये और ऐसा या तो यकृत् में ही या यकृत् के बाहर वाहिनियों में हो सकता है। ऐसी स्थिति में मल का रंग सफेदी लिए हुए होता है। पीलिया सामान्यतया यह संकेत देता है कि यकृत् में कुछ गड़बड़ी है या लाल रक्त कणिकाओं

का अपसामान्य नाश हो रहा है।

पित्त अथवा पित्त वर्णक का रंग लाल रक्त कोशिकाओं में विद्यमान हीमोग्लोबिन नामक लाल वर्णक के टूटने से व्युत्पन्न होता है। इसलिए जब कभी लाल रक्त कोशिकाओं का अत्यधिक नाश होता है तो पित्त वर्णक की अधिकता हो जाएगी। नवजात शिशु में जन्म के बाद की अपेक्षा अधिक लाल कोशिकाएं होती हैं इसलिए जन्म के पहले कुछ दिनों में ये अधिक लाल कोशिकाएं नष्ट कर दी जाती हैं। इसका परिणाम होता है शरीरक्रियात्मक पीलिया जो कि कई नवजात शिशुओं में देखा जाता है। यह मंद प्रकार का होता है तो शिशु पर इसके कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ते और कुछ ही दिनों में ठीक हो जाता है। लेकिन कुछ बच्चों में उग्र प्रकार का पीलिया होता है जो पैदा होने के पहले दिन से ही शुरू हो जाता है। बच्चा बहुत कम समय में उग्र रूप से पीलियाग्रस्त हो जाता है और यह पीलिया ऊपर बताए गए पीलिया की तरह जल्दी ठीक नहीं होता। यह बड़ी खतरनाक अवस्था होती है जिसमें तुरंत ध्यानपूर्वक उपचार किया जाना चाहिए जैसे कि बच्चे को पुराने खून के बदले नया खून देना। बच्चे की जान बचाने के लिए यह बहुत जरूरी है।

पुरानी रक्त कोशिकाओं का विनाश अन्य कारणों से जीवन में किसी भी समय हो सकता है और इससे रुधिरलयनी अरक्तता (haemolytic anaemia) हो जाती है। ऐसे रोगियों में ऐसा पीलिया हो सकता है जो अरक्तता का कारण दूर करने से ही ठीक किया जा सकता है।

यकृत् के ग्रस्त होने पर भी पीलिया हो सकता है और उसे समय यह लाल रक्त कोशिकाओं के विनाश के उत्पादों के निपटान में असमर्थ होता है जो कि शरीर में सामान्यतया टूट-फूट से होता ही रहता है। यह संक्रमी यकृत्शोथ वाली तीव्र स्थिति में होता है और इसका कारण एक विषाणु (वाइरस) है।

नवजात शिशु से लेकर सभी उम्र के बच्चों में पीलिया का आम कारण यकृत्शोथ ही है। बच्चे में मतली, क़ै, भूख की कमी, पेट में हवा और कब्ज के लक्षण होते हैं। पित्त की अनुपस्थिति के कारण मल मिट्टी के रंग का और अधिक पित्त मात्रा के कारण पेशाब गहरे पीले रंग की होती है। सामान्यतया अच्छी देखभाल से पीलिया में सुधार होता चला जाता है।

बार-बार संक्रमण होने और अनुचित पोषण के कारण भी यकृत् को बार-बार क्षति पहुंच सकती है। ऐसी अवस्था में यकृत् कोशिकाएं नष्ट हो जाती हैं और उनका स्थान रेशेदार ऊतक ले लेता है। यकृत् में शुरू-शुरू में सूजन हो जाती है क्योंकि क्षतिग्रस्त कोशिकाए वसा से भर जाती हैं लेकिन ज्यों-ज्यों यकृत् कोशिकाओं के स्थान पर रेशेदार ऊतक आते रहते हैं त्यों-त्यों यकृत् कड़ा और आकार में छोटा होता जाता है। ऐसा यकृत् सिरोसिस वाला यकृत् कहलाता है। कई बच्चे सिरोसिस वाले यकृत् से पीड़ित होते हैं, जो कि धीरे-धीरे ठीक होने वाली अवस्था की चरम स्थिति है। इस अवस्था में रक्त वर्णकों का नियमन करने वाला तंत्र व्यवस्थित नहीं रहता और इसीलिए पीलिया होता है।

इस तरह पीलिया कई रोगों का लक्षण है और पीलिया की सावधानियां और उपचार का मतलब है मूल रोग की सावधानियां और उपचार।

पीलिया में सामान्तया निम्नलिखित सावधानियां बरतनी चाहिए :

1. पूरी तरह से बिस्तर पर आराम।
2. डाक्टर द्वारा तुरंत पर्यवेक्षण।
3. मुंह द्वारा तरल पदार्थों की अधिकता।
4. डाक्टर द्वारा सुझाया गया अच्छा पोषण।
5. रोगी के लिए अलग बर्तन और बिस्तर।
6. रोगी की देखभाल के बाद और खाने, पीने या भोजन व्यवस्था के पहले हाथों

को अच्छी तरह से धोना।

8. अल्पपोषण :

भारत जैसे गरीब और विकासमान देश में, जहां कि खाद्य की आपूर्ति से कहीं अधिक अनुपात में तेजी से आबादी बढ़ती जा रही है, अगर हमारे बच्चों में अधिक अल्पपोषण है तो यह स्वाभाविक ही है। ऐसे अधिकांश बच्चों में भोजन का अंतर्गहण अपर्याप्त होता है और इसका कारण है क्रय क्षमता की कमी। लेकिन कुछ में यह कमी संतुलित आहार वाले सिद्धांतों की अज्ञानता के कारण है। हम भारत के लोग धान्य यानी चावल, गेहूं, ज्वार और मक्का अधिक खाते हैं इसलिए आहार में प्रोटीनों, वसाओं और कई विटामिनों और लवणों की कमी रह जाती है।

जठर-आंत्र पथ में बार-बार होने वाले संक्रमण भोजन के पाचन और अवशोषण में बाधा पहुंचाते हैं। संक्रमणों से भूख और भोजन की इच्छा में कमी हो सकती है और इस प्रकार भोजन के अंतर्ग्रहण की मात्रा और भी कम हो जाती है।

अल्पपोषण के लक्षण हैं —वजन और ऊंचाई में कमी, जल्दी थकान होना शारीरिक व मानसिक, संक्रमणों के प्रति सुग्राहिता, कम विकसित व ढीली पेशियां, दुर्बल और ढीले स्नायु, त्वचा का रूखापन, बालों व त्वचा के रंग में परिवर्तन, नेत्रश्लेष्मला (conjunctiva) में परिवर्तन, रतौंधी, मसूढ़ों से रक्तस्राव, प्रवाहिका की प्रवृत्ति, हड्डियों की वक्रता आदि। एक बच्चा जो ऊंचाई (लम्बाई) और उम्र के अनुसार सामान्य या मानक भार की दृष्टि से 10 प्रतिशत या इससे अधिक नीचे है अल्पपोषित समझा जाना चाहिए। इनमें प्रोटीन अंतर्ग्रहण की सुस्पष्ट कमी अत्यधिक होती है और शरीर में सूजन हो सकती है।

कुपोषण को रोकने के लिए भोजन का रोजमर्रा का अंतर्ग्रहण समय-समय पर आंक लिया जाना चाहिए। बच्चे के भोजन की आदतें बदल देनी चाहिए कि संतुलित आहार की व्यवस्था हो सके और हर प्रकार से सम्भव भोजन की विभिन्न किस्मों को सम्मिलित किया जा सके। प्रोटीनों, वसाओं, विटामिनों, लोहा, कैल्सियम और कमी वाले अन्य घटकों को सम्मिलित करके कमी को पूरा किया जाना चाहिए। गरीब लोगों के भोजन का चुनाव इस प्रकार का होना चाहिए कि वे सस्ते भी हों किन्तु उनमें आवश्यक घटक भी हों। ऐसे में मक्का, ज्वार, गेहूं के चोकर, सेम, मूंगफली, हरी सब्जियों, गाजर, अंकुर वाली दालों सरीखी चीजों का चुनाव करना चाहिए। जो कारक भोजन के अंतर्ग्रहण और अवशोषण में बाधा पहुंचाता है उसका उपचार कर लिया जाना चाहिए। यह कारक या तो सामान्य संक्रमण या आहार-पथ का रोग हो सकता है।

स्वस्थ बच्चे में अंतर्ग्रहण की बार-बार जांच कर ली जानी चाहिए ताकि यह देखा जा सके कि वह आवश्यकताओं के अनुसार पर्याप्त मात्रा में भोजन ग्रहण करता है या नहीं। हो सकता है कि उसको दिया हुआ भोजन उसे पसद न हो। यह भी हो सकता है कि वह मनोवैज्ञानिक रूप से खिन्न हो और चाव से न खा पाए, या यह भी हो सकता है कि वह इतनी जल्दी में हो कि पर्याप्त न खा पाए। इन सब का परिणाम होता है भोजन का कम अंतर्ग्रहण और अल्पपोषण।

जब तक इन सब कारकों पर एक साथ विचार नहीं किया जाता और साथ-साथ इनका उपचार नहीं किया जाता, परिणाम संतोषजनक नहीं होते। ऐसे बच्चों के लिए भोजन के बाद दूसरी महत्वपूर्ण चीज़ है आराम। इनके खेल के घंटे कम कर दिए जाने चाहिए और एक या दो घंटे का समय विश्राम अवधि के रूप में नेमी क्रिया का एक अंग बना लिया जाना चाहिए। इन्हें सोने के लिए भी जल्दी चला जाना चाहिए। खनिजों और विटामिनों के अलावा औषधियों का उपचार में कोई स्थान नहीं है।

आक्षेप (Convulsions):

बच्चे में आक्षेप तब कहे जाते हैं जबकि शरीर की कई पेशियां अचानक और बार-बार संकुचित होती व फैलती हैं और बच्चा उनको रोकने में असमर्थ होता है। इसमें सारा शरीर ही प्रभावित हो सकता है या गति एक ही ओर सीमित रह सकती है और कुछ में ये केवल एक ही शाखा तक सीमित रह सकते हैं। सामान्यतया व्यक्ति आक्षेप के दौरान चेतना खो बैठता है लेकिन ऐसे भी मौके हो सकते हैं कि बच्चे के होश में रहने पर ही आक्षेप वाली गति हो जाय।

आक्षेप आवेगों का परिणाम होता है, जो पेशियों में पहुंचकर उन्हें संकुचित होने के लिए निर्देशित करते हैं। इन आवेगों का उद्गम मस्तिष्क में होता है। इसलिए हरएक आक्षेप में उस कारण की खोज की जाती है जिससे मस्तिष्क में क्षोभ पहुंचा हो।

मस्तिष्क को संक्रमण द्वारा क्षति पहुंच सकती है, जैसा कि मस्तिष्कावरणशोथ (मेनिंजाइटिस) और मस्तिष्कशोथ में या जिस अवस्था में आक्सीजन की यथेष्ट मात्रा न पहुंच पाए जैसा कि कष्ट प्रसव, श्वसन-रोगों और काली खांसी के दौरे पड़ने पर; या यह भी हो सकता है कि रक्त-स्राव के कारण उसमें रक्त की आपूर्ति न हो। कुछ रसायनों अथवा विषालु पदार्थों के द्वारा भी यह विषाक्त हो सकता है, दुर्घटना के फलस्वरूप भी यह क्षतिग्रस्त हो सकता है, कपाल के अंदर अधिक तरल के जमा होने के कारण इसका संपीडन हो सकता है या यह भी हो सकता है कि वह कुपरि-वर्धित या कुरचित हो। तंत्रिका-ऊतक पर नियं-त्रण रखने वाले कैल्सियम सरीखे खनिजों की कमी हो सकती है और इस कारण तंत्रिका-तंत्र की संवे-दनशीलता बढ़ जाती है। ऐसा अपतानिका (टिटैनी) वाली स्थिति में होता है। कुछ अन्य कारणों से भी आक्षेप होते हैं। कुछ बच्चों में जब कभी किसी कारण ज्वर होता है तो आक्षेप हो जाते हैं, विशेषतया न्यूमोनिया, मलेरिया और तीव्र आंत्ररोग में। मिरगी वाले बच्चे, मस्तिष्कशोथ अथवा मस्तिष्कावरणशोथ से पीड़ित हुए बच्चे और मस्तिष्क के जन्मजात दोष वाले बच्चे बार-बार आक्षेपों से पीड़ित होते हैं। ऊपर बताए गए कारणों में आमाशय व आंत्र की गड़बड़ियां और तीव्र संक्रामक रोग बच्चों में आक्षेपों के सामान्य कारण हैं। मस्तिष्क की अपरिपक्व अव-स्था के कारण बड़े बच्चे की अपेक्षा नन्हा शिशु आक्षेपों के प्रति अधिक सुग्राही होता है।

बच्चे में आक्षेप होते ही माता-पिता प्रायः भयभीत हो जाते हैं और डाक्टर के मौके पर पहुंचने के पहले ये आक्षेप प्रायः समाप्त हो जाते हैं लेकिन हमेशा ऐसे में डाक्टर को बुलवा ही लेना चाहिए। इस दौरान गति आवश्यकता से अधिक सीमित नहीं रखनी चाहिए ताकि बच्चा अपने को क्षति न पहुंचा सके। बच्चे को पीठ के बल लिटाना चाहिए और उसके कपड़े ढीले कर देने चाहिए। उसके दांतों के बीच कपड़े की गद्दी रख देनी चाहिए ताकि जीभ कट न जाय। माथे पर ठंडा पानी डाला जा सकता है। मल विसर्जित कराने के लिए मलाशय में ग्लिसरीन वर्तिका डाली जा सकती है।

आक्षेप का तुरंत उपचार है मस्तिष्क का शामक। दौरा पड़ने के कुछ महीने बाद तक डाक्टर प्रायः बच्चे को यह शामक देता रहता है। आक्षेप के हर प्रकार का पूरी तरह से अन्वेषण किया जाना चाहिए। यह याद रखना चाहिए कि आक्षेप एक लक्षण है और लक्षण का उपचार करने से कोई संतुष्ट नहीं रह सकता। इसलिए कारण का खोज जाना बहुत जरूरी है और फिर उसका हर संभव प्रकार से उपचार किया जाना चाहिए।

•••

43

—डा० बी० बी० योध
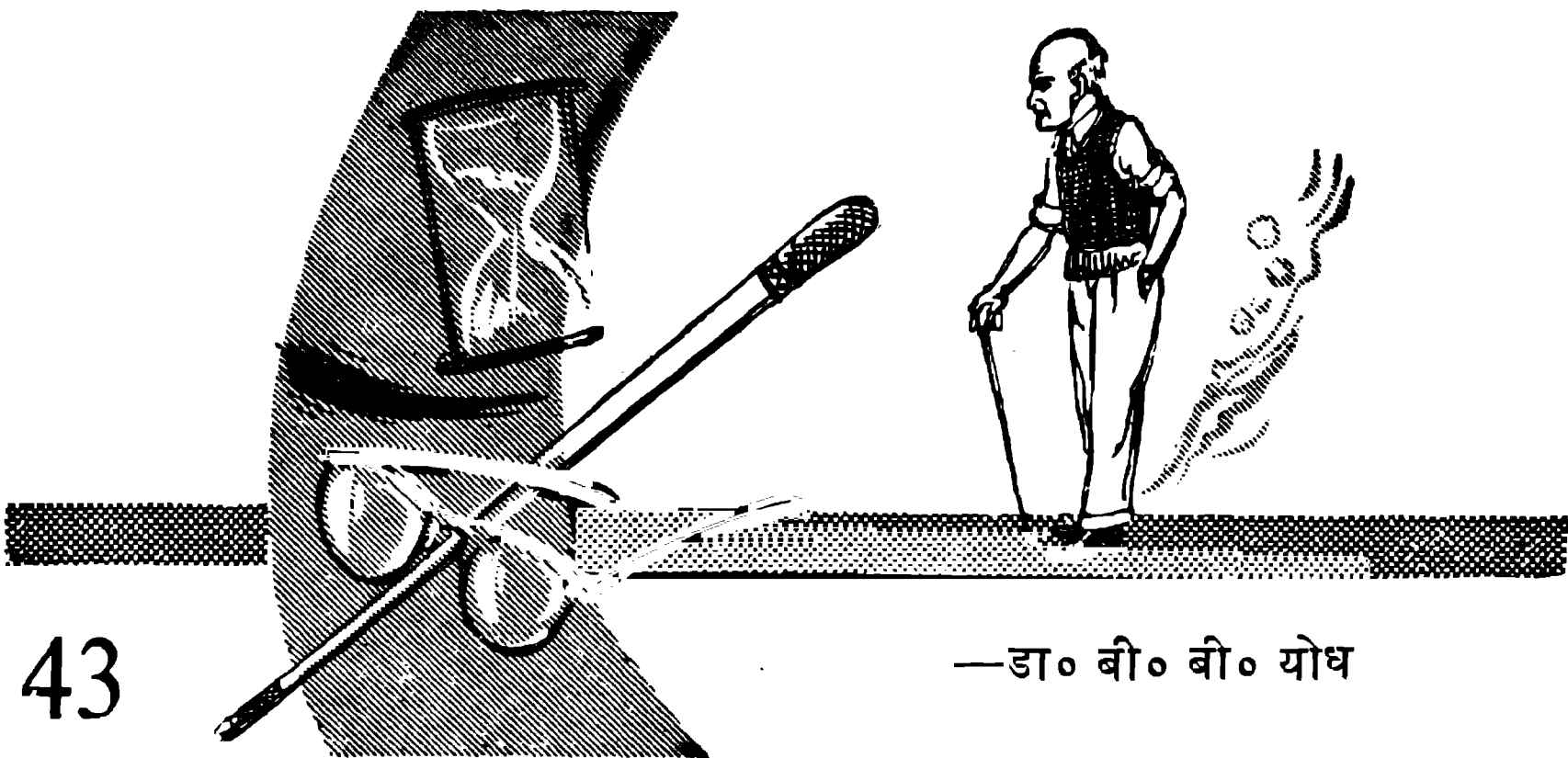
वृद्धावस्था

संपूर्ण चेतन पदार्थ में निरंतर परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन कई रूपों में होता है, जैसे कोशिका विभाजन, कोशिका वृद्धि, कोशिका विभेदन और अंततोगत्वा मृत्यु के रूप में।

वृद्धावस्था क्या है ?

वृद्धावस्था अपने आप में कोई चीज नहीं है। वृद्धावस्था के कारण वृद्धावस्था के कोई रोग नहीं हैं और यदि वातावरण द्वारा बाधा न पहुंचे और इसके फलस्वरूप कार्य व रचना के परिवर्तन तथा व्यपजनन के निरंतर प्रयत्न न हों तो कोई कारण नहीं कि जीवन सतत रूप से न चलता रहे। अभी कोई अधिक समय नहीं गुजरा है जब कि भारत में औसत आयु 27 वर्ष थी और अब यह करीब 51 वर्ष है। यह अलग-अलग देशों में अलग-अलग प्रकार से है और कुछ देशों में तो यह 70 या इससे भी अधिक हो गई है।

इससे पता चलता है कि किसी भी उम्र में मृत्यु बाहरी प्रभावों के परिणामस्वरूप होती है जो कि शरीर द्वारा समग्र रूप से नियंत्रित नहीं हो पाते। जन्म, इसके बाद एक चरम सीमा तक वृद्धि और फिर वृद्धि का कम होते जाना ही संपूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति है। विभिन्न स्तरों पर शरीर की चेतन कोशिकाओं की क्षमता या कार्यशक्ति वस्तुत: जन्म से ही कम होने लगती है लेकिन व्यक्ति को इसका पता नहीं चलता क्योंकि नयी रचनाओं से यह कमी निरंतर पूरी की जाती रहती है।

मृत्यु अवश्यम्भावी है। लेकिन रोगों द्वारा यह जल्दी हो जाती है, और ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती जाती है त्यों-त्यों ये रोग अधिक होते जाते हैं। शरीर की संरचना और कार्यों में जो परिवर्तन होते हैं वे वातावरणी प्रभावों के द्वारा परिवर्तित अनुक्रियाओं के फलस्वरूप होते हैं। ये अनुक्रियाएं शरीर के स्वास्थ्य के लिए अच्छी नहीं होती हैं और इसीलिए वृद्धावस्था में कुछ रोग अधिक होते हैं। ये रोग इन कारणों से होते हैं—1. चयापचय की गड़बड़ी, 2. चिरकारी संक्रमणों और 3. शरीर के विभिन्न भागों में होने वाली दुर्दम वृद्धि से। ये सभी किसी भी उम्र में प्रकट हो सकते हैं लेकिन चालीस के बाद कुछ अधिक ही होने लगते हैं।

*　*　*　*

डा. बी. बी. योध, एम. डी. (बम्ब.), एम. आर. सी. पी. (लन्द.); डी. टी. एम. एवं एच. (इंग.), भूतपूर्व अवै. कायचिकित्सक, जे. जे. अस्पताल, बम्बई।

अच्छा स्वास्थ्य और कुस्वास्थ्य के कारण :

अच्छा स्वास्थ्य मन और शरीर की वह अवस्था है, जिसमें व्यक्ति को यह अनुभूति नहीं होती कि वह कोई बोझ ढो रहा है। अधिकांश कार्य इतनी अच्छी तरह नियमित और स्वचालित होते हैं कि जिंदगी में आनंद छाया रहता है और अपने चारों ओर के वातावरण में गहरा लगाव होता है, चाहे वह परिवार हो, व्यवसाय हो अथवा विश्राम स्थल हो (चित्र 43.2)। स्वस्थ वृद्ध व्यक्ति अपनी कार्यशक्ति के अनुसार बिना अधिक परिश्रम के अपने जीवन का नियमन कर लेता है और यद्यपि उसकी क्रियाशीलता कम हो जाती है और अपना अधिकांश उत्तरदायित्व वह औरों को सौंप चुका होता है तो भी वह अपने और अपने वातावरण में संतोष का अनुभव करता है। वह अपने बच्चों और मातहतों के कामों में अधिक दखलंदाजी नहीं करता और जब उससे सलाह ली जाती है या वह दे सकता है तभी वह देता है अन्यथा वह अपनी नियमित जिंदगी बिताता है, मर्यादित रूप से सोता व खाता है और अपनी ज़िंदगी के बाद वाले वर्षों का आनंद उठाता है।

अगर ऐसा नहीं होता तो उसे स्वस्थ नही कहा जाएगा। रोगी अवस्थाओं के अलावा, जो कि एकदम आसानी से पहचान ली जा सकती हैं, वह अपनी उम्र का अनुभव करने लगता है और अपने घर अथवा दफ्तर या अन्य स्थान की परिस्थितियों के प्रति अपने को संमजित नहीं कर सकता। वह जिंदगी के उस बोझीले तनाव का अनुभव करता है जो उसने बीमारी के समय को छोड़कर पहले कभी अनुभव नहीं किया था। वृद्धावस्था की धीरे-धीरे होने वाली यह अशक्तता उम्र के कारण नहीं होती बल्कि एक दोषपूर्ण चक्र की शुरूआत, शरीर के कार्यों को प्रभावित करने वाले मानसिक तनाव और मन को प्रभावित करने वाले शारीरिक कार्यों के परिवर्तन के कारण होती

चित्र 43.3—वृद्धावस्था का एक शौक—चित्रकारी

चित्र 43.2—वृद्धावस्था का एक शौक—बागवानी

चित्र 43.4—वृद्धावस्था का एक शौक—शतरंज का खेल

है। पहले कि तरह वाली तेजी से नयी कोशिकाएं नहीं बनतीं। नष्ट हुई कोशिकाएं भी जल्दी नहीं हटायी जातीं। शरीर में जो गरमी उत्पन्न होती है उसमें भी परिवर्तन आ जाता है, चायपचय मंद पड़ जाता है, भोजन का पूरी तरह से उपभोग नहीं होता और शरीर के विभिन्न भागों में वर्ज्य पदार्थ जमा होने लगते हैं। चायपचय के अंतर्जात दोष जो कि इतने समय तक चुप थे और जो आनुवंशिक प्रभावों के परिणाम होते हैं प्रकट होने लगते हैं और इसके परिणामस्वरूप कुछ रोग की अवस्थाएं उत्पन्न हो जाती हैं। वृद्ध अवस्था से संबंद्ध अधिकांश चिरकारी गड़बड़ियों या रोगों का यही निहित कारण हो सकता है। यह पहले ही सिद्ध किया जा चुका है कि अधिक रक्त दाब, मधुमेह हृद्धमनी तथा रक्तवाहिका के अन्य रोगों, गाउट, ऊतक-कोशिकाओं में दुर्दम परिवर्तन करके कैंसर-मय रचनाएं उत्पन्न करने आदि में यह सही उतरता है। ऊपर बताई गई प्रत्येक अवस्था में एक निहित संरचनात्मक कारक और अनेक वातावरणी प्रभाव होते हैं। जैसे कि शारीरिक अथवा रासायनिक संक्रमण व क्षोभ। अंतःस्रावी ग्रंथियों की क्रियाशीलता से काफी परिवर्तन होते हैं और यह चयापचय के रोगों को उग्र बनाने में योग देती है। अतः महसूस यह करना जरूरी है कि वृद्धावस्था से संबद्ध इन रोगों में एक साथ कई कारक लगे रहते हैं और जब तक प्रत्येक की भूमिका को सावधानी से अलग से नहीं पहचाना जाता तब तक सारे प्रक्रम को समझना और उनके निबटना बहुत कठिन होगा।

वृद्धावस्था की समस्या :

सामान्यतया कुस्वास्थ्य के शुरू होने वाले लक्षण इतने मंद होते हैं कि कई लोग जो चालीस या इससे अधिक उम्र के हो जाते हैं, इन्हें गंभीरता से नहीं लेते। वे यह अनुभव नहीं करते कि वे अब वे नहीं हैं जो कुछ साल पहले थे। केवल अपनी इच्छा शक्ति के बल पर अपनी शारीरिक और मानसिक कठिनाइयों को दूर करने के प्रयत्न में वे अनियमित रूप से अधिक परिश्रम करते हैं, अधिक खाते हैं, सप्ताह में सभी दिन रात-रात तक कार्य करते हैं, जिम्मेदारियों को कम करने या छोड़ने के बदले उन्हें और ओढ़ते जाते हैं, दूसरों के प्रति वहम करते हैं, अपने में श्रेष्ठता की भावना विकसित कर लेते हैं और अपने परिवार, मित्रों अथवा कायचिकित्सकों की सलाह की उपेक्षा करने लगते हैं। शरीर और मन की यह अवस्था ढलती उम्र की प्रतिक्रिया है और इसे वृद्धावस्था का आरंभिक लक्षण और चिरकारी रोग समझा जाना जाहिए।

वैसे बहुत कम व्यक्ति ऐसे होते हैं जो चिंतित होकर स्वस्थ रहना चाहते हैं, अपने लक्षणों को बढ़ा-चढ़ा कर कहते हैं और एक डाक्टर से दूसरे डाक्टर तथा एक नीम हकीम से दूसरे नीम हकीम के पास जाकर अपना स्वास्थ्य अच्छा रखने और अपने को चिरयुवा बनाए रखने की आशा लगाए रखते हैं। लैंगिक दृष्टि से अपने को सक्रिय रखने के लिये, विशेषकर जब कि जवान और अपेक्षा रखने वाली पत्नी हो, वे किसी भी सीमा तक जाकर मैथुनक्षम बने रहने के लिए उपाय खोजते रहेंगे और विटामिनों, वृषणीसत्वों तथा अन्य सत्वों की डोज़ लेते रहेंगे। इस प्रकार वे अपनी उम्र का अधिक प्रदर्शन करके नाखुश होते रहते हैं।

ये सामान्य प्रकार हैं। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि मानसिक दृष्टि से ऐसे व्यक्तियों के व्यवहार में सुस्पष्ट परिवर्तन होता है। वृद्ध लोगों की शिकायतों या कष्टों को विस्तार से गिनाने से कोई लाभ नहीं पहुंचेगा लेकिन फिर भी निम्नलिखित बातों से उनमें से कुछ की उत्पत्ति का ज्ञान हो सकेगा।

क्षीण पाचन :

दुष्पचन, गैसें, कब्ज, पेट ठीक से साफ न होने की अनुभूति, रेचक व एनीमा लेने की आदत, भूख न लगना, कुपोषण और मोटापा इनमें से कुछ कैन्सर के आरंभिक लक्षण हो सकते हैं।

इसलिए यदि इन लक्षणों में एक निश्चित अवधि में उपचार द्वारा सुधार नहीं होता तो विशेषज्ञ डाक्टर की सलाह लेना बेहतर रहता है।

मूत्र-कष्ट : शरीर में दर्द, हल्का-हल्का पीठ का दर्द, पेशाब करते समय दर्द होना और/अथवा बारबार पेशाब आना, अधिक मात्रा में पेशाब आना, पेशाब शुरू करते समय कठिनाई होना — ये लक्षण प्रॉस्टेट ग्रंथियों के बढ़ जाने से हो सकते हैं। इनमें से कई कष्टों को उचित उपचार द्वारा ठीक किया जा सकता है।

श्वसन-कष्ट : निरंतर सूखी खांसी, श्वास-हीनता, सांस छोड़ने में कठिनाई, खांसी और कफ के साथ ज्वर का आक्रमण — ये लक्षण अस्थायी होते हैं और संक्रमण के परिणामस्वरूप होते हैं। चिरकारी श्वसनीशोथ प्रायः कष्टकारी होता है। आकस्मिक रूप से खांसी के साथ थूक में खून आना किसी भयानक रोग का आरंभिक संकेत है। इसलिए बुद्धिमत्ता इसी में है कि इन लक्षणों की उपेक्षा न की जाय।

हृद् रोग और अधिक रक्त दाब : नींद न आना, श्वासहीनता, छाती में दर्द अथवा बेचैनी, पैरों का शोफ (पानी जमा होना) आदि इनके लक्षण हैं और ऊतकों की शक्ति में कमी हो जाने के कारण शरीर दुर्बल होता जाता है।

अंतःस्रावी विकार : मधुमेह, बढ़े हुए प्रॉस्टेट, त्वचा अथवा श्लेष्मा झिल्लियों की वर्णकता इनके लक्षण हैं।

हड्डी, संधि और पेशियों के विकार : हड्डियों और पेशियों में दर्द व वेदना, जोड़ों में दर्द व कड़ापन—अधःपृष्ठ, कंधे, घुटने व कुछ छोटे जोड़ों व पेशियों का कड़ापन, पीठ का झुकना व पेट का निकलना इनसे संबद्ध विकार हैं। हड्डियां भंजनशील होकर बड़ी जल्दी टूट जाती हैं। इन अधिकांश विकारों के बचाव और उपचार के लिए सबसे अच्छा तरीका है गतिशील बने रहना और एक जगह बैठकर काम करने की आदत को छोड़ना।

तंत्रिकीय और मानसिक कष्ट : अनिद्रा, बाधित निद्रा, चिंता, अवसाद, काम में उत्साह न होना, जिंदगी के निस्सार लगने की अनुभूति होना, कंप, चित्त की एकाग्रता न होना, मानसिक शांति में बाधा, क्षोभ, वहम, भुलक्कड़ी स्वभाव, विरक्ति इनसे संबद्ध लक्षण हैं। कई एकाकीपन का अनुभव करते हैं और कुछ के साथ रहना मुश्किल हो जाता है। सबसे उत्तम यह है कि चिंता करना छोड़ देना, लड़ाई-झगड़ों से बचना और बदलती परिस्थितियों के प्रति अनुकूलित होते हुए समंजन स्थापित करना चाहिए।

सार रूप में कहना चाहें तो कहेंगे कि विशेष रूप से वृद्धावस्था के कुछेक रोग हैं या बिलकुल नहीं है। ऊतकों का सामान्य रूप से क्षय होता है। त्वचा कुछ-कुछ रूखी हो जाती है और उसका लचीलापन कम हो जाता है। हृदय की रक्त-वाहिकाओं, मस्तिष्क और वृक्कों के विकार आम हैं। अर्बुद की रचना एक विशेष प्रकार की सुग्राहिता है क्योंकि यह कैन्सर भी हो सकता है और इसकी उपेक्षा करना कभी-कभी खतरनाक सिद्ध हो सकता है। इस प्रसंग में विस्तृत जानकारी के लिए देखिए अध्याय 44 — 'कैन्सर'।

तरुण अवस्था और वृद्धावस्था में रोग प्रक्रमों के प्रति अनुक्रिया का यही प्रमुख अंतर है कि वृद्धावस्था में प्रतिवर्त और स्वयं सुधार करने वाली प्रक्रियाएं मंद पड़ जाती हैं। नष्ट हो जाने वाली कोशिकाओं के बदले नई कोशिकाएं आसानी से नहीं बनतीं। इनका विस्थापन प्रायः उसी प्रकार की कोशिकाओं द्वारा नहीं बल्कि रेशेदार ऊतकों द्वारा किया जाता है। इसीलिए अस्थिभंग बहुत मुश्किल से ठीक होते हैं, संक्रमण काफी लंबे समय तक के लिए अपने चिन्ह छोड़ जाते हैं, भूख कम लगती है और पाचन, अवशोषण व स्वांगीकरण की प्रतिक्रियाएं गड़बड़ा जाती हैं।

इस तरह कोई भी रोग हो वृद्धावस्था में

पूर्वानुमान में सावधानी बरतनी चाहिए। फिर भी वृद्ध रोगी जिस तेजी से ठीक हो जाते हैं वह भी एक चमत्कार ही है। हाल के वर्षों में आधुनिक उपचार और संक्रमी व असंक्रमी दोनों प्रकार के तीव्र तथा चिरकारी रोगों के आरंभिक पुनरुत्थान में यह सहूलियत हो गई है कि पूर्वानुमान द्वारा बहुत अच्छी सहायता मिल जाती है।

उपचार के सिद्धांत : अगर सही निदान नहीं हुआ है तो सही उपचार संभव नहीं है। वृद्धावस्था में डाक्टर की सहायता बहुत जरूरी है क्योंकि निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर केवल वही दे सकता है :

क्या कारणों का निराकरण किया जा रहा है? वे कौन से लक्षण हैं जिनकी देखभाल तुरंत की जानी है ताकि श्रांति (exhaustion) से बचा जाये?

क्या पोषण उचित चल रहा है? क्या त्वचा व श्लेष्मा झिल्लियों की देखभाल ठीक से की जा रही है?

क्या रोगी को बिस्तर में लिटाए रखना जरूरी है? क्या फेफड़े ठीक तरह से कार्य कर रहे हैं?

क्या मूत्र और आंत्र संबंधी क्रियाएं व्यवस्थित रूप में चल रही हैं? क्या भौतिक चिकित्सा और पुनर्वास का संकेत दिया गया है?

यदि तुरंत नहीं तो संभवतया इनका इस्तेमाल कब किया जा सकता है?

वृद्धों के सामान्य रोग*

1. मधुमेह : अधिकांश रोगी अनदिखे रह जाते हैं क्योंकि उनमें लंबे समय तक कोई लक्षण प्रकट नहीं होते। जब उपद्रव या जटिलताएं हो जाती हैं तब मधुमेह की ओर ध्यान जाता है। इस अवस्था में, सामान्यतया बच्चों की तरह यह तीव्र रूप में नहीं होता। इसलिए अत्यधिक भूख व प्यास व बार-बार पेशाब आना जैसे लक्षण नहीं हो सकते हैं। त्वचा का संक्रमण व खुजली, झुनझुनी व सुन्नता आदि लक्षण पाए जाते हैं। पेशाब में शर्करा पाई जाती है और इसके साथ ही अधिक रक्त शर्करा स्तर भी पाया जा सकता है। मधुमेह का अनुमान होने के पहले कई महीनों तक शाखाओं के सिरे वाले भागों में असामान्य प्रकार की ठंड वाली बेचैनी का अनुभव हो सकता है। आनुवंशिकता, दीर्घकालीन मानसिक तनाव और मोटापा रोग के महत्वपूर्ण कारक हैं। कभी-कभी हृद् रोगों अथवा तंत्रिका-तंत्र के रोगों के लक्षण मूल रूप में मधुमेह के प्रकट लक्षण हो सकते हैं।

सबसे महत्वपूर्ण और हानिकारक प्रवृत्ति है आकस्मिक रूप से पेशाव में पाई गई शर्करा की अपेक्षा करना। यदि उचित रूप से अन्वेषण नहीं किए जाते और डाईटिंग, मुंह द्वारा ली जाने वाली औषधियों से उपचार और यहां तक कि थोड़े समय तक इन्सुलिन के इंजेक्शन लेना इत्यादि अन्ट-शन्ट कोशिशें की जाती हैं। पेशाब से शर्करा गायब हो जाती है और अच्छा होने की भावना व्याप्त हो जाती है और धीरे-धीरे जो उपचार लंबे समय तक चलना चाहिए था वह छोड़ दिया जाता है। और होता क्या है कि थोड़े समय बाद फिर पुराने लक्षण या अन्य नए लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

अतः वृद्ध लोगों में मधुमेह की प्रत्याशा की जानी चाहिए, ध्यानपूर्वक विधिवत् हर छह महीने में एक बार इसकी जांच की जानी चाहिए और यदि परिवार में मधुमेह का इतिहास, मोटापा, अधिक रक्त दाब और ऊपर बताए गए लक्षण है तो इसकी जांच और अधिक सावधानी से और अधिक बार की जानी चाहिए। मधुमेह से संबंधित अधिक जानकारी अध्याय 37 में दी गई है।

2. अधिक रक्त दाब : इसकी उत्पत्ति अस्पष्ट है। प्रायः इसका पता आकस्मिक रूप से होता है। स्वस्थता और बीमे के नेमी डाक्टरी निरीक्षण से

*इन रोगों और बढ़ी प्रॉस्टेट ग्रंथियों, दमा सरीखे अन्य विकारों का विस्तृत वर्णन पुस्तक में अन्यत्र किया गया है।

ही प्रायः इनकी जानकारी हो पाती है। सामान्यतया मामूली लक्षण विद्यमान होते हैं लेकिन इनकी उपेक्षा कर दी जाती है। समय-समय पर सिरदर्द, सिर चकराने, चक्कर आने, गहरे श्वसन के दौरे पड़ना, भारीपन व छाती की हड्डी के पीछे कभी-कभी दर्द होना, थकान महसूस होना, सारे शरीर में दर्द व वेदना होना, बार-बार पेशाब आना और समय-समय पर अन्य कई लक्षणों का प्रकट होना संबद्ध लक्षण हैं। ये लक्षण बड़ी जल्दी दब जाते हैं और उनका होना मानसिक तनाव, वातावरणी आर्द्रता व गर्मी, अनिद्रा, कब्ज आदि के कारण समझा जाता है। लंबे समय तक रक्त दाब भी कम हो सकता है और रक्त दाब लेने पर बढ़ा हुआ भी नहीं हो सकता है। इस तरह ऐसी स्थिति तब तक चलती रहती है जब तक कि कोई घटना, विशेषतया हृद्पात की घटना नहीं हो जाती। तब रक्त दाब अधिक हो जाता है, हृदय का बायां निलय आकार में बढ़ जाता है, मूत्र अपसामान्य हो जाता है और इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम में परिवर्तन दिखलाई देते हैं।

इस अवस्था तक अनुत्क्रमणीय परिवर्तन नहीं हो पाते और आहार नियमन, मध्यम प्रकार के व्यायाम, नमक के सीमित प्रयोग, मूत्रलपदार्थों के प्रयोग, शिथिलकारी औषधियों के प्रयोग और घर व दफ्तर के वातावरण के उद्विग्नकारी कारकों के निराकरण द्वारा उचित उपचार से इनकी प्रगति को रोका जा सकता है और धीरे-धीरे रोग की दशा में प्रतिक्रमण देखा जा सकता है।

खतरनाक रोग के विकसित होने का भय व्याप्त हो जाता है और इससे मानसिक तनाव भी बढ़ सकता है। इससे रोग की प्रगति अनुत्क्रमणीय हो जाती है।

चूंकि प्रत्येक रोगी की समस्याएं वैयक्तिक होती हैं, इसलिए यह अनिवार्य है कि विशेषज्ञ डाक्टर की सलाह जल्दी ली जानी चाहिए। मधुमेह की तरह भोजन, नमक के अंतर्ग्रहण, विश्राम व व्यायाम से संबद्ध नियमित जीवन बिताने से भी अधिकांश रोगियों को फायदा पहुंचेगा।

3. वातस्फीति, चिरकारी श्वसनीशोथ : (Emphysema, Chronic bronchitis) : मध्य और वृद्ध अवस्था का यह सामान्य विकार है और इसको ठीक नहीं किया जा सकता। इसमें केवल सुधार किया जा सकता है। इसमें सुव्यवस्था की भारी जरूरत होती है। निरंतर अथवा अंतरालों पर ताजी हवा, कभी-कभी 5 प्रतिशत कार्बन डाइ-आक्साइड के साथ आक्सीजन की आवश्यकता होती है। उपचार का उद्देश्य यही होता है कि श्वसनी-मार्ग को विवृत या खुला और संक्रमण-युक्त रखा जाये। संक्रमण करने वाले कई जीव हो सकते हैं। स्रावों को बाहर निकालने वाली संस्थिति (posture) सुविधा की अवधि तक दिन में कई बार अपनाई जानी चाहिए।

विशेषज्ञ डाक्टरी सहायता और नियमित जीवन, धूम्रपान बंद करने, अधिक हवादार स्थान में सोने, कम मात्रा में कई बार भोजन करने से इन चिरकारी अशक्त रोगियों की जीवन अवधि को कई साल और बढ़ाया जा सकता है।

4. तंत्रिका-तंत्र के रोग : ये प्रायः मस्तिष्क से संबद्ध होते हैं और वृद्ध लोगों में आमतौर पर पाए जाते हैं। ये व्यपजननी अथवा वाहिका-विकार हो सकते हैं जिनका परिणाम सामान्यतया लकवा होता है। इसका उपचार पूरी तरह से लाक्षणिक होता है।

लकवा व संधिशोथ वाले पुराने रोगियों की देखभाल बहुत अच्छी तरह से होनी चाहिए। हर रोगी में पुनरुत्थान का प्रयत्न किया जाना चाहिए (विस्तृत जानकारी के लिए पुनरुत्थान वाला अध्याय 51 देखिए)। ऐसे रोगियों में उचित रूप से की जाने वाली भौतिकचिकित्सा अधिक महत्व की होती है।

जराजन्य व्यपजनन प्राय: 70 वर्ष की उम्र के बाद होता ही है। अच्छी देखभाल व उचित पोषण और जहां आवश्यक हो वहां शामकों का प्रयोग जीवन को सुविधाजनक बना कर रखेगा। शरीर और मस्तिष्क की क्रियाशीलता आवश्यक है और जब तक हो सके इसे उत्साहित किया जाना चाहिए। वृद्ध व्यक्ति स्वंय अपनी मदद करके अच्छा व उपयोगी जीवन बिता सकते हैं। इस चिकित्सा के बाद वे परिवार पर बोझ बन कर नहीं रहते वरना वे बोझ समझे ही जाते हैं।

* * *

वयोवृद्धि एक सतत और मंद प्रक्रम है। किसी विशेष उम्र को वृद्ध वाली उम्र बताना संभव नहीं है। इसमें भारी विविधता हो सकती है। शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य और ओज ही वृद्धवस्था को निर्धारित करते हैं।

वृद्धावस्था में अच्छा स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए निम्नलिखित मुख्य बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए :

1. चिंताओं और झगड़े-फसादों से दूर रहिए और मानसिक शांति कि अवस्था में रहने की कोशिश कीजिए। आपके विचारों और आपके परिपक्व बच्चों के विचारों में अंतर होना स्वाभाविक है। इसलिए जो कुछ घर में घटित होता है उस पर चिंता किए बिना बच्चों को अपनी राह चलने दीजिए। और अपनी सलाह तभी दीजिए जब कि मांगी गई हो। यही सिद्धांत अपने पड़ोसियों पर लागू करिए।

2. आनंद की उन बातों में भाग लीजिए जिनका सुख आप अभी भी ले सकते हैं और उन इच्छाओं से दूर रहिए जिनका वहन आप नहीं कर सकते।

3. यह याद रखिए कि तरुण अवस्था वाले क्रिया कलापों में हर समय लिप्त नहीं रहा जा सकता।

4. पास-पड़ोस में उत्साह और अभिरुचि रखिए। जीवन से बहुत कुछ आनंद और सुख लिया जा सकता है (चित्र 43.2)।

5. मर्यादित और संतुलित आहार करिए। वृद्धावस्था में भोजन वृद्धि के लिए नहीं केवल ऊतकों की मरम्मत के लिए लिया जाता है। अंधाधुंध खाने की आदत खत्म करिए क्योंकि वृद्धावस्था में पाचनशक्ति बहुत कम हो जाती है। स्वास्थ्य के लिए हरी सब्जियां, फल और दूध विशेष रूप से उत्तम होते हैं।

6. काफी पानी पीजिए क्योंकि इससे पेशाब और मल का विसर्जन सुचारु रूप से होता है। बहुत कम पानी से मल बहुत कड़ा विर्सजित होता है। सामान्य प्रकार की प्यास उपयुक्त होती है।

7. हर क्षेत्र में नियमितता लाभकारी होती है।

8. यदि डाक्टर ने मना न कर रखा हो तो नियमित और मध्यम प्रकार के व्यायाम से चुस्त बने रहिए। याद रखिए कि वृद्धावस्था में हड्डियां भंजनशील हो जाती हैं और मामूली झटके से ही टूट जाती हैं।

9. थकान को दूर रखिए क्योंकि यह हानिकारक है।

10. यथेष्ट आराम और अबाधित नींद लीजिए। सुबह उठने पर ताजा महसूस किया जाना चाहिए।

11. किसी रोग अथवा संक्रमण की उपेक्षा मत करिए क्योंकि बुढ़ापे में प्रतिरोध क्षमता कम हो जाती है। मामूली ठंड न्युमोनिया में बदल सकती है। अपने डाक्टर की तुरंत सलाह लीजिए।

12. अपने स्वास्थ्य की अपसामान्यता की सूचना तुरंत अपने डाक्टर को दीजिए। यह या तो

केवल अपाचन या बिना दर्द वाली मामूली सूजन कुछ भी हो सकती है। अपने दर्द और वेदनाओं का विशेष ध्यान रखिए, विशेषकर जबकि कि वे देर तक बने रहते हैं या बार-बार होते हैं।

13. यदि कोई विशेष शिकायत या कष्ट नहीं है तब भी आप साल में एक बार अपने डाक्टर से अपने स्वास्थ्य की जांच कराइए। समय पर आपको संकेत देने के लिए हृदय, रक्त दाब, मूत्र आदि के निरीक्षण समेत शरीर की पूरी जांच आवश्यक है। अपने डाक्टर पर विश्वास रखिए और यदि आगे विशेषज्ञ की सलाह की आवश्कता पड़ती है तो उसके पास भी अपने डाक्टर के माध्यम से ही जाइए क्योंकि उसे आपके शारीरिक गठन और कष्टों का बहुत लम्बे समय से ज्ञान रहता है और विशेषज्ञ को उनकी जानकारी वह अच्छी तरह दे सकता है।

— संपादक

• • •

—डा० वी० आर० खनोलकर

44

कैन्सर
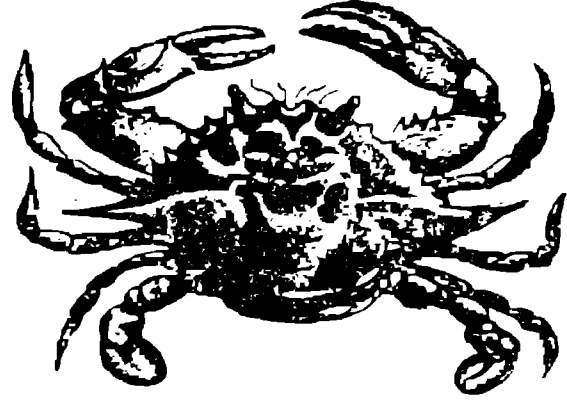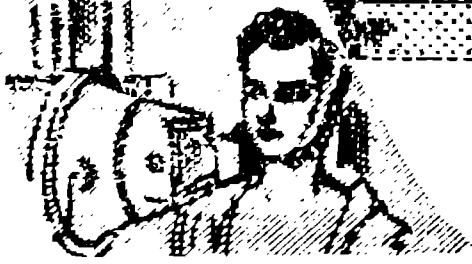
अपने देश में कैन्सर की वृद्धि के कारण कई लोगों में भारी चिंता उत्पन्न हो गई है। संभवतया उन्होंने कैन्सर से पीड़ित किसी मित्र अथवा रिश्तेदार को देखा होगा जो काफी अधिक भुगतने के बाद उसका शिकार हो गया होगा। स्वाभाविक है कि वे इस तथाकथित "रहस्यमय रोग" और उससे संघर्ष के जो प्रयत्न किए जा रहे हैं उनके बारे में कुछ जानना चाहेंगे। दुख की बात है कि कैन्सर के मुख्य लक्षणों के बारे में लोगों को गलत जानकारी है और उनकी इस भ्रांति में नासमझ प्रेसवालों का भी काफी हाथ है।

कैन्सर का ज्ञान लोगों को क्यों होना चाहिए ?

आम आदमी को कैन्सर के बारे में भ्रांत धारणाएं हैं, जो उसे अपने रिश्तेदारों और दोस्तों के क्षेत्र वाले रोगियों वे प्राप्त हुई होंगी। कई मामलों में यह अज्ञान और गलत जानकारी रोगी के विरुद्ध भी जा सकती है। उदाहरण के लिये, कोई व्यक्ति एक सूजन या शरीर की किसी अनियमितता को अस्थाई या मामूली प्रकार का समझ कर उसकी उपेक्षा कर सकता है और यह कभी भी अनुमान नहीं कर सकता कि उसके शरीर में एक भयानक रोग स्थापित होने का प्रयत्न कर रहा है। इसके विपरीत अतिभीत व्यक्ति मामूली लक्षणों में कैन्सर में छवि देखकर आतंकित हो सकता है। इससे वह मनोवैज्ञानिक रूप से परेशान ही नहीं होगा बल्कि वह गलत उपचार द्वारा अपने को नुकसान भी पहुंचा देगा। इसलिए लोगों को यदि कैन्सर के आधारभूत जैव संकल्पनाओं, उसके परिवर्धन की प्रक्रिया और उचित उपचार के बारे में कुछ जानकारी हासिल हो जाय तो अन्यंत आतंकित होने और अति लापरवाही बरतने वाली दोनों पराकाष्ठाओं का निराकरण हो जाएगा।

कैन्सर क्या है ?

कैन्सर ऐसा रोग है जो सभी जीवधारियों को प्रभावित करता है। शरीर में ऐसा कोई अंग नहीं है जिसमें कैन्सर न हो सकता हो। अधिकांश कैन्सरों का सबसे स्पष्ट लक्षण है अपने उत्पत्ति स्थान के ऊतकों में एक नई रचना, ग्रंथि अथवा अर्बुद का उत्पन्न होना। कैन्सर की दूसरी विशेषता है कि मौलिक अर्बुद शरीर के कुछ दूरस्थ भागों में निवह या कॉलनियां बनाता है (द्वितीयक अर्बुद या विक्षेप —metastases)। रोग के

*　　*　　*　　*

डा. वी. आर. खनोलकर, एम. डी. (लन्दन), निदेशक, भारतीय कैन्सर अनुसंधान केंद्र, बंबई; भूतपूर्व कुलपति, बंबई विश्वविद्यालय।

इसी संतति अर्बुद बनाने वाले लक्षण के कारण संतोषजनक उपचार नहीं हो पाता। कैन्सर का यदि उपचार न किया गया तो हमेशा वह रोगी की मृत्यु कर देता है। इसीलिए इसे दुर्दम अर्बुद भी कहा जाता है।

कैन्सर अन्य रोगों से कई बातों में भिन्न है। तीव्र और कुछ चिरकारी संक्रमण अपनी उपस्थिति स्वप्रत्यय लक्षणों से प्रकट कर देते हैं जो आरंभ में ही रोगी और उसके कायचिकित्सक द्वारा पहचान लिए जाते हैं। पोषण की कमी से होने वाले चयापचयी विकारों और रोगों की ओर रोगी, उसके रिश्तेदारों और दोस्तों का ध्यान खिच जाता है लेकिन जहां तक कैन्सर का संबंध है इसकी आरंभिक पहचान और प्रभावकारी उन्मूलन के खिलाफ दो विपरीत परिस्थितियां कार्य करती हैं। इसके कोई आरंभिक चेतावनी देने वाले लक्षण नहीं होते, जैसे कि दर्द, ज्वर आदि कि रोगी तुरंत राहत पाने का यत्न करे। फिर कैन्सर कोशिकाएं भी परवर्तित सामान्य कोशिकाएं हैं जो शरीर के लिए बाहरी पदार्थ नहीं। कई औषधियां हैं जो बड़ी जल्दी कैन्सर कोशिकाओं को नष्ट कर देती हैं लेकिन वे साथ ही रोगी के अन्य जीवनक्षम कोशिकाओं को भी नष्ट कर देती हैं। अतः इनका व्यावहारिक महत्व नहीं रह जाता।

कैन्सर कई प्रकार के होते हैं। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कोई भी अपसामान्य, अनियंत्रित दुर्दम रचना कैन्सर है। पिछले 50 साल के रोगलक्षण और प्रायोगिक प्रेक्षणों से पता चलता है कि विभिन्न ऊतकों के कैन्सर एक दूसरे से भिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया करते हैं, यद्यपि उनमें अनेक समान लक्षण होते हैं। यह अंतर उसके परिवर्धन स्थल, ऊतक विशेष और कोशिकाओं के लक्षण पर निर्भर करता है जो मिलकर कैन्सर की रचना करते हैं। त्वचा सरीखी आस्तर वाली झिल्लियों वाले अधिकांश कैन्सर नीचे के संयोजी ऊतक और पेशियों के कैन्सर की अपेक्षा कम दुर्दम और आसानी से ठीक होने वाले होते हैं।

हरएक अर्बुद कैन्सर नहीं होता। कैन्सर जब शुरू होता है तो कोशिका-गुणन और आंशिक अथवा पूर्ण विभेदन का प्रक्रम शुरू हो जाता है। लेकिन नव परिवर्धित कैन्सर कोशिकाएं कोशिका नियामक प्रक्रिया के प्रति कोई अनुक्रिया नहीं दिखलाती हैं। अर्बुद कोशिकाएं तब तक गुणित होती रहती हैं जब तक वे एक मांसल पुंज अथवा नई रचना नहीं बना लेतीं, जो कि आसपास के सामान्य ऊतक पर आक्रमण करती है (चित्र 44.2 और 44.3)। यह अपसामान्य, अनियंत्रित, स्वसंचालित प्रचुरोद्भवन (proliferation—बेरोक-टोक के बढ़ना) कैन्सरमय रचना का विशिष्ट लक्षण है और केवल इस प्रकार का लक्षण दिखलाने वाले अर्बुदों को ही कैन्सर कहा जाता है।

कैन्सर का कारण :

मानव कैन्सर के सन्दर्भ में यह बताना बहुत कठिन है कि वह सही प्रक्रिया क्या है जिससे कैन्सर उत्पन्न होता है। लेकिन संभवतया यह कई कारकों की परस्पर क्रिया से उत्पन्न होता है और निरंतर चलने वाली घटनाओं की लंबी श्रृंखला का परिणाम होता है। अब तक के विवरण से श्रृंखला की एक या अधिक कड़ियों की झांकी मिलती है और इससे घटनाओं के पूरे अनुक्रम की रूपरेखा ज्ञात करना सरल नहीं है। संभवतया विभिन्न अंगों में विभिन्न प्रकार के अर्बुदों में पृथक् आनुवांशिक और अन्य कारक स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं।

सामान्य रूप से कैन्सर करने वाले व्यावसायिक कारक ऐसा केवल शरीर के विशिष्ट अंगों में ही करते हैं। व्यावसायिक कैन्सर के सुस्थापित कारणों की सूची काफी अधिक है। तारया कोलतार, आयनकारी विकिरण (ऐक्स-रे, रेडियम) और सूर्य का प्रकाश त्वचा का कैन्सर कर सकते हैं, यदि संपर्क बहुत तीव्र और लंबे समय तक रहता है। संश्लेषी रंजकों के निर्माण में प्रयुक्त होने वाले ऐरोमेटिक
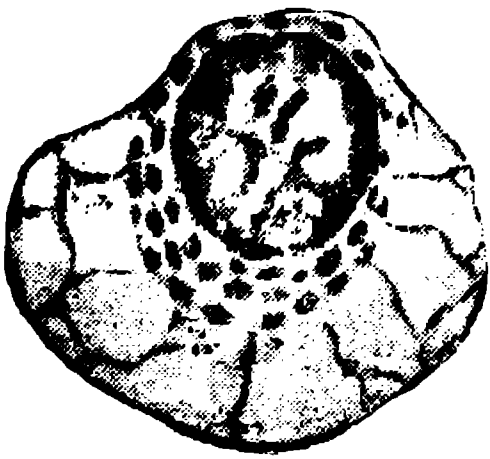
चित्र 44.2—मृदम अर्बुद
बीच में घना काला और सुस्पष्ट पुंज ही अर्बुद है।

चित्र 44.3—दुर्दम अर्बुद
बीच का अनियमित शाखा-प्रवर्धों वाला काला पुंज ही कैंसरमय भाग है।

एमीन मूत्राशय का कैन्सर करते हैं। रेडियम और अन्य रेडियोऐक्टिव तत्व हड्डी का कैन्सर उत्पन्न करते हैं। यह स्पष्ट हो गया है कि किसी भी प्रकार का घाव या क्षति जो अधिक समय तक चलती है प्राय: कैन्सर का आरंभ करती है, उदाहरण के लिए, टूटे दांत का नोकीला किनारा जो जीभ पर रगड़ खाता रहता है। काले आदमियों में क्रियाशील किरणों और आयनकारी विकिरण से अपेक्षतया कैन्सर कम होता है और संभवतया उनकी त्वचा का वर्णक ही उन्हें इन किरणों के हानिकारक प्रभाव से बचाता है।

भारत में आदतों, परंपराओं और रिवाजों के कारण कुछ विशेष प्रकार के कैन्सर होते हैं। आंध्र प्रदेश के गोदावरी क्षेत्र में कई पुरुषों व स्त्रियों को धूम्रपान करने की ऐसी आदत है कि वे स्थानीय प्रकार के मुड़े सिगार (छुट्टा) के जलते सिरे को धूम्रपान के समय मुंह के अन्दर रखते हैं। ऐसे लोगों में तालू में व्रण उत्पन्न हो जाता है जो कुछ साल बाद कैन्सर में बदल जाता है। दक्षिण पश्चिमी भारत में पुरुषों द्वारा धोती और स्त्रियों द्वारा साड़ी पहनी जाती है और उन्हें कमर पर बहुत कस कर बांधा जाता है। इनमें कुछ में कमर और ऊरु-मूल में त्वचा का कैन्सर होना एक विशिष्ट लक्षण है। हाल ही में महाराष्ट्र, गुजरात, उत्तर प्रदेश और आंध्र प्रदेश के 30 वर्ष से ऊपर वाले 34,000 स्वस्थ पुरुषों का सर्वेक्षण किया गया तो ज्ञात हुआ कि धूम्रपान और तंबाकू चबाने या खाने तथा कुछ कैन्सरपूर्वी परिवर्तनों में परस्पर कुछ संबंध है। लेकिन पान और सुपारी चबाने वाले लोगों में ऐसा कोई परिवर्तन देखने में नहीं आता।

यह देखा गया है कि अधिक कैलोरियों वाले आहार और इष्टतम सीमा से अधिक वजन की वृद्धि से वृद्ध व्यक्तियों तथा प्रायोगिक प्राणियों में कैन्सर होने के अधिक अवसर होते हैं।

कैन्सर के प्रसार :

कैन्सर का रोग, एक बार किसी भी ऊतक में स्थापित होने पर, विभिन्न प्रकार से फैलता है :

1. कैन्सर कोशिकाएं अपनी उत्पत्ति वाले स्थल पर गुणन करते हुए एक अर्बुद-पुंज बनाती हैं जो बहुत बड़ा आकार ग्रहण कर सकता है। ये कोशिकाएं आसपास के ऊतकों में घुसकर वहां स्थिर होकर उनका शनै: शनै: नाश करना शुरू कर देती हैं। प्राय: कोशिका-पुंज की रक्त आपूर्ति और उसकी वृद्धि में संगतता नहीं होती और अर्बुद में ऊतकक्षय होने लगता है और उसके बीच वाले भाग में व्रणीभवन घाव—ulceration) शुरू हो जाता है।

2. कैन्सर कोशिकाएं जैसे-जैसे गुणित होती रहती हैं एक दूसरे से बड़ी ढिलाई से जुड़ी रहती हैं। इनमें से कुछ तो अलग हो जाती हैं और

लसीका प्रवाह द्वारा पहले क्षेत्रीय लसीका ग्रंथियों तक और फिर दूरस्थ अंगों तक ले जाई जाती हैं। जहां कहीं ये कोशिकाएं जुड़ती हैं या जमा होती हैं वहां ये स्वतंत्रतापूर्वक वृद्धि करती हैं, गुणित होती हैं और मौलिक रचना का ठीक वैसा ही पुनरुत्पादन करती हैं। ये आसपास के ऊतकों पर भी आक्रमण करती हैं। द्वितीयक वृद्धि या रचनाओं का परिवर्धन ही कैन्सर का सबसे खतरनाक और बुरा लक्षण है। यह स्पष्ट है कि एक बार इन द्वितीयक निक्षेपों के बाद इनका उन्मूलन बहुत कठिन हो जाता है और आरंभिक अवस्थाओं में तो कोरी आंख से इनकी पहचान करना बहुत मुश्किल होता है क्योंकि उस समय ये आकार में बहुत सूक्ष्म होते हैं।

3. कुछ कैन्सर कोशिकाएं रक्त धारा के द्वारा फैलती हैं और इनका प्रसार बहुत नाटकीय और तीव्र होता है। संयोजी ऊतक, अस्थि-मज्जा अदि अर्बुद इस प्रवृति को काफी कुछ सीमा तक प्रदर्शित करते हैं और इसीलिए इनके द्रुत प्रसार का परिणाम होता है जल्दी मृत्यु। इसी प्रकार का परिणाम तब भी होता है जब कि किसी भी प्रकार के कैन्सर वाले स्थल को अन्ट-शन्ट तरीके से काटा या छीला जाता है।

कैन्सर की आवृत्ति :

संयुक्त राष्ट्र अमरीका में 45 और 64 के बीच के उम्र के लोगों में मृत्यु के कारण के रूप में सभी रोगों के बाद कैन्सर का नंबर दूसरा है। भारतीय कैन्सर सोसाइटी की बम्बई कैन्सर रजिस्ट्री की रिपोर्ट के अनुसार 1964 में बम्बई में प्रति 10 लाख व्यक्तियों में 685 व्यक्तियों को कैन्सर था लेकिन पूरे देश की मर्त्यता और रोग के आंकड़े उपलब्ध नहीं है और जो प्रकाशित हुए हैं वे बहुत विश्वसनीय नहीं हैं।

भारतीयों की कैन्सर के प्रति जो सुग्राहिता है, वह दुनिया के विभिन्न भागों के लोगों जैसी ही है। शरीर के कुछ भागों के कैन्सर अन्य लोगों की अपेक्षा हममें अधिक होते हैं। लैंगिक और सहायक लैंगिक अंगों का कैन्सर स्त्रियों में अन्य सभी कैन्सरों का 60 प्रतिशत और पुरुषों में मुश्किल से 5 प्रतिशत होता है। इसी तरह मुंह, गले व ग्रसिका के कैन्सर भारतीय लोगों में अन्य कैन्सरों के 50 प्रतिशत से अधिक होते हैं।

शरीर में कई स्थल हैं जहां आमतौर पर कैन्सर होता है और उनकी आपेक्षिक आवृति विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है और कभी-कभी तो बहुत ही असाधारण रूप से। इस अंतर का कारण अभी तक स्पष्ट नहीं है, लेकिन यह वातावरणी परिस्थितियों और सामाजिक, आर्थिक, आनुवंशिक और आहारिक कारकों से संबंध हो सकता है। इस संदर्भ में विभिन्न समुदायों की आदतें और रीतिरिवाज बहुत महत्वपूर्ण हैं।

कैन्सर हर उम्र में हो सकता है आरंभिक शैशव से वृद्धावस्था तक। फिर भी यह मुख्य रूप से, पूरी तरह से नहीं, वृद्धावस्था का रोग है (चित्र 44.4)। पुरुष और स्त्रियों में कैन्सर का अनुपात मोटे तौर पर 10:12 है।

कई लोग यह सुनकर चौंक जाते हैं कि एक परिवार में कई सदस्यों की मृत्यु कैन्सर से ही हुई।

एक स्त्री के परिवार का बहुत प्रसिद्ध उदाहरण है जिसके परिवार में छब्बीस सदस्य थे और इनमें से सोलह की कैन्सर से मृत्यु हुई। लेकिन साथ ही इसका यह मतलब नहीं कि मानवों में कैन्सर आनुवंशिक रोग है। यद्यपि मानव में कैन्सर उत्पन्न करने में आनुवंशिकता की महत्वपूर्ण भूमिका नहीं हैं फिर भी कुछ प्रकार के कैन्सर पारिवारिक प्रवृत्ति का प्रदर्शन करते हैं और कैन्सर से पीड़ित व्यक्तियों की संतति में उस ऊतक या अंग-विशेष के कैन्सर होने की अधिक संभावना रहती है।

कैन्सर सांसर्गिक नहीं होता :

दुनिया के सभी भागों में आयुर्विज्ञान के क्षेत्र
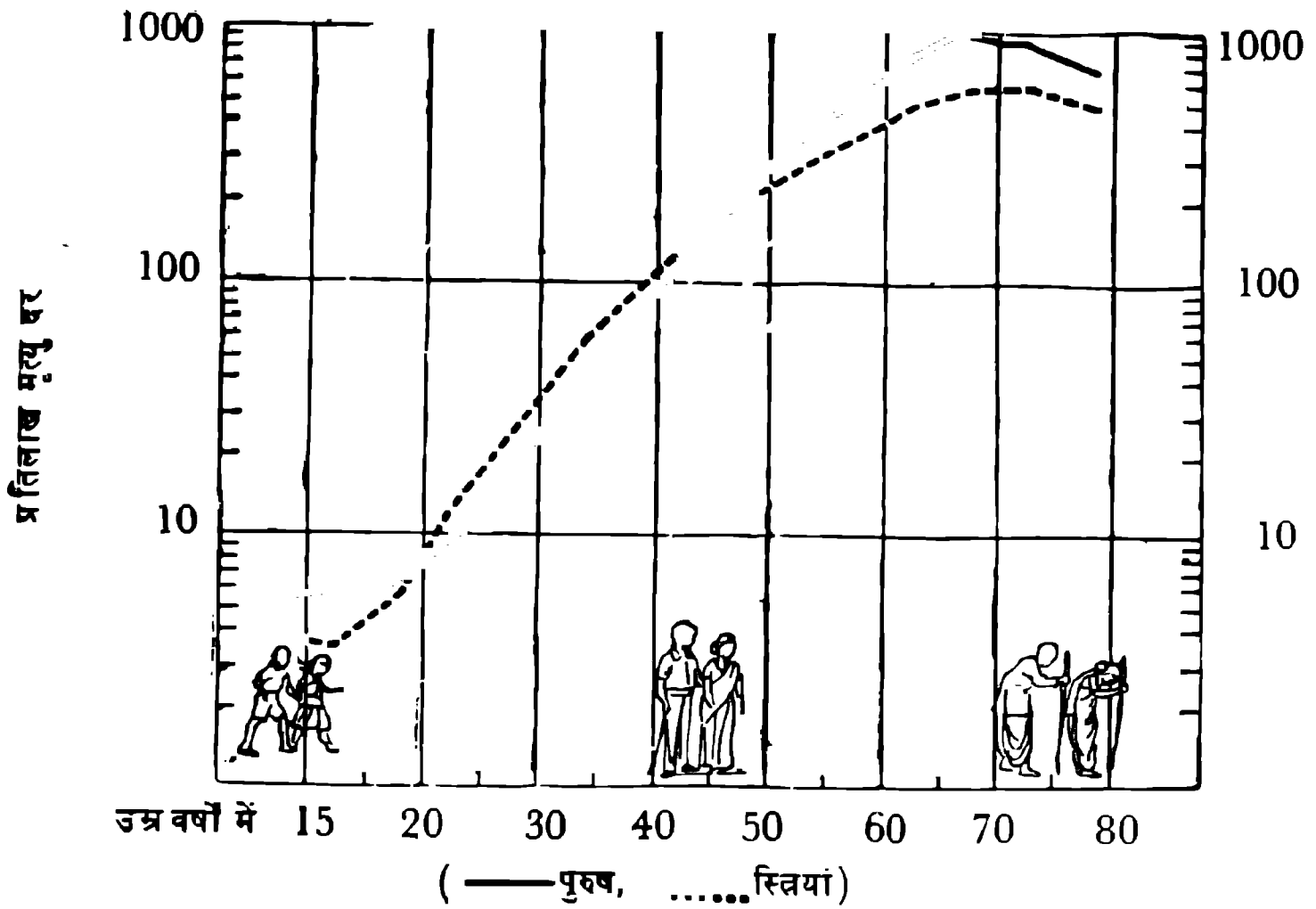
चित्र 44.4—स्त्रियों और पुरुषों के विभिन्न वय वर्गों में कैन्सर की मृत्यु दर

में काम करने वाले डाक्टर, नर्सें और तकनीशियन लंबे समय तक कैन्सर के रोगियों के घनिष्ठ संपर्क में कार्य करते हैं और नए कैन्सर ऊतकों वाले कार्य हाथ में लेते हैं। लेकिन इन लोगों को पास-पड़ोस वाले बाकी लोगों की अपेक्षा कैन्सर अधिक नहीं होता है। ताजे कैन्सर ऊतकों से अभी तक कोई संक्रमी कारक पृथक् नहीं किया जा सका है और यदि कुछ मानव कैन्सरों में कोई विषाणु (वाइरस) पाया भी जाता है तो भी एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में उसका फैलना काफी कठिन होगा। इसलिए यह सही है कि कैन्सर सांसर्गिक रोग नहीं है।

कैन्सर की पहचान :

आरंभिक अवस्था में कैन्सर को पहचान करने में कैन्सर विशेषज्ञ को भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसलिए किसी सामान्य व्यक्ति अथवा उसके मित्र द्वारा स्वयं कैन्सर का निदान कभी भी नहीं किया जाना चाहिए।

स्वस्थ व्यक्तियों को समय-समय पर अपने स्वास्थ्य की सुचारु जांच कराते रहना चाहिए और रोग की आरंभिक अवस्था में ही कैन्सर की पहचान का प्रयत्न किया जाना चाहिए। परिवर्धन के आरंभिक अवस्थाओं में कैन्सर की पहचान अधिक महत्व की है क्योंकि तभी वर्तमान उपचार विधियों से अधिकांश रोगियों को ठीक किया जा सकता है (चित्र 44.5)। इसलिए समय-समय पर स्वास्थ्य की जांच कराते रहना महत्वपूर्ण है।

खतरे के संकेत :

जिस उम्र में कैन्सर सामान्य रूप से होता है उस उम्र वाले लोगों को कैन्सर के सामान्य स्थल और खतरे के संकेतों को याद रखना चाहिए (चित्र 44.6) और उनके लक्षणों के बारे में शीघ्रातिशीघ्र विशेषज्ञ से सलाह लेनी चाहिए।

(क) असाधारण प्रकार का और बार-बार होने वाला रक्तस्राव, विशेषकर स्त्रियों में रजोनिवृत्ति के बाद।

(ख) शरीर के किसी भाग में दर्द न करने वाला पिंड या स्थूलता, विशेष रूप से

स्त्री के स्तन में।

(ग) हमेशा गला खराब रहना।

(घ) आंत्र अथवा मूत्राशय की आदतों में लगातार परिवर्तन।

(ङ) स्वररुक्षता अथवा खांसी जिसमें औषधि लेने के बाद भी सुधार नहीं होता।

(च) बार-बार अपाचन अथवा निगलने में कठिनाई होना।

(छ) कीलक या मस्से के आकार में अचानक परिवर्तन।

(ज) व्रण, जो यथोचित समय पर उपचार द्वारा ठीक नहीं हो पाता।

बाद की अवस्था वाले कैन्सर का निदान अपेक्षतया आसान होता है, लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि ऐसी अवस्था में रोग का निदान रोगी के लिए बहुत ही कम फायदे का होता है क्योंकि उसका भविष्य अंधकारमय हो जाता है और उसका ठीक होना अनिश्चित होता है। आरंभ में इसके परीक्षण के लिए विशेषज्ञ उस समय सभी उपलब्ध साधनों का उपयोग करता है यानी रोगी का विस्तृत इतिहास ज्ञात करने के बाद उसकी पूरी तरह से छानबीन वाली जांच और आशंका वाले क्षेत्र की पूरी तरह से विकिरणविज्ञानीय निरीक्षण। सबसे कठिन परीक्षण होता है आशंका वाले क्षेत्र से शस्त्रकर्म द्वारा ऊतक का अंश निकालना (जीवऊति परीक्षा बायॉप्सी) और फिर उसका सूक्ष्मदर्शी निरीक्षण करना और अधिकांश रोगियों में इसी से निदान का निश्चय किया जाता है।

विशेषज्ञ की सलाह का निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिए। बार-बार अतिरिक्त सलाह देने से रोगी भ्रांति में पड़ जाता है और बेकार की बातों में काफी अधिक समय नष्ट हो जाता है।

कैन्सर का निरोध :

कुछ प्रकार के कैन्सर ऐसे हैं जो निश्चित रूप से व्यवसायों, कुछ आदतों, परंपराओं और रीति-रिवाजों से संबद्ध हैं। इन कैन्सरों का निवारण

चित्र 44.5—विभिन्न स्थलों पर कैन्सर के देर और जल्दी से किए गए निदान का परिणाम। प्रत्येक स्त्री अथवा पुरुष की आकृति उन 20 प्रतिशत कैन्सर रोगियों का प्रतिनिधित्व करती है जो यथेष्ट उपचार के बाद 5 वर्ष तक जीवित रहे। अग्नि की लौ उन 20 प्रतिशत रोगियों का प्रतीक है जो उपचार के बाद उतनी ही अवधि में मर गए।

कैन्सर स्थल	देर से किए गए निदान के परिणाम उत्तरजीविता दर	जल्दी से किए गए निदान के परिणाम उत्तरजीविता दर
स्तन	35%	72%
गर्भाशय	25%	80%
मुँह	30%	70%
त्वचा	85%	100%
मलाशय	15%	70%
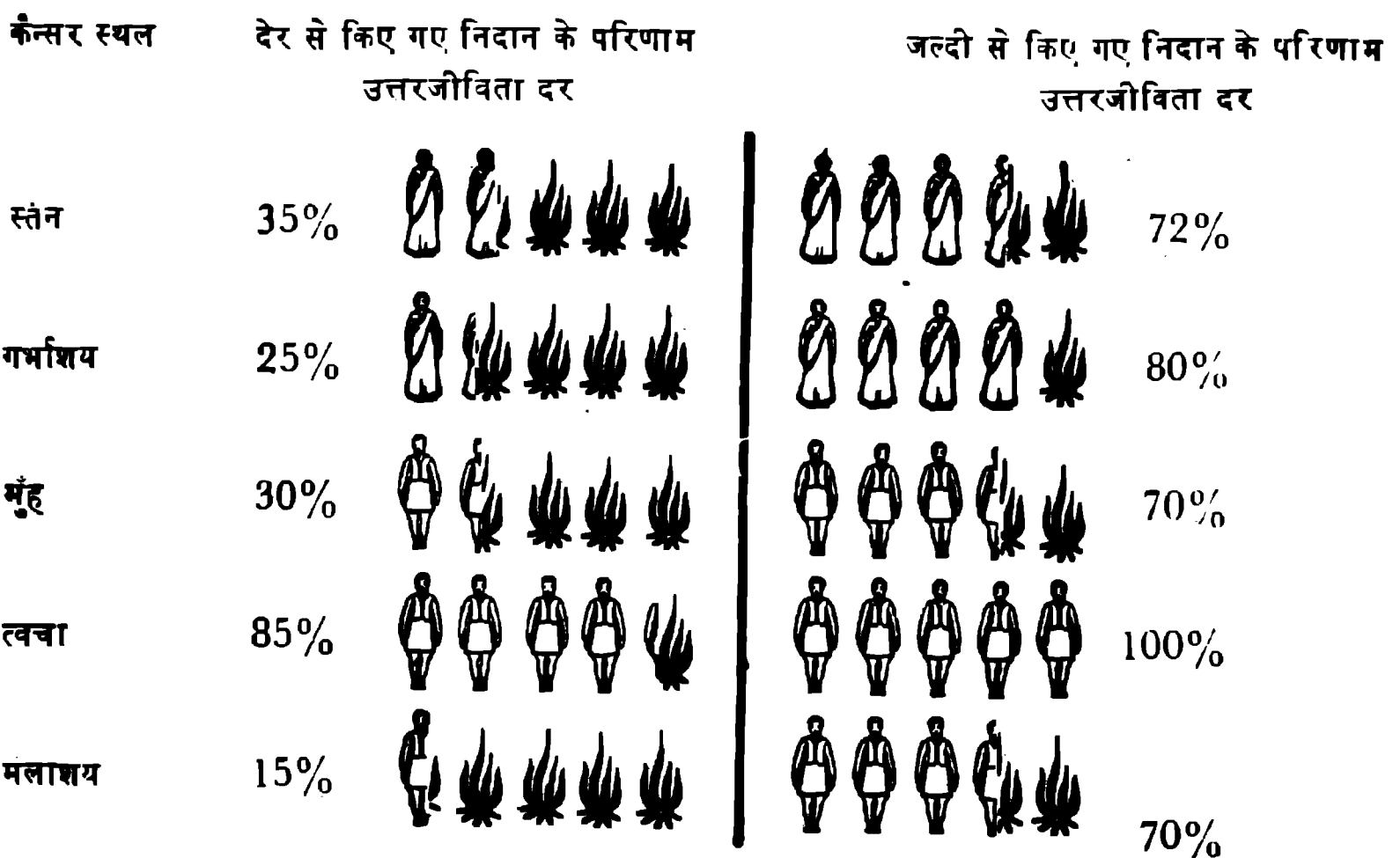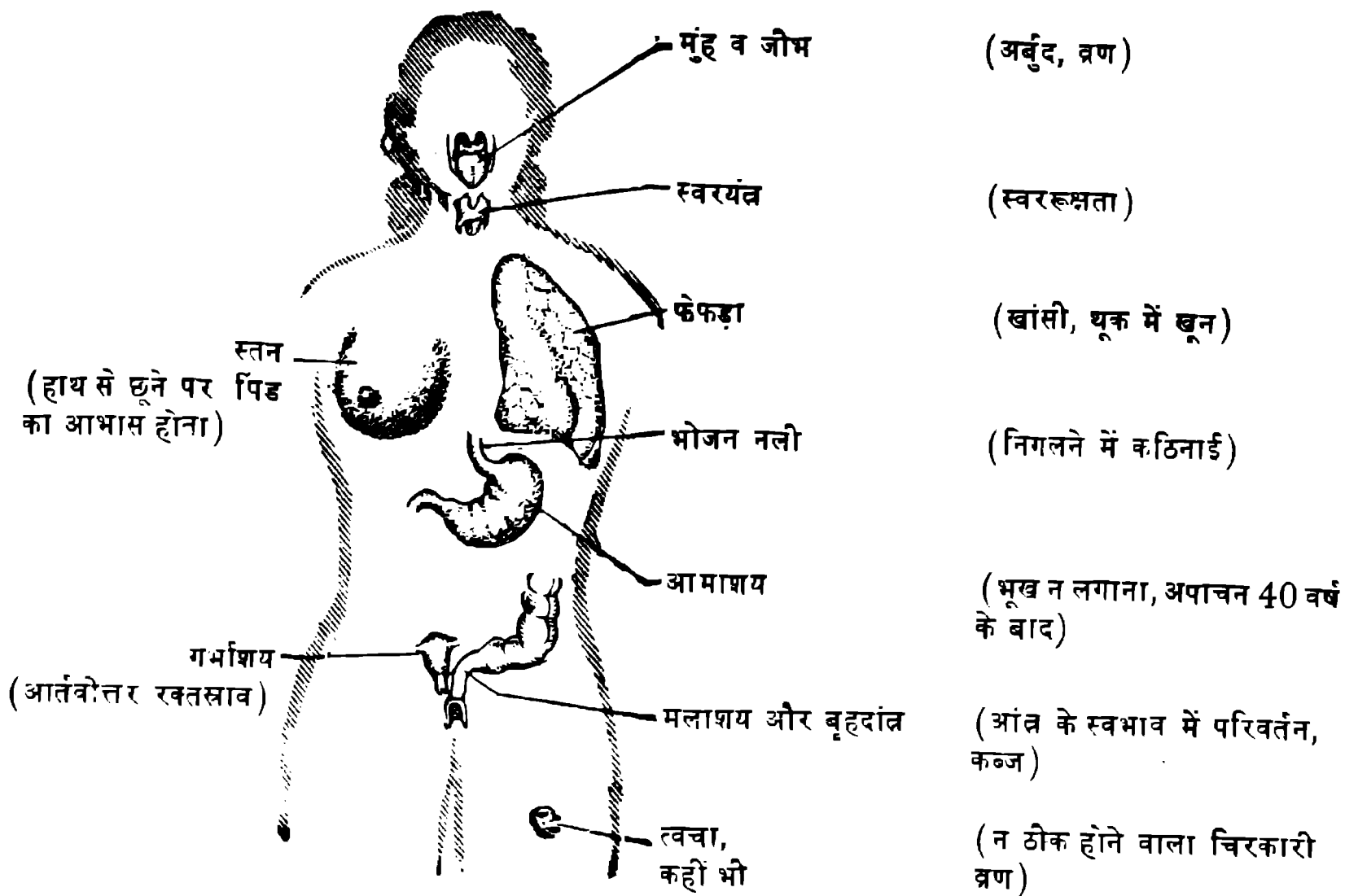
चित्र 44.6—कैन्सर के सामान्य स्थल और आरंभिक लक्षण

किया जा सकता है। रेडियोऐक्टिव अयस्क (ओर्स) वाले श्रमिकों के फेफड़ों के कैन्सर और एज़ो रंजक वाले श्रमिकों में मूत्राशय के कैन्सर को तो अब लगभग पूरी तरह से दूर कर दिया गया है। रीति-रिवाजों के परिवर्तन से भी कैन्सर को काफी कुछ रोका जा सकता है। तब तो बहुत ही कठिनाई होती है जब कि ये रीतिरिवाज आबादी के एक बड़े वर्ग को प्रभावित करते हैं। तंबाकू चबाने, सिगरेट और बीड़ी पीने को छोड़ने या कम करने से अवरोध क्षमता बढ़ती है। यह आशा की जाती है कि लोगों में इस ज्ञान का संचार होगा और इनमें से कुछ आदतें निकट भविष्य में छोड़ दी जाएंगी अथवा उन पर अच्छा नियंत्रण रखा जाएगा। दुःख की बात है कि ऐसे कैन्सरों की संख्या, जिनमें कारणप्रभाव का संबंध अनुमानित किया जा सकता है, बहुत ही कम है।

फिर भी लोगों को खतरनाक बनने वाले कैन्सरों से बचाया जा सकता है। इसलिए आरंभिक अवस्थाओं में कैन्सर की पहचान करना जरूरी है। लोगों को इसकी आरंभिक अभिव्यक्ति के बारे में शिक्षा देना और डाक्टरी पेशे से संबद्ध लोगों को शिक्षा देना कि वे आम लोगों में कैन्सर संबंधी जागरूकता उत्पन्न करें, बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। एक निश्चित उम्र के बाद समय-समय पर लोगों की जांच करने और ऐसी जांच के दौरान निरीक्षण की मानक तकनीकों के प्रयोग से पुरुषों और स्त्रियों को बाद वाली अवस्था वाले कैन्सर के भयंकर परिणामों से बचाया जा सकता है।

कैन्सर का उपचार :

कैन्सर को उसकी आरंभिक अवस्थाओं में भी कोई लेप (लिनिमेंट), मलहम, प्लास्टर अथवा अन्य कोई औषधि ठीक नहीं कर सकती। ये पदार्थ सूजन के सतही भागों को नष्ट कर सकते हैं और झूठा आभास दे सकते हैं कि क्षति ठीक हो गई है।

आधुनिक उपचार आरंभिक कैन्सर को पूरी तरह से ठीक करने और प्रगत अवस्था वाले कैन्सर में अप्रिय चिह्नों और लक्षणों से सामयिक-राहत दिलाने की ओर उन्मुख रहता है। आजकल उपचार की दो सुस्थापित विधियां हैं : (1) शस्त्रकर्म

(सर्जरी) और (2) अर्बुद का आयनकारी विकिरणों के प्रभावाधीन होना। इनमें से कोई भी विधि आदर्श विधि नहीं है लेकिन पिछले 35 वर्षों में बहुत उन्नत तकनीकों के परिणामस्वरूप कैन्सर के उपचार में बहुत अच्छी प्रगति हो गई है।

कैन्सर-शस्त्रकर्म अन्य प्रकार के शस्त्रकर्म से भिन्न है क्योंकि इसमें हर संभव सामान्य ऊतक को बचाने के बजाय कैन्सर सर्जन अर्बुद के चारों ओर के सामान्य ऊतक को इतनी अधिक सीमा तक निकाल लेता है कि अर्बुद का पूरी तरह से उन्मूलन हो जाये और उसकी शाखाएं या कोई भी अंश वहां रह कर रोगी को फिर असुरक्षित न बना दे। ग्रस्त-अंग पूरी तरह से निकाल दिए जाते हैं। अंग-भंग वाले इस शस्त्रकर्म के बाद ऐसे प्रयत्न किए जाते हैं कि मरम्मत अथवा पुनर्रचना वाले शस्त्र-कर्म से स्वरूप और कार्य में कुछ पुनरुत्थान किया जा सके।

आयनकारी विकिरण स्रोतों की बहुत अधिक किस्में हैं, जो कैन्सर उपचार के लिए उपलब्ध हैं। उच्च वोल्टता वाली एक्स-रे मशीनें (गंभीर एक्स-रे) सामान्य तौर पर उपलब्ध रहती हैं। भारत में कुछ संस्थाओं में 10-20 लाख वोल्टता वाली अतिवोल्टता मशीनों का प्रयोग किया जाता है। रेडियम और अन्य रेडियो-ऐक्टिव पदार्थ भी उपलब्ध हैं।

एक लंबे समय से आयुर्विज्ञानीय अनुसंधान-कर्त्ताओं का यह सपना रहा है कि एक ऐसी औषधि या रासायनिक पदार्थ की खोज हो सके जो चुन-चुन कर कैन्सर कोशिकाओं को तो नष्ट कर दे लेकिन सामान्य कोशिकाओं को कोई हानि न पहुंचाए। इनमें से बहुतों के द्वारा अस्थायी सुधार और कैन्सर का प्रतिक्रमण होता तो है लेकिन पूरी तरह से उपचार नहीं हो पाता। अन्य आशाप्रद क्षेत्र हैं प्रतिजीवी और प्रतिरक्षा उपाय। किसी दिन पूरी तरह से रोगमुक्ति तभी संभव हो सकेगी जब इन दिशाओं में काफी प्रगति हो जाएगी।

कैन्सर से रोगमुक्ति :

उपचार की आधुनिक विधियों द्वारा संभवतया तीन कैन्सर रोगियों में से दो रोगी ठीक हो जाते हैं। आरंभिक अवस्थाओं के लगभग सभी रोगियों को रोगमुक्त किया जा सकता है क्योंकि बाद में कैन्सर कोशिकाएं शरीर के दूर वाले अंगों में पहुंच जाती हैं। जब कोई कैन्सर विशेषज्ञ कहता है कि रोगी को रोगमुक्त कर दिया गया है तो इसका अर्थ है कि कैन्सर को पूरी तरह से निकाल दिया गया है अथवा उसका प्रतिक्रमण कर दिया गया है और कैन्सर विशेष उस अथवा दूसरे स्थान पर फिर प्रकट नहीं होगा और कोई भी द्वितीयक निक्षेप पहले तो 10 साल तक नहीं तो 5 साल तक नहीं दिखलाई देंगे (चित्र 44.5)। इसे आमूल प्रकार की रोगमुक्ति कहा जा सकता है। विशेषज्ञ सभी आरंभिक रोगियों में इसी परिणाम की कामना करते हैं।

प्रगत यानी आगे बढ़ी हुई अवस्थाओं में रोग-मुक्ति की संभावना क्रमिक रूप से बहुत कम होती है (चित्र 44.7), भले ही हम आजकल का कोई भी चिकित्सीय साधन अपनाएं। ऐसे रोगियों में पूरी तरह से रोग का उन्मूलन तो नहीं किया जा सकता लेकिन हां रोगी के दुखभोग को अवश्य कम किया जा सकता है। यह प्रशामक (palliative) उपचार है जो कैन्सर के द्रुत प्रसार पर रोक लगा देता है, अधिक बढ़े संक्रमण को नष्ट कर देता है, अर्बुद के आकार को छोटा कर देता है, दर्द कम कर देता है और रोगी की दशा को अगर सुविधा-जनक न सही तो सहन योग्य बना देता है।

नीम हकीमों और अविशेषज्ञों द्वारा अधिकांशतया तथाकथित रोग उपचार का जो दावा किया जाता है वे उदाहरण या तो अकैन्सरी रचनाओं के होते हैं या रोग ठीक होने के दौरान प्रशमन के।

विभिन्न स्थलों के कैन्सर :

1. **त्वचा का कन्सर** : अधिक आसानी से दिख

जाने वाला और कैन्सर के रूप में पहचाना जा सकने वाला यह कैन्सर आरंभिक अवस्थाओं में आसानी से ठीक हो सकता है। त्वचा का कैन्सर आरंभ में एक सूखे शल्की चकत्ते या पिटिका के रूप में होता है जो सामान्य औषधि से ठीक नहीं होता। यह एक मोमी पट्टी अथवा ग्रंथि के रूप में प्रकट हो सकता है। जिन भागों में यह होता है वे प्रायः ढके नहीं होते, जैसे चेहरा, गर्दन, हाथ के पृष्ठ भाग और प्रकोष्ठ (फोर आर्म)। त्वचा में कोई भी अपसामान्यता जैसे कि व्रण, छाला, चकत्ता या पिटिका जो एक निश्चित अवधि में यदि औषधियों से ठीक नहीं होती तो विशेषज्ञ को दिखानी चाहिए।

2. ओंठों का कैन्सर : इसकी शुरुआत प्रायः पीले, द्युतिहीन व शल्की स्थल के रूप में होती है जो धीरे-धीरे वृद्धि करता है। यह कभी-कभी ही कड़ा शृंगी पुंज अथवा व्रण बनाता है। कभी-कभी यह पुंज अंदर की ओर वृद्धि करता है और दिखने के बजाय अनुभव किया जाता है। अनेक व्यक्तियों मे इस प्रकार कैन्सर के पहले ओंठ के भीतरी आस्तर वाली एक अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जिसे श्वेत-शल्कता (ल्यूकोप्लेकिया) या 'सफेद चकत्ता' कहते हैं। इन चकत्तों का अधिकांश भाग कैन्सर में बदल जाता है। अत्यधिक सिगरेट या बीड़ी पीना, दांतों की कुरचनाएं और विटामिन-बी-कॉम्प्लेक्स की अपर्याप्त आपूर्ति अथवा दोषपूर्ण अवशोषण इसके लिए उत्तरदायी समझे जाते हैं।

3. कपोलों का कैन्सर : यह व्रण, मस्से वाले स्थल अथवा सफेद स्थूलता का रूप ले लेता है और इसका अनुभव आसानी से किया जा सकता है। यदि यह स्थूलता करीब दो हफ्ते की अवधि में दूर नहीं हो जाती और वेदनाहीन रहती है तो इसे विशेषज्ञ को दिखलाना चाहिए। मुंह की अस्वच्छता इस प्रकार के कैन्सर में योग देती है। अन्य संभावित कारक हैं चबाने या धूम्रपान के लिए विशेष प्रकार के तंबाकू का अमर्यादित प्रयोग, पैना व नोकीला दांत, नकली दांतों की अनुचित फिटिंग, आहारिक कमी और बहुत गर्म भोजन व पेयों को खाने-पीने की रोज की आदत।

4. जीभ का कैन्सर : इस स्थिति में रोग वृद्धि करता रहता है और कोई पता नहीं चलता और न ही कोई दर्द या बेचैनी होती है और कई महीनों तक कोई सुस्पस्ट लक्षण उत्पन्न नहीं होते।

5. स्वरयंत्र का कैन्सर : इसे देखा नहीं जा सकता लेकिन स्वररूक्षता के रूप में सुना जा सकता है और यह प्रायः ग्रस्त स्वरयंत्र का परिणाम होता है। निरंतर स्वररूक्षता अगर बनी रहती है तो स्वरयंत्र को किसी विशेषज्ञ को दिखलाना चाहिए।

6. ग्रासनली का कैन्सर : हमारे देश में ग्रासनली का कैन्सर अपेक्षतया अधिक होता है। ठोस पदार्थों को निगलने में धीरे-धीरे कठिनाई का बढ़ते जाना आरंभिक शिकायत है।
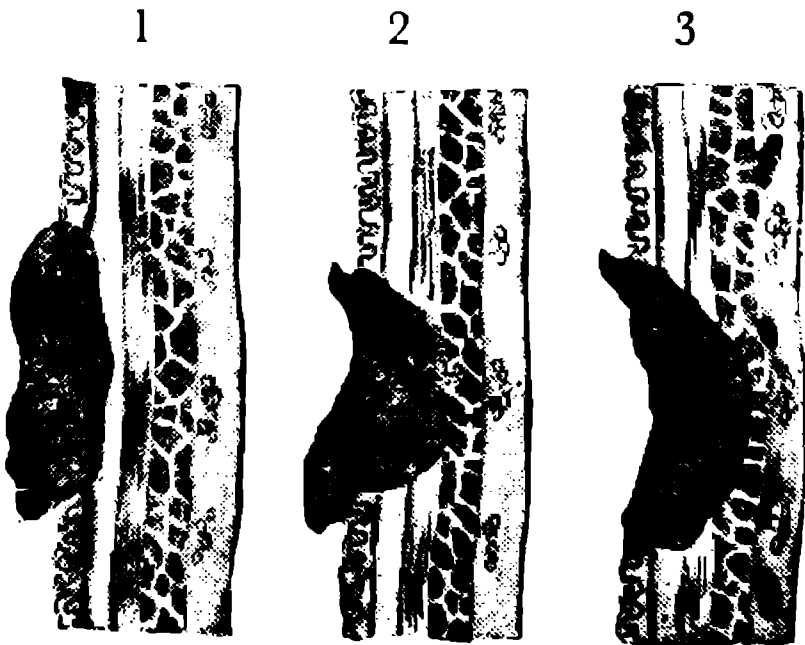
चित्र 44.7—खड़ी काट में दिखलाया गया मलाशय का कैन्सर

1. वृद्धि मलाशय की भीतरी दीवार तक सीमित, उत्तरजीविता 93 प्रतिशत।

2. मलाशय ऊतकों में गहरे कैन्सर का प्रसार, उत्तरजीविता 65 प्रतिशत।

3. वृद्धि आंत्र-भित्ति के बिलकुल बाहर तक, उत्तर जीविता 23 प्रतिशत।

7. आमाशय का कैन्सर : कई देशों में यह एक बहुत बड़ा कारक है। यह आंशिक रूप से इसलिए कि इसके आरंभिक लक्षण बहुत निष्क्रिय व अस्पष्ट होते हैं।

पैंतीस या इसके बाद वाली उम्र में जब पहली बार अपाचन होता है और जो आहारिक अविवेक अथवा अधिक भोजन व पेयों से संगतता नहीं रखता और यदि यह बहुत अधिक लंबे समय तक चलता है तो सावधान होने की जरूरत है।

8. स्तनों का कैन्सर : स्त्रियां इससे बहुत भयभीत रहती हैं। अधिकांशतया इसकी संभावना 40 की उम्र के बाद रहती है यद्यपि यह युवा स्त्रियों में भी होता है। प्रायः स्तन में एक वेदनाहीन पिंड के रूप में इसका आरंभ होता है। हाथ से छूने पर इसकी पहचान की जा सकती है। स्त्रियों द्वारा स्वयं ही अपने स्तनों की अच्छी तरह से जांच कर लेनी चाहिए कि कहीं कोई पिंड या अपसामान्य स्थूलता तो नहीं। इस प्रकार काफी पहले ही कैंसर की पहचान हो सकती है और संतोषजनक उपचार हो सकता है।

9. गर्भाशय का कैन्सर : आर्तवों के बीच अनियमित रक्तस्राव अथवा लगातार मासिक प्रवाह होना इस व्याधि के खबरदार करने वाले संकेत हैं। आर्तव के बाद वाले रक्तस्राव की अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए और विशेषज्ञ द्वारा निरीक्षण करवा लेना चाहिए। यदि मैथुन करने के तुरंत बाद रक्तस्राव होता है तो प्रायः यह गर्भाशय ग्रीवा (सरविक्स) के कैन्सर का चिह्न है और किसी भी असामयिक रक्तस्राव की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए क्योंकि आरंभ में ही इसकी पहचान हो जाए तो अधिकांश रोगियों में इसका उपचार किया जा सकता है।

10. मूत्राशय का कैन्सर : सबसे मुख्य लक्षण है पेशाब में खून का आना।

11. प्रॉस्टेट का कैन्सर : प्रॉस्टेट का कैन्सर पुरुषों में सामान्यतया 60 साल की उम्र के बाद होता है। इसके मुख्य लक्षण हैं बार-बार पेशाब करने की प्रबल इच्छा होना और पेशाब करते समय दर्द होना। कुछ समय बाद हड्डियों और जोड़ों में दर्द शुरू हो जाता है लेकिन इस समय तक रोग काफी आगे बढ़ चुका होता है।

12. फेफड़े का कैन्सर : भारत में अपेक्षतया यह कम होता है लेकिन सिगरेट पीने की आदत में अत्यधिक बढ़ोतरी होने और बड़े शहरों में वायु प्रदूषण के कारण संभवतया इसमें वृद्धि होगी। खांसी इसका सामान्य लक्षण है लेकिन इसको कैन्सर के रूप में कभी नहीं लिया जाता। श्वसनीशोथ, साइनस कष्ट अथवा जुकाम का मामूली परिणाम समझकर इसकी उपेक्षा कर दी जाती है। थूक के साथ अगर जरा भी खून जाता है तो उसकी सूचना डाक्टर को देनी चाहिए।

13. रक्त कैन्सर : रक्त-कैन्सर अथवा श्वेतरक्तता (ल्यूकीमिया) में कई लक्षण कैन्सर के होते है यद्यपि अधिकांश रोगियों में इसके द्वारा अर्बुद नहीं बनते हैं। अपनी आरंभिक अवस्थाओं के बाद ये रोग आसानी से कई लक्षणों द्वारा पहचाने व कूते जा सकते हैं। श्वेतरक्तता का पहला लक्षण है लसीका ग्रंथियों अथवा प्लीहा का विवर्धन और दूसरा लक्षण है रक्तस्राव। अन्य लक्षण हैं बार-बार थकान व कमजोरी का अनुभव होना और उग्र अवस्था में त्वचा और ओंठों में पीलापन आ जाना। अभी वर्तमान समय में इस रोग का कोई उपचार नहीं है।

14. बच्चों के कैन्सर : बच्चे कुछ प्रकार के कैन्सरों के प्रति सुग्राही होते हैं। यह दुर्भाग्य की बात है कि बड़ों की अपेक्षा बच्चों में कैन्सर प्रायः बड़ी तेजी से होता है और सामान्यतया घातक होता है। बच्चों का सबसे सामान्य अर्बुद है आंखों का एक प्रकार का कैन्सर। कुछ बच्चे तो इसी के साथ पैदा होते हैं। बच्चों में दूसरे प्रकार का अर्बुद है हड्डी का अर्बुद (सारकोमा)। अधि-

कांश रोगियों में पहला लक्षण है ग्रस्त बाहु में लगातार दर्द होते रहना। बाद में एकदम सूजन, मृदुता और ज्वर भी हो जाता है।

निष्कर्ष :

सारांश में कहेंगे कि कैन्सर एक भयानक रोग है। यदि इसे सामान्य प्रकार से चलने दिया जाय तो जिस व्यक्ति में यह वृद्धि करता है उसकी मृत्यु हो जाती है। कई प्रकार के कैन्सर ठीक किए जा सकते हैं। कैन्सर के ठीक होने में तीन कारक प्रमुख होते हैं। एक तो यह कि इसकी पहचान कब और किस अवस्था में होती है। दूसरे, किस कौशल से इसका उपचार किया जाता है, और तीसरे, रोगी की इच्छा कि वह अच्छा होने के लिए क्या कुछ प्रयत्न करता है। कैन्सर अब रहस्यमय रोग नहीं रह गया है और इसकी प्रकृति, कारण और प्रगति के बारे में अन्य कई ज्ञात रोगों की अपेक्षा काफी कुछ जानकारी उपलब्ध है। ऐसा कोई विशिष्ट उपचार नहीं है जो केवल कैन्सर कोशिकाओं पर ही असर करे। फिर भी निराश और निरुत्साहित होने का कोई कारण नहीं है। पिछले कुछ वर्षों में सबसे अधिक आशाजनक बात यह है कि आधुनिक औषधियों से यह क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है और कैन्सर की नई औषधियों की खोज ही शुरु नहीं हुई है बल्कि ऐसे उपायों की जानकारी भी हासिल की जा रही है कि प्राणियों व मानव में निरोधक उपाय अपनाए जा सकें। मानव में कुछ प्रकार के कैन्सर की खोज में अपने देश ने भी राह सुझाई है और कुछ आरंभिक सावधानियों और प्रचलित रीतिरिवाजों व आदतों को छोड़ने से इनसे आसानी से बचा जा सकता है।

* * *

विकिरण के खतरे और उनका निवारण :

कैन्सर सरीखे रोगों के निदान और उपचार दोनों के लिए आजकल आम तौर पर एक्स-रे और रेडियोऐक्टिव समस्थानिकों (आइसोटोपों) का प्रयोग किया जाता है। लेकिन इन पदार्थों का प्रयोग खतरे से खाली नहीं है। इसलिए विकिरण के खतरों को नीचे दिया गया है :

विघटनामिक (रेडियोऐक्टिव) पदार्थों के उत्सर्जन को ही विकिरण कहते हैं। यह परमाणु-युग है और एक्स-रे व अन्य विघटनामिक पदार्थों का उत्तरोत्तर बड़े पैमाने पर प्रयोग होता जा रहा है। इसके अतिरिक्त कुछ प्राकृतिक प्रकार का विकिरण भी होता है जो अंतरिक्ष किरणों के रूप में होता है। लेकिन परमाणु विस्फोटों, एक्स-रे और विघटनामिक समस्थानिकों के परिणाम-स्वरूप विकिरण का सम्पर्क एक खतरनाक स्तर तक पहुंच सकता है। लेकिन दुःख इस बात का है कि विकिरणों से पूरी तरह से नहीं बचा जा सकता है और इसलिए एक नई स्वास्थ्य समस्या उत्पन्न हो गई है।

मानव शरीर पर विकिरण के प्रभाव अधिकांशतया गामा किरणों के कारण होते हैं जिनकी वेधन शक्ति अल्फा और बीटा कणों सरीखे उत्सर्जन पदार्थों से अधिक होती है। गामा किरणें बड़ी आसानी से शरीर के सभी ऊतकों को भेद कर उनको प्रभावित करती हैं। ये किरणें ऊतक-कोशिकाओं में रासायनिक परिवर्तन करती हैं और सबसे अधिक असर पड़ता है तरुण और सक्रिय रूप से गुणन करने वाली कोशिकाओं पर। विकिरण के प्रभाव अलग-अलग प्रकार के होते हैं जो किरणों की मात्रा, शरीर के किरणों के संपर्क वाले क्षेत्र और विकिरण संपर्क की अवधि पर निर्भर करते हैं। इसमें कोशिकाएं परिवर्तित, क्षतिग्रस्त अथवा नष्ट हो जाती हैं।

दो प्रकार के प्रभाव देखे जाते हैं—शारीरिक अथवा कायिक और पैतृक या आनुवंशिक। विकिरण का सबसे बड़ा खतरा होता है जीनों पर बुरा प्रभाव पड़ना। गुणसूत्रों (क्रामोसोम) पर प्रभाव पड़ता है और उत्परिवर्तन (म्यूटेशन) दर की वृद्धि से अपसामान्य संतति उत्पन्न होती है।

शारीरिक परिवर्तनों में मुख्य हैं—विकिरण वाली बीमारी, बालों का झड़ना, ऊतकों का नाश, व्रणीभवन, मतली, थकान, अरक्तता, बंध्यता, श्वेतरक्तता (ल्यूकीमिया), कैन्सर और मृत्यु।

विकिरण की घातक डोज़ है 500 आर. (r)। 500 आर. से लेकर 100 आर. के बीच की मात्रा से रक्तस्राव, कै, बालों का झड़ना आदि हो सकता है। 100 आर. से कम विकिरण है तो हो सकता है कि कोई लक्षण उत्पन्न न हों। इससे बंध्यता हो सकती है। लेकिन उत्परिवर्तन और उसके परिणामस्वरूप आनुवंशिक परिवर्तन करने के लिए 30 से लेकर 60 आर. की मात्रा काफी है। ये मात्राएं कई सालों की अवधि में ग्रहण की जा सकती हैं। प्राकृतिक विकिरणों से करीब 30 साल की अवधि में 3 से 5 रोंटजन की मात्रा ग्रहण की जाती है।

विकिरण के खतरों से बचने के लिए निम्न-लिखित उपायों की सिफारिश की जाती है :

1. विशेष रक्षी उपायों को अपनाना, जैसे सुरक्षित आधुनिक मशीनों, सुदूर नियंत्रण, कवचों, रक्षी कपड़ों आदि का प्रयोग उन लोगों के द्वारा जो रेडियोऐक्टिव पदार्थों वाला कार्य करते हैं।

2. लगातार एक विशेष संकेतक फिल्म वाला बैज पहनकर ग्रहण की गई विकिरण मात्रा की नियमित रूप से जांच व आकलन। ऐसी सेवाएं भारत में भी उपलब्ध हैं और इससे विकिरण के संपर्क में रहने पर ग्रहण की गई कुल विकिरण मात्रा का पता चल जाता है।

3. एक्स-रे मशीनों के कार्य में रक्षी आवरणों या चोगों (गाउनों) और दस्तानों का प्रयोग।

4. अनावश्यक एक्स-रे संपर्क से दूर रहना। एक्स-रे के अन्वेषण कम से कम होने चाहिए और तभी किए जाने चाहिए जब कि ये बहुत आवश्यक हों।

5. दीप्त डायल वाली घड़ियों का प्रयोग न करना और अन्य घरेलू प्रकार के संभव संपर्क से बचना और इसका प्रयोग तभी करना जबकि परिस्थितियां बिलकुल ही मजबूर न कर दें।

6. जहां तक हो सके सगर्भता (गर्भावस्था) के दौरान एक्स-रे से बचे रहना, विशेषकर पहले तीन महीनों में।

आज के समय में नाभिकीय आयुधों के प्रचुरोद्-भवन से भावी युद्धों में परमाणु-विस्फोटों द्वारा होने वाले विकिरण से मानवता को बहुत बड़ा खतरा हो गया है। चूंकि ऐसे बृहत् और प्रकीर्णन वाले विकिरण के प्रति कोई वैयक्तिक सुरक्षा उपलब्ध नहीं है इसलिए ऐसे कुप्रभावों से मानवता की रक्षा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर केवल इस प्रकार के परमाणु विस्फोटों को रोककर ही की जा सकती है।

—संपादक

अधिक जानकारी के लिए देखिए—

"ए लुक ऐट कैन्सर" लेखक और प्रकाशक—डा. बी. आर. खनोलकर, निदेशक, भारतीय कैन्सर अनुसंधान केंद्र, परेल, बम्बई-12, पृष्ठ संख्या 87।

• • •

45

—डा० सी० जे० मिस्त्री
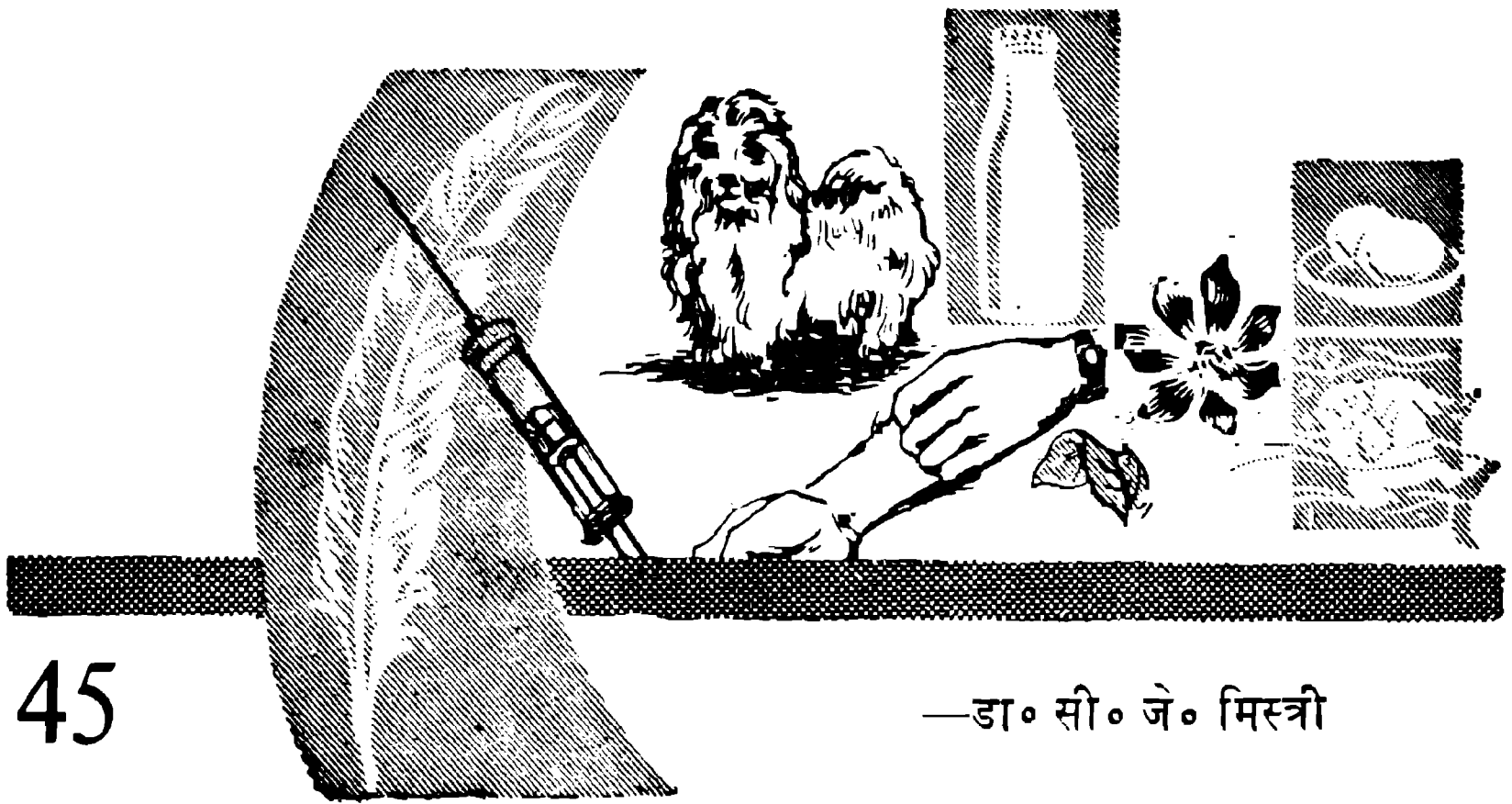
प्रत्यूर्जता या ऐलर्जी

"एक के लिए जो अच्छा है दूसरे के लिए जहर हो सकता है"। 'प्रत्यूर्जता या ऐलर्जी' को संक्षेप में इसी तरह परिभाषित किया जा सकता है। हर एक आदमी धूल और पराग के संपर्क में आता है, हममें से हर एक अंडे व मछली खा सकता है और हरएक को किसी न किसी शारीरिक व्याधि के निमित्त गोली निगलनी पड़ सकती है, लेकिन दुर्भाग्य से कुछ ऐसे लोग हैं जो इनमें से एक या दूसरे पदार्थ को अपने शरीर में बर्दाश्त नहीं कर सकते। ऐसे लोग ऐलर्जिक या ऐलर्जी वाले कहलाते हैं और इस प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति वे परागज ज्वर (हे फीवर), एलर्जी नासाशोथ (छींक और नाक का बहना), श्वसनी-दमा, शीतपित्त या पित्ती, भोजन या ओषधि ऐलर्जी आदि के रूप में करते हैं।

आधुनिक समाज को यह नहीं सोचना चाहिए कि ऐलर्जी का शिकार होने का अवसर केवल उसी को प्राप्त हुआ है बल्कि यह प्रघटना प्राचीन काल के लोगों को भी ज्ञात थी और वे भी इससे पीड़ित होते थे। यह इससे स्पष्ट हो जाता है कि 3,000 ई. पू. चीन के शहंशाह, शेन नुंग, ने गर्भवती महिलाओं को मछली, मुर्गी और घोड़े का मांस खाने के लिए मना कर दिया था। हिप्पोक्रेटीज के लेखों में दमा का वर्णन मिलता है। ऐलर्जी के बारे में उसके विचार स्पष्ट हो जाते हैं जब वह लिखता है कि "सिरदर्द वाले व्यक्तियों को दूध देना ठीक नहीं है"।

ऐलर्जी अतिसंवेदनशीलता की अवस्था अथवा कुछ भोजन पदार्थों, औषधियों, धूल, परागों या इसी प्रकार के अन्य पदार्थों के प्रति अपसामान्य प्रतिक्रिया है। एक व्यक्ति केवल एक विशेष पदार्थ के प्रति ही वैयक्तिक रूप से अतिसंवेदनशील होता है और यह जरूरी नहीं कि अन्य पदार्थों के प्रति भी वह ऐलर्जी वाला होगा। इसे स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि प्रतिजन (ऐन्टीजन) क्या है और प्रतिपिंड (ऐन्टीबॉडी) क्या है।

*   *   *   *

डा. सी. जे. मिस्त्री, एम. डी., सहा. प्रोफेसर कायचिकित्सा, ससून जनरल अस्पताल एवं बी. जे. मेडिकल कालेज, पूना।

प्रतिजन अथवा प्रत्यूर्जताजनक (ऐलर्जन) : यह वह पदार्थ है जो शरीर में प्रविष्ट कराए जाने पर प्रतिपिंड नामक कुछ पदार्थों के उत्पादन को अभिप्रेरित करता है। बाद में फिर इस पदार्थ को प्रविष्ट करने पर पदार्थ और पहले से उत्पन्न प्रतिपिंडों में परस्पर एक प्रतिक्रिया होती है। इस प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप कुछ हानिकारक रसायन उत्पन्न होते हैं जो ऐलर्जी के लक्षण उत्पन्न करते हैं। प्रतिजन (ऐन्टीजन) हमेशा प्रोटीन ही होते हैं।

प्रतिपिंड (ऐन्टीबॉडी) प्रतिजन को प्रविष्ट करने पर शरीर में 'प्रतिपिंड' नामक पदार्थ उत्पन्न होता है। ये प्रतिपिंड विशिष्ट रूप से उसी प्रतिजन के अनुसार होते हैं जो कि उन्हें उत्पन्न करता है। ये रक्त के गामा ग्लोबुलिन वाले अंश में विद्यमान रहते है। प्रतिजन और प्रतिपिंड जब नाक, फेफड़े, त्वचा सरीखे विशिष्ट अंगों में परस्पर मिलते हैं तो इनका परिणाम होता है क्रमश: परागज ज्वर (हे फीवर), दमा और त्वक्शोथ। इस सम्मिलन के परिणामस्वरूप हिस्टामिन और सेरोटोनिन सरीखे रासायनिक पदार्थ मुक्त किए जाते हैं। ये ही पदार्थ आयुर्विज्ञानीय अभि-व्यक्ति के लिए उत्तरदायी होते है।

वातावरण में विभिन्न प्रकार के प्रतिजन (एलर्जन) पाए जाते हैं, जैसे धूल, पराग, प्राणियों के वाल, घोड़े की लीद, फफूंदियां, अंडे और मछली सरीखे खाद्य पदार्थ, ऐस्पिरीन, सल्फोनामाइड, पेनिसिलीन सरीखी औषधियां आदि। ये प्रतिजन शरीर में निम्नलिखित प्रकार से प्रविष्ट हो सकते हैं (i) अभिश्वसन द्वारा—जैसे पराग, घर की धूल, जानवरों के बाल, घोड़े की लीद आदि, (ii) अंतर्ग्रहण द्वारा—जैसे भोजन, औषधियां, (iii) इंजेक्शन द्वारा – जैसे पेनिसिलीन, प्राणि सीरम, उदाहरणार्थ—ऐन्टीटेटेनस सीरम, और (iv) संपर्क द्वारा—जैसे नाइलोन, नाखून पालिश, लिपस्टिक। त्वचा की एक्जीमा या खुजली वाली स्थितियां फर, ऊन, रंजक, नाइलोन के कपड़े तथा रसायन सरीखे अन्य पदार्थों के संपर्क के फलस्वरूप ही उत्पन्न होती हैं; जैसे शिलोवल्क में हेयर लोशन, माथे पर टोप की पट्टियां, पलकों में प्रसाधन सामग्रियाँ, कानों में छल्ले (प्लास्टिक), नाक में चश्मे का ब्रिज या बीच वाला भाग; इसी तरह लोमशातक (बाल निकालना), चोली, दाढ़ी बनाने की सामग्री, ब्रुश आदि। बी. सी. जी. के टीके के पहले किया जाने वाला ट्युबरकुलिन परीक्षण भी एक प्रकार की एलर्जी है जिससे यह ज्ञात किया जाता है कि व्यक्ति को बी. सी. जी. के टीके की आवश्यकता है या नहीं।

निदान :

ऐलर्जी के कारण का सही निदान करने के लिए रोगी के इतिहास की जानकारी अनिवार्य है और साथ ही घटनाओं के अनुक्रम, अब तक ली गई औषधियों, घर के वातावरण, व्यावसायिक परिवेश आदि से संबद्ध जानकारी भी आवश्यक है। डाक्टर को यह बताना भी युक्तिसंगत है कि ऐलर्जी का ऐसा ही इतिहास क्या किसी अन्य रिश्तेदार का भी है क्योंकि ऐलर्जी कभी-कभी परिवारों में भी चलती चली जाती है। व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक अवस्था भी ऐलर्जी के विकारों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है। भले ही ऐसी अवस्था ऐलर्जी का कारण न हो, तो भी यह स्थापित ऐलर्जी को चिरस्थायी बना सकती है। बच्चों में—अन्य बच्चों के साथ परस्पर सामाजिक समंजन और शिक्षकों के प्रति प्रतिक्रिया, किशोरों में स्कूली समस्याएं और लैंगिक परिवर्धन, और वयस्कों में—लिंग, विवाह, कार्य संबंधी दशाएं, मनोविनोद की सुविधाएं आदि निश्चित रूप से प्रतिक्रिया को परिवर्तित करती हैं।

व्यक्ति द्वारा बताए गए इतिहास या विवरण के अतिरिक्त प्रतिजनों की संपुष्टि के लिए कुछ परी-

क्षणों को करना आवश्यक है : (i) खरोंच परीक्षण : यह सबसे पुराना, सरलतम, सुरक्षात्मक और दर्द न करने वाला परीक्षण है। शिशुओं के लिए तो यह उत्तम है। इस परीक्षण में खड़ी पंक्तियों में इस तरह खरोंचा जाता है कि खून न निकले। प्रतिजन की एक बूंद खरोंच वाले पदार्थ पर रखी जाती है और फिर 15 से 30 मिनट बाद प्रतिक्रिया का अध्ययन किया जाता है। विशेष पदार्थ के प्रति यदि ऐलर्जी होती है तो तुरंत ही एक लाल धब्बेदार उभार उत्पन्न हो जाता है।

(ii) धब्बा परीक्षण : संस्पर्श त्वक्शोथ में, इस परीक्षण से त्वचा में वस्तुत: उस क्षोभक पदार्थ के संपर्क से विक्षति उत्पन्न की जाती है।

(iii) अवत्वचीय और अंत:त्वचीय परीक्षण : त्वचा के नीचे अथवा त्वचा की परतों में प्रतिजन का इंजेक्शन दिया जाता है (चित्र 46.6)। तकनीकी दृष्टि से इस परीक्षण में सुपरिष्कृत परीक्षण-पदार्थों और उपस्कर की आवश्यकता होती है। खरोंच परीक्षण की अपेक्षा ये परीक्षण अधिक सुग्राही होते हैं।

किसी को यह कैसे मालूम होता है कि उसमें ऐलर्जी विकसित हो गई है? धूल और पराग के संपर्क से आपने बहती नाक का अनुभव अवश्य किया होगा। अंडे या मछली खाने के बाद मतली और कै हुई होगी; किसी न किसी समय हरएक को शीत पित्त और खुजली अवश्य हुई होगी। ये सब ऐलर्जी की अभिव्यक्ति के भिन्न-भिन्न रूप हैं। आंखों, ओंठों और चेहरे की सूजन श्वासहीनता के दौरे और सांस लेने में कठिनाई होना इसी रोग प्रक्रम की विविधताएं हैं। कभी-कभी इंजेक्शन के बाद बेचैनी, अधिक पसीने और पांडुता (पीलापन) के साथ उग्र ऐलर्जी प्रतिक्रियाएं (तीव्रग्राहिता — ऐनाफिलेक्सिस) भी उत्पन्न हो सकती हैं, जैसे पेनिसिलीन, ऐन्टीटेटनस सीरम (ए.टी.एस.) आदि के इंजेक्शन से। कभी-कभी ये घातक भी हो सकते हैं।

निरोध :

क्या ऐसी एलर्जी प्रतिक्रियाओं से बचा जा सकता है? यदि किसी व्यक्ति को कुछ चीजें माफिक नहीं होतीं तो उसे उनसे बचना चाहिए। इस प्रकार की एलर्जी वाली जटिल समस्या का केवल यही एकमात्र समाधान है। लेकिन प्राय: यह इस कारण संभव नहीं है कि हमेशा आक्रामक प्रतिजन का निर्धारण करना सरल नहीं होता। निगमन (deduction) की विधि द्वारा एक-एक करके पदार्थों का निराकरण या उनसे बचना होगा जब तक कि सही प्रतिजन ज्ञात नहीं हो जाता। कुछ मामलों में इस प्रयोजन के लिए उपलब्ध तैयार प्रतिजनों का इस्तेमाल करना होगा। ये घर की धूल, पराग आदि से तैयार किए जाते हैं। फिर भी यह तकनीक इतनी सरल नहीं है जितनी कि लग रही है और इसमें डाक्टर और रोगी दोनों के भारी सब्र की आवश्यकता पड़ती है। कभी-कभी हो सकता है कि सही प्रतिजन पाने में असफलता हाथ लगे। यदि इस विधि द्वारा प्रतिजन ज्ञात करने में कोई भाग्यवान सफल गया हो तो शुरू में इस प्रतिजन की अल्प मात्रा से शुरू करते हुए धीरे-धीरे मात्रा बढ़ाते जाना चाहिए और इस तरह वह ऐलर्जी की प्रतिक्रिया को रोकने में सफल हो सकता है। इस प्रक्रिया को 'विसुग्राहीकरण' (desensitization) कहते हैं।

देखभाल :

1. ऐलर्जी के लक्षण दिखाई देने पर सलाह और उपचार के लिए डाक्टर की सहायता लीजिए। कई बार समय पर दिए गए एड्रीनेलिन के इंजेक्शन द्वारा ही जान बचाई जा सकती है।
2. अपने डाक्टर को यह अवश्य बता दीजिए कि आप को अमुक पदार्थ के प्रति अतिसुग्राहिता या एलर्जी का अनुभव हुआ है; जैसे ऐस्पिरीन पेनिसिलीन, सल्फा औषधियों आदि से।

3. अपने डाक्टर को हमेशा वता दीजिए कि आपने पहले घोड़े की सीरम वाला इंजेक्शन लिया है; जैसे ए. टी. एस. (ऐन्टीटेटेनस सीरम), ए.डी.एस. (ऐन्टी-डिफ्थीरिया सीरम) आदि।
4. जिस औषधि, इंजेक्शन या भोजन के प्रति आप संवेदनशील या ऐलर्जिक हैं बड़ी सावधानी से उससे परहेज रखिए।
5. यदि आपने पहले ए. टी. एस. या ए. डी. एस. सरीखा कोई सीरम इंजेक्शन लिया है तो पूरी मात्रा लेने के पहले थोड़ी मात्रा से त्वचा के अवत्वचीय परीक्षण पर जोर दीजिए।
6. सामान्य रूप से इंजेक्शन के रूप में दी जाने वाली पेनिसिलीन को त्वचा, आंख, नाक आदि पर स्थानिक रूप से नहीं लगाया जाना चाहिए क्योंकि इससे औषधि के प्रति सुग्राहिता में वृद्धि हो जाएगी। स्थानिक रूप से लगाए जाने वाले पाउडर, मलहम और फुहार आदि का इस्तेमाल नहीं करना चाहिए, यदि उनमें पेनि-सिलीन, सल्फोनामाइड आदि है तो।
7. मामूली संक्रमणों में, जैसे शीत, बगैर निदान वाले ज्वर आदि में, बिना बात प्रतिजीवियों का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि शरीर में इनके प्रति अकस्मात यदि ऐलर्जी उत्पन्न हो जाये तो न्युमोनिया, मस्तिष्कावरणशोथ और अन्य उग्र संक्रमणों में भविष्य में ऐसी समर्थ औषधियों का प्रयोग नहीं किया जा सकेगा।
8. प्रतिजीवी वाला हरएक उपचार पूरी अवधि के लिए निर्धारित मात्रा के द्वारा पूरी तरह संपन्न होना चाहिए।

दमा का वर्णन, जो कि सामान्य ऐलर्जी-अवस्था है, अध्याय 17 में 'श्वसन-पथ के सामान्य रोग' के अंतर्गत किया गया है। एक्ज़ीमा का वर्णन अध्याय 30 में 'त्वचा के सामान्य रोग और उसकी देखभाल' के अंतर्गत किया गया है।

• • •

46

—डा० एस० वी० भावे
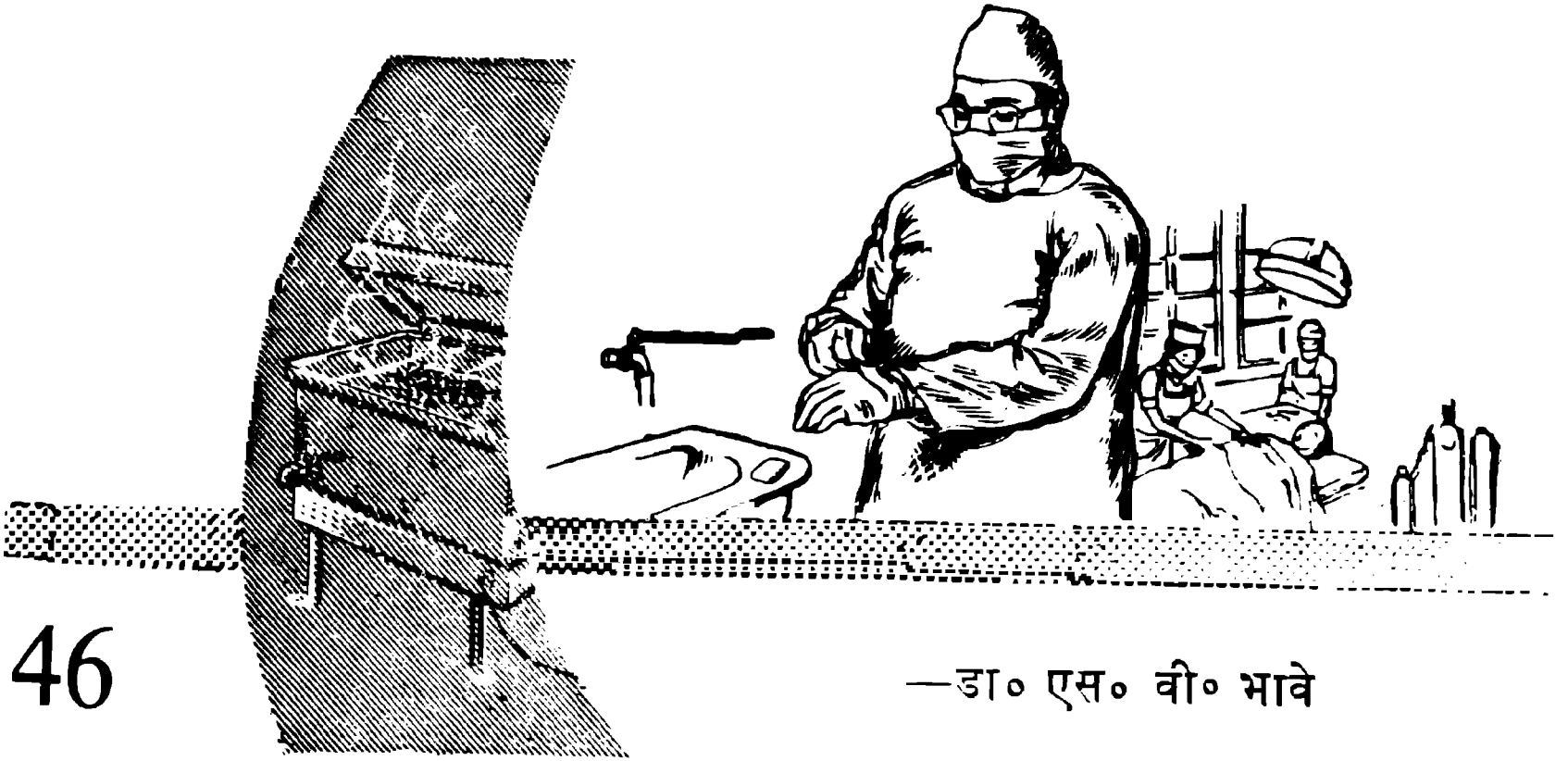
आधुनिक शस्त्रकर्म कितना निरापद है

आजकल "शस्त्रकर्म" (सर्जरी) शब्द से लोग डरते नहीं हैं। शस्त्रकर्म से होने वाली मर्त्यता अब बहुत कम हो गई है। आज आपरेशन कराना किसी भीड़ वाली सड़क पर चलने या मोटर साइकिल पर चढ़ कर जाने मे कम खतरनाक है।

शस्त्रकर्म में सुरक्षा बिलकुल सही और अनुमानित प्रकार की हो गई है। जिन कारकों से सर्जरी सुरक्षित बन पाई है वे असंख्य और विविध प्रकार के हैं। वे कारक एक-दूसरे पर इतना अधिक निर्भर करते हैं कि किसी एक कारक को औरों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण समझना गलत होगा। इस सारी प्रक्रिया में 'आपरेशन' एक छोटी घटना है। इसमें कोई संदेह नहीं कि आपरेशन की सफलता में उसे करने वाले सर्जन की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती है, तो भी बड़ी भूमिका कुछ अन्य कारकों द्वारा अदा की जाती है। ये कारक मोटे तौर पर दो प्रकार के हैं : (क) वे जिन्होंने रोगियों को आपरेशन के लिए सुरक्षित बना दिया है, और (ख) वे जिन्होंने आपरेशन को रोगियों के लिए सुरक्षित बना दिया है।

रोगियों को आपरेशन के लिए सुरक्षित बनाए रखना :

आपरेशन के दौरान रोगियों को सुरक्षित रखने में निम्नलिखित कारक सहायक रहे हैं :

1. सही निदान : (i) क्लीनिक परीक्षण की विधियों में बहुत अधिक सुधार हो गया है। इस कला और विज्ञान में पुराने विशेषज्ञों का ज्ञान भी आज के सर्जन के लिए सुलिखित साहित्य के रूप में उपलब्ध है। फिर सर्जन उन्नत विधियों वाला प्रशिक्षण और निदेशन भी प्राप्त करता है।

(ii) क्लीनीकल विधियों के अतिरिक्त निदान की सहायक विधियां भी बढ़ गई हैं। हड्डियों और कैल्सियम वाले अन्य अंगों अथवा विक्षतियों का अनुमान लगाने के लिए एक्स-रे का इस्तेमाल किया जाता है। अस्थिभंग या हड्डियों की टूट का निदान आसानी से एक्स-रे प्लेट लेकर किया जा सकता है (चित्र 46.21)। मध्यपट या डायफ्राम की गति अथवा फुप्फुसावरणी कोश में तरल

* * * *

डा. एस. वी. भावे, एफ. आर. सी. एस. (इंग.), एफ. आर. सी. एस. (एडिनबर्ग), डी. ऑर्थो (बम्बई), अवे. सहा. सर्जन, ससून जनरल अस्पताल एवं बी. जे. मेडिकल कालेज, पूना; सदस्य, संपादक मंडल, 'हम और हमारा स्वास्थ्य'।

(चित्र 17.31) को छाती के एक्स-रे द्वारा स्क्रीनिंग करके देखा जा सकता है (चित्र 46.22)। सामान्यतया जठरआंत्र-पथ का अनुमान साधारण एक्स-रे से नहीं किया जा सकता। लेकिन यदि बेरियम सरीखे रेडियो-अपारदर्शी पदार्थ का अंतर्ग्रहण किया जाता है तो एक्स-रे प्लेट पर तस्वीर के रूप में उसका फोटो लिया जाता है (चित्र 46.3)। इसकी सहायता से जठरआंत्र-पथ की संरचना, कार्य और रोग का अध्ययन सुविधापूर्वक किया जा सकता है। इसी तरह अन्य अलग-अलग माध्यम भी हैं जिनमें से प्रत्येक विशेष प्रकार से किसी एक अंग से संबंध रखता है और इस तरह वृक्क, गवीनी (चित्र 46.4), यकृत्, हृदय व रक्त वाहिनियों, पित्तमार्ग, मस्तिष्क आदि का पृथक् प्रकार से विस्तृत अध्ययन किया जा सकता है। इनके अध्ययन पर आधारित जानकारी आपरेशन करने वाले सर्जन के लिए बहुत महत्व की होती है जो आपरेशन को अपेक्षतया छोटे क्षेत्र तक सीमित कर सकता है और इस तरह आपरेशन के खतरों को काफी कुछ कम कर सकता है।

प्रयोगशाला में किए गए निरीक्षणों और परीक्षणों की विश्वसनीय जानकारी अब सर्जन को उपलब्ध कराई जाती है। ये आपरेशन के पूर्व वाले निदान और मूल्यांकन के लिए ही जरूरी नहीं हैं बल्कि आपरेशन के दौरान और बाद के लिए भी जरूरी होते हैं।

चित्र 46.21—छाती की एक्स-रे प्लेट लेना
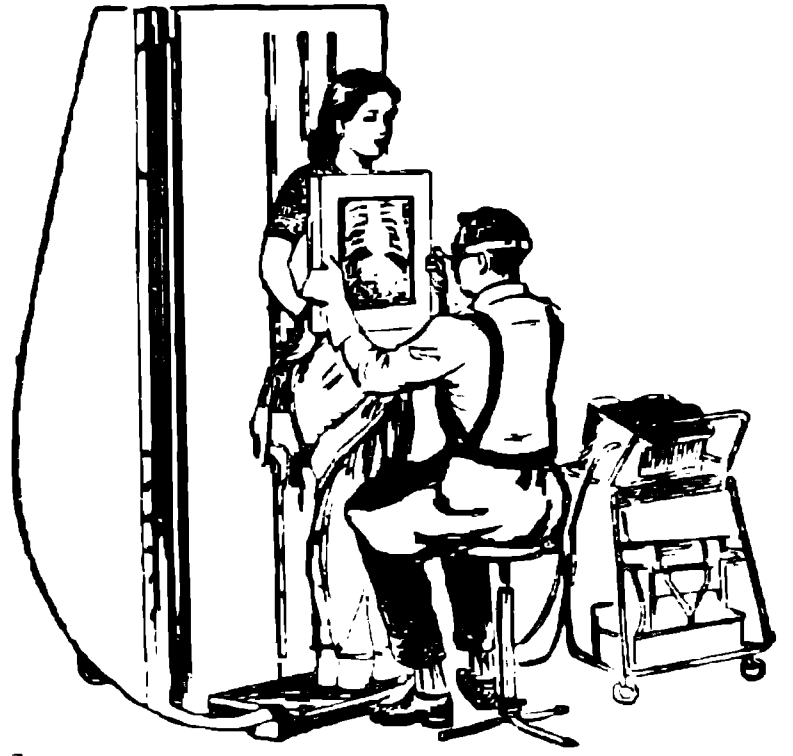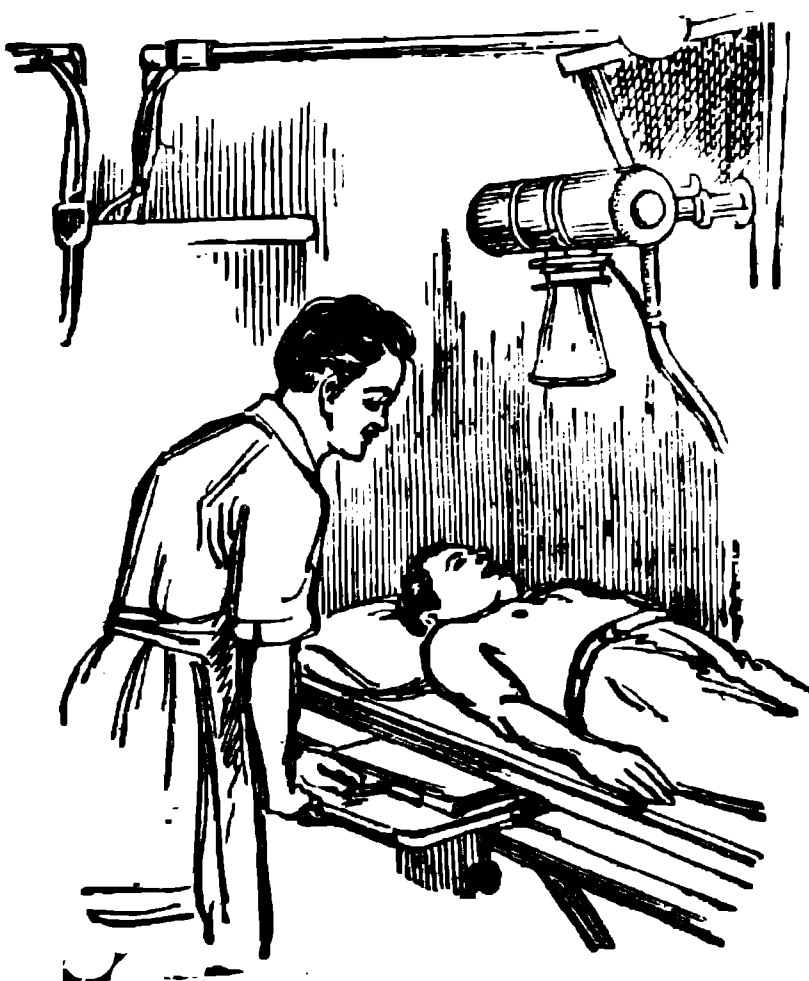
चित्र 46.22—एक्स-रे निरीक्षण
(छाती की स्क्रीनिंग)

चित्र 46.3—बेरियम भोजन (बेरियम मील) से भरा आमाशय दिखलाती हुई एक्स-रे प्लेट
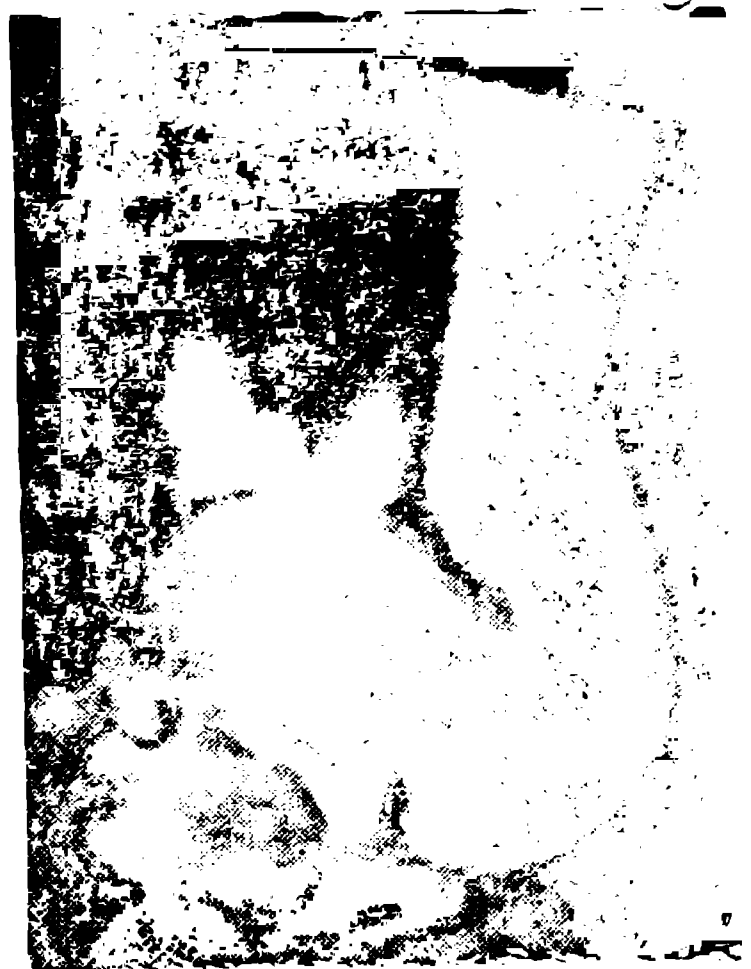
चित्र 46.4—वृक्क, गवीनियां दिखलाती हुई एक्स-रे प्लेट

2. रोगी का शस्त्रकर्मपूर्व मूल्यांकन : आजकल रोगी की क्षमता को आंकने के लिए, कि किस विशेष संज्ञाहरण (anaesthesia) की विधि द्वारा रोगी का आपरेशन किया जा सकता है, सर्जनों के पास उनके वश में विविध सुविधाएं हैं; जैसे प्रयोगशाला के परीक्षण इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम, एक्स-रे, रक्त दाब लेखा आदि।

3. शस्त्रकर्म से पूर्व रोगी की तैयारी : कमजोर अथवा अरक्तता वाले रोगी को थोड़े से उपचार के बाद आपरेशन के लिए फिट करने के लिए आजकल कई सक्षम औषधियां उपलब्ध हैं, जैसे आसानी से स्वांगीकरणयोग्य प्रोटीन खाद्य, विटामिन, हॉरमोन, रक्ताधान आदि। निर्जलीभवन, संक्रमण, विटामिन की कमी आदि को अब आसानी से दूर किया जा सकता है और रोगियों को शस्त्रकर्म के लिए सुरक्षित बनाया जा सकता है।

आपरेशन को रोगियों के लिए निरापद बनाना :

वे निम्नलिखित कारक हैं जिन्होंने रोगियों के लिए आपरेशन को निरापद बनाया है :

1. मूलभूत विज्ञानों की प्रगति : शरीरक्रिया विज्ञान, शरीररचना विज्ञान, विकृतिविज्ञान (पैथोलौजी) और भेषजगुण-विज्ञान (फार्माकोलॉजी) ने शस्त्रकर्म को बहुत सरल और अधिक यथार्थ बना दिया है।

शरीरक्रिया विज्ञान की प्रगति से शरीर के विभिन्न तंत्रों के कार्यों की और अच्छी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इससे आपरेशन के बाद अंग विशेष के कार्य में होने वाले परिवर्तन के बारे में भी जानकारी मिलती है।

शारीर या शरीररचना विज्ञान की प्रगति से शस्त्रकर्म की नई तकनीकें संभव हो पायी हैं। उदाहरण के लिए,फेफड़े और वृक्क की शरीररचना विज्ञान की नयी जानकारी से इन अंगों का आंशिक अथवा खंडीय उच्छेदन संभव हो गया है, जो कि अब तक असंभव था। पहले पूरे फेफड़े अथवा वृक्क के साथ शरीर के अधिकांश महत्वपूर्ण कार्यों का त्याग करना भी आवश्यक होता था।

विकृतिविज्ञान की प्रगति से रोग विशेष के कारण और आचरण की अच्छी जानकारी प्राप्त हो जाती है। सर्जन अब विभिन्न प्रकार के कैन्सरों के प्रसार को बखूबी समझ सकता है, और इस तरह अपने आपरेशन को इस जानकारी पर आधारित कर सकता है।

भेषजगुण-विज्ञान की प्रगति से नई औषधियां प्रकाश में आई हैं और शस्त्रकर्म में प्रयुक्त किए जाने वाले नए पदार्थ भी खोज निकाले गए हैं। शस्त्रकर्म को निरापद बनाने में निम्नलिखत औषधियां योग देती हैं :

(i) प्रतिजीवी (ऐन्टीबायोटिक) :— पेनिसिलीन और अन्य प्रतिजीवियों ने आपरेशन के दौरान और उसके बाद वाले संक्रमण के खतरों

को नगण्य कर दिया है। अतः आपरेशन के बाद पूति वाले घाव अब बहुत ही कम होते हैं। (ii) संज्ञाहारी : संज्ञाहरण में क्लोरोफॉर्म बहुत सक्षम किंतु बहुत विषालु होता था। इसका स्थान अब नए व कम विषालु पदार्थों ने ले लिया है, विशेषकर संज्ञाहारी गैसों ने और इस कारण संज्ञाहरण के जो खतरे थे वे अब बहुत ही कम कर दिए गए हैं। (iii) कुछ रोगों के प्रभावकारी नियंत्रण वाली औषधियां :— इसका सबसे अच्छा उदाहरण है नयी अवटुरोधी औषधियां। इन औषधियों की खोज के पहले अवटु वाला आपरेशन बहुत खतरनाक समझा जाता था और इसीलिए आपरेशन को कई अलग-अलग अवस्थाओं में करना पड़ता था। नई औषधियां विषालुता को इतनी अच्छी तरह से नियंत्रित कर लेती हैं कि आपरेशन अब अलग-अलग अवस्थाओं में नहीं करने पड़ते। एक ही आपरेशन में सारी प्रक्रिया बिना खतरे के मजे में पूरी कर ली जाती है।

2. शस्त्रकर्म में नए पदार्थ : टूटी हड्डियों को अब कीलों और पेचों की सहायता से जोड़ा जा सकता है। कुछ ही साल पहले यह संभव नहीं था और ऐसा इसलिए नहीं कि पहले वाले सर्जनों ने आंतरिक स्थिरीकरण के बारे में कभी सोचा नहीं बल्कि इसलिए कि उस समय टाइटेलियम अथवा स्टेनलेस स्टील सरीखी आयनकारी धातुओं की खोज नहीं हुई थी। अब ये उपलब्ध हैं और बिना किसी नुकसान के शरीर के ऊतकों के भीतर इस्तेमाल की जा सकती हैं। यह एक ऐसा सुस्पष्ट उदाहरण है कि किस प्रकार धातुकर्म सरीखे पूरी तरह से भिन्न विज्ञान ने आयुर्विज्ञान की प्रगति में योग दिया है।

तंत्र के कुछ भागों में विकल्प के रूप में टेफ्लोन, डेक्रोन और टेरीलीन की नलियां प्रयुक्त की जाती हैं। नाइलोन का धागा सिलने वाले पदार्थ के रूप में प्रयुक्त होता है। यह स्टील से मजबूत होता है और चूंकि यह ऊतक में क्षोभ उत्पन्न नहीं करता इसलिए संक्रमण के अवसर बहुत कम होते हैं।

3. संज्ञाहरण (ऐनेस्थीसिया) में प्रगति : पहले आपरेशन द्वारा होने वाली मर्त्यता का मुख्य कारण संज्ञाहरण की प्रक्रिया हुआ करती थी, लेकिन अब किसी व्यक्ति को संज्ञाहरण की प्रक्रिया के अंतर्गत कई घंटों तक रखा जा सकता है। आधुनिक संज्ञाहरणविज्ञानी बहुत अच्छी तरह से प्रशिक्षित और सुयोग्य होता है और जो प्रगत जानकारी वाला विशेष प्रशिक्षण ही प्राप्त नहीं करता है बल्कि विशेषज्ञ के कुशल निर्देशन में व्यावहारिक अनुभव भी अर्जित करता है। नई संज्ञाहारी मशीन (चित्र 46.5) के द्वारा रोगी को संज्ञाहारी निरापद गैसें और आक्सीजन नपी तुली मात्रा में दी जा सकती है। यदि साथ में पेशी शिथिलकों का इस्तेमाल होता है तो इन मात्राओं को बहुत कम किया जा सकता है। ऐसे में किसी विशेष आपरेशन के निमित्त प्रयुक्त किए जाने वाले संज्ञाहरण की अवधि बहुत कम हो जाती है। रक्त की कमी या उसके अभाव में हृदय व मस्तिष्क समेत विभिन्न अंगों की उत्तरजीविता की अवधि यानी चेतन बने रहने की अवधि अल्पताप (हाइपोथरमिया) के प्रयोग से और लम्बी

चित्र 46.5—संज्ञाहारी मशीन
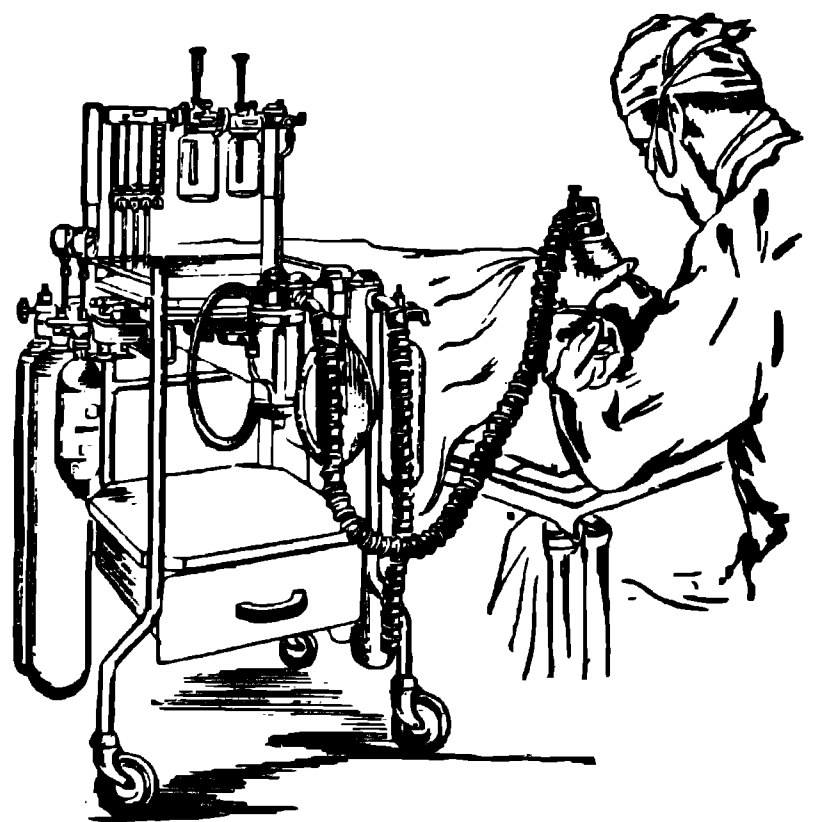
की जा सकती है जिसमें शरीर और उसके ऊतकों का तापमान कृत्रिम रूप से कम कर दिया जाता है। इस प्रकार हृदय और मस्तिष्क सरीखे नाजुक और महत्वपूर्ण अंगों का आपरेशन निरापद बना दिया गया है।

स्थानिक संज्ञाहरण, क्षेत्ररोधी संज्ञाहरण और मेरुरज्जु संज्ञाहरण के लिए कुशल तंत्रिकारोधी कारकों के प्रयोग से केवल उस इच्छित क्षेत्र या स्थल का संज्ञाहरण करना संभव हो गया है जिसका कि आपरेशन किया जाना है और बाकी सारा शरीर सामान्य अवस्था में ही रहता है।

किस्म-किस्म के संज्ञाहारी कारकों के कारण किसी विशेष रोगी अथवा किसी विशेष आपरेशन के लिए सबसे उपयुक्त संज्ञाहारी पदार्थ का चयन करना संभव हो गया है।

4. अपूतिक शस्त्रकर्म : पुराने समय में जीवाणुओं (बैक्टीरिया) को मारने पर तभी जोर दिया जाता था जब कि संक्रमण हो जाता था। आधुनिक शस्त्रकर्म तकनीक में अत्र जोर अपूतिक (एसेप्टिक) शस्त्रकर्म पर दिया जाता है जो कि अनिवार्य रूप से निरोधक प्रकार का है। इस तकनीक का उद्देश्य यह है कि शरीर के ऊतकों को जीवाणु संदूषित करके संक्रमित न कर सकें। इसके लिए उबालने या वाष्प-दाबी विसंक्रमण (ऑटोक्लेविंग) की रीति से निर्जीवाणुकरण किया जाता है अर्थात् औजारों, ड्रेसिंग सरीखी वस्तुओं का निर्जीवाणुकरण अधिक दाब पर भाप द्वारा किया जाता है क्योंकि इन चीजों को आपरेशन के दौरान ऊतकों के संपर्क में जो आना होता है, इसीलिए इन्हें पहले अपूतिक या निर्जीवाणुक कर दिया जाता है।

चित्र 46.6—आधुनिक आपरेशन कक्ष

5. आधुनिक आपरेशन-कक्ष उपस्कर : आपरेशन कक्षों में इस प्रकार की व्यवस्था होती है कि कहीं भी परछाइयां नहीं पड़तीं क्योंकि प्रकाश का प्रबंध इस प्रकार होता है कि आपरेशन वाले क्षेत्र में खूब प्रकाश पहुंचे, चाहे कितने ही सर्जन आपरेशन क्षेत्र के ऊपर अपने सिर गड़ाए हों (चित्र 46.6)। आज के आधुनिक आपरेशन कक्षों में टेबल रोगी की सुविधा के अनुसार या उसे हर संभव स्थिति में रखने के लिए परिवर्तित की जा सकती है। टेबल का सारा नियंत्रण संज्ञाहरणविज्ञानी के हाथ में होता है।

शस्त्रकर्म डायाथर्मी मशीन रक्तस्राव वाले बिन्दुओं का स्कंदन करके रक्तस्राव को रोकती है। इस मशीन की खोज के पहले हाथ से सभी रक्तस्राव बिंदुओं को बांधने में ही बहुत समय नष्ट हो जाया करता था। इसके अतिरिक्त औजारों की असंख्य किस्में हैं जिनसे आपरेशन बहुत ही सरल हो जाता है और सारी प्रक्रिया की सुरक्षा में वृद्धि हो जाती है।

6. रक्ताधान (ब्लड ट्रांसफ्यूजन) : बड़े आपरेशनों के समय खून निकलने का भारी खतरा रहता था। अब आधुनिक विधियों से किए जाने वाले बड़े-बड़े आपरेशनों में खून निकलने और इससे पहुंचने वाले आघात को बहुत कम कर दिया जाता है और यदि खून निकल भी जाय तो रक्ताधान द्वारा और खून दिया जा सकता है (चित्र 23.10-बी)। आपात्कालीन आपरेशनों में खून की मात्रा और रक्त दाब बनाए रखने के लिए रक्त के स्थानापन्न या बदले वाले पदार्थ का, जैसे कि प्लाज्मा अथवा प्लाज्मा-स्थानापन्न का, इस्तेमाल किया जा सकता है।

7. आपरेशन के बाद की देखभाल : पहले कुस्वास्थ्य और मृत्यु के कारणों में एक कारण आपरेशन के बाद वाली देखभाल से संबद्ध अज्ञान भी होता था। आज आपरेशन के बाद वाली देखभाल की तकनीक और व्यवस्था स्वयं में एक विज्ञान है। शरीर के तरल व इलेक्ट्रोलाइट संतुलन की जानकारी से संबद्ध प्रगति से ही अकेले असंख्य रोगियों की जानें बचाई गई होंगी। और इसी तरह काफी संख्या में रोगियों को पूतिता (सेप्सिस) का निवारण करके अथवा उसके कुशल उपचार से बचाया गया होगा।

ऊपर बताए गये कारकों से ही आधुनिक शस्त्रकर्म इतना निरापाद हो पाया है और यदि किसी को आपरेशन कराने की सलाह दी जाती है तो अधीर और भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। 'आपरेशन' शब्द को भय की अपेक्षा आशा का शब्द माना जाना चाहिए।

* * * *
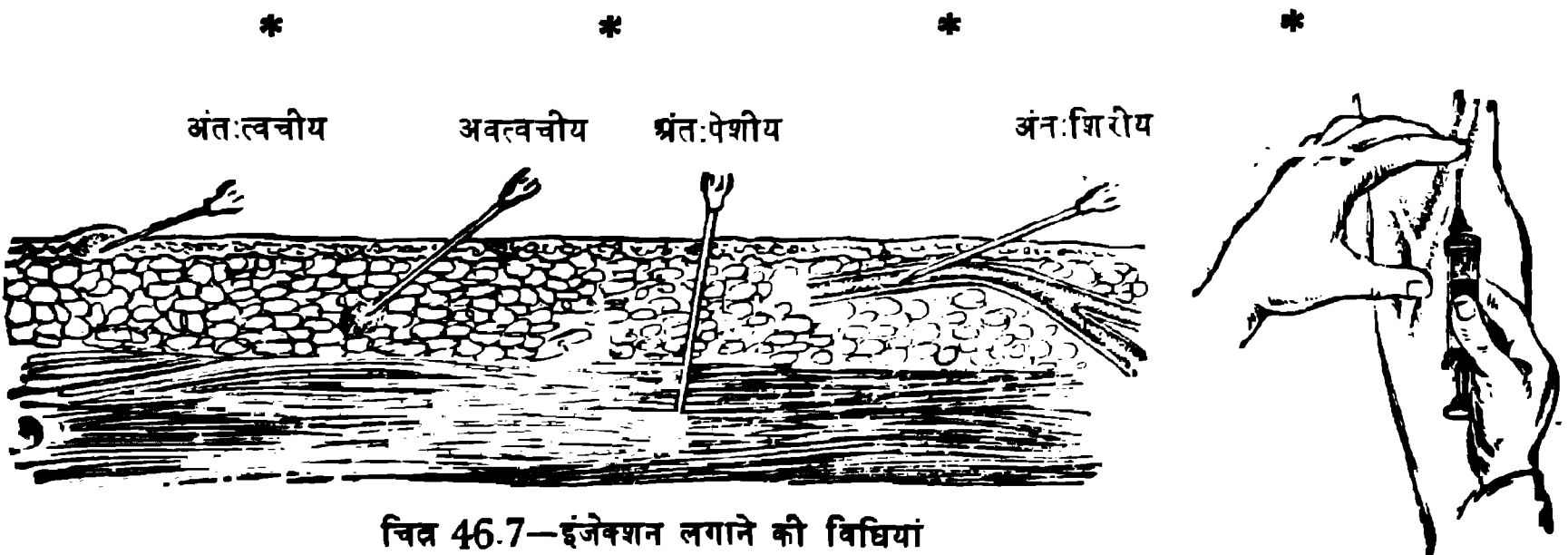
चित्र 46.7—इंजेक्शन लगाने की विधियां

रोगों के निदान और उपचार के लिए इंजेक्शन औषधि देने का एक बहुत उत्तम तरीका है। चित्र 46.7 में इंजेक्शन देने की विधियां बतलाई गई हैं अर्थात् त्वचा, त्वचा के नीचे, पेशी में तथा शिरा आदि में इंजेक्शन किस तरह लगाए जाते हैं।

—संपादक

47

—डा० एस० वी० भावे
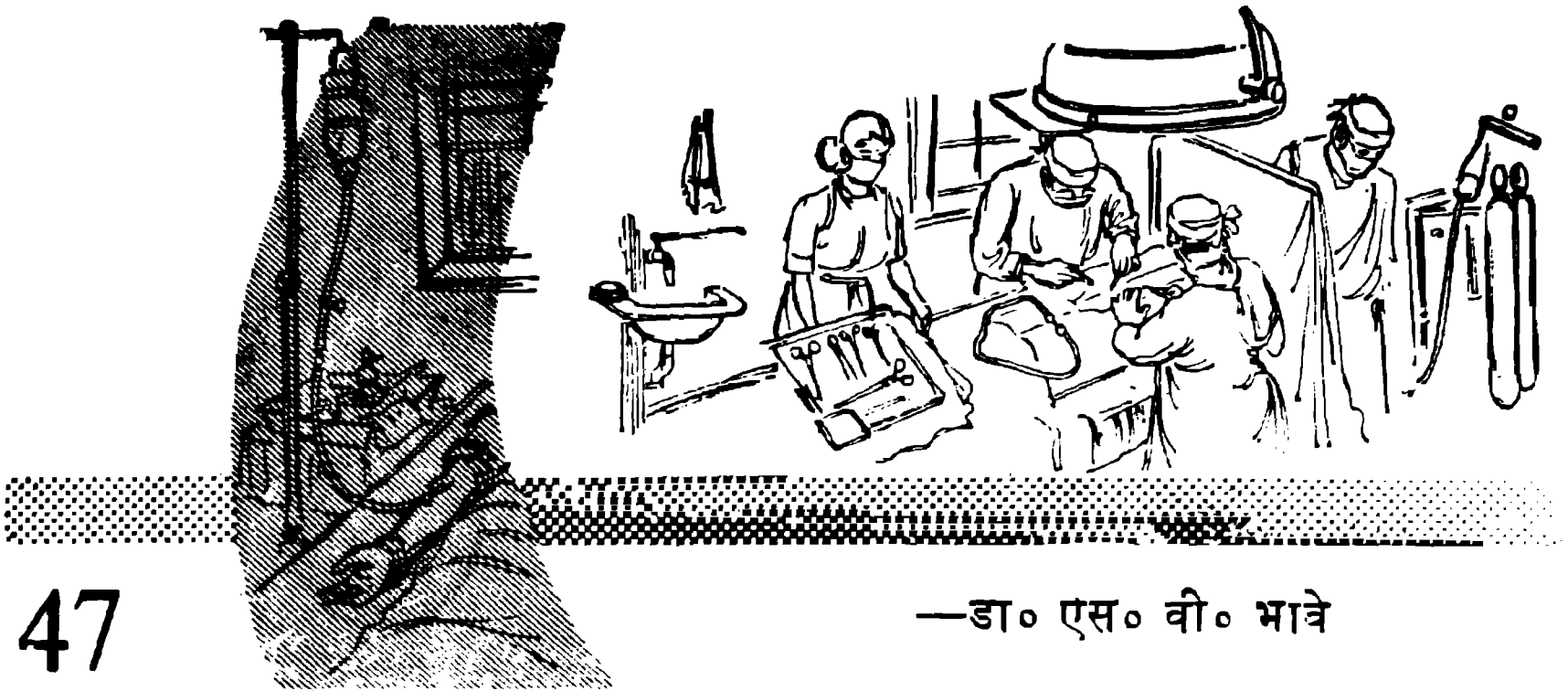
शल्य चिकित्सा वाले सामान्य विकार

अब तक केवल उन्हीं रोगों की चिकित्सा के बारे में बताया गया है जिनमें विविध प्रकार के उपचार सम्मिलित हैं, जैसे मुंह या इंजेक्शनों द्वारा दी गई औषधियां, बाहर से दवाइयां मलना, बिस्तर में विश्राम, आहारिक उपाय, मनश्चिकित्सा वाले उपाय आदि। लेकिन कुछ दशाएं ऐसी हैं जिनमें ऊपर बताए गए उपायों के अलावा आपरेशन करके रोगी भाग को शरीर से निकाल देना होता है, जैसा सूजा हुआ उंडुकपुच्छ (ऐपेन्डिक्स), हर्निया सरीखी स्थिति में ऊतकों की पुनर्रचना और अस्थिभंग को ठीक करने अथवा संधिच्युति कम करने वाली हस्तोपचार क्रियाएं। ये सारी प्रक्रियाएं शल्य चिकित्सा की कोटि में आती हैं। कुछ सामान्य स्थितियां नीचे वर्णित की गई हैं जिनमें सर्जन की आवश्यकता पड़ती है।

1. उंडुकपुच्छशोथ (ऐपेन्डीसाइटिस) :

उंडुकपुच्छ एक नलिकाकार अंग है जो क्षुद्र आंत्र और बृहदांत्र के मिलने वाले स्थान के निकट एक शाखा के रूप में निकला होता है (चित्र 47.1)। इस नलिका का दूसरा सिरा अंध या बंद होता है। कंगारू सरीखे निम्नतर प्राणियों में उंडुकपुच्छ का निश्चित रूप से कार्य होता है अर्थात् आंत्र की वस्तुओं से अधिकांश तरल का अवशोषण। लेकिन मानव में इसका कोई ज्ञात कार्य नहीं है और यह अंग बिलकुल अनावश्यक है। इसमें दो प्रकार की सूजन हो सकती है—तीव्र और चिरकारी। तीव्र रूप में जब यह सूज जाता है (चित्र 47.3) तो आधार पर अवरुद्ध हो जाता है। इस अवरोध से इसमें और अधिक सूजन आ जाती है और उंडुकपुच्छ की अवकाशिका में सामान्यरूप से जो जीवाणु रहते हैं वे गुब्बारे-जैसी निकली उंडुकपुच्छ-भित्ति में अतिक्रमण करते हुए पर्युदर्या (पेरीटोनियल)-गुहा में पहुंच जाते हैं। पर्युदर्या वह आस्तर या झिल्ली है जो सभी उदरीय अंगों में विद्यमान रहती है। वपा (ओमेन्टम), जो उदर में गतिशील पर्दे की तरह होती है, तब उंडुकपुच्छ की बाहरी दीवार से चिपककर इस आक्रमण को स्थानिक रूप से सीमित करने की चेष्टा करती है। इसमें आंत्र के आसपास के कुंडलित भाग भी सहायक होते हैं। किंतु यदि शोथ उग्र प्रकार का होता है और सूजन तेजी से होती है तो उंडुकपुच्छ फट भी सकता है और उसकी गंदी वस्तुएं सामान्य

* * * *

डा. एस. वी. भावे, एम. बी., बी. एस., डी. आर्थो., एफ. आर. सी. एस. (लन्दन) और (एडिन.), अवै. सहा. सर्जन, ससून जनरल अस्पताल एवं बी. जे. मेडिकल कालेज, पूना; सदस्य, संपादक मंडल, 'हम और हमारा स्वास्थ्य'।
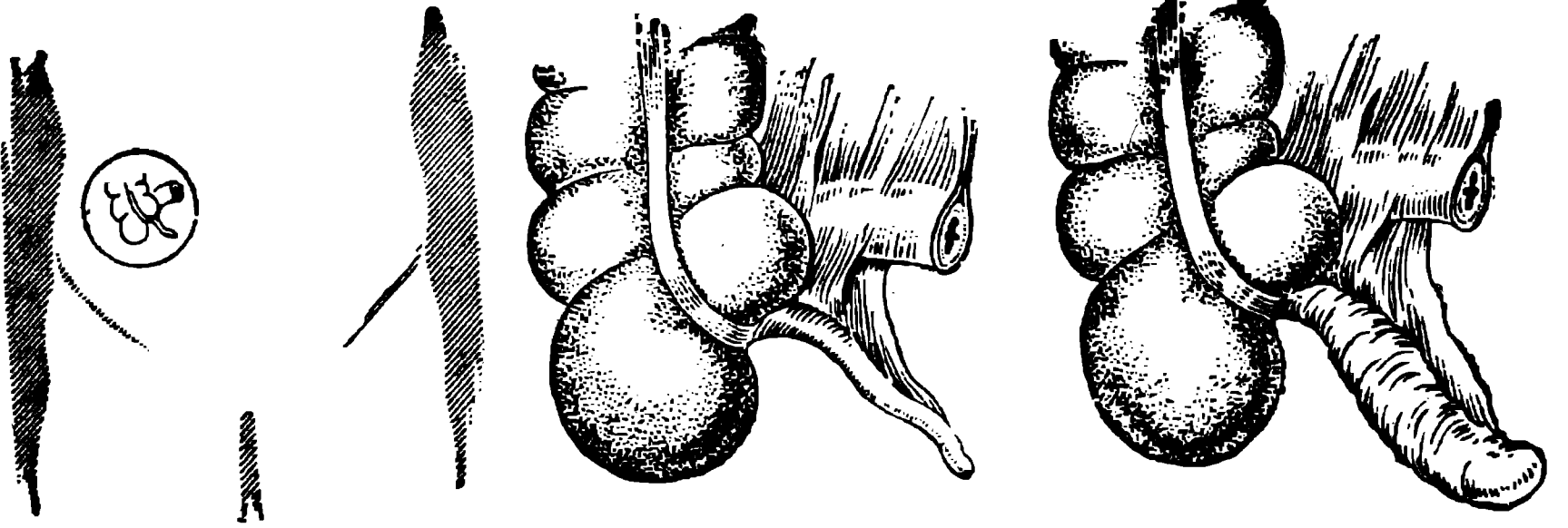
चित्र 47.2—शरीर में उंडुकपुच्छ की स्थिति चित्र 47.31—सामान्य उंडुकपुच्छ चित्र 47.32—शोथयुक्त उंडुकपुच्छ

उदरीय गुहा में गिर सकती हैं। यदि ऐसा होता है तो रोगी की जान जाने का खतरा भी हो सकता है। कुछ रोगियों के भाग्य से शोथ मंद प्रकार का और स्थानिक रह सकता है और एक-डेढ़ महीने में यह गड़बड़ी कम हो सकती है लेकिन ऐसे में रोगी में फिर इसका दूसरा आक्रमण भी हो सकता है।

तीव्र उंडुकपुच्छ में रोगी में निम्नलिखित सभी या इनमें से एक लक्षण दिखलाई दे सकता है। आरंभ में सारे उदर अथवा उदर के ऊपरी भाग अथवा नाभि के इर्द-गिर्द दर्द होता है और इसके बाद ज्वर, मतली और कै तक होती है। कुछ समय बाद यह दर्द उदर के दाहिने निचले भाग में पहुंच जाता है। यह दर्द फिर कम हो सकता है चाहे उडुकपुच्छ फट भी जाय और इसके परिणाम-स्वरूप आघात और सारे उदर में दर्द उत्पन्न हो सकता है। यह खेद का विषय है कि दर्द की कमी या पेशी का रोग की उग्रता से कोई सीधा संबंध नहीं है। मंद प्रकार के दर्द के होते हुए भी भीतर भारी गड़बड़ी हो सकती है। इसलिए उंडुकपुच्छ के फटने अथवा चिपकने और अपने इर्द-गिर्द एक पुंज बनाने के पहले इसे आपरेशन द्वारा निकाल लिया जाना चाहिए। ऊपर बताए गए लक्षणों के आधार पर ज्यों ही उडुकपुच्छशोथ का संदेह हो व्यक्ति को खाना-पीना बंद करके तुरंत सर्जन को बुलवा लेना चाहिए। कोई भी रेचक अथवा दर्द कम करने वाली दवा नहीं ली जानी चाहिए क्योंकि इससे स्थिति के बिगड़ने का डर रहता है। उंडुकपुच्छ को आरंभ में ही आपरेशन द्वारा निकालना निरापद रहता है और यदि वह विद्रधि बना लेता है या फट जाता है तो जान को खतरा हो सकता है। ऐसे में सर्जन उंडुकपुच्छ को निकालने में असमर्थ हो सकता है और एक नली द्वारा पूय या पस को बाहर निकाल सकता है। यदि रोगी बच जाता है तो बाद में उंडुकपुच्छ को निकालने के लिए एक दूसरा आपरेशन जरूरी हो जाता है। चिरकारी उंडुकपुच्छशोथ में हालत कम स्थिर और साधारण हो सकती है। दर्द का स्थल और प्रकार भिन्न-भिन्न रोगियों में भिन्न-भिन्न किस्म का हो सकता है, इसलिए चिरकारी उंडुक-पुच्छशोथ का निदान करने से पहले पूरी तरह से अन्वेषण करना आवश्यक है ताकि पेप्टिक व्रण, बृहदांत्रशोथ, आंत्र में कृमियों की उपस्थिति आदि रोगों का संदेह दूर किया जा सके। उदर के सीधे एक्स-रे में आंत्र की स्पष्ट तस्वीर नहीं आ पाती लेकिन यदि रोगी बेरियम सल्फेट का निलंबन या घोल पी लेता है, जो एक्स-रे के प्रति अपारदर्शी होता है, तो वह आंत की पूरी लंबाई और उंडुक-पुच्छ में पहुंच जाता है और इस प्रकार एक्स-रे फिल्म पर इसका फोटो खींचकर इसका अध्ययन

किया जा सकता है। चिरकारी उंडुकपुच्छशोथ में उंडुकपुच्छ की अवकाशिका आंशिक या पूर्ण रूप से अवरुद्ध हो सकती है या इस अवकाशिका में विष्ठा-अश्मक या पथरी भी हो सकती है। चिरकारी उंडुकपुच्छशोथ का उपचार है उंडुकपुच्छशोथ को निकालना और ऐसा उस क्षेत्र में दर्द के अन्य कारणों के निराकरण के बाद ही किया जाता है।

2. हर्निया :

सामान्य हर्निया वह रोग है जिसमें ऊरु-मूल में सूजन हो जाती है (चित्र 47.41)। यह स्त्रियों और पुरुषों दोनों में होता है और पुरुषों में नीचे वृषण-कोशों में लटक सकता है। यह सूजन सामान्यतया खांसते या छींकते समय फैलती हुई दिखलाई पड़ती है। इस रोग में उदर की सबसे भीतरी कड़ी दीवार (भित्ति) गुब्बारे की तरह एक प्रवर्ध के रूप में बाहर निकल आती है जिसे कोश (सैक) कहते हैं। इस कोश की गुहा सामान्य उदरीय गुहा से मिली होती है इसलिए गतिशील अंग यहां तक आते-जाते हैं (चित्र 47.42)। खांसने या छींकने की क्रिया, जो कि उदरीय तनाव में वृद्धि करती है, इस कोश के स्थान की अंतर्वस्तुओं के कुछ अंश को धकेल देती है और यह फैलाव दिखाई देता है। यद्यपि कई बार आंत्र आदि अंग इस कोश में पहुंचकर फिर वापस भी चले जाते हैं लेकिन कभी-कभी वे इतने अधिक मात्रा में आते हैं कि वापस नहीं जा पाते। तब आंत्र के इस भाग में विपाशन (strangulation) नामक जटिलता के कारण रक्त की आपूर्ति न होने का खतरा रहता है।
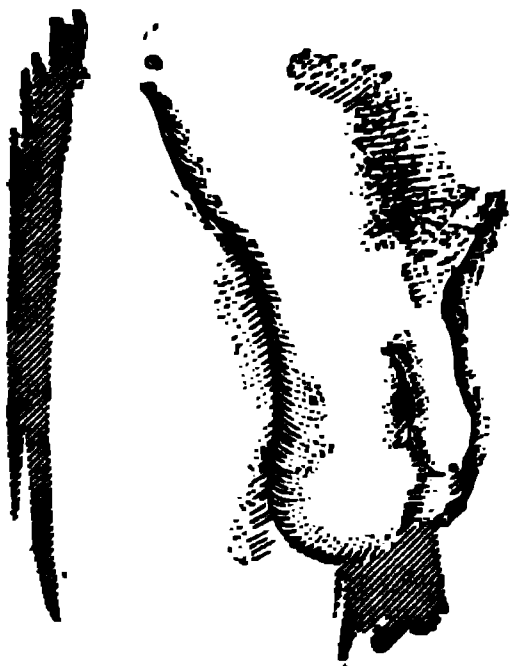
विपाशन के लक्षण हैं उग्र प्रकार का दर्द, कम न होने वाली या तनाव वाली सूजन, क़ै इत्यादि। रोगी को तुरंत ही खाना-पीना बिल्कुल बंद कर देना चाहिए। इस तनी हुई सूजन को दबाने या कम करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए क्योंकि इससे आंत फट सकती है। रोगी को तुरंत आपात्कालीन आपरेशन के लिए सर्जन के पास ले जाना चाहिए ताकि विपाशन से छुटकारा पाया जा सके।

विपाशन में इस भारी खतरे के कारण ही हर्निया का आपरेशन आपात्कालीन आवश्यकता बन जाती है। यद्यपि विपाशन की जटिलता के तुरंत बाद आपात्कालीन आपरेशन किया जा सकता है तो भी ऐसे रोगियों की मृत्यु दर 25 प्रतिशत है। यदि विपाशन के पहले ही आपरेशन कर दिया जाता है, यानी उदासीन, वैकल्पिक नियोजित प्रक्रिया के रूप में, तो मृत्युदर नगण्य होती है। इसलिए हर्निया की अवस्था का पता चलते ही आपरेशन करवा लेना चाहिए।

चित्र 47.41—वंक्षण (inguinal) हर्निया

चित्र 47.42—वंक्षण हर्निया की संरचना

ट्रस या हर्निया-पेटी हर्निया के आपरेशन का एक निम्न कोटि का विकल्प है। यह वास्तव में एक दाब-गद्दी होती है (चित्र 47 5) जो पेशी के उस दोषपूर्ण भाग में लगाई जाती है जहां से कोश बाहर निकलता है। यह पेशीय दोष ठीक उसी स्थान पर नहीं होता है जहां पर हर्निया की सूजन दिखाई देती है बल्कि सूजन से कुछ ऊपर और बाहर की ओर होती है इसलिए हर्निया-पेटी सर्जन द्वारा फिट कराई जानी चाहिए।

हर्निया-पेटी की खामियां ये हैं : (1) पेटी के स्प्रिंग का दबाव आसपास की पेशियों को स्थायी रूप से दुर्बल बना देता है और दोष में वृद्धि कर देता है। यह भविष्य में किए जाने वाले आपरेशन को भी अधिक कठिन और कम प्रभावकारी बना देता है। (2) यह हर्निया को रोकती नहीं बल्कि विपाशन होने के अवसर बढ़ा देती है। (3) रोगी को एक बुरी गंध वाले कष्टपूर्ण साधन को चौबीसों घंटे लिए हुए फिरना पड़ता है और इससे उसकी क्रियाशीलता सीमित हो जाती है। (4) हर्निया-पेटी का प्रयोग पूर्णरूप से पुनः स्थाप्य (reducible) हर्निया अथवा जो हर्निया अपनी जगह पर लौट सके उसमें ही किया जाना चाहिए। जो हर्निया लौटने वाला न हो उसमें इसका प्रयोग कभी नहीं किया जाना चाहिए।

अतः हर्निया-पेटी की अपेक्षा आपरेशन को चुना जाना चाहिए और इसका प्रयोग केवल तभी किया जाना चाहिए जब हर्निया के आपरेशन से उल्टा असर पड़ने का भय हो।

चित्र 47.5—ट्रस या हर्निया पेटी
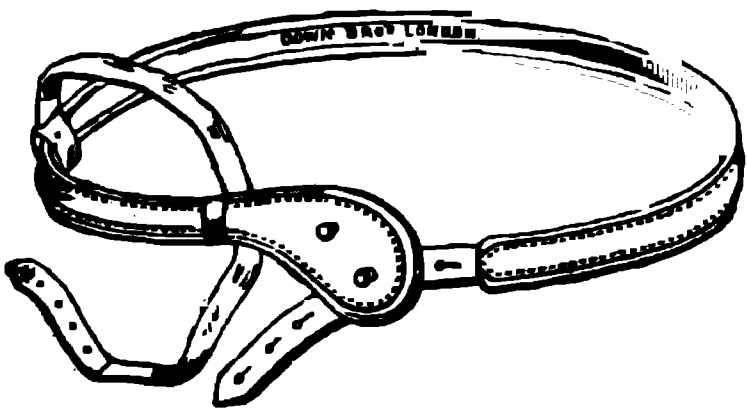
यदि इस्तेमाल की ही जानी हो तो हर्निया-पेटी सर्जन के द्वारा ही फिट कराई जानी चाहिए अन्यथा इसके गलत फिट होने का खतरा रहता है।

3. जलवृषण (हाइड्रोसील) :

यह वृषण-कोशों में (चित्र 47.6) तरल का जमाव हो जाना है। इसकी पहचान यही है कि सूजन केवल वृषण-कोशों तक ही सीमित होती है इसलिए रोगी के खांसने या छींकने से फैलती नहीं जैसा कि हर्निया में होता है। यह समय-समय पर आकार में बदलता नहीं लेकिन धीरे-धीरे वृद्धि कर सकता है और इससे कभी भी गड़गड़ाहट की आवाज नहीं सुनाई देती।

बचाव और उपचार : जलवृषण या हाइड्रोसील को रोकने के कोई उपाय नहीं हैं। इसका उपचार आपरेशन द्वारा ही संभव है। तरल स्रवण करने वाले कोश को काट दिया जाता है अथवा भीतर से बाहर उलटा कर दिया जाता है। कभी-कभार ऐसे मौके पर जब कि अन्य उपद्रवी बड़े रोगों के कारण आपरेशन उपयुक्त नहीं होता तो अस्थायी छुटकारे के लिए सुई द्वारा तरल को चूसकर या खींचकर निकाल लिया जाता है, लेकिन ऐसे में कुछ समय बाद यह तरल फिर जमा हो जाता है। चाहे इसका उपचार आपरेशन द्वारा किया जाय या चूषित्र (aspirator) द्वारा, वृषण-कोशों को कसरती अवलंब या सहारे द्वारा साधे रखना चाहिए। पारंपरिक 'लंगोट', जो कि वृषण-कोशों को साधे रखता है, संभवतया उत्तम उपाय है क्योंकि इसके तनाव को इच्छानुसार समंजित किया जा सकता है।

जलवृषण (हाइड्रोसील) और हर्निया : ये दो सामान्य प्रकार की सूजन हैं जो पुरुष के जननेन्द्रिय के निकट होती हैं। हर्निया उदरीय भित्ति का एक दोष है जिससे होकर उदर की भीतरी परत बाहर निकल आती है और फिर अपने में उदरीय अंगों को भी लिए रहती है। चूंकि हर्निया उदरीय भित्ति का दोष है, इसलिए यह स्त्रियों में भी हो सकता
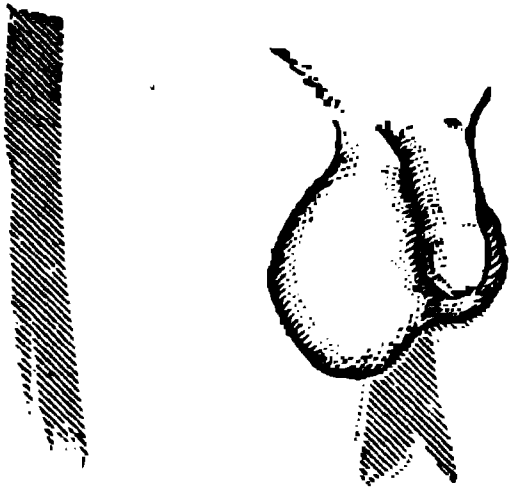
चित्र 47.61—जलवृषण (हाइड्रोसील)
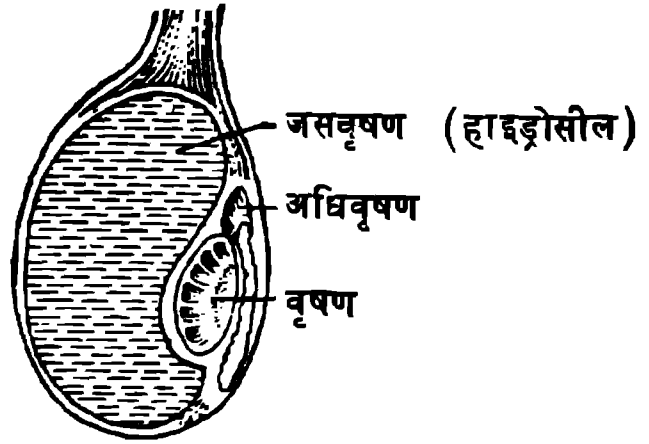
चित्र 47.62—हाइड्रोसील की काट

है, लेकिन जलवृषण चूंकि वृषण को ढके रहने वाले कोश में तरल का जमाव है, इसलिए यह केवल पुरुषों में ही हो सकता है।

हर्निया और हाइड्रोसील चूंकि वृषण-कोश की सूजन के रूप में अभिव्यक्त होते हैं (चित्र 47.4 और 47.6) इसीलिए इन दोनों को समझने में प्राय: भ्रांति हो जाती है। लेकिन इन दोनों में भेद करना आवश्यक है क्योंकि हार्निया बहुत ही बुरा रोग है और इसके साथ ही विपाशन का भी भय बना रहता है जो कि जान के लिए बहुत खतरनाक होता है। हाइड्रोसील प्रायः अहानिकर रोग है और वृषण-कोश का बिलकुल स्थानिक रोग है जिसमें पुआल के रंग का तरल जमा हो जाता है। इसके आकार में वृद्धि हो सकती है लेकिन इसमें हर्निया की तरह आंत्र या अन्य कोई उदरीय अंग नहीं होता। अतः हाइड्रोसील में विपाशन की तरह किसी घातक उपद्रव का खतरा नहीं रहता।

4. बवासीर, नालव्रण (फिसचुला) और विदर (फिशर) :

जब रोगी यह शिकायत करता है कि उसे बवासीर है तो इस शब्द को प्रयुक्त करने का मतलब है कि उसे गुद नाल के निचले सिरे यानी गुदा का कोई कष्ट है। वस्तुत: तीन पृथक् प्रकार के रोग हैं जो आमतौर पर इस क्षेत्र को प्रभावित करते हैं।

(i) बवासीर : ये बढ़ी हुई, लहरदार और लंबी शिराएं होती हैं जो गुद नाल की त्वचा की श्लेष्मा झिल्ली और त्वचा के ठीक नीचे होती हैं। अधिकांश रोगियों में इसका कारण अज्ञात होता है लेकिन फिर भी एक स्थान पर स्थिर होकर काम करने की आदतों, कब्ज अथवा बड़ी शिरीय वाहिकाओं में अधिक रक्त दाब आदि विभिन्न कारणों को इसके लिए उत्तरदायी समझा गया है। लेकिन एक बात निश्चित है कि यदि शिराएं पहले ही बढ़ चुकी हैं तो वे कब्ज के कारण और अधिक बढ़ती जाएंगी। ऐसे में सूखा और कड़ा विष्ठापुंज कसी अवरोधिनी (sphincter—गुदा के छिद्र के ऐच्छिक नियंत्रण को संचालित करने वाला पेशीय छल्ला) से होकर गुजरेगा तो वह इन शिराओं के रक्त को कसकर दबा देगा और इससे आसपास के ऊतकों में यह तरल रिस कर चला जाएगा। इससे उसकी मोटाई भी बढ़ जाएगी और इस तरह शिराओं को वर्धित करने वाले कारकों को और अधिक बढ़ावा मिलेगा।

ये शिराएं पतली श्लेष्मा से आच्छादित होती हैं जो कब्ज की दशा वाले कड़े विष्ठापुंज से बड़ी आसानी से फट जाती हैं और इस कारण रक्तस्राव होने लगता है। इसीलिए मल के साथ चमकीले लाल रक्त के छींटे भी दिखाई देते हैं। जब शिराएं अनावश्यक रूप से बढ़ जाती हैं तो मल विसर्जन करते समय गुदा पेशियों के मामूली संकुंचन से भी इनसे रक्तस्राव हो सकता है। रक्तस्राव से

अरक्तता की स्थिति आ जाती है क्योंकि जो रक्त निकलता रहता है, भले ही वह कम मात्रा में निकलता है लेकिन रोज निकलता है। शिराएं इतना अधिक बढ़ सकती हैं कि वे गुद नाल के बाहर भी निकल सकती हैं और इस अवस्था को भ्रंश (प्रोलैप्स) कहते हैं। यह गुद भ्रंश इतने अधिक उग्र रूप से हो सकता है कि इन शिराओं के भीतर वाला रक्त स्कंदित हो जाता है और इस अवस्था को घनास्री (thrombosed) बवासीर कहते हैं। इस तरह की बवासीर में व्रण भी उत्पन्न हो सकते हैं और उग्र प्रकार का शोथ हो सकता है। जो बवासीर जटिल नहीं होती वह दर्द नहीं करती। लेकिन भ्रंश अथवा घनास्रता और व्रणी-भवन से दर्द होता है।

देखभाल और उपचार : आरंभिक अवस्थाओं में नियमित व्यायाम से इसको नियंत्रित किया जा सकता है। सिर नीचे और पैर ऊपर वाली स्थिति से गुद शिराएं खाली हो जाएंगी और उनकी वृद्धि कम हो जाएगी। दूसरे, कब्ज को निम्न बातों से दूर करना चाहिए – (क) तरल पदार्थों को प्रचुरता से लेकर, (ख) आहार में घी, तेल आदि वसाओं को काफी मात्रा में लेकर, (ग) सांद्र खाद्य पदार्थों से परहेज रखकर, जैसे केवल आमिष भोजन न लेना, और (घ) जब कभी कब्ज का भय हो तो चिकने मृदुविरेचक (रात में चार चाय वाले चम्मच) लेकर तथा शांतिदायक चिकनी मलहम लगाकर।

यदि ये सरल उपाय कारगर सिद्ध नहीं होते और बवासीर जटिल या उपद्रवी हो जाती है तो शस्त्रकर्म उपचार आवश्यक हो जाता है। शस्त्र-कर्म की दो विधियां हैं—एक है तंतुकारी तरल द्वारा बवासीर में इंजेक्शन देना जिससे रक्त स्कंदित हो जाएगा और शिराएं अधिविष्ट (बंद) हो जाएंगी और दूसरी है शिराओं का उच्छेदन या काटना। बवासीर का इंजेक्शन वेदनाहीन प्रक्रिया है। इसके इंजेक्शन में बांह वाले इंजेक्शन की अपेक्षा कम असुविधा होती है क्योंकि जिस क्षेत्र में इंजेक्शन दिया जाता है वह सामान्य संवेदी तंत्रिका से हीन होता है। बवासीर के इंजेक्शन वाली प्रक्रिया में विशेष उपकरणों और कौशल की जरूरत होती है। अतः यह सर्जन के द्वारा ही किया जा सकता है लेकिन इसका महत्व सीमित है क्योंकि यह आरंभिक अवस्थाओं में ही कारगर सिद्ध होता है। उपचार की दूसरी विधि हैं आपरे-शन, जिसमें शिराओं का उच्छेदन करके उन्हें बाहर निकाल लिया जाता है। दुबारा इसके होने को रोकने के लिए वही सावधानियां अपनाई जा सकती हैं जो इसके नियंत्रण के लिए सुझाई गई हैं अर्थात नियमित व्यायाम और कब्ज को दूर रखना।

(ii) **नालव्रण (फिसचुला)** : यह एक पार्श्वीय छोटी सुरंग है जो एक ओर गुदनाल और दूसरी ओर परिगुद त्वचा से जुड़ी होती है। यह सुरग या स्थान अंदर और त्वचा के बाहर एक छोटे फोड़े के फूटने के कारण बन जाता है। इस प्रकार फोड़े या विद्रधि वाली यह गुहा निरंतर मल द्वारा संदूषित होती रहती है। विद्रधि बनने की घट-नाओं के कारण एकान्तर क्रम में दर्द और विसर्जन का होना गुदा के नालव्रण का लक्षण है। यह सुरंग या स्थान बाद में उपकला (एपिथीलियम) का आस्तर (जैसे त्वचा) भी अर्जित कर लेता है। एक बार ऐसा होने पर यह विक्षति आपरेशन के अतिरिक्त किसी भी उपचार से ठीक नहीं हो सकती और आपरेशन से सारे सुरंगनुमा भाग को निकालना होता है और फिर घाव को धीरे-धीरे नीचे से ठीक होने दिया जाता है

(iii) **विदर (फिशर)** : यह गुदनाल के निचले सिरे में एक रेखीय या लंबा घाव होता है। आरंभ में यह घाव सतही होता है और यदि इसे कब्ज वाले कड़े मल से रोज छेड़ा न जाय तो यह खुद ही ठीक होने लगता है। इस अवस्था में मल विस-र्जित करते समय बहुत तीव्र वेदना होती है। इसके कारण रोगी मल विसर्जित करने में देरी करता है

और जिसके कारण कब्ज की और अधिक गड़बड़ी हो जाती है, फिर इससे दर्द और अधिक बढ़ता है और यह दोष पूर्ण चक्र चलता रहता है । विष्ठा विसर्जन के समय सबसे अधिक दर्द होता है । घाव से थोड़ा-थोड़ा रक्तस्राव होने लगता है । विष्ठा के साथ खून की रेखा दिखाई देती है । दर्द और पेशी की ऐंठन को कम करने के लिए संज्ञाहारी मलहम लगाना चाहिए । यदि कोई स्नेहक या चिकनाई लगाकर बवासीर में बताए गए तरीकों के अनुसार कब्ज दूर रखा जाता है तो हल्का या सतही विदर प्राकृतिक रूप से स्वयं ठीक हो जाता है । लेकिन यदि इसकी उपेक्षा की जाती है तो विदर का आधार गुदा की अवरोधिनी (स्फिंक्टर) से मिल जाती है और फिर अवरोधिनी की प्राकृतिक क्रिया से यह खुल जाती है और खुली ही रखी रहती है । अगर ऐसा हो गया तो केवल आपरेशन ही इसका उपचार है ।

5. बढ़ी हुई प्रॉस्टेट ग्रंथि :

प्रॉटेस्ट ग्रंथि पुरुषों की सहायक लैंगिक ग्रंथि है । यह ग्रंथि मूत्राशय के निचले सिरे पर और मूत्रमार्ग के ऊपरी सिरे के इर्द-गिर्द स्थित होती है (चित्र 29.31) । यह ग्रंथि चालीस की उम्र के बाद में ही बढ़ सकती है । ठंड कभी-कभी उत्तेजन कारक का कार्य कर सकती है ।

बढ़ी हुई प्रॉस्टेट ग्रंथि लंबी होकर उससे गुजरने वाले मूत्रमार्ग को ऐंठने लगती है । यह ऊपर मूत्राशय की ओर भी बढ़ती है और अपने पीछे एक अंध थैली बना लेती है (चित्र 29.32) और इस बंद थैली में जमा पेशाब कभी विसर्जित नहीं किया जा सकता । अतः रोगी का मूत्राशय फिर बड़ी जल्दी भर जाता है और उसे बार-बार पेशाब करने की इच्छा होती है । बाद में इस रुद्धता से वृक्कों (गुर्दों) पर भी जोर पड़ता है और वे मूत्र का विसर्जन उचित रूप से करने में अक्षम हो जाते हैं । इसके कारण रक्त में वर्ज्य पदार्थ रोक लिए जाते हैं और इसका परिणाम होता है यूरीमिया, जो रक्त में वर्ज्य पदार्थों के जमा हो जाने से आंतरिक विषाक्तन की अवस्था है । यदि रोगी को इस दशा में या इससे पहले छुटकारा नहीं मिलता तो उसकी जान को खतरा हो सकता है ।

बढ़ी हुई प्रॉस्टेट ग्रंथि का उचित उपचार है उसका निकाल दिया जाना । रोगी की प्रॉस्टेट ग्रंथि को निकालने का सही समय वह है जब रक्त में वर्ज्य पदार्थ जमा होने लगते हैं, क्योंकि एक बार अगर ये जमा हो गए तो ग्रंथि निकालने की प्रक्रिया को ये संकटपूर्ण बना देते हैं और रोगी को दो आपरेशन कराने पड़ते हैं – एक बार मूत्राशय को अस्थायी तौर पर खाली करके यूरिमिया से छुटकारा दिलाने के लिए और यूरीमिया दूर होने पर दूसरी बार प्रॉस्टेट ग्रंथि को निकालने के लिए ।

6. अस्थिभंग (फ्रैक्चर) :

हड्डियां कभी-कभी दुर्घटना के कारण टूट जाती हैं । फिर अस्थिभंग या हड्डी के टूट के स्थल वाले क्षत भाग में दर्द और सूजन हो जाती है । इसमें विरूपता और अपसामान्य गति हो सकती है । रोगी को आघात हो सकता है (पीला चेहरा, पसीना और तेज नाड़ी) । रोगी को अस्थि भंग से कम से कम एक जोड़ नीचे और एक जोड़ ऊपर निश्चल किए बिना हिलाना-डुलाना नहीं चाहिए । क्षत भाग की एक्स-रे तस्वीर से अस्थिभंग वाले सिरों के सही विस्थापन का सही निर्धारण हो जाता है ।

हड्डी के टूटने पर टूटे सिरे आसपास के मुलायम भागों में घुस जाते हैं और हमेशा पेशियों को नोचने-खरोंचने लगते हैं और कभी-कभी महत्वपूर्ण तंत्रिकाओं या रक्त वाहिकाओं को भी क्षति पहुंचा सकते हैं । ऐसे अस्थिभंग जटिल अस्थिभंग कहलाते हैं ।

यदि हड्डी के ऊपर त्वचा का आवरण सुरक्षित है यानी उसे कोई क्षति नहीं पहुंची है तो आसपास के
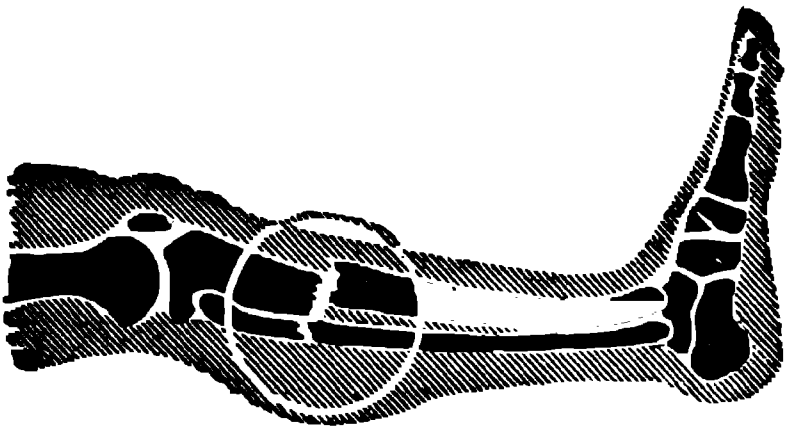
चित्र 47.7—टांग का सरल अस्थिभंग

चित्र 47.8—टांग का जटिल अस्थिभंग

मुलायम भागों को चाहे कितनी भी क्षति क्यों न पहुंची हो बाहरी जीवाणु हड्डी के टूटे सिरों तक सीधे नहीं पहुंच सकते। ऐसे अस्थिभंग को सरल अस्थि-भंग कहते हैं (चित्र 47.7)। लेकिन जब अस्थि-भंग वाले स्थान के ऊपर की त्वचा और श्लेष्मा झिल्ली भी कट-फट जाती है तो टूटे हुए सिरों तक बाहरी जीवाणु सीधे पहुंच सकते हैं। हड्डियों के ऐसे टूटने को जटिल अस्थिभंग कहते हैं (चित्र 47.8)। छह घंटे के विलंब के बाद जीवाणु (बैक्टीरिया) घाव से शरीर के ऊतकों में पहुंच जाते हैं। इसलिए जटिल अस्थिभंग में सबसे उत्तम बात तो यह है कि क्षति होने के छह घंटे के अंदर ही उसे आपेक्षिक रूप से निर्जीवाणुक कर दिया जाय।

भले ही ऊपर बताए गए लक्षणों में कोई एक भी न हो तब भी अस्थिभंग हो सकता है। टूटी हड्डियां टूटों सिरों के इर्द-गिर्द नयी हड्डी बनाकर जुड़ती हैं। यह एक प्राकृतिक प्रक्रम है। लेकिन हड्डियों के इस ठीक होने या जुड़ने में दोनों खंडों को एक दूसरे की अपेक्षा हिलना-डुलना नहीं चाहिए। इस लिए कि कणांकुरों (granulation) के तरुण व मुलायम प्रतान-सरीखे (tendril-like) प्रवर्ध कैल्सीभवन और दृढ़ीभवन के पहले ही टूटफूट न जायँ।

अस्थिभंग की प्रथम चिकित्सा अध्याय 52 में वर्णित की गई है। अस्थि खंडों की आपेक्षिक निश्चलता की विधियां विभिन्न हैं और जो संबंध रक्त की आपूर्ति और रोगी की उम्र पर निर्भर करती हैं। अधिकांश रोगियों में खंडों की यह निश्चलता पेरिस प्लास्टर के स्वढालन स्प्लिन्ट द्वारा की जाती है (चित्र 47.9)। कुछ मामलों में धातु पट्टियों, पेचों, कीलों आदि के स्प्लिन्ट भी लगाने पड़ते हैं। अपेक्षतया कुछ कम रोगियों में हड्डी का रोपण भी करना पड़ता है जिनमें हड्डी की वृद्धि की कमी होती है। हड्डी के अंदर और ऊपर जो कील और पट्टियां इस्तेमाल की जाती हैं वे आम धातु की नहीं बल्कि अनपघट्य (nonelectro-lytic) धातु अथवा मिश्रधातु की बनी होनी चाहिए ताकि धातु और हड्डी में परस्पर प्रतिक्रिया न हो।
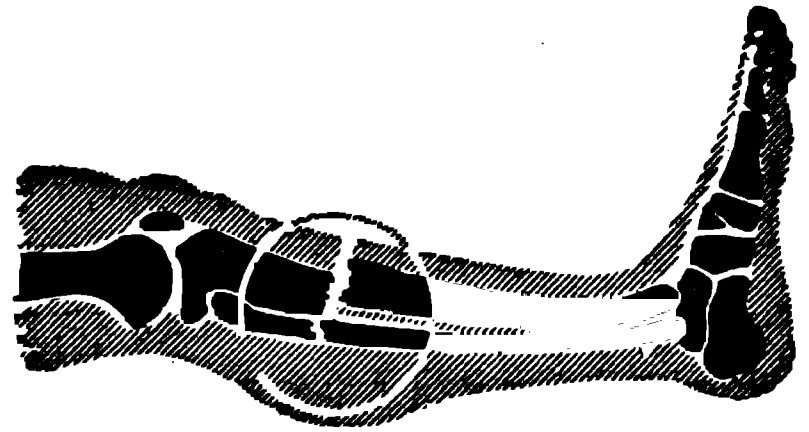
जब कोई हड्डी टूटती है तो टूटे सिरों से रक्त-स्राव होता है। इस रक्तस्राव की मात्रा का पता नहीं चलता क्योंकि यह भीतर ही भीतर होता है और ऊतकों में फैल जाता है। जांघ की हड्डी के भंग में उसके ऊपरी एक-तिहाई हिस्से में यह रक्तस्राव 700 से 1500 मिली. होता है। रक्त-स्राव और अस्थिभंग से संबद्ध यह दर्द ही आघात करता है।

अस्थिभंग की संपूर्ण संकल्पना का सारांश

चित्र 47.9—प्लास्टर के सांचे में निश्चल किया गया प्रकोष्ठ
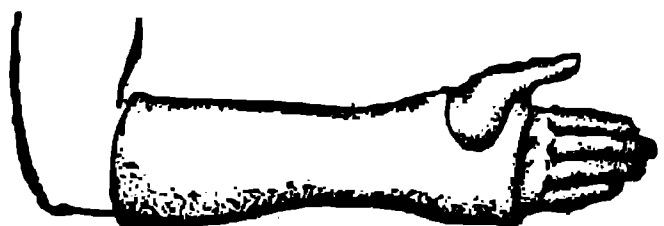
निम्नलिखित तीन प्रश्नों में दिया जा सकता है :—

1. **अस्थिभंग को ठीक कौन करता है?—प्रकृति**

2. सर्जन क्या करता है?—अस्थिभंग को पुनः-स्थापित और निश्चल करता है।

3. रोगी को क्या करना चाहिए?—निश्चल किए जाने के पहले उसे अस्थिभंग वाली शाखा या बाहु को हिलना-डुलना नहीं चाहिए और फिर निश्चल की गई बाहु का सक्रिय रूप से इस्तेमाल करना चाहिए।

आखिरी प्रश्न कुछ और अधिक स्पष्ट विस्तार की अपेक्षा रखता है। इसका मतलब है कि प्लास्टर के बाहर हाथ या पैर की जो अंगुलियां निकली होती हैं उनको हिलाते-डुलाते रहना चाहिए। लेकिन इसका यह मतलब बिलकुल नहीं कि रोगी को प्लास्टर वाली टांग से चलना चाहिए। चलने से अस्थिभंग वाले स्थान पर अक्षीय बोझ पड़ेगा या अक्षीय तनाव होगा जिससे अनिश्चित रूप से वह बहुत विलम्ब से ठीक होगा।

7. सिर की क्षति :

सिर के घाव गंभीर विक्षतियां होती हैं। यदि आरंभिक चोट के दौरान ही मस्तिष्क के महत्व-पूर्ण केंद्र नष्ट हो जाते हैं तो तुरंत मृत्यु हो जाती है। लेकिन यदि शांत क्षेत्र नष्ट होते हैं तो उनकी अभिव्यक्तियां दिखलाई नहीं देंगी। यदि आपेक्षिक रूप से अर्थपूर्ण क्षेत्र नष्ट हो जाते है तो उनकी अभि-व्यक्तियां स्थायी रूप से रह जायेंगी। मस्तिष्क-द्रव्य की वास्तविक क्षति के अतिरिक्त ऐसी भी दशाएं होती हैं जिनमें मस्तिष्क-द्रव्य आरंभिक क्षति से नष्ट नहीं होता लेकिन बाद के अनुप्रभावों से प्रभावित हो जाता है। ये दशाएं बहुत आम है और मौलिक क्षति के बाद अचानक घटित हो जाती हैं। मस्तिष्क खोपड़ी के अंदर फंसे स्थान में सीमित रहता है। अतः अगर वहां रक्तस्राव होता हैं तो खोपड़ी के अंदर उसके लिए जरा भी जगह नहीं होती है और अगर रक्तस्राव होता है तो वह मस्तिष्क पर दबाव डालेगा और इसका परिणाम होगा मृत्यु।

यदि मौलिक या आरंभिक क्षति में मस्तिष्क केवल हिलता है और अधिक क्षतिग्रस्त नहीं होता तो इससे अस्थायी सून्नतावाला प्रभाव हो जाता है लेकिन इससे व्यक्ति बड़ी जल्दी ठीक हो जाता है। लेकिन साथ ही खोपड़ी के अंदर कुछ-कुछ रक्त-स्राव भी हो सकता है और इसकी अभिव्यक्ति तभी होगी जब काफी रक्त जमा होकर मस्तिष्क पर दबाव डालेगा। मौलिक क्षति और दाब-अभि-व्यक्ति के लक्षणों के बीच का समय 12 घंटे से लेकर एक हफ्ता भी हो सकता है। एकदम यह बताना बहुत असम्भव है कि खोपड़ी के अंदर रक्त-स्राव हो रहा है या नहीं। इसलिए सिर की क्षति वाले सभी रोगियों को अस्पताल में भर्ती करना और धीरे-धीरे उत्पन्न होने वाले दाब के लक्षणों को देखते जाना अनिवार्य है। यदि इसकी पहचान जल्दी हो जाती है तो समय पर शस्त्रकर्म उपचार से रोगी को बचाया जा सकता है अन्यथा उसकी मृत्यु हो सकती है।

• • •
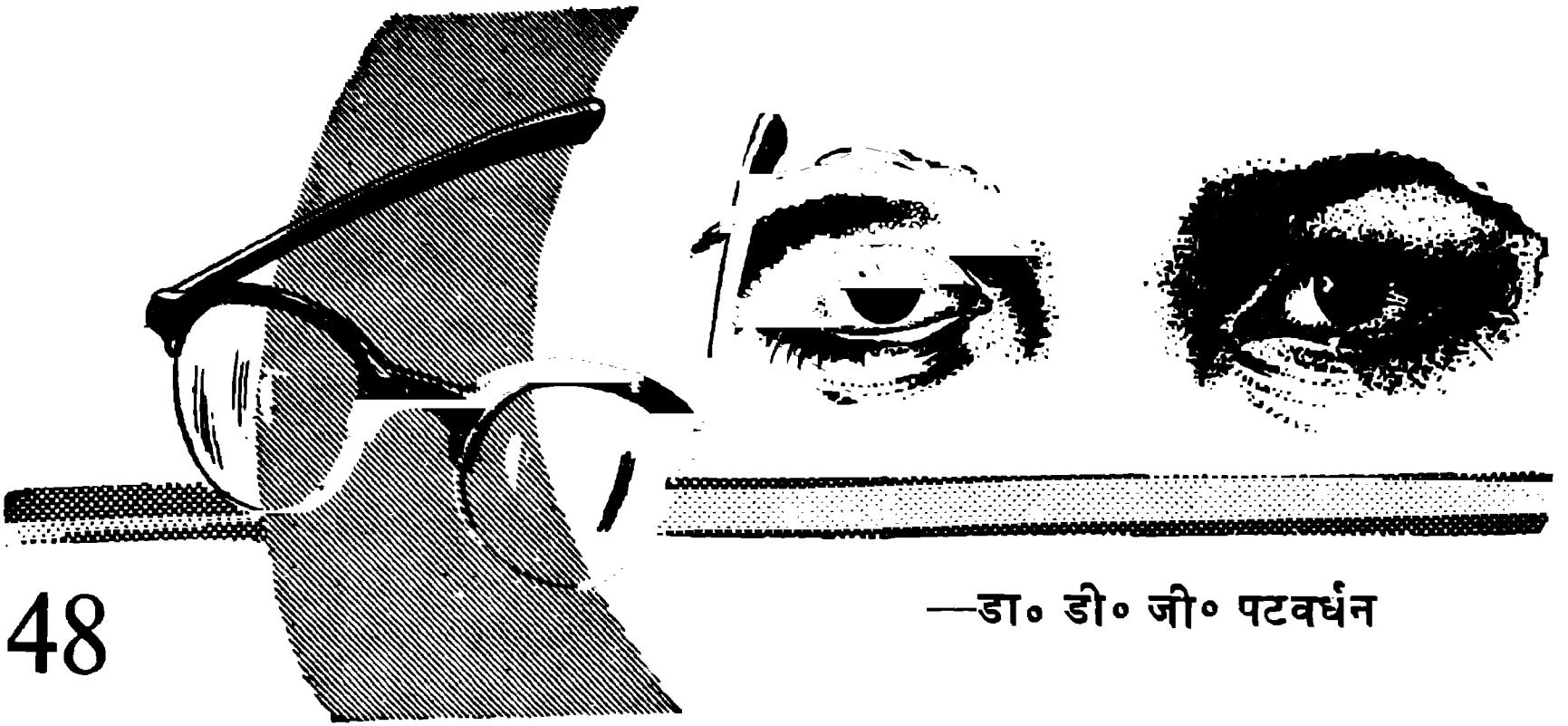
48

—डा० डी० जी० पटवर्धन

आंखें और उनकी देखभाल

आंख प्रकृति की एक आश्चर्यजनक रचना है। सूक्ष्मता और पूर्णता की यह उत्कृष्ट कृति है। आंखें नेत्रगुहाओं में सुरक्षित रहती हैं जो कि खोपड़ी में अस्थिल गुहिकाएं हैं। पीछे से नेत्रगोलक मस्तिष्क को दृष्टि तंत्रिका द्वारा संप्रेषण करता है (चित्र 48.2)। ऊपरी और निचली पलकें तथा पक्ष्म पसीने, धूल और उड़ने वाले कणों को दूर रख कर उन्हें आंख में प्रविष्ट नहीं होने देते और साथ ही तेज चौंध और आंधी से भी आंखों की रक्षा करते हैं। यही नहीं आंखें अश्रु-ग्रंथियों से धीरे-धीरे निकलने वाले विशेष प्रकार के तरल से निरंतर धोई जाती रहती हैं जो नेत्रगुहा के बाहरी और ऊपरी भाग पर स्थित होती हैं। पलकों की निरंतर गति से अश्रु समान रूप से वितरित होते हैं जो नेत्रगोलक की सतह को नम और साफ रखते हैं।

आंख की रचना :

नेत्रश्लेष्मला (कंजक्टाइवा) एक नाजुक श्लेष्मा कला है जो पलकों का भीतरी आस्तर और नेत्र-गोलक के सामने वाले भाग का श्वेतपटल (स्क्लीरा) या आंख की सफेदी और स्वच्छ मंडल (कार्निया) या केन्द्रीय पारपर्शी भाग के मिलने वाले स्थान तक आस्तर बनाती है। नेत्रगोलक में सामने से और पीछे नेत्रगुहा के शीर्ष से छह पेशियां जुड़ी होती हैं (चित्र 48.2)। पेशियां आंख की सब दिशाओं में होने वाली गति से संबद्ध होती हैं। यदि कोई पेशी दुर्बलता या लकवा से ग्रस्त होती है तो भेंगापन (स्क्विट) आ जाता है। इससे दोहरी दृष्टि हो जाती है।

नेत्रगोलक के तीन आवरण होते हैं (चित्र 48.3) : आंख के सामने से दिखलाई देने वाला जो सफेद भाग होता है वह श्वेतमंडल (स्क्लीरा) का भाग होता है। श्वेतमंडल नेत्रगोलक के बाहरी आवरण का 5/6 वां भाग बनाता है। नेत्रगोलक के बाहरी आवरण का शेष 1/6 भाग स्वच्छमंडल (कार्निया) कहलाता है। स्वच्छमंडल पूरी तरह से पारदर्शी होता है और आकार में वृत्ताकार तथा सामने से उत्तल (convex) होता है।

श्वेतमंडल को अंदर से आस्तरित करने वाला नेत्रगोलक का मध्य आवरण रंजितपटल (कोरॉइड)

* * * *

डा. डी. जी. पटवर्धन, एम. बी., बी. एस., डी. ओ एम. एस. (लन्दन), डी. ओ. (आक्सेन.), एफ. आर. सी. एस.; भूतपूर्व अवै. परामर्शी नेत्र सर्जन, बी. जे. मेडिकल कालेज एवं ससून जनरल अस्पताल, पूना।
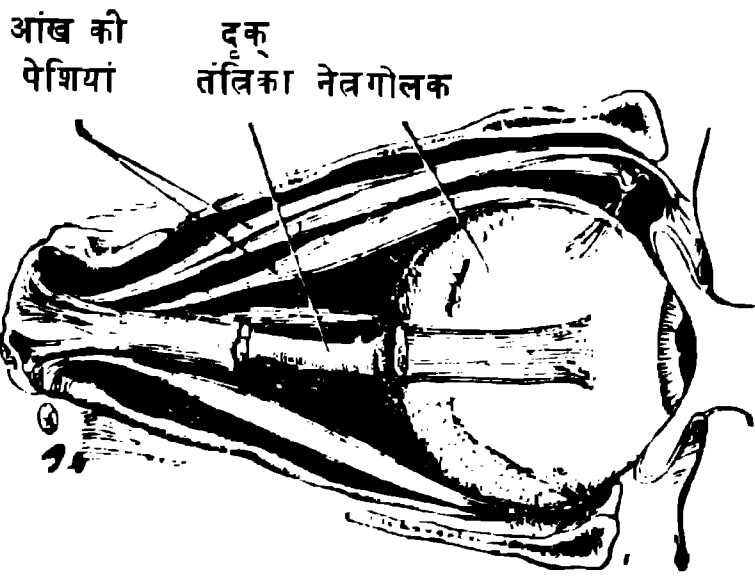
चित्र 48.2—अस्थिल गर्त में नेत्रगोलक

द्वारा बनता है, जिसमें मुख्य रूप से रक्त वाहिकाएं और एक वर्णक होता है। यह गोलक की आंतरिक संरचनाओं की पोषी झिल्ली है। स्वच्छमंडल या कार्निया के पीछे एक डायफ्राम है जिसे परितारिका (आइरिस) कहते हैं और इसका बीच वाला छिद्र तारा (प्यूपिल) कहलाता है। तेज प्रकाश में तारा संकुचित होता है और मंद प्रकाश में फैल जाता है। इस तरह आंख में पर्याप्त प्रकाश आने देता है ताकि बाहरी वस्तुओं का साफ बिंब बन सके। परितारिका (आइरिस) के परिसर से रंजितपटल (कोरॉइड) तक फैला रहने वाला भाग रोमक पिंड (सिलियरी बॉडी) कहलाता है जिसमें रोमक प्रवर्ध और रोमक पेशियां होती हैं। पारदर्शी उभयोत्तल ठोस पिंड के रूप वाला लेंस पारदर्शी संपुट में आवृत्त रहता है। यह एकदम परितारिका (आइरिस) के पीछे उन निलंबक स्नायुओं द्वारा अपने स्थान पर व्यवस्थित रखा रहता है जो रोमक प्रवर्धों से जुड़े रहते हैं। रोमक प्रवर्ध लेंस की वक्रता का नियंत्रण करते हैं और इस तरह आंख की समंजन क्षमता द्वारा नजदीक और दूर की वस्तुओं को ठीक से फोकस किया जाता है (चित्र 48.4)। दूर की वस्तु को देखने पर ये पेशियां शिथिल हो जाती हैं लेकिन जब नजदीक की वस्तु देखी जाती है तो ये संकुचित हो जाती हैं और लेंस अधिक वक्र हो जाता है जिसका परिणाम होता है अधिक से अधिक अभिसरण-क्षमता।

नेत्रगोलक का भीतरी आवरण दृष्टिपटल (रेटीना) द्वारा बनता है, जो कि तंत्रिकाओं के सिरों से भरी हुई एक नाजुक संवेदी झिल्ली है। दृष्टिपटल (रेटीना) कैमरे की संवेदी प्लेट या फिल्म की तरह कार्य करता है क्योंकि यह आंखों के बाहर की दुनिया की वस्तुओं की तस्वीर तभी लेता है जब कि आंख खुली रहती है। दृष्टिपटल या रेटीना का सबसे अधिक संवेदनशील भाग है पीत बिंदु जो शंकुओं (कोन) से भरा रहता है। दृष्टिपटल का शेष भाग मुख्यतया शलाकाओं

चित्र 48.3—आंख की संरचना
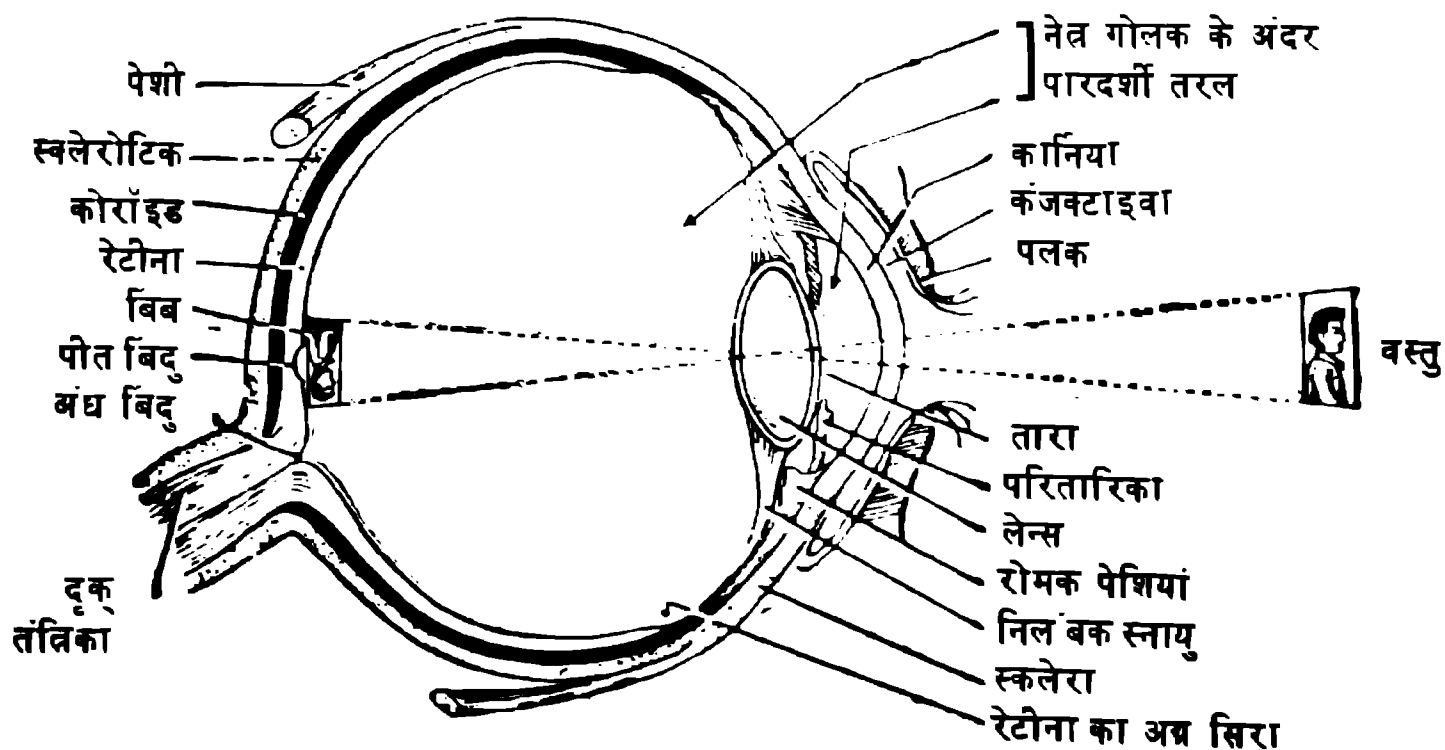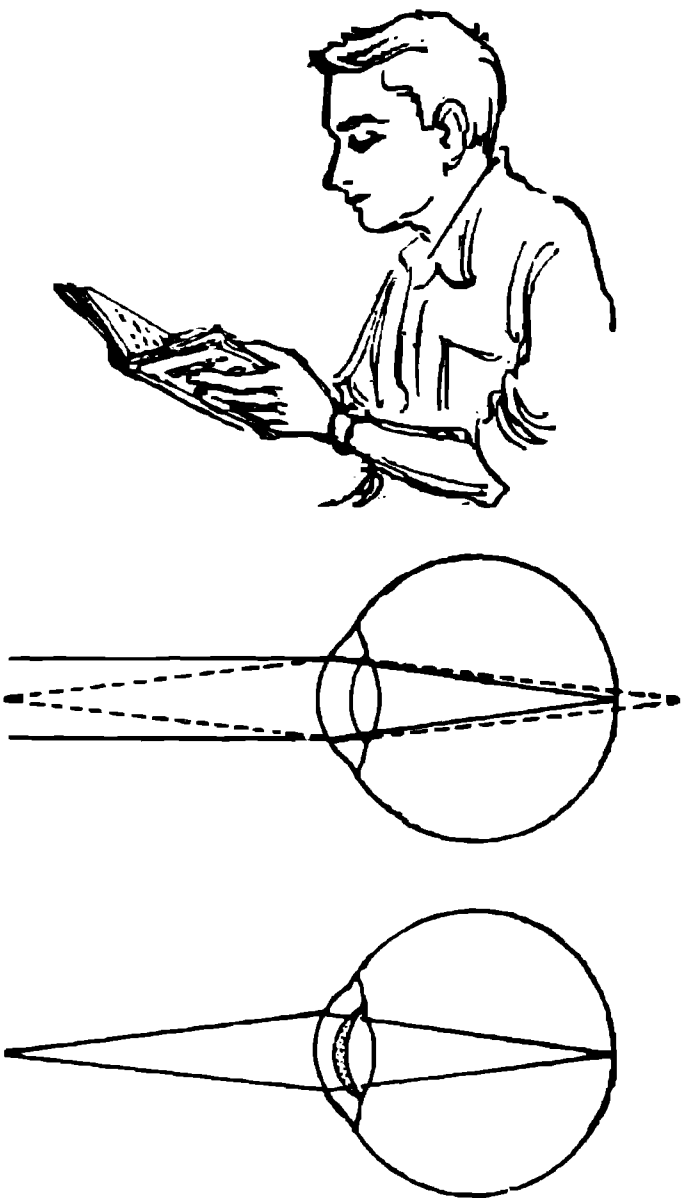
चित्र 48.4—समंजन क्षमता का प्रदर्शन करने वाली सामान्य दृष्टि

(रॉड) से भरा होता है और जो दृष्टि क्षेत्र व बोध से संबद्ध होता है। तस्वीर की छाप शलाकाओं और शंकुओं से दृक् तंत्रिकाओं के माध्यम से भेजी जाती है अर्थात् दृष्टि तंत्रिका से मस्तिष्क में संबद्ध भाग को जिसे दृष्टि-क्षेत्र (चित्र 25.5) कहते हैं। मस्तिष्क या दृष्टि-केंद्र बिंब का विश्लेषण करता है और पहले आई हुई छापों से उसकी तुलना करके वह वस्तु की पहचान करता है। इस तरह आखों की सहायता से मस्तिष्क वस्तुओं का बोध करता है। लेंस के आगे और पीछे नेत्रगोलक का खोखला स्थान जेली सरीखे पारदर्शी तरल से भरा रहता है।

सामान्य दृष्टि :

सामान्य आंख में दूर की वस्तु से आने वाली प्रकाश की समांतर किरणें उत्तल कार्निया द्वारा मोड़ी या आवर्तित की जाती हैं और साफ बिंब बनाने के लिए दृष्टिपटल या रेटीना पर ठीक से फोकस कर दी जाती हैं। निकट की वस्तुओं से आने वाली किरणों को, जो अपसारी होती हैं, रोमक पेशियों के संकुचन द्वारा फोकस किया जाता है ताकि लेंस अधिक उत्तल बन जाय (चित्र 48.4)। इस प्रक्रिया को आंख की समंजन क्षमता कहते हैं। आंखें जब आराम की स्थिति में होती हैं तो दूर की वस्तुओं को देखने के लिए अनुकूलित होती हैं लेकिन नजदीक की चीजों पर फोकस करने के लिए कुछ प्रयत्न करना पड़ता है और उम्र अधिक होते जाने से यह क्षमता कम होती जाती है। आंखें जब सामान्य नहीं होतीं तो इन पेशियों को बहुत अधिक कार्य करना पड़ सकता है और तब भी जरूरी नहीं कि नजर ठीक ही हो। अतः दोषपूर्ण आंख से देखने का मतलब है इस प्रक्रिया पर बोझ पड़ सकता है और यह सारे शरीर को ही सिरदर्द, थकान आदि के रूप में प्रभावित कर सकता है। इसीलिए उपयुक्त या सही चश्मा पहनने से नजर में सुधार हो जाने से यह बोझ या तनाव कम हो जाता है, साफ दीखने लगता है और आंख के दोष वाले लक्षणों से छुटकारा मिल जाता है।

दोनों आंखों से आने वाले बिंब बिल्कुल एक-जैसे नहीं होते और मस्तिष्क में इन दो असमान बिंबों के सम्मिलन से ही त्रिविमीय तस्वीर दिखती है। इस तरह वस्तुओं की घनता, अवकाश में उनकी आपेक्षिक स्थिति और दूरी को आंका जा सकता है। जन्म के समय और करीब तीन हफ्तों तक बच्चे हरएक वस्तु के दो असमान बिंब देखते हैं (प्रत्येक आंख से एक-एक बिंब)। बाद में ये स्वयं ही दोनों बिंबों को एक ही में मिला लेते हैं जिसमें गहराई और घनता होती है। इसे द्विनेत्री दृष्टि कहा जाता है। वयस्क व्यक्ति भी दो भिन्न बिंब देखते हैं यानी प्रत्येक आंख से एक लेकिन अनैच्छिक रूप से ये दोनों बिंब एक में ही मिल जाते हैं।

दृष्टि के दोष

वृद्धावस्था की दृष्टि या जरादूरदृष्टि (Presbyopia) :

उम्र बढ़ने के साथ-साथ पेशियां (दोनों बड़ी बाहरी जो नेत्रगोलक को घुमाती हैं और फोकस करने वाली नाजुक रोमक पेशियां) कम लचीली हो जाती हैं, लेन्स वास्तविक रूप मे कड़ा हो जाता है और तारा या प्यूपिल छोटा हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि वृद्ध लोग पुस्तक को काफी दूरी पर रखे बगैर सुविधा से नहीं पढ़ पाते (चित्र 48.5) हैं और इस तरह चालीस के बाद निकट से देखने के लिए उत्तल लेन्स वाले चश्मे प्रायः जरूरी हो जाते हैं।

दीर्घ दृष्टि या दूरदृष्टिता (Hypermetropia):

दूर दृष्टि वाले या छोटे नेत्रगोलक में दूर की वस्तुएं तो ठीक दिखती हैं लेकिन निकट की वस्तुएं

चित्र 48.5—दीर्घ दृष्टि या दूरदृष्टि
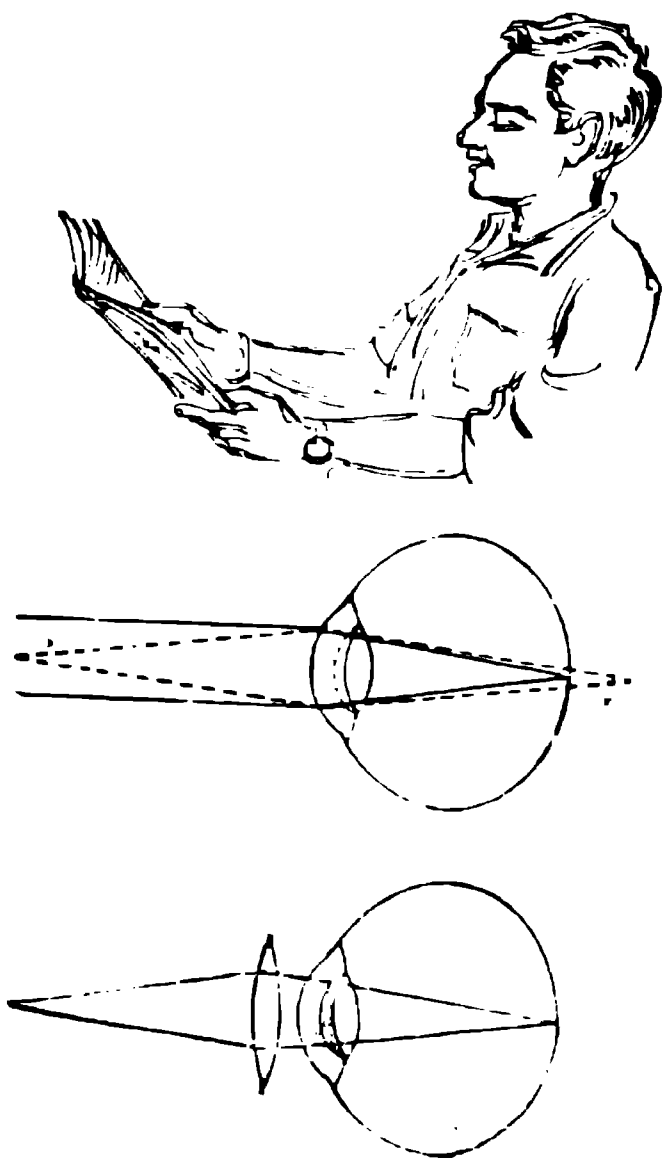
रंजितपटल (रेटीना) के पीछे फोकस की जाती हैं (चित्र 48.5)। इसीलिए व्यक्ति किताब को सुविधाजनक रूप से काफी दूरी पर रखे बिना देखने में समर्थ नहीं हो पाता। लेकिन दूरदृष्टिता में सुस्पष्ट फोकस रोमक पेशियों की क्रिया से लेन्स की वक्रता को बढ़ाकर प्राप्त किया जा सकता है। यह युवावस्था में सम्भव हो सकता है लेकिन इससे सिरदर्द हो सकता है और यह पलकों की अंजनी और शोथ या सूजन तथा तंत्रिका-थकान का भी एक कारण हो सकता है। इस दोष का सुधार उपयुक्त पावर के उत्तल लेन्स वाले चश्मे के प्रयोग से किया जा सकता है।

निकट दृष्टि अथवा निकटदृष्टिता (Myopia):

निकट दृष्टि वाले अथवा लम्बे नेत्रगोलक में दूर की वस्तुएं केवल रंजितपटल (रेटीना) के सामने ही फोकस की जा सकती हैं लेकिन नजदीक की वस्तुएं अच्छी तरह से देखी जा सकती हैं (चित्र 48.6)। लेन्स से रंजितपटल की दूरी सामान्य से अधिक होती है, इसलिए दूर की वस्तुओं से आने वाली किरणें फैलकर या अपसारित होकर धुंधला बिंब बनाती हैं। जन्म के समय पांच साल तक निकट दृष्टि मुश्किल से ही होती है। इसकी शुरूआत स्कूली जीवन से होती है जिससे शिक्षकों और माता-पिता को काफी चिन्ता हो जाती है। यह एक भयानक कमी है जिससे दक्षता कम हो जाती है और इससे कई खेलकूद असंभव हो जाते हैं और मानसिक दृष्टिकोण भी प्रायः सीमित हो जाता है। यदि स्कूल जाने वाला बच्चा पढ़ने वाली सामग्री को बहुत नजदीक रखता है तब सामान्यतया आवर्तन, संभवतया निकटदृष्टि दोष का सदेह किया जाना चाहिए और इसके सुधार के उचित उपाय किए जाने चाहिए। अधिकांश व्यक्तियों में निकट दृष्टि उपार्जित होती है इसलिए इसको रोका जा सकता है।

बचपन में नेत्रगोलक का आकार बिगड़ सकता है क्योंकि दुर्बलता और अधिक बोझ के कारण
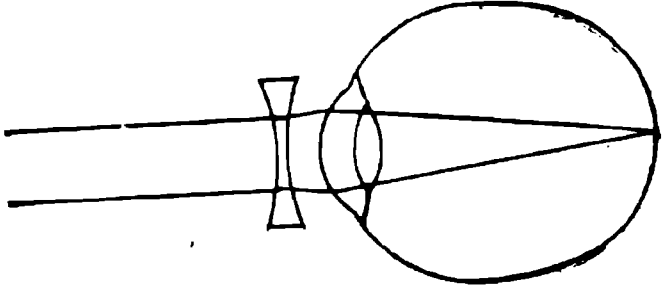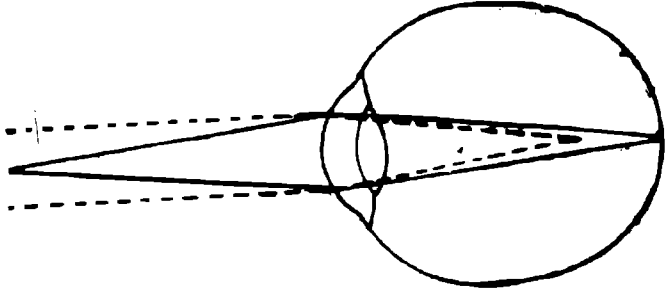
चित्र 48.6—निकट दृष्टि

इसका आवरण मुलायम हो सकता है। बच्चों द्वारा पढ़ना, कढ़ाई का काम, चित्र बनाने और इसी तरह का अन्य काम अधिक लंबे समय तक लगातार नहीं किया जाना चाहिए और उनके लिए अच्छे प्रकाश की व्यवस्था होनी चाहिए। यद्यपि छोटे छापे के अक्षरों को पढ़ना और इसी तरह बारीकी वाला काम देखना हानिकर नहीं होता है तो भी आंखों को किसी चीज पर सामान्य से बहुत कम दूरी यानी 35 सेंमी. से कम निकटता पर लगातार फोकस किए रहने से हानि हो सकती है। इस तनाव से नेत्रगोलक का संकुलन होकर श्वेतपटल (स्कलीरा) मुलायम हो सकता है जिससे लंबी आंख दबकर बाहर की ओर उभर सकती है और उत्तरोत्तर लंबी हो सकती है। किताब के ऊपर सिर नीचा करके पसरे रहने से संकुलन को बढ़ावा मिलता है। इस दोष को उचित पावर के अवतल लेंस वाले चश्मे के प्रयोग से दूर किया जा सकता है।

अनियमित दृष्टि या दृष्टिवैषम्य (**Astigmatism**) :

दृष्टिवैषम्य स्वच्छ मंडल (कार्निया) और/अथवा लेंस की वक्रता के दोषों के कारण होता है। यह एक बहुत जटिल किंतु आम तौर पर पाई जाने वाली अवस्था है। बिना चश्मे के चीजों को ठीक से देखने के लिए काफी कुछ पेशीय प्रयत्न करने पड़ते हैं लेकिन जिसका परिणाम होता है काफी कुछ तनाव और सिरदर्द। कुछ प्रकार के दृष्टिवैषम्य से धुंधला बिंब और कुछ से विकृत बिंब बनता है। विकृत बिंब वाली दशा में इससे पीड़ित व्यक्ति दोष को सुधारने की कोशिश में अनैच्छिक रूप से सिर को बड़े बेढंगी तरह से किए रहता है (चित्र 48.7)।

जैसे ही व्यक्ति यह अनुभव करने लगता है कि 'आंखें उतनी ठीक नहीं हैं जितनी कि हुआ करती

चित्र 48.7—दृष्टिवैषम्य
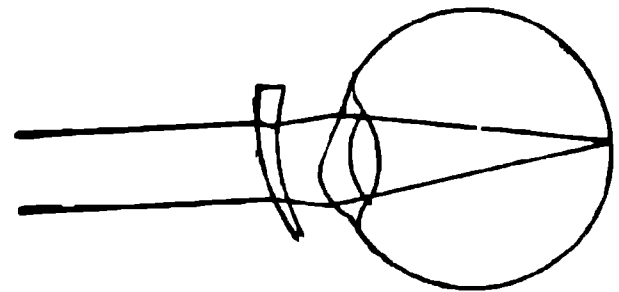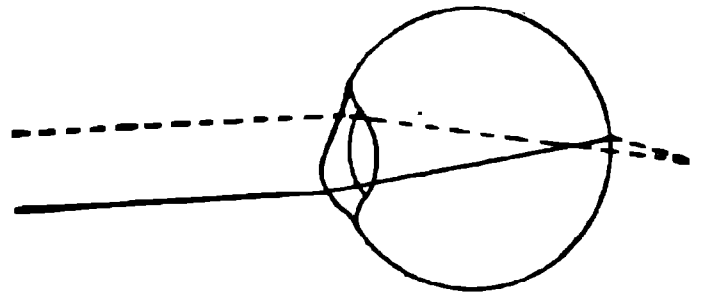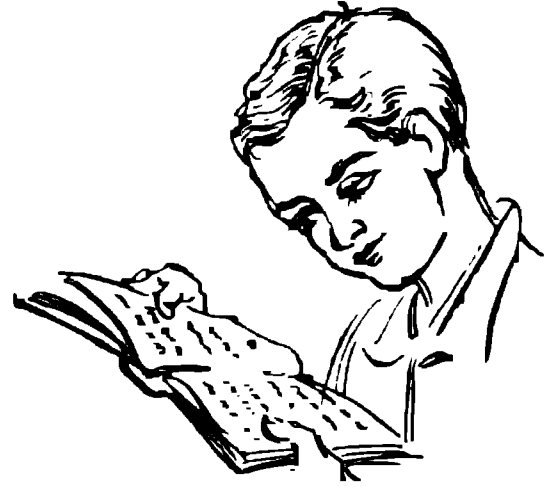
थीं' तो उसे नेत्र विशेषज्ञ की सलाह लेनी चाहिए। बताया गया चश्मा निदेशानुसार इस्तेमाल किया जाना चाहिए और कार्य व अवकाशों का समय अच्छे प्रकाश में बिताना चाहिए।

भेंगे अथवा व्यत्यस्त नेत्र (Crossed eyes) :

भेंगापन के निम्नलिखित दो या तीन कारक हो सकते हैं :—

1. दोषपूर्ण समंजन अथवा वस्तुओं को फोकस करने का दोष जिसमें ठीक से देखने के लिए अत्यधिक प्रयत्न करना पड़ता है।
2. बड़ी बाहरी पेशियों की दुर्बलता, जो कि आंखों को घुमाती हैं और जिनसे संकुंचन का असंतुलन हो जाता है।
3. दोनों असमान बिंबों, प्रत्येक आंख से एक बिंब, को एक ही में न मिला पाने की असमर्थता।

अत: भेंगेपन के कुछ प्रकारों को चश्मे से ही ठीक किया जा सकता है जो कि फोकस को सही कर देते हैं और कुछ प्रकारों में बाहरी पेशियों के आपरेशन की जरूरत पड़ती है। लेकिन आपरेशन से बाहर से दिखलाई पड़ने वाले दोष में सुधार हो जाता है और इससे प्रभावित आंख से ठीक से दिखाई देने वाली क्षमता नहीं लाई जा सकती। जहां 'सम्मिलन संवेद' का अभाव होता हैं वहां भेंगेपन के लिए विशेष ऑर्थोप्टिक उपचार की आवश्यकता होती है। भेंगेपन वाली आंख को सुधारने के लिए कई यंत्र खोज निकाले गए हैं। अधिकांश ऐसे व्यक्तियों में क्षीण दृष्टि होती है या हो जाती है। एक व्यापक और खतरनाक धारणा है कि भेंगेपन को यदि यूं ही रहने दिया जाय और छेड़ा न जाय तो अपने आप ठीक हो जाएगा तो कहना ही पड़ेगा कि दुर्भाग्य से अधिकांश व्यक्तियों में यह सच नहीं होता। यदि दुर्घटनावश भेंगेपन वाला बच्चा या वयस्क अपनी एक अच्छी आंख खो बैठता है तो उसमें भयानक रूप से कमी आ जाती है, यानी वह अक्षम हो जाता है। यह इसलिए कि भेंगेपन वाली आंख की नज़र कमजोर हो सकती है। अंत में यह कहेंगे कि यदि भेंगेपन का जल्दी इलाज न किया जाय तो बच्चा द्विनेत्री दृष्टि खो बैठता है और उसमें हीन भावना भी व्याप सकती है। इसलिए बुद्धिमानी इसी में है कि भेंगेपन वाले सभी बच्चों का उपचार संभवतया जल्दी से जल्दी होना चाहिए क्योंकि बचपन बीत जाने पर भेंगेपन वाली आंख को ठीक करना दिन-ब-दिन और कठिन होता चला जाता है। कई व्यक्तियों में करीब तीन महीने की लघु अवधि में ही स्थायी रूप से इसे ठीक किया गया है।

नेत्र विकार के कारण :

संकुलन, नेत्रश्लेष्माशोथ (कंजक्टिवाइटिस), अंजनी, आंख में बाहरी चीजें गिरने आदि विकार आमतौर पर होते हैं। जुकाम, इनफ्लूऐंजा और परागज ज्वर में आंखों पर हमेशा असर पड़ता है। खसरा, डिफ्थीरिया, कुष्ठ और चेचक सरीखे संक्रामक रोग प्राय: भयानक छाप छोड़ जाते हैं और यदि निरंतर ठीक से देखभाल न की जाय तो ये दृष्टि को प्रभावित करते हैं। नेत्र विकारों के अन्य कारण है : रासायनिक क्षति, यांत्रिक क्षति और बाहर से अथवा रक्त प्रवाह के माध्यम से होने वाले संक्रमण।

नेत्र रोगों के लक्षण :

निम्नलिखित लक्षणों का मतलब है आंखों में कोई विकार है :

1. आंख अथवा माथे में दर्द। यह दर्द कानों और अथवा ऊपरी जबड़े के दांतों तक फैल सकता है।
2. परिवर्तित स्रवण, जैसे श्लेष्मा, श्लेष्मपूयी (mucopurulent) अथवा खून का।
3. प्रकाश द्वारा असुविधा और चमक तथा अंधेपन की-सी अनुभूति होना।

4. पढ़ने तथा नजदीक के कार्य करने पर सिरदर्द होना। इस तरह का सिरदर्द नींद से दूर हो जाता है।
5. आंखों और सिर में तनाव व थकान का अनुभव, जो आंखों से अधिक काम लेने से हो जाता है।
6. धुंधली नजर और प्रकाश के चारों ओर रंगबिरंगे गोल घेरे दिखाई देना।
7. आंखों के सामने तिरते धब्बे।
8. पलकों में अत्यधिक खुजली।

आंख के सामान्य रोग :

अंजनी (स्टाइ) : यह आंख के पक्ष्म-पुटक (eye lash) का संक्रमण है जो अन्य स्थान में त्वचा में होने वाले छाले की तरह होता है। इसमें आरंभ में सारी पलक सूज जाती है लेकिन फिर पूय या पस बनने से यह सूजन किसी एक स्थल पर सीमित हो जाती है और पलक की सीमा पर किसी एक पक्ष्म से संबद्ध स्थान पर एक पीला बिन्दु देखा जा सकता है। इसके सामान्य कारण हैं - कब्ज, गाउट, रुमेटिज्म या आमवात, मधुमेह, आंख के आवर्तनदोष, जैसे कि दूर दृष्टि वाला दृष्टिवैषम्य, आदि—जिन पर तुरंत ध्यान दिया जाना चाहिए ताकि रोग फिर न हो। सेंकने से दर्द कम हो जाता है। यदि सूजन अपने आप फूट कर नष्ट नहीं होती तो पूय या पस को छेद करके निकाला जाता है।

पलक के उपांत का शोथ या सूजन : यह एक कष्टकारी दशा है। यह मंद प्रकार की भी हो सकती है जिसमें पक्ष्मों की जड़ पर रूसी हो जाती है। यह उग्र रूप की भी हो सकती है जिसमें पक्ष्मों या पलकों के बालों का नाश या विकृति और पलक के उपान्त की विरूपता हो सकती है। स्थानिक रूप से इसके उपचार के साथ साथ सामान्य स्वास्थ्य की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए।

नेत्र दाह या तीव्र नेत्रश्लेष्मलाशोथ (कंजक्टिवाइटिस) : इस दशा में आंख लाल हो जाती है और पूय या पस निकलता है। आंख को दिन में कई बार धोकर साफ रखा जाना चाहिए। डाक्टर की सलाह पर उचित 'आइ ड्रॉप्स' या आंख की दवाओं का प्रयोग करना चाहिए। पलक के उपान्त पर रात में कोई सौम्य मलहम प्रविष्ट करनी चाहिए ताकि पलकें आपस में चिपक न जायं। रेंडी के तेल (कैस्टर ऑयल) की एक बूंद ही इसके लिए काफी होगी।

रोगी को, सामान्यतया जो कि बच्चा होता है, स्कूल या घर में अन्य बच्चों से मिलने-जुलने नहीं देना चाहिए क्योंकि यह रोग रोगी से सीधे सम्पर्क से फैलता है। स्वस्थ व्यक्तियों को नेत्रदाह वाले रोगी व्यक्ति के तौलिए अथवा रूमाल का इस्तेमाल नहीं करना चाहिए।

रोहे या ट्रैकोमा : यह अनिवार्य रूप से नेत्रश्लेष्मला (कंजक्टाइवा) का एक चिरकारी सांसर्गिक रोग है। आरंभिक अवस्थाओं में तो अधिक कष्ट नहीं होता लेकिन बाद में अतिवृद्धि के कारण पलकों की नेत्रश्लेष्मला कुछ भारी हो जाती है और इससे रोगी निद्रालु-सा लगता है। आंख में किसी बाहरी चीज की उपस्थिति की अनुभूति भी हो सकती है। रोग से नेत्रश्लेष्मा की अन्य जटिलताएं उत्पन्न हो जाती हैं, जैसे कि व्रण और क्षति, जिनका यदि आरंभिक अवस्थाओं में ठीक से निदान नहीं किया गया और जल्दी सुचारु रूप से उपचार नहीं किया गया तो स्थायी रूप से अंधापन भी हो सकता है। इसमें आंख में दर्द होता है, पानी आता है और प्रकाश से असुविधा होती है (प्रकाशभीति)। आरंभिक अवस्थाओं में प्रतिजीवी औषधियों को बहुत लाभकारी पाया गया है लेकिन बाद वाली अवस्थाओं में रोहे वाली कणिकाओं को खुरचने जैसी शल्यचिकित्सा अथवा वर्त्मपट्टिका (tarsal plates) निकालने के लिए पलकों का आपरेशन करना जरूरी होता है। इन्हें पूरी तरह से ठीक करने के लिए उचित, शीघ्र और नियमित उपचार की आवश्यकता होती है।

नेत्रश्लेष्मला (कार्निया) के घाव और व्रण : इनके मुख्य लक्षण हैं दर्द, पानी आना और प्रकाश-भीति (फोटोफोबिया)। ये बाहरी पदार्थों, आकस्मिक रूप से रसायनों के गिरने अथवा पलकों के रोगों के कारण होते हैं। नेत्रश्लेष्मला का कोई भी घाव चाहे वह बाहरी चीज के गिरने या दुर्घटना से होता है बहुत खतरनाक बात है और यदि आरंभ में ही इसका उपचार न किया गया तो नजर कमजोर हो सकती है या स्थायी रूप से अंधापन तक हो सकता है। यदि व्रण या घाव संक्रमित हो जाता है तो यह खतरनाक बात है और इससे नेत्रगोलक की विनष्टि हो सकती है। अत: नेत्रश्लेष्मला के व्रण में तुरन्त अच्छे डाक्टर की सलाह लेनी चाहिए।

मोतिया बिन्दु (कैटेरेक्ट) : मोतियाबिन्दु में आंख का पारदर्शी लेन्स धीरे-धीरे अपारदर्शी बनता जाता है। यह सामान्यतया वृद्धावस्था का रोग है। मोतियाबिन्दु, लेन्स में, अधिक उम्र होने और शरीर के विभिन्न चयापचयी परिवर्तनों के परिणामस्वरूप होने वाला विकृतिजन्य परिवर्तन है। यह बालों के सफेद होने की तरह है। इसको रोकने के कोई उपाय नहीं है। मोतियाबिन्दु से होने वाली अंधता आंख से अपारदर्शी लेन्स को शस्त्रकर्म द्वारा निकालकर दूर की जाती है। आपरेशन के बाद निकट दृष्टि के लिए अधिक पावर के उत्तल लेन्स वाला चश्मा प्रयोग के लिए दिया जाता है। मोतियाबिन्दु के उपचार के लिए आम अखबारों में विविध औषधियां विज्ञापित की जाती हैं। लेकिन इस संदर्भ में यह याद रखना चाहिए कि इस रोग को ठीक करने के लिए कोई भी दवा काम नहीं आएगी और आपरेशन द्वारा अपारदर्शी भाग का निकाला जाना ही इसका एकमात्र उपचार है।

सबलकाय या ग्लोकोमा : इस रोग में नेत्र-गोलक के अंदर तनाव बढ़ता रहता है। यह रोग वृद्ध लोगों के भारी प्रतिशत की अंधता के लिए उत्तरदायी है। ग्लोकोमा वाली अंधता का उपचार नहीं हो सकता लेकिन हां, आरंभिक अवस्थाओं में जो कुछ भी नजर बच रहती है उसे आपरेशन उपायों से निश्चित रूप से बनाए रखा जा सकता है। इसके लक्षण हैं दोषपूर्ण व धुंधली नजर, प्रकाश के चारों ओर रंग-बिरंगे घेरे दिखलाई देना, एक ओर अत्यधिक दर्द और सिरदर्द। ऐसे रोगियों का अन्वेषण जल्दी करके उचित निदान द्वारा उपचार करके आगे होने वाली नजर की कमजोरी को रोक लिया जाना चाहिए।

रतौंधी या नक्तांधता : विटामिन ए की कमी से ही रतौंधी होती है। इसको रोकने के लिए आहार सुसन्तुलित होना चाहिए जिसमें विटामिन ए और बी पर्याप्त मात्रा में होने चाहिए जो कि आंख का स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए जरूरी होते हैं। विटामिन ए यकृत् (कलेजी), अंडे, मक्खन, दूध, पनीर और हरी सब्जियों में बहुतायत से होता है। इसकी विस्तृत जानकारी अध्याय 7 में दी गई है। इसका उपचार विटामिन ए को इंजेक्शन अथवा मुंह द्वारा देकर किया जाता है।

आंखों की देखभाल :

1. दिन में आंखों को दो या तीन बार खूब अधिक पानी से धोना चाहिए।

2. अन्य व्यक्तियों द्वारा इस्तेमाल किए गए रूमाल और तौलिए इस्तेमाल मत कीजिए।

3. यदि धूल या कोई बाहरी पदार्थ आंख में घुस जाये तो अंगुलियों अथवा कपड़े के टुकड़े से मत रगड़िए बल्कि आंख को पानी की अधिक मात्रा से धोइए।

4. आंख में पड़ी हुई बाहरी वस्तु को मत निकालिए। रेंडी के तेल (कैस्टर ऑयल) की एक बूंद डालकर आंख पर पट्टी बांध दीजिए। फिर बाहरी चीज को निकालने के लिए तुरंत अच्छे डाक्टर के पास जाइए।

5. आंख में बेचैनी अथवा दर्द, लाली, पलकों

उचित व्यवस्था गलत व्यवस्था

चित्र 48.8—पढ़ने व लिखने के लिए प्रकाश की व्यवस्था

के चिपकने सरीखे विकारों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

अच्छी दृष्टि बनाए रखने के लिए अनिवार्यताएं

(क) कार्य के अनुसार अच्छे और उचित प्रकाश की व्यवस्था होनी चाहिए। स्कूलों में अच्छी संस्थिति, उचित प्रकाश, चौंध से बचने, अत्यधिक छाया, उचित दूरी तथा पुस्तकों और आंखों के बीच के कोण और पाठ्य पुस्तकों में उपयुक्त टाइप या छापे के इस्तेमाल के सिद्धांतों की शिक्षा और अभ्यास अनिवार्य होना चाहिए। पढ़ते और लिखते समय रोशनी बाएं कंधे और पीछे से आनी चाहिए। (चित्र 48.8)। पढ़ने वाली दूरी 30 से 35 सेंमी. होनी चाहिए।

(ख) किताब का छापा या प्रिन्ट अच्छा होना चाहिए और आंखों पर आर्ट पेपर की चमक का परावर्तन नहीं होना चाहिए।

(ग) विटामिन ए और बी की यथेष्ट मात्रा के लिए सुसन्तुलित आहार।

(घ) आवर्तन की त्रुटियों का शीघ्र सुधार। चश्मे का प्रयोग इसलिए होना चाहिए कि,

(i) वे कमजोर नजर को ठीक करते हैं,

(ii) वे थकान का निवारण करके सुविधा प्रदान करते हैं,

(iii) वे आंख के दोषों के बढ़ने को रोकते हैं,

(iv) वे भेंगापन दूर करने में सहायक होते हैं,

(v) वे हमें काम करने योग्य बनाते हैं अन्यथा हम काम करने में असमर्थ रहेंगे,

(ङ) चश्मे की पावर की नियमित समय पर जांच कराते रहना।

(च) दूसरों के द्वारा पहने हुए चश्मों का इस्तेमाल न करना।

(छ) उद्योगों के कार्यकर्ताओं द्वारा रंगीन चश्मों का अनिवार्य रूप से प्रयोग किया जाना चाहिए, जहां कि उन्हें चमकीले प्रकाश में काम करना पड़ता है। आंख में कूड़ा-करकट और उड़ते हुए कणों से आंखों को बचाने के लिए रक्षी चश्मों का अनिवार्य रूप से प्रयोग किया जाना चाहिए।

(ज) बिना डाक्टर की सलाह के 'आइ ड्रॉप्स' या आंखों की दवाओं का प्रयोग नहीं करना चाहिए। • • •

49

—डा० जी० एस० देवधर
डा० जे० बी० जागोस

दंत रोग और स्वास्थ्य

दांत कैल्सीभूत कड़ी संरचनाएं हैं जो ऊपरी और निचले जबड़े में अस्थिल गर्तों में स्थिर होते हैं।

दांतों के कार्य :

1. चर्वण : कृंतक (incisor) या सामने वाले दांत भोजन को काटते हैं। रदनक (canines) और द्विकस्पी दांत (चित्र 49.2) भोजन को चीरते व पकड़ते हैं। चर्वणक (molar) भोजन को पीसने-चबाने का कार्य करते हैं।

2. ध्वनि उच्चार : दांत आवाज का स्वर सामंजस्य करके बोलते समय सहायता देते हैं। अच्छा बोलने के लिए दांत अनिवार्य हैं।

3. सौंदर्य : चेहरे की सुंदरता और आकर्षण में भी दांत महत्वपूर्ण होते हैं।

दांतों का निकलना :

दांत दो प्रकार के होते हैं : **अस्थायी या दूध के दांत और स्थायी दांत** (चित्र 49.2 और 3)। दूध के दांत संख्या में 20 होते हैं, जो जबड़े के प्रत्येक ओर 5 होते हैं अर्थात् केंद्रीय और कृंतक, रदनक, प्रथम चर्वणक और द्वितीय चर्वणक। दूध के दांतों के निकलने का औसत महीना उनके निकलने के क्रम के अनुसार निम्नलिखित प्रकार से है : —

6 — 8 महीने	केंद्रीय कृंतक
7 — 9 महीने	पार्श्वीय कृंतक
12 14 महीने	प्रथम चर्वणक
16 18 महीने	रदनक
20 — 24 महीने	द्वितीय चर्वणक

दंतोद्भवन (दांत निकलना) : आम धारणा के विपरीत प्रवाहिका (डायरिया), क़ै, ज्वर, आक्षेप सरीखे लक्षणों को दांत निकलने से संबद्ध नहीं किया जा सकता।

ये लक्षण संयोगवश और संक्रमण सरीखे अन्य कारणों से होते हैं। स्वस्थ बच्चे को दंतोद्भवन से कोई कष्ट नहीं होना चाहिए और इसमें यही परिवर्तन हो सकता है कि लार अधिक आएगा और मसूढ़े कुछ सूज जाएंगे। कुछ बच्चे चिड़चिड़े हो सकते हैं लेकिन इसमें किसी उपचार की जरूरत नहीं है। दांत निकलने के समय वाली जो

* * * *

डा. जी. एस. देवधर, एल. डी. एस.-सी., बी. डी. एस. (बम्ब.), डेन्टल सर्जन, पूना—2
डा. जे. बी. जागोस, एल. डी. एस.-सी., (ए.डी.सी.), एफ.आई.सी.डी. (यू.एस.ए.), पूना—1, भूतपूर्व अध्यक्ष, अखिल भारतीय डेन्टल एसोसिएशन।
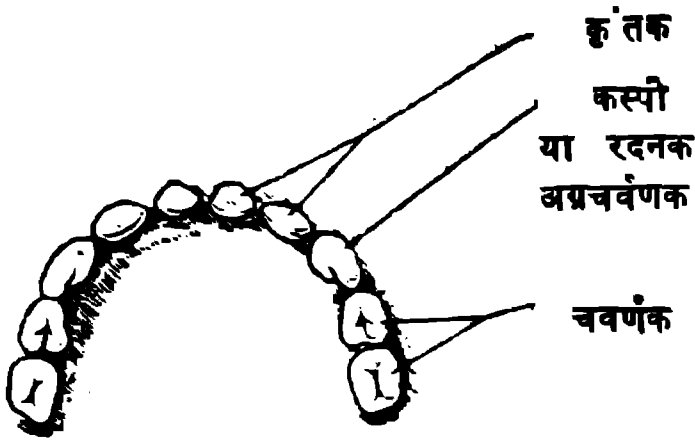
चित्र 49.2—दूध के दांत
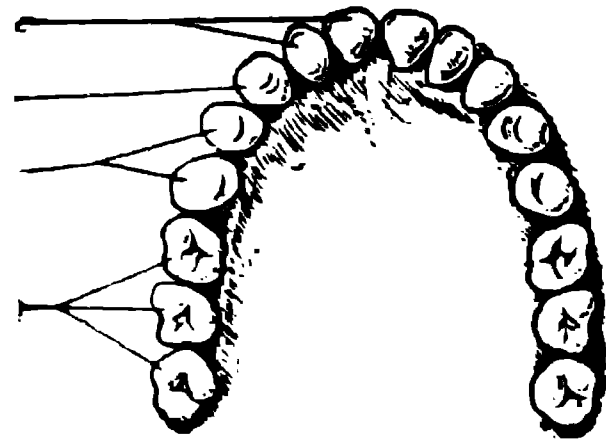
चित्र 49.3—स्थायी दांत

भी दवाएं विज्ञापित की जाती हैं वे सब बेकार होती हैं।

लोग दूध के दांतों की बहुत कम परवाह करते हैं और यह सोचते हैं कि ये तो अस्थायी दांत हैं। लेकिन यह एक गलत धारणा है और यह एक महत्वपूर्ण कारण है जिससे कि बच्चों में दंतक्षय (केरीज़) होता है। यदि बहुत अधिक दांत नष्ट हो जाते हैं तो भोजन ठीक से चबाया नहीं जा सकेगा। इससे पोषण और बच्चे के सामान्य स्वास्थ्य पर भी असर पड़ेगा। पहला स्थायी चर्वणक (मोलर) छह वर्ष की उम्र में निकलता है और इसे प्रायः दूध का दांत ही समझा जाता है। लेकिन पहले चर्वणक की उपेक्षा करने से हानि ही होती है।

दूध के दांतों के बाद जो दांत आते हैं उन्हें स्थायी दांत कहते हैं। ये दांत जीवन के अंत तक चलते हैं। ये संख्या में 32 होते हैं, जबड़े के प्रत्येक ओर 8 अर्थात् केंद्रीय और पार्श्वीय कृंतक, रदनक, प्रथम और द्वितीय अग्रचर्वणक और प्रथम, द्वितीय और तृतीय चर्वणक। तीसरे चर्वणक को ही अकल दाढ़ कहते हैं। स्थायी दांतों के निकलने का औसत समय, उनके निकलने के क्रम में, निम्न प्रकार से है :

6—7 वर्ष	प्रथम चर्वणक
6—8 वर्ष	केंद्रीय या बीच के कृंतक
7—9 वर्ष	पार्श्वीय कृंतक
10—12 वर्ष	प्रथम अग्रचर्वणक
10—12 वर्ष	द्वितीय अग्रचर्वणक
11—12 वर्ष	रदनक
12—13 वर्ष	द्वितीय चर्वणक
17—25 वर्ष	तृतीय चर्वणक

दांत की संरचना :

मुंह में दांत का वह भाग जो दिखलाई पड़ता है, दंत शिखर (क्राऊन) और नीचे का संकरा भाग ग्रीवा (neck) कहलाता है। जो भाग जबड़े की हड्डी के अंदर स्थित होता है उसे जड़ या मूल कहते हैं और यही भाग दंत शिखर को आधार प्रदान करता है। दांत की आंतरिक रचना चित्र 49.4 में दर्शाई गई है।

दंतवल्क या इनेमल : यह दंत शिखर को आवृत्त करने वाला कड़ा और पारभासी बाहरी पदार्थ है। इनेमल प्राणि ऊतकों में सबसे कड़ा ऊतक है जो खरोंच व घर्षण के प्रति रोधी होता है। इस तरह यह दांत को घर्षण के कारण होने वाली टूट फूट से बचाता है। इसकी मोटाई 2 मिमी. से 2.6 मिमी. तक होती है।

डेन्टीन या दंतधातु : यह वह पदार्थ है जो दांत का अधिकांश भाग बनाता है। यह इनेमल की अपेक्षा अधिक मुलायम होता है और इनेमल के विपरीत यह दर्द करने वाले उद्दीपनों के प्रति तीव्र अनुक्रिया दिखलाता है। रंग में यह पीला होता है और दांत को सामान्य रूप के अतिरिक्त यह लचीली शक्ति प्रदान करता है। फिर भी
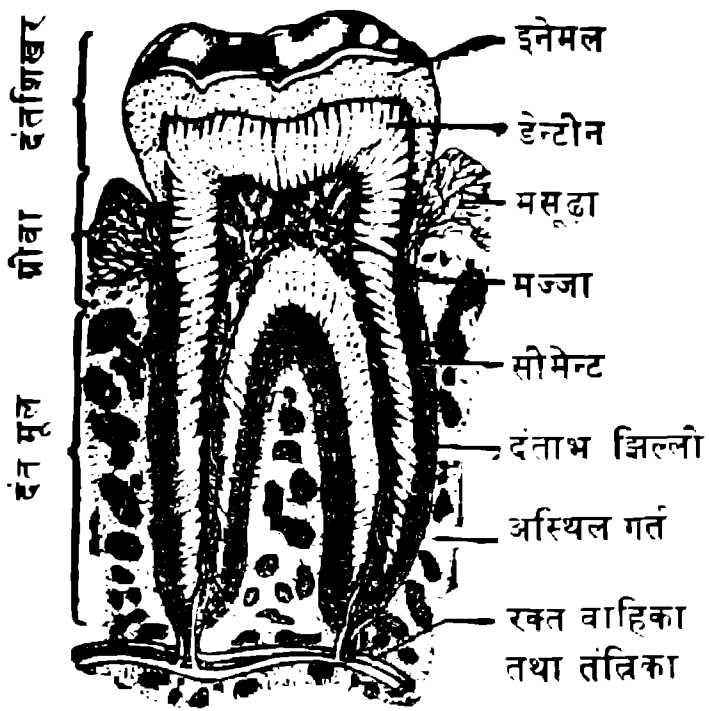
चित्र 49.4—दांत की संरचना

डेन्टीन बहुत भुरभुरा या भंजनशील होता है।

मज्जा या दंत मज्जा (पल्प) : यह दांत की बीच वाली गुहिका में भरा रहता है। यह दांत को संवेदना प्रदान करता है और तापमान के आकस्मिक रूप से होने वाले परिवर्तन के प्रति विशेष रूप से संवेदनशील होता है। उद्दीपनों के प्रति मज्जा की अनुक्रिया केवल दर्द के संवेद के रूप में होती है।

सीमेन्ट (सीमेन्टम) : यह दंतमूल को ढके रहता है। यह दांत को सहारा देता है और नीचे वर्णित परिदंत-कला (periodontal membrene) से दांत को जोड़कर उसे कार्यक्षम बनाता है।

परिदंत-कला : यह दंतमूल और जबड़े में उसके गर्त की अस्थिल भित्ति (दीवार) के बीच के स्थान को भरती है। यह झिल्ली या कला दांत के स्पर्श के संवेद के लिए एकमात्र रूप से उत्तरदायी है और इसके दो महत्वपूर्ण कार्य हैं। यह दांत को उसके अस्थिल गर्त में सहारा देती है और चबाने आदि से जो जोर पड़ता है उसके प्रति दांत को मजबूती से थामे रहती है। साथ ही यह दांतों के बीच के मुलायम ऊतक को उचित स्थिति में रखती है। परिदंत-कला न हो तो दांत बेकार हो जाय। इस झिल्ली के तीव्र शोथ या सूजन के कारण कड़े ऊतक में ढका रहने वाला दांत उसके गर्त में ऊपर उठा दिया जाता है। ऐसे में अन्य पड़ोसी दांतों की अपेक्षा यह दांत ऊंचा उठा हुआ लगता है।

दांतों के विकार

दांतों के सामान्य विकार हैं (क) दंतक्षय (कैरीज), (ख) मसूढ़ा शोथ और पायरिया, (ग) गंधवाला श्वास और (घ) अनियमित दांत या कुअधिधारण।

(क) दंतक्षय :

दंतक्षय दांतों के कैल्सीभूत ऊतकों का जीवाणु रोग है। मुंह में अम्ल उत्पन्न करने वाले जीवाणु कार्बोहाइड्रेट, शर्करा आदि के किण्वन से अम्ल बनाते हैं। इस प्रकार से उत्पन्न अम्ल अकार्बनिक लवणों को घोल देता है, दंतद्रव्य के जैविक पदार्थ को गला देता है और दांत में गुहा बनाना शुरू कर देता है। यह दंतक्षय कुछ सामान्य स्थलों पर होता है, जैसे दांत की काटने वाली सतहों के गर्तों और विदरों में।

दंतक्षय में कुछ अन्य कारक भी महत्वपूर्ण हैं। ये हैं—आनुवंशिकता, आहार, मुंह की स्वच्छता, लार, दांत की संरचना और दैहिक रोग। इन कारकों का वर्णन बारी-बारी से नीचे किया गया है।

आनुवंशिकता : दांतों की संरचनात्मक कमजोरी और चयापचय से होने वाले दतक्षय का पूर्वनिर्धारण आनुवंशिक रूप से हो जाता है। और फिर यह विशेषता अगली पीढ़ी को भी सप्रेषित हो जाती है।

आहार : इस कारक का बहुत महत्वपूर्ण योग है। भोजन में कार्बोहाइड्रेट, विशेषकर चॉकलेट और मिठाई सरीखे मुलायम और चिपचिपे पदार्थ बहुत महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। खाना खाने के बाद या मिठाई खाने और चिपचिपे भोजन बाद यदि कुल्ला

न किया जाय या ब्रश न किया जाय तो दांतों व दांतों के बीच में फंसा भोजन किण्वन करता या सड़ता रहेगा। आधुनिक परिष्कृत आहार भी एक महत्वपूर्ण कारक हो सकता है।

मुंह की स्वच्छता : दांतों को स्वच्छ रखने से दंतक्षय को काफी सीमा तक कम किया जा सकता है। दांतों की अस्वच्छता से दांतों के सड़ने को बढ़ावा मिलता है।

लार या लाला : लार के अकार्बनिक यौगिकों में दांतों की रक्षा का गुण होता है, लेकिन यदि यह सुरक्षा नहीं रहती तो दांतों का क्षय बड़ी तेजी से होता है।

दांत की संरचना : गौर से यह देखा गया है कि दांतों का 80 प्रतिशत क्षय गर्तों और विदरों में शुरू होता है। इन स्थलों पर भोजन अथवा कार्बोहाइड्रेट आदि के बारीक कण फंसे रह जाते हैं। कैलसीभवन की मात्रा भी दंतक्षय वाले कारकों के प्रतिरोध में योग देती है।

दैहिक रोग : चयापचय को बाधित अथवा परिवर्तित करने वाले रोग दंतक्षय करते हैं, जैसे कुपोषण आदि।

संक्षेप में कह सकते हैं कि बहुत अधिक परिष्कृत भोजन व दांतों की अस्वच्छता से कार्बोहाइड्रेट वाले खाद्य पदार्थों पर क्रिया करके जीवाणु अम्ल उत्पन्न करते हैं, जो प्रायः दांतों को चबाने वाली सतहों के गर्तों और विदरों के इनेमल का क्षय करते हैं। ये अम्ल इनेमल को गला कर इनेमल और डेन्टीन के मिलने वाले स्थान तक गहरे पहुंच जाते हैं। दंतक्षय प्रक्रिया की प्रगति शंकु की तरह होती है जिसका शीर्ष ऊपर होता है और यह महसूस किए जाने के बावजूद भी कि ऊपरी सिरे पर गुहिका बहुत छोटी है वास्तव में दांत में वह गुहिका बहुत चौड़ी होती है। समय के दौरान दबाव के कारण पहली सतह टूट जाती है और ऐसा महसूस होता है कि जैसे गुहिका एक ही दिन में चौड़ी हो गई हो (चित्र 49.5)।

दंतक्षय की प्रक्रिया जब डेन्टीन तक पहुंच जाती है तो गुहिका क्रमिक रूप से संकरी होती जाती है। एक दफा यदि क्षय की यह प्रक्रिया मज्जा तक पहुंच गई तो इसमें शोथ या सूजन के परिणामस्वरूप दर्द होने लगता है क्योंकि वहां तंत्रिकाएं होती हैं। जीवाणुओं के वहां पहुंचने पर दंतमूल के शीर्ष पर फोड़े उत्पन्न हो सकते हैं (चित्र 49.5)। इससे मसूढ़ों की ही नहीं चेहरे की भी सूजन हो सकती है। अन्ततः दांत निकलना अनिवार्य हो जाता है।

दंतक्षय का निरोध और नियंत्रण :

बच्चे के पैदा होने के पहले ही दंतक्षय का निरोध होना चाहिए। सन्तुलित आहार के रूप में कैल्सियम की यथेष्ट मात्रा उसी समय दी जानी चाहिए जिस समय कि भ्रूण में दांतों का निर्माण होता है। अतः गर्भवती स्त्री को विटामिनों, कैल्सियम और फास्फोरस की यथेष्ट मात्रा वाला सुसन्तुलित आहार दिया जाना चाहिए।

दांतों की जांच : दांतों की जांच के लिए साल में एक या दो बार दन्तचिकित्सक के पास जाना चाहिए। वह जल्दी होने वाले दंतक्षय के उपचार और बचाव के लिए आवश्यक सलाह देगा। जब दांत दर्द करने लगता है तो काफी देर हो चुकती है और तब दांत को बचाना संभव नहीं होता। कुछ में तो दांत को ठीक किया जा सकता है लेकिन अधिकांश रोगियों में सड़े दांत का यही उपचार है कि उसे निकाल दिया जाय।

जब गुहा बहुत छोटी ही दिखाई देती है अथवा जब दांतों में या उनके बीच में भोजन के कण फंस जाते हैं तो दर्द होने के पहले ही दांत के उपचार और भराव के लिए दन्तचिकित्सक के पास जाना चाहिए (चित्र 49.5)।

गर्तों या गड्ढों अथवा विदरों का रोगनिरोधी भराव कर लिया जाना चाहिए क्योंकि यहीं से
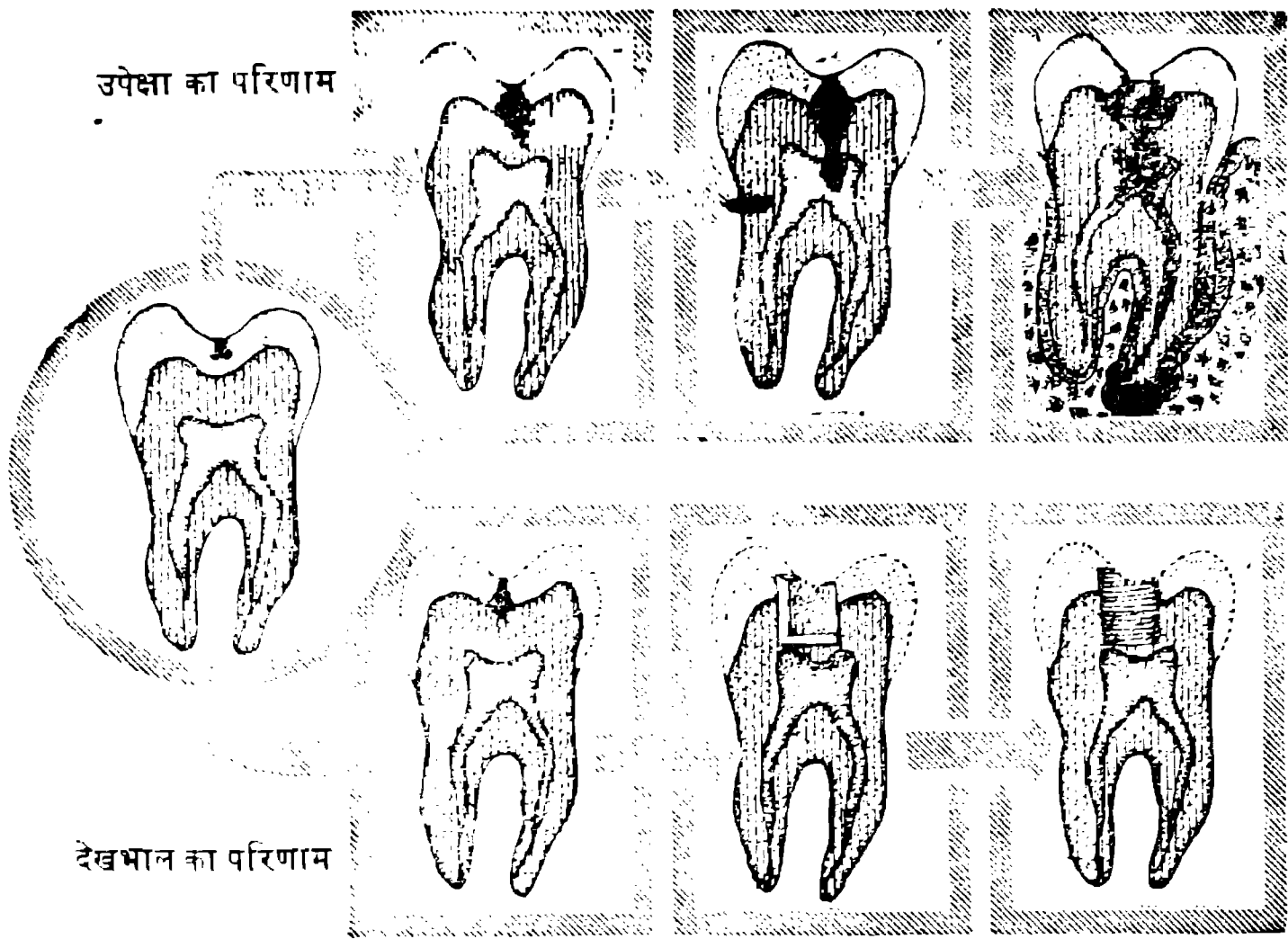
चित्र 49.5—दांतों का क्षय (कैरीज)

क्षय शुरू होता है। बच्चों के मामले में जहां तक छठे वर्ष आने वाले स्थायी चर्वणक का संबंध है, यह विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

मुंह की स्वच्छता : दांतों के क्षय (कैरीज़) को रोकने के लिए बहुत ऊंचे स्तर वाली मुंह की स्वच्छता रखी जानी चाहिए। इसके लिए कुल्ला करना और दांतों में ब्रश करना बहुत जरूरी है। दांतों को पहले तो खाने के बाद हर समय या नहीं तो कम से कम सुबह और रात को खाने के बाद सोने से पहले रोज साफ करना चाहिए। अंगुलियों से दांत साफ करने की अपेक्षा ब्रश से साफ करना अच्छा तरीका है। ब्रश के बालों को इतना काफी लचीला होना चाहिए कि वे दांतों के बीच के संकरे भागों में मध्यम प्रकार के दबाव से जा सकें। मध्यम प्रकार का ब्रश प्राय: अच्छा रहता है और ब्रश करने का समय सामान्यतया दो या तीन मिनट से अधिक नहीं होना चाहिए। अंगुलियों या ब्रश द्वारा अत्यधिक सफाई दांतों को नुकसान पहुंचाती है और उन्हें ठंड, द्रवों, मिठाइयों आदि के प्रति संवेदनशील बना देती है। कोई भी पेस्ट ठीक होता है लेकिन यदि कोई पाउडर इस्तेमाल किया जाता है तो उसे खुरदरा नहीं होना चाहिए अन्यथा दांतों को नुकसान पहुंच जाएगा।

दांतों की सफाई : दांत साफ करने की आदर्श विधि नीचे दी गई है। ब्रश को तिरछा रखकर मध्यम दबाव से मसूढ़ों पर चलाना चाहिए। ब्रश की गति झाड़ू लगाने की तरह होनी चाहिए। ऊपर के दांतों को ऊपर से नीचे की ओर और नीचे वाले दांतों को नीचे से ऊपर की ओर ब्रश करना चाहिए। ब्रश को मसूढ़ों से दांतों के खुले उपान्त से उठाना चाहिए। सामने के दांतों को साफ करने के दौरान मुंह को थोड़ा खुला रखना चाहिए वरना ब्रश ऊपरी दांतों से निकले दांतों की ओर नीचे आ जाएगा और नीचे का मसूढ़ा क्षतिग्रस्त हो सकता है या उसमें क्षोभ उत्पन्न हो सकता है। सामने के दांतों की भीतरी सतह को ब्रश को खड़ा

करके या तिर्यक रूप में रख कर साफ करना चाहिए। चबाने वाली सतह को साफ करने के लिए ब्रश की सामान्य क्षैतिज गति करनी चाहिए। किसी भी भाग पर 3-4 बार से अधिक ब्रश नहीं फेरना चाहिए।

आंशिक कृत्रिम दंतावली (डेनचर) को हमेशा ब्रश से सोने से पहले साफ करना चाहिए।

मसूढ़ों की बाहर की ओर संकेतिका से और तालु की ओर अंगूठे से मालिश की जानी चाहिए। ऊपरी मसूढ़ों में मध्यम प्रकार के दबाव से अंगुली को खड़ी तरह से ऊपर से नीचे की ओर और निचले मसूढ़ों में नीचे से ऊपर की ओर चलाना चाहिए।

गुनगुने पानी से गरारे करने या प्रतिरोधी द्रव्य द्वारा कुल्ला करने से दांतों के बीच में फंसे भोजन के कणों को निकालने में सहायता मिलती है।

दांतों का एक्स-रे : दंतक्षय (केरीज़) के शीघ्र निदान में यह बहुत उत्तम रूप से सहायक होता है। एक्स-रे में पुराने भरे स्थानों के प्रगत दंतक्षय, शीर्षी विद्रधियों, दोषपूर्ण भरावों, अनुद्भूत (न निकले) दांतों आदि का भी निदान हो जाता है। ऐसे अन्वेषण आवश्यकतानुसार किए जाने चाहिए जब कि दंतचिकित्सक की सलाह हो।

फ्लोराइड का प्रयोग : यह पाया गया है कि जिन क्षेत्रों में पीने के पानी में फ्लोराइड अंश काफी अधिक होता है वहां कम फ्लोराइड अंश वाले पानी की अपेक्षा दंतक्षय कम होता है। विकसित देशों के कुछ शहरों में दंतक्षय के नियंत्रण के लिए पीने के पानी का फ्लोराइडीकरण किया जाता है। सोडियम फ्लोराइड के घोल को स्थानिक रूप से लगाना दंतक्षय के बचाव में लाभकारी पाया गया है। लेकिन यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि सोडियम फ्लोराइड का घोल जहरीला होता है और इसे घर पर नहीं केवल अच्छे सुप्रशिक्षित दन्तचिकित्सक द्वारा ही लगाया जाना चाहिए। इसको लगाने की आवृति व्यक्ति-व्यक्ति पर निर्भर करती है।

बच्चों में दंतक्षय या कैरीज़ के बचाव की जिम्मेदारी माता-पिता पर ही है जिन्हें ऊपर बताई गई सावधानियां बरतनी चाहिए और दन्तचिकित्सक के पास नियमित रूप से जाना चाहिए।

(ख) मसूढ़ाशोथ और पायरिया :

ये मसूढ़ों और परिदंत-कला के चिरकारी रोग हैं। मसूढ़ाशोथ या जिंजिवाइटिस मसूढ़ों की सूजन है जिसमें वे लाल हो जाते हैं और ब्रश करते या या अंगुलियों से दांत साफ करते समय इनसे खून निकलता है। वयस्कों में यह रोग आमतौर पर पाया जाता है और बच्चों में मुश्किल से ही होता है। मसूढ़ाशोथ के कारण निम्नलिखित हैं :

1. स्कर्वी सरीखे कमी वाले रोग,
2. टारटर का निर्माण या अश्मरी यानी दांतों के चारों ओर बाहरी कड़े पदार्थों का जमाव। इससे मसूढ़ों में क्षोभ होता है और यह मसूढ़ों की सूजन का महत्वपूर्ण कारक है।
3. दांतों को ब्रश करने की गलत विधि।
4. भोजन चबाने का गलत तरीका अर्थात् चबाने-खाने में केवल एक ही तरफ का इस्तेमाल करना।
5. कृत्रिम दंतावली की गलत फिटिंग आदि।
6. आंत्र संक्रमण और पर्याक्रमण, जैसे अमीबा-रुग्णता।
7. यह मधुमेह, यक्ष्मा, आर्तव-विकार सरीखे रोगों से भी संबद्ध हो सकता है।

पायरिया वह अवस्था है जिसमें मसूढ़ों से पूय या पस विसर्जित होता है। इसमें दांत मसूढ़े से अलग हो जाता है और ऐसी कोटरिका बन जाती है जिसमें पस रहता है। अस्थिल गर्त और सीमेन्ट की सूजन और व्यपजनन हो जाता है और अस्थिल

गर्त के पुनरवशोषण से बाद वाली अवस्था में (चित्र 49.6) दांत ढीले हो जाते हैं। प्रायः पायरिया पूरी तरह से ठीक नहीं किया जा सकता और इसका एकमात्र उपचार है दांत उखड़वाना। लेकिन आरंभिक अवस्था में उचित उपचार से इसको रोका जा सकता है।

मसूढ़ाशोथ और पायरिया से बचाव :

1. रेशेदार भोजन खाना : भोजन को चबाने से दांतों को सहारा देने वाले ऊतकों का स्वास्थ्य अच्छा रहता है। रोजमर्रा के आहार में ऐसे रेशेदार खाद्य पदार्थ सम्मिलित किए जाने चाहिए, जैसे हरी सब्जियां, गन्ना, फल आदि, जिन्हें काफी चबाना पड़ता है।

2. टारटर का निराकरण : दांतों में टारटर या अश्मरी का जमाव ही रोगों की जड़ है। अतः इनको नियमित अंतरालों पर निकालना जरूरी है। जैसी कि दंत सर्जन की राय होती है।

3. रोगों का उपचार : शरीर के कुछ रोग (दैहिक रोग) परिदंत-कला के रोग उत्पन्न कर सकते हैं। ऐसे रोगों का निदान और शीघ्र उपचार जरूरी है।

4. पूतिरोधी गरारे : रोज नियमित रूप से पूतिरोधी गरारों से मुंह को प्रक्षालित करते रहने से मुंह के संक्रमण पर अंकुश रहता है।

5. दांतों की देखभाल : मसूढ़ों के रोगों से बचने के लिए दोषों का सुधार, नकली दांतों से उखड़े दांतों की जगह को भरने और दंतचिकित्सक द्वारा सुझाए उपचार पर चलना जरूरी है।

आरंभिक अवस्थाओं में मसूढ़ों और परिदंत-कला के रोग बिना दर्द वाले हो सकते हैं। इनसे बचने के लिए सामयिक रूप से दांतों का निरीक्षण और दोषों में सुधार करना सबसे अच्छा तरीका है।

(ग) दुर्गन्धयुक्त श्वास या दुर्गन्धी प्रश्वसन :

दुर्गंधयुक्त श्वास दांत के सड़ने, परिदंत-कला

चित्र 49.6—मसूढ़ाशोथ और पायरिया
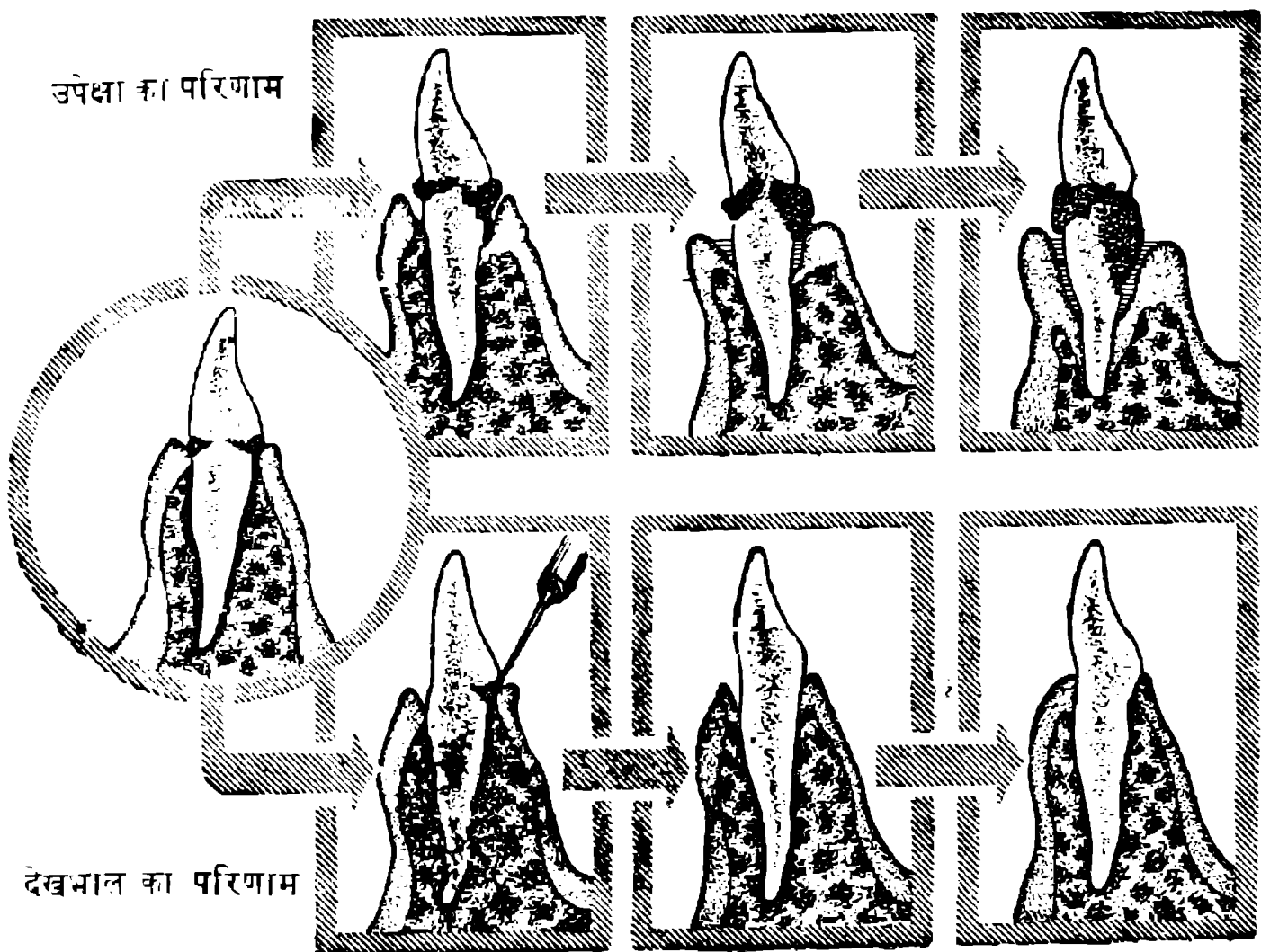
के रोगों, तीव्र ऊतकक्षयी मसूढ़ाशोथ, मुंह तथा बिना भरी गुहिकाओं में जमा भोजन कणों के अपघटन, दांतों के अपर्याप्त रूप से ब्रश और सफाई करने, अस्वच्छ कृत्रिम दंतावलियों, मुंह से सांस लेने, लार के कम स्रवण व सूखेपन, मधुमेह, खराब गले, फेफड़े व साइनस संक्रमण, अपाचन आदि के कारण होती है।

दुर्गंधयुक्त श्वास का बचाव और उपचार ही कारण का बचाव और उपचार है।

(ग) कुअधिधारण अथवा अनियमित दांत :

ये उपार्जित या आनुवंशिक हो सकते हैं। उपार्जित अनियमितताएं अंगुली या ओंठ चूसने, गलत तरीके से सोने, पढ़ते समय गालों पर दाहिनी या बायीं हथेली रख कर बैठने आदि से संबद्ध आदतों से होती हैं। इनसे दांतों व जबड़े की हड्डियों पर जोर पड़ता है और तदनुसार परिवर्तन हो जाते हैं। अन्य कारण हैं दूध के दांतों का जल्दी उखड़वाना अथवा उनका देर से गिरना, मुंह से सांस लेने की आदत और गिरे दांतों के बदले समय पर नए दांत न लगवाना।

आनुवंशिक प्रकार का अधिधारण जबड़े व दांतों के आकार के अनुपात को प्रभावित करता है, जैसे छोटे जबड़े वाले बड़े दांत सामान्य दंतविन्यास में बाधा पहुंचाते हैं। परिवार की ये विशेषताएं अगली पीढ़ी में भी पहुंच जाती हैं। यह भी हो सकता है कि निचला जबड़ा ठीक से परिवर्धित न हो और इसके कारण ऊपरी जबड़ा और दांत बाहर की ओर काफी अधिक निकल जाते हैं। कभी-कभी निचला जबड़ा बाहर की ओर काफी अधिक निकल जाता है। दांतों का आकार, आकृति व विन्यास आनुवंशिक रूप से नियंत्रित होता है। अनियमित दांतों के कारण बोलने में भी दोष उत्पन्न हो सकते हैं।

अनियमित दांतों के निवारण के लिए ऊपर बताए गए कारणों पर ध्यान देना जरूरी है जिससे कि अनियमितताएं उत्पन्न होती हैं और आरंभिक शैशवावस्था में दांतों का पूरा निरीक्षण करा लिया जाना चाहिए। जब कोई दूध का दाँत जल्दी गिर जाता है तो उसके बदले आंशिक रूप से कृत्रिम दांत तुरन्त लगवा लेना चाहिए वरना स्थायी दांत के निकलने के पहले ही वह स्थान बंद हो सकता है और इसका परिणाम यह होगा कि नया दांत गलत तरह से निकलेगा। इसी तरह यदि दूध का दांत अधिक समय तक रहता है तो इसकी जड़ें स्थायी दांत पर दबाव डालकर उसे अपसामान्य प्रकार से निकलने के लिए मजबूर कर सकती हैं।

चेहरा-मोहरा भद्दा तो लगता ही है लेकिन ऊपर या नीचे के बाहर निकले हुए दांतों से काटने, खाने व चर्वण की क्रियाएं भी गलत ढंग से होती हैं और बोलना भी दोषपूर्ण होता है। निकले दांतों को विकलदंतविज्ञानी नामक दंतविशेषज्ञ द्वारा सुधार-उपायों से धीरे-धीरे सामान्य स्थिति में लाया जा सकता है। अतः दांतों की अनियमितता को ध्यानपूर्वक देखा जाना चाहिए और 15 या 16 वर्ष की उम्र तक इनका आदर्श उपचार करा लिया जाना चाहिए।

दांतों का सामान्य स्वास्थ्य पर प्रभाव :

यद्यपि कुछ दैहिक रोगों से दांतों पर असर पड़ता है लेकिन ये संक्रमण-केंद्र भी हो सकते हैं और शरीर के विभिन्न भागों को द्वितीयक रूप से प्रभावित करते हैं (चित्र 49.6)।

दांतों के संक्रमण जैसे कि मज्जा का शोथ या सूजन या दंतमूल विद्रधि, मसूढ़ाशोथ या पायरिया संक्रमण के केंद्र बिंदु हैं। इसका मतलब यह हुआ कि इन स्थलों पर जीवाणु निरंतर प्रचुर संख्या में उत्पन्न होते रहते हैं और इनके विषालु उत्पाद भी जीवाणुओं के स्रोत हैं जो रक्त प्रवाह में प्रविष्ट होते हैं। ये सूक्ष्मजीव रक्त के माध्यम से शरीर के किसी भी भाग में पहुंच कर द्वितीयक संक्रमण या ऐलर्जी उत्पन्न करते हैं। पूति दांत, दंतक्षय और

पायरिया, दुष्पचन और कुस्वास्थ्य के आम कारण हैं। इस बात का भी दावा किया जाता है कि दांतों के ये केंद्र-संक्रमण आंत्रीय व तंत्रिकाविज्ञानीय गड़बड़ियों, संधिशोथ, अवतीव्र जीवाण्विक अंतर्हृद्शोथ (एन्डोकार्डाइटिस—जिसे देखिए अध्याय 24 में), त्वचा के रोगों, आंख के कष्टों आदि के लिए उत्तरदायी हो सकते हैं (चित्र 49.6)।

यह कहा जाता है कि गंदे दांत मुंह का कैन्सर उत्पन्न करने में योग देते हैं। सड़े-गले दांतों के खुरदुरे व पैने किनारों से निरंतर होने वाला क्षोभ, दोषपूर्ण और पैने भराव, गलत तरह से फिट कृत्रिम दंतावलियां तथा तंबाकू चबाना व धूम्रपान मुंह में व्रण उत्पन्न कर देते हैं और इसके परिणामस्वरूप मुंह का कैन्सर होता है।

इस प्रकार केंद्र-संक्रमण और स्थानिक क्षोभ के कुछ भी दैहिक प्रभाव हों मुंह के सभी रोगों पर अच्छी तरह ध्यान देकर उनका उपचार करना चाहिए।

स्वस्थ दांतों की देखभाल :

1. दिन में कम से कम दो बार दांतों में ब्रश करना चाहिए (सुबह और रात को सोने से पहले)।
2. किसी भी समय खाने या पीने के बाद हमेशा मुंह धोना और कुल्ला करना चाहिए।
3. मिठाई और चिपचिपी चीजों को खाने से बचिए, जैसे पेस्ट्री, लॉलीपॉप, टाफी, चिक्की और मीठे पेयों से। यदि इन्हें आप लेते भी हैं तो आप मुंह को अच्छी तरह से धो लिया कीजिए।
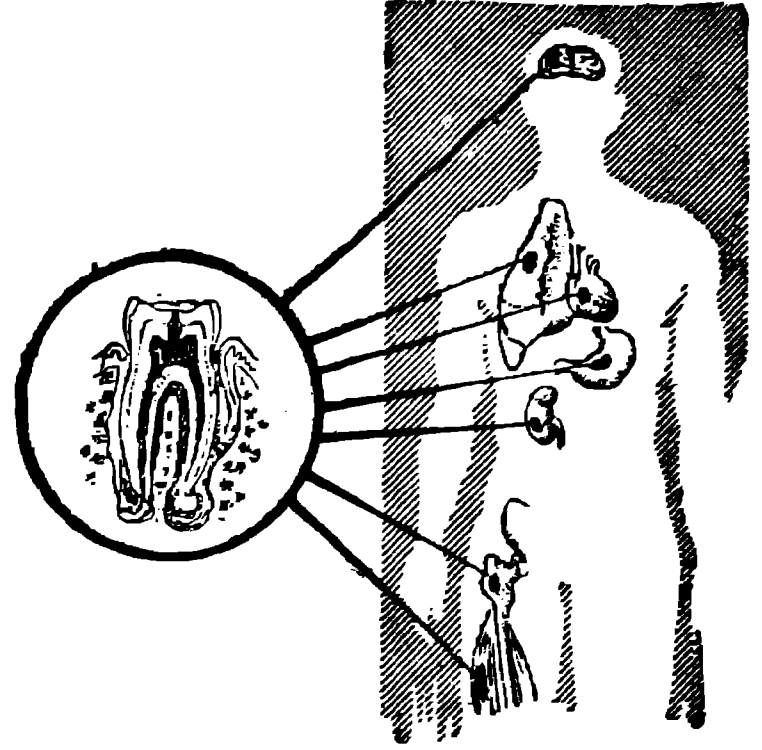
चित्र 49.6—सामान्य स्वास्थ्य पर दंत-संक्रमण का प्रभाव

4. सलाद, कच्ची गाजर, फल सरीखे कड़े और रेशेदार व पोषी खाद्य पदार्थों को खाना चाहिए। अंडे और दूध लेना भी लाभकारी रहता है।
5. अपने दंत चिकित्सक के पास साल में दो बार जाना चाहिए, ताकि दांतों संबंधी कोई अनियमितता या कष्ट हो तो उसकी पहचान करके समय पर दूर किया जा सके।

• • •
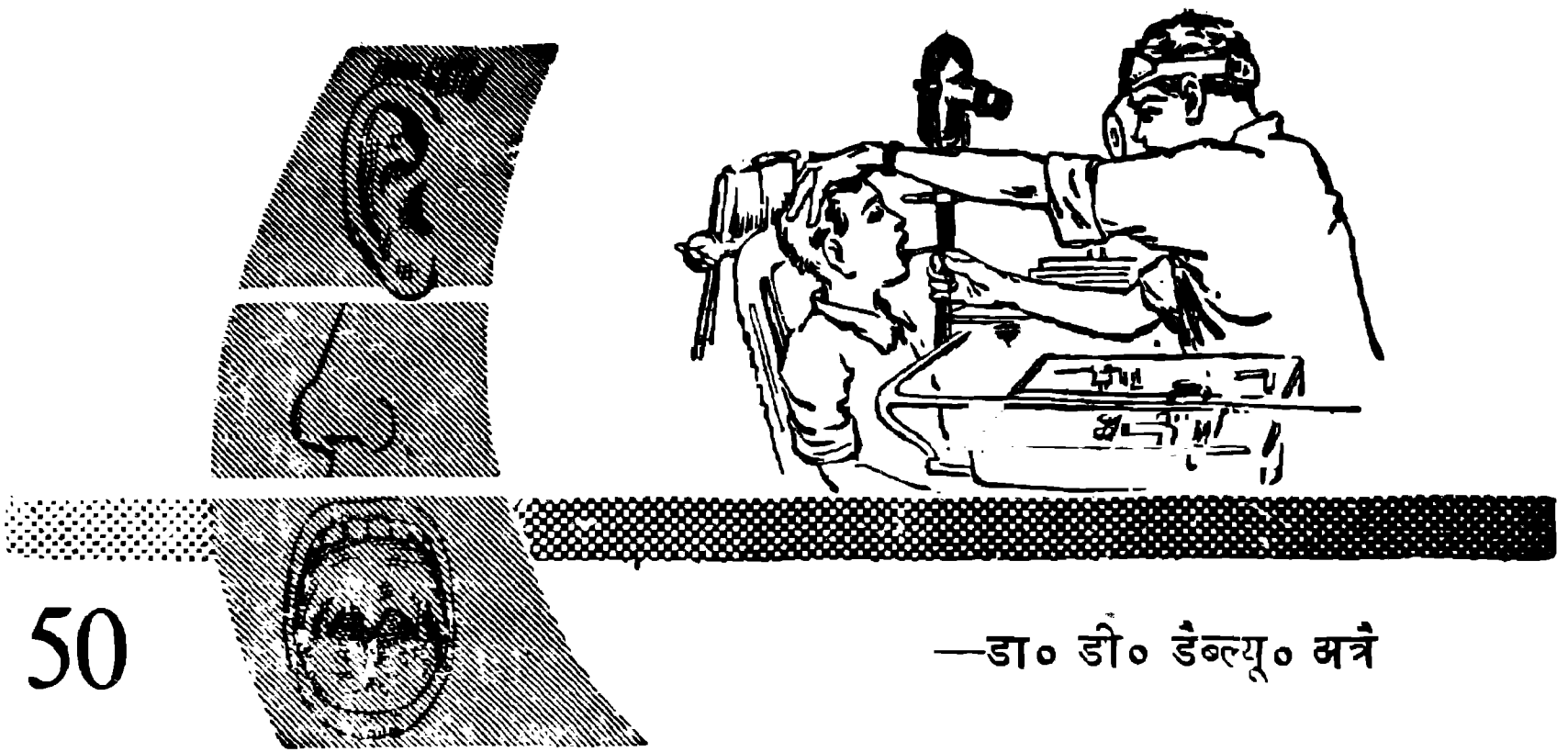
50

—डा० डी० डैब्ल्यू० अत्रे

कान, नाक व गले के सामान्य रोग और उनकी देखभाल

कान (कर्ण)

आंख के बाद कान महत्वपूर्ण संवेदी अंग है। इस का कार्य सुनना है लेकिन इसका दूसरा कार्य है शरीर का संतुलन करना। ठीक से न सुन पाने से व्यक्ति में हीन भावना विकसित हो जाती है, क्योंकि बोलचाल में जो कठिनाई होती है वह रोजमर्रा के कार्य में बाधा पहुंचाती है। बचपन में ही पूरी तरह से बहरापन या मूकता हो जाने से बोलने की शक्ति विकसित नहीं होती जो कि स्वयं में एक बहुत बड़ा दुर्भाग्य है।

कान की संरचना :

कान तीन भागों में विभाजित होता है--- बाहरी, मध्य और आंतरिक कर्ण। बाहरी कान के अनियमित रूप से फैले हुए भाग या कर्णपल्लव (पिन्ना) को ही प्रायः कान कहा जाता है, जो कि उपास्थि का बना होता है। इस भाग से करीब 2.5 सेंटीमीटर लंबी एक छोटी सुरंग अंदर की ओर जाती है और कर्ण-पटह (eardrum) या कर्णपटह झिल्ली (tympanic membrane) में समाप्त हो जाती है। मध्य कर्ण कान की हड्डी में कर्णपटह के अंदर एक संकरी गुहिका के रूप में होता है।

मध्य कर्ण में वायु होती है और यह यूस्टेशी नलिका (यूस्टेशियन ट्यूब) नामक मार्ग द्वारा गले में खुलता है या उससे संपर्क किए रहता है। यूस्टेशी नलिका लंबाई में करीब 2.5 सेंमी. होती है। इसमें तीन छोटी हड्डियों की शृंखला होती है, जिन्हें कर्ण अस्थिकाएं कहते हैं अर्थात् घन या मैलियस, निहाई या इंकस और रकाब या स्टेपीज़ (चित्र 50.2)। इनके नाम ऐसे इसलिए रखे गए हैं क्योंकि इनका आकार इन तीनों चीजों की ही तरह होता है। हथौड़ी या घन का हत्था कर्ण-पटह से जुड़ा रहता है और इस शृंखला का आंतरिक सिरा, जो रकाब की पाद पट्टिका द्वारा बनता है, अंडाकार गवाक्ष की झिल्ली से जुड़ा रहता है और इसके बाद ही आंतरिक कर्ण होता है। आंतरिक कर्ण के दो महत्वपूर्ण भाग होते हैं : (1) तीन अर्धवृत्ताकार नलिकाएं, जो केवल शरीर को संतुलित रखने के कार्य से संबद्ध होती हैं और (2) आंतरिक कर्ण का श्रवण समुच्चय, जो घोंघे के खोल की तरह होता है, कर्णावर्त

* * * *

डा. डी. डैब्लयू. अत्रे, एम. एस. (ई. एन. टी.), अवै. ई. एन. टी. सर्जन, बी. जे. मेडिकल कालेज एवं ससून जनरल अस्पताल, पूना।
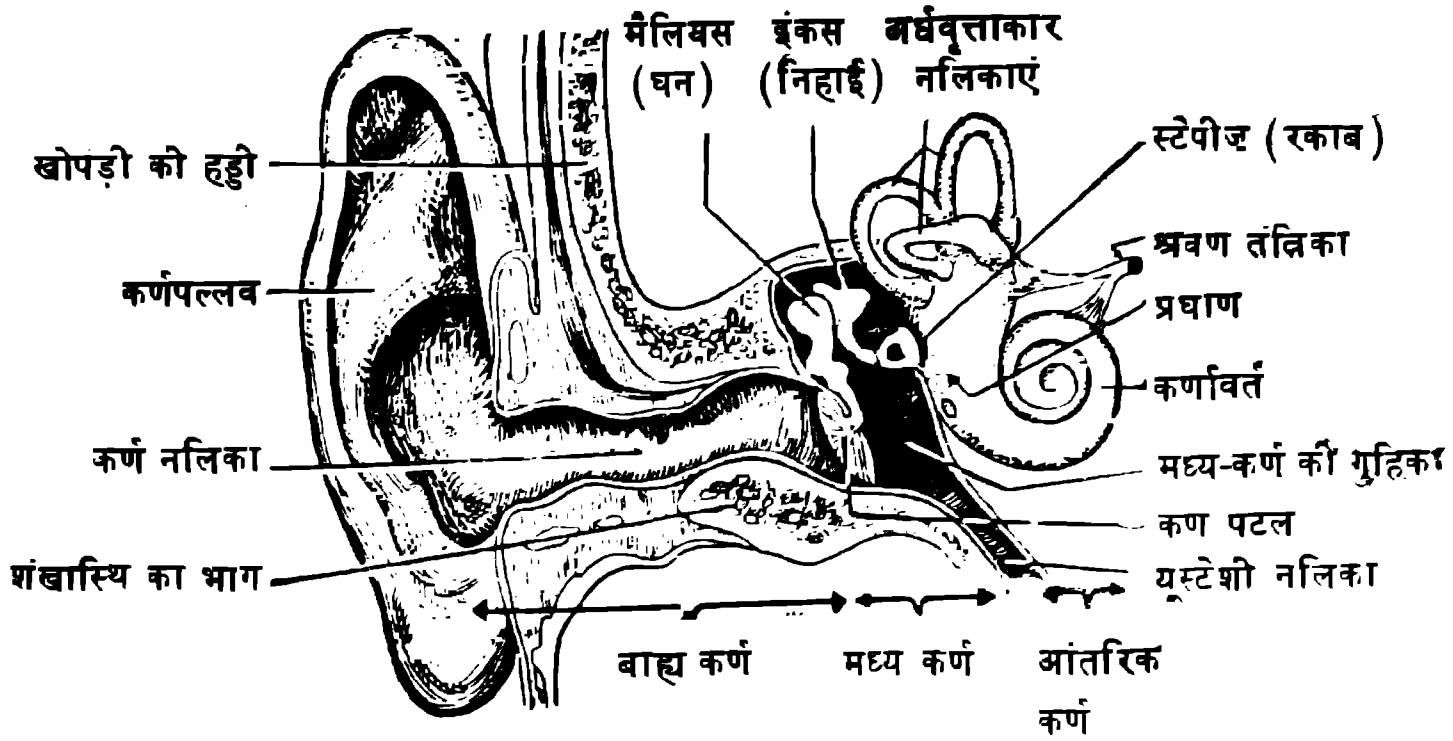
चित्र 50.2—कान की संरचना

(कॉक्लिया) कहलाता है। कर्णावर्त एक द्रव से भरा रहता है और इसके अस्तर में विशेष कोशिकाएं होती हैं, जो श्रवण-तंत्रिका के सिरों से संबंधित रहती हैं। यह तंत्रिका कर्णावर्त को मस्तिष्क के श्रवण से संबद्ध केंद्र या स्थल से जोड़ती है।

सुनने की प्रक्रिया :

ध्वनि, कंपनों द्वारा उत्पन्न होती है। स्रोत से कंपन हवा के माध्यम से बाहरी कान से कर्णपटह की ओर भेजे जाते हैं और इस तरह उसमें कंपन उत्पन्न किए जाते हैं। कर्णपटह के कंपनों को बढ़ाकर कर्ण अस्थिकाओं द्वारा अंडाकार गवाक्ष की झिल्ली तक संप्रेषित कर दिया जाता है, जहां पर कि रकाब (स्टेपीज) का पाद या निचला भाग जुड़ा होता है। इससे कर्णावर्त के अंदर वाले द्रव में कंपन उत्पन्न कर दिए जाते हैं और जिसके परिणामस्वरूप श्रवण-तंत्रिका के सिरे उद्दीपित हो जाते हैं। इस प्रकार से उत्पन्न तंत्रिका आवेग श्रवण तंत्रिका द्वारा मस्तिष्क के सुनने से संबद्ध स्थल (चित्र 25.5) को ले जाए जाते हैं जहां इन कंपन-आवेगों का ध्वनि के रूप में सही अर्थ निकाला जाता है।

मध्य कर्ण का संक्रमण :

सभी संवेदी अंगों में मध्य कर्ण या बीच वाला कान संक्रमण के प्रति सबसे अधिक सुग्राही होता है। जुकाम या साइनस संक्रमण के दौरान अथवा रोगी टांसिलों और एडिनाइडों से संक्रमण प्रायः यूस्टेशी नलिका से होते हुए मध्य कर्ण (चित्र 50.3) तक पहुंच जाता है। बच्चों में मध्य कर्ण का संक्रमण और कान का बहना आमतौर पर पाया जाता है। संक्रमण के बाद मध्म कर्ण में पूय या पस बनता है और ज्यों ही यूस्टेशी नलिका सूजती है त्यों ही पस कर्णपटह पर दबाव डालता है और इसी का परिणाम कान का उग्र दर्द होता है। कर्णपटह फटने के पहले डाक्टर यदि चीरा लगाता है तो दबाव कम हो जाता है और यह छेदन शीघ्र ही ठीक हो जाता है। लेकिन यदि कर्णपटह फटने दिया जाता है तो अनियमित रूप में इस प्रकार फटने से क्षतचिन्ह ऊतक बन जाता है जो कर्णपटह को हानि पहुंचा सकता है। दूसरे, कर्णपटह के फटने मे दर्द तो कम हो जाता है लेकिन कान का बहना कुछ समय तक चलता रहता है और सुनने में मंद से लेकर उग्र प्रकार की कमी हो सकती है। यदि इसका जल्दी उपचार नहीं किया जाता तो यह संक्रमण चिरकारी प्रकार का हो सकता है और अस्थि के कर्ण मूल वाले भाग तक फैल सकता है जो कि मध्य कर्ण की पिछली ओर स्थित होता है और इसी से कर्ण-मूलशोथ (मैस्टॉइडाइटिस) हो सकता है। यह

चित्र 50.3—यूस्टेशी नलिका से होने वाला मध्यकर्ण का संक्रमण

संक्रमण मस्तिष्क और उसके आवरणों तक पहुंच सकता है। अतः कान के संक्रमणों का शीघ्र और समुचित उपचार अवश्य कर लिया जाना चाहिए। तीव्र अवस्था वाला रोग मुख्यतया आधुनिक उपचार द्वारा जल्दी ठीक हो जाता है।

बार-बार कान बहने या मध्यकर्ण शोथ (ओटाइटिस मीडिया) के कारण हैं :—

1. कान और गले के संक्रमणों की उपेक्षा और उनका अपूर्ण उपचार, जैसे ठंड और खराब गले में।

2. ठंड लगने या जुकाम के समय नाक को बहुत जोर से साफ करना। इससे संक्रमण ऊपर यूस्टेशी नलिका तक पहुंच सकता है। संदूषित जल में तैरना या नहाना भी एक कारण हो सकता है।

3. कम प्रतिरोध विशेषतया बच्चों में, जो अल्पपोषण तथा कम हवादार तथा भीड़-भड़क्के वाले घर में रहने से होता है।

4. खसरा, मम्प्स (गलसुआ), इनफ्लूएंजा आदि संक्रामक ज्वरों का उपद्रव।

5. नीचे सिर वाली स्थिति में बच्चों का अपूर्ण पोषण, जिसमें कि दूध यूस्टेशी नलिका में पहुंच सकता है।

कान के बहने को रोकने के लिए इन कारणों से बचना चाहिए और माना रोग हो भी गया तो तुरंत उपचार पर ध्यान देना चाहिए।

सुनने की शक्ति में कमी या बहरापन :

यह चालन-वधिरता या बहरापन हो सकता है जो बाहरी व मध्य कर्ण की ध्वनि चालन-प्रक्रिया में दोष के कारण होता है या यह तांत्रिक बहरापन भी हो सकता है जो कर्णावर्त, श्रवण-तंत्रिका अथवा मस्तिष्क में विक्षति के कारण संभव है। श्रवण परीक्षणों के आधार पर इन दो प्रकारों को पहचाना जा सकता है और तंत्रिक बहरेपन को यद्यपि रोका जा सकता है लेकिन इसका उपचार करना बहुत कठिन है।

संवहन-वधिरता या चालन-बहरापन (conduction deafness) : सामान्य रूप से कान में रहने वाला मोम कर्णपटह पर जमा होकर कड़ा हो सकता है और इससे सुनने में गड़बड़ी हो सकती है। अतः इस मोम को बड़ी सावधानी से निकाला जाना चाहिए और निकालने से पहले इसे उपयुक्त 'इयर ड्राप्स' या कान वाली औषधियों से, जैसे कि ग्लिसरीन बोरेक्स से, मुलायम कर दिया जाना चाहिए। जुकाम के नाक व गले तक फैलने अथवा मध्य कर्ण के संक्रमण से कर्ण पटह के छिद्रण तथा यूस्टेशी नलिका के अंतरोध से बहरापन हो सकता है। और इसे शीघ्र और उचित उपचार से ठीक किया जा सकता है। यद्यपि कुछ प्रकार के चालन-बहरेपन में श्रवण-उपकरणों की सहायता ली जा सकती है तो भी अन्य प्रकारों में शस्त्रकर्म लाभकारी रहता है।

तंत्रिक बधिरता या बहरापन (Nerve deafness) : इसमें बहरापन आंतरिक कर्ण या श्रवण तंत्रिका के किसी रोग के कारण होता है न कि ध्वनि की संवहन-प्रक्रिया में अवरोध या विक्षति के कारण। तंत्रिका-बहरापन गलसुआ या इनफ्लुएंजा सरीखे रोगों के दौरान अधिक कर्ण की सूजन या मध्यकर्ण के संक्रमण के फैलने या सिर की क्षति के कारण हो सकता है। वृद्धवस्था में कुछ मात्रा

में तंत्रिक बहरापन हो ही जाता है। तंत्रिक बहरेपन का इलाज संतोषजनक नहीं होता और श्रवण-उपकरणों की सहायता से सुनने की शक्ति को सामान्यतया सुधारा नहीं जा सकता।

कान की वेदना :

यह बाहरी कान में मोम के जमा होने, बाहरी पदार्थ की उपस्थिति, फुन्सियों, कवक वृद्धि और शोथ या सूजन और अन्य कष्टों के कारण होती है। मध्य कर्ण का तीव्र संक्रमण तीव्र प्रकार की कर्ण-वेदना उत्पन्न करता है। कर्ण वेदना का उपचार कारण पर निर्भर करता है जो डाक्टर की सलाह लेकर किया जाना चाहिए। अस्थायी रूप से कान के दर्द से छुटकारा पाने के लिए गर्म पानी की बोतल द्वारा गरमी पहुंचानी चाहिए और ऐस्पिरीन सरीखी वेदनाहर औषधि का सेवन किया जा सकता है।

कान में बाहरी पदार्थों के बारे में अध्याय 52 में "प्रथम सहायता के संकेत" के अंतर्गत समझाया गया है।

नाक

नाक की संरचना (चित्र 16.2 और 50.4) और श्वसन-अंग के रूप में उसके कार्य के बारे में अध्याय 16 में "श्वसन-अंग" के अंतर्गत पहले ही बताया जा चुका है। नाक घ्राणेन्द्रिय या सूंघने से संबद्ध संवेदी अंग है और ऊपरी नासाशुक्तिका-अस्थि (टर्बाइनेट बोन) वाला नासा गुहिका का भाग इस कार्य से संबद्ध होता है। नाक के सामान्य विकारों में जुकाम अध्याय 18 में "सामान्य वायु-वाहित रोग" के अंतर्गत वर्णित किया गया है। दो अन्य रोगों का—वायुविवरशोथ (साइनुसाइटिस) और विचलित पट—वर्णन यहां किया गया है।

वायुविवरशोथ या वायुविवर-कष्ट (साइनुसाइटिस) :

वायुविवर (साइनस) चेहरे और खोपड़ी की हड्डी की गुहिकाएं हैं जो नासा गुहिका में खुलती हैं। ये वायु से भरी रहती हैं। नासा-वायुविवर फेफड़ों में जाने से पहले हवा को गर्म व नर्म करते हैं। ये वायुविवर वाणी के ध्वनि-कक्षों का कार्य भी करते हैं। प्रत्येक कपोल अस्थि (गाल की हड्डी) की गुहिका ऊर्ध्वहनु (मैक्सिलरी) वायुविवर कहलाती है (चित्र 50.5), और आंखों के ऊपर प्रत्येक ओर ललाट (फ्रन्टल) वायुविवर तथा नाक के पीछे वाला एक वायुविवर झर्झरिका (स्थ-मॉयडल) वायुविवर कहलाता है। खोपड़ी के आधार पर एक दूसरा वायुविवर है, जो जतूक (स्फीनॉयडल) वायुविवर कहलाता है (चित्र 50.4)। वायुविवर की गुहिका का अंदर का अस्तर श्लेष्मा झिल्ली का होता है जो नासा गुहिका तक
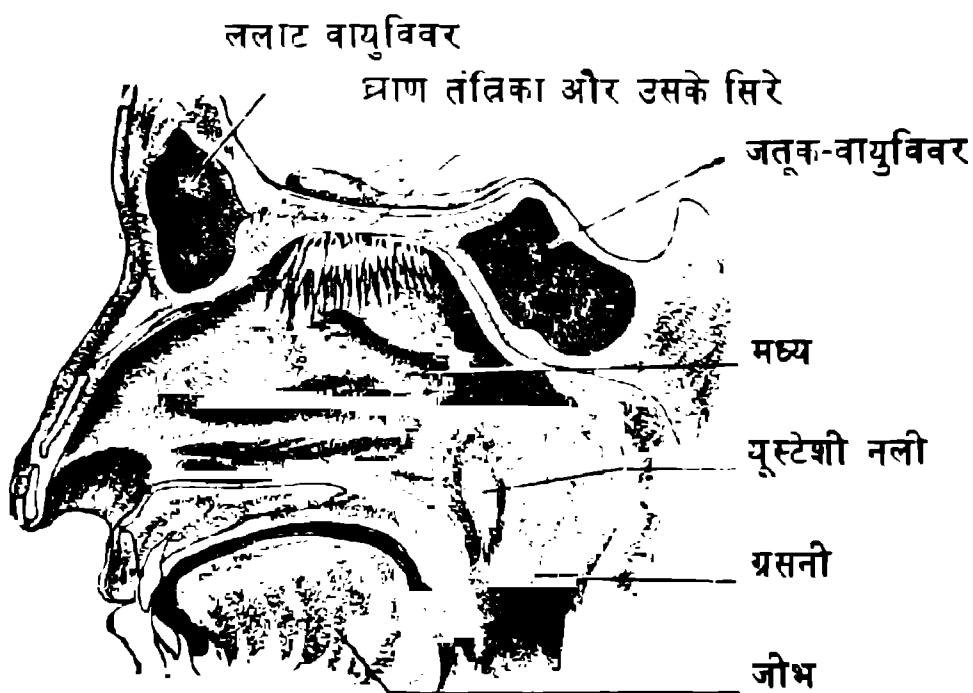
चित्र 50.4—नाक की संरचना
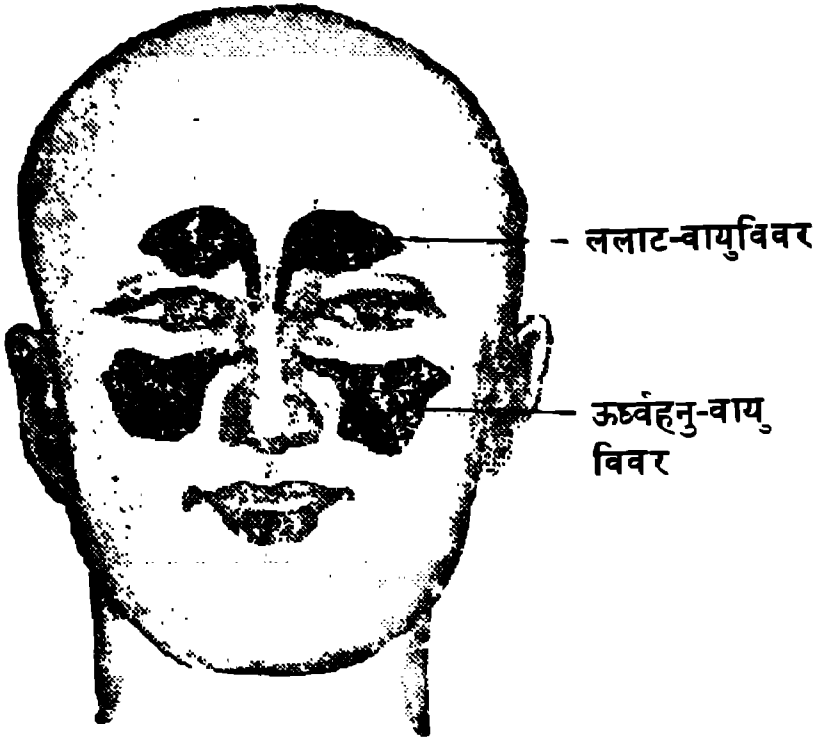
चित्र 50.5—नाक के विकार

आगे बढ़ी हुई होती है। इसलिए ठंड, जुकाम या इनफ्लूएेंजा के संक्रमण से वायुविवरशोथ हो सकता है यानी वायुविवरों की श्लेष्मा झिल्ली का शोथ या सूजन। ऊर्ध्वहनु वायुविवर औरों की अपेक्षा अधिक संक्रमित होता है और इसमें दर्द कपोलों या गालों में होता है और ललाट वायुविवर में संक्रमण होने से माथे में उग्र प्रकार का सिरदर्द होता है।

वायुविवर कष्ट कभी-कभी बार-बार होने लगता है और चिरकारी भी बन जाता है। इसके होने के कई कारण हैं, जैसे (1) गंदा व अस्वच्छ पास-पड़ोस, (2) कुपोषण, (3) व्यायाम न करना, (4) गंदे तालाबों में स्नान, (5) ऐलर्जी अवस्था, (6) संक्रमणों की उपेक्षा, (7) विचलित या असामान्य पट, और (8) दंतक्षय या कैरीज़ वाले दांत। इसलिए ऊपर बताए गए कारणों से बचाव और शीघ्र उपचार आवश्यक है। डाक्टर द्वारा बताई गई प्रतिजीवी औषधियां, स्थानिक रूप से बाहर से लगाई जाने वाली दवाएं, फुहारें अथवा अभिश्वसन इस दशा से छुटकारा पाने में सामान्यतया लाभकारी रहते हैं। ऊर्ध्वहनु वायुविवर में वहां जमा श्लेष्मा को निकालने और इसके संक्रमण के उपचार के लिए कभी-कभी छेद करना या धावन (धोना) भी जरूरी हो सकता है, लेकिन इससे भविष्य में होने वाले आक्रमण से बचाव नहीं होता। जिस व्यक्ति की वायुविवर वाली प्रवृत्ति होती है उसे पानी में तैरना और कूदना नहीं चाहिए और ठंडी हवा के थपेड़ों से भी बचना चाहिए। बताए गए अन्य कारणों से बचना भी जरूरी है।

विचलित या असामान्य पट (सेप्टम) :

नासा गुहिका को विभाजित करने वाला पट अस्थि और उपास्थि का बना होता है। कभी-कभी यह एक तरफ झुक जाता है और मुक्त रूप से श्वसन में बाधा डालता है। इससे सिरदर्द भी हो सकता है और जुकाम व वायुविवरशोथ का आक्रमण बार-बार हो सकता है। इस दशा से मुक्ति पाने के लिए शस्त्रकर्म उपचार जरूरी होता है।

गला या ग्रसनी

गले की गुहा मुख और नासा गुहा के पीछे (चित्र 16.2) स्थित होती है और इससे होकर ही भोजन व हवा क्रमशः अपने गंतव्यों तक यानी आमाशय और फेफड़ों तक पहुंचते हैं। गले में वे मुख्य संरचनाएं, जिनके बारे में विचार होना चाहिए, टाँसिल और एडिनॉइड हैं।

टाँसिल :

टाँसिल (चित्र 20.2) लसीकाभ ऊतक के पुंज हैं जो मुख-गुहा के पिछले भाग में श्लेष्मा-वलनों के रूप में दोनों ओर एक-एक की संख्या में अन्तःस्थापित होते हैं। संरचना और कार्य में ये लसीकापर्व से मिलते-जुलते हैं। इससे पहले कि रोगाणु शरीर तंत्र में अंदर गहरे प्रवेश कर सकें, ये टांसिल उनको पकड़ कर नष्ट करने का महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। वास्तव में ये श्वसन-पथ में प्रथम रक्षा-पंक्ति का कार्य करते हैं क्योंकि श्वसन पथ ही ऐसा अनुकूल स्थल है जहां अनेक रोगाणुओं का आक्रमण होता है। तरुण बच्चों में ये 'स्व प्रतिरक्षीकरण' की प्रक्रिया विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आधुनिक आयुर्विज्ञान में डाक्टर इनको निकालने की सलाह इसीलिए देते हैं कि विशिष्ट

रूप से ऐसे लक्षण पाए जाते हैं और इसलिए नहीं कि ये बड़े या शोथयुक्त दिखाई देते हैं।

टॉंसिलशोथ (टॉंसिलाइटिस) : जब टॉंसिल तीव्र रूप से शोथयुक्त या सूजन वाले होते हैं तो वे ज्वर, गले में दर्द, निगलने में परेशानी और कभी-कभी खांसी करते हैं। ये बढ़े हुए, संकुलित और लाल दिखलाई देते हैं। टॉंसिलों में कभी-कभी सफेद धब्बे भी दिखाई दे सकते हैं। जबड़े के कोण पर लसीका-पर्व मुलायम और सूजे हुए हो सकते हैं।

कभी-कभी टॉंसिलशोथ के साथ संक्रमण आस-पास के क्षेत्र में फैल जाता है और वहां टॉंसिल के इर्द-गिर्द विद्रधि या परिटॉंसिल विद्रधि, ध्वनि-बॉक्स का शोथ—स्वरयंत्रशोथ (लैरिंजाइटिस), श्वास-नली का शोथ—श्वासप्रणालशोथ (ट्रकाइटिस), श्वसनी का शोथ—श्वसनी शोथ (ब्रांकाइटिस) और मध्यकर्ण शोथ—मध्यकर्ण शोथ (ओटाइटिस मीडिया) उत्पन्न करता है। वयस्कों में यह जुकाम के साथ नाक और वायुविवरों के शोथ के रूप में विकसित हो सकता है।

टॉंसिलशोथ की देखभाल : 1. बिस्तर पर आराम करना चाहिए, 2. चिकित्सक द्वारा बताई गई प्रतिजीवी और वेदनाहर औषधियां, 3. पोषक हल्का आहार, और 4. नमक वाले गरम पानी के गरारे (एक प्याले पानी में चुटकी भर सामान्य नमक डालना चाहिए)।

टॉंसिल के आपरेशन के संकेत : टॉंसिलों को आपरेशन द्वारा तभी निकाला जाना चाहिए जब नीचे लिखे संकेतों में से कोई एक संकेत हो :

1. टॉंसिलशोथ के बार-बार होने वाले आक्रमण, 2. परिटॉंसिल विद्रधि, 3. उपद्रवी टॉंसिलशोथ के साथ द्वितीयक वायुविवरशोथ, मध्यकर्णशोथ, स्वरयंत्रशोथ आदि, 4. हृदय और जोड़ों के र्‌यूमेटिक या आमवात रोग, 5. बच्चों का वजन न बढ़ पाना और 6. श्वसन और निगलने में कठिनाई करने वाला टॉंसिलों का वर्धन।

एडीनॉइड या ग्रंथ्याभ :

ये टॉंसिल की तरह लसीका-ऊतक के पुंज होते हैं। ये ग्रसनी की पिछली भित्ति में स्थित होते हैं। जब ये बढ़ जाते हैं तो ये यूस्टेशी नलिका में अवरोध उत्पन्न करके बहरापन कर सकते हैं। बढ़े हुए एडीनाइड, जो कि बच्चों में आमतौर पर पाए जाते हैं, श्वसन में अवरोध भी उत्पन्न कर सकते हैं और जिससे मुंह से सांस लेने की आदत बन सकती है। इससे श्वसनी और फेफड़े सूखी हवा के संपर्क में रहते हैं जिससे वे द्वितीयक संक्रमणों के प्रति सुग्राही बन जाते हैं। यदि कोई बच्चा स्थायी दांतों के आने के पहले ही मुंह द्वारा श्वसन की आदत डाल लेता है तो इससे चेहरे की विरूपता हो जाती है और जब स्थायी दांत निकलने को होते हैं तो ऊपर के चार दांत बाहर की ओर निकल आते हैं जिससे चेहरा असुंदर हो जाता है। बाद में इससे दांतों का कुअधिधारण या दोषपूर्ण चर्वण वाली स्थिति आ जाती है। इसलिए बच्चों में टांसिल-उच्छेदन हमेशा एडीनाइड के निकालने से संबद्ध होना चाहिए।

• • •

51

—डा० डी० एस० हजारनवीस

विकलांगों का पुनरुत्थान

रोगी का पुनरुत्थान (Rehabilitation) एक अविभाज्य प्रक्रम है जो बीमारी या क्षति के आरंभ से उपचार पर्यन्त तब तक चलता रहता है जब तक कि कार्य करने और रहने वाली सर्वोत्तम दशा में पुनर्वास नहीं हो जाता। निरोध, निदान और उपचार के अतिरिक्त आयुर्विज्ञान की एक चौथी शाखा पुनरुत्थान भी है। आर्थिक रूप से सभी उन्नत देशों में पुनरुत्थान कार्यक्रम अपनी चरम सीमा पर है। उन्होंने इसे सामान्य अनुशासन के रूप में अपना लिया है। 1950 में संयुक्त राष्ट्र संघ की आर्थिक और सामाजिक परिषद् ने विकलांगों या विकलीभूत व्यक्तियों के लिए समन्वित अंतर्राष्ट्रीय कार्यक्रम का प्रस्ताव पारित किया। यह एक दीर्घावधि वाला व्यापक व सतत प्रयत्न है जिसका उद्देश्य है संपूर्ण विश्व में जीवन मान को ऊपर उठाना। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा स्थापित विकलांगों के पुनरुत्थान वाली कार्यकारी संस्था द्वारा विकसीत किया गया कार्यक्रम विकलांगों के लिए एक नया आयाम प्रस्तुत करता है।

परिभाषा :

पुनरुत्थान की व्यापक रूप से मान्य दो परिभाषाएं हैं। एक परिभाषा विशुद्ध रूप से आयुर्विज्ञानीय दृष्टिकोण वाली है, जिसमें पुनरुत्थान का अर्थ है उन सभी आयुर्विज्ञानीय उपायों का प्रयोग जिनके द्वारा रोगी को बहुत जल्दी ठीक करके उसे स्वास्थ्य लाभ कराया जाता है। स्वास्थ्य का अर्थ है शारीरिक, मानसिक और सामाजिक यानी हर प्रकार के कल्याण की अवस्था न कि केवल रोग या अशक्तता की अनुपस्थिति वाली अवस्था। अत: पुनरुत्थान की दूसरी परिभाषा का उद्देश्य है रोगी को शारीरिक, मानसिक और सामाजिक कल्याण की दृष्टि से पूरी तरह से स्वास्थ्य लाभ पहुंचाना। पुनरुत्थान के इस संपूर्ण कार्यक्रम में निरंतर आयुर्विज्ञानीय पर्यवेक्षण आवश्यक है। निरंतर आयुर्विज्ञानीय पर्यवेक्षण का मतलब है कि रोगी किसी डाक्टर की व्यक्तिगत अच्छी देखभाल में है। वह विविध श्रेणियों में से किसी एक श्रेणी का हो सकता है, जो कि पुनरुत्थान की अवस्था पर निर्भर है। व्यावसायिक पुनरुत्थान की अवस्था

* * * *

डा. डी. एस. हजारनवीस, एम. बी., बी. एस., उपनिदेशक, विकलांगों का पुनरुत्थान एवं शिक्षा, समाज कल्याण विभाग, महाराष्ट्र, पूना।

के दौरान संबद्ध चिकित्सक रोगी की प्रगति का पर्यवेक्षण करता है और आयुर्विज्ञानीय पहलुओं से उचित सलाह देता है जबकि पुनरुत्थान की टोली के अन्य सदस्य अपने तकनीकी कार्यक्रम की प्रगति में लगे रहते हैं।

अशक्तता का मूल्यांकन :

शारीरिक अशक्तता का मूल्यांकन निम्नलिखित बातों को ध्यान में रख कर किया जाना चाहिए :

पहले, विकलांग व्यक्ति भी ऐसी इकाई है जिसके संपूर्ण मानवीय अधिकार हैं और जिनमें वह शक्त व्यक्तियों के साथ हिस्सा बंटाता है। इस तरह उसे यह अधिकार है कि उसका देश पुनरुत्थान के लिए उसे हर संभव सुरक्षा, सहायता और अवसर प्रदान करे।

दूसरे, शारीरिक रूप से विकलीभूत होने और निराशा की गहन भावना के कारण उसमें आवेशात्मक और मनोवैज्ञानिक गड़बड़ियां होने का खतरा रहता है इसलिए उसका यह विशेष अधिकार है कि समाज उसे संवेदना और रचनात्मक सहायता प्रदान करे।

तीसरे, यदि उसे सही अवसर प्रदान कर दिये जायं (चित्र 51.2) तो वह अपने अवशिष्ट साधनों को अप्रत्याशित सीमा तक विकसित करने में सक्षम हो सकता है और अपने लिए, परिवार के लिए, राज्य के लिए व देश के लिए बोझ के बदले परिसम्पत्ति बन सकता है।

चौथे, पुनरुत्थान और प्रशिक्षण के बाद विकलीभूत व्यक्तियों का देश के आर्थिक कल्याण के प्रति अपना योग देने का उत्तरदायित्व है।

पांचवे, शारीरिक रूप से विकलीभूत व्यक्तियों की यह इच्छा होती है कि अपने समुदाय में स्वतत्रता अर्जित करें न कि सारी जिन्दगी पृथक् संस्था अथवा अशक्तता वाले वातावरण में ही जिन्दगी गुजारें।

छठे, विकलांगों का पुनरुत्थान सफलतापूर्वक तभी किया जा सकता है जबकि आयुर्विज्ञानीय, शैक्षिक, सामाजिक और व्यावसायिक सेवाओं के लोग एक साथ मिल-जुलकर टीम भावना से कार्य करें।

विकलीभूत बच्चे :

अपने देश में विकलांगों को स्वास्थ्य लाभ कराने के प्रयत्नों पर बहुत ध्यान दिया गया है। विकलीकृत बच्चे, चाहे वे शारीरिक, ध्वानिक या मानसिक किसी भी दृष्टि से अशक्त हों उन्हें विशेष संस्थागत देखभाल को आवश्यकता होती है। सभी विशेष संस्थाओं में 'विकलांगों की त्रिविध सेवा' का मूलमंत्र होना चाहिए यानी उनके लिए आयुर्विज्ञानीय सेवाओं, जिसमें भौतिक चिकित्सा व व्यावसायिक चिकित्सा भी सम्मिलित हो, व्यवसायपूर्व प्रशिक्षण सहित कम से कम प्राथमिक शिक्षा सुविधाओं और एक अच्छे 'घर' की तरह की आवास व भोजन व्यवस्था, परिवहन आदि समाज कल्याण सुविधाओं की व्यवस्था रहनी चाहिए। जितनी जल्दी हो सके ऐसे बच्चों के लिए समाकलित शिक्षा की व्यवस्था अनिवार्य रूप से होनी चाहिए क्योंकि इससे खर्च में कमी नहीं बल्कि जो कुछ ठीक नहीं हो सकता उसके शीघ्र समंजन में भी सुविधा होती है। बच्चे कठिनाइयों को दूर करते हुए अशक्तता के साथ जीना बड़ी जल्दी सीख लेते हैं।

अस्पतालों में उपचार उपाय :

अस्पतालों में व्यावसायिक चिकित्सा और भौतिक चिकित्सा एककों के रूप में 'रोगहर कार्यशालाओं' की स्थापना के लिए अधिक से अधिक सुविधाएं प्रदान करनी होंगी। आयुर्विज्ञान की चौथी शाखा को सुविकसित करना होगा और शीघ्र ही इस बात का अनुभव किया जाएगा कि इससे रोगियों की अस्पताल में रहने वाली अवधि कम हो जाएगी और वर्तमान समय में जो भीड़-भड़क्का होता है वह भी काफी सीमा तक कम हो जाएगा।

दोषों का आरंभिक निदान :

यह उचित उपचार और आगे के चरणों में लाभकारी होता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए स्कूल स्वास्थ्य निरीक्षण को और अधिक प्रभावकारी कर दिया जाना चाहिए। वैसे कहना पड़ेगा कि डाक्टरों और पैरामेडिकल स्टाफ की कमी है। हमारा देश विकासमान देश है इसलिए इसकी काफी अधिक समस्याएं हैं लेकिन रोगियों, अक्षम व्यक्तियों और तथाकथित विकलीभूत व्यक्तियों के पुनरुत्थान के लिए सम्मिलित प्रयत्नों से इसमें काफी समय लगेगा। आधुनिक आर्थिक जीवन में नौकरी की योग्यता ही महत्व की होती है न कि शारीरिक दोष। यह एक ऐसी चुनौती है जिसको स्वीकार किया ही जाना चाहिए।

आयुर्विज्ञानीय उपचार का उद्देश्य होता है रोग की पकड़ और उससे मुक्ति लेकिन पता चलता है कि रोग मुक्ति के बाद भी व्यक्ति अपनी मौलिक क्रियाशीलता को पुनः तुरंत नहीं अपना सकता। उसे सहायता की और अंततः अपनी पुरानी क्रियाशीलता पर आने के लिए पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता होती है। कभी-कभी रोग से अधूरी मुक्ति के कारण यह जरूरी है कि व्यक्ति को उसकी वर्तमान शारीरिक कमियों के कारण नई नौकरी या काम से पुनः समंजित करना होगा। यह सब कुछ एक व्यापक शब्द पुनरुत्थान के अंतर्गत है। इस पुनरुत्थान कार्यक्रम में विभिन्न प्रकार के अनेक व्यक्ति भाग लेते हैं, जैसे उपचार करने वाले चिकित्सक, भौतिक चिकित्सक, प्रविधि शिक्षक, व्यावसायिक परिषद्, सामाजिक कार्यकर्ता, रोजगार ब्यूरो और नौकरी देने वाला पहला दफ्तर। आगे के पृष्ठों में इन सब अवस्थाओं का कार्यप्रदर्शी चित्रण (चित्र 51.2) किया गया है जिनसे होकर रोगी को गुजरना पड़ता है।

1. प्राथमिक उपचार : प्राथमिक उपचार से ही पुनरुत्थान शुरू हो जाता है। उदाहरण के लिए, जब रोगी को प्लास्टर में निश्चल कर दिया जाता है तो उसे उन जोड़ों को हिलाने-डुलाने के लिए कहा जाता है जो कि प्लास्टर में निश्चल नहीं रहते जिससे कि वे गतिहीन रह कर कड़े न हो जाएं (चित्र 51.2-1)।

2. भौतिक चिकित्सा : (क) ऊष्मा : संबद्ध भाग में रक्त की आपूर्ति बढ़ाने के लिए अधिकांशतया विकिरण द्वारा गरमी पहुंचाई जाती है।

(ख) मालिश : लकवे वाली या प्लास्टर में निश्चल शाखाओं या बाहुओं में पेशियों की अक्रियता के कारण परिसंचरण रुक जाता है। परिसंचरण को प्रवाहित करने के लिए प्लास्टर निकालने के बाद लसीका को हृदय की ओर भींचा जाता है (चित्र 51.2-2)।

(ग) निष्क्रिय व्यायाम : लकवे वाली शाखाओं या बाहुओं में, अक्रियता के कारण, लकवे से ग्रस्त पेशियों के ठीक होने तक जोड़ कड़े हो जाते हैं या जकड़ जाते हैं। इसलिए सभी जोड़ों को उनकी सामान्य गति में रखना जरूरी है। चूंकि रोगी स्वयं-जोड़ों को नहीं हिला सकता, इसलिए रोगी का यह काम भौतिक-चिकित्सक करता है।

(घ) सक्रिय व्यायाम : एक बार पेशियों के लकवे से ठीक होने पर पेशी तंतुओं का विकास तभी हो सकता है जब रोगी द्वारा इन्हें सक्रिय रूप से प्रयोग में लाया जाता है। सक्रिय व्यायाम वाली इस अवधि के दौरान थकान नहीं होनी चाहिए।

(ङ) जलचिकित्सा : जब पेशियां लकवे से ठीक हो रही होती हैं तो शाखाओं या बाहुओं को गुरुत्व बल के विपरीत घुमाने के लिए उनमें तुरंत पूरी शक्ति नहीं होती। रोगी को पानी में डुबाया जाता है तो जल की उत्प्लावन शक्ति बाहुओं को गुरुत्व के विपरीत उठाए रहती है और ऐसे में उन्हें उपलब्ध पेशी शक्ति से उठाया जा सकता है और यदि वे गति करती हैं तो पेशियां विकसित होने लगती हैं।

चित्र 51.2

विकलांगों के पुनरुत्थान की योजना

विकलांगता या अशक्तता के कारण

औद्योगिक संकट

गली की दुर्घटना

रोग
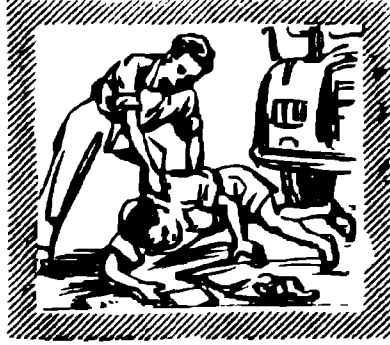
जन्मजात

1. उपचार

भेषजीय
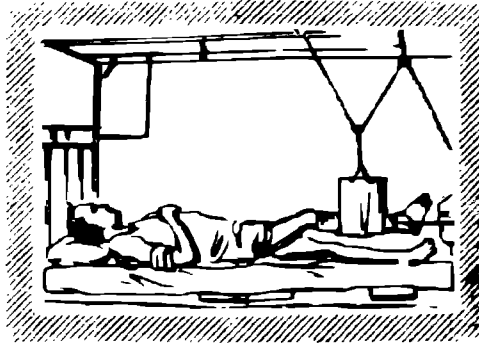
विकलांग
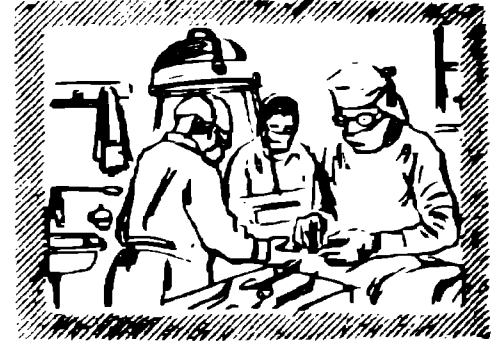
शस्त्रकर्म

2. भौतिक चिकित्सा

ऊष्मा गरमी

मालिश और कसरत

पैराफिन
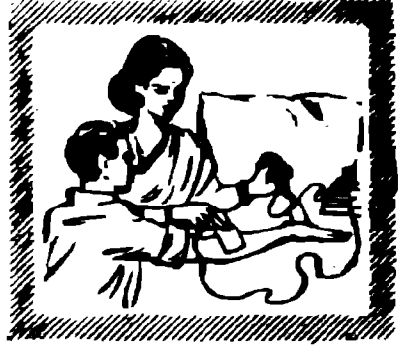
विद्युत चिकित्सा

3. सहाय यंत्रहीन और सहाय यंत्र वाले क्रियाकलाप

बैसाखियों से चलना
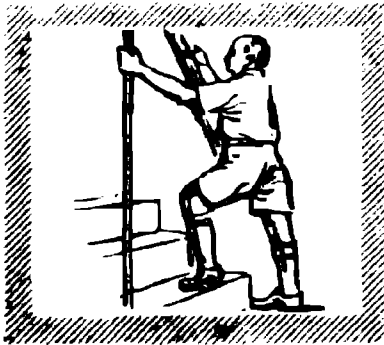
चढ़ना
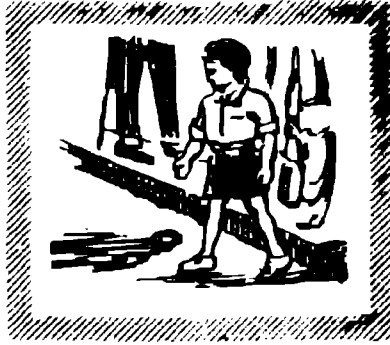
सड़क पार करना

प्रसाधन

चलन-कैलिपर
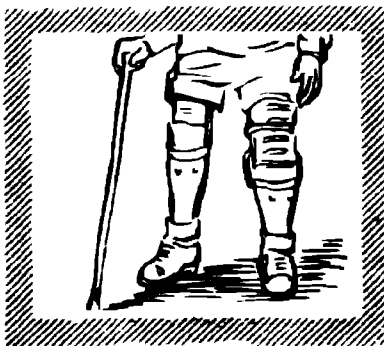
कृत्रिम टांगें

ग्रीवा कॉलर

श्रवण सहाय यंत्र

4. व्यावसायिक चिकित्सा

बुनाई

टाईप
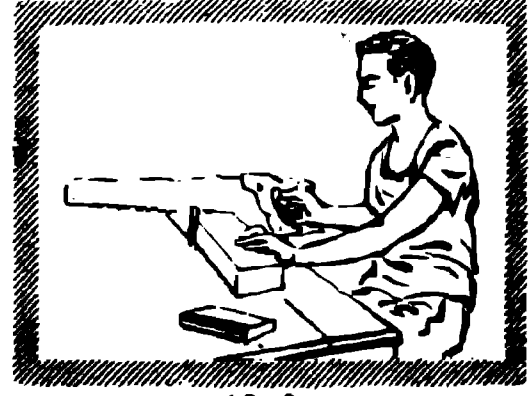
बढ़ईगिरी

सिलाई
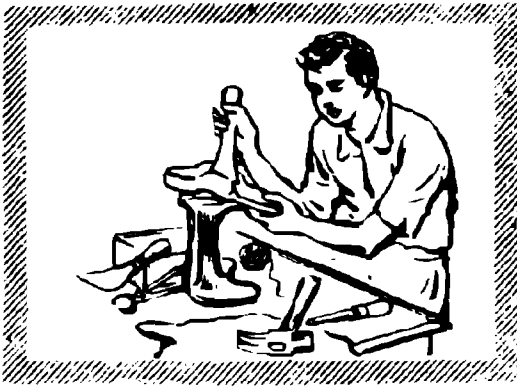
चमड़े का काम

संगीत

5. रोजगार

दफ्तर का काम
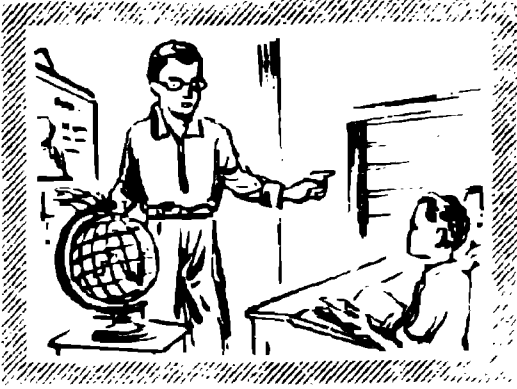
शिक्षण

विक्रेता
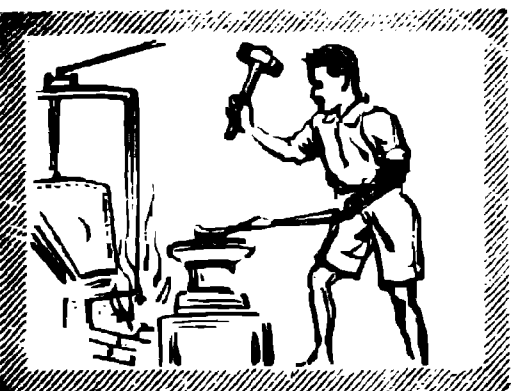
अपना रोजगार
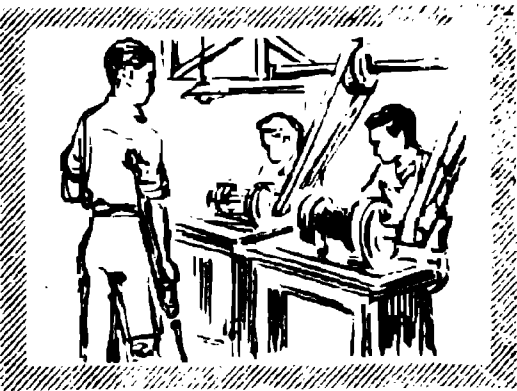
आश्रम-कार्यशाला
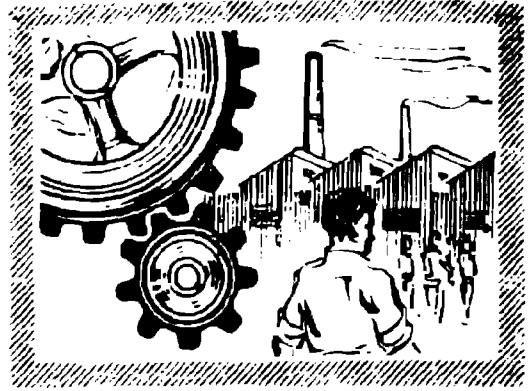
उद्योग

6. पूरी क्षमता वाला स्वास्थ्य लाभ
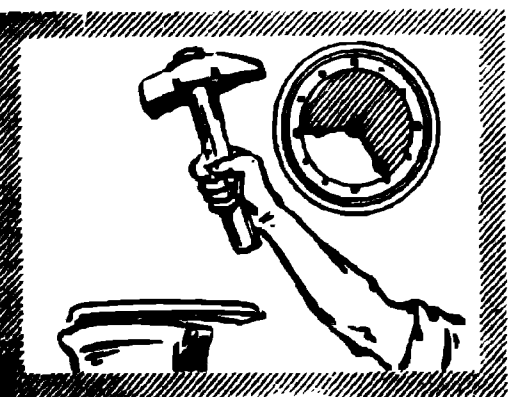
पुराना काम
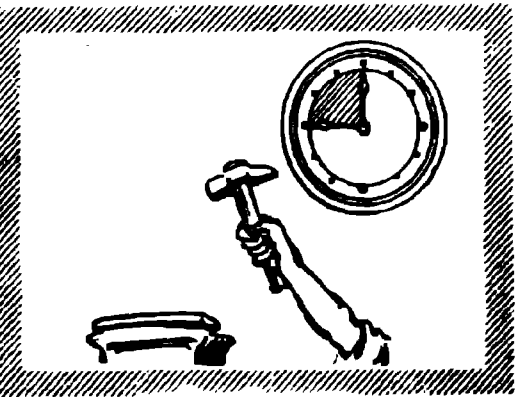
घटी हुई क्षमता
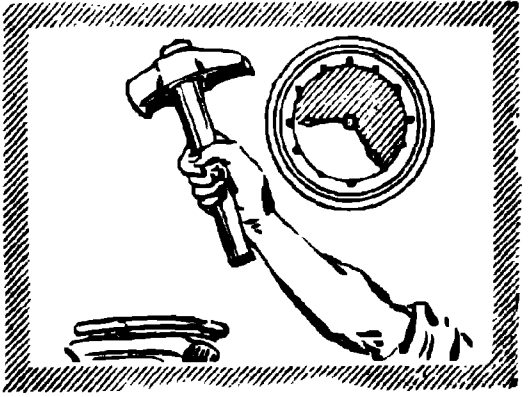
अंतिम उपलब्धि

(च) विद्युत् चिकित्सा : तंत्रिका तंत्र में बाधा के कारण होने वाले लकवे के बाद तंत्रिका ठीक होने में समय लेती है। यह अवधि काफी लंबी होती है, यानी करीब छह महीने लगते हैं जबकि तंत्रिका ठीक होकर फिर से पेशी को चेतना प्रदान करती है। अनुपयोग और तंतुमयता के कारण तंत्रिकाओं द्वारा पेशी को चेतना प्रदान करने में काफी समय लगता है। यदि तंत्रिका तंत्र की पुरानी कमी को पूरा कर भी लिया जाये तो गति से संबद्ध अंग यानी पेशी अगर इस समय तक काफी कुछ क्षतिग्रस्त हो जाती है तो रोग से मुक्ति नहीं हो पाती। पेशियों की अनुपयोग अपुष्टि (एट्रॉफी) को दूर करने के लिए, पेशियों का वैद्युत उद्दीपन किया जाता है। इस वैद्युत उद्दीपन के दौरान पेशियां संकुचित होती रहती हैं और इस तरह अपनी सामान्य क्रियाशीलता, परिसंचरण और पोषण व आकार में आ जाती हैं (चित्र 51.2-2)।

3. **दैनिक जीवन के क्रियाकलाप** : रोगी की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि वह अपने दैनिक जीवन की क्रियाशीलता में फिर से आ जाये, जिसे संक्षेप में 'ए. डी. एल.' (ऐक्टिविटीज ऑफ डेली लाइफ) कहा जाता है। इसमें खड़ा रहना, चलना, खाना, शौचादि, कपड़े बदलना, चढ़ना, गाड़ी चलाना आदि सभी कुछ क्रियाकलाप आ जाते हैं। इससे उसमें बिना औरों की अपेक्षा के रोजमर्रा के कामों को स्वतंत्र रूप से करने की भावना आ जाती है।

4. **कृत्रिम सहाय यंत्रों को फिट करना** : कभी-कभी कुछ प्रकार की पेशियों का या पूरी बाहु का या देखने या सुनने वाले विशेष संवेद का विकास होना यानी पुरानी क्रियाशीलता में आना असंभव होता है। ऐसे रोगियों को मेरुरज्जु जैकेट, चलन कैलिपर, कृत्रिम बाहु, संशोधन चश्मों, श्रवण सहाय यंत्रों आदि की आवश्यकता होती है (चित्र 51.2-3)।

5. **व्यावसायिक चिकित्सा** : एक बार जब रोगी अपने दैनिक क्रियाकलापों को करने लगता है तो वह काम की बात करने की सोचता है। अब यह चाहे उसकी अभिरुचि के कार्य के रूप में हो चाहे आंशिक व्यवसाय के रूप में से, जैसे कि बुनाई, बढ़ईगिरी, दरजीगिरी, चमड़े का काम, टाइप का काम आदि। ऐसी व्यावसायिक चिकित्सा से रोगी का दिल रोग से हटकर बहल जाता है और इसे वह अंतिम उपलब्धि का एक बड़ा चरण समझता है। इस तरह यह उसके मानसिक पुनरुत्थान में सहायक होता है (चित्र 51.2-4)।

6. **पुनःसमंजन और दूसरी नौकरी** : जब तक रोगी को उसके भविष्य के बारे में आश्वस्त न किया जा सके तब तक उसे चटाई बुनना या बढ़ई-गिरी सिखाने में कोई लाभ नहीं है। सबसे बड़ा भय उसे अपनी काम न कर पाने और अपने व अपने परिवार का पोषण न कर पाने की अयोग्यता का होता है। इसलिए इस अवस्था में उसे आश्वस्ति की आवश्यकता होती है कि कोई उसके लिए पुराना काम या नई नौकरी दिलवा दे जो कि उसकी शारीरिक रचना के अनुकूल हो (चित्र 51.2-5)। आरंभ में उसे हल्के किस्म का काम दिया जाना चाहिए और फिर धीरे-धीरे वह पूरी सक्रियता से उस काम को कर सकता है (चित्र 51.2-6)। फिर से इस समंजन के लिए उसे व्यावसायिक परिषद्, सामाजिक कार्यकर्ता, रोजगार दफ्तर और पहले की नौकरी वाले दफ्तर की आवश्यकता होती है। प्रायः यह देखा जाता है कि पुराने दफ्तर वाले अपने कार्यकर्ताओं के प्रति दयालु होते हैं और अगर वह काम करने का इच्छुक होता है तो वे उसे कोई दूसरी नौकरी या हल्के प्रकार का काम दे देते हैं।

पुनरुत्थान की यह प्रक्रिया शारीरिक दृष्टि से विकलीकृत अथवा अन्य प्रकार से अशक्त रोगी को, सामाजिक रूप से समंजित व्यक्ति को, उसके, परिवार और समाज के प्रति लाभकारी बना देती है।

• • •

52

डा० वी० एन० भावे

प्रथम सहायता के संकेत

दुर्घटनाएं प्राय: घर में और घर के बाहर भी होती हैं और प्रत्येक को यह मालूम होना चाहिए कि ऐसे में किस प्रकार से प्रथम सहायता देनी चाहिए। सामयिक और समुचित सहायता के अभाव में रोगी की हालत बिगड़ सकती है और यदि ठीक से देखभाल न की गई तो जिंदगी को भी खतरा हो सकता है।

प्रथम सहायता वह उपचार है जो उचित आयुर्विज्ञानीय सहायता उपलब्ध होने तक किया जाता है। किसी तरह से भी संभव हो टेलीफोन या संदेशवाहक द्वारा डाक्टर से संपर्क स्थापित करना चाहिए और निर्देश प्राप्त करिए कि रक्तस्राव रोकने, रोगी को ले जाने, आघात आदि के उपचार में किस प्रकार की प्रथम सहायता दी जानी चाहिए क्योंकि कोई भी दो मामले एक-जैसे नहीं होते हैं और हर समय व्यवहार वाला उपचार नहीं चलता। कई बार अप्रशिक्षित और अर्द्धप्रशिक्षित व्यक्तियों की गड़बड़ी से लोगों की जानें चली गई हैं। जब कोई प्रथम सहायता देता है तो उसे अपनी सीमाएं-मर्यादाएं अवश्य जाननी चाहिए।

प्रथम सहायता देते समय व्यक्ति को कभी-कभी यह निर्णय करना पड़ता है कि व्यक्ति जीवित है या मृतक। आम आदमी तो बेहोश व्यक्ति को भी मृतक समझ सकता है। जीवित व्यक्ति में सांस, दिल की धड़कन और नाड़ी की गति होती है। जब कभी भी शक हो तो यही समझना चाहिए कि व्यक्ति जिंदा है और इसलिए उसे प्रथम सहायता देनी चाहिए। व्यक्ति को जिंदा रखने के लिए मस्तिष्क को आक्सीजनीकृत रक्त अवश्य प्राप्त होना चाहिए। इसलिए उसके श्वसन और नाड़ी पर ध्यान दीजिए।

नीचे कुछ सामान्य दशाओं में प्रथम सहायता के संकेत दिए गये हैं।

1. कटाव, खरोंच व नील :

छोटी-मोटी कट-फट और खरोंचें (चित्र 52.2) : यदि स्वच्छ ताजा घाव हो तब इस पर

* * * *

डा. वी. एन. भावे, एम. बी., बी. एस., सामान्य चिकित्सा व्यवसायी, पूना; विज्ञान की अनेक पाठ्य पुस्तकों के लेखक, सदस्य संपादक मंडल, 'हम और हमारा स्वास्थ्य'।
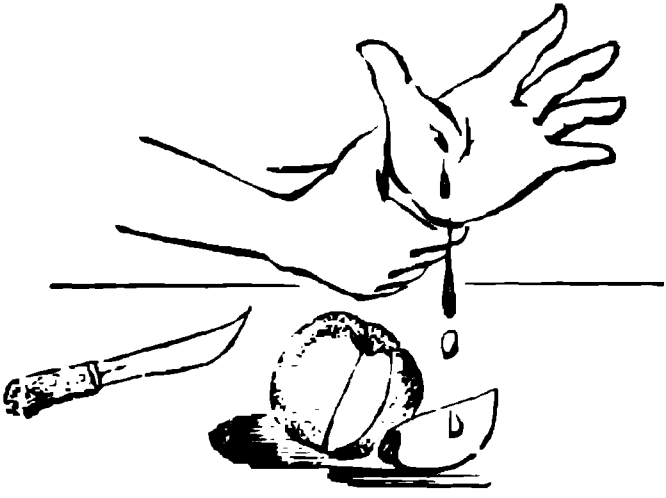
चित्र 52.2—कटने से रक्तस्राव

टिंक्चर आयोडीन या स्पिरिट लगाइए और ऊपर से गॉज या जाली रख कर इसे अपने स्थान पर बनाए रखने के लिए पट्टी या चिपकने वाली पट्टी लगाइए। रूई को फैलाकर और टिंक्चर बेंजोइन में भिगोकर भी घाव पर लगाया जा सकता है।

बड़े व गहरे कटाव या घाव : घाव को निर्जीवाणुक ड्रेसिंग से ढकिए और पट्टी बांधकर डाक्टरी सहायता लीजिए।

गंदे घाव : गॉज या जाली की सहायता से घाव को ढककर आसपास के क्षेत्र को साफ करिए। सिर के घाव के लिए घाव के इर्द-गिर्द के बालों को हटाना भी जरूरी है। इसके बाद घाव को साबुन और गर्म पानी से अच्छी तरह से धोइए, फिर टिंक्चर आयोडीन लगाकर गॉज या जाली से पट्टी बांध दीजिए। गंदे घावों में टेटेनस होने का खतरा रहता है, इसलिए निरोधक उपचार के लिए डाक्टर के पास जाना चाहिए।

नील : अंगुलियां दरवाजे में दबने या आंख पर मुक्का पड़ने से भी आंख के क्षेत्र में नील पड़ सकता है। ठंडे पानी से क्षत भाग का संपीडन होता है। यदि दर्द बहुत अधिक है तो डाक्टर की सलाह लीजिए।

न करने योग्य बातें :

यदि आप इस बारे में आश्वस्त नहीं हैं कि लगने वाली चीज अपूतिरोधी नहीं है तो घाव के ऊपर कोई मलहम या गीली पट्टी मत लगाइए।

यदि घाव गहरा है, छिद गया है, गंदा है या उससे बहुत अधिक रक्तस्राव हो रहा है तो डाक्टर की सलाह लेने में देरी मत कीजिए।

2. रक्तस्राव :

रक्तस्राव केशिकाओं, धमनियों या शिराओं से हो सकता है।

केशिका वाले रक्तस्राव में रक्त चमकदार लाल होता है और घाव से रिस-रिस कर निकलता है। रक्तस्राव रोकने के लिए घाव को निर्जीवाणुक जाली से ढककर कसकर पट्टी बांध दीजिए।

धमनी से होने वाले रक्तस्राव में रक्त चमकदार लाल होता है और धार के रूप में बाहर निकलता है। रक्तस्राव रोकने के लिए खून निकलने वाले बिंदु पर अंगूठे से जोर से दबाइए। यदि घाव में बाहरी पदार्थ है तो घाव के स्थल पर मत दबाइए और धमनी के ऊपरी भाग यानी 'दाब बिंदु' (चित्र 52.3) नामक स्थल पर दबाइए जिसके नीचे कि हड्डी होती है।

अत्यधिक रक्तस्राव में एकदम डाक्टर को बुलाइए। रक्तस्राव नियंत्रित होने से पहले चाय या कॉफी सरीखे उत्तेजक पदार्थ मत दीजिए। प्यास दूर करने के लिए पानी की चुस्कियां दी जा सकती हैं।

शिरा से रक्तस्राव होने पर रक्त काला लाल होता है और मंद व समान रूप से बहता है। रक्तस्राव को रोकने के लिए क्षत भाग को हृदय के स्तर से ऊपर उठाकर रखिए। खून का बहना रोकने के लिए रक्तस्राव बिंदु या घाव के दूरस्थ भाग वाली शिरा के ऊपर दबाव डालिए।

नाक से रक्तस्राव : यह नाक में क्षति पहुंचने या किसी गठन वाली दशा या नाक में स्थानिक रक्ताधिक्य के कारण हो सकता है।

चित्र 52.3—बांह, जांघ और चेहरे पर दाब बिंदु

रोगी को खुली खिड़की के सामने रखिए, जहां पर हवा का सीधा झोंका आ रहा हो।

छाती और गले वाले कसे कपड़ों को ढीला कर दीजिए।

सिर को पीछे की ओर डाल दीजिए।

रोगी को कहिए कि वह मुंह खुला रखे और नाक से सांस न ले। यह भी देखना चाहिए कि वह नाक साफ न करे।

रोगी की नाक, माथे और गर्दन के पीछे बरफ की थैली या ठंडे पानी में भीगी गद्दी रखिए। यदि रक्तस्राव बंद नहीं होता तो उसे डाक्टर के पास ले जाइए क्योंकि ऐसे में नासा-गुहा में जाली का डाट लगाना या अवरोध करना जरूरी होता है।

आंतरिक रक्तस्राव : कभी-कभी फेफड़े, आमाशय, प्लीहा, आंत्र सरीखे आंतरिक अंगों में क्षति पहुंचने से रक्तस्राव होता है और यह रक्तस्राव वक्ष या उदर की गुहाओं में होता है। ऐसे रक्तस्राव को आंतरिक रक्तस्राव कहते हैं। ऐसे में वास्तविक रक्तस्राव दिखलाई नहीं देता और उसका अनुमान लक्षणों के आधार पर करना होता है, जैसे चेहरे के पीलेपन, तेज और दुर्बल नाड़ी, तेज और सतही श्वसन, पसीने आदि से।

जब आंतरिक रक्तस्राव का शक हो तो तुरंत ही रोगी को अस्पताल ले जाइए। रोगी का सिर नीचे करके रोगी को सोने वाली संस्थिति में लिटा कर आराम करने दीजिए। उसे ताजी हवा में रखिए। उसकी छाती, उदर और कमर के चारों ओर के कपड़े ढीले कर देने चाहिए ताकि वह मुक्त रूप से सांस ले सके। ऊपरी और निचली बाहुओं के नीचे से ऊपर की ओर पट्टी बांध दीजिए ताकि मस्तिष्क को रक्त की अधिक आपूर्ति की जा सके।

सिर के सभी घावों को डाक्टर को दिखलाइए ताकि वह अच्छी तरह निरीक्षण कर सके भले ही घाव बाहर से दिखने में हल्के लगें क्योंकि कभी-कभी मस्तिष्क या खोपड़ी के भीतर के द्वितीयक रक्तस्राव और इसके परिणामस्वरूप कुछ समय बाद दबाव वाले लक्षण उत्पन्न होते हैं जो खतरनाक हो सकते हैं।

न करने योग्य बातें :

गंदे हाथों से घाव को मत दबाइए। यदि घाव में बाहरी पदार्थ है तो घाव को मत दबाइए। ऐसे में 'दाब बिंदु' को दबाइए।

रक्तस्राव रोकने के लिए टूर्निके का प्रयोग मत करिए क्योंकि इससे लाभ के बदले हानि ही होगी।

यदि रक्तस्राव बहुत अधिक या आंतरिक रक्तस्राव का अंदेशा है तो डाक्टर की सलाह लेने में देरी मत करिए।

3. मोच (स्प्रेन) :

जोड़ पर मोच तभी आती है जबकि वह आक-

स्मिक रूप से मुड़ जाता है या खिंच जाता है। गुल्फ वाले जोड़ या घुटने वाले जोड़ में प्राय: अधिक मोच आती है। अचानक मुड़ने से वे स्नायु खिंच जाते हैं (चित्र 34.4) जो हड्डियों को परस्पर जोड़े रखते हैं। कभी-कभी तो मोच से स्नायु फट भी जाते हैं। मोच में जोड़ पर सूजन और तीव्र दर्द होता है। जोड़ को घुमाने पर दर्द और अधिक होता है।

प्रभावित या ग्रस्त भाग पर शीत सेंक करिए।

पट्टी से बांधकर जोड़ को स्थिर कर दीजिए। यदि आवश्यक हो तो स्प्लिन्ट भी लगा दीजिए।

न करने योग्य बातें :

रोगी को प्रभावित भाग पर शरीर का बोझ मत डालने दीजिए।

प्रभावित जोड़ के निश्चल होने तक बाहु को हिलाइए-डुलाइए मत।

प्रभावित भाग पर मालिश मत करिए।

4. अस्थि भंग (फ्रैक्चर) :

ऊंचाई से गिरने से हड्डी टूट सकती है (चित्र 47.7) जबकि उसके शरीर का सारा बोझ किसी एक बाहु पर आ जाता है। सीधे धक्के से भी हड्डी टूट सकती है। वृद्धावस्था में हड्डियां भुरभुरी या भंजनशील हो जाती हैं और हल्के झटके से ही टूट जाती हैं।

हड्डी के टूटने वाले स्थान पर दर्द और सूजन हो जाती है। विरूपता भी हो सकती है और प्रभावित भाग को घुमाने में असमर्थता हो सकती है। कभी-कभी क्षति होते समय किसी को टूटने की ध्वनि सुनने का अनुभव भी अवश्य हुआ होगा।

स्प्लिंट की सहायता से क्षत बाहु को निश्चल बनाए बिना व्यक्ति को हिलाया-डुलाया नहीं जाना चाहिए (चित्र 52.4)। क्षत टांग को कई स्थानों पर दूसरी टांग से बांध दीजिए। बांह को छाती से बांध दीजिए। अस्थिभंग वाली बांह या
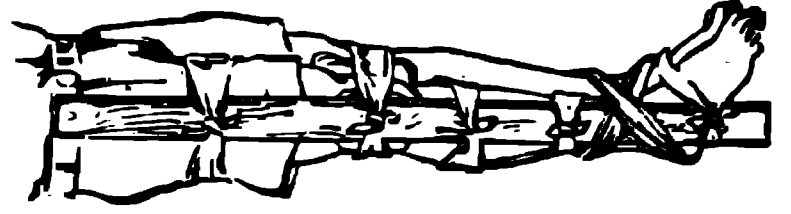
चित्र 52.4—टांग के अस्थिभंग में अस्थायी स्प्लिन्ट का प्रयोग

प्रकोष्ठ (फोर आर्म) में गोफन या स्लिंग का इस्तेमाल करिए (चित्र 52.5)।

यदि यह शक है कि गर्दन या पीठ को क्षति पहुंची है तो रोगी को लिटा कर रखिए। उसे हिलाने-डुलाने की कोशिश मत करिए।

यदि टूटी हड्डी के ऊपर की त्वचा कट-फट गई है (चित्र 47.8) तो उसके ऊपर निर्जीवाणुक जाली रखिए और तुरंत डाक्टर को बुलाइए।

न करने योग्य बातें :

बाहु को स्थिर किए बिना रोगी को हिलाइए-डुलाइए नहीं।

यदि अस्थिभंग का शक हो तो रोगी को क्षत टांग पर खड़ा मत होने दीजिए।

गर्दन और पीठ पर अस्थिभंग के शक में रोगी को हिलाइए-डुलाइए नहीं और उसे आधार देकर लिटा कर रखिए।

यदि रोगी बाहु को हिला-डुला सकता है तो

चित्र 52.5—प्रकोष्ठ (फोर आर्म) के अस्थि भंग में स्प्लिन्ट और बांह की गोफन का प्रयोग।
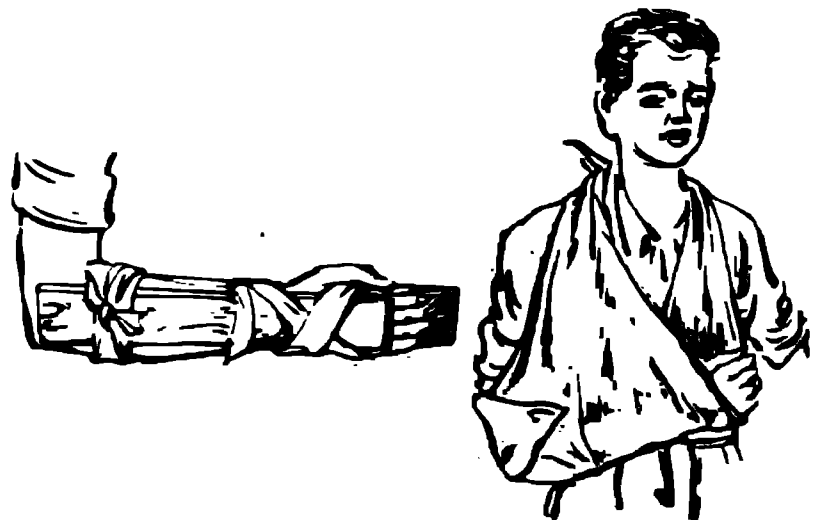
यह मत समझिए कि उसमें अस्थिभंग नहीं हो सकता।

5. दग्ध या जलना :

मामूली दग्ध और तप्तद्रवदाह (स्कैल्ड) : ये प्राय: गरम बर्तन, तथा खुली लौ (चित्र 52.6) से छू जाने अथवा भाप या गर्म पानी या तेल के छलकने से गर्म द्रव के संपर्क के परिणामस्वरूप हो जाते हैं।

क्षत भाग लाल हो जाता है या उसमें छाले हो सकते हैं। इसमें जलन की अनुभूति हो सकती है।

जले भाग को किसी पूतिरोधी क्रीम, जैसे सैवलोन, सीटेवलोन, बर्नोल आदि से, या निर्जीवाणुक कपड़े से ढक दीजिए। इससे जलन कम हो जाएगी।

बड़े दग्ध : यदि किसी व्यक्ति के कपड़ों को आग पकड़ती है तो उसे एकदम चुस्ती से मोटे कंबल, रग या कार्पेट में लपेट कर लपटों को बुझाइए। छालों को मत फोड़िए। रोगी को गर्म कपड़ों से ढक दीजिए। मुंह द्वारा खूब तरल खाद्य पदार्थ दीजिए। चाय और काफी सरीखे उद्दीपक पदार्थ अच्छे रहते हैं।

रोगी को लिटाई हुई स्थिति में तुरंत अस्पताल पहुंचाइए।

रासायनिक दग्ध : दूषित वस्त्रों को एकदम

चित्र 52.6—दग्ध या जलना

उतार डालिए। यदि अम्ल या एसिड से क्षति पहुंची हो तो जले भाग को सोडियम बाइकार्बोनिट के तनु विलयन (आधा लीटर पानी में एक चाय के चम्मच के बराबर) से खूब अच्छी तरह से धोइए और यदि किसी क्षार से क्षति पहुंची है तो जले भाग को सिरके या नींबू के हल्के विलयन से धोइए।

न करने योग्य बातें :

बच्चे के कपड़ों पर आग लगी हो तो उसे घबड़ाहट में इधर उधर मत भागने दीजिए। लपटें बुझाने के लिए मोटे कार्पेट में लपेट दीजिए।

लपटें बुझाने के लिए आग लगे कपड़ों के ऊपर पानी मत उड़ेलिए क्योंकि इसके परिणामस्वरूप बनने वाली भाप से और हानि पहुंचेगी।

छालों को मत फोड़िए, अन्यथा घाव संक्रमित हो सकते हैं।

अत्यधिक जले व्यक्ति को अस्पताल या डाक्टर के पास ले जाने में देर मत करिए।

6. डूबना :

पानी के साथ व्यक्ति के मुंह या गले में मिट्टी या कोई अन्य चीज चली गई हो तो उसे साफ कर दीजिए।

उसे पेट के बल लिटा कर मुंह को एक तरफ रखिए और फिर उसकी पीठ को दबाकर फेफड़ों से पानी बाहर निकाल दीजिए।

तुरंत कृत्रिम श्वास की व्यवस्था कीजिए। रोगी के एक ओर झुककर बैठकर उसकी पीठ की निचली तरफ को अपने दोनों हाथों से दबाकर अपने शरीर का सारा बोझ उस पर डालिए (चित्र 52.71)। इससे उसकी छाती दबकर आकार में कम हो जाएगी और फेफड़ों से हवा बाहर निकल जाएगी। दो सेकंड के बाद अपने शरीर का वजन उसकी पीठ से कम कर दीजिए (चित्र 52.72) ताकि छाती फैल जाय और बाहर की हवा को अंदर प्रविष्ट होने दे। इस प्रकार की गति एक मिनट में

चित्र 52.71—कृत्रिम श्वसन
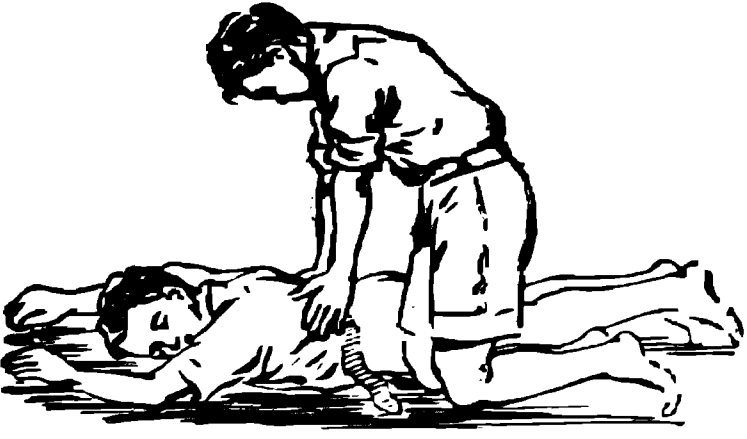
चित्र 52.72—कृत्रिम प्रश्वसन

करीब 16 से 18 बार करिए और तब तक करते जाइए जब तक कि रोगी स्वयं श्वसन न करने लगे। कृत्रिम प्रकार का श्वसन विभिन्न प्रकार के श्वास-रोध या दम घुटने में भी जरूरी होती है।

इस बीच जबकि कृत्रिम श्वसन दिया जाता है किसी दूसरे व्यक्ति को कहिए कि वह रोगी के गीले कपड़े उतार दे, उसके बदन को तौलिए से सुखा दे और फिर उसके शरीर को गर्म कपड़ों से ढक दे। गर्म पानी की थैली भी लगाइए।

ज्यों ही वह इस काबिल होता है कि कुछ निगल सके त्यों ही उसे चाय या कॉफी जैसे उद्दीपक पेय पीने को दें।

न करने योग्य बातें :

कृत्रिम श्वास देने में समय बरबाद मत करिए।

व्यक्ति को सांस लेने वाली अवस्था में लाने में अपने प्रयत्नों को कम से कम आधे घंटे तक मत छोड़िए।

उसे गीला और अनावृत्त मत रखिए।

7. मूर्च्छा या बेहोशी :

मूर्च्छा चेतना के लुप्त होने की अस्थायी अवस्था है और यह कई कारणों से हो सकती है, जैसे कि अत्यधिक काम करने, अतिचिंता, अत्यधिक गरमी, खुली हवा के अभाव, कसे कपड़ों, अत्यधिक क्षति, रक्तस्राव से।

बेहोश व्यक्ति को सिर नीचा करके लिटा कर रखिए।
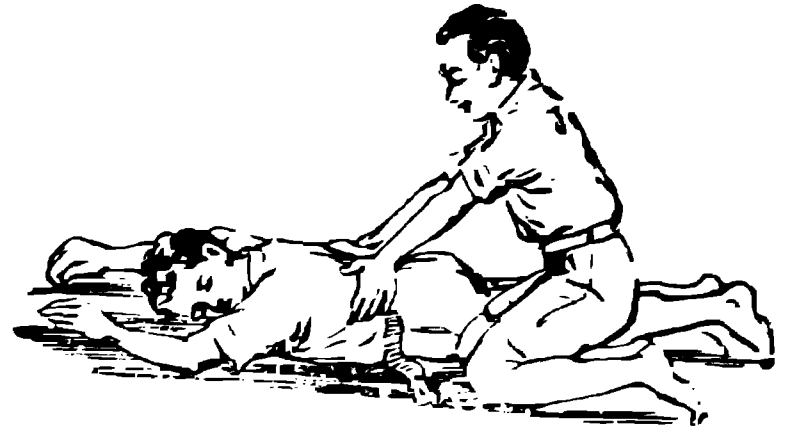
कसे कपड़ों को ढीला कर दीजिए, विशेष प्रकार से गर्दन, छाती और कमर के।

हवा खूब आने दीजिए। रोगी के चारों ओर भीड़ मत जमा होने दीजिए।

चेहरे पर ठंडे पानी के छींटे मारिए।

अमोनियम कार्बोनेट या सूंघने वाले लवण या कुचले प्याज को सुंघाइए।

रोगी जब ठीक हो जाय तो उसे चाय या कॉफी सरीखे उद्दीपक पेय दीजिए।

यदि मूर्च्छा बहुत लंबे समय तक चलती है तो डाक्टर बुलाइए।

न करने योग्य बातें :

अमोनिया या सूंघने वाले लवण को नाक के सामने अधिक देर तक मत रखिए।

जब तक व्यक्ति कुछ निगलने लायक न हो जाय तब तक मुंह द्वारा उसे कुछ मत दीजिए।

कुछ मिनटों के बाद भी बेहोशी दूर नहीं होती तो डाक्टर को बुलाने में देर मत करिए।

8. आक्षेप :

शिशुओं और बच्चों के आक्षेप या दौरे पड़ना आम तौर पर देखा जाता है। ये ज्वर होने पर या मिरगी समेत कई अन्य कारणों से हो सकते हैं।

प्रथम सहायता के लिए, मिरगी या अपस्मार के आक्षेप या दौरे के समय की देखभाल के लिए अध्याय 26 के अंतर्गत 'तंत्रिका तंत्र के विकार' देखिए।

9. बाहरी पदार्थ :

आंख : धूल या रेत के कण या कोई छोटा कीड़ा या भुनगा आंख में घुस सकता है। आंख में खूब पानी डालकर उसे धोइए। निचली या ऊपरी पलक में जिस भाग में भी कण क्षोभ उत्पन्न कर रहा है उसे पलटकर रूई के फाहे या रूमाल से हौले से निकालिए। यदि नेत्रगोलक की सतह पर कोई बाहरी पदार्थ चिपका हुआ है तो उसे निकालने की कोशिश मत करिए। आंख में किसी मृदु तेल या रेंडी के तेल (कैस्टर ऑयल) की एक बूंद डालकर आंख पर हल्के से एक साफ पट्टी बांध दीजिए और फिर व्यक्ति को नेत्र सर्जन के पास ले जाइए।

कान : बच्चे प्राय: छोटी-मोटी चीजों को कान में रख लेते हैं। कभी-कभी कान में कीट भी घुस जाते हैं। कान में थोड़ा गुनगुना तेल डालिए ताकि कीड़ा उसमें डूबकर मर जाय और फिर सिर को दूसरी ओर पलटकर तेल को बाहर निलकने दीजिए। यदि इस तरह आपको उसे निकालने में सफलता न मिले तो रोगी को डाक्टर के पास ले जाइए। यदि ऐसे में आप स्वयं ही उस चीज को निकालने लग जाएं तो आप उसे अधिक अंदर धकेल सकते हैं और फिर कान को और नुकसान पहुंच सकता है।

नाक : नाक से बाहरी पदार्थ निकालने के लिए विपरीत नासा-द्वार को दबाइए और उस व्यक्ति को मुंह द्वारा गहरी सांस लेने दीजिए। फिर मुंह बंद रखे हुए उसे अवरोध वाले नासा-द्वार से तेजी से वायु बाहर निकालने को कहिए, या उसके दूसरे नासा-द्वार को गुदगुदाकर या सुंघनी चूर्ण से उसे छींकने के लिए प्रेरित करिए। बाहरी पदार्थ इस तरह बाहर निकल जाएगा। यदि इसमें आप सफल न हों तो और कोई तरीका इस्तेमाल न करके उसे डाक्टर के पास ले जाइए।

गला : यदि बच्चे ने कोई बाहरी पदार्थ निगल लिया है और श्वसन में कठिनाई हो रही है तो उसे उल्टा करके पकड़िए और उसके गर्दन पर कुछ धक्के मारिए ताकि बाहरी पदार्थ निकल जाये। यदि इसमें आप सफल न हों तो बच्चे को एकदम डाक्टर के पास ले जाइए। आमाशय में पहुंच जाने वाले बाहरी पदार्थ सामान्यतया नुकसान नहीं पहुंचाते और बाद में विष्ठा के साथ बाहर निकाल दिए जाते हैं।

त्वचा : कांच या छील या कांटा प्राय: त्वचा के नीचे घुस जाता है लेकिन इसे आसानी से निकाला जा सकता है। बाहरी पदार्थ के ऊपर वाली त्वचा को साबुन और पानी से धोइए। फिर एक पैनी सुई लीजिए, उसे लौ पर तब तक गरम कीजिए जब तक वह लाल नहीं हो जाती और इसके बाद उसे ठंडा होने दीजिए। सुई की नोक से बाहरी पदार्थ को खुरचकर ऊपर उठाइए। बाहरी पदार्थ का त्वचा से ऊपर की ओर उठे सिर को एक चिमटी या अंगुलियों की सहायता से धीरे से ऊपर खींचिए लेकिन यह ध्यान रखिए कि वह टूटे नहीं। फिर साबुन पानी से घाव को धोइए और ड्रेसिंग कर दीजिए।

न करने योग्य बातें :

नेत्रगोलक की सतह पर अटके या अंदर धंसे बाहरी पदार्थ को स्वयं निकालने की कोशिश मत करिए।

कान या नाक में गहरे घुसे बाहरी पदार्थों को निकालने का प्रयत्न मत करिए क्योंकि ऐसा करने में वे और अंदर धकेल दिए जाएंगे। वे डाक्टर द्वारा या अस्पताल में विशेष औजारों की सहायता से आसानी से निकाल लिए जा सकते हैं।

त्वचा में गहरे घुसे बाहरी पदार्थों को स्वयं निकलने की चेष्टा मत करिए।

10. जहरीले दंश या काट :

रेबीज या अलर्क से संक्रमित कुत्ते का काटना : ऐसा कुत्ता सुस्त हो जाता है और खाना नहीं
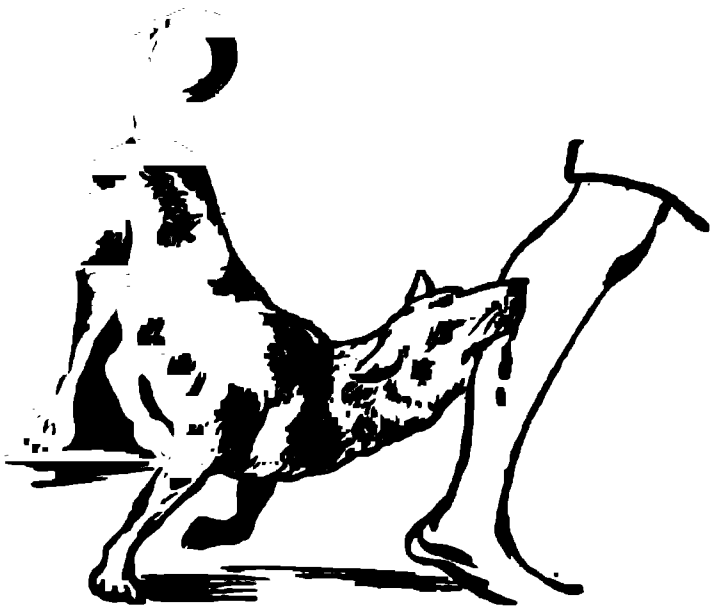
चित्र 52.8—रेबीज या अलर्क द्वारा ग्रस्त कुत्ते द्वारा काटा जाना।

खाता है। वह बिना बात में इधर-उधर भागकर रास्ते में जो भी आए उसे काट सकता है (चित्र 52.8)। रेबिड कुत्ता या पागल कुत्ता 11 दिन के अंदर मर जाता है। यदि संभव हो सके तो ऐसा काटने वाले कुत्ते को इस अवधि तक देखते रहना चाहिए और यदि वह अलर्क (रेबीज) के लक्षण प्रदर्शित नहीं करता और जिंदा रहता है तो व्यक्ति तब सुरक्षित रहता है।

रेबिड कुत्ता या पागल कुत्ते के काटने के बाद यदि तुरंत निरोधक इंजेक्शन नहीं लिए गए तो अलर्क (रेबीज) या जलभीति (हाइड्रोफोबिया) नामक रोग हो सकता है।

एक बार इस रोग के हो जाने पर इससे मृत्यु ही हो जाती है।

घाव से कुछ खून बहने दीजिए।

घाव को खूब साबुन और बहते पानी से धोकर सुखाइए।

घाव को शुद्ध कार्बोलिक एसिड या धूमायमान नाइट्रिक एसिड से दागिए या जलाइए।

रोगी को तुरंत डाक्टर के पास या अस्पताल ले जाइए ताकि अलर्करोधी (रेबीजरोधी) इंजेक्शनों के बारे में सलाह ली जा सके।

कुत्ते को बांधकर देखते रहना उत्तम है। उसे जान से मत मारिए, जब तक कि वह पागल न हो।
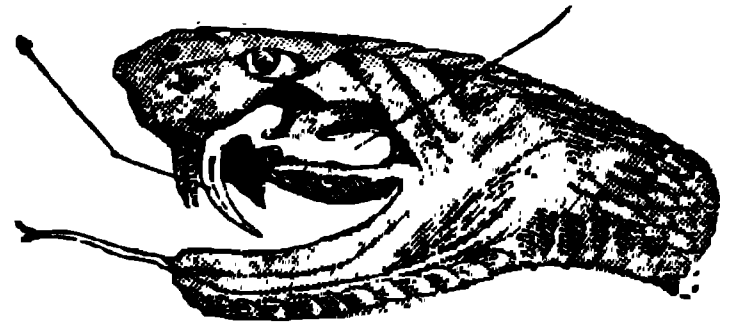
चित्र 52.9—सांप की विष-ग्रंथि

न करने योग्य बातें :

तुरंत घाव को धोना न भूलें।

अलर्करोधी (रेबीजरोधी) दवा के पूरे 14 इंजेक्शन लेने में उपेक्षा मत करिए, भले ही आपको यह मालूम न हो कि कुत्ता पागल है या नहीं।

सर्पदंश या सांप का काटना : विषैले सांप (चित्र 52.9) के काटने से प्रायः 2.5 सेंमी. दूर वाले दो छिदे घाव होते हैं और जिनसे लाल तरल रिसता रहता है। घाव के स्थल पर दर्द और सूजन होती है और वहां का रंग बदल जाता है।

सभी सांप विषैले नहीं होते, लेकिन इस बात में यदि संदेह हो तो दंश का उपचार विषैले दंश की ही तरह करिए।

तुरंत ही डाक्टर बुलाइए।

इस बीच तुरंत ही घाव के नज़दीक, किंतु घाव और हृदय के बीच में, रस्सी के टुकड़े या रूमाल से कस कर बांध दीजिए।

घाव से रक्त बहने दीजिए ताकि शरीर से ज़हर बाहर निकल जाये। इसके लिए उस भाग को नीचा रखिए।

उस भाग को बर्फीले पानी में रखिए।

आघात को दूर करने के लिए चाय, कॉफी या ब्रान्डी सरीखे उद्दीपक पेय पिलाइए।

विषरोधी सीरम के इंजेक्शन के लिए व्यक्ति को तुरंत अस्पताल ले जाइए।

न करने योग्य बातें :

रोगी को डाक्टर के पास या अस्पताल ले जाने

में विलंब मत करिए।

11. विषाक्तन :

हमारे घर में ही कई विषैले पदार्थ होते हैं। भेषजीय विष केवल बाहर से लगाने या मलने के लिए होते हैं। विसंक्रामक तथा डायाजिनोन सरीखे कीटनाशी, मिट्टी का तेल, स्पिरिट और अन्य विषैले पदार्थ, जो कि घरेलू उपयोग के लिए होते हैं कभी-कभी गलती से शरीर में ले लिए जाते हैं, इसलिए इनकी तुरंत प्रथम सहायता की जानी चाहिए।

तुरंत डाक्टर को बुलाइए और रोगी के चिह्न और लक्षण तथा जिस विष पर शक है उसके बारे में बतलाइए।

अम्ल, क्षार और मिट्टी के तेल के विषाक्तन की दशा के अलावा हर दशा में रोगी को क़ै कराइए।

क़ै कराने के लिए एक गिलास पानी में दो चाय के चम्मच भर साधारण नमक डालिए और इसे रोगी को पीने को दीजिए। यदि क़ै नहीं होती तो उसके गले में अपनी अंगुलियों से गुदगुदी करिए।

रोगी द्वारा क़ै करने के उपरांत उसे खूब दूध, सिके-जले टोस्ट, आटे-पानी का घोल, अंडे की सफेदी वाला पानी और तेज चाय दीजिए।

हाइड्रोक्लोरिक एसिड सरीखे तेज या सांद्र अम्लों की दशा में चूने का पानी, खड़िया मिट्टी वाला पानी या मिल्क ऑफ मैगनीशिया सरीखे मध्यम प्रकार के क्षारों के कई गिलास पीने को दीजिए।

कॉस्टिक सोडा सरीखे तेज या सांद्र क्षारों की दशा में सिरका, नींबू का रस या छाछ सरीखे मध्यम प्रकार के अम्ल दीजिए।

न करने योग्य बातें :

विषैली औषधियों को बच्चे की पहुंच के बाहर आलमारी (कपबोर्ड) में रखना कभी भी न भूलें।

विषाक्तन का संदेह होने पर कभी भी विलंब न करें। तुरंत डाक्टर को बुलाएं।

अम्ल, क्षार और मिट्टी के तेल की दशा में क़ै मत कराइए।

अन्य दशाओं में कभी भी क़ै कराना न भूलें।

12. विद्युत् आघात या बिजली का झटका :

रोगी को एकदम विद्युत् संपर्क से अलग हटा दिया जाना चाहिए।

विद्युत् धारा को, यदि संभव हो तो, तुरंत बंद कर दीजिए।

यदि ऐसा न हो सके तो लकड़ी के सूखे पटरे या किसी अन्य अचालक पदार्थ—जैसे कि, कागज, रबड़ पर खड़े होकर रोगी को विद्युत् संपर्क से एक हाथ से खींचकर अलग कर दीजिए। यह हाथ भी रबड़, सूखे कपड़े या कागज से लिपटा रहना चाहिए।

एकदम डाक्टर को बुलाइए। यदि श्वास रुक गया हो तो कृत्रिम श्वास दीजिए।

न करने योग्य बातें :

अचालक पदार्थ पर खड़े हुए और अपने को बचाए बिना रोगी को बचाने की कोशिश मत कीजिए।

अनुचित रूप से लगे और बिना भूसम्पर्क वाले विद्युत् साधित्रों को हाथ मत लगाइए।

प्रथम सहायता-पेटी या फर्स्ट एड बॉक्स :

हर घर में प्रथम सहायता पेटी में निम्नलिखित चीजें रखी रहनी चाहिए।

अवशोषी रूई की गद्दियां।

निर्जीवाणुक जाली के टुकड़े।

सेफ्टी पिनों वाली 2.5 सेंमी. और 6 सेंमी. चौड़ी रोलर बैन्डेज या लंबी पट्टियां।

चिपकने वाली टेप का एक रोल।

30 से 50 मिली. टिक्चर आयोडीन।

30 से 50 मिली. टिक्चर बेंजोइन को०।

30 से 50 मिली. रेक्टिफाइड स्पिरिट।

30 से 50 मिली. स्पिरिट एमोनी एरोमेटिक।

एक कैंची और एक चिमटी।

आयुर्विज्ञानीय कांच।

1 विद्युत् टार्च।

पकाने का सोडा या बेकिंग सोडा (सोडियम बाइकार्बोनेट)।

सैवलोन, सेटेवलोन सरीखी पूतिरोधी क्रीम।

50 मिली. पूतिरोधी लोशन, जैसे डेटोल, सैवलोन आदि।

साधारण नमक।

सूंघने वाले लवण की बोतल।

नहाने का साबुन।

• • •

53

—कुमारी विमल वी० बर्दे

घरेलू परिचर्या

अच्छी परिचर्या व देखभाल के सिद्धांत वही हैं चाहे रोगी का उपचार घर में हो रहा हो या अस्पताल में। हरएक को गृह परिचर्या के बारे में जानना जरूरी है क्योंकि हो सकता है कि देश में हरएक बीमार व्यक्ति के लिए अस्पताल में बिस्तर उपलब्ध न हो। कई परिवार अस्पताल की अपेक्षा रोगी की देखभाल घर पर करना चाहेंगे।

रोगी के दृष्टिकोण से देखा जाये तो आधुनिक साधनों और सार्वजनिक अस्पताल की अपेक्षा घर पर उसकी देखभाल अधिक अच्छी तरह से हो सकेगी। स्वाभाविक है कि रोगी अपने घर में अधिक खुश रहेगा और इसमें कोई शक नहीं कि इससे वह जल्दी ठीक भी हो जाएगा। आर्थिक दृष्टि से अस्पताल या परिचर्या गृह की अपेक्षा घर पर की देखभाल कम खर्चीली होती है।

संपूर्ण परिचर्या देखभाल को मोटे तौर पर दो पहलुओं में विभाजित किया जा सकता है। पहला पहलू सामान्य वातावरण और वैयक्तिक स्वच्छता वाली मदों से संबद्ध है और दूसरे पहलू के अंतर्गत रोगी के विशिष्ट उपचार के लिए आवश्यक सभी विशेष क्रियाविधियां हैं। इस अध्याय में प्रथम कोटि की देखभाल के बारे में वर्णन किया गया है।

कमरा :

रोगी के लिए चुना गया कमरा बाधा पहुंचाने वाले शोर से मुक्त रहना चाहिए, जैसे कि यातायात के शोर, खेलते बच्चों के शोर, थियेटर के शोर आदि से। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए मिलने-जुलने वाले भी कम होने चाहिए। कमरा अच्छा हवादार होना चाहिए लेकिन रोगी की ओर हवा का सीधा झोंका नहीं आना चाहिए। कमरे के अंदर का तापमान 18° से 22° सेंटीग्रेड (64° से 71° फारेनहाइट) के बीच होना चाहिए। तापमान की कमी या तो पर्दों, खस की टट्टियों, पंखे और शीतकों (कूलरों) से बनाई रखी जा सकती है या इसकी वृद्धि तापकों (हीटरों) और अंगीठियों से बनाई रखी जा सकती है। कमरा साफ रहना चाहिए और उसमें ऐसी चीजें नहीं रहनी चाहिए जो रोज आसानी से साफ न की जा सकें। छत, दीवारें, फर्श, साज-सामान, वस्त्र तथा इस्तेमाल किए जाने वाले बर्तन और उपस्कर हर समय यथोचित रूप से साफ रहने

* * * *

कुमारी विमल वी. बर्दे, बी. ए., बी. एस-सी. (आनर्स) नर्सिंग (दिल्ली), एम. एस-सी. (बोस्टन), सहायक निदेशक जनस्वास्थ्य (नर्सिंग), स्वास्थ्य निदेशालय, महाराष्ट्र, पूना-1

चाहिए। फर्श को सूखा साफ करने के बजाय गीला साफ किया जाना चाहिए।

आग की दुर्घटनाएं बचाने के लिए सावधानी बरतनी चाहिए। बाएं कंधे की ओर से आने वाले प्रकाश से आंखों पर जोर नहीं पड़ता। सीधे पड़ने वाली चौंध से बचना चाहिए। शरीरक्रियात्मक कार्यों की सुविधाएं रहनी चाहिए, जैसे कि पेशाब व मल विसर्जित करने की।

शय्या या बिस्तर की आदर्श ऊंचाई फर्श से 66 सेंमी., चौड़ाई एक मीटर और लंबाई दो मीटर होनी चाहिए, बिस्तर और गद्दा कसा हुआ और बिस्तर के कपड़े धोने योग्य, मजबूत और पीले रंग के सूती हों तो अच्छा रहता है।

यदि संभव हो सके तो रोगी के कपड़े, बर्तन और दवाइयां रखने के लिए एक छोटी आलमारी तथा पीने का पानी व अन्य आवश्यकता की चीजों के लिए एक छोटी मेज होनी चाहिए। रोगी को निम्नलिखित चीजों (चित्र 53.2) की आवश्यकता होती है।

1. तौलिया, 2. साबुन और एक डिश, 3. औषधि गिलास, 4. थर्मामीटर, 5. चाय का चम्मच, 6. खाने का प्याला या प्याला व तश्तरी, 7. वृक्क-ट्रे, 8. शय्या-पात्र (बेड पैन), 9. मूत्र-पात्र, 10. एनीमा पात्र, 11. थूकदान, 12. गर्म पानी की बोतल, 13. बर्फ की थैली।

परिचर्या-क्रियाविधि :

घर में रोगी की देखभाल के लिए गृहपरिचारिका को रोज निम्नलिखित बातें करनी होंगी, जैसे तापमान लेना, मुंह की देखभाल, पोषण, स्पंज करना तथा पीठ व बालों की देखभाल, दवाएं देना, शय्या या बिस्तर तैयार करना आदि। इनको नीचे वर्णित किया गया है
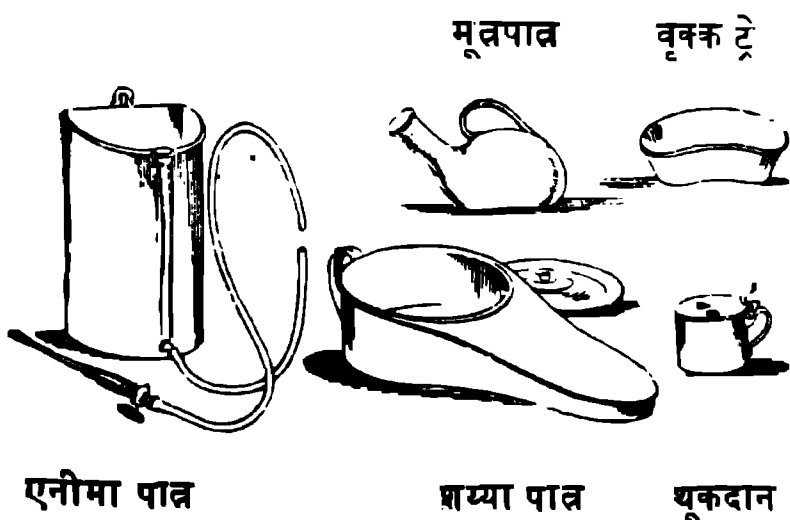
1. तापमान लेना :

तापमान डाक्टरी थर्मामीटर से लिया जाता है (चित्र 53.3)। शरीर का सामान्य तापमान 36° सेंटीग्रेड से 37° सेंटीग्रेड (96.4° फारेनहाइट से 98.4° फारेनहाइट) तक होता है। तापमान मुंह में या बगल में मापा जाता है। बच्चों में यह ऊरु-मूल में मापा जाता है। मुंह द्वारा मापा गया तापमान अधिक सही होता है। मुंह का तापमान बगल के तापमान की अपेक्षा 0.5° सेंटीग्रेड (1° फारेनहाइट) अधिक होता है। माप लेने से पहले थर्मामीटर को झटककर 35° सेंटीग्रेड (95° फारेनहाइट) तक नीचे लाना जरूरी है। माप लेने से पहले बगल को भी पोंछ लेना चाहिए। यदि तापमान मुंह द्वारा मापा जाता है तो यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि रोगी ने कम से कम आधा घंटे पहले कहीं कोई गर्म या ठंडा पेय तो नहीं लिया है। थर्मामीटर को जीभ के नीचे करीब एक मिनट तक रखा जाना चाहिए। आंखों के सामने थर्मामीटर को रख कर तापमान देखकर उसे पहले एक कागज के टुकड़े पर नोट करके फिर चार्ट में लिख दिया जाता है। तापमान हर चार घंटे बाद डाक्टर के आदेश के अनुसार लिया जाना चाहिए।

चित्र 53.21—परिचर्या उपस्कर

चित्र 53.22—परिचर्या उपस्कर
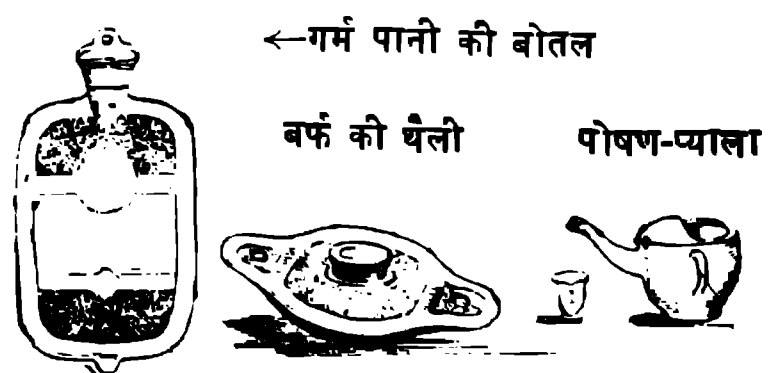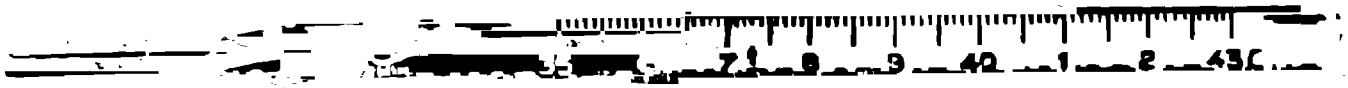
चित्र 53.3—डाक्टर थर्मामीटर

थर्मामीटर को ठंडे पानी से धोया जाना चाहिए और फिर साबुन के फाहे से धोकर सुखा लिया जाना चाहिए।

इस समय नाड़ी और श्वसन दर लेकर भी नोट की जा सकती है। इसमें थोड़े अभ्यास की जरूरत पड़ती है।

2. मुंह की देखभाल :

मुंह की देखभाल इसलिए की जाती है कि मुंह, दांत, मसूढ़ों और जीभ को साफ करके भोजन कणों, बुरे स्वाद और दुर्गंध से बचा जा सके। ऐसी देखभाल से भूख को बढ़ावा मिलता है और दंतक्षय, मसूढ़े के रोग और कर्णपूर्व (पैरोटिड) ग्रंथियों के संक्रमण से बचा जा सकता है। मुंह को रोज सुबह तथा सोने से पहले धोया जाना चाहिए। वे रोगी जो बहुत बीमार हैं, उनके मुंह की सफाई चार-चार घंटे में तथा हर बार के खाने के पहले और बाद में की जानी चाहिए। रोगी यदि अधिक बीमार नहीं है तो वह खाना खाने के पहले और बाद में गरारे कर सकता है। गरारे के लिए सादा गर्म पानी अच्छा रहता है।

रोगी ब्रश और दांत के पेस्ट की सहायता से अपने दांतों की सफाई कर सकता है। यदि वह स्वयं दांत साफ करने में असमर्थ है तो अन्य कोई भी व्यक्ति उसकी सहायता कर सकता है। यदि उसके ओंठ बहुत अधिक सूखे हैं तो थोड़ी-सी वैसलीन या कोल्ड क्रीम लगा दी जानी चाहिए। खाने के बाद सन्तरा या मुसम्मी सरीखा फल देने से मुंह अच्छी तरह से साफ हो जाता है

3. रोगी को भोजन देना :

अशन या भोजन देने का प्रयोजन यही है कि शरीर को यथेष्ट पोषण प्रदान किया जाय ताकि शरीर की मरम्मत व नए ऊतकों का निर्माण हो सके, शरीर की अवरोध क्षमता बनाई रखी जा सके और रोगी के प्रति उसकी प्रतिरक्षी क्षमता को विकसित किया जा सके। डाक्टर द्वारा जो भी भोजन बताया गया हो वह लेना चाहिए लेकिन यह जरूरी है कि वह ठीक तरह से तैयार किया गया हो, स्वादिष्ट हो और बड़े स्वच्छ व आकर्षक विधि से परोसा गया हो। हरएक व्यक्ति को रोगी के प्रति मृदुभाषी होना चाहिए और उसे प्यार से बतला-फुसलाकर सही समय पर सही मात्रा में भोजन करने को कहना चाहिए। ऐसा करना उस समय बहुत जरूरी है जबकि उसे बिल्कुल भूख न हो। रोगी यदि एक बार में अधिक मात्रा में नहीं खा सकता हो तो उसे कई बार थोड़ा-थोड़ा करके खाना खिलाइए।

यदि रोगी स्वयं ही भोजन कर सकता है तो उसे बैठकर खाना खाने के लिए कहना चाहिए। यदि वह ऐसा करने में असमर्थ है तो सहायक द्वारा इसका सिर बाएं हाथ से थोड़ा उठा दिया जाना चाहिए और फिर दाहिने हाथ से चम्मच की सहायता से खाना खिलाना चाहिए। खाना खिलाते समय परिचारिका को चाहिए कि या तो वह रोगी के दाहिने ओर खड़ी रहे (चित्र 53.4) या छोटे स्टूल पर बैठी रहे। खाना खिला चुकने के बाद रोगी को गरारे करने में सहायता देनी चाहिए और चूसने के लिए सन्तरे या मुसम्मी का टुकड़ा देना चाहिए।

4. स्पंज करना या शय्या-स्नान कराना :

इसका मतलब है शिरोवल्क को छोड़कर सारे

चित्र 53.4—रोगी को भोजन खिलाना

शरीर को साबुन व गर्म पानी से अच्छी तरह धोकर व साफ करके फिर सुखाना। स्पंज इसीलिए किया जाता है कि त्वचा की सफाई करके सारा मैल साफ कर दिया जाय, परिसंचरण को उद्दीपित किया जाय, त्वचा द्वारा होने वाले विसर्जन का निराकरण किया जाय और रोगी को ताजगी व अच्छे होने का अनुभव कराया जाय। अधिक ज्वर वाले रोगी में यह शरीर का तापमान नीचे लाने के लिए भी किया जाता है।

लेकिन स्पंज करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि रोगी को ठंड से कंपकंपी न हो। यदि आवश्यक हो तो ऐसा करते समय दरवाजे व खिड़कियों को बंद कर देना चाहिए। एक बार शरीर का एक ही भाग खुला रहना चाहिए (चित्र 53.5)। स्पंज करने के लिए दो कपड़ों का प्रयोग किया जाना चाहिए—एक सिर साफ करने के लिए और दूसरा बाकी शरीर को। चिलमची का पानी आवश्यकतानुसार बदला जाना चाहिए। आंखों पर साबुन नहीं मलना चाहिए। आंखों और चेहरे के बाद क्रम से बाहें, हाथ, गर्दन, बगलें, छाती, उदर, टांगें और फिर पैर धोये जाने चाहिए और इनके पश्चात् पीठ, ऊरु-मूल और जननांग। पीठ साफ करते समय पीठ की देखभाल

चित्र 53.5—शय्या स्नान कराना

की जानी चाहिए, जिसका वर्णन अब बाद में किया गया है। इस क्रियाविधि के दौरान बिस्तर या शय्या को पुरानी साफ धोती व साड़ी से ढक कर सुरक्षित रखना चाहिए। परिचारिका (नर्स) को ऐप्रन पहनकर अपने कपड़ों को बचाकर रखना चाहिए। रोगी ने यदि खाना खाया हो तो तुरंत बाद स्पंज नहीं करना चाहिए।

5. पीठ की देखभाल :

लंबी बीमारी में रोगी अपना अधिकांश समय बिस्तर पर ही बिताता है। लेटी हुई अवस्था में शरीर का सारा बोझ पीठ, नितंब और एड़ी व गुल्फ सरीखे अन्य दाब-बिंदुओं को संभाले रहना पड़ता है। ये बोझ वहन करने वाले सामान्य क्षेत्र नहीं हैं इसलिए लगातार दबाव व बोझ पड़ने से इन क्षेत्रों की त्वचा फट जाती है। त्वचा के इस फटने को शय्या-व्रण (बेड सोर) कहते हैं। इससे बचने के लिए रोगी की संस्थिति बदलती रहनी चाहिए, और बिस्तर को नियमित रूप से साफ रखना चाहिए। बिस्तर में सिकुड़नें, मोड़, गंदगी और नमी नहीं रहनी चाहिए। इसके अतिरिक्त स्नान कराते समय पीठ और दाब-बिंदुओं की

चित्र 53.6—पीठ की देखभाल

देखभाल निम्नलिखित प्रकार से करनी चाहिए :

पीठ और दाब-बिंदुओं को समान रूप से दृढ़ रगड़ से साफ किया जाना चाहिए (चित्र 53.6)। इनको साबुन व पानी से साफ करके सुखा देना चाहिए। सुखाने के बाद इस सारे क्षेत्र में मिथिलेटेड स्पिरिट मली जानी चाहिए और फिर टैल्कम पाउडर छिड़क लेना चाहिए। इससे पीठ व अन्य दाब बिंदुओं की त्वचा सुदृढ़ हो जाती है और शय्या-व्रण नहीं होते। यदि रोगी बहुत बीमार व कृश है तो पीठ की देखभाल दिन में हर चार घंटे बाद की जानी चाहिए।

6. बालों की देखभाल :

रोगी के बालों पर एक बार सुबह और एक बार शाम को कंघी की जानी चाहिए। इससे शिरोवल्क उद्दीपित होता है। रोगी यदि लंबे बालों वाली स्त्री है तो उसके बालों में मांग निकालकर कान के पीछे दो चोटियां गूंथ लेनी चाहिए। प्रत्येक चोटी के अंत में रिबन या फीता बांध दिया जाना चाहिए। कंघी बहुत होले-होले करनी चाहिए और पहले सिरों पर और फिर धीरे-धीरे जड़ों तक पहुंचना चाहिए। इस तरह कंघी करते समय बहुत कम बाल गिरेंगे। यदि रोगी बहुत लंबे समय से बीमार है तो हफ्ते में एक बार बालों को धोना जरूरी है। गृह परिचारिका को बहुत अधिक बीमार रोगी के बाल नहीं धोने चाहिए जब तक कि उसे इसका अधिक अभ्यास न हो या जब तक उसे किसी सुप्रशिक्षित परिचारिका की सहायता न प्राप्त हो।

7. दवाइयां देना :

कायचिकित्सक द्वारा दवाइयां रोग का उपचार करने और रोगी की परेशानी दूर करने के लिए बताई जाती हैं। दवा का गिलास या प्याला दवाई देने के लिए सुरक्षित पात्र हैं।

यदि रोगी बिस्तर से उठ नहीं सकता और असहाय है तो दवाई पिलाने के पहले कुल्ला करवाना और दवाई पिलाने के बाद गरारे करवाना जरूरी है। दवाई पिलाने के बाद फल का टुकड़ा या फल का रस भी दिया जा सकता है।

यह देखना गृह परिचारिका का कर्त्तव्य है कि सही दवाई सही समय पर दी जा रही है या नहीं और यह भी कि दवाई की मात्रा ठीक दी गई है। दवाई की डोज़ लेने के पहले बोतल को अच्छी तरह हिला लेना चाहिए। बिस्तर के एक ओर लगे चार्ट पर दवाई की डोज़ लिख ली जानी चाहिए। यदि रोगी टिकिया निगलने में असमर्थ है तो उन्हें कूट-पीस कर चूर्ण रूप में कर दिया जाना चाहिए और यदि कोई दवाई कुछ कड़वे स्वाद वाली है तो उसमें थोड़ा शहद या चीनी मिला दी जानी चाहिए। यदि रोगी का मुंह सूख रहा हो तो दवा देने से पहले पानी पिला देना चाहिए। जो दवाइयां रोगी को वर्तमान समय में पिलाई जा रही हैं उनको अन्य सामान्य दवाइयों से अलग रखना चाहिए। सभी दवाइयों को इस तरह भंडारित करके रखना चाहिए कि वे बच्चों, की पहुंच में न आ सकें। वे दवाइयां जो मुंह द्वारा नहीं ली जा सकती हैं और जिन पर 'विष' लिखा रहता है, अलग रखी जानी चाहिए।

8. शय्या या बिस्तर तैयार करना :

गृह परिचारिका को यह आना चाहिए कि रोगी के बिस्तर में रहते हुए बिस्तर कैसे तैयार किया जाता है। इस क्रियाविधि का प्रयोजन यही है कि बिस्तर साफ-सुथरा रहे और रोगी को भी कोई परेशानी न पहुंचे।

पीठ की देखभाल के लिए साफ लिनन और सभी जरूरी चीजें इकट्ठी कर ली जानी चाहिए। यदि रोगी असहाय है और उसके गिरने का अंदेशा है तो किसी दूसरे व्यक्ति को परिचारिका की सहायता करनी चाहिए।

बिस्तर और बिस्तर के पार्श्व भी साफ कर लिए जाने चाहिए और ऊपर के कपड़े ढीले करके या खिसका कर निकाल देने चाहिए। रोगी को एक चद्दर से ढक कर रखना चाहिए। तकिए को निकाल देना चाहिए। परिचारिका को रोगी के एक ओर खड़ा होना चाहिए और रोगी की एक टांग को दूसरी टांग पर रखने के उपरांत उसे धीरे से दूसरी ओर पलटा देना चाहिए। यदि आवश्यकता हो तो सहायक को दूसरी ओर खड़ा होकर सहारा देकर उसे गिरने से बचाना चाहिए। यदि रोगी बहुत बीमार और कृश है तो उसकी पीठ की देखभाल इसी अवस्था में की जानी चाहिए। इससे अतिरिक्त परिश्रम की बचत हो जाती है।

नीचे के कपड़ों को ढीला करके एक-एक करके लपेट कर रोगी की पीठ के पास लाए जाने चाहिए (चित्र 53.7)। गद्दे को झाड़ कर साफ करना चाहिए। नीचे के कपड़ों को एक के बाद दूसरे पर रखना चाहिए। चद्दर के ऊपरी हिस्से को सबसे पहले अंदर कस कर प्रविष्ट करना चाहिए और उसके बाद पार्श्व से। इसके बाद एक ताजा धुला मैकिन्टाश रखकर खींचने वाली चद्दर भी प्रविष्ट करनी चाहिए।

फिर सहायक के साथ स्थान बदलकर रोगी को अब धीरे से दूसरी तरफ बिस्तर के लिपटे कपड़ों
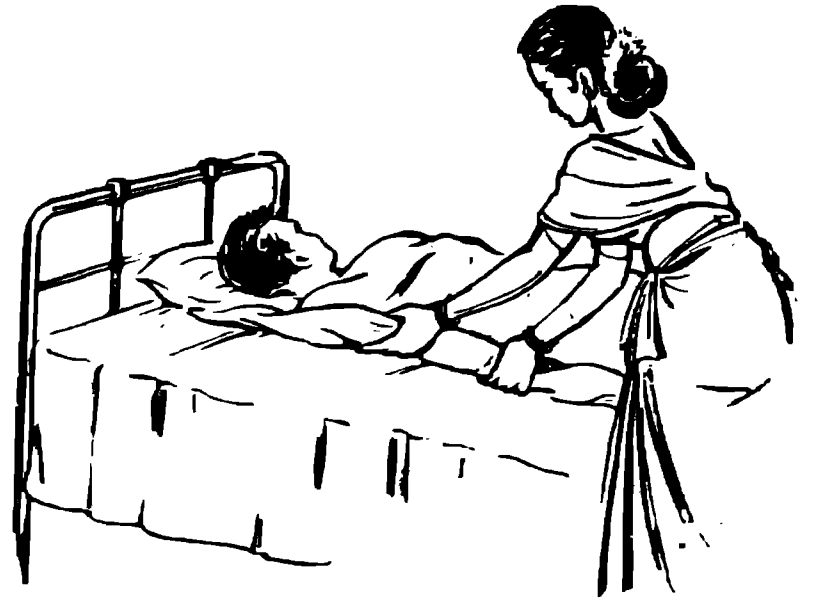
चित्र 53.7—शय्या की तैयारी

में पलट देना चाहिए। इसके बाद गंदे कपड़ों को निकाल देना चाहिए। अब बिस्तर के दूसरे आधे भाग को झाड़कर साफ किया जाता है और फिर नीचे के नए कपड़ों को बिछाकर और सहेज कर बिस्तर की तैयारी पूरी होती है। नीचे का चद्दर बहुत कसकर बिछाई जानी चाहिए और उसमें कोई मोड़ या झुर्रियां नहीं होनी चाहिए।

अंत में, ऊपर के कपड़ों को आवश्यकतानुसार बदल देना चाहिए और ऊपरी हिस्से को सामान्य प्रकार का बना देना चाहिए। तकिए को झाड़कर बदल देना चाहिए। यह सब कहने का मतलब यही है कि रोगी सुविधाजनक स्थिति में रहे। इस पूरी क्रियाविधि में सावधानी यह रहनी चाहिए कि रोगी को किसी प्रकार की सिहरन न हो। शय्या का बाकी भाग गीले झाड़न से पोंछा जाना चाहिए और यह भी ध्यान रखना चाहिए कि रोगी के इर्द-गिर्द सब साफ सुथरा रहे।

9. एनिमा या गुद वर्तिका देना :

एनिमा का अर्थ है मलाशय के माध्यम से बृहदांत्र में तरल को प्रविष्ट करना। बिस्तर पर पड़े-पड़े रोगियों को प्रायः कब्ज हो जाता है और डाक्टर के आदेशानुसार मध्यम प्रकार से पेट साफ करने या रेचन का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए ही एनिमा दिया जाता है। कभी-कभी एनिमा दवा

के माध्यम के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है। इसे धारण-एनिमा (रीटेंशन एनिमा) कहते हैं।

एनिमा देने के लिए जो विशेष उपस्कर होते हैं उसमें रबड़ की नली वाला एनिमा पात्र (चित्र 53.21), मलाशयी नलिका और क्लैम्प होते हैं। यदि रोगी इतना कमजोर है कि शौचालय नहीं जा सकता तो बेड-पैन या शय्या मलपात्र को सुविधा-जनकस्थिति में रखा जाना चाहिए।

इस्तेमाल किए जाने वाले पानी की मात्रा करीब 5 से 10 लीटर और इसका तापमान करीब 38° सेंटीग्रेड (100° फारेनहाइट) होना चाहिए। पानी की इस मात्रा में एक चाय के चम्मच के बराबर साबुन का झाग मिला देना चाहिए। एनिमा देने के पहले कमरे के दरवाजे व खिड़कियां बंद करके या पर्दा लगाकर तनिक एकांत या छिपाव अवश्य कर लेना चाहिए। रोगी को क्रिया-विधि समझा देनी चाहिए।

बिस्तर को बचाने के लिए मैकिन्टॉश का टुकड़ा और साड़ी या धोती बिछा देनी चाहिए। जब एनिमा दिया जाय तो कैन या बाल्टी जसे पात्र को बिस्तर से तीन चौथाई मीटर (2.5 फुट) से अधिक ऊंचाई पर नहीं होना चाहिए। रोगी को बाईं करवट लिटाना चाहिए। तकिए को हटा लेना चाहिए। मलाशयी नलिका के सिरे पर थोड़ा-सा वैसलीन लगा लेना चाहिए। साबुन के पानी से झाग हटाकर थोड़ा पानी बहने दीजिए ताकि मलाशय में हवा प्रविष्ट न हो जाय। फिर बिना किसी जोर के नलिका को मलाशय में प्रविष्ट करके और नली को आधा खुला रख कर धीरे-धीरे पानी बहने देना चाहिए। इस प्रक्रिया में (चित्र 53.8) रोगी को मुंह द्वारा सांस लेने के लिए कहना चाहिए, ताकि एनिमा वाला पानी वहां कुछ अधिक देर तक रह जाय। इससे आंत्र की सफाई अच्छी तरह से हो जाती है। अब मलाशयी नलिका को निकाल देना चाहिए लेकिन कैन या बाल्टीनुमा पात्र में कुछ पानी अवश्य रहना चाहिए ताकि

चित्र 53.8—एनिमा देना

मलाशय में हवा जाने से रोका जा सके। रोगी द्वारा बेड-पैन या शय्या मलपात्र में मलाशय से मल आदि विसर्जन करने के उपरांत, उसकी सफाई करके उसे आराम करने देना चाहिए। इसका परिणाम डाक्टर को बता देना चाहिए।

10. ग्लिसरीन-सिरिंज देना :

इसका प्रयोजन भी एनिमा की ही तरह है। प्राय: ग्लिसरीन-सिरिंज बच्चे के लगाई जाती है। 30 से 60 मि. लीटर ग्लिसरीन एक विशेष सिरिंज द्वारा मलाशय में प्रविष्ट की जाती है। यह साव-धानी रखनी जरूरी है कि जोर लगाकर मलाशय को क्षति न पहुंचे क्योंकि इस सिरिंज की टोंटी मलाशयी नलिका टोंटी से अधिक कड़ी होती है।

यह क्रियाविधि समाप्त हो रही है और अब आंत्र की सफाई के लिए सामान्यतया ग्लिसरीन वर्तिका या साबुन की साधारण बत्ती का प्रयोग किया जाता है। इस वर्तिका को जब मलाशय में प्रविष्ट करते हैं तो वह शरीर की गरमी से पिघल जाती है और आंत्र साफ करने में ग्लिसरीन-सिरिंज का कार्य करती है।

11. शय्या मलपात्र (बेड-पैन) का प्रयोग :

शय्या मलपात्र (चित्र 53.21) का प्रयोग उस रोगी द्वारा किया जाता है जो इतना कमजोर होता है कि शौचालय नहीं जा सकता। बेड-पैन के इस्तेमाल के पहले दरवाजे व खिड़कियां बंद करके या पर्दा लगाकर एकांत या छिपाव अवश्य कर लिया जाना चाहिए। बिस्तर वाले बड़े कपड़ों को निकाल लिया जाता है कि वे गंदे न हो जायं। बिस्तर को गंदा होने से बचाने के लिए मैकिन्टॉश और पुराने कपड़े का टुकड़ा बिछा दिया जाता है।

वे रोगी जो बहुत अधिक बीमार हों उनको शय्या मलपात्र देने के पहले उसे गरम पानी से खंगालकर थोड़ा गर्म कर देना चाहिए। यदि रोगी बहुत कृश है तो शय्या मलपात्र का किनारा उसे चुभ सकता है। इसे बचाने के लिए किनारे को किसी पुराने कपड़े या रूई से ढक देना चाहिए। बहुत अधिक बीमार रोगियों को शय्या मलमात्र का प्रयोग करते समय अकेले नहीं छोड़ना चाहिए। यदि शौच के बाद सफाई वाला काम रोगी स्वयं नहीं कर सकता तो गृह परिचारिका को चाहिए कि वह साबुन, गर्म पानी, कपड़े के टुकड़े या रूई की सहायता से रोगी की सफाई अच्छी तरह से कर दे। क्रियाविधि के उपरांत रोगी को स्वच्छ और आरामदेह स्थिति में रखा जाना चाहिए।

12. गर्म पानी की बोतल का प्रयोग :

जब कभी रोगी की शाखाओं के सिरों में गरमी की आवश्यकता होती है तभी गर्म पानी की बोतल (चित्र 53.22) का प्रयोग किया जाता है। बोतल को हमेशा ढका रहना चाहिए ओर रिसने वाले स्थलों को प्रयोग से पहले देख लिया जाना चाहिए। डाट लगाने के पहले हवा निकाल लेनी चाहिए और बोतल पूरी तरह से नहीं भरी जानी चाहिए। पानी का तापमान करीब 70° सेंटीग्रेड (160° फारेनहाइट) रहना चाहिए। लेकिन यदि रोगी अचेत है तो जलन से बचाने के लिए तापमान केवल 50° सेंटीग्रेड (120° फारेनहाइट) होना चाहिए। इस निमित्त रोगी और बोतल के बीच में कंबल रहना चाहिए। इस बोतल की स्थिति को आवश्यकता के अनुसार बदलते रहना चाहिए।

13. आइस कैंप या बर्फ की थैली (टोपी) का प्रयोग :

स्थानिक रूप से शरीर में बाहर से ठंडाई पहुंचाने का यह एक साधन है। प्रायः अधिक या स्थानिक शोथ को कम करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। सिर या उदर में बर्फ की टोपी (आइस कैंप) का प्रयोग करते समय इसमें बर्फ के टुकड़ों को हल्की-फुल्की तरह से भरना चाहिए। इसे हमेशा कपड़े से ढका जाना चाहिए। परिचारिका को यह निगरानी रखनी चाहिए कि स्थानिक रूप से कहीं नील तो नहीं पड़ रहा है और यदि ऐसा हो तो उसको बचाने का प्रयत्न रखना चाहिए। थैली में से कहीं पानी नहीं रिसना चाहिए।

गर्म पानी की बोतल और बर्फ की टोपी (कैंप) के प्रयोग के बाद वाली देखभाल बहुत महत्व की होती हैं। गरमी और नमी के कारण रबड़ की चीजें खराब होने लगती हैं। इसलिए अच्छी तरह से साफ करने के उपरांत इन थैलियों को छांह में अच्छी तरह से सुखा लेना चाहिए, इनके बाहर और भीतर टैल्कम पाउडर लगा देना चाहिए और ऐसा करने के उपरान्त इन्हें अंधेरे ठंडे स्थान में रख देना चाहिए।

14. अभिश्वसन या भाप सुंघाना :

यह सुंघाना नम या सूखा दोनों तरह से हो सकता है। इस औषधियुक्त भाप से सूंघने का प्रयोजन यही है कि ऊपरी श्वसन-पथ की श्लेष्मा झिल्ली का शोथ या सूजन व रक्ताधिक्य कम हो

जाय, विर्सजन अच्छी तरह से हो जाय और क्षोभ कम हो जाय।

इस प्रयोजन के लिए जिस विशेष चीज की जरूरत होती है वह है एक जग या एक केतली या नियमित इनहेलर। रोगी को क्रियाविधि समझा देनी चाहिए। केतली में टोंटी के अंदर वाले छेद से कुछ नीचे तक उबलता पानी डालना चाहिए (चित्र 53.9)। प्रति दो लीटर पानी में टिंक्चर बेंजोइन आधा चाय वाला चम्मच की दर से डालना चाहिए। केतली को फिर ढक कर टोंटी पर रूई के फाहे की डाट लगा देनी चाहिए। इसके बाद केतली को तौलिए से ढक कर दूसरे चौड़े बर्तन में रख देना चाहिए ताकि जलने से बचा जा सके। रोगी को बैठने के लिए कहा जाना चाहिए और केतली वाला बर्तन उसके सामने मेज या संदूक पर रखा जाना चाहिए। फिर टोंटी के मुंह पर लगा रूई का फाहा निकाल कर उसके चारों ओर कपड़े का टुकड़ा लपेट देना चाहिए। रोगी को अब टोंटी के छेद से सूंघने या सांस खींचने को और फिर नाक से सांस छोड़ने को कहा जाना चाहिए। इस प्रकार उसे तब तक सूंघते या सांस लेते और सांस छोड़ते जाना चाहिए जब तक कि भाप रहती है। इसके बाद रोगी को बिस्तर में
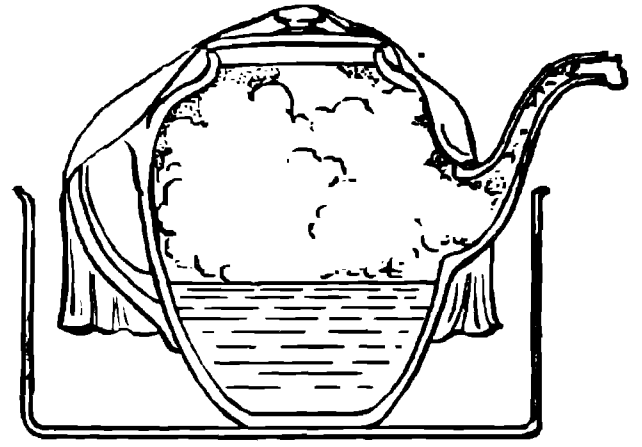
चित्र 53.9—भपारा लेने वाली केतली

अपने आप को ढक कर लेट जाना चाहिए ताकि उसे ठंड न लग जाय।

बिना औषधिवाला भपारा बहुत अधिक बीमार व्यक्तियों और बच्चों के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। निरंतर भपारा लेने के निमित्त रोगी के लिए एक अनुकूलित तंबू बनाकर उबलते पानी की केतली को बिस्तर के नजदीक जमीन पर जलते स्टोव में रखा जा सकता है।

15. डाक्टर के लिए रिकॉर्ड तैयार करना :

किसी बीमार व्यक्ति की देखरेख जब घर में की जाती है तो परिचारिका को डाक्टर के अवलोकन के लिए महत्वपूर्ण बातों का रिकॉर्ड रखना चाहिए। यह निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है :

तारीख : 22-7-1967		बीमारी की तारीख—चौथी			
तापमान :	8.00 बजे सुबह	12.00 बजे	4.00 बजे	8.00 बजे	10.30 बजे रात
	37.2°	38.4°	39°	39.3°	3.88°
प्रेक्षण	अच्छी तरह से नहीं सोया, बेचैन लगता है;				
शिकायतें	सिरदर्द बताता है, टट्टी नहीं, पेशाब गहरे रंग की।				
औषधि	एनिमा दिया गया है। परिणाम : काली विष्ठा थोड़ी मात्रा में विसर्जित हुई।				
उपचार, भोजन आदि	9 बजे सुबह स्पंज किया गया। 8 बजे सुबह, 2 बजे दोपहर और 8 बजे शाम मिक्स्चर दिया गया। 11 बजे सुबह डॉक्टर द्वारा इंजेक्शन दिया गया। चाय 7 बजे सुबह और चार-चार घंटे बाद दूध व कॉफी दी गई। एक गिलास फलों का रस दोपहर को दिया गया।				

तापमान के चार्ट के लिए परिशिष्ट (पृष्ठ 415) देखिए।

• • •

54

—डा० आर० के० मुटाटकर
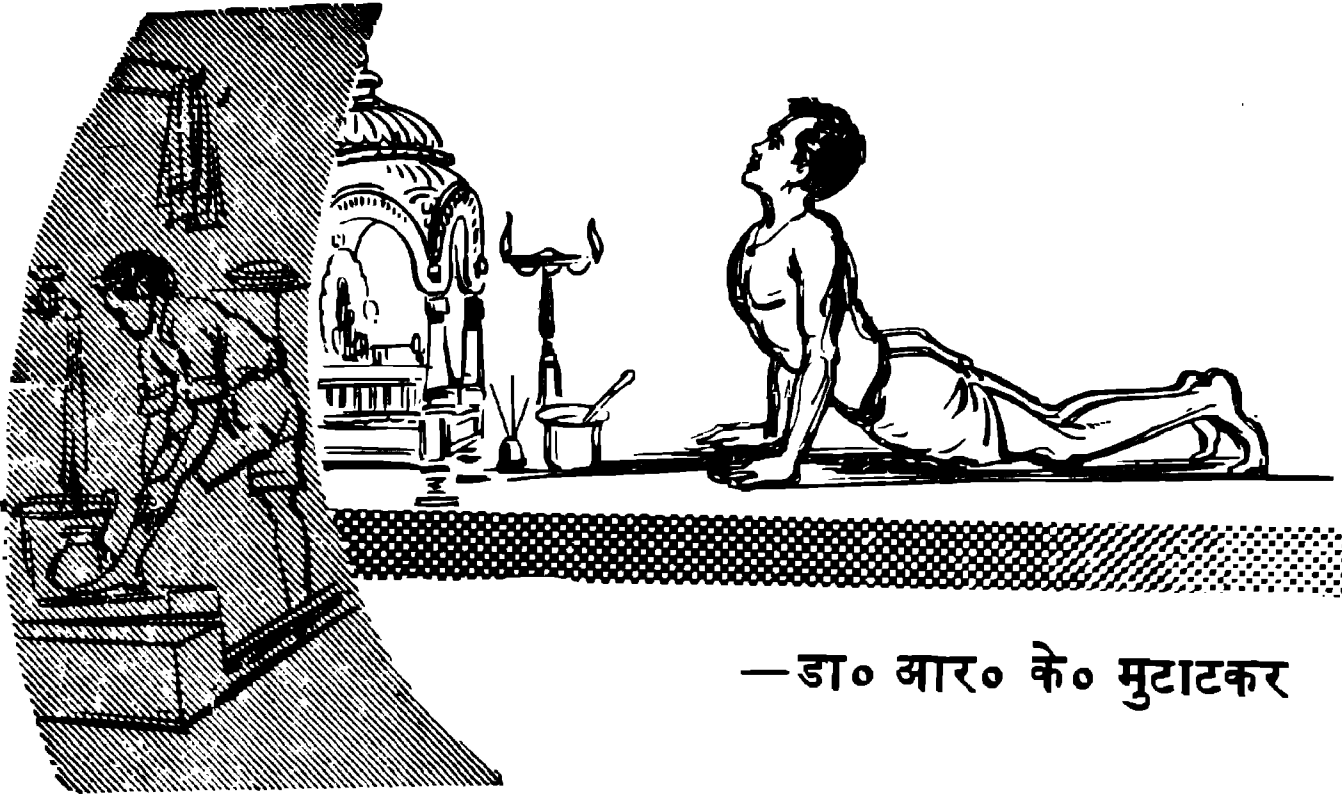
सामाजिक प्रथाएं और स्वास्थ्य

प्रत्येक व्यक्ति का ध्येय होता है खुशी। लेकिन खुशी और दक्षता का सबसे महत्वपूर्ण कारक है अच्छा स्वास्थ्य। समग्र रूप से मानव समाज का हरएक सामाजिक वर्ग अपने सदस्यों या इकाइयों के स्वास्थ्य के सुधार के लिए प्रयत्न करता रहता है भले ही वह परिवार सरीखा प्राथमिक वर्ग हो या उससे जटिल प्रकार का राष्ट्रीय स्तर का वर्ग हो।

स्वास्थ्य तभी बना रह सकता है जब व्यावहारिक रूप से कुछ नियमितताएं बरती जाती हैं, जैसे कि आहार, व्यायाम, विश्राम और आवश्यकता के अनुसार औषधि सेवन। इन नियमितताओं का आधार सांस्कृतिक होता है और एक समुदाय से दूसरे समुदाय में इनका स्वरूप भिन्न होता है। प्रत्येक सामाजिक वर्ग में खाने, बातचीत करने, मिलने-जुलने, पूजा करने, बड़े-बूढ़ों की सेवा करने की अनेक मान्य विधियां हैं। व्यवहार या आचार-विचार की ये विधियां ही समाज की प्रथाएं होती हैं। सामान्यतया लोग वर्ग विशेष की प्रथाओं के अनुसार ही चलते हैं और इन प्रथाओं से विचलन करना अच्छा नहीं माना जाता और ऐसा करने पर समाज द्वारा दंड दिया जाता है। व्यक्ति अपने वर्ग विशेष के रीति-रिवाजों और प्रथाओं के प्रति इतना अभ्यस्त होता है कि वह किसी भी प्रथा में कोई गलती नहीं करता।

भोजन संबंधी प्रथाएं :

स्वास्थ्य बनाये रखने में भोजन एक महत्वपूर्ण कारक है। अधिकांश समाजों में भोजन ठंडे या गरम और हल्के या भारी वर्गों में वर्गीकृत किया जाता है। तापमान की विभिन्नता, पकाने या अन्य संसाधन प्रक्रियाओं से अधिकांश खाद्य पदार्थों की गर्म या ठंडी प्रकृति में परिवर्तन नहीं होता। पेरू में 'कच्चा' पानी 'ठंडा' और 'पकाया' पानी 'गर्म' माना जाता है। प्रथा के अनुसार बीमारी में उबला पानी पिया जाता है क्योंकि परंपरा के अनुसार उबालने का उद्देश्य जीवाणुओं का निराकरण नहीं बल्कि उबले पानी के 'ठंडेपन' वाले गुण को दूर करना है। पानी से जीवाणु संदूषण वाला विचार तो उनके दिमाग में कौंध ही नहीं सकता।

* * * *

डा. आर. के. मुटाटकर, एम. ए., पी-एच. डी., डेक्कन कालेज विश्वविद्यालय स्नातकोत्तर तथा अनुसंधान संस्थान, पूना।

भोजन संबंधी विचार जाति व धर्म सरीखे सामाजिक कारणों से भी निर्देशित होते हैं। हिन्दू लोग गोमांस नहीं खाते लेकिन वे मटन, मछली, मुर्गी खा सकते हैं। मुसलमान लोग धार्मिक कारणों से सूअर का मांस नहीं खाते। भारत में खाद्य पदार्थों से कुछ पवित्र भावनाएं भी जुड़ी हुई हैं जो व्यक्ति के नैतिक चरित्र से संबद्ध होती हैं। ब्राह्मण लोग आमिष भोजन नहीं करते यहां तक कि प्याज व लहसुन सरीखे शाक भी नहीं। ऐसे 'गर्म व उत्तेजक' मसालों के उपयोग से व्यक्ति की यौन भावनाएं भड़क जाती हैं।

खाद्य पदार्थों के इन विहित गुणों और रोग उत्पन्न करने व ठीक करने में इनकी भूमिका के संबंध में जो विभिन्न धारणाएं हैं उनका कोई भी वैज्ञानिक आधार नहीं है। एक समुदाय में दूध के उत्पाद या पदार्थ शक्तिदायक समझे जाते हैं तो दूसरे में वे वर्जित होते हैं।

व्रत या उपवास :

व्रत या उपवास आत्मशुद्धि की सुस्थापित युक्ति हो गई है। बहुत अधिक उपवास से सिरदर्द व अरक्तता सरीखे रोग हो जाते हैं। दूसरी ओर 'व्रत' में ऐसे खाद्यपदार्थों को खाने की अनुमति होती है जिनमें कि कार्बोहाइड्रेटों की बहुत अधिक मात्रा होती है और इससे पाचन-तंत्र को आराम मिलने के बजाय उसमें और अधिक बोझ लद जाता है। भारत में शरीर रचनात्मक और शरीर क्रियात्मक धारणाओं के अतिरिक्त मानव शरीर को समझने के लिए अन्यपहलू भी हैं। इसके तीन लक्षण बताए गए हैं : सत्व, रज और तम और यह माना जाता है कि उपवास करने से 'सत्व गुण' की अधिक उपलब्धि के परिणामस्वरूप 'मोक्ष' की प्राप्ति की जा सकती है। कुछ विसर्जित किए जाने वाले पदार्थों जैसे कि गोमूत्र और गोबर को शुद्धिकारक समझा जाता है। गोमूत्र को पीने से कहते हैं शरीर की कई व्याधियां दूर हो जाती हैं। एक लेखक ने तो मधुमेह के उपचार के लिए अपने ही मूत्र को पीने की सिफारिश की है।

स्वच्छता संबंधी विचार :

स्वच्छता, अस्वच्छता और गंदगी संबंधी विचार सारी दुनियां में अलग-अलग प्रकार से हैं। ब्राह्मण की रेशमी धोती हमेशा ही धार्मिक रूप से शुद्ध समझी जाती है, भले ही वह कितनी गंदी क्यों न हो। कुछ लोगों का विश्वास है की घर में जूते पहने रखना एक गंदी आदत है लेकिन कुछ लोग पूरे घर में जूते-चप्पल पहने हुए घर के सभी भागों में घूमते रहते हैं। भारतीय संस्कृति में अभी तक भी सारा कामकाज फर्श पर ही होता है और बच्चे भी फर्श पर ही घिसटने दिए जाते हैं। घर में जूते चप्पल पहनकर चलने वाली आदत से कहते हैं कि घर में संक्रमण होता है। पहले खाना खाने के बाद कुल्ला करने की आम आदत थी। लेकिन अब तथाकथित पाश्चात्य सभ्यता वाले लोग कुल्ला नहीं करते और इस तरह वे दंतक्षय आदि का खतरा मोल लेते हैं।

उत्तरी मध्य प्रदेश के कई गांवों में लेखक ने घरों में कोई भी संवातन-व्यवस्था नहीं देखी। वहां वालों का यह विश्वास था कि संवातन-स्थलों या रोशनदानों से बुरी आत्माएं घर में प्रविष्ट करती हैं और घर में रहने वालों में रोग उत्पन्न करती हैं।

रोग :

रोग के कारण और उपचार संबंधी विचार सामाजिक रीति रिवाजों के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। अफ्रीका में, जूलूस के लोगों के अनुसार कष्टपूर्ण श्वास, छाती में दर्द और खांसते समय खून से सना थूक आना किसी अशुभाकांक्षी की बुरी भावना का दुष्परिणाम माना जाता है। ऐसे में झाड़-फूंक वाले को बुलाया जाता है। भारत के गांवों में यह माना जाता है कि अत्यधिक यौन क्रिया कलापों, हस्त मैथुन अथवा मदिरापान से

व्यक्ति यक्ष्मा का शिकार जल्दी बन जाता है। गांव वाले यह भी मानते हैं कि अधिक मदिरापान के साथ-साथ यदि भोजन में घी और दूध की कमी है तो फेफड़े कमजोर हो जाते हैं और जिनका परिणाम होता है यक्ष्मा।

लोगों के दिमाग में बैठा हुआ एक सबसे बड़ा अंधविश्वास है माता या देवी माता का प्रकोप और यही ऐसा महत्वपूर्ण कारक है जिसके आधार पर चेचक के रोगियों का उपचार और देखभाल होती है। यह माना जाता है कि जब माता क्रुद्ध होती हैं, प्राय: जब लोगों द्वारा पूजा में असावधानी बरती जाती है, तो वह अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति चेचक के रूप में करती हैं। उनके दिमाग में इसकी संसर्गज प्रकृति के बारे में कोई स्पष्ट विचार नहीं होता। उनके लिए चेचक के उपचार के लिए देवी की पूजा और चढ़ावा अवश्यम्भावी है। खसरा में भी ज्यों ही शरीर में पिटिकाओं के प्रकट हो जाने से उन्हें निश्चित रूप से रोग का पता चल जाता है त्यों ही वे बच्चे को दवाइयां देना बंद कर देते हैं क्योंकि वे सोचते हैं कि इसमें दवाई देना हानिकारक होगा। उन्हें यह पता ही नहीं होता कि रोग के उपद्रव के रूप में श्वसनी-न्यूमोनिया (ब्रांको-न्यूमोनिया) सरीखे रोग भी हो सकते हैं। त्वचा के रोग शरीर में अतिरिक्त 'ऊष्मा या गरमी' उत्पन्न हो जाने के कारण भी समझे जाते हैं।

कुछ लोगों द्वारा यद्यपि कुछ रोग संक्रामक और कुछ संसर्गज समझे जाते हैं और उनमें रोग के रोगाणु सिद्धांत की भी समझ होती है लेकिन बहुत कम। अंधविश्वास या धारणा के अनुसार विभिन्न रोगों को मोटे तौर पर निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है :

1. पवित्र रोग : (i) दैविक प्रकोप के रोग, जैसे चेचक, छोटी माता, खसरा। (ii) दैविक यंत्रणा के रोग, जैसे कुष्ठरोग, बंध्यता। (iii) अधिप्राकृतिक प्रकोप के रोग, जैसे हिस्टीरिया, मिरगी। (iv) जादू-टोने के हेरफेर वाले रोग, जैसे बुरी नजर लगना और बच्चों के अनेक रोग।

2. सांसारिक या धर्मनिरपेक्ष रोग : मानव शरीर में असंतुलन के परिणामस्वरूप होने वाले रोग।

हिंदुओं में भयानक रोग पिछले जन्म से किए गए कर्मों का फल होता है। व्यक्ति यदि किसी चिरकारी रोग से पीड़ित है तो यह माना जाता है कि उसने अवश्य 'पिछले जन्म' में पाप किए होंगे। ऐसे में, रोगों का उपचार नैतिक दृष्टिकोण वाला होता है और ईश्वर को चढ़ावा देकर, पूजा करके तथा गरीबों को दान देकर रोग दूर करने का प्रयत्न किया जाता है।

सामाजिक परंपराओं की भूमिका :

इन विविध उदाहरणों से रोगी के कारणों और उपचारों में सामाजिक परंपराओं का योगदान परिलक्षित होता है। रोगों के कारण और उपचार से संबद्ध परंपराओं को तीन समूहों में बांटा जा सकता है : (क) वे जिनके लाभकारी प्रभाव होते हैं, (ख) वे जो प्रत्यक्ष रूप से रोग से संबद्ध न होते हुए भी प्रभाव उत्पन्न करते हैं, और (ग) वे जो हानिकारक होते हैं।

रोते बच्चों को अफीम देना बहुत आम प्रथा थी। इसी तरह रोते बच्चे को चुप कराने के लिए बार-बार स्तनपान कराया जाता है। कई समुदायों में बीमार व्यक्ति को घर के अंधेरे कोने में रखा जाता है और सारे दरवाजे व खिड़कियां भी बंद कर दी जाती हैं जो कि बहुत अस्वास्थ्यकर है। बीमार व्यक्ति की खैर-खबर लेने जाना एक मान्य परंपरा है। सामान्यतया लोग अस्पताल में बीमार की खैर-खबर लेने बच्चों के साथ जाते हैं और रोग संक्रमण के संदर्भ में अपना अज्ञान प्रदर्शित करते हैं। उत्तरी भारत और नेपाल के कुछ गांवों में रतिज रोग वाले प्रौढ़ व्यक्तियों में यह धारणा

प्रचलित है कि किसी क्वांरी लड़की के साथ मैथुन करने से रोग गायब हो जाएगा। ऐसे में जब तरुणियों का शील भंग किया जाता है तो इससे कभी-कभी कानून व प्रशासन संबंधी समस्यायें उठ खड़ी होती हैं। वैसे अब वर्तमान समय में 'इंजेक्शन' से लोगों के दिमाग में आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा है। इंजेक्शन की 'सूई' के द्रुत प्रभाव के लिए वे लालायित रहते हैं।

पुरानी और नई परंपराएं :

इन सब तथ्यों से हमें समाज के विभिन्न वर्गों में प्रचलित स्वास्थ्य संबंधी विविध धारणाओं की झांकी मिलती है। स्वास्थ्य संबंधी विशेष परंपरा की यथार्थता या अयथार्थता को आंकने के लिए केवल विज्ञान के मापदंड का प्रयोग किया जाना चाहिए। प्रयोग और तथ्यों पर आधारित आयु-विज्ञान के विकास से विभिन्न समुदायों में स्वास्थ्य संबंधी धारणाओं को वस्तुपरक दृष्टिकोण से आंका व परखा जाता है। इससे वैज्ञानिक आधार वाली परंपराओं को उत्साहित करते हुए बाकी परंपराओं को बदला जा सकता है। यह कोई जरूरी नहीं कि सभी पुरानी परंपराओं को पूरी तरह से स्वीकार या अस्वीकार किया जाय। अच्छी परंपराओं को बढ़ावा देते हुए बुरी परंप-राओं को स्वस्थ परंपराओं से बदल लिया जाना चाहिए।

* * * * *

रोग की कारण संबंधी भ्रांत धारणाओं और अजीब विचारों से व्यक्ति का दिमाग आरंभिक और उचित उपचार से पलट जाता है और इससे रोगी के जीवन को खतरा होता है। व्यक्ति की स्वास्थ्य और रोग संबंधी पहुंच वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित होनी चाहिए।

बुरी परंपराओं को, जो कि वैज्ञानिक तथ्य पर आधारित नहीं होती हैं, भले ही अस्वीकृत किया जाय लेकिन उत्तम स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए अच्छी परंपराओं का परिपालन करना बहुत आवश्यक है। इससे स्वतः ही अच्छी आदतें पड़ जाती हैं जो फिर व्यक्ति के जीवन का अंग ही बन जाती हैं।

—संपादक

• • •
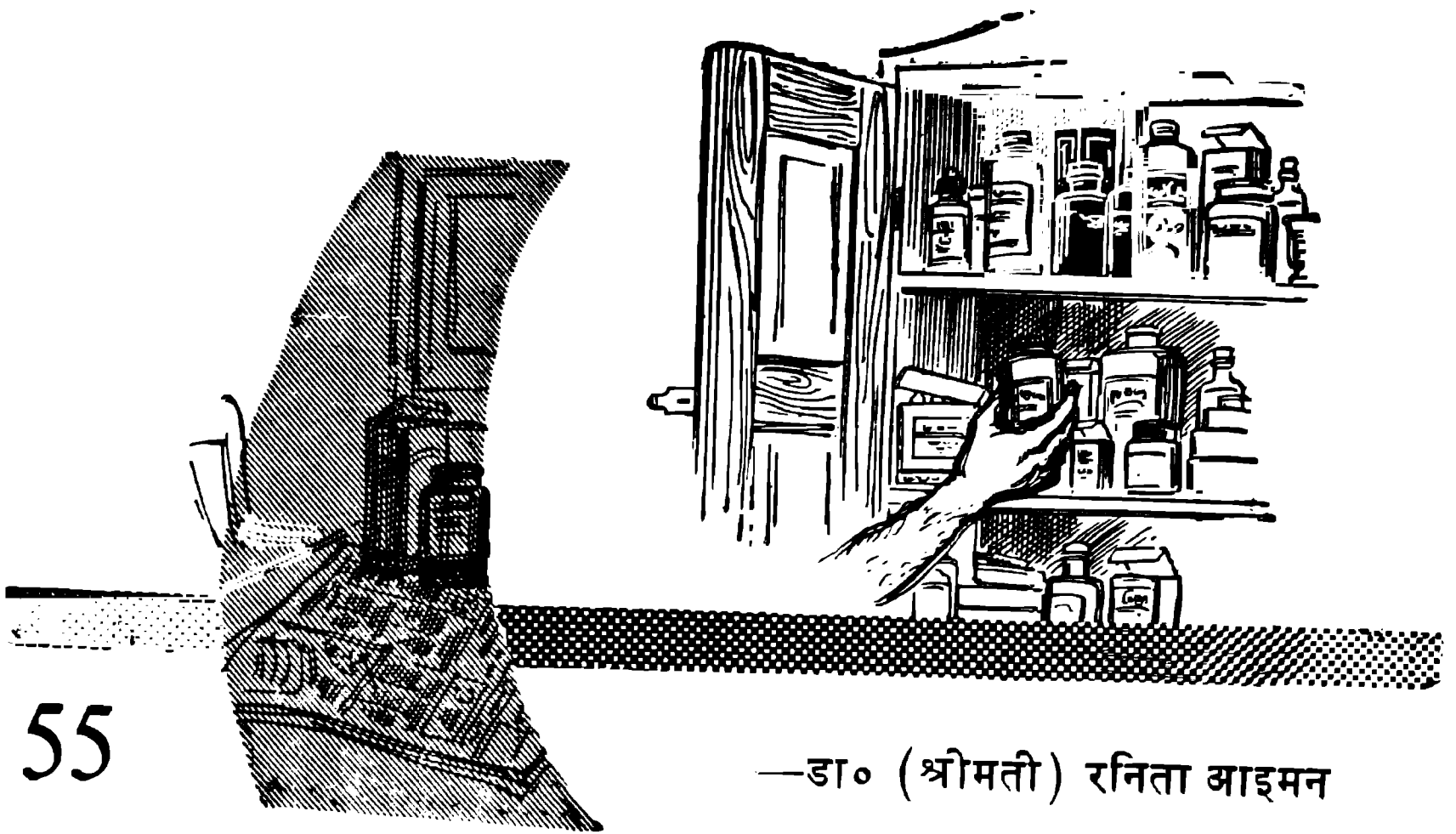
55

—डा० (श्रीमती) रनिता आइमन

अपना इलाज आप करना और औषधियों का दुरुपयोग

पुरानी दवाइयों के बदले नई दवाइयां :

'पुराना क्रम बदलता है और उसका स्थान नया क्रम लेता है' वाली कहावत औषधियों पर खरी उतरती है। आज के 90 प्रतिशत नुस्खे और औषधियों के विज्ञापन नए पदार्थों के हैं जो पिछले 15 वर्षों में ही विकसित हुए हैं। पुराने जमाने की लोकप्रिय दवाइयों को आलमारी के पिछले खाने में रख दिया गया है यानी उनका प्रचलन कम हो गया है। ये नयी औषधियां बहुत अधिक क्षमता वाली हैं और इनकी 'चमत्कारी' क्रिया रोग पर विजय प्राप्त करने में बहुत आगे है। लेकिन दवाइयों का गलत या अंधाधुंध उपयोग खतरनाक साबित हो सकता है, इसलिए औषधि प्रयोग के बारे में हमारे पुराने विचारों में परिवर्तन होना ही चाहिए।

कई लोग अपना इलाज स्वयं करते हैं। अपना इलाज आप करने का मतलब है, आम जनता द्वारा रोग के उपचार व निरोध के निमित्त बिना सही या पूर्ण आयुर्विज्ञानीय सलाह के अपने आप दवाइयों का सेवन करना। यह शब्द या पद औषधि संबंधी आदतों पर लागू नहीं होता यद्यपि कुछ विशेष प्रकार की दवाओं से ऐसी आदतें बन सकती हैं। अपने आप अपना इलाज करने वाली खतरनाक और गलत सुझाई गई विधि के कई कारण हो सकते हैं लेकिन इन कारणों का विश्लेषण करने के पहले 'औषधि' या सामान्य भाषा में 'दवाई' की संपूर्ण क्षमताओं का सम्यक् ज्ञान होना अच्छा रहता है।

औषधि की परिभाषा :

सामान्य तौर पर कहें तो कहेंगे कि औषधियां जटिल रसायन हैं जो शरीर के लिए बाहरी पदार्थ होते हैं यानी जो शरीर में सामान्यतया नहीं पाए जाते हैं। ये औषधियां अंगों या ऊतकों के कार्य की दर अथवा संरचना में परिवर्तन कर देती हैं, जैसे मदिरा या अफीम मस्तिष्क के कार्य को, डिजिटेलिस हृदय के कार्य को और ऐस्पिरीन तापमान व

* * * *

डा. (श्रीमती) रनिता आइमन, एम. बी., बी. एस. (मद.), एम. आर. सी. पी. (लन्द.), एम. आर. सी. पी. (इंग.), भूतपूर्व अध्यक्ष एवं प्रोफेसर फार्माकोलाजी, बी. जे. मेडिकल कालेज तथा ससून जनरल अस्पताल, पूना।

दर्द में परिवर्तन कर देती है। अधिकांशतया कोशिकाओं के भीतर होने वाली रासायनिक प्रक्रियाओं में बाधा पहुंचा कर ही ये औषधियां अपना असर पहुंचाती हैं जो कि अंग विशेष के कार्य का निर्धारण करती हैं—भले ही वह अंग मस्तिष्क, हृदय या अन्य कोई भी अंग हो। ये रासायनिक प्रक्रियाएं बहुत ही जटिल और बड़े नाज़ुक तरीके से संतुलित होती हैं कि तभी वे सामान्य और स्वस्थ कार्य कर पाती हैं। तब ये औषधियां—ये बाहरी रसायन—शरीर की कोशिकाओं में सामान्यरूप से विद्यमान रासायनिक पदार्थों से अभिक्रिया करते हुए अपना औषधि वाला प्रभाव दिखलाती हैं। इस प्रकार इस बात का अनुभव किया जा सकता है कि अत्यधिक औषधि प्रयोग शरीर की इस जटिल रासायनिक प्रयोगशाला को पूरी तरह से छिन्न-भिन्न कर सकता है जिसका परिणाम होगा प्रतिकूल विषालु या यहां तक कि घातक प्रभाव; ठीक ऐसे ही जैसे कि लापरवाही के कारण किसी रासायनिक फैक्टरी अथवा प्रयोगशाला में भयंकर विस्फोट होना।

एक अजानकार व्यक्ति को ऑपरेशन करने की बात कभी नहीं सोचनी चाहिए, जैसे कि ऑपरेशन द्वारा टॉन्सिल, अथवा उंडुकपुच्छ (अपेन्डिक्स) निकालना अथवा विद्रधि को चीर कर खोलना। सर्जन का चाकू संरचनाओं—टांसिलों, अपेन्डिक्स आदि—के स्तर पर चलता या कार्य करता है लेकिन औषधि कोशिकाओं के भीतर अपेक्षतया अधिक आधारभूत जीवरासायनिक रचनाओं के स्तर पर कार्य करती है। अत: तार्किक दृष्टि से सर्जन के चाकू की अपेक्षा औषधि को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए। औषधियों को यदि सही तरह से और सावधानी से इस्तेमाल किया जाय तो वे जान बचा सकती हैं और कोशिकाओं की फैक्टरियों को वे पुन: सामान्य कार्य वाली अवस्था पर ला सकती हैं जो कि रोग के दौरान गड़बड़ा जाती हैं।

अपना इलाज आप करने के कारण :

सामान्यतया लोग अपना इलाज या तो छोटी-मोटी कही जाने वाली व्याधियों के लिए या रोग के निरोध के लिए करते हैं। ऐसे लोग स्वास्थ्य के संबंध में काफी अधिक ध्यान रखते हैं लेकिन विडंबना यह है कि सही देखभाल के लिए उनकी गलत जानकारी रहती है। बाकी लोग अपने डाक्टर से परामर्श तो लेते हैं लेकिन बाद में बिना सलाह व निरीक्षण के दवाई लेते रहते हैं या उनके अलावा और दवाइयां भी लेने लगते हैं या अपने ही हिसाब से या स्वतंत्र रूप से प्राय: दोस्तों की सलाह के अनुसार अनुसूची में परिवर्तन कर देते हैं। उनके लिए डाक्टर का निदान इसीलिए होता है कि फिर वे स्वयं अपने उपचार की व्यवस्था करें। उच्च रक्त दाब की व्यवस्था में यह आम बात है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो आकर्षक विज्ञापनों और उनके जबरदस्त दावे का शिकार हो जाते हैं। ब्रिटिश मेडिकल ऐसोसिएशन ने एक बार चमत्कारी प्रभावों के दावे वाली कई पेटेन्ट औषधियों का विश्लेषण करवाया। ऐसी ही एक दवाई में, दावे में जिसको एक उत्कृष्ट टॉनिक कहा गया था, विश्लेषण के उपरांत केवल थोड़ा ग्लूकोज और $2\frac{1}{2}$ प्रतिशत एल्कोहॉल पाया गया। इसी तरह र्‍यूमेटिज्म का द्रुत और स्थायी उपचार करने वाली एक औषधि में केवल ऐस्पिरीन पाई गई। अपने आप इलाज करने वाली दवाई के इस प्रकार के विज्ञापन में काफी पैसा बहाया जाता है। इलाज का एक तरीका और भी है कि परिवार में एक सदस्य के बीमारी वाले पड़े हुए नुस्खे के आधार पर उससे मिलती-जुलती बीमारी में परिवार के दूसरे सदस्य द्वारा उसका प्रयोग कर लिया जाता है।

अपने इलाज आप करने से संबद्ध औषधियों में, विटामिनों और तथाकथित टॉनिकों के अलावा, आम हैं दर्दहर दवाएं, मृदु विरेचक, रक्त शोधक

दवाएं तथा जोड़ों के कष्टों, पाचन-विकारों, खांसी, जुकाम, इनफ्लुएंजा, एक्ज़ीमा, ऐलर्जी वाली औषधियां और नींद लाने वाली गोलियां, प्रशांतक तथा उद्दीपक औषधियां। इनमें से अधिकांश पेटेन्ट औषधियां लोगों को आसानी से उपलब्ध हो जाती हैं।

कोई भी औषधि शत प्रतिशत निरापद नहीं होती :

ऊपर वाली कोटि की औषधियों में ऐस्पिरीन, कोडोपाइरिन, पर्गोलैक्स, सल्फा वर्ग, क्षारीय चूर्ण भी सम्मिलित किए जा सकते हैं और इनका चुनाव भी यूं ही यादृच्छिक रूप से किया गया है अन्य किसी विशेष कारण से नहीं। इनमें से ऊपर बताई गई कुछ औषधियों में से कोई भी 100 प्रतिशत निरापद नहीं है। यदि वह अच्छा नहीं करेगी तो कुछ नुकसान भी नहीं करेगी वाली पुरानी कहावत बार-बार झूठी साबित हुई है, यहां तक कि जानी-पहचानी ऐस्पिरीन नामक पुरानी औषधि के संदर्भ में भी जिसके बारे में हम सोचते हैं कि हम काफी जानते हैं। अभी हाल ही में आयुर्विज्ञानीय व्यवसाय को बहुत आघात पहुचा जब यह पता चला कि इसके अंधाधुंध या गलत प्रयोग से आमाशय से रक्तस्राव सरीखे भयानक प्रभाव भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, अभी हाल ही में एक अधेड़ उम्र के पुरुष को दूर वाले स्थान से एक बड़े चिकित्सा-केन्द्र में आमाशय के कैंसर का निरीक्षण के लिए लाया गया क्योंकि उसने बहुत अधिक मात्रा में खून की क़ै की थी। अस्पताल में निदान नहीं हो पाया क्योंकि सभी परीक्षण सामान्य निकले और इसका निदान तभी हो पाया जब रोगी ने बताया कि काम करते समय पीठ का दर्द दूर करने के लिए उसकी नियमित रूप से ऐस्पिरीन लेने की आदत थी। अद्यतन आंकड़ों से पता चलता है कि संयुक्त राष्ट्र अमरीका में एक साल में करीब 5,000 टन ऐस्पिरीन की खपत होती है। कुछ अन्य पीड़ाहर गोलियों के सेवन से रक्त या यकृत् की खतरनाक गड़बड़ियां हो सकती हैं।

मृदुविरेचक प्रायः वयस्कों द्वारा लिए जाते हैं या बच्चों को दिए जाते हैं और इनके प्रयोग का कारण कब्ज दूर करना ही नहीं बल्कि यह विश्वास किया जाता है कि इससे स्वास्थ्य ठीक रहने और आयु अवधि लंबी होने में सहायता मिलेगी। लेकिन इसे अभी भी साबित करना होगा। प्रायः इस बात पर बल दिया जाता है कि वनस्पति मृदुविरेचक हानिकारक नहीं हो सकता क्योंकि वह तो केवल 'वनस्पति' ही है लेकिन इस प्रसंग में यह याद रखा जाना चाहिए कि इन विशेष वनस्पति उत्पादों में यह मृदुविरेचक प्रभाव कुछ उत्तेजक पदार्थों की उपस्थिति के कारण होता है। यद्यपि डाक्टरी सलाह के अनुसार इनका विवेकपूर्ण प्रयोग युक्तिसंगत है लेकिन ऐसे उत्तेजक पदार्थों के रोज के या निरंतर प्रयोग से आंत्र शोथ या अन्य जटिलताएं या उपद्रव हो सकते हैं।

अनिश्चितताओं और स्पर्धा वाले आधुनिक रहन-सहन के तनाव में शांति और विश्राम बहुत आवश्यक है और यदि मानव को सही मानसिक दशा में और दूरदर्शी रहना है तो यदि वह सोने वाली गोलियों और प्रशांतकों का प्रयोग करता है तो कोई आश्चर्य नहीं है। ये औषधियां मस्तिष्क पर प्रभाव डालती हैं और अधिकांश दुर्घटनाएं इनके दुरुपयोग से ही होती हैं। इनसे मस्तिष्क की कार्यप्रणाली की भयानक गड़बड़ियां हो सकती हैं या ये अन्य अंगों पर भी प्रभाव डाल सकती हैं। व्यवहार और व्यक्तित्व में भी जटिल परिवर्तन हो सकते हैं जिससे अनुचित प्रकार की क्रियाएं हो सकती हैं। उदाहरण के लिए, एक सम्मान्य तरुणी जब एक इसी प्रकार की औषधि के प्रभाव में थी तो वह बस में एक तरुण को देखकर इस प्रकार का अभद्र आचरण करने लगी कि देखने वाले सकते में आ गए। ऐसी औषधियों का प्रयोग डाक्टर द्वारा बताई गई अवधि के बाद नहीं करना चाहिए और बिना डाक्टरी सलाह के इनका प्रयोग नहीं करना चाहिए भले ही उनसे कितना ही

परम आनंद और आराम मिले।

लोक सुरक्षा का खतरा :

प्रशांतक और सुलाने वाली टिकियाएं लोक सुरक्षा के लिए खतरा भी हो सकती हैं क्योंकि इनसे विवेक तथा निर्णयात्मक क्रिया पर भी विकृत प्रभाव पड़ता है और इनसे संबद्ध क्षमता दोषपूर्ण हो सकती है। चूंकि ये औषधियां हवाई जहाज या मोटर यात्रा वाली अस्वस्थता में कमी कर देती हैं इसलिए जब ड्राइवर या पाइलट ने ऐसी टिकियाओं का सेवन किया तो उससे सड़क और वायु दुर्घटनाएं हुई हैं। इस प्रयोजन के लिए लोगों द्वारा अंधाधुंध रूप से इनका प्रयोग अक्षम्य है क्योंकि अज्ञानता क्षम्य नहीं है।

दवा का व्यसन :

अधिकांश लोग ऐल्कोहॉल, मॉर्फिया अथवा अफीम के खतरे अथवा व्यसन का अनुभव करते हैं, लेकिन कुछ ऐसे भी हैं जो इस बात की कल्पना कर सकते हैं कि विज्ञापन के अनुसार मन के तूफान को शाँत करके शांतिदायक नींद में सुलाने वाली भोली-भाली तथा आकर्षक गोलियां उन्हें खतरनाक रास्ते की ओर ले जा सकती हैं। पश्चिमी देशों के आयुर्विज्ञानीय और साधारण प्रेस द्वारा हाल ही में ऐसी कई रिपोर्टें छपी हैं जिनमें यह बतलाया गया कि लोग किस तरह मिल्टाउन (मेप्रोब्रोमेट), बार्बीट्युरेटों और अन्य औषधियों के व्यसनी बनते चले गए। अंततः शनैः शनैः व्यसनी अपना चरित्र व स्वास्थ्य बिगाड़ लेता है और अपने को समाज की इकाई के रूप में अयोग्य बना देता है। सौभाग्य की बात है कि पूर्वी देशों में जिंदगी की रफ्तार इतनी तेज नहीं हुई कि इन औषधियों के व्यापक प्रयोग की आवश्यकता पड़ी हो लेकिन पहले ही पूर्वसूचना के आधार पर सचेत व सावधान रहना अच्छा ही रहता है फिर दवाइयों की कीमत पर खरीदी गई खुशी और शांति से ईश्वर द्वारा सृष्ट मानव की प्रतिष्ठा में आंच आ ही जाती है।

औषधि-ऐलर्जी :

ऊपर बताए गए बुरे प्रभावों के अतिरिक्त कुछ औषधियों से औषधि-ऐलर्जी हो जाती है। इसीलिए, उदाहरण के लिए, जुकाम सरीखी मामूली व्याधियों के लिए सल्फा वर्ग वाली औषधियां इस्तेमाल नहीं की जानी चाहिए। यदि व्यक्ति इस वर्ग की औषधियों के प्रति ऐलर्जी वाला हो जाता है तो बाद में न्युमोनिया या मस्तिष्कावरण-शोथ (मेनिंजाइटिस) सरीखे भयानक रोगों में इनको इस्तेमाल नहीं किया जा सकता (यदि उसको ये व्याधियां कभी होती हैं) क्योंकि ऐसी दशा में इनसे अधिक भयानक कष्ट हो सकते हैं और लाभ के बदले अधिक नुकसान ही होगा। वैसे यह सौभाग्य की बात है कि सभी ऐलर्जी के प्रति सुग्राही नहीं होते लेकिन फिर भी यह निश्चित नहीं कि कब और किस दवाई से किसको ऐलर्जी हो जाये, इसलिए छोटे-मोटे कष्टों में औषध प्रयोग न ही किया तो उत्तम होगा। उपचार और औषध प्रयोग एक ही बात नहीं हैं। विश्राम, मर्यादित आहार व शीत का निरोध छोटी-मोटी व्याधियों के प्रभावकारी उपाय हैं।

हानिकारक मलहम :

त्वचा के कष्टों में मलहमों का प्रयोग प्रायः बिना डाक्टरी सलाह के ही किया जाता है। इन औषधियों में प्रतिजीवी या अन्य पूतिरोधी या उत्तेजक पदार्थ अथवा शामक पदार्थ हो सकते हैं। जीवाणुओं का नाश करने के उद्देश्य से सम्मिलित पदार्थ त्वचा को हानि पहुंचा सकते हैं और उत्तेजक पदार्थों के दीर्घावधि प्रयोग से भी त्वचा को क्षति पहुंच सकती है। फिर आंतरिक रूप से प्रयुक्त औषध-द्रव्यों की अपेक्षा सतह या बाहर से प्रयुक्त औषध-द्रव्यों से ऐलर्जी बड़ी जल्दी हो जाती है। इसलिए बाहर से लगाने या मलने के लिए मलहमों में पेनिसिलीन और सल्फा वर्ग की औषधियां प्रयुक्त नहीं की जानी चाहिए।

अप्रभावकारी और बेकार औषधियां :

बाजार में नयी-नयी दवाइयां खूब आती रहती हैं। औषधि उद्योग में आजकल परस्पर बहुत जबर्दस्त होड़ है। जैसा कि पहले भी बताया गया है, कई नए उत्पाद मानवता के लिए वरदान सिद्ध हुए हैं, लेकिन सभी नहीं। इसलिए हानिकारक प्रभावों को छोड़कर उनकी उपयोगिता अथवा प्रभावशीलता पर ध्यान दिया जाना चाहिए। बहुसूत्र वाली औषधियां प्राय: लाभप्रद होने की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होती हैं। संभवतया विटामिन ही ऐसे औषध योग हैं जो आमतौर पर स्वयं ही प्रयुक्त किए जाते हैं। यह जरूरी नहीं कि बहुविटामिन योग हमेशा ही प्रभावकारी हों क्योंकि विभिन्न विटामिनों के संयोजन के प्रक्रम में एक या अधिक घटकों की क्रिया नष्ट या कम हो जाती है। फिर बहुविटामिन (मल्टीविटामिन) महंगे भी होते हैं। विटामिनों को लेने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि आवश्यकता पड़ने पर इनको पृथक् रूप से लेना चाहिए, लेकिन विटामिन ए और डी को मिलाकर लिया जा सकता है।

इसी तरह, जराचिकित्सा (geriatrics) के आधुनिक विज्ञान (आयुर्विज्ञान की वह शाखा, जो वृद्धावस्था की देखरेख व रोगों के विशिष्टीकरण से संबद्ध है) ने कई उपचार खोज निकाले हैं जो वस्तुत: प्राण फूंकने वाले आवश्यक खनिजों, विटामिनों, हारमोनों वाले बहुसूत्री योग हैं। लेकिन ये बड़ी मंहगी और संदिग्ध प्रकार की औषधियां हैं।

इस बात को ध्यान में रखते हुए कि औषधि के दुरुपयोग से कई प्रतिकूल प्रभाव हो सकते हैं, यदि विश्राम, आहार आदि से जल्दी ही बीमारी पर नियंत्रण नहीं होता तो बुद्धिमानी यही है कि किसी अच्छे डाक्टर की सलाह ली जाय और फिर अच्छी तरह से उनको समझकर उसके निर्देशों पर अमल किया जाय। प्राय: रोगी को यह भ्रांति होती है कि कब तक और दिन में कैसे दवाई ली जाय, विशेषकर तब जब कि एक से अधिक औषधियां सुझाई गई होती हैं। मौखिक व्याख्या के अतिरिक्त अपने डाक्टर से विस्तार में लिखे हुए निर्देश भी ले लेने चाहिए। औषधियों के अद्यतन ज्ञान के प्रसार से आशा है आने वाले वर्षों में इनसे केवल अच्छाइयों का ही दोहन किया जाना चाहिए, बुराइयों का नहीं।

*　　*　　*　　*

केवल विज्ञापनों को पढ़कर ही औषधियों का इस्तेमाल नहीं किया जाना चाहिए और उनका प्रयोग परिवार के डाक्टर की सलाह पर ही किया जाना चाहिए। बिना बात में औषधि का इस्तेमाल नहीं करना चाहिए। हमेशा नामी व प्रसिद्ध कंपनी की दवाइयां विश्वसनीय औषध-विक्रेता के यहां से खरीदना उत्तम रहता है। सस्ती औषधि घटिया या मिलावटी और बेकार या हानिकारक साबित हो सकती है।

—**संपादक**

● ● ●
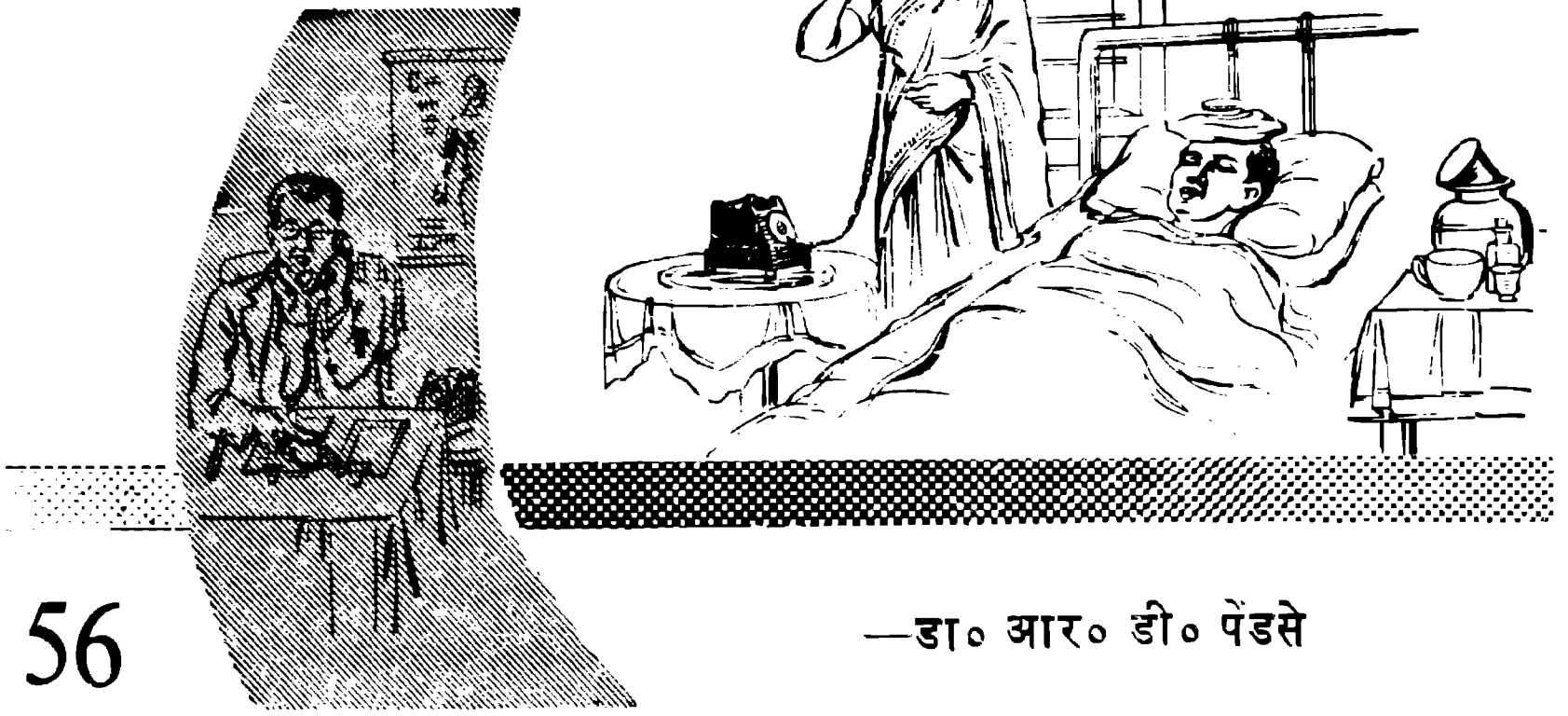
56

—डा० आर० डी० पेंडसे

डाक्टर की सलाह कब ली जानी चाहिए

आम जनता द्वारा डाक्टर की सलाह विभिन्न परिस्थितियों में ली जाती है। अनेक बार ऐसा भी हो सकता है कि व्यक्ति के अनुसार बहुत महत्वपूर्ण परिस्थितियां डाक्टर की दृष्टि से अधिक महत्व की न हों, लेकिन इसके विपरीत ऐसी भी दशाएं हो सकती हैं जो कि रोगी द्वारा उपेक्षित रहें किंतु डाक्टर की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हों।

दर्द या वेदना :

जिन बातों के आधार पर व्यक्ति डाक्टर की सलाह लेता है उनमें सबसे प्रमुख है 'दर्द या वेदना'। रोगों में दर्द या वेदना होना डाक्टर तथा रोगी दोनों की दृष्टि से बहुत अच्छी बात है। कई रोगों में दर्द का मतलब है रोग की चेतावनी और यह रोगी को डाक्टर के पास जाने के लिए मजबूर करता है और इसके न होने पर हो सकता है कि अन्य लक्षणों के विद्यमान रहने पर भी रोगी डाक्टर के पास न जाय। एक रोगलक्षण वाली दशा है जिसे 'हृद्शूल या ऐंजाइना' कहते हैं। इस दशा में हृदय की दिशा में रक्त की आपूर्ति ही कम हो जाती है। जब रक्त की आपूर्ति कम हो जाती है तो हृदय के क्षेत्र में वेदना का दर्द होने लगता है, जिससे रोगी आयास (exertion) कम करने और विश्राम करने पर मजबूर हो जाता है और इस तरह हृदय की दशा को और बदतर होने से बचा लिया जाता है। इस परिसंचरण-अपूर्णता में सौभाग्य से होने वाला दर्द यदि न हो तो रोगी अधिक आयास करता चला जाय और हृदय को और अधिक क्षति पहुंचाकर मृत्यु के बिलकुल नजदीक पहुंच जाएगा।

इस लक्षण यानी दर्द का केवल एक ही अंश अच्छा नहीं है कि इसकी उग्रता रोग की समानुपाती नहीं है। एक दशा है 'तंत्रिकार्ति' (न्यूरेल्जिया) और इसमें दर्द बहुत उग्र रूप से होता है लेकिन गजब यह है कि रोग बिलकुल भी उग्र नहीं होता है और न ही रोगी के लिए हानिकारक। इसीलिए रोगी को दर्द होने पर डाक्टर की सलाह लेनी चाहिए कि वह मध्यम या उग्र किस प्रकार है और डाक्टर ही लक्षण के आपेक्षिक

* * * *

डा. आर. डी. पेंडसे, एम. बी., बी. एस., सामान्य चिकित्सा व्यवसायी, भूतपूर्व अध्यक्ष, भारतीय मेडिकल एसोसिएशन, पूना शाखा, पूना।

महत्व का सही मूल्यांकन कर सकता है।

रक्तस्राव :

दूसरा बहुत आम लक्षण है घाव अथवा शरीर के एक या अनेक द्वारों से रक्तस्राव (नाक, मुंह, कान, मलाशय और मूत्रमार्ग), जो रोगी को डाक्टर के पास लाता है। रोगी द्वारा रक्त की मात्रा की हानि के मूल्यांकन में डर के मारे गलती हो जाती है। यदि रोगी आमाशयिक रस की अधिक मात्रा का वमन करता है, जो कि कुछ रक्त और पित्त का मिश्रण होता है, तो इस मिश्रण का रंग लाल होने के कारण वह समझता है कि सब रक्त ही निकला है। लेकिन इसके विपरीत यदि रक्त के बड़े-बड़े थक्के विष्ठा के साथ मिलकर बदले हुए रंग में विसर्जित होते हैं तो रोगी यह सोच सकता है कि बहुत कम रक्त की हानि हुई है। शरीर के अंदर रह जाने वाले रक्तस्राव का भी खतरा रहता है क्योंकि इसका केवल कुछ अंश ही शरीर के बाहर दिखलाई देता है और इस कारण चाहे आम आदमी की अविवेकी आंख के लिए रक्तस्राव मध्यम प्रकार का है या उग्र प्रकार का, डाक्टर की सलाह लेकर उसे ही उसकी उग्रता और महत्व का मूल्यांकन करने देना चाहिए। कई दशाओं में रक्तस्राव पूर्णरूप से शरीर के अंदर ही होता है जिसमें कि शरीर के बाहर जरा भी रक्त नहीं दिखलाई देता इसलिए ऐसे में आम आदमी यह कभी भी नहीं सोच सकता कि उसके शरीर में अंदर कहीं रक्तस्राव हो रहा है। बहुत अधिक कमजोरी और पीलेपन, तीव्र श्वसन और हृदय की द्रुत क्रिया सरीखे लक्षणों से आंतरिक रक्तस्राव का संदेह किया जाना चाहिए और ऐसे में बिना विलंब के डाक्टर की सलाह ली जानी चाहिए।

वृष्ट आपात् स्थितियां :

वे दशाएं जिन्हें कि आम आदमी भी खतरनाक समझता है, और जिनमें संभवतया जल्द से जल्द डाक्टर को बुला लिया जाना चाहिए, निम्नलिखित हैं :

1. **उग्र वेदना** : जैसा कि नाम से ही बोध होता है, इस पर तुरंत ध्यान दिया जाना चाहिए। लेकिन छाती या उदर का दर्द गंभीर अवस्था का लक्षण हो सकता है, जिसे कि हृद् पात या तीव्र उदर का। यह वृक्क, पित्ताशय अथवा आंत्र का शूल भी हो सकता है।

2. **उग्र रक्तस्राव** : यह निम्नलिखित अंगों से हो सकता है—(i) घाव से (बाहरी या भीतरी रक्तस्राव), (ii) शरीर के द्वारों से, जैसे कि नाक, मुंह, कान, मलाशय और मूत्रमार्ग अथवा (iii) मूत्र, विष्ठा, वमन अथवा थूक द्वारा।

यह रक्त वाहिका के छिद जाने के कारण हो सकता है, जैसे फेफड़े अथवा आमाशय के व्रण में।

3. **अधिक ज्वर** : 39.5° सेन्टीग्रेड अथवा 40° सेन्टीग्रेड (103° या 104° फारेनहाइट) से अधिक ज्वर खतरनाक होता है और बहुत अधिक ज्वर घातक हो सकता है।

4. **उग्र क्षति** : ये दुर्घटना या अन्य किसी कारण से हो सकती हैं। इनकी उग्रता घाव, रक्तस्राव अथवा किसी महत्वपूर्ण अंग के अनुसार हो सकती है।

5. **दाह अथवा तप्तद्रवदाह** : यदि ये भयानक प्रकार के हैं तो इनसे आघात अथवा मृत्यु भी हो सकती है।

6. **डूबना** : इसमें तुरंत कृत्रिम श्वसन आवश्यक है।

7. **दंश या डंक** : चूंकि इनमें विषैले प्राणियों का हाथ हो सकता है इसलिए इन पर तुरंत ध्यान दिया जाना जरूरी है अन्यथा ये घातक सिद्ध हो सकते हैं, जैसे विषैले सर्प का दंश।

8. **विषाक्तन** : यदि कोई ज्ञात विष जानबूझ कर या आकस्मिक रूप से लिया जाता है या

ऐसा संदेह है कि लिया गया है तो जान बचाने के लिए तुरंत ध्यान दिया जाना चाहिए।

9. दीर्घावधि वाली बेहोशी : यह जिंदगी के लिए एक खतरा है और दौरे, मधुमेह, मस्तिष्क में क्षति अथवा रक्तस्राव, विषाक्तन आदि के कारण हो सकती है।

10. दौरे व ऐंठन : जब चेतना जल्दी नहीं लौटती तो डाक्टर को तुरंत बुला लेना चाहिए।

11. श्वासहीनता : कष्टपूर्ण श्वसन, उदर तथा नासाछिद्रों की द्रुत गति इसका संकेत दे देती है और यह श्वसन में अवरोध हो जाने के कारण हो सकती है, जैसा कि डिफ्थीरिया, बाहरी वस्तु की उपस्थिति अथवा न्युमोनिया में होता है। कुछेक हृद् अवस्थाएं भी अचानक श्वासहीनता कर सकती हैं।

12. लकवा : यह मस्तिष्क में रक्तस्राव अथवा रक्त के स्कंदन के कारण हो सकता है।

13. अचानक दिखलाई न पड़ना : यदि इसका तुरंत उपचार नहीं किया जाता तो इससे स्थायी अंधापन हो जाता है। ऐसा अंधापन रेटिना या दृष्टिपलट के पृथक्करण, आंख में रक्तस्राव, ग्लॉ-कोमा आदि के कारण हो सकता है।

14. तीव्र मानसिक विपर्यय (derangement) : जहां यह समझा जाय कि व्यक्ति अचानक पागल हो गया है तो आरंभिक उपचार से उसे ठीक किया जा सकता है।

15. पेशाब करने में असमर्थता : वृक्कों या गुर्दों को अधिक क्षतिग्रस्त होने से बचाने के लिए इस पर तुरंत ध्यान दिया जाना चाहिए।

16. बहुत अधिक कब्ज : लगातार वमन के बिना विष्ठा या गैसों को विसर्जित करने में असमर्थ होने पर तुरंत डाक्टर को बुलाया जाना चाहिए। जान बचाने के लिए आपात् कालीन आपरेशन की आवश्यकता भी पड़ सकती है।

गुप्त आपात् स्थितियां :

ऊपर वर्णित आपात् स्थितियों के अतिरिक्त कुछ ऐसी अवस्थाएं हैं जिनकी गंभीरता को आम आदमी नहीं समझता। इन अवस्थाओं में रोग की शुरूआत इतनी अचानक नहीं होती या लक्षण ऊपर बताए गए अनुसार अधिक चेतावनी देने वाले नहीं होते। रोगी व उसके साथियों को ऐसी दशा सामान्यतया हानिरहित दिखलाई देती है या अधिक से अधिक स्वास्थ्य में अस्थायी परिवर्तन परिलक्षित होता है, लेकिन होता क्या है कि उसमें गंभीर संभावनाएं छिपी होती हैं। कुछ ऐसी दशाएं निम्नलिखित हैं जबकि डाक्टर को अवश्य बुलवा लेना चाहिए :—

1. गले का कष्ट : बच्चों में गले में दर्द और/अथवा निगलने में कठिनाई होना डिफ्थीरिया की शुरूआत हो सकती है, जो कि एक घातक रोग है।

2. ज्वर और खांसी : यदि बच्चे में ये विशेष रूप से श्वासहीनता के साथ हैं तो न्यूमोनिया हो सकता है।

3. प्रवाहिका (डायरिया) और वमन : यदि ये शैशव या बचपन में होते हैं तो जान के लिए खतरा हो सकता हैं क्योंकि शरीर से जल और लवण बाहर निकल जाते हैं।

4. कोई क्षति : सभी प्रकार की क्षतियां, विशेषरूप से यदि वे गहरी और/अथवा धूल से संदूषित हों तो पूतिता (सेप्सिस), टेटेनस आदि उत्पन्न कर सकती हैं।

भयानक रोग :

कई भयानक रोगों की शुरूआत बड़ी भ्रामक होती है। ये अवस्थाएं तीव्र नहीं होती हैं और काफी लंबे समय तक इनकी उपेक्षा की जाती है। प्राय: इनके बारे में तभी बताया जाता है जब ये गंभीर या असाध्य हो जाते हैं। इसलिए इनके प्रसंग में डाक्टर को समय पर बताना आवश्यक है।

1. वजन की कमी, यदि स्थायी रूप से है : इसे केवल अपर्याप्त या खराब भोजन, अत्यधिक काम, चिंता आदि के कारण नहीं मान लेना चाहिए। युवा अवस्था में यक्ष्मा और वृद्ध अवस्था में मधुमेह अथवा कैन्सर की पहचान कर लेना जरूरी है जो कि इन अवस्थाओं के बहुत बड़े मारक रोग हैं।

2. ताकत की कमी : इसके साथ कभी-कभी बहुत भूख भी लग सकती है। व्यक्ति को बहुत प्यास लग सकती है और उसे प्रायः अधिक पेशाब करनी होती है। सभी संभावनाओं में उसमें मधुमेह के आरंभिक लक्षण हो सकते हैं।

3. बेहोशी का मध्यम प्रकार का दौरा : व्यक्ति को दैनिक कार्य करते करते अचानक बेहोशी हो सकती है। ऐसे में वह लेट सकता है, कमजोरी महसूस कर सकता है, पसीने से तर हो सकता है और उसके हाथ-पैर ठंडे हो सकते हैं। थोड़ी-सी कॉफी या अन्य किसी प्रकार के उद्दीपक से वह चेतन हो जाता है और यदि कोई सुस्पष्ट कारण नहीं होता तो वह सब कुछ भूल जाता है। लेकिन इसका कोई छिपा कारण हो सकता है, जैसे कि किसी अंग में आंतरिक रक्तस्राव, अथवा एक मध्यम आघात जिसका परिणाम अनर्थकारी हो सकता है।

4. छाती में दर्द : इसका कारण कोई छोटे-मोटे प्रकार का या भयानक प्रकार का भी हो सकता है। पचास की उम्र की ओर बढ़ने वाले व्यक्तियों में छाती में किसी भी प्रकार के दर्द की छानबीन अच्छी तरह से होनी चाहिए क्योंकि यह दर्द हृद्रोग के कारण हो सकता है। आयास के साथ दर्द हो सकता है और विश्राम करने पर तुरंत गायब हो सकता है।

5. स्थायी खांसी : यदि यह अधिक कष्टकर नहीं होती तो इसकी उपेक्षा की जाती है। तरुणों में यह यक्ष्मा अथवा बड़ों में फेफड़े के कैन्सर के कारण हो सकती है।

6. प्रत्यावर्ती कम ज्वर : आम जनता द्वारा यह प्रायः मौसम के परिवर्तनों, सिर में ठंड अथवा अति आयास के कारण समझा जाता है लेकिन यह शरीर में किसी सूक्ष्मजीव के प्रविष्ट होने का लक्षण हो सकता है और इससे भयानक बीमारी हो सकती है; जैसे यक्ष्मा और मूत्र-मार्ग के संक्रमण छिपे रूप में शरीर पर आक्रमण कर देते हैं।

7. वृद्धि न होना : शिशुओं और बच्चों में यदि वृद्धि न होने पर ठीक से ध्यान न दिया गया तो इसका परिणाम होगा बच्चे में स्थायी अक्षमता। यह यक्ष्मा के कारण हो सकता है। रिकेट्स भी एक अवस्था है जिसमें हड्डियों की दोषपूर्ण वृद्धि होती है। इससे स्थायी विरूपता हो सकती है। स्त्रियों में श्रोणि मेखला की विरूपता से प्रसव के समय कठिनाई हो सकती है।

8. बौद्धिक पिछड़ापन : बच्चा कभी-कभी कक्षा में मंद बुद्धि का हो जाता है लेकिन इसका अन्वेषण किया जाना चाहिए। ऐसा दोषपूर्ण दृष्टि या कम सुनने के कारण हो सकता है।

9. अस्पष्ट लक्षण : दुष्पचन और/अथवा अनियमित आंत्र गति, निगलने में कठिनाई, स्वररुक्षता कैन्सर के कारण हो सकती है, विशेषकर 45 वर्ष से अधिक उम्र वाले वयस्कों में। डिफ्थीरिया में आरंभिक लक्षण इतने मध्यम प्रकार के और अस्पष्ट होते हैं कि पांच साल से कम वाला बच्चा यदि सामान्य नहीं है या बीमार लगता है तो उसके गले का अच्छी तरह से निरीक्षण किया जाना चाहिए।

10. ठीक न होने वाला व्रण : यह बाद में कैन्सर में परिवर्तित हो सकता है और तुरत यदि इसका उपचार नहीं किया गया तो इससे जान जाने का खतरा हो सकता है।

11. पिंड या अपवृद्धि : शरीर में किसी भी भाग में प्रकट होने वाली अपवृद्धि या पिंड, विशेषतया स्तनों का पिंड, कैन्सर हो सकता है।

लंबे समय से चलने वाले पिंड की प्रकृति में परिवर्तन भी कैन्सर के कारण हो सकता है; जैसे द्रुत-वृद्धि, रंग में परिवर्तन आदि।

12. त्वचा में धब्बा या चकत्ता : त्वचा में सफेद या अववर्णकित या लाल धब्बा, जिसमें संवेदना हो भी सकती है और नहीं भी, कुष्ठरोग के कारण हो सकता है। इसका उपचार किया जा सकता है।

13. योनि से रक्तस्राव : यदि यह रजोनिवृति के बाद होता है तो यह गर्भाशय के कैन्सर का लक्षण हो सकता है।

14. आंख का दर्द : यह ग्लॉकोमा का आरंभिक लक्षण हो सकता है—जो अंधेपन का सामान्य कारण है और यदि इसका उपचार आरंभ में कर लिया जाय तो इसे दूर किया जा सकता है।

15. प्रत्यावर्ती सिरदर्द : यह मस्तिष्क अथवा साइनस आदि के साध्य रोग के कारण हो सकता है।

स्वास्थ्य उन्नयन :

स्वास्थ्य को बनाए रखने और उसके उन्नयन के लिए निम्नलिखित बातों में हमेशा डाक्टर की सलाह ली जानी चाहिए :

1. प्रतिरक्षीकरण : शैशव और बाल्यावस्था में यक्ष्मा, चेचक, डिफ्थीरिया, काली खांसी, टेटेनस, पोलियो और टायफायड ज्वर के निरोधी टीके बहुत जरूरी हैं। इन टीकों को फिर उचित अंतरालों पर लगवाया जाना चाहिए।

जानवरों के काटने पर भी प्रतिरक्षीकरण की आवश्यकता पड़ती है, विशेषकर कुत्ते के काटने पर।

2. जानपदिक रोग या महामारी : महामारी के दौरान सभी उम्र के लोगों को निरोधी उपायों के लिए डाक्टर की सलाह लेनी चाहिए।

3. वैवाहिक पथप्रदर्शन : शादी करने से पहले व्यक्ति को अपने डाक्टर से सलाह ले लेनी चाहिए या अगर शादी हो चुकी है तो सगर्भता के खतरे के पहले परामर्श ले लेना चाहिए।

4. परिवार नियोजन : अपने बच्चों के जन्म में अंतराल रखने, परिवार नियोजन और कल्याण के लिए डाक्टर की सलाह लेनी चाहिए।

5. रोजगार से पहले का मूल्यांकन : किसी पेशे या प्रशिक्षण को अपनाने के पहले व्यक्ति को डाक्टर से परामर्श करना चाहिए कि वह उसके लिए शारीरिक व मानसिक रूप से सक्षम है या नहीं। इससे सही चुनाव और शीघ्र सफलता सुनिश्चित है।

6. पोषण : स्वास्थ्य बनाए रखने में यह बड़ा महत्वपूर्ण कारक है। लेकिन यह कारक सबसे अधिक उपेक्षित रहता है और इस पर सबसे कम ध्यान दिया जाता है। संतुलित आहार के विषय में सभी को डाक्टर से सलाह लेनी चाहिए।

7. स्वास्थ्य की नियमित जांच : बच्चों और 40 वर्ष से ऊपर वाले व्यक्तियों को स्वास्थ्य की जांच विशेष प्रकार से करवानी चाहिए। यह जांच साल में कम से कम एक बार होनी चाहिए और इसमें दांतों की जांच भी शामिल रहनी चाहिए।

8. स्वास्थ्य शिक्षा : अच्छे स्वास्थ्य के अर्जन के कई पहलू हैं। स्वस्थ जीवन तथा अच्छी आदतें डालने और स्वस्थ रहन-सहन के लिए डाक्टर एक उपयोगी पथ-प्रदर्शक सिद्ध हो सकता है।

यदि प्रत्येक व्यक्ति ऊपर बताई गई दशाओं में समय पर डाक्टर की सलाह लेने का ध्यान रखता है तो रोगों से बड़ी जल्दी छुटकारा मिल जाएगा। इसका परिणाम होगा स्वस्थ और आनंदमय जीवन।

• • •
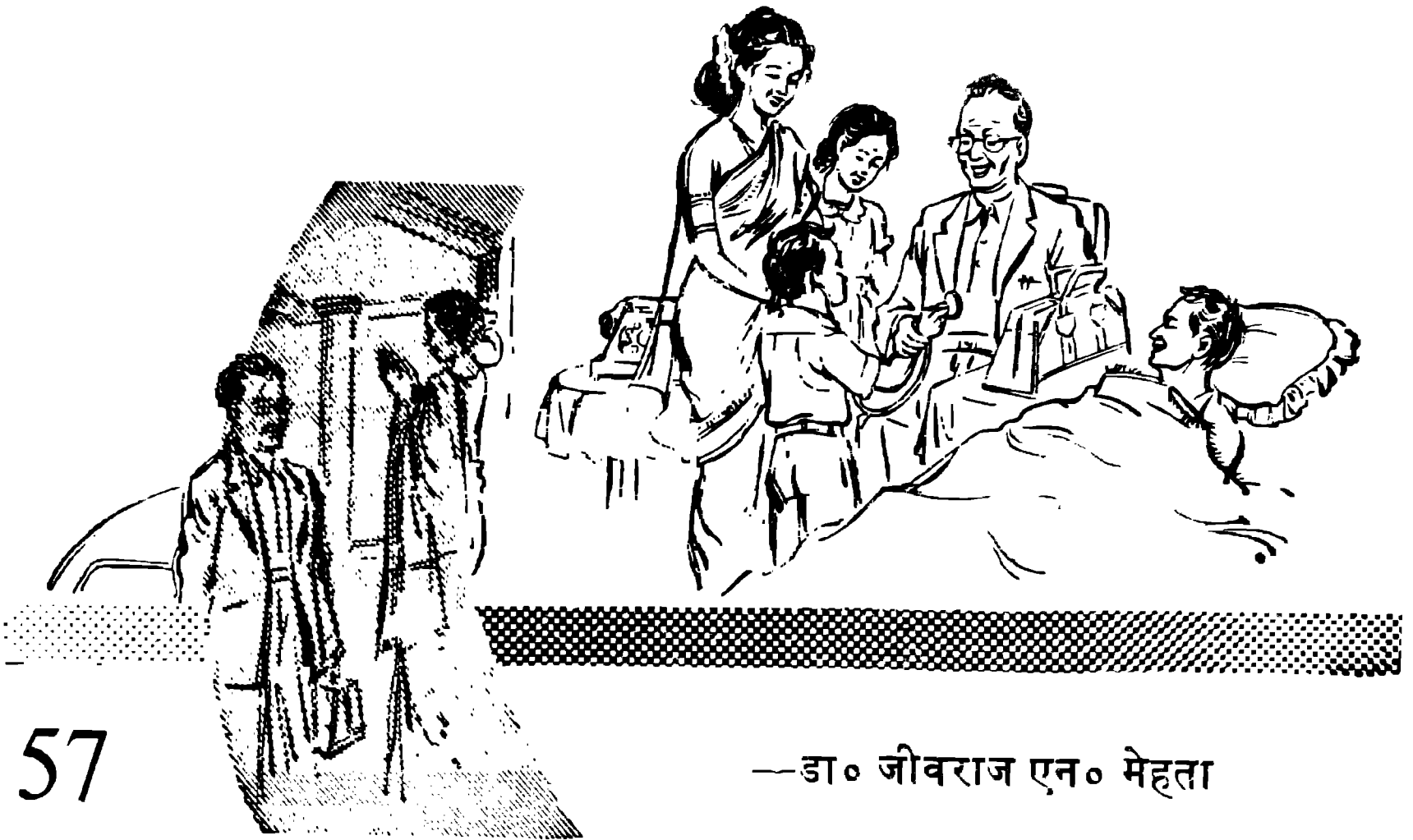
57

—डा० जीवराज एन० मेहता

डाक्टर और रोगी का संबंध

बहुत पुराने समय से ही कायचिकित्सक का पेशा बड़ी ऊंची निगाह से देखा जाता है। चूंकि डाक्टर द्वारा रोगी को व्याधियों और कष्टों से छुटकारा दिलाया जाता है, इसीलिए वह चिकित्सक को बहुत बड़ा उपकारी मानता है। यह पेशा ही ऐसा है कि इस पेशे वाले व्यक्ति पर श्रेष्ठता की मुहर लग जाती है और उस पर कोई भी बिना हिच-किचाहट से विश्वास कर सकता है।

ऐतिहासिक :

प्राचीन समय में, पूर्व और पश्चिम दोनों क्षेत्रों में, कायचिकित्सक का पेशा पुरोहिताई के साथ चलता था। वह रोगियों को केवल दवा बांटकर ही ठीक नहीं करता था बल्कि पवित्र जल, मंत्र और अपनी आशीषें भी देता था। समाज में उसकी स्थिति का अनुमान करना कठिन नहीं है, क्योंकि उसका संबंध दोनों चीजों से था—आत्मा तथा शरीर दोनों के उबारने से। प्राचीन काल में व्याप्त धार्मिक विचारों के अनुसार व्याधियों और रोगों को पिछले पापों की सजा समझा जाता था और इसके परिणामस्वरूप औषधियों से उपचार होना असंभव माना जाता था।

भारत में अभी भी चरक और सुश्रुत (चित्र 57.2) का नाम याद किया जाता है। वे अपनी कला में निपुण ही नहीं थे बल्कि आयुर्विज्ञान आचार संहिता के अगुआ भी थे।

पश्चिम में सारा श्रेय हिप्पोक्रेटीज महान् (चित्र 57.3) को जाता है कि, कायचिकित्सक और रोगियों की घनिष्ठता से रोग की जटिल-ताओं और बुराइयों का जो भी अनुमान हो उससे दोनों की स्थिति का बचाव करने के लिए, उसने चिकित्सक के लिए आचार संहिता का निर्धारण किया, जो 'हिपोक्रेटीज की शपथ' के रूप में प्रसिद्ध है और जिसने चिकित्सकों की पीढ़ियों के लिए पथप्रदर्शक का काम किया है। इस शपथ में मान-

*   *   *   *

डा. जीवराज एन. मेहता, एम. डी., भूतपूर्व डीन, जी. एस. मेडिकल कालेज तथा के. ई. एम. अस्पताल, बम्बई; भूतपूर्व मुख्यमंत्री, गुजरात एवं ब्रिटेन में भारत के उच्च आयुक्त।
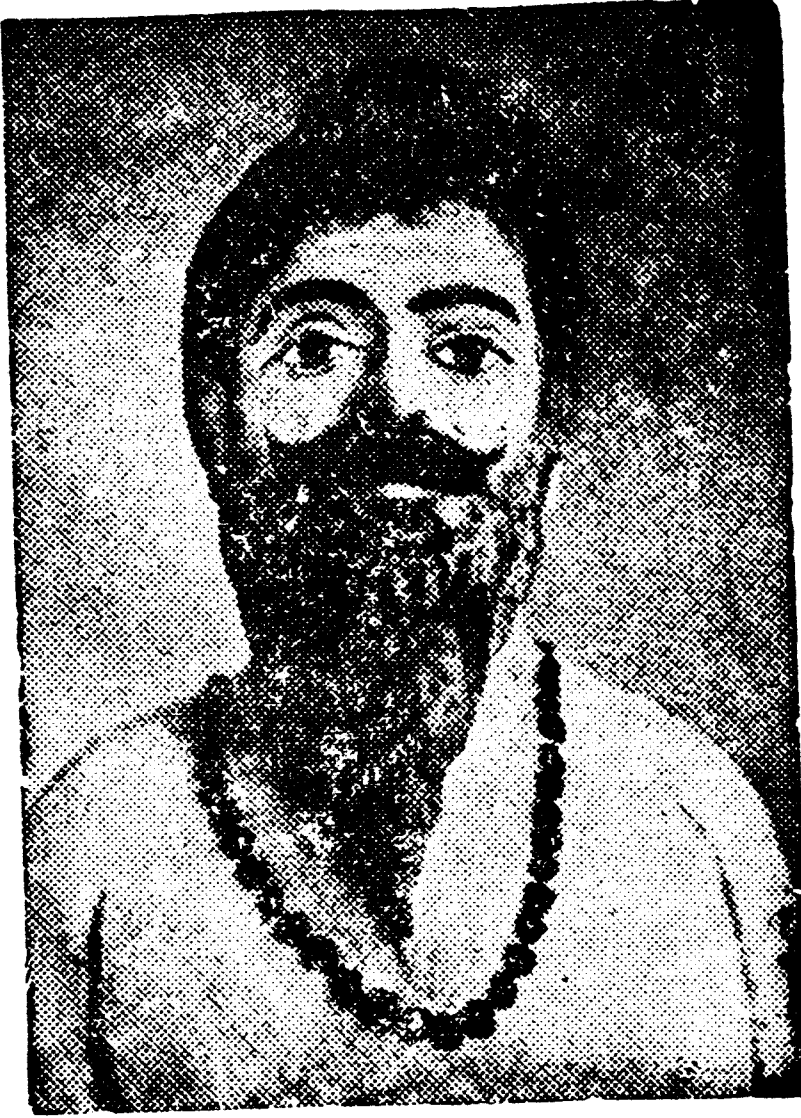
चित्र 57.2—सुश्रुत

चित्र 57.3—हिप्पोक्रैटीज

वता और विज्ञान के प्रति स्नेह भाव बनाए रखने के लिए कहा गया है। इस प्रकार वह चिंतन एक ओर चरक व सुश्रुत द्वारा और दूसरी ओर हिप्पो-क्रेटीज द्वारा समांतर रूप में चलता रहा और जो इस बात का द्योतक है कि वे डाक्टर व रोगी के परस्पर संबंध के बारे में कितने चिंतित थे।

नैतिक और कानूनी पहलू :

डाक्टर व रोगी के संबंध को नैतिक व कानूनी पहलू से देखा जा सकता है। कानूनी पहलू में डाक्टर और रोगी के बीच की वचनबद्धता आ जाती है। नैतिक दायित्व के ऐच्छिक यानी अपनी इच्छा के अनुसार होते हैं, लेकिन कुछ देशों में इसके उल्लंघन के लिए आयुर्विज्ञान परिषद् को यह अधिकार है कि वह उनके विरुद्ध कारवाई कर सकती है। चिकित्सक का सबसे महत्वपूर्ण कर्त्तव्य है समुदाय की सेवा करना और इस कार्य में आर्थिक लाभ प्राप्त करना गौण बात है। व्यक्ति से संबंधित गोपनीय बातों को और रोगी द्वारा अपने घरेलू व व्यक्तिगत जीवन के बारे में डाक्टर को भरोसे पर बतलाई गई बातों को तथा डाक्टर द्वारा देखी गई रोगी की कमजोरियों व चारित्रिक कमियों को डाक्टर विश्वसनीय रूप से अपने तक ही सीमित रखेगा और राज्य के जरूरी कानूनी मसलों के अतिरिक्त कभी भी किसी को नहीं बत-लाएगा। रोग की खतरनाक अभिव्यक्ति होने पर चिकित्सक द्वारा रोगी के मित्रों को समय पर चेतावनी दे देनी चाहिए और उसे न तो बढ़ा-चढ़ाकर और न रोगी की असली दशा की गंभीरता को कम करना चाहिए। चिकित्सक को हमेशा आपात् स्थिति में मांगी गई सहायता की विनती या जनता की मर्यादित मांग के प्रति उदारता का रुख रखना चाहिए। एक बार उपचार का कार्य हाथ में लेने पर और रोग को गंभीर व असाध्य मानकर न तो रोगी को छोड़ना चाहिए और न
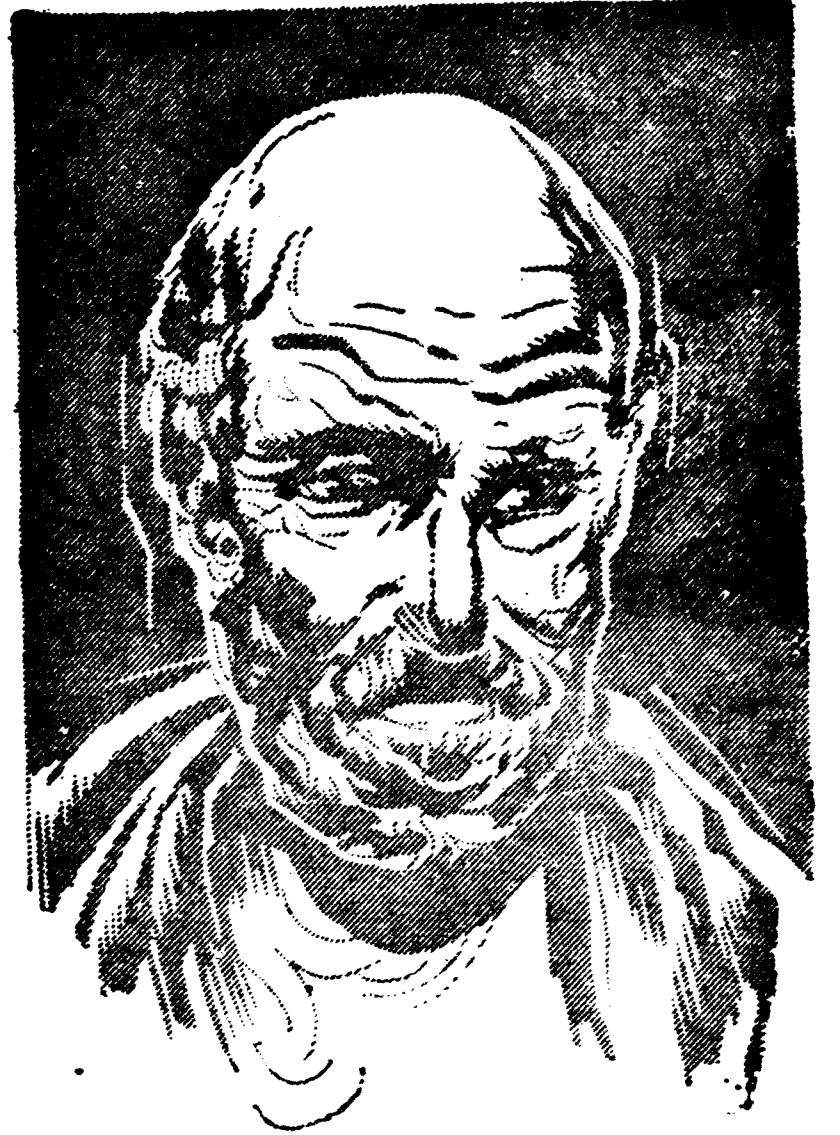
ही उसकी उपेक्षा करनी चाहिए। उसे किसी भी कारण रोगी से तब तक हाथ नहीं खींच लेना चाहिए जब तक कि रोगी की स्वयं मुक्त होने की इच्छा न हो और यदि ऐसा किया भी जाता है तो रोगी या उसके मित्रों को काफी समय पहले बता दिया जाना चाहिए ताकि वे दूसरे चिकित्सक की सेवाएं ठीक समय पर उपलब्ध कर सकें। ये चिकित्सकों के कुछ प्रमुख कर्त्तव्य हैं जो 1912 में संयुक्त राष्ट्र अमरीका में निर्धारित किए गए थे।

आचरण संबंधी पहलू :

डाक्टर और रोगी के संबंध पर कुछ नैतिक प्रश्न उठ खड़े होते हैं, जैसे—क्या डाक्टर को रोगी से कुछ भेंट स्वीकार करनी चाहिए ? यह भेंट पर निर्भर करता है। जैसा कि पहले भी बताया गया है चिकित्सा सेवा व्यापार या धंधा नहीं है। रोगी अपना सारा विश्वास, स्वास्थ्य, भविष्य और अपना सारा जीवन डाक्टर की देखरेख में रख देता है और अधिकांशतया इस सेवा का पारिश्रमिक उसे मिल ही जाता है। दूसरे, क्या बुलाए जाने पर डाक्टर को किसी भी रोगी की चिकित्सा करनी चाहिए ? यदि डाक्टर ने रोगी को पहले भी चिकित्सा की है और वह उपचार कराना चाहता है तो उसे निस्संदेह ही चिकित्सा करनी चाहिए। यहां तक कि अजनबी या नए रोगी और आपात्कालीन स्थिति के प्रसंग में डाक्टर को यह याद रखना चाहिए कि उसके कुछ निहित दायित्व हैं कि भले ही उसे रोगियों को देखने पर मजबूर नहीं किया जा सकता और उनका कोई विशेष दावा भी नहीं है तो भी अन्य चिकित्सा सहायता की अनुपस्थिति में जितनी भी चिकित्सा सहायता वह पहुंचा सकता है, उसे पहुंचानी चाहिए। डाक्टर व रोगी के संबंध को तोड़ा नहीं जा सकता। रोगी अपने डाक्टर के चुनाव और एक को छोड़कर दूसरे के पास जाने, दोनों बातों में स्वतंत्र है। लेकिन फिर भी इसमें कुछ अपवाद हैं, जैसे कि रोगी को अपने पिछले चिकित्सा सलाहकार की स्वीकृति के बिना दूसरा कोई ऐसा डाक्टर नहीं चुनना चाहिए जिसने उसको पिछले डाक्टर से परामर्श करते हुए देखा हो। इसी तरह डाक्टर भी पिछले पैरा में बताए गए दायित्वों के अनुसार अपने रोगी के चुनाव में स्वतंत्र है।

सामाजिक पहलू :

चिकित्सक का यह दायित्व है कि वह अपने रोगियों की धार्मिक भावनाओं की प्रतिष्ठा करे। रोगी यह आशा करता ही है कि सहृदयता और सौजन्य से उसका स्वागत किया जाय। रोगी निदान संबंधी अज्ञान और त्रुटियों को क्षमा कर सकता है लेकिन रूखे व्यवहार व अभद्रता को वह कभी माफ नहीं कर सकता। रोगी डाक्टर से आशा करता है कि वह उसकी बीमारी में रुचि दिखलाए और जो कुछ उसे कहना है उसे सैब्र से सुने। रोगी यह भी आशा करता है कि डाक्टर उसे सीधे-सादे शब्दों में सच्चाई बतला दे और चाहता है कि उसका विश्वास बना रहे।

परिवार का डाक्टर :

विभिन्न कारकों की परस्पर क्रियाओं और चिकित्सक पर लोगों का विश्वास जम जाने के कारण उन्नीसवीं शताब्दी में पारिवारिक चिकित्सक प्रणाली की शुरुआत हुई और अभी तक भी वह बनी हुई है। हम सभी किसी न किसी दिन उसकी देखरेख में रहे हैं। उसे हम अपने परिवार का ही सदस्य मानते हैं और चिकित्सा क्षेत्र के आलवा भी अन्य पहलुओं पर उससे सलाह लेते हैं, जैसे कि—पारिवारिक असामंजस्य, परिवार की नयी पीढ़ी के पेशों, विवाह आदि के अलावा बीसियों मामलों पर — और हमें उसकी कीमती सलाह से सहायता मिली है। पारिवारिक चिकित्सक उन परिवारों के सभी पहलुओं पर व्यक्तिगत रूप से रुचि रखता है जो कि उसके देखरेख में रखते हैं। वह उनकी आदतों, सोचने व काम करने के ढंग, रोगों के प्रति उनकी सुग्राहिता, उनके विश्वासों, उनके खाने व

भोजन संबंधी आदतों, उनकी चिंताओं व परेशानियों उनकी इच्छाओं व अनिच्छाओं यानी कि अन्य सभी बातों से भी अच्छी तरह परिचित होता है। वह समुदाय या समाज के लिए कई प्रकार से उपयोगी होता है। वह परिवार के स्वास्थ्य पर वातावरण के प्रभाव, पोषण संबंधी ज्ञान, प्रतिरक्षीकरण की आवश्यकता और स्वस्थ रहन-सहन के लिए आवश्यक अन्य बातों से अवगत कराता है। दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो कहेंगे कि परिवार का प्रमुख स्वास्थ्य शिक्षक होता है।

गंभीर बीमारी में वह समय-कुसमय रोगी के बिस्तर के पास ही नहीं रहता बल्कि वह रोगी तथा उसके परिवार वालों को प्रोत्साहन व आश्वासन भी देता रहता है। शोक में वह परिवार का साथ देता है और हर प्रकार की सहायता पहुंचाकर शांति और सहानुभूतिपूर्ण शब्दों से उसे समझाता है। असामंजस्य वाले परिवार में सामंजस्य स्थापित करते हुए वह सामान्य सबंध स्थापित करने में सहायक होता है। नियमित प्रकार की उसकी सलाह से परिवार को बोझ और तनाव से मुक्ति मिलती है और इस तरह वह उसे धीरज और शांति प्रदान करता है। वह ऐसा व्यक्ति है जो अपनी ईमानदारी, निष्ठापूर्ण देखरेख और सहायता पहुंचाने की उत्कंठा के बल पर ही अपने रोगियों की श्रद्धा का पात्र बनता है।

बदलता हुआ ढर्रा :

आजकल सामान्य चिकित्सा की नियति कुछ अनिश्चित-सी हो गयी है। पिछले कुछ दशकों में चिकित्सा प्रणाली में काफी द्रुत परिवर्तन हुए हैं। निदान और उपचार की तकनीक में किए गए प्रयत्नों, नए प्रतिजीवियों की खोज, तथा रसायन-चिकित्सा और सामाजिक परिवर्तनों का इस बदलाव में भारी योगदान रहा है। निश्चितप्रायः निदान की विशेष तकनीकों के लिए विशेष ज्ञान और कीमती युक्तियों की आवश्यकता होती है जिसका परिणाम यह हुआ है कि आयुर्विज्ञान का विभिन्न विशिष्ट शाखाओं में विभाजन हुआ है और ऐसे अस्पतालों की वृद्धि हुई है जहां उत्कृष्ट चिकित्सा सेवा उपलब्ध है। अस्पतालों की स्थापना और विशिष्ट क्षेत्रों की प्रगति से डाक्टर और रोगी के बीच का व्यक्तिगत संपर्क कम हो गया है। पुराने समय की सामान्य चिकित्सक वाली संस्था ने हवा के इस रुख का अनुभव किया है और वह समाज में अपनी स्थिति को बचाए रखने के प्रयत्न में लगी है। समाज में जो करीब-करीब मूर्ति की तरह पूजा जाता था वह अब अपने को असुरक्षित, कटा हुआ और अपमानित महसूस कर रहा है। आयुर्विज्ञान के ज्ञान और तकनीक में भारी प्रगति से वह विशेषज्ञ या परामर्शी के सामने तुच्छ लगता है और इसके कारण रोगी के सम्मुख उसके पद पर काफी प्रभाव पड़ा है। लेकिन फिर भी जिन्होंने अपने को अद्यतन जानकारी से अवगत रखा है वे समाज में ऊंचा पद बनाए हुए हैं और इसी तरह निरंतर बनाए रखेंगे।

सामान्य चिकित्सक को इस नयी स्थिति का सामना निर्भीकता से करना चाहिए। अपने चारों ओर के बदलाव में उसे आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में उपलब्ध होने वाली नयी जानकारी से निरंतर भिज्ञ रहना चाहिए। उसे पराचिकित्सा कार्मिकों, कल्याण अभिकरणों, अस्पताल की गतिविधियों और लोक स्वास्थ्य विभाग से अपने को अलग नहीं कर लेना चाहिए। औद्योगिकीकरण से बड़े परिवार छोटे-छोटे परिवार में बंट गए हैं जो सुस्पष्ट कारणों से चिकित्सा के लिए अस्पताल की तरफ जाते हैं। फिर भी अधिकांश लोग यह मानते हैं कि बदलती परिस्थितियों में भी सामान्य चिकित्सक की अपनी स्थिति है जिस पर समग्र रूप से रोगी का सारा उत्तरदायित्व होता है और विशेषज्ञ तो उसके बाद आता है। हमेशा ही एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता होगी जो अतिविशिष्टीकरण और चिकित्सालय अतिआश्रयण के प्रति प्रभावशाली रोध का कार्य करे, परामर्शी व विशेषज्ञ के निर्देशों

को रोगी को समझाए, उसका भय दूर करे, दिन प्रतिदिन की प्रगति व उपचार का कुप्रभाव देखता रहे और अपने रोगी की प्रगति से परामर्शी या विशेषज्ञ को अवगत कराता रहे। इस कार्य के लिए सबसे उपयुक्त व्यक्ति पारिवारिक चिकित्सक ही है। उसके संपर्क से व्यक्तिगत भाव का पुट भी रहेगा और ठीक होने के दौरान जिस मनोवैज्ञानिक सहानुभूति की आवश्यकता होती है वह भी रोगी को प्राप्त होती रहेगी। पारिवारिक चिकित्सक को यह भूमिका मान्य होती है। रोगी को यह नहीं सोचना चाहिए कि पारिवारिक डाक्टर केवल बड़े डाक्टरों के निर्देशों का ही पालन कर रहा है क्योंकि पारिवारिक डाक्टर दिन प्रति दिन वाले रोगी के उपचार में स्वयं रुचि लेकर और निर्देशों के अनुसार होशियारी से प्रत्यक्ष भूमिका अदा कर सकता है। उसकी इस भूमिका से डाक्टर के प्रति रोगी के विश्वास में कोई कमी नहीं आएगी और डाक्टर व रोगी के संबंध पर भी कोई आंच नहीं आएगी। यदि परिवार-चिकित्सा का अंत होना है तो परिवार के प्रति रुचि भी कम हो जाएगी, यद्यपि चिकित्सा-सेवा के तकनीकी पहलू में सुधार हो जाएगा। लेकिन रोगी के दृष्टिकोण से भी यह स्थिति ठीक नहीं है।

भारत में यद्यपि डाक्टर व रोगी के संबंध का पुराना इतिहास और परंपरा बहुत सुंदर रही है लेकिन अब कई परिवर्तन हो रहे हैं जिनसे यह तस्वीर बड़ी जल्दी बदल जाएगी। आयुर्विज्ञान की तकनीकी प्रगति और बड़े-बड़े अस्पतालों के निर्माण कार्य की प्रगति से अब जिले के शहर भी अछूते नहीं रह गए हैं। पिछले दस वर्षों में ग्रामीण क्षेत्रों से शहरों तथा नए औद्योगिक नगर-क्षेत्रों में प्रवास बहुत अधिक हुआ है और संभवतया यह प्रवास अगले दस वर्षों तक बड़ी तेजी से चलता रहेगा। इसीलिए पारंपरिक संयुक्त परिवार प्रणाली खतम होती जा रही है और बड़े शहरों व औद्योगिक नगर-क्षेत्रों में जैविक परिवार का मतलब है केवल पति और पत्नी या केवल पति, पत्नी और बच्चे, और दादा-दादी, चाचा-ताऊ, चाची-ताई, चचेरे भाई, भतीजे, भतीजियां आदि कोई भी नहीं। बीमारी में ऐसे परिवारों को अस्पताल में ही भर्ती होना पड़ता है। शहरों में मकान की समस्या भी डाक्टर व रोगी के संबंध में एक रोड़ा अटका देती है। चूंकि मकान छोटे व किराया अधिक होता है और बीमारी में ही नहीं बल्कि सामान्य व स्वस्थ प्रसूति प्रक्रिया तक में रहने के लिए एक या दो कमरे होते हैं, इसीलिए व्यक्ति को अस्पताल में भर्ती करने की आवश्यकता पड़ती है।

भविष्य :

हमारे देश में एक महत्वपूर्ण कारक और है जो डाक्टर व रोगी के संबंध पर प्रभाव डालता है और वह है कर्मचारियों की राज्य बीमा योजना। यद्यपि वर्तमान समय में कार्यकर्ताओं या श्रमिकों को पूर्णकालिक और खंडकालिक प्रणालियों से चिकित्सा-सेवा प्रदान करने की व्यवस्था है तो भी यही लगता है कि कुछ वर्षों के अंतराल के बाद देश के अधिकांश क्षेत्रों में पूर्णकालिक प्रणाली ही अपना ली जाएगी। खंडकालिक प्रणाली में डाक्टर व रोगी का संबंध काफी सीमा तक अपनी पूर्व स्थिति में नहीं बना रह पाएगा क्योंकि डाक्टर की भूमिका वही नहीं रह पाएगी और यह इसलिए कि निरोधक स्वास्थ्य सेवा समेत आयुर्विज्ञान के सभी क्षेत्रों की द्रुत प्रगति ने उन्नत देशों में व्याप्त रोगों और उनके अनुसार अपेक्षित चिकित्सा-सेवा ने रोगों के स्वरूप में भारी परिवर्तन कर दिया है। यह संभव है कि आने वाले दस वर्षों के अंदर कर्मचारी राज्य बीमा योजना और अंशदायी स्वास्थ्य सेवा योजना के अंतर्गत देश के काफी लोग आ जाएंगे और डाक्टर व रोगी का संबंध इन योजनाओं के कार्यान्वयन पर ही निर्भर करेगा। लेकिन ऊपर बताए गये कारणों के आधार पर कुल मिलाकर यही संभव लगता है कि पारंपरिक परिवार-डाक्टर व रोगी का संबंध निश्चित रूप से परि-

वर्तन की देहरी पर है और यह अधिक अवैयक्तिक व सलाहकारी रूप धारण कर लेगा। तब अपने कार्य के अतकनीकी पहलुओं को डाक्टर अन्य अभिकरणों को सौंप देगा।

* * * *

डाक्टर व रोगी का संबंध हमेशा पारस्परिक होता है। जब कभी भी रोगी डाक्टर के पास सलाह या उपचार के लिए जाता है तो उसे बिना कुछ छिपाए हुए तथ्यों व परिस्थितियों की संपूर्ण जानकारी दे देनी चाहिए, पूरा निरीक्षण करवाना चाहिए, उसे पूरे उपचार का अवसर देना चाहिए, उसके निर्देशों का पालन करना चाहिए और आहार, दवाई, जीवनयापन संबंधी सलाह माननी चाहिए तथा इस सेवा के बदले समुचित शुल्क देना चाहिए। इसी तरह डाक्टर बदलना नहीं चाहिए और यह नैतिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि रोगी के खुद के भले व कल्याण की दृष्टि से भी। जब कभी भी कोई कठिनाई या संदेह हो तो विशेषज्ञ से परामर्श व उसकी सलाह उत्तम रहती है। जब कभी कारणवश डाक्टर बदलना हो तो, जैसे कि मकान बदलने के कारण, उसमें भी पहले डाक्टर से परामर्श कर लेना अच्छा रहता है और नए डाक्टर को रोग के इतिहास और अब तक किए गए उपचार का पूरा ब्योरा दे देना चाहिए।

—संपादक

• • •
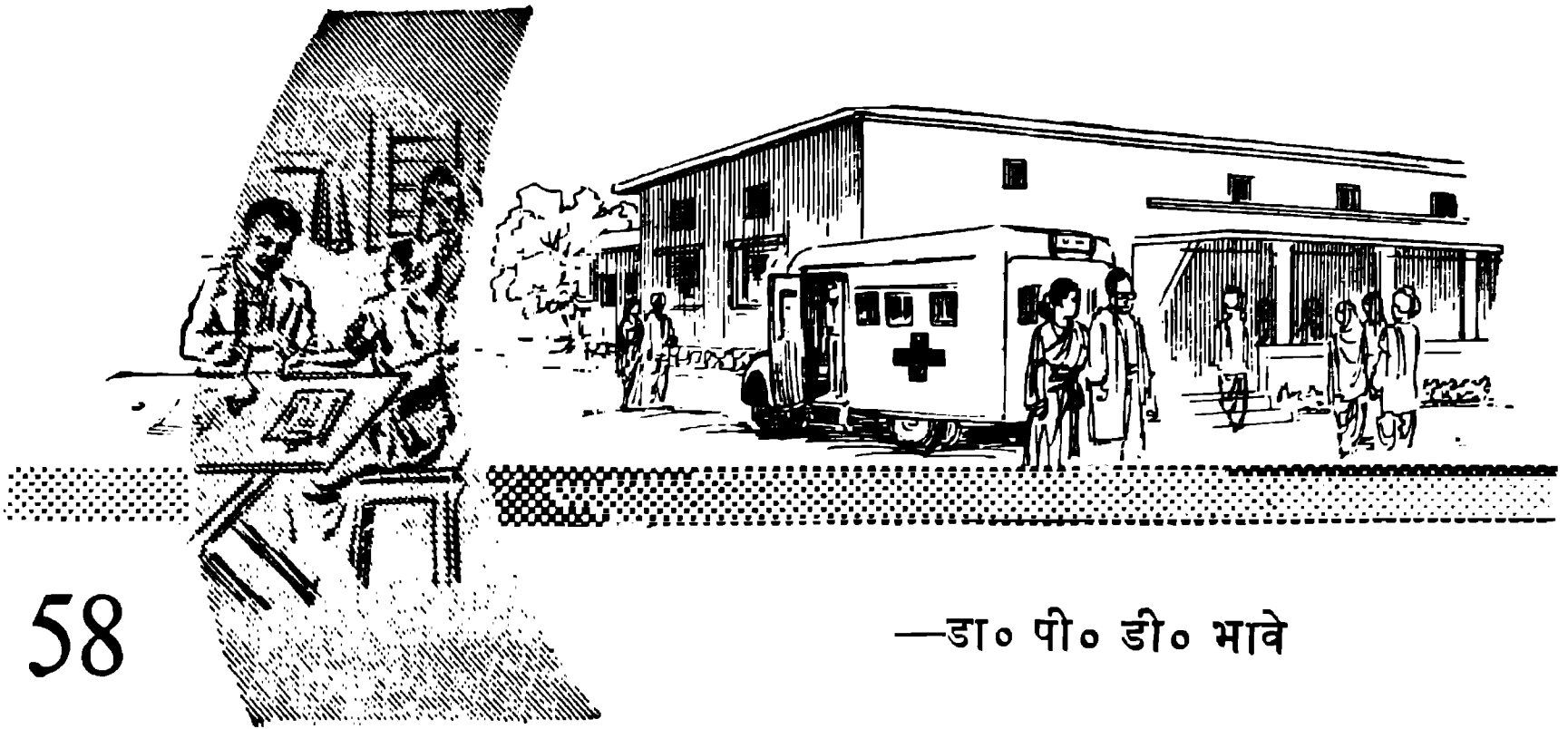
58

—डा० पी० डी० भावे

समुदाय-स्वास्थ्य

स्वतंत्रता की पूर्वसंध्या 1947 में सर्वांगीण विकास की नयी आशाएं और प्रकाश लाई । चितन की एक नई धारा प्रवाहित हुई कि कुल आबादी की 80 प्रतिशत ग्रामीण जनता को निरोधक स्वास्थ्य सेवा व्यापक रूप से उपलब्ध कराई जाय और यह बात 1946 में भोरे समिति की रिपोर्ट में व्यक्त की गई । इस रिपोर्ट ने पहली बार लोगों और स्वास्थ्य प्राधिकारियों का ध्यान व्याप्त कुपोषण व अल्पपोषण, हैजा, चेचक, मलेरिया, यक्ष्मा, कुष्ठ आदि रोगों द्वारा पहुंचने वाली क्षति की ओर आकर्षित किया । इन रोगों से आबादी का काफी बड़ा भाग प्रभावित होता था और इनसे स्वास्थ्य का स्तर काफी नीचे हो जाता था और व्याधियां पनपती रहती थीं । और इसका परिणाम होता था कृषि व उद्योग में कम उत्पादन । इस रिपोर्ट ने ग्रामीण क्षेत्रों में अपर्याप्त चिकित्सा सुविधाओं और वातावरणी स्वच्छता के अल्प स्तर की ओर भी ध्यान खींचा ।

सामुदायिक विकास :

योजना आयोग की स्थापना से देश में पंचवर्षीय योजनाओं और सामुदायिक विकास कार्यक्रमों का सूत्रपात हुआ । राष्ट्रीय प्रसार सेवा और सामुदायिक विकास खंडों को राष्ट्र के विकास में मील का पत्थर समझा जा सकता है । सामुदायिक विकास इसी उद्देश्य को लेकर चले हैं कि संपूर्ण समुदाय का सामाजिक व आर्थिक विकास हो और कार्यक्रम में पूरे समुदाय का सक्रिय सहयोग और पहल हो । स्वास्थ्य सामुदायिक विकास का महत्वपूर्ण अंग हैं क्योंकि स्वास्थ्य का स्तर समुदाय के आर्थिक व सामाजिक ढांचे से घनिष्ठ रूप से जुड़ा होता है । सामुदायिक विकास क्षेत्रों में स्वास्थ्य की देखभाल मिलेजुले रूप में होती है जिसमें चिकित्सीय और निरोधक दोनों सेवाओं का ध्यान रखा जाता है और इनमें भी निरोधक पहलुओं पर अधिक जोर दिया जाता है ।

प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र :

ऊपर बताए गए उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक अप्रैल, 1958 से सारे देश में प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों का जाल बिछा दिया गया है । भारत को 5,000 खंडों (ब्लॉकों) में विभाजित किया गया है और प्रत्येक विकास खंड में वर्तमान नमूने के

*   *   *   *

डा. पी. डी. भावे, एम. बी., बी. एस., डी. टी. एम. एवं एच., डी. पी. एच., एफ. सी. पी. एस., भूतपूर्व निदेशक, स्वास्थ्य विभाग, महाराष्ट्र, पूना ।

अनुसार, लगभग 66,000 आबादी वाले करीब 100 गांव होते हैं। प्रत्येक खंड में एक प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र और तीन उपकेंद्र होते हैं जिनके द्वारा खंड क्षेत्र में रहने वाले लोगों के स्वास्थ्य की समग्र रूप से देखरेख की जाती है। प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र द्वारा दी गई विभिन्न स्वास्थ्य सेवाएं गांव वालों के घरों तक पहुंचती हैं। प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र के माध्यम से दी जाने वाली ये सेवायें उस क्षेत्र में पहले से दी गई अन्य स्वास्थ्य सेवाओं के अतिरिक्त होती हैं और इसका उद्देश्य यही है कि ग्रामीण स्वास्थ्य सेवाओं में तेजी लाई जाय। प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों के कार्य को अब परिवार नियोजन कार्यक्रम तथा मलेरिया और चेचक नियंत्रण व उन्मूलन कार्यक्रम के साथ मिला दिया गया है।

आधारभूत स्वास्थ्य सेवाएं :

प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र, लोक स्वास्थ्य संगठन के दूरवर्ती क्षेत्रों की आखिरी कड़ी है। केंद्र ग्रामीण क्षेत्र में निम्नलिखित आधारभूत स्वास्थ्य सेवाओं को उपलब्ध कराता व उनका विकास करता है। ये सभी सेवाएं मुफ्त दी जाती हैं।

1. रोगहर चिकित्सा सेवाओं द्वारा अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के रोगियों को भेषजीय सहायता।

2. परिवार नियोजन, दाइयों के प्रशिक्षण और दुग्ध पोषण कार्यक्रम समेत मातृ तथा शिशु स्वास्थ्य सेवाएं। यद्यपि मुख्य केंद्र में प्रसूति रोगियों के लिए चार शय्याओं की व्यवस्था होती है तो भी जोर गृह सेवा पर ही दिया जाता है।

3. संचारणशील रोगों, विशेषकर चेचक, यक्ष्मा, टेटेनस, हैजा आदि, का नियंत्रण और उनके प्रति प्रतिरक्षीकरण।

4. स्वच्छ शौचालयों, मल की कम्पोस्ट बनाने, मल सोखने वाले गर्त आदि पर विशेष जोर वाली ग्रामीण स्वच्छता और स्वास्थ्यविज्ञान।

5. स्वच्छ पीने के पानी की व्यवस्था।

6. सामयिक स्वास्थ्य की जांच, अनुवर्ती कार्यक्रम व दोषों का संशोधन और स्कूल पोषण-कार्यक्रम की व्यवस्था वाली स्कूली स्वास्थ्य सेवा।

7. जन्ममरण-सांख्यिकी यानी जन्म और मृत्यु के आंकड़ों में सुधार और अन्य जैविक घटनाओं की सही रिपोर्ट, जैसे कि विभिन्न संचारणशील रोगों के होने की। स्वास्थ्य कार्यक्रमों के नियोजन में संपूर्ण जन्ममरण-सांख्यिकी बहुत आवश्यक है।

8. रोगों के निरोध और स्वास्थ्य में सुधार के निमित्त लोगों के सक्रिय सहयोग सुनिश्चित करने के लिए जनता को स्वास्थ्य शिक्षा देना।

नया परिवर्तन :

तीसरी योजना के आरंभ से प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों को इस तरह तैयार कर दिया गया है कि वे बड़ी जिम्मेदारियां संभाल सकें, विशेषकर परिवार नियोजन कार्यक्रम के संदर्भ में जो कि सबसे अधिक अग्रता वाला राष्ट्रीय कार्यक्रम है तथा चेचक व मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम के संदर्भ में भी। लेकिन प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र में स्टॉफ और साधनों की दृष्टि से इन अतिरिक्त आवश्यक और महत्वपूर्ण जिम्मेदारियों को निभाना बड़ा कठिन है। वस्तुत: प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र की सेवाएं मुख्यालय के गांव में और उसके इर्द-गिर्द ही और कुछ सीमा तक उपकेंद्र वाले गांवों तक ही सीमित रह गई हैं। ज्यों-ज्यों हम अंदर व दूरवर्ती क्षेत्रों में जाते हैं त्यों-त्यों वे कम होती जाती हैं। इसका हल इसी में है कि 30,000 से लेकर 40,000 की आबादी वाले प्रत्येक क्षेत्र के लिए एक प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र की व्यवस्था की जाय और साथ ही पराचिकित्सा स्टॉफ का भी प्रबंध किया जाया।

भेषजीय सहायता :

मेडिकल ऑफिसर और अन्य स्टॉफ केंद्र के औषधालय भेषजीय सहायता केंद्रों और उपकेंद्रों के माध्यम से भेषजीय सहायता पहुंचाते हैं। जरूरतमंद रोगियों को अंतरंग सेवा में भर्ती किया

जाता है अथवा अग्रवर्ती अन्वेषण और उपचार के लिए जिला अस्पताल में भेज दिया जाता है। उपचार के साथ-साथ हमेशा स्वास्थ्य शिक्षा भी दी जाती है ताकि उपचार साध्य न बनकर भविष्य में बचाव का साधन भी बन सके। छोटी-मोटी व्याधियों के लिए कुछ चुनी ग्राम पंचायतों में दवाइयों की पेटी (मेडिसिन चेस्ट) की व्यवस्था रहती है। इस तरह स्कूल के शिक्षक या पंचायत मंत्री या सरपंच द्वारा सामान्य चिकित्सा की जा सकती है।

मातृ तथा शिशु स्वास्थ्य सेवाएं :

नयी भा. शि. स्वा. सेवाओं के अंतर्गत मुख्य केंद्र और उपकेंद्रों में जन्मपूर्व (प्रसवपूर्व) तथा जन्मोत्तर (प्रसवोत्तर) सेवाओं की व्यवस्था होती है। इसी तरह स्वस्थ बाल निदान शालाओं का भी प्रबंध किया जाता है। गर्भवती स्त्रियों की अप-सामान्य दशाओं और अन्य रोगों की बड़ी शीघ्रता से पहचान कर ली जाती है और समुचित रूप से उनका उपचार कर लिया जाता है। सेविकाओं या मिडवाइफों द्वारा घर में प्रसव कराए जाते हैं। गर्भवती स्त्रियों, स्तनपान कराती माताओं और 14 वर्ष से कम वाले बच्चों को मलाई उतरा दूध वितरित किया जाता है। मातृ कौशल कक्षाएं लगाई जाती हैं। समग्र स्वास्थ्य कार्यक्रम के अभिन्न अंग के रूप में पोषण, संतुलित आहार, बीमार के भोजन, आंगन बाड़ी (किचन गार्डन के महत्व), वातावरणी स्वच्छता, स्वास्थ्य सुधार और संचारणशील रोगों के नियंत्रण के संबंध में सलाह दी जाती है। सामयिक रूप से चेचक व आंत्र ज्वरों के टीके, डिफ्थीरिया, टेटेनस व काली खांसी के त्रिविध (ट्रिपल) वैक्सीन वाले टीके तथा यक्ष्मा की रोकथाम के लिए बी. सी. जी. के टीके वाले प्रतिरक्षी कार्यक्रम नेमी रूप में चलाए जाते हैं। शिशुओं और स्वस्थ बालकों की देखभाल और पोषण पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

परिवार नियोजन :

चौथी योजना में परिवार नियोजन को बहुत प्राथमिकता दी गई है और ऐसा ठीक ही किया गया है क्योंकि यदि इस बढ़ती आबादी को रोकने के लिए लड़ाई की तैयारी सरीखे कदम नहीं अपनाए जाएंगे तब तक विकास कार्यक्रमों के लाभ इतने कम होंगे कि वे लगभग नजर ही नहीं आएंगे। भारत में परिवार नियोजन का मुख्य उद्देश्य है, हर संभव प्रयत्न से 40 प्रति 1, 000 आबादी वाले जन्म दर को जल्द से जल्द आधा कर देना।

फिर भी यह याद रखना बहुत जरूरी है कि परिवार का नियोजन करना और 3 बच्चों की सीमा वाला छोटा परिवार व्यक्तिगत बात है। अतः यह जरूरी है कि व्यक्तियों को उनके अपने समूहों में ही मिला जाय। सीमित परिवार बनाए रखने के संबंध में लोगों को तदनुसार शिक्षा देने और इस संदर्भ में उचित जानकारी देने के लिए, कि परिवार नियोजन क्लीनिक कहां स्थित हैं और कहां ऐसी सलाह और सामग्री उपलब्ध हो सकती है, सबसे उपयुक्त पात्र हैं अप्राविधिक क्षेत्र-कार्यकर्ता। आजकल जोर इन बातों पर दिया जाता है—(क) प्रसार उपगमन या प्रसारविधि अर्थात् क्लीनिकों के अतिरिक्त अन्य एजेन्सियों की व्यवस्था, उपयुक्त दंपतियों को परिवार नियोजन के लिए प्रेरित करने या तैयार करने में गांव के नेताओं का सदुपयोग (प्रति 1000 की आबादी में लगभग 160 दंपतियों को परिवार नियोजन की आवश्यकता होती है), डिपो-वालों आदि के माध्यम से गर्भनिरोधकों (कंट्रसेप्टिव) को आसानी से सुलभ कराना, (ख) अधिक जोर बंध्यीकरण आपरेशन पर, विशेषकर पुरुषों में क्योंकि यह सरल भी है और आसानी से भी किया जा सकता है, (ग) बच्चों के जन्म में अंतराल रखना और स्त्रियों द्वारा बड़े पैमाने पर अंतः गर्भाशयी गर्भनिरोधक युक्ति, या सामान्य भाषा में जिसे 'लूप' कहते हैं, द्वारा

परिवार को सीमित रखना।

संचारणशील रोगों का नियंत्रण :

पहले से ही हैजारोधी टीके दिए जाते हैं। टी. ए. बी., त्रिविध (ट्रिपल) और बी. सी. जी. के टीके वाले नियमित प्रतिरक्षीकरण कार्यक्रम।

प्रतिरक्षीकरण कार्यक्रम के अतिरिक्त लोगों को जानपदिक (महामारी) रोगों की तुरंत अधिसूचना, सभी रोगीयों के शीघ्र पृथक्करण और उपचार, जल आपूर्ति के विसंक्रमण, मक्खी-निरोधी उपायों और वमन, मल, कपड़े सरीखे संक्रमी पदार्थों के विसंक्रमण के महत्व के बारे में समझाया जाता है।

राष्ट्रीय मलेरिया व चेचक उन्मूलन कार्यक्रम और फाइलेरिया रोग, कुष्ठ और यक्ष्मा नियंत्रण कार्यक्रम सभी ग्रामोण क्षेत्रों में पहले से ही चल रहे हैं। इसी तरह रतिज रोगों, याज और घेंघा का निरोध प्रगति पर है। हैजा वाले स्थानिक क्षेत्रों, बड़े तीर्थ यात्री केंद्रों तथा फाइलेरिया रोग व गिनी कृमि (गिनी वर्म) रोग में आपूर्ति परियोजना को प्राथमिकता दी जाती है।

वातवरणी स्वच्छता :

पीने के पानी की अपर्याप्त और असुरक्षित आपूर्ति तथा विष्ठा के अल्पविकसित और अस्वच्छ निपटान से जठर-आंत्र रोग व्यापक रूप में फैल जाते हैं। अतः शुद्ध और पर्याप्त जल की आपूर्ति तथा मल का स्वच्छ निपटान सभी समुदायों की आधारभूत आवश्यकतायें हैं। स्वच्छता कार्यक्रम में स्वच्छ कुंओं तथा ऊपरी टंकियों और गांव में उपयुक्त स्थानों पर नलों द्वारा, नए कुंओं की व्यवस्था, जहां संभव हो नल कूपों, गिनी कृमि रोग से बचने के लिए सीढ़ी वाले कुंओं का कर्षण-कुओं में परिवर्तन, अनिश्चित और अक्रिय पोटेशियम परमैंगनेट की अपेक्षा सस्ते और अधिक प्रभावकारी ब्लीचिंग पाउडर से पीने के पानी का विसंक्रमण आदि सम्मिलित है।

दूसरे, भूमि प्रदूषण से बचाव किया जाना चाहिए और इस प्रयोजन के लिए स्वच्छ शौचलयों और पेशाबघरों का विकास किया गया है। सामान्यतया ग्रामीण क्षेत्रों के सभी स्कूलों और सभी समुदाय केंद्रों में इनका निर्माण किया जाता है। जमावों और मेलों में इस पहलू पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

अनुभव से पता चलता है कि सार्वजनिक शौचालयों से काम नहीं चलता और प्रत्येक परिवार के लिए शौचालय होना चाहिए। दुर्भाग्य की बात है कि गांव वाले शौचालय की आवश्यकता अनुभव नहीं करते। उनको शौचालय की आदत वाला बनाना और स्वच्छ प्रकार के शौचालयों के निर्माण और प्रयोग के लिए प्रेरित करना बहुत कठिन कार्य है। अच्छे खुदे शौचालय, कूप शौचालय, हस्त-संप्रवाही (हैन्ड फ्लश) शौचालय, सेप्टिक टैंक शौचालय अथवा जलीय कूप शौचालय सभी स्वच्छ प्रकार के शौचालय हैं और इनमें मेहतर की जरूरत नहीं होती।

हाल ही में घरेलू प्रकार के गोबर गैस संयंत्र बनाने के लिए प्रोत्साहन दिया जा रहा है। इससे केवल रोशनी और पकाने के लिए आवश्यक गैस ही प्राप्त नहीं होगी बल्कि कृषि के लिए अच्छी खाद भी प्राप्त होगी। आवास की दशाओं में सुधार और बेकार पानी का उचित निपटान इस क्षेत्र की कुछ अन्य महत्वपूर्ण गतिविधियां हैं।

जन्ममरण-सांख्यिकी :

जन्म, मृत्यु, व्याधियों व मर्त्यता के कारणों सरीखे सही और पूरे जैविक आंकड़ों से ही किसी क्षेत्र की स्वास्थ्य दशाओं की सही तस्वीर पता चल सकती है। ऐसे आंकड़ों से स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विभिन्न स्वास्थ्य सेवाओं को संगठित करने और उनसे लाभ प्राप्त करने में मदद मिलती है। भविष्य की योजना करना और वर्तमान योजनाओं की प्रगति का

मूल्यांकन तभी संभव है जबकि पूरे और सही जैविक आंकड़े उपलब्ध होंगे। जन्ममरण-सांख्यिकी संबंधी रजिस्टर तैयार करने में लोगों का सहयोग जरूरी है। जन्म, मृत्यु और संचारणशील रोगों जैसी अन्य घटनाएं पंचायत मंत्री तथा स्वास्थ्य केंद्र के मेडिकल ऑफीसर को अधिसूचित कर दी जानी चाहिए।

स्कूल स्वास्थ्य :

यह कार्यक्रम बच्चे की शारीरिक, आवेशात्मक, बौद्धिक व सामाजिक वृद्धि और विकास से संबद्ध है। बच्चे का स्वास्थ्य निरीक्षण पूरी तरह से (चित्र 41.5) प्राथमिक पाठशाला में भर्ती होने पर और फिर नियमित रूप से 3-5 वर्ष के अंतर पर होता रहना चाहिए। प्रत्येक बच्चे के स्वास्थ्य की समुचित जांच और अनुवर्ती कार्य का कार्ड रखा जाता है। माता-पिता अभिभावकों को बच्चे के दोषों की सूचना देने और दोषों को ठीक करने के हेतु ऐसे विद्यार्थियों को जिला अस्पतालों में भेजने की व्यवस्था है। पहले बताए गए प्रतिरक्षीकरण कार्यक्रम नेमी प्रकार से और महामारी के दौरान संपन्न किए जाते हैं।

स्कूल एक ऐसा आदर्श स्थान है जहां बच्चों में अच्छी प्रवृत्ति और स्वास्थ्य के प्रति सही रुख वाली आदतें डाली जा सकती हैं। इस प्रयोजन के निमित्त अच्छे पीने के पानी की आपूर्ति तथा स्वच्छ शौचालयों व पेशाबघरों की अच्छी व्यवस्था होनी चाहिए। वास्तव में स्कूल को सहायक अनुदान देते समय ही यथेष्ट प्रकाश, संवातन, बैठने के प्रबंध जैसी व्यवस्थाओं के साथ-साथ इन सुविधाओं की शर्तें बता दी जानी चाहिए।

विद्यार्थी के पोषण पर आज की तुलना में और अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। जहां तक हो सके पोषण कार्यक्रम का यह उद्देश्य होना चाहिए कि महत्वपूर्ण पोषक तत्वों का संपूर्ण किया जाये; जैसे कि प्रोटीन व विटामिनों का जो कि घर में प्राप्त होने वाले भोजन में कम मात्रा में पाए जाते हैं। स्कूल के विद्यार्थियों को घरों में आंगनबाड़ी—(किचन गार्डन) बनाकर हरी और पत्तेदार सब्जियां उगाने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

स्वास्थ्य शिक्षा :

स्वास्थ्य शिक्षा का उद्देश्य यही है कि लोग स्वयं अपनी क्रियाओं और प्रयत्नों से 'स्वास्थ्य' का अर्जन करें। स्वास्थ्य संबंधी ज्ञान से लोग आवश्यकतानुसार अपनी आदतों व अभ्यास में परिवर्तन करके तथा अज्ञान, पूर्वाग्रहों व गलतफहमियों से ऊपर उठकर स्वस्थ रहन-सहन की ओर अग्रसर हो सकते हैं। व्यक्ति, समुदाय तथा सामाजिक स्वास्थ्य संबंधी आदतों, प्रवृत्तियों और ज्ञान को और फिर जीवन की संपूर्ण प्रणाली को एक अच्छे रूप में ढालना ही स्वास्थ्य शिक्षा का अभिनव दर्शन है। प्रत्येक व्यक्ति के मन में यह बिठाना जरूरी है कि स्वास्थ्य का मतलब यह नहीं कि बस रोग या विरूपता की अनुपस्थिति। स्वास्थ्य का अर्थ है शरीर की पूरी क्षमता, स्वस्थ मस्तिष्क तथा आवेशों का सन्तुलन और इस तरह इससे मानव के ऊंचे प्रकार के सारमय जीवनयापन करने तथा पूरी दक्षता व खुशी से कार्य करने में अवश्य सहायता मिलेगी।

सार्वजनिक स्वास्थ्य की दृष्टि से जो "स्वास्थ्य की आवश्यकता होती है वह उपयुक्त स्वास्थ्य शिक्षा और क्रिया के निमित्त उचित अभिप्रेरण द्वारा लोगों की "महसूस की जाने वाली" आवश्यकता बन जाती है और यदि उचित रूप से कार्यान्वयन किया जाये और सतत रूप से प्रयत्न जारी रखे जायें तो अकेले यही विधि लोगों द्वारा सहर्ष स्वीकार किए जाने वाले विविध स्वास्थ्य कार्यक्रमों में बहुत सहायक सिद्ध होगी।

भारत में सामुदायिक विकास कार्यक्रम पूरे जोरों पर है। यह भारत के सारे गांव वाले इलाके

में फैला हुआ है जहां 80 प्रतिशत से अधिक लोग रहते हैं। स्वास्थ्य सामुदायिक विकास का अभिन्न अंग है। यह निश्चित है कि इस कार्यक्रम को और प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों द्वारा भारत के लोगों के उन्नत स्वास्थ्य वाले सपने को पूरा करने में काफी दूरी तय करनी होगी।

• • •

59

—डा० सी० मणि
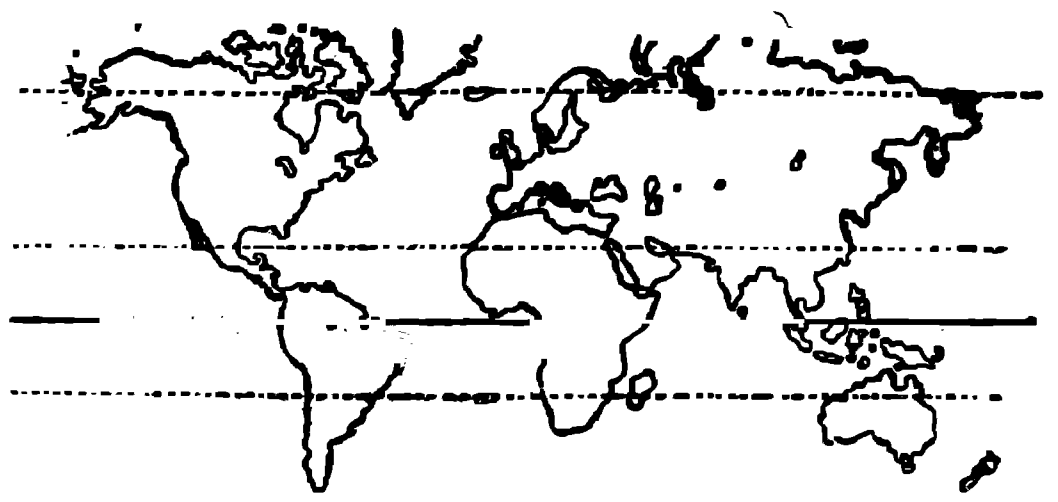
विश्व स्वास्थ्य संगठन

कुछ संयुक्त मानवता के आदर्श के लक्ष्य से और कुछ बढ़ते हुए संचार व पर्यटन के व्यावहारिक दबाव से संसार के राष्ट्रों ने संयुक्त रूप से विचार-विमर्श और कार्य करने की युक्तियां खोज कर उनका उपयोग करना अवश्यकरणीय समझा। इस प्रयोजन के प्रमुख साधन हैं संयुक्त राष्ट्र संगठन और उसकी परिषदें व आयोग तथा विशेष एजेंसियां, जिनमें से विश्व स्वास्थ्य संगठन (वि. स्वा. सं.—W.H.O.) भी एक एजेंसी है। इनमें से प्रत्येक एजेन्सी मानव जीवन व मानव संबंधों के एक विशेष पहलू वाली अंतर्राष्ट्रीय गतिविधि का दायित्व संभाले रहती है।

वि. स्वा. सं. (W.H.O.) का उद्देश्य :

1948 में स्थापित विश्व स्वास्थ्य संगठन नामक संस्था स्वास्थ्य की विशेषित एजेंसी है। "सभी देशों के लोगों द्वारा उच्चतम स्तर का स्वास्थ्य लाभ करना" ही इसका उद्देश्य है और इसके संविधान के आमुख में इस प्रकार से टिप्पणी दी गई है—"पूरी तरह से शारीरिक, मानसिक और सामाजिक कुशल क्षेम की स्थिति ही स्वास्थ्य है न कि केवल रोग या अशक्तता की अनुपस्थिति"। अतः अनूठे आदर्श और अत्यधिक परिश्रम वाला दायित्व है उक्त संगठन का। अब यही देखना है कि इतने बड़े आदर्श को यह संगठन कार्य रूप में किस तरह परिणत करता है ?

वि. स्वा. सं. द्वारा सहायता :

ऊपर वाले प्रश्न का समाधान संक्षेप में इस प्रकार से है : प्राथमिक रूप से संगठन और समन्वय द्वारा। हर समय ऐसा होता है कि जितना आयुर्विज्ञानीय ज्ञान होता है उसका बहुत कम अंश व्यावहारिक रूप से कार्य करने में प्रयुक्त होता है। वि. स्वा. सं. (W.H.O.) का कार्य है स्वास्थ्य संबंधी समस्या के समाधान की जानकारी हासिल करना और उसका वहां प्रयोग करना जहां कि आवश्यकता होती है। सामान्यतया यह किया जाता है कि अच्छी जानकारी या ज्ञान और अनुभव वाले व्यक्ति को चुनकर, यदि आवश्यक हो तो सहायक दल के साथ, उस देश में भेजा जाता है जिसने कि सहायता मांगी होती है। लेकिन यह विधि वहीं के लिए ठीक व व्यावहारिक है जहां अध्ययन या प्रयोगशाला से जानकारी प्राप्त करके व्यवहार में लाई जा चुकी है।

*　*　*　*

डा. सी. मणि, क्षेत्रीय निदेशक, विश्व स्वास्थ्य संगठन, दक्षिण पूर्व एशिया क्षेत्रीय कार्यालय, नई दिल्ली।

नई समस्याओं के लिए प्रक्रिया अधिक विस्तृत है। यदि वि. स्वा. सं. के लिए विषय नया है तो 'एक अध्ययन दल' को साथ बिठाकर समस्या के समाधान के लिए विचार-विमर्श किया जाता है। यदि संबद्ध आयुर्विज्ञानीय प्रश्न स्पष्ट नहीं है तो 'वि. स्वा. सं. विशेषज्ञ समिति' से संभवतया प्राधिकृत राय मांगी जाएगी, जिसमें कि विभिन्न संबद्ध मतों का समन्वय या समाधान किया जाएगा। इस राय का फिर "पाइलट" या प्रायोगिक परियोजनाओं द्वारा परीक्षण किया जाता है अथवा अन्य बैठकों में इस पर चर्चा हो सकती है जिनमें सार्वजनिक स्वास्थ्य प्राधिकारियों और क्षेत्र-कार्यकर्ताओं के विचार भी अधिक महत्व के होते हैं। किसी भी तरह यदि प्रायोगिक परियोजनाएं सफल हो जाती हैं तो ये विधियां देश के अन्य प्रभावित भागों में भी लागू कर दी जाती हैं। इसमें असफलता स्थानीय दशाओं के प्रति ठीक से समंजन न हो पाने या ज्ञान की कुछ कमी के कारण हो सकती है जिसे या तो क्षेत्र में ही सुधारा जा सकता है या पुनः विशेषज्ञ सलाह या और अधिक आधारभूत अनुसंधान द्वारा ठीक किया जा सकता है। व्यवहार और अनुसंधान परस्पर क्रिया करते हुए एक-दूसरे का संपूरण करते हैं। साथ ही विशेषज्ञ समिति की रिपोर्ट के आधार पर अन्य देश समस्या विशेष का समाधान बिना वि. स्वा. सं. की सहायता के स्वयं कर सकते हैं।

वि. स्वा. सं. की सहायता अनुरोध पर ही :

वि. स्वा. सं. स्वयं ही अनुसंधान नहीं करता। यह अनुसंधान राष्ट्रीय या निजी अनुसंधान संस्थाओं द्वारा किया जाता है जिनमें से कुछ को वि. स्वा. सं. द्वारा अर्थ सहायता, शिक्षावृत्ति आदि के माध्यम से सहायता दी जाती है। दुनिया के किसी भी कोने के लोगों के स्वास्थ्य लाभ के निमित्त सही लोगों को एक साथ करके वि. स्वा. सं. उन्हें अनुसंधान के परिणामों को कार्य रूप में परिणत करने के लिए प्रेरित करता है और इस कार्य में सहायता देता है।

यही बात इस श्रृंखला के दूसरे सिरे पर भी लागू होती है। देश का स्वास्थ्य से सम्बद्ध कार्य उस देश की सरकार का होता है और वि. स्वा. सं. का कोई भी अधिकार नहीं है कि वह इस उत्तरदायित्व के किसी भाग का भी वहन करे या उसमें हस्ताक्षेप करे। हां, तब की बात अलग है जबकि उस देश की सरकार इस संबंध में अनुरोध करे। वि. स्वा. सं. किसी भी देश में संचारणशील रोग के नियंत्रण सरीखे किसी कार्य के लिए नहीं जाता। किसी भी देश की स्वास्थ्य परियोजना उस देश की सरकार द्वारा शुरू की जाती व चलाई जाती है। जब इन कुछ परियोजनाओं में वि. स्वा. सं. की सहायता मांगी जाती है तो इस सहायता से संबद्ध सारे सामान्य सिद्धांतों का निर्धारण वि. स्वा. सं. और उस देश की सरकार के बीच के करार में किया जाता है। हर विशेष परियोजना में प्रत्येक के द्वारा किया जाने वाला कार्य वि. स्वा. सं. और उस देश की सरकार के बीच किए गए करार में सुस्पष्ट रूप से लिखा होता है। उदाहरण के लिए, यदि वि. स्वा. सं. और यूनिसेफ (UNICEF—संयुक्त राष्ट्र शिशु निधि) संयुक्त रूप में सहायता दे रहे हैं तो यह करार तीन संस्थाओं के बीच होगा और यह आठ अनुच्छेदों में विभक्त होगा : संबंधों का आधार; उद्देश्य; कार्य की योजना; उत्तरदायित्वों का संचालन और आबंटन; यूनिसेफ की वचनबद्धता; सरकार की वचनबद्धता; तथा अंतिम व्यवस्थाएं। वि. स्वा. सं. के तकनीकी संस्था होने के नाते इसका योगदान प्रायः तकनीशियनों और शिक्षा-वृत्तियों आदि के माध्यम से होता है। यूनिसेफ जब कभी भी ऐसी परियोजना में सम्मिलित होता है तो वह आवश्यकतानुसार आपूर्ति करता है।

स्वास्थ्य कार्मिकों की शिक्षा :

विश्व स्वास्थ्य की प्रगति में योग्य कार्यकर्ताओं

का अभाव सबसे बड़ी बाधा है। इजराइल में प्रति डाक्टर 400 व्यक्तियों वाली विशेष रूप से अच्छी व्यवस्था है। अन्य देशों में तो प्रति डाक्टर हजारों या 1,00,000 व्यक्ति हैं। इसी तरह परिचारिकाओं, मिडवाइफों (प्रसूति सहायकों), पशुचिकित्सकों (वैटेरिनेरियन), भेषजज्ञ (फार्मेसिस्ट), स्वास्थ्य शिक्षकों,सैनीटरी इंजीनियरों और अन्य कार्यकर्ताओं के संबंध में भी यही बात है। कुछ देशों में तो इससे भी बुरी दशा होती जा रही है क्योंकि व्यवसायी शिक्षा के प्रसार की तुलना में आबादी की वृद्धि कहीं अधिक होती जा रही है।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के अंतर्गत प्रशिक्षित लोगों — स्वास्थ्य सेवा के मुखिया से लेकर स्टॉफ के सभी श्रेणी के सदस्यों की जरूरत है कि वे इस योजना को चला सकें। इसीलिए वि. स्वा. स. ने अपने आरंभिक दिनों से ही स्टॉफ के सभी श्रेणी के सदस्यों की शिक्षा और प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान दिया है। इस संस्था ने कभी-कभी नए विभागों को स्थापित करने के लिए उस देश द्वारा प्रोफेसरों की नियुक्ति तक प्रोफेसरों की व्यवस्था करके मेडिकल कालेजों को प्रोत्साहित भी किया है और सहायता भी दी है। साथ ही यह संगठन विचार- विमर्श व ज्ञान के विनिमय के लिए सम्मेलनों और विचार-संगोष्ठी का भी आयोजन करता रहा है और यही नहीं अच्छे स्वास्थ्य शिक्षकों को अन्य देशों में वहां के तौर-तरीकों को देखने के लिए भेजने में भी सहायक रहा है। परिचर्या और प्रसूतिविद्या (मिडवाइफरी) संबंधी स्कूलों को इसी तरह की विधियों द्वारा प्रोत्साहन व सहायता दी है तथा कई विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण-पाठ्यक्रमों की सलाह दी गई है और शिक्षकों की व्यवस्था भी की गई है। जिस देश को सहायता दी जाती है उसको प्रशिक्षण देने के निमित्त काफी संख्या में शिक्षावृत्तियां (फेलोशिप) दी गई हैं। हमेशा ही यही उद्देश्य रहा है कि, जहां तक संभव हो, बीमार की देखभाल और चिकित्सा के साथ-साथ निरोधी स्वास्थ्य कार्य को प्रोत्साहन मिले।

प्रशासन :

किसी भी अन्य अंतर्राष्ट्रीय संगठन की तुलना में वि. स्वा. सं. के क्षेत्रीय संगठनों का तंत्र बहुत पूर्ण व पक्का बनाया गया है। केवल यही ऐसी विशेषित एजेन्सी है जिसके संविधान में क्षेत्रीकरण की सुनिश्चित व्यवस्था है। हो सकता है कि अंतर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य कार्य का इतिहास ही इस व्यवस्था का कारण रहा हो क्योंकि संविधान बनने के बहुत पहले से ही क्षेत्रीय स्वास्थ्य संगठन थे लेकिन इसका व्यावहारिक कारण संभवतया यह रहा होगा --स्वास्थ्य कार्य में अंतर्राष्ट्रीय सहायता तभी प्रभावकारी होती है जब केन्द्रीय-नियंत्रण सहायता पाने वाले देश के निकट होता है। 1948 की प्रथम स्वास्थ्य सभा ने छ: इलाकों का सीमा निर्धारण किया (तत्वतः वर्तमान छ: क्षेत्रों का) और उनके लिए क्षेत्रीय संगठन बनाने का काम इस प्रकार आरंभ कर दिया कि दक्षिणी पूर्व एशिया वाला पहला क्षेत्रीय संगठन पहले ही 1949 में कार्य करने लगा था। इसका मुख्यालय नई दिल्ली में है और इसके सदस्य हैं : अफगानिस्तान, बर्मा, श्रीलंका, भारत, इंडोनेशिया, माल्डाइव द्वीपसमूह, मंगोलिया, नेपाल और थाइलैंड।

छ: क्षेत्रों में से प्रत्येक क्षेत्रीय संगठन में एक क्षेत्रीय समिति और एक क्षेत्रीय कार्यालय होता है। क्षेत्रीय समिति में सदस्य देशों के प्रतिनिधि और क्षेत्र के संयुक्त सदस्य होते हैं। क्षेत्रीय कार्यालय का मुखिया क्षेत्रीय निदेशक होता है, जिसकी सहायता के लिए तकनीकी और प्रशासन-अधिकारी होते हैं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा दी गई सहायता :

सरकारों के अनुरोध पर क्षेत्रीय निदेशक आकलन के बाद तत्संबंधी कार्यक्रम और दो साल के

बजट के प्रस्ताव क्षेत्रीय समिति के संमुख रखता है। फिर क्षेत्रीय समिति द्वारा अभिशंसित होने के बाद ये प्रस्ताव अनुमोदन के लिए वि. स्वा. सं. के महानिदेशक, कार्यकारी मंडल और अंततः विश्व स्वास्थ्य सभा के सम्मुख रखे जाते हैं। क्षेत्र विशेष में परियोजनाओं को संगठित करने और चलाने का कार्य क्षेत्रीय कार्यालय का होता है। दक्षिण पूर्व एशिया में वि. स्वा. सं. ने अब तक लगभग 500 परियोजनाओं में सहायता दी है जिनमें मलेरिया, यक्ष्मा, चेचक, कुष्ठ, रतिज रोग, याज़ और रोहे (ट्रैकोमा) सरीखे संचारणशील रोगों, मातृ तथा शिशु स्वास्थ्य सेवाओं, परिचर्या, आयुर्विज्ञानीय शिक्षा, वातावरणी स्वच्छता, ग्रामीण स्वास्थ्य, जन्म-मरण व स्वास्थ्य संबंधी आंकड़ों, स्वास्थ्य शिक्षा, मानसिक स्वास्थ्य और पोषण में सुधार वाली परियोजनाएं सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त इसके सदस्यों ने करीब 100 अन्तरक्षेत्रीय परियोजनाओं में भाग लिया, जिनमें अधिकांशतया संगोष्ठियां, अध्ययन बैठकें और सम्मेलन थे। संगठन ने दक्षिण पूर्व एशिया के सार्वजनिक स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं को विदेश में अध्ययन के लिए 1300 से अधिक शिक्षावृत्तियां भी प्रदान कीं।

वि. स्वा. सं. में अब 120 सदस्य देश हैं। अपनी सरकारों के माध्यम से दुनिया के लोगों का भारी बहुमत संगठन से संबद्ध है और परियोजनाओं के द्वारा यह किसी न किसी रूप में लोगों की सेवा व सहायता करके अपने कार्य से उन्हें लाभ पहुंचाता है।

* *

वि. स्वा. सं. स्वास्थ्य के अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का प्रतीक है। सभी स्वास्थ्य कार्यक्रमों के लिए राष्ट्रीय स्तर पर लोगों का सहयोग बहुत जरूरी है। सरकार इन कार्यक्रमों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि इसमें लोगों की जिम्मेदारी वाली भूमिका नहीं है। प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने परिवार तथा पड़ोसी परिवारों के रोग निरोधक व स्वास्थ्य उन्नयन कार्य में सक्रिय रूप से सहयोग दे। इस प्रयोजन के निमित्त दी जाने वाली सुविधाओं का अधिक से अधिक उपयोग कर लिया जाना चाहिए और सरकार के कार्यों में पूरी तरह से सहयोग दिया जाना चाहिए।

—**संपादक**

• • •

—डा० पी० डी० भावे

60
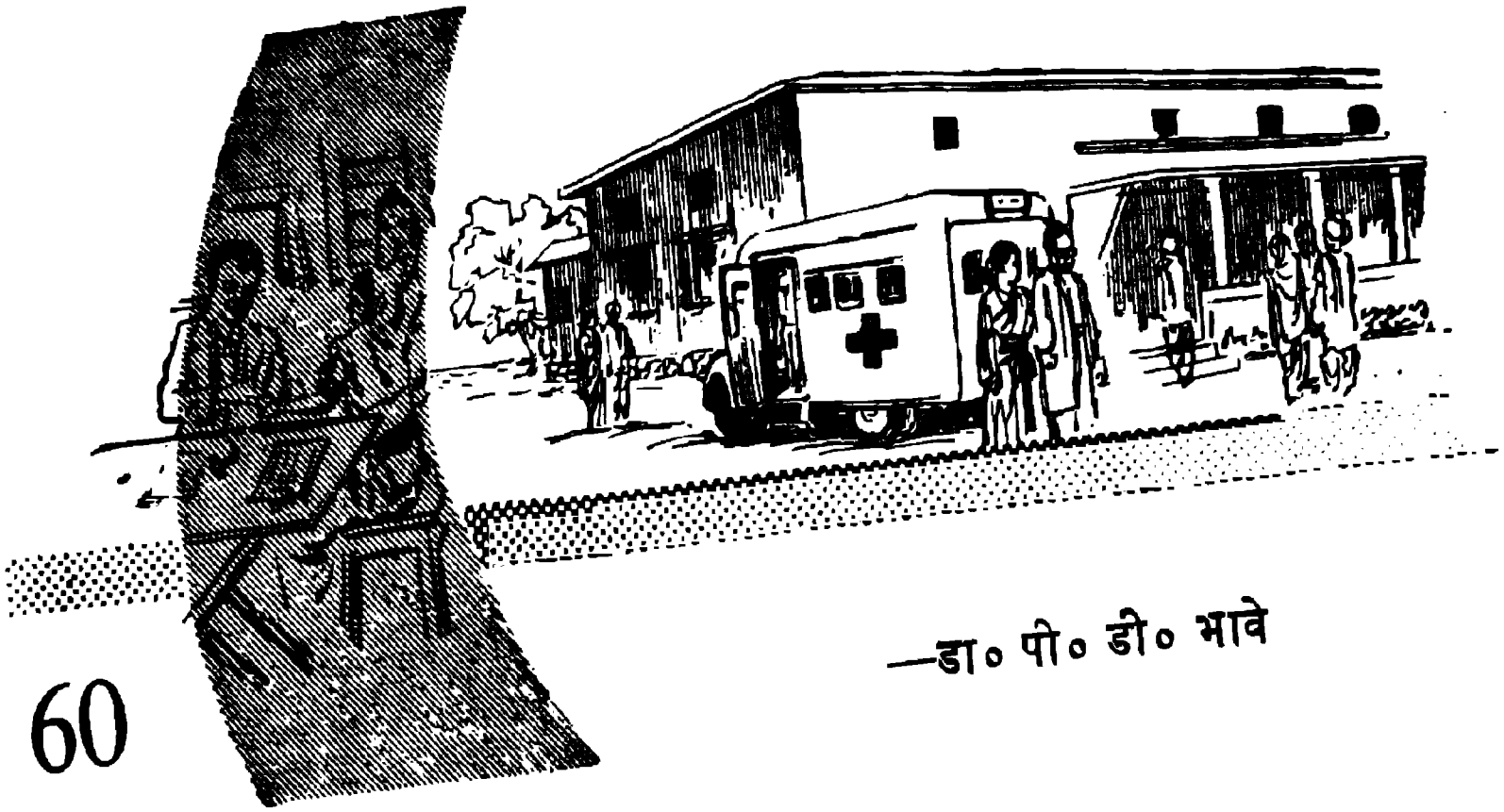
भोजन में मिलावट

भारत में आबादी के विस्फोट यानी आबादी की विषम वृद्धि की समस्या के कारण लोगों को निरंतर अन्न की कमी और चीजों के दामों में निरंतर बढ़ोत्तरी से जूझना होगा। वैसे इसके परिणाम बहुत बुरे रहे हैं और भोजन में मिलावट करना और उसका अधिक से अधिक चलन होना इनमें से एक महत्वपूर्ण दुष्परिणाम रहा है। पिछले 8-10 वर्षों में लोगों को इस समस्या से बहुत जूझना पड़ा है। बिना आवश्यक पोषण तत्वों वाला अपूर्ण भोजन बच्चों व बड़ों सभी की शारीरिक वृद्धि व स्वास्थ्य को बुरी तरह से प्रभावित कर रहा है और इस पर फिर भोजन में मिलावट हो जाने से और भी कुप्रभाव पड़ते चले जाते हैं।

भोजन में मिलावट से लोगों के स्वास्थ्य पर सचमुच बहुत प्रभाव पड़ रहा है। इससे क्या गरीब और क्या अमीर सभी समान रूप से प्रभावित हो रहे हैं। बढ़ते दामों से त्रस्त व्यक्ति सस्ता देखकर कुछ पैसा बचाने की सोचता है और उधर कुछ बुरी नीयत वाले लोग इस बात का नाजायज फायदा उठाते हैं और भोजन में मिलावट करते हैं। भोजन में मिलावट करके उसे सस्ता बनाने के लिए जिन चीजों का इस्तेमाल किया जाता है वे विषैली हो सकती हैं और स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव डाल सकती हैं।

भोजन की मिलावट से हमारे स्वास्थ्य पर जो बुरे प्रभाव पड़ते हैं वे आरंभ में प्रायः बहुत मंद होते हैं और सामान्यतया हमारा ध्यान आकर्षित नहीं करते। ये प्रायः घातक होते हैं और इनके प्रभाव दूरगामी होते हैं। यदि मिलावट वाला भोजन लंबे समय तक खाया जाय तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि स्वास्थ्य बुरी तरह से ग्रस्त न हो। मिलावटी भोजन खाने से बच्चों की शारीरिक वृद्धि रुक जाती है और बच्चों में ही नहीं बल्कि बड़ों में भी इससे रोगों के प्रति अवरोधक्षमता कम हो जाती है। फिर इसका परिणाम यह होता है कि श्रमिकों की कमी के कारण फार्म और उद्योगों के उत्पादन में भी कमी आ जाती है। पीड़ित व्यक्ति बीमारी में तो प्रायः उपचार कराता

* * * *

डा. पी. डी. भावे, एम. बी., बी. एस., डी. टी. एम. एवं एच., डी. पी. एच., एफ. सी. पी. एस., भूतपूर्व निदेशक, स्वास्थ्य विभाग, महाराष्ट्र, पूना।

है लेकिन मूलभूत कारण की ओर यानी भोजन की मिलावट की ओर ध्यान नहीं देता। आम आदमी अपेक्षतया सस्ते दामों पर ही अन्न व खाद्य पदार्थों को खरीदता है लेकिन उसे नहीं मालूम कि ऐसे सस्ते पदार्थ मिलावट वाले हैं और इनमें पोषक तत्वों की भी कमी होती है।

कभी भी जब भोजन के विषाक्तन से कई लोग पीड़ित हो जाते हैं तो होहल्ला मच जाता है, अखबारों में लेख छपते हैं और भोजन की मिलावट से बढ़ते जाने वाले खतरों की ओर ध्यान आर्कषित कराया जाता है। कुछ समय पहले ही पश्चिमी बंगाल से ऐसी खबरें पढ़ने को मिली थीं कि सरसों के तेल में सत्यानाशी (आर्जिमोन) के तेल की मिलावट से लोगों के सारे शरीर पर जलशोफ (ड्रॉप्सी) हो गया, वे हृदरोग से पीड़ित हो गए और यहां तक कि लोगों की जानें भी चली गईं। ऐसे भी समाचार मिले कि सबलवाय (ग्लॉकोमा) नामक रोग उत्पन्न हो जाने से दृष्टि में धुंधलापन आ गया यानी आंखों की ज्योति मंद पड़ गई और जिससे बाद में पूरा ही अंधापन हो जाता है। बंगाल में, 1935 में, ऐसे करीब 7000 व्यक्ति थे जो इस प्रकार की मिलावट से पीड़ित हुए और इनमें से करीब 1500 व्यक्तियों की जानें गईं। वैसे बम्बई में, 1966 में, इस प्रकार से पीड़ित व्यक्ति कम ही थे। पूना में भी, 1969 में, इस प्रकार के रोगी कम ही थे। भले ही पैरों पर जलशोफ अवश्य देखा गया लेकिन जान जाने के समाचार नहीं मिले। छानबीन के बाद पता चला कि इसका कारण था रुचिकर या खाने वाले तेल (स्वीट-ऑयल) में सत्यानाशी के तेल की मिलावट।

मिलावट कैसे की जाती है ?

अपने देश में भोजन में मिलावट करने का धंधा कुछ अधिक ही बढ़ता जा रहा है। महाराष्ट्र में हर साल विभिन्न दुकानों से भोजन पदार्थों के करीब बीस हजार नमूने लेकर उनका निरीक्षण किया जाता है और इनमें से करीब 30 से 55 प्रतिशत नमूने मिलावट वाले होते हैं।

क्या यह मिलावट कुछ विशिष्ट खाद्य पदार्थों तक ही सीमित है ? नहीं, लगभग सभी प्रकार के खाद्य पदार्थों में मिलावट पायी जाती है। सामान्यतया उन्हीं पदार्थों में मिलावट की जाती है जिनका उत्पादन कम किंतु मांग ज्यादा होती है। प्राय: लोग यही सोचते हैं कि दूध, मक्खन, घी और तेल जैसे पदार्थों में ही मिलावट की जाती है लेकिन वे ऐसा इसलिए सोचते हैं क्योंकि मुख्य रूप से इन्हीं पदार्थों के नमूने परीक्षण के लिये जाते हैं और संभवतया इसलिए भी कि आरंभ में व्यापारी लोग केवल इनमें ही मिलावट किया करते थे। हर तरफ बहुमुखी विकास के परिणामस्वरूप खाद्य पदार्थों की मिलावट की किस्मों में भी परिवर्तन हुए हैं। कोई भी अन्न या खाद्य पदार्थ ऐसा नहीं है, जिसमें मिलावट न की जाती हो। महाराष्ट्र में, 1966 में, नमूनों के परीक्षण के आधार पर पदार्थों के निम्नलिखित प्रतिशत में मिलावट पायी गयी :

आइसक्रीम तथा ठंडे फल	70.6 प्रतिशत
दही	67.2 प्रतिशत
हींग	65.3 प्रतिशत
शर्बत, सोडा, लेमन आदि	50.0 प्रतिशत
मक्खन	44.05 प्रतिशत
दूध	33.9 प्रतिशत
मिर्च का चूरा	22.5 प्रतिशत
घी	18.4 प्रतिशत
खाद्य तेल	4.04 प्रतिशत

मिलावट करने वाले पदार्थों का इस्तेमाल खाद्यों का वजन बढ़ाने के लिए और कृत्रिम व विषैले रंगों का इस्तेमाल उनकी बिक्री बढ़ाने के लिए किया जाता है। कभी-कभी सस्ते व निम्न कोटि के पदार्थों से भी मिलावट की जाती है। अन्नों में प्राय: रेत, बजरी या धूल मिला दी जाती है लेकिन इन्हें तो फिर भी आसानी से अलग किया जा सकता है। लेकिन मिलावट वाले पदार्थों को यदि आटे, बेसन या पिसी मिर्च में मिला दिया जाता

है तो तब इन्हें अलग करना मुश्किल हो जाता है। गेहूँ के आटे के साथ मुलायम पत्थर या चने का चूरा भी मिला दिया जाता है। मिल में जब गेहूं पीसा जाता है तो कभी-कभी अनजाने में ही लोहे के कण आटे में मिल जाते हैं। इन कणों को चुम्बक के नीचे आटे को चलाने से अलग किया जा सकता है। बेसन में कभी-कभी केसरिया रंग की लाखी दाल का चूरा मिला दिया जाता है। यदि लाखी दाल को कुछ घंटों के लिए उबलते पानी में डुबोकर रखा जाय और फिर उबलते पानी में ही उसे अच्छी तरह से धोकर फिर सुखाया जाय तो उसमें से विषैले पदार्थ अलग हो जाते हैं। यदि लाखी दाल को लगातार कुछ महीनों तक खाया जाय तो इससे एक रोग हो जाता है जिसे लैथाइरसरुग्णता (लैथिरिज़्म) कहते हैं और आदमी में लंगड़ापन आ जाना इसका एक लक्षण है। इससे रोगी लाठियों की सहायता से तिरछा-तिरछा चलता है या पैर घिसटता हुआ चलता है। यह लंगड़ापन फिर स्थायी बन जाता है क्योंकि अभी तक इसके इलाज का कोई भी उपाय कारगर नहीं हुआ है। इसी प्रकार के रोगी भोपाल, रीवा आदि में बहुतायत से देखे जाते हैं। लाखी की दाल वाली फसल गेहूं की फसल के साथ बिना अधिक पानी के सुगमता और बहुतायत से उगाई जा सकती है और चूंकि यह फसल ऊसर भूमि में अच्छी उगती है, इसलिए कई गरीब किसान इसे खूब उगाते हैं।

दूध से क्रीम अलग निकालकर उसमें पानी मिला दिया जाता है। यदि पानी रोगाणुओं द्वारा संक्रमित होता है तो इससे प्रवाहिका (डायरिया), पेचिश (डीसेन्टरी) तथा टायफायड-जैसे रोग हो जाते हैं। दूध का गाढ़ापन बढ़ाने के लिए उसमें शकरकन्द का आटा मिला दिया जाता है और 'बसुन्दी' या 'रबड़ी' सरीखे गाढ़े उबले दूध से बने मीठे व्यंजन में स्याहीसोख या ब्लॉटिंग पेपर की लुगदी मिला दी जाती है। मक्खन या घी में वनस्पति तेल मिला दिए जाते हैं। अधिक ऊंचे दाम पर बिकने वाले तेल में सस्ता व निकृष्ट कोटि का तेल मिला दिया जाता है। व्यापारी लोग कभी-कभी सत्यानाशी का तेल या सफेद तेल (ह्वाइट ऑयल), ट्रांसफॉर्मर, तकुए या स्विच वाले तेल सरीखे खनिज तेल भी मिला देते हैं जो कि स्वास्थ्य के लिए बहुत हानिकारक होते हैं। मिर्च के चूरे में नमक, बुरादा, मिट्टी, बारीक बालू या टैल्कम पाउडर और कोलतार या अलकतरे से बने हानिकारक रंग मिला दिए जाते हैं कि वह आकर्षक लाल रंग का दिखे। दालों व हल्दी को 'धातु पीत' हानिकारक रंगों से पीला चमकदार कर दिया जाता है। इस्तेमाल की हुई चाय की पत्तियों को फेरस सल्फेट से रंग कर उन्हें फिर चाय की ताजी पत्तियों में मिला दिया जाता है। कपड़े धोने के सोडे में बारीक पिसी हुई चीनी मिला दी जाती है। अन्य पेड़ों की छाल को रंगने और सुगंधित कर देने के बाद दालचीनी में मिला दिया जाता है। मक्का के पिच्छकों या पंख-जैसी रचनाओं अथवा लकड़ी के बारीक बुरादे को केसरिया रंग से रंगकर असली केसर में मिला दिया जाता है। मसालों में बुरादा और यहां तक कि घोड़े की लीद भी मिलाई जाती है। कॉफी के चूर्ण के साथ कभी-कभी इमली के बीजों का चूरा भी मिला दिया जाता है। हींग में तो प्रायः मिलावट की ही जाती है। शर्बत, व अन्य पेयों तथा मिठाइयों में प्रायः कोलतार या अलकतरे के हानिकारक रंग मिला दिए जाते हैं जिनका इस्तेमाल कानून के विरुद्ध होता है। चीनी के बदले कानून विरुद्ध हानिकारक सेकरीन और इसेलीन सरीखे रसायनों का इस्तेमाल किया जाता है। भोजन में मिलावट को रोकने वाले नियम के अनुसार यदि किसी खाद्य पदार्थ में सेकरीन का इस्तेमाल किया गया है तो उसके पात्र के बाहर विशेष रूप से उसका उल्लेख अवश्य होना चाहिए।

कानून की पाबंदी :

किसी खाद्य पदार्थ में मिलावट करना सामाजिक दृष्टि से अपराध और नैतिक दृष्टि से पाप है। खाद्य पदार्थों की मिलावट रोकने के लिए कुछ कानूनी व अन्य उपायों का उल्लेख करना भी समीचीन होगा। 'खाद्य पदार्थों में मिलावट रोकने वाला कानून' 1954 में लागू किया गया था और इस संबंध में नियम भी बनाए गए थे। इस अधिनियम के अनुसार प्रत्येक राज्य सरकार अपने कानून बनाकर फिर अपने नियम बनाती है। महाराष्ट्र राज्य विधान परिषद् ने जून 1964 में अपने नियम लागू किए हैं। यह अधिनियम अन्य राज्यों में भी लागू होता है। लेकिन अभी तक यह अधिनियम और इसके नियम केवल शहरी क्षेत्रों में लागू होते हैं। और नगर निगम तथा नगरपालिकाएं अपने आर्थिक साधनों के अनुसार लागू करती हैं। इस प्रयोजन के लिए मिलावट निवारण अधिकारी और खाद्य निरीक्षकों की नियुक्ति की जाती है। कानून के अनुसार दो गवाहों की उपस्थिति में किसी दुकानदार के यहां से अन्न व अन्य खाद्य पदार्थों के नमूने लिए जाते हैं और सरकार के स्वास्थ्य विभाग द्वारा संचालित खाद्य परीक्षण प्रयोगशालाओं में फिर इनकी जांच की जाती है। 1964 के नये अधिनियम के अनुसार खाद्य पदार्थों (जैसे अनाज, तेल, घी अथवा अन्य मुहरबन्द खाद्य पदार्थ) के परचूनी विक्रेता को अपने माल की विस्तृत सूचना 'अनुज्ञप्ति प्रपत्र' में लिखनी चाहिए। कोई परचूनिया या थोकदार इस प्रकार की अनुज्ञप्ति यदि 'उत्पादक' से लेता है और ऐसे में अगर मिलावट वाले नमूने पाये जाते हैं तो परचूनिया या थोकदार नहीं बल्कि उत्पादक पकड़ा जाएगा।

मिलावट निवारण अधिनियमों के लागू करने के बावजूद भी यदि वास्तविक रूप से मिलावट की रोकथाम की जानी है तो इसके लिए हमें कुछ अन्य पहलुओं पर भी ध्यान देना होगा।

इसके लिए जनता को शिक्षित करना जरूरी है और साथ ही भोजन में मिलावट करने के विरुद्ध भी प्रचार करना होगा। भोजन में मिलावट रोकने के लिए निरंतर एक जोरदार अभियान चलाना होगा। इसके लिए उत्पादकों व व्यापारियों पर कड़ी तरह से नियम लागू करने होंगे। उत्पादकों व व्यापारियों को भी यह समझाना होगा कि ऐसे व्यापार से दूर ही रहना चाहिए जो कि राष्ट्र के विरुद्ध हो क्योंकि इससे लोगों के स्वास्थ्य को हानि पहुंचती है। वास्तव में भोजन में मिलावट की रोकथाम के लिए उनका सहयोग अवश्य लिया जाना चाहिए। कानूनी कार्रवाई करने की अपेक्षा यही बेहतर है कि जनता को इस प्रसंग में उनकी नैतिक जिम्मेदारियों का एहसास कराया जाय। जनता के खरीददारों, म्युनिसिपल पार्षदों और राज्य व केन्द्र की विधान परिषदों यानि सभी को इस समस्या पर तुरंत ध्यान देना चाहिए। भोजन में मिलावट का यह विषाणु (वाइरस) यानि बुरा धंधा गांव के स्तर तक पहुंच चुका है और इसको रोकने के लिए चौतरफा प्रयत्न आवश्यक है। कानूनों को कड़ी तरह से लागू करने के अतिरिक्त जनता की जागरूकता और उसका पूरा सहयोग आवश्यक है।

भोजन में मिलावट को रोकने के लिए महिलाएं बहुत कुछ कर सकती हैं क्योंकि खरीदारी करना और भोजन तैयार करना मुख्य रूप से उन्हीं का कार्य है। वे कुछ सीमा तक मिलावट का पता अपने घर में ही लगा सकती हैं। इस प्रकार के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं :

खड़िया मिट्टी के चूरे वाले आटे को भिगोने और गूंधने के लिए अधिक पानी की जरूरत पड़ती है और इस तरह गुंधे आटे में वास्तविक लसलसेपन का गुण नहीं होता। फेरस सल्फेट से रंगा चाय का चूरा पानी में डालने पर उसे रंगीन बना देता है। शुद्ध हींग पानी में घुल कर उसे दूधिया बना देती है और उसे यदि जलाया जाय

तो वह लौ देकर जलती है। यदि धातु-पीत रंग से रँगी तोर या अरहर की दाल में पानी और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल डाला जाय तो उसका रंग एकदम बैंगनी हो जाता है। इसी तरह यदि वनस्पति मिले घी में हाइड्रोक्लोरिक अम्ल और फरफ्यूरॉल मिलाया जाय तो घी तुरंत लाल हो जाता है। महिलाएं ऐसी मिलावट तुरंत पहचान सकती हैं। इस तरह उन्हें खरीदे जाने वाले खाद्य पदार्थों की गुणता या अच्छाई पर ध्यान देना चाहिए न कि उनकी तायदाद पर।

जरूरतमंद महिलाओं द्वारा सहकारिता के आधार पर महिला मंडलों की स्थापना होनी चाहिए कि वे मसाले, अचार, पिसी मिर्च, सुगंधित सुपारी, पिसी हल्दी, घी, मक्खन जैसी चीजों को ठीक दामों पर बेच सकें; और इस तरह सचमुच इन खाद्य पदार्थों की मिलावट की रोकथाम में निश्चित रूप से मदद मिल सकती है।

* * * *

भोजन में मिलावट से होने वाले बुरे प्रभावों से बचने के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :—

(1) बाजार भाव से अधिक सस्ते बिकने वाले खाद्य पदार्थों में मिलावट की संभावना हो सकती है।

(2) तैयार या कुटे-पिसे मसाले मत खरीदिए। उन्हें अलग-अलग साबुत लेकर घर पर पीसिए।

(3) आकर्षक रूप से लाल रंग की पिसी मिर्च मत खरीदिए क्योंकि इसमें इस प्रकार से प्रयुक्त रंग प्रायः हानिकारक होता है। बाजार से खरीदी साबुत मिर्चों को कूटकर चूरा स्वयं तैयार करना चाहिए।

(4) हमेशा विश्वसनीय विक्रेताओं से ही खाद्य पदार्थ खरीदिए, भले ही दाम अधिक हों।

(5) खुले खाद्य पदार्थ मत खरीदिए। उन्हें लेबल लगे और मिल से चली बंद अवस्था में ही खरीदिए।

(6) लड्डू, पेड़ा और अन्य सामान्य मिठाइयां अधिक आकर्षक रंग-बिरंगे रूप में हैं तो उन्हें मत खरीदिए।

(7) खाद्य पदार्थ में मिलावट का संदेह होने पर स्थानीय स्वास्थ्य विभाग या खाद्य निरीक्षक को इसकी रिपोर्ट करिए।

—संपादक

• • •

परिशिष्ट

सारणी ए-1—ब्रिटिश व मीट्रिक तुल्यमान

रैखिक

1 इंच	=	2.54	सेंटीमीटर
1 फुट	=	0.30	मीटर
1 गज	=	0.91	मीटर
1 मील	=	1.61	किलोमीटर
1 सेंटीमीटर	=	0.39	इंच
1 मीटर	=	39.37	इंच
	=	3.28	फुट
	=	1.99	गज
1 किलोमीटर	=	1093.63	गज
	=	0.62	मील

द्रव

1 तरल औंस	=	28.41	मिली (घ.सें.)
1 पाइन्ट	=	0.59	लीटर
1 क्वार्ट	=	1.14	लीटर
1 गैलन	=	4.55	लीटर
1 बुशेल	=	36.37	लीटर
1 क्वार्टर	=	0.29	किलोलीटर
1 मिलिलीटर	=	1.76	पाइन्ट
1 लीटर	=	35.20	औंस
	=	0.22	गैलन

वजन

1 ग्रेन	=	0.06	ग्राम
1 ड्राम	=	3.90	ग्रेन
1 औंस	=	28.35	ग्राम
1 पौंड	=	454.00	ग्राम
1 पौंड	=	0.45	किलोग्राम
1 हंड्रेडवेट	=	50.80	किलोग्राम
1 टन	=	1016.00	किलोग्राम
1 ग्राम	=	15.43	ग्रेन
1 किलोग्राम	=	2.20	पौंड

सारणी ए-2—घरेलू माप या पैमाने

माप	मैट्रिक इकाई	आयुर्विज्ञानीय इकाई
1 बूंद	1/20 मिली (घ.सें.)	1 मि. (मिनिम)
1 चाय का चम्मच भर	4 घ. सें.	1 फ. ड्राम
1 डिसर्ट चम्मच भर	8 घ. सें.	2 फ. ड्राम
1 टेबल चम्मच भर	15 घ. सें.	4 फ. ड्राम ($\frac{1}{2}$ औंस)
1 चाय प्याला भर	150 घ. सें.	5.5 फ. औंस
1 गिलास भरा	240 घ. सें.	8.5 फ. औंस

सारणी ए-3—तापमापी तुल्यमान

(क) फारेनहाइट की डिग्रियों को सेंटीग्रेड में बदलने के लिए—32 घटाइए, 5 से गुणा करके 9 से भाग दीजिए।

(ख) सेंटीग्रेड डिग्रियों को फारेनहाइट में बदलने के लिए—9 से गुणा करिए, 5 से भाग दीजिए और 32 जोड़िए।

उदाहरण : (क) 104°फा.—32 = 72 × 5/9 = 40°सें.

(ख) 20°सें. × 9/5 = 36 + 32 = 68°फा.

(सें.)°	(फा.)°
0	32
10	50
20	68
30	86
40	104
50	122
60	140
70	158
80	176
90	194
100	212

सारणी ए-4—सेन्टीग्रेड से फारेनहाइट में शरीर के तापमान का परिवर्तन

सें°	फा.°	सें.°	फा.°	सें.°	फा.°	सें.°	फा.°	सें.°	फा.°	सें.°	फा.°
35.6	96.1	**36.6**	97.9	**37.6**	99.7	**38.6**	101.5	**39.6**	103.3	**40.6**	105.1
35.7	96.3	**36.7**	98.1	**37.7**	99.9	**38.7**	101.7	**39.7**	103.5	**40.7**	105.3
35.8	96.4	**36.8**	98.2	**37.8**	100.0	**38.8**	101.8	**39.8**	103.6	**40.8**	105.4
35.9	96.6	**36.9**	98.4	**37.9**	100.2	**38.9**	102.0	**39.9**	103.8	**40.9**	105.6
36.0	96.8	**37.0**	98.6	**38.0**	100.4	**39.0**	102.2	**40.0**	104.0	**41.0**	105.8
36.1	97.0	**37.1**	98.8	**38.1**	100.6	**39.1**	102.4	**40.1**	104.2	**41.1**	106.0
36.2	97.2	**37.2**	99.0	**38.2**	100.8	**39.2**	102.6	**40.2**	104.4		
36.3	97.3	**37.3**	99.1	**38.3**	100.9	**39.3**	102.7	**40.3**	104.5		
36.4	97.5	**37.4**	99.3	**38.4**	100.1	**39.4**	102.9	**40.4**	104.7		
36.5	97.7	**37.5**	99.5	**38.5**	100.3	**39.5**	103.1	**40.5**	104.9		

सारणी ए-5—*भारतीयों के रक्त दाब के औसत

उम्र (वर्ष)	रक्त दाब (मिमी.) प्रकुंचन	अनुशिथिलन	उम्र (वर्ष)	रक्त दाब (मिमी.) प्रकुंचन	अनुशिथिलन
6	93	62	31	122	82
7	93	63	32	123	83
8	94	65	33	123	83
9	94	65	34	123	83
10	99	68	35	124	84
11	100	70	36	125	84
12	100	70	37	125	84
13	101	70	38	126	85
14	106	70	39	126	85
15	106	72	40	127	86
16	111	76	41	127	86
17	111	76	42	128	87
18	111	76	43	128	87
19	113	76	44	128	87
20	117	78	45	130	88
21	118	78	46	130	88
22	119	79	47	131	89
23	119	79	48	132	89
24	119	79	49	132	89
25	120	80	50	133	90
26	120	80	51	134	90
27	120	80	52	134	90
28	121	81	53	136	91
29	121	81	54	136	91
30	122	82	55	138	92

*उपर्युक्त आंकड़े पुरुषों (शाकाहारियों) के हैं। 16 से 45 वर्ष वाली स्त्रियों के संबंध में ये आंकड़े पुरुषों की अपेक्षा औसतन 3 प्रतिशत कम होते हैं। इसके बाद ये आंकड़े पुरुषों की ही तरह होते हैं। शाकाहारियों की अपेक्षा मांसाहारियों में औसत 4 प्रतिशत अधिक होता है।

• • •

परिभाषा सहित शब्द-संग्रह

Abscess. फोड़ा, विद्रधि—पूय या पस का स्थानिक रूप में इकट्ठा हो जाना।

Absorption. अवशोषण—वह प्रक्रम, जिसके द्वारा आंत्र का पचा हुआ भोजन रक्त या लसीका में प्रविष्ट होता है या सोख लिया जाता है।

Accommodation. समंजन—आंख के लेन्स और पेशियों की निकट की वस्तुओं से आने वाले प्रकाश की किरणों को दृश्यपटल (रेटीना) पर फोकस करने की क्रिया।

Achlorhydria. जठरअनम्लता—जठर-रस में हाइड्रोक्लोरिक एसिड की अनुपस्थिति।

Acidosis. अम्लरक्तता, अम्लमयता—ऊतकों और रक्त में अम्लीय उत्पादों का जमा या संचित होना।

Acute. तीव्र—कम अवधि वाला, चिरकारी का विपरीत, कठिन, सख्त।

Adenoids. एडिनोइड, कंठशालूक—लसीकाभ (lymphoid) ऊतक के टॉंसिल सरीखे पुंज, जो गले की पिछली भित्ति में स्थित होते हैं।

Afferent nerve. अभिवाही तंत्रिका—संवेदी तंत्रिका, जो आवेगों को शरीर के ऊतकों से मेरुरज्जु अथवा मस्तिष्क की ओर ले जाती है।

Agglutination. समूहन—एक साथ मिलकर ढेर हो जाने का प्रक्रम।

Agglutinins. एग्लुटिनिन—रक्त में विद्यमान पदार्थ, जो जीवाणुओं का समूहन करते हैं।

Albumin. एल्बुमिन—एक प्रोटीन, जो लगभग प्रत्येक प्राणी में पाया जाता है।

Alimentary canal. पोषण-नाल—मुंह से मलाशय तक फैली नलिका, जिससे होकर भोजन चलता है, पचाया जाता है, अवशोषित होता है और उत्सर्जित किया जाता है।

Allergy. ऐलर्जी—किसी पदार्थ विशेष के प्रति असाधारण या अतिरंजित विशिष्ट सुग्राह्यता की अवस्था, जो इसी मात्रा में उसी जाति के अधिकांश सदस्यों के लिए हानिरहित होता है।

Alveoli. वायु-कोश—फेफड़ों की वायु-थैलियां।

Amino acids. अमीनो अम्ल—वे पदार्थ, जिनसे जीव प्रोटीनों का निर्माण करते हैं।

Amoebiasis. अमीबा-रुग्णता—अमीबाओं द्वारा पर्याक्रमण अथवा रोग उत्पन्न करना।

Anabolism. उपचय—चयापचय की प्रक्रिया का रचनात्मक या निर्माण संबंधी अंश।

Anaesthesia. संज्ञाहरण; संवेदनाहरण; असंवेदनता—संज्ञाहीनता।

Anaphylaxis. तीव्रग्राहिता, ऐनाफिलैक्सिस—जीव की किसी बाहरी प्रोटीन या अन्य पदार्थ के प्रति असाधारण या अतिरंजित प्रतिक्रिया (प्रायः इंजेक्शन के बाद)।

Ancillary. सहायक—संपूरक अथवा पूरा करने वाला।

Anaemia. अरक्तता—वह अवस्था, जिसमें लाल कणिकाएँ या हीमोग्लोबिन अथवा दोनों रक्त में कम होते हैं।

Angina. ऐन्जाइना, हृद्शूल—रुद्ध अथवा श्वासरोध करने वाला दर्द।

Angiocardiography. वाहिकाहृद्चित्रण—रेडियोअपार्य तरल के अंतःशिरा-इंजेक्शन के बाद हृदय और वृहत् वाहिकाओं का एक्सरे चित्रण।

Anorexia. अरुचि—भूख की कमी या भूख न लगना।

Antenatal. जन्मपूर्व—जन्म के पहले।

Antibiotics. प्रतिजीवी, ऐन्टिबायोटिक—शक्तिशाली रोगाणुनाशी पदार्थ, जो फफूंदियों व कवकों द्वारा उत्पन्न होते हैं।

Antibodies. प्रतिपिंड—रक्त और शरीर के तरलों में विद्यमान प्रतिरक्षी पदार्थ।

Antidote. प्रतिकारक—वह पदार्थ, जो किसी विष के प्रभाव को दूर कर देता है।

Antiserum. प्रतिसीरम, ऐन्टिसीरम—विशिष्ट सीरम, जो अन्तःप्रविष्ट किए जाने (इंजेक्शन देने) पर विशिष्ट रोग के प्रति अस्थायी प्रतिरक्षा प्रदान करता है; जैसे डिफ्थीरियारोधी सीरम।

Antitoxin. प्रतिजीवविष, ऐन्टिटॉक्सिन—शरीर में उत्पन्न होने वाला पदार्थ, जो जीवविष (टॉक्सिन) के प्रभाव को नष्ट कर देता है।

Anxiety neurosis. चिंता विक्षिप्ति—एक मान-

सिक रोग, जिसमें लगभग हर समय चिंता बनी रहती है।

Aphasia. वाचाघात—मस्तिष्क में क्षति पहुंचने के कारण बोलने की असमर्थता।

Apoplexy. रक्ताघात—मस्तिष्क में रक्तस्राव होना।

Appendicitis. उंडुकपुच्छशोथ, अपेन्डीसाइटिस—उंडुकपुच्छ (अपेन्डिक्स) का शोथ या सूजन।

Aqueous humour. नेत्रोद—वह पनीला तरल, जो कॉर्निया और लेन्स के बीच की गुहिका में भरा रहता है।

Arteriosclerosis. धमनीकाठिन्य—वह अवस्था, जिसमें शोथयुक्त परिवर्तनों के साथ धमनियों की भित्तियां या दीवारें मोटी हो जाती हैं और उनका लचीलापन कम हो जाता है।

Arthropods. संधिपाद—प्राणियों का वह समूह, जिसमें कीट, मकड़ियां, और उनके संबंधी आते हैं।

Asthma, bronchial. श्वसनिका दमा—ऐलर्जी के कारण श्वसनी नलिकाओं की भित्तियों की सूजन व आकर्ष।

Astigmatism. दृष्टि वैषम्य, ऐस्टिग्मेटिज़्म—बेडौल कॉर्निया अथवा लेन्स के कारण आंख में प्रकाश किरणों का असमान रूप से मुड़ना।

Atrophy. अपुष्टि, शोष—आकार में कमी या क्षय।

Autonomic System. स्वसंचालित तंत्रिका तंत्र—तंत्रिका तंत्र का वह भाग, जो महत्वपूर्ण अंगों का नियंत्रण करता है और जो अनैच्छिक होता है।

Balanced diet. संतुलित आहार—वह भोजन, जिसमें उचित पोषण के लिए सभी पोषी कारक उचित अनुपात में विद्यमान रहते हैं।

Barbiturate. बार्बिटुरेट—एक संश्लेषित औषधि, जो नींद लाने के लिए प्रयुक्त की जाती है।

Barium meal. बेरियम मील—बेरियम सल्फेट के विशुद्ध रासायनिक रूप का पेस्ट, जो एक्स-रे में जठर-आंत्र पथ के वीक्षण (देखने) के लिए व्यक्ति को पिलाया जाता है।

B.C.G. (Bacillus Calmette-guerin). बी. सी. जी. (बैसिलस कामेट ग्वीरिन)—सक्रिय प्रतिरक्षा कारक, जो यक्ष्मा के प्रति सुरक्षा के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

Binocular vision. द्विनेत्री दृष्टि—दो आँखों वाली दृष्टि, जिससे गहनता से देखा जाता है।

Bile. पित्त—भूरा-हरा पाचक तरल, जो यकृत् से उत्पन्न होता है।

Bile pigment. पित्त वर्णक—पित्त का रंगद्रव्य।

Blackheads. ब्लैक हैड—त्वचा के छिद्र, जो तेल व गर्द से अवरुद्ध हो जाते हैं।

Boil.. फोड़ा—रोम-मूल में उत्पन्न वेदनाकारी विद्रधि।

Booster dose. अनुवर्धक मात्रा या डोज़—दुबारा दी जाने वाली मात्रा यानी बलकारी डोज़।

Bowman's Capsule. बोमैन संपुट—वृक्क नलिका का सूक्ष्मदर्शीय प्याला-जैसा सिरा, जो केशिकागुच्छ को घेरे रहता है।

Bronchitis. श्वसनीशोथ—श्वसनी की दीवारों की सूजन।

Bronchopneumonia. श्वसनीफुफ्फुसशोथ, ब्रॉंकोन्यूमोनिया—फेफड़ों की सूजन जिसकी शुरुआत प्राय: अंतस्थ श्वसनिकाओं में होती है।

Bronchoscope. श्वसनीदर्शी, ब्रॉंकोस्कोप—एक विशेष नली, जिसकी सहायता से डाक्टर श्वसनियों के भीतर देखकर उनका निरीक्षण कर सकता है।

Calcification. कैल्सीभवन—वह प्रक्रम, जिसके द्वारा कैल्सियम लवणों के जमाव से जैविक ऊतक कड़े हो जाते हैं।

Capillaries. केशिकाएं—शरीर में छोटी बारीक वाहिकाएं, जो कोशिकाओं में रक्त ले जाती हैं।

Carbohydrate. कार्बोहाइड्रेट—मंड वाले खाद्य पदार्थ, जो ऊर्जा उत्पन्न करते हैं।

Carbuncle. कारबंकल—अनेक शीर्षो वाला फोड़ा।

Cardiac. हृद्, हृद्य—हृदय का या उससे सम्बद्ध; हृदय के विकार वाला व्यक्ति।

Cardiac sphincter. हृद् अवरोधिनी—पेशियों का वह छल्ला, जो उस द्वार का नियंत्रण करता है जहां पर ग्रासनली आमाशय के ऊपरी सिरे में खुलती है।

Carrier. वाहक—वह व्यक्ति, जो अपने शरीर में लक्षणों के प्रकट हुए बिना किसी रोग के विशिष्ट जीवों को बसाए रखता है और इस प्रकार संक्रमण के वितरक का कार्य करता है।

Cartilage. उपास्थि—हड्डी जैसा किंतु उससे कुछ मुलायम पदार्थ; जैसे नाक के सिरे और बाहरी कान वाला पदार्थ।

Cataract. मोतिया बिंदु—वह अवस्था, जिसमें आंख का लेन्स धुंधला या अपारदर्शी हो गया हो।

Cells. कोशिकाएं—सभी जीवधारियों की संरचनात्मक इकाई।

Cellular. कोशिका, कोशिकीय—कोशिकाओं का

अथवा उनसे संबद्ध ।

Cellulose. सेलुलोज—एक प्रकार का कार्बोहाइड्रेट, जो पौधों में पाया जाता है और जिसे मानव नहीं पचा पाता है; रेशे ।

Cerebrospinal fluid. प्रमस्तिष्कमेरु तरल—एक निर्मल तरल, जो मस्तिष्क के निलयों और मेरु-रज्जु को घेरने वाले स्थान में पाया जाता है ।

Cerebrospinal meningitis. प्रमस्तिष्क-मेरु, तानिकाशोथ—मस्तिष्क और मेरुरज्जु को सूजन ।

Chemotherapy. रसायनचिकित्सा—रसायनों के सेवन से रोग का उपचार करना, जो रोगकारी जीव पर तो प्रभाव डालते हैं किंतु रोगी को क्षति नहीं पहुंचाते ।

Chromosome. गुणसूत्र, क्रोमोसोम—कोशिका विभाजन के समय कोशिका के केंद्रक में प्रकट होने वाली छड़ जैसी रचना, जो जीनों का वहन करती है और व्यक्ति की विशेषताओं का निर्धारण करती है ।

Chronic. चिरकारी—लंबी अवधि वाला ।

Chyme. काइम—भोजन का वह रूप जो आंशिक रूप से पचा हुआ होता है ।

Cilia. पक्ष्माभ—श्वासप्रणाल (ट्रेकीया) का अस्तर बनाने वाली श्लेष्मा-झिल्ली के बारीक रोम-जैसे भाग ।

Clotting of blood. रक्त स्कंदन—खून का जमना या थक्का बनना ।

Cochlea. कर्णावर्त, कॉक्लिया—आंतरिक कान का सुनने से संबद्ध भाग ।

Colitis. बृहदांत्रशोथ—बड़ी आंत या बृहदांत्र की सूजन ।

Colon. बृहदांत्र—बड़ी आंत ।

Concussion. संघट्टन—सिर की क्षति में मस्तिष्क के प्रभावित हो जाने से बेहोशी या अचेतनता ।

Cones. शंकु—आंख में तंत्रिकाओं के सिरे, जिनकी सहायता से वस्तुओं और रंगों को सुस्पष्ट रूप से देखना व पहचान करना संभव हो पाता है ।

Constipation. कोष्ठबद्धता, कब्ज, मलबद्धता—आंत्र की कठिन अथवा अनियमित मलत्याग गति ।

Contraceptive. गर्भनिरोधक—गर्भधारण को रोकने के लिए प्रयुक्त किया कोई भी उपाय ।

Contusion of the brain. मस्तिष्क का नील—दह क्षति, जिसमें मस्तिष्क के किसी भाग का भंग होता है ।

Convolutions. संवलन, लहरिका—मस्तिष्क की सतह के उभरे हुए भाग ।

Cornea. स्वच्छमंडल, कॉर्निया—नेत्रगोलक का सामने वाला वृत्ताकार पारदर्शी भाग ।

Corns. घट्टा—बाह्य त्वचा के कड़े व मोटे क्षेत्र, जो क्षोभ के कारण उत्पन्न होते हैं ।

Coronary. परिहृद्—हृदय का अथवा उससे संबद्ध ।

Corpuscle. कणिका—रक्त कोशिका ।

Cortex. कॉर्टेक्स, प्रांतस्था—मस्तिष्क तथा वृक्क की बाहरी सतह ।

Cortisone. कॉर्टिसोन—अधिवृक्क ग्रंथि द्वारा स्रावित हॉरमोन ।

Cranial. कपालीय, करोटि—करोटि या खोपड़ी की अथवा उससे संबद्ध ।

Cretin. क्रेटिन, अवटुवामन—वह व्यक्ति, जो थाइरॉइड ग्रंथि की पूरी अक्रियता के साथ पैदा होता है ।

Culinary. पाकसंबंधी—पकाने से संबद्ध ।

Cuticle. उपत्वचा, क्यूटिकल—नाखून के चारों ओर का कड़ा उपांत ।

Cystitis. मूत्राशयशोथ, वस्तिशोथ,—मसाना या मूत्राशय की सूजन ।

Cytoplasm. कोशिकाद्रव्य—कोशिकाओं का जेली-जैसा तरल पदार्थ ।

Defaecation. मलोत्सर्ग, मलविसर्जन—आंत्र से विष्ठा का त्याग करना ।

Degeneration. व्यपजनन, अपविकास—अवनति यानी उच्चतर अथवा विशेषित रूप अथवा ऊतक का निम्नतर अथवा सामान्य रूप में परिवर्तन होना ।

Dehydration. निर्जलीभवन, निर्जलीकरण—शरीर के ऊतकों से पानी की हानि ।

Dendrites. डेंड्राइट, पार्श्वतन्तु, वृक्षिका—वे प्रवर्ध, जो आवेगों को तंत्रिक कोशिका काय की ओर ले जाते हैं ।

Dental caries. दंत क्षरण—दांत का क्षय ।

Deodorant. गंधहर—वह पदार्थ जो दुर्गन्ध दूर करता है ।

Depressant. अवसादक—वह कारक, जो शरीर की क्रियाशीलता में कमी कर देता है ।

Diagnosis. निदान—रोगी के लक्षण आदि की सहायता से रोग की पहचान करना ।

Diaphragm. मध्यच्छद, डायाफ्राम, मध्यपट—पेशी की चादर, जो वक्ष और उदर गुहाओं का विभाजन करती है ।

Diarrhoea. प्रवाहिका—विष्ठा या मल का पतले

तरल रूप में बार-बार होना।

Diastolic pressure. अनुशिथिलन दाब—हृद् स्पंदों के बीच होने वाला धमनीय रक्त का दबाव।

Disease, functional. क्रियात्मक रोग—शरीर के अंग की अपसामान्य क्रियाशीलता, जबकि उसकी संरचना में कोई दोष नहीं होता है।

Disease, organic. आंगिक रोग—शरीर के ऊतक में संरचनात्मक दोष, जिसका परिणाम होता है रोग।

Disinfection. विसंक्रमण—रोगकारी अथवा हानिकारक सूक्ष्मजीवों को नष्ट करने का प्रक्रम।

Disinfestation. पीड़कजन्तुनाशन—कीटों अथवा अन्य प्राणि प्रकारों का संहार करना, जो संक्रमण फैला सकते हैं और व्यक्ति के शरीर या कपड़ों अथवा उसके आसपास रहते हैं।

Diuretic. मूत्रल—पेशाब का अधिक विसर्जन करने वाली औषधि।

Douche. डूश—सफाई करने या औषध प्रयोग के लिए योनि में द्रवों को प्रविष्ट करना।

Droplet infection. बिंदुक संक्रमण—उन छोटी-छोटी बूंदों या छींटों द्वारा होने वाला संक्रमण, जो छींकने व खांसने से बाहर विसर्जित होती है।

Drug. औषधि, औषध, भेषज औषधि—सामान्यतया दवाई के रूप में अथवा दवाई बनाने में प्रयुक्त होने वाला पदार्थ।

Ductless glands. नि:स्रोत ग्रंथियां, वाहिनी-हीन ग्रंथियां—वे ग्रंथियां, जो अपने स्रावों को जोड़ने वाली नली की सहायता के बिना ही सीधे रक्त धारा में प्रवाहित कर देती हैं।

Duodenum. ग्रहणी, डिओडिनम—छोटी आंत का प्रथम भाग।

Dysentery. पेचिश—विष्ठा का श्लेष्मा और रक्त के साथ बार-बार विसर्जित होना और जिसमें आंत में सूजन भी हो जाती है।

Dyspepsia. अग्निमांद्य, दुष्पचन—पाचन की शक्ति अथवा उसकी क्रियाशीलता क्षीण होना।

Dysphagia. निगरण कष्ट—निगलने में कठिनाई होना।

Eczema. छाजन, एक्जीमा, पामा—त्वचा का विकार, जिसमें सूजे व पपड़ीदार क्षेत्र होते हैं और जिनसे साफ तरल निकलता है।

Electrocardiograph. विद्युत् हृद्लेखी, इलेक्ट्रोकार्डियोग्राफ—विद्युतहृद्लेख या इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम का अंकन करने वाला यंत्र।

Embolism. अंत:शल्यता—थक्के या अवरोध द्वारा धमनी या शिरा का अचानक अवरुद्ध हो जाना जो अपने स्थान पर रक्तधारा द्वारा लाया जाता है।

Emetic. वांमक—वह औषधि, जो कै कराने वाले उपचार में प्रयुक्त की जाती है।

Emphysema. वातस्फीति—संयोजी ऊतक के अंतरालों में वायु की उपस्थिति के कारण होने वाली सूजन; फेफड़ों में वायुकोशों का विवर्धन।

Emulsion. इमल्शन—दूधिया द्रव, जिसमें ठोस कण निलम्बित रहते हैं।

Encephalitis. मस्तिष्कशोथ—मस्तिष्क में सूजन होना।

Endocarditis. अन्तर्हृद्शोथ—अन्तर्हृद्कला (एन्डोकार्डियम) की सूजन; हृदय के कपाटों का संक्रमण।

Endocardium. अन्तर्हृद्कला—कड़ी चमकदार झिल्ली, जो हृदय के चारों कक्षों का अस्तर बनाती है।

Endocrine. अंत:स्रावी, एन्डोक्राइन—आंतरिक रूप से स्रवण करने वाला।

Enema. एनिमा—बृहदांत्र में पानी या अन्य द्रव को प्रविष्ट करना।

Environment. परिस्थिति, वातावरण, पर्यावरण—वे सभी चीजें जो पास-पड़ोस का निर्माण करती हैं।

Enzyme एंजाइम—जैविक उत्प्रेरक, जो सचेतन कोशिकाओं द्वारा उत्पन्न होता है; जैसे पेप्सिन।

Epidemic. जानपदिक—क्षेत्र विशेष में एक ही समय रोग का कई लोगों पर आक्रमण अथवा रोग के आयतन में अचानक वृद्धि।

Epiglottis. कंठच्छद, एपिग्लॉटिस—पत्ती-जैसा ढक्कन, जो स्वरयंत्र के छिद्र को आंशिक रूप से ढक कर रखता है।

Epilepsy. अपस्मार, मिरगी—एक चिरकारी रोग, जो प्राय: क्रियात्मक होता है और जिसकी विशेषता है आक्षेप वाले छोटे दौरे और बेहोशी होना।

Estrogen. एस्ट्रोजन—अंडाशयों द्वारा स्रावित होने वाले दो हॉरमोनों में से एक।

Eustachian tube. यूस्टेशी नलिका—वह नली, जो प्रत्येक (हर व्यक्ति में) मध्य कर्ण से गले तक फैली होती है।

Excretion. उत्सर्जन—शरीर के मल पदार्थों या

वर्ज्य पदार्थों का निष्कासन ।

Expectoration. कफोत्सारण—फेफड़ों और श्वास-प्रणाल से पदार्थों के बाहर निकालने या खांसने की प्रक्रिया ।

Expiration. निःश्वसन—श्वास बाहर छोड़ने की क्रिया ।

Extensor प्रसारक—पेशी, जो संधि (जोड़) को सीधा करती है ।

Fatty acids. वसीया अम्ल—वसा या चर्बी के पाचन के अंतिम उत्पाद ।

Fatty liver. वसीय यकृत्—वह रोग, जिसमें जैसे-जैसे सामान्य रूप से जमा खाद्य पदार्थों का स्थान वसा लेती है वैसे-वैसे यकृत् फूलता जाता है ।

Fibrin. फाइब्रिन—धागे-जैसा पदार्थ, जो रक्त का स्कंदन करता है ।

Fissure. विदर—मलाशय का आस्तर बनाने वाली झिल्ली की दरार ।

Flatulence. आध्मान—वायु या गैसों द्वारा आमाशय अथवा आंत का फुलाव ।

Flexor. आकुंचनी, आकोचनी—वह पेशी, जो संधि या जोड़ को मोड़ती है ।

Follicle. पुटक, फॉलिकल—त्वचा का गर्त, जिसमें रोम मूल होता है ।

Ganglion. गंडिका, गैंग्लियॉन—तंत्रिका कोशिकाओं का समुच्चय, जो तंत्रिक प्रभाव के केन्द्र के रूप में कार्य करता है ।

Gangrene. गैंग्रीन, कोथ—ऊतकों की स्थाननिर्धारित मृत्यु ।

Gastric glands. जठर ग्रंथि—आमाशय-भित्ति की ग्रंथियां, जो आमाशयिक रसों का स्रवण करती हैं।

Gauze. गॉज़, जाली—मलमल की हल्की खुली जालीदार किस्म, जो घाव की पट्टी करने में प्रयुक्त की जाती है ।

Genes. जीन—आनुवंशिकता के रासायनिक निर्धारक ।

Geriatrics. जराचिकित्सा—आयुर्विज्ञान की शाखा, जो वृद्धावस्था की समस्याओं से संबद्ध होती है।

Germs. रोगाणु—देखिए सूक्ष्मजीव (**Microbs**).

Gland. ग्रंथि—वह अंग, जो एक विशिष्ट स्राव या रस उत्पन्न करता है ।

Gingivitis. मसूढ़ाशोथ—मसूढ़ों की सूजन ।

Glaucoma. ग्लॉकोमा, सबलवाय, अधिमन्थ—आंख का रोग, जिसमें नेत्रगोलक में दबाव बढ़ता जाता है और जो दृक् तंत्रिका को क्षति पहुंचाता है ।

Globulin. ग्लोबुलिन—रक्त प्रोटीन, जिसमें प्रतिपिंड होते हैं ।

Glottis. कंठद्वार, घांटी, ग्लॉटिस—वायु-प्रणाल या श्वास-प्रणाल का द्वार ।

Glucose. ग्लूकोज़—रक्त शर्करा यानी कार्बोहाइड्रेट पाचन का अंतिम उत्पाद ।

Glycerine. ग्लिसरीन—वसा पाचन के अंतिम उत्पादों में से एक ।

Gonads. जननद, जननग्रंथि—जनन अंग ।

Gonadotrophic hormone. जननग्रंथि-प्रेरक हॉरमोन—अग्र पीयूषिका ग्रंथि का हॉरमोन, जो जनन अंगों को उद्दीपित करता है ।

Haemoglobin. हीमोग्लोबिन—लाल रक्त कणिकाओं का ऑक्सीजनवाही लाल वर्णक ।

Haemolysis. रक्तसंकलयन—लाल रक्त कणिकाओं का विघटन ।

Haemorrhoids. अर्श, बवासीर—मलाशय की विवर्धित शिराएं ।

Hallucinations. विभ्रम—बिना किसी बाहरी कारण के संवेदनाओं की अनुभूति, जो प्रायः तंत्रिका तंत्र के विकार के कारण होती है ।

Hay fever. परागज ज्वर—पराग के प्रति मौसमी ऐलर्जी प्रतिक्रिया ।

Hepatitis. यकृत्शोथ—जिगर की सूजन ।

Heredity. आनुवंशिकता—जनकों या माता-पिता से संतति में विशेषकों या लक्षणों का संप्रेषण । उद्भव के आधार पर दृश्य या अदृश्य समानता अथवा विशेषता ।

Hormone. हॉरमोन—आंतरिक स्राव, जो रक्त में प्रवाहित होता है और अन्य अंगों पर विशिष्ट प्रभाव डालता है ।

Host. पोषद, परपोषी—प्राणी अथवा मानव, जिस पर यानी जिसके शरीर में कोई दूसरा जीव परजीवी की तरह रहता है ।

Hygiene. स्वास्थ्य विज्ञान; स्वास्थ्यवृत्त, स्वास्थ्य—वह विज्ञान जो तंदुरुस्ती और उसके परिरक्षण से संबद्ध होता है ।

Hyperacidity. जठर अत्यम्लता—अत्यधिक मात्रा में अम्लता ।

Hypermetropia. दूरदृष्टिता—नेत्रगोलक के छोटे हाने की अवस्था, जिसमें निकट की वस्तुएं ठीक से नहीं दिखलाई पड़तीं ।

Hypertension, arterial. धमनी अतिरक्तदाब—धमनी और धमनिकाओं में अत्यधिक दबाव।

Hypertrophy. अतिवृद्धि—किसी अंग अथवा भाग का व्याधिमय विवर्धन, जो उसकी घटक कोशिकाओं के आकार में वृद्धि के कारण होता है।

Hypoglycemia. अल्पग्लूकोजरक्तता—वह अवस्था, जिसमें खून में ग्लूकोज का अंश कम हो जाता है।

Hysteria. हिस्टीरिया—विक्षिप्ति (न्यूरोसिस) का एक रूप।

Immunity. रोगक्षमता, प्रतिरक्षा—किसी रोग या विष के प्रति अवरोध।

Immunization. रोगक्षमीकरण, प्रतिरक्षीकरण—किसी व्यक्ति को रोगक्षम कर देने की प्रक्रिया।

Impetigo. इम्पेटाइगो—त्वचा का सांसर्गिक संक्रमण।

Incidence. आघटन; आपतन—किसी विशिष्ट समय में रोग आदि के नए रोगियों के संक्रमित होने की दर।

Infarction. रोधगलन—किसी ऊतक अथवा अंग की स्थाननिर्धारित मृत्यु।

Infection. संक्रमण—शरीर के ऊतकों में रोग उत्पन्न करने वाले सूक्ष्मजीवों का आक्रमण और गुणन, जिसका परिणाम होता है ऊतकों की कुछ क्षति।

Infectious disease. संक्रामक रोग—वह परजीवी-रोग जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से फैलता या संचारित होता है।

Infestation. पर्याक्रमण—परजीवियों का जमाव।

Inflammation. शोथ—एक प्रक्रम, जिसमें किसी संक्रमण अथवा क्षति के कारण ऊतक अपनी प्रतिक्रिया दिखलाते हैं।

Ingestion. अंतर्ग्रहण—मुँह द्वारा भोजन, औषधियां आदि लेने की क्रिया।

Inhalation. अभिश्वसन—फेफड़ों में हवा या अन्य किसी वाष्प को अंदर खींचना।

Injection. अंतःक्षेपण, सुई लगाना, इंजेक्शन, सूचिकाभरण—किसी भाग में द्रव को प्रविष्ट करने की क्रिया।

Insidious. प्रच्छन्न, अलक्ष्य—मन्द अथवा धीरे-धीरे होने वाला।

Insomnia. अनिद्रा—सोने में असमर्थ होना।

Inspiration. प्रश्वसन—अंदर सांस लेने की क्रिया।

Insulin. इन्सुलिन—अग्न्याशय का हॉरमोन, जो रक्त शर्करा स्तर का नियंत्रण करता है।

Intercellular. अंतराकोशिक—कोशिकाओं के बीच वाला।

Intradermal. अंतस्त्वक्—त्वचा के अंदर स्थित।

Intramuscular. अंतःपेशीय—पेशी के अंदर स्थित।

Intravenous. अंतःशिरा—शिरा के अंदर।

Jaundice. कामला, पीलिया—त्वचा का पीला पड़ जाना, जो रक्त में पित्त वर्णकों की अधिकता के कारण होता है।

Larva, डिम्भक, लार्वा—प्राणी के परिवर्धन में अंडे के बाद वाली अवस्था।

Laxative. मृदुविरेचक, सारक—मंद प्रकार का रेचक।

Lesion. विक्षति—स्थाननिर्धारित ऊतक क्षय, जो क्षति या रोग के कारण होता है।

Ligaments. स्नायु—कड़े सूत्र, जो हड्डियों को परस्पर जोड़े रहते हैं।

Lint. लिंट—घावों की मरहम पट्टी के लिए प्रयुक्त मुलायम पदार्थ, जो लिनन वस्त्र को एक ओर से खरोंचने से बनता है।

Lymph. लसीका—रक्त का स्वच्छ व द्रवीय अंश, जो शरीर कोशिकाओं के बीच वाले अवकाशों में प्रविष्ट होता है।

Lymph nodes. लसीका पर्व—ग्रंथि-जैसी संरचनाएं, जो लसीका कोशिकाओं का निर्माण करती हैं और लसीका का निस्यंदन करती हैं (छानती हैं।)

Lymphocyte. लसीकाकोशिका, लसकोशिका—एक निश्चित प्रकार की श्वेत रक्त कोशिका, जो लसीका पर्वों द्वारा बनती है।

Malocclusion. कुअधिधारण—अनियमित काट।

Manic-depressive. उन्माद-अवसादी विक्षिप्त—एक प्रकार का मनोविक्षिप्त जो या तो उत्तेजना की अवस्था में रहता है और एक अवस्था में पहुंच सकता है।

Marrow. मज्जा—हड्डियों के खोखले स्थान वाले मृदु ऊतक।

Meninges तानिका, मस्तिष्कावरण—मस्तिष्क और मेरुरज्जु की झिल्लियां।

Metabolism. चयापचय—शरीर की कुल प्रक्रियायें, जिनके द्वारा ऊतकों का निर्माण तथा विघटन होता है।

Metastasis. विक्षेप—रक्त के माध्यम से शरीर के अन्य भागों में कैन्सर का प्रसार।

Microbes; micro-organisms. सूक्ष्म-जीव—वे जीव, जो कोरी आंख से नहीं दिखलाई दे सकते लेकिन जिन्हें सूक्ष्मदर्शी में देखा जा सकता है।

Micturition—मूत्रण—पेशाब करने की क्रिया।

Migraine. माइग्रेन—एक प्रकार का सिरदर्द, जो आवेशात्मक तनाव में हो सकता है और मस्तिष्क की आपूर्ति करने वाली रक्त वहिकाओं के विकार के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है।

Mole. मोल, तिल—बाह्यत्वचा और त्वचा दोनों की कुछ अतिवृद्धि, जिसमें वर्णक की अधिकता होती है।

Motor area—प्रेरक क्षेत्र—अपवाही तंत्रिका, जो पेशी में जाती है।

Mucous glands. श्लेष्मा ग्रंथि—श्लेष्मा का स्रवण करने वाली ग्रंथि।

Mucus. श्लेष्मा—स्नेहक पदार्थ, जो श्लेष्मा ग्रंथियों द्वारा स्रावित होता है।

Murmur. मर्मर—असामान्य हृद् ध्वनि।

Mutation. उत्परिवर्तन—आनुवंशिकता की प्रक्रिया में आकस्मिक परिवर्तन।

Myocarditis. हृद्पेशी शोथ—हृदय की पेशी सूजन।

Myocardium. हृद्पेशी—हृदय की मांसल भित्ति।

Myopia. निकटदृष्टिता, मायोपिया—यह अवस्था, जिसमें नेत्रगोलक बड़ा होता है और दूर की वस्तुएं ठीक से नहीं दिखाई देतीं।

Nasopharynx. नासा-ग्रसनी—ग्रसनी की ऊपरी गुहा, जो नाक के पीछे और मुंह की छत के ऊपर स्थित होती है।

Nephritis, वृक्कशोथ—गुर्दों की सूजन।

Neurasthenia. तंत्रिकावसाद, तंत्रिकादौर्बल्य—तंत्रिका श्रांति।

Neuron. न्यूरॉन, तंत्रिका कोशिका—तंत्रिका तंत्र की इकाई, जिसमें एक कोशिका और एक तंत्रिका-तंतु होता है।

Neurosis. विक्षिप्ति—एक मानसिक रोग, जिसमें तंत्रिका रचना में कोई हानि नहीं होती लेकिन जिसमें अपने वातावरण के प्रति समंजन न कर पाने के कारण रोगी व्यक्ति अपसामान्य प्रकार का व्यवहार करता है।

Nutrient. पोषक—खाद्य पदार्थ।

Nutrition. पोषण—भोजन को स्वांगीकृत करने की प्रक्रिया।

Obesity. स्थूलता—बहुत अधिक मोटापा।

Obsession. मनोग्रस्ति—ऐसा विचार, जो इच्छा के विरुद्ध मन में बैठ जाता है।

Oedema. शोफ—शरीर के अंतराकोशिक अवकाशों में अपसामान्य रूप से तरल की अत्यधिक मात्रा की उपस्थिति।

Oesophagus. ग्रासनली—वह नली, जो मुंह से आमाशय तक फैली होती है।

Ointment. मरहम—बाहर से लगाने या मलने के लिए प्रयुक्त किये जाने वाला वसीय औषधि योग।

Operation. शस्त्रकर्म—औजारों की सहायता से की गई क्रिया।

Ophthalmoscope. दृष्टिपटलदर्शी, आफ्थैलमोस्कोप—एक यंत्र, जो आंख के आंतरिक भाग का निरीक्षण करने के लिए प्रयुक्त होता है।

Optic nerve. दृक् तंत्रिका, जो आंख से मस्तिष्क तक जाती है यानी दृष्टि से संबद्ध तंत्रिका।

Optician. ऑप्टीशियन—लेन्स घिसने और चश्मे को फिट करने में विशेषज्ञ।

Organism. जीव—जटिल सचेतन प्रक्रिया अथवा काम जो क्रियात्मक रूप से विभिन्न अंगों का बना होता है और जो साथ ही एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं।

Orgasm. कामोन्माद—मैथुन में रतिज उत्तेजना की पराकाष्ठा।

Orthodontist. विकलदंतविज्ञानी—कुअधिधारण का संशोधन करने वाला विशेषज्ञ।

Orthopaedic. विकलांग—हड्डियों और जोड़ों के विकारों का संशोधन।

Osteomyelitis. अस्थिमज्जाशोथ—विविध प्रकार ऐ हड्डी का संक्रमण।

Otosclerosis. कर्णगहन, संपुट काठिन्य, आटोस्क्लेरोसिस—वह, जिसमें तंतुमयता के कारण सुनने के संवेद की हानि हो जाती है।

Palpitation. धड़कन—हृदय की अत्यधिक तीव्र गति, जो व्यक्ति द्वारा महसूस की जाती है।

Parasite. परजीवी—वह जीव जो दूसरे जीव के अंदर रहता है।

Paralysis. अंघात, लकवा, घात—किसी भाग में प्रेरक क्रिया की हानि।

Pasteurization. पास्चुरीकरण—दूध को गर्म करके रोगकारी सूक्ष्मजीवों को नष्ट करने और अन्य जीवाणुओं की वृद्धि रोकने का प्रक्रम।

Pathogenic. विकारी, रोगजनक—रोग उत्पन्न करने वाला।

Pencillin. पेनिसिलिन—फफूंदी से तैयार की जाने वाली प्रतिजीवी औषधि।

Pericurditis. परिहृद्‌शोथ, हृदयावरणशोथ—हृदय को आच्छादित करने वाली झिल्ली की सूजन।

Periosteum. पर्यस्थि कला—कड़ी झिल्ली जो हड्डियों को आवृत करती है।

Peristalsis. पुर:सरण—कृमि सरीखी गति, जिसकी सहायता से आहार नाल अपनी अंतर्वस्तुओं को धकेलती है।

Peritoneum. पर्युदर्या—उदरीय गुहा का आस्तर बनाने वाली झिल्ली।

Peritonitis. पर्युदर्याशोथ (पेरिटोनियम) की सूजन।

Pernicious anaemia. प्रणाशी अरक्तता—ऐसी अरक्तता, जिसमें लाल रक्त कोशिका उत्पादन के लिए आवश्यक पदार्थ की शरीर में कमी होती है।

Personality. व्यक्तित्व—शारीरिक, आवेशात्मक और मानसिक गुणों का मिश्रण, जो व्यक्ति का निर्धारण करते हैं।

Pharynx. ग्रसनी—गुहा जो नाक, मुंह और स्वरयंत्र के पीछे होती है और इनसे संपर्क रखती है।

Physiotherapy. भौतिक चिकित्सा—भौतिक साधनों द्वारा रोग का उपचार।

Pimple. पिटिका—त्वचा में छोटा उभार, जो स्थानिक रूप से संक्रमण से उत्पन्न होता है।

Plasma. प्लाज्मा, प्लाविक—कोशिकाओं के निकालने के बाद बच रहा रक्त का तरल अंश।

Pleural membrane. फुप्फुसावरणी कला—फेफड़ों को आच्छादित करने वाला दोहरा अस्तर।

Pleurisy. प्लूरिसी, फुप्फुसावरणशोथ—फुप्फुसावरण की सूजन।

Pneumonia. न्युमोनिया—फेफड़ों की सूजन।

Pneumophorax. न्यूमोथोरेक्स, वातवक्ष—फुप्फुसावरणी कोश में वायु की उपस्थिति।

Poliomyelitis. पोलियो—मेरुरज्जु और मस्तिष्क का विषाणु (वाइरस) संक्रमण।

Polypus. पोलीपस—श्लेष्मा-सतह से होने वाली मुलायम व वृंतकयुक्त वृद्धि; जैसे नाक आदि में।

Postnatal. प्रसवोत्तर, जन्मोत्तर—पैदा होने के बाद।

Postpartum. प्रसवोत्तर—प्रसूति के बाद।

Postal circulation. प्रतिहार परिसचरण—शिराओं का वह तंत्र, जो यकृत् में पचा भोजन पहुंचाता है।

Prodromal symptoms. पूर्वरूप लक्षण—वे लक्षण, जो रोग का संकेत देते हैं।

Progesterone. प्रोजेस्टेरोन—अंडाशयों द्वारा स्रावित होने वाले दो हॉरमोनों में से एक।

Prognosis. प्रग्ज्ञान, पूर्वानुमान—उपलब्धि (रिकवरी) के लक्षणों की प्रत्याशा करना।

Protein. प्रोटीन—भोजन, जो शरीर का निर्माण व मरम्मत करता है।

Protoplasm. जीवद्रव्य—आधारभूत चेतन पदार्थ जिससे सभी जीवधारियों का निर्माण हुआ है।

Psychiatry. मनोविकारचिकित्सा—आयुर्विज्ञान की वह शाखा, जो मानसिक बीमारी के निदान और उपचार से विशेष रूप से सम्बद्ध होती है।

Psychosis. मनोविक्षिप्ति, साइकोसिस—एक मानसिक बीमारी, जिसके दौरान ग्रस्त व्यक्ति वास्तविकता से दूर हो जाता है।

Psychosomatic. मन:कायिक—शरीर को प्रभावित करने वाला (रोग: जिसका मन से संबंध होता हैं)।

Pulmonary. फुप्फुसी—फेफड़ों से संबंद्ध।

Purgative. विरेचक—शक्तिशाली सारक या रेचक, जो वृहदांत्र को बड़ी जल्दी खाली कर देता है।

Pus. पूय—पीला गाढ़ा पदार्थ, जो शोथ या सूजन से उत्पन्न होता है।

Quack. नीम हकीम, छद्म चिकित्सक—अज्ञानी, अवैज्ञानिक अथवा छलिया व्यक्ति; अननुभवी चिकित्सक।

Quarantine. संगरोध, क्वारंटीन—संक्रमण की आशंका के कारण पृथक्करण।

Rabies. रेबीज, अलर्क—मस्तिष्क का घातक रोग, जो एक विषाणु द्वारा होता हैं और प्राय: शरीर में अलर्क वाले जानवर के काटने से प्रविष्ट होता है।

Radiation. विकिरण—वह प्रक्रम जिसमें रेडियोऐक्टिव पदार्थों से आंतरिक परिवर्तनों के कारण ऊर्जा मुक्त की जाती है।

Radiograph. ऐक्सरेचित्र, रेडियोग्राफ—ऐक्स-रे का फोटो।

Rash. विस्फोट, पित्तिका—त्वचा में अस्थायी प्रकार से फोड़े-फुंसियों का निकलना।

Reflex. प्रतिवर्त—मुड़ा हुआ अथवा पीछे की ओर घुमाव वाला; इच्छा के अनुसार नहीं बल्कि उससे स्वतंत्र।

Reflex action. प्रतिवर्त क्रिया—अनैच्छिक क्रिया।

Rehabilitation. पुनर्वास; पुनर्वासन, पुनरुत्थान—शारीरिक या आवेशात्मक रूप से अशक्त व्यक्तियों को लाभकारी कार्यों में लगाना।

Respiration. श्वसन—सांस लेने का प्रक्रम।

Renal circulation. वृक्कीय परिसंचरण—वह परिसंचरण, जिसमें रक्त महाधमनी से चलकर गुर्दों से होता हुआ फिर निम्न महाशिरा में वापस आ जाता है।

Respiration, external. बहि:श्वसन—फेफड़ों के वायु-कोशों की हवा और रक्तधारा में परस्पर गैस विनिमय।

Respiration, internal. अन्त:श्वसन—कोशिकाओं और रक्त धारा के बीच गैस विनिमय।

Response. अनुक्रिया—उद्दीपन के कारण होने वाली प्रतिक्रिया।

Rh factor. Rh घटक, रीसस घटक—कुछ लोगों के रक्त में विद्यमान एक प्रोटीन पदार्थ, जिनमें विशेष प्रकार का रक्त वर्ग होता है।

Rickettsia. रिकेट्सिया--एक प्रकार के सूक्ष्मजीव, जो केवल ऊतक कोशिकाओं के पदार्थ में ही जीवित रह सकते हैं।

Rods. शलाका दंड—आंख के तंत्रिका-सिरे, जो प्रकाश और अंधकार का विभेदन करते हैं और परिसरीय दृष्टि की क्षमता प्रदान करते हैं।

Rupture. विदार—हर्निया।

Sanitation. स्वच्छता—स्वास्थ्य के अनुकूल वातावरणी परिस्थितियों की स्थापना।

Schizophrenia. विखंडितमनस्कता— मनोविक्षिप्ति का एक प्रकार, जिसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व खंडित होता है।

Sclerosis. काठिन्य, स्क्लेरोसिस—किसी भाग या ऊतक का कड़ा या तंतुमय हो जाना।

Screening. स्क्रीनिंग, परेक्षण—परीक्षण; प्रतिदीप्त पर्दे पर ऐक्स-रे की सहायता से निरीक्षण करना।

Secretion. स्राव—ग्रंथि की सक्रियता से उत्पन्न उत्पाद।

Sedatives. शामक—वे औषधियां, जो तंत्रिक सक्रियता को मंद रखती हैं।

Senile dementia. जराजन्य मनोभ्रंश—बूढ़े लोगों में मस्तिष्क और तंत्रिका ऊतक का विघटन।

Sensory area. संवेदी क्षेत्र—प्रमस्तिष्क का वह भाग, जो संवेदी अंगों से आवेग ग्रहण करता है।

Sensory nerve. संवेदी तंत्रिका—वह तंत्रिका, जो संवेदी आवेगों को मस्तिष्क व मेरुरज्जु की ओर ले जाती है।

Septum, nasal. नासा पट—उपास्थि और मुलायम हड्डी की एक पतली चादर, जो नासा-गुहा को दाहिने और बाएं भाग में विभाजित करती है।

Serum. सीरम—रक्त का थक्के से पृथक् किया हुआ स्वच्छ अंश। इसका इंजेक्शन देने पर यह रोग के प्रति प्रतिरक्षा प्रदान कर सकता है।

Sinuses. विवर; खातिका—नासा अस्थियों की गुहाएं।

Sinusitis. वायुविवरशोथ—विवर की सूजन।

Skimmed milk. मलाई उतरा दूध—वह दूध, जिससे क्रीम निकाल ली गई हो।

Specialist. विशेषज्ञ—विज्ञान की किसी शाखा में पारंगत या कुशल व्यक्ति।

Sphincter. संवरणी, अवरोधिनी—छल्लेनुमा पेशी, जो प्राकृतिक रूप से किसी द्वार या छिद्र को बंद रखती है।

Sphygmomanometer. रक्तदाबमापी, स्फिग्मोमेनोमीटर—एक यंत्र, जो रक्त दाब की माप करता है।

Splint. स्प्लिंट, कुशा—एक कड़ी या लचीली युक्ति, जो विस्थापित या टूटी हड्डियों अथवा क्षतिग्रस्त जोड़ के स्थिरीकरण में प्रयुक्त होती है।

Stool. मल, पुरीस—आंत से विसर्जित होने वाली विष्ठा।

Sprain. मोच—वह क्षति, जो तब होती है जब कोई जोड़ आकस्मिक रूप से अधिक दूर घुमा या मरोड़ दिया जाता है।

Sputum. थूक, कफ, स्पूटम—खांसते समय फेफड़ों से निकलने वाला पदार्थ।

Stereoscopic vision. त्रिविम दृष्टि—तीन प्रकार के विस्तारों या विमों वाली दृष्टि अर्थात् गहराई, लम्बाई और चौड़ाई वाली दृष्टि।

Stethoscope. स्टेथोस्कोप—डाक्टरों का आला या वह यंत्र, जो श्वसन और हृदय की ध्वनि को सुनने के लिए प्रयुक्त होता है।

Stimulant. उद्दीपक, उत्तेजक—जीव अथवा उसके किसी भाग में जैविक ऊर्जा में द्रुत व अस्थायी वृद्धि करने वाला।

Stimulus. उद्दीपन—वह दशा, परिस्थिति अथवा समस्या, जो अनुक्रिया का कारण होती है।

Stroke. आघात—मस्तिष्क में होने वाला प्रमस्तिष्क रक्तस्राव। अचानक तीव्र गति से पड़ने वाला दौरा, जैसे लकवे या अंगघात का।

Stye. अंजनी, विलनी—पलक के उपांत पर होने वाला संक्रमण।

Subclinical. लक्षणहीन—जिसमें रोग के लक्षणों की अभिव्यक्ति न हो।

Subcutaneous. अवत्वक्, अधस्त्वक्—त्वचा के नीचे वाला।

Susceptibility. सुग्राह्यता—शीघ्रता से रोग ग्रहण करने का गुण; प्रतिरक्षा का विपरीत।

Symptom complex. लक्षण सम्मिश्र—उन लक्षणों का समुच्चय या समूह, जो एक साथ होते हैं।

Systemic circulation. दैहिक परिसंचरण—सामान्य शारीरिक रक्त परिसंचरण, जो फुप्फुसीय परिसंचरण के अलावा होता है।

Systolic pressure. प्रकुंचन—हृदय के संकुचन के दौरान धमनी रक्त दाब।

Tendon. कंडरा—एक कड़ा सूत्र, जो पेशी को हड्डी से जोड़ता है

Thrombosis. घनास्रता—रक्त वाहिकाओं में रक्त का स्कंदन या जमना।

Thrombus. थ्रॉम्बस, घनास्र—रक्त के स्कंदन या जमने से रक्त वाहिका अथवा हृदय की किसी गुहिका में बनने वाला प्लग या थक्का।

Tone. तान—पेशियों की वह अवस्था, जिसमें बिना दबाव के भी वे कुछ संकुचित हो जाती हैं।

Tonsillectomy. गलतुंडिका-उच्छेदन—टांसिलों को निकालने के लिए किया जाने वाला ऑपरेशन।

Tourniquet. टूर्निके—धमनियों के दबाने की युक्ति, जिससे कि रक्तस्राव को रोका जा सके।

Toxin. टॉक्सिन, जीवविष, विष—एक जहर जो जीवाणुओं द्वारा चेतन ऊतकों तथा अजीवित खाद्य पदार्थों में बनाया जाता है।

Toxoid. टॉक्सॉयड, जीवविषाभ—यह जीवविष, जिसे हानिरहित बनाने के लिए ताप अथवा रसायनों द्वारा क्षीण कर दिया जाता है।

Tranquilizers. शामक—औषधियों का समूह, जो आवेशात्मक तनाव को कम करने और मानसिक बीमारी में हर संभव उपचार के अध्ययन के निमित्त मनश्चिकित्सा में प्रयुक्त होता है।

Triple vaccine. ट्रिपल वैक्सीन—डिफ्थीरिया, कालीखांसी और टेटेनस के प्रति सुरक्षा प्रदान करने वाला संयुक्त टीका।

Tuberculin. ट्यूबरकुलिन—यक्ष्मा के जीवाणुओं को मारकर तैयार किया गया पदार्थ, जो यक्ष्मा की उपस्थिति का पता लगाने में प्रयुक्त किया जाता है।

Tumour. अर्बुद, गुल्म—शरीर में कोशिकाओं के पुंज की अपसामान्य वृद्धि।

Turbinates नासाशुक्तिका—गोल कटक, जो बाहरी दीवार से नासा-गुहिकाओं में निकले होते हैं।

Ulcer. व्रण—घाव के अतिरिक्त खुला दाह या फोड़ा।

Uraemia. यूरीमिया—रक्त में मूत्र-घटकों की उपस्थिति। वह अवस्था, जिसमें वृक्क-ऊतकों के वर्ज्य पदार्थों को रक्त से मुक्त करने में असफल होते हैं।

Vaccination. टीका—सुरक्षा के लिए ली गई कोई भी वैक्सीन।

Vaccine. वैक्सीन, टीका—वह पदार्थ, जो किसी को रोग के प्रति प्रतिरक्षा प्रदान करता है; किसी भी रोग का रूपांतरित विषाणु।

Venereal diseases. रतिज रोग—सुजाक और सिफिलिस सरीखे रोग, जो मैथुन वाले संपर्क से फैलते हैं।

Ventilation. संवातन—कमरों में ताजी हवा का प्रबंध।

Villi. अंकुर—आंत्र की दीवारों में श्लेष्मा झिल्ली के बारीक अंगुली जैसे प्रक्षेप।

Vital. जैव, जीव संबंधी—जीवन के लिए महत्वपूर्ण या आवश्यक।

Vital capacity. जैव क्षमता—वायु की वह मात्रा, जो बलकृत प्रश्वसन के बाद बलात् बाहर छोड़ी जा सकती है।

Vitamins. विटामिन—भोजन में पाए जाने वाले रासायनिक नियामक।

Vocation. व्यवसाय, धंधा—व्यक्ति के जीवनयापन का कार्य; पेशा।

Warts. वार्ट, अधिमांस; चर्मकील, मस्सा—बाह्य-त्वचा के श्रृंगी उद्वर्ध।

Weaning अपस्तन्य, स्तन्यमोचन—वह प्रक्रिया, जिसमें शिशुओं का स्तनपान करना छुड़वा दिया जाता है और उसे मुंह से ठोस भोजन लेना सिखलाया जाता है।

Widal test. वीडाल परीक्षण—रक्त में टॉयफायड एग्लुटिनिन के लिए किया जाने वाला परीक्षण।

Withdrawl symptoms. प्रत्याहार लक्षण निवर्तन लक्षण—व्यसनी द्वारा प्रदर्शित किए जाने वाले लक्षण, जबकि वह उस चीज से परहेज करने लगता है जिसका कि वह पहले आदी हो चुकता है।

● ● ●

अंग्रेजी-हिंदी शब्दावली

Abdomen उदर
Abortion (Miscarriage) गर्भपात, वृद्धिरोध
Acne पनसिका
Acute तीव्र
Adenoid ग्रंथ्याभ
Adrenal अधिवृक्क
Adult प्रौढ़
Aging वयोवृद्धि
Air sac वायुकोश
Alimentary canal पोषण नाल
Allergy ऐलर्जी/प्रत्यूर्जता
Alveolus/air sac वायुकोश
Amenorrhoea अनार्तव
Amoebiasis अमीबारुग्णता
Anabolism उपचय
Anaemia अरक्तता
Anaesthesia संज्ञाहरण
Anaesthesiology संज्ञाहरणविज्ञान
Anatomy शरीररचनाविज्ञान/शारीर
Angina हृद्शूल
Antenatal जन्मपूर्व
Anterior अग्र
Antibiotic प्रतिजीवी
Antibody प्रतिपिंड
Antigen प्रतिजन
Antiseptic पूतिरोधी
Antiserum प्रतिसीरम
Antitoxin प्रतिजीवविष
Anus गुदा
Aortic valve महाधमनीय कपाट
Appendicitis उंडुकपुच्छशोथ
Appendix उंडुकपुच्छ

Arteriosclerosis धमनीकाठिन्य
Artery धमनी
Artificial respiration कृत्रिम श्वसन
Ascending colon आरोही बृहदांत्र
Asexual अलैंगिक
Aspirator चूषित्र
Assimilation स्वांगीकरण
Asthma दमा
Astigmatism दृष्टिवैषम्य
Ataxia गतिविभ्रम
Atrophy अपुष्टि
Auricle अलिन्द
Autoimmune diseases स्वतः प्रतिरक्षी रोग
Autonomic स्वसंचालित

Bacteria जीवाणु/बैक्टीरिया
Bacteriologist जीवाणुविज्ञानी
Balanced diet संतुलित आहार
Basophyl क्षारकरागी
Bed pan शय्यामलपात्र
Bed sore शय्या व्रण
Benign सुदम्य
Biceps द्विशिरस्का
Bicuspid valve द्विकपर्दी कपाट
Bile पित्त
Biological जैविक
Biology जीवविज्ञान, जैविकी
Biopsy जीवऊति परीक्षा
Blind spot अंध बिंदु
Block खंड
Blood रक्त, रुधिर
Blood group रक्त वर्ग

Blood pressure रक्त दाब
Blood transfusion रक्ताधान
Blood vessel रक्तवाहिका
Bone हड्डी/अस्थि
Bony अस्थिल
Booster अनुवर्धक
Brain मस्तिष्क
Bronchiole श्वसनिका
Bronchitis श्वसनीशोथ
Bronchus श्वसनी
Budding मुकुलन

Cancer कैन्सर
Canine रदनक
Capillary केशिका
Capsule संपुट
Cardiovascular हृद्वाहिका
Caries क्षरण, दंतक्षय
Carminative वायुसारी
Cartilage उपास्थि
Catabolism अपचय
Cataract मोतियाबिन्दु
Cavity गुहा, गुहिका
Central Nervous System केंद्रीय तंत्रिका तंत्र
Cerebellum अनुमस्तिष्क
Cerebrum प्रमस्तिष्क
Cervical ग्रीवा/ग्रैव
Cervix ग्रीवा
Chamber कक्ष
Channal प्रणाल
Chemical रासायनिक
Chicken pox छोटी माता
Cholera हैजा
Chorion जरायु
Choroid रंजितपटल
Chromosome गुणसूत्र
Chronic चिरकारी

Ciliary body रोमक पिंड
Circulation परिसंचरण
Climacteric जननिवृत्ति
Clot स्कंद/थक्का/आतंच
Clotting स्कन्दन/आतंचन
Cochlea कर्णावर्त
Coitus मैथुन
Colon बृहदांत्र
Colourblindness रंगांधता
Common cold जुकाम
Communicable disease संचारणशील रोग
Community health समुदाय स्वास्थ्य
Complication उपद्रव
Cone शंकु
Conjunctiva नेत्रश्लेष्मला
Conjunctivitis नेत्रश्लेष्मलाशोथ
Contaminated संदूषित
Contagious सांसर्गिक
Contraceptive गर्भनिरोधक
Control नियंत्रण
Convalescence उल्लाघ
Convulsion आक्षेप
Cornea स्वच्छमंडल
Coronary परिमंडली, परिहृद्
Coronary artery हृद्धमनी
Coronary thrombosis हृद्धमनी घनास्रता
Corpuscle कणिका
Cow pox गो शीतला
Cranial कपालीय
Cranium कपाल
Cretinism अवटुवामनता
Crossed eyes व्यत्यस्त नेत्र
Crown शिखर
Culinary guide खाद्य संदर्शिका
Culture संवर्ध
Cure उपचार
Cuticle उपत्वचा

English	हिंदी
Daughter cell	संतति कोशिका
Deep fascia	गंभीर प्रावरणी
Deformity	विरूपता
Degeneration	व्यपजनन
Dentine	दंतधातु
Denture	कृत्रिम दंतावली
Descending colon	अवरोही बृहदांत्र
Desensitization	विसुग्राहीकरण
Development	परिवर्धन
Diabetes	मधुमेह
Diagnosis	निदान
Diagram	1. आरेख, 2. चित्र
Diaphragm	मध्यपट
Diarrhoea	प्रवाहिका
Diastole	अनुशिथिलन
Diet	आहार
Disability	अशक्तता
Discharge	आस्राव, विसर्जन
Differential diagnosis	सापेक्ष निदान
Digestion	पाचन
Digestive	पाचक
Diphtheria	रोहिणी/डिफ्थीरिया
Disease	रोग, व्याधि
Disinfection	विसंक्रमण
Disorder	विकार
Dispensary	औषधालय
Duct	वाहिनी
Duodenum	ग्रहणी
Dysentery	पेचिश
Dysfunction	दुष्क्रिया
Dyspnoea	कष्टश्वास
Ear	कर्ण, कान
Ear lobe	कर्णपल्लव
Ear ossicle	कर्ण अस्थिका
Ecology	पारिस्थितिकी
Ectoderm	बहिर्जनस्तर
Egg	अंड, अंडा

English	हिंदी
Elephantiasis/Filariasis	श्लीपद/फाइलेरिया रोग
Embryo	भ्रूण
Emergency	आपात्
Enamel	दंतवल्क, इनेमल
Enema	गुदवर्तिका, एनिमा
Endemic	स्थानिक
Endocrine gland	अंतःस्रावी ग्रंथि
Endoderm	अन्तर्जनस्तर
Environment	1. परिस्थिति, 2. वातावरण, पर्यावरण
Eosinophil	इओसिनरागी
Epidemic	जानपदिक
Epidemiology	जानपदिक रोगविज्ञान
Epidermis	बाह्यत्वचा
Epididymis	अधिवृषण
Epithelium	उपकला
Ethmoidal	झर्झरिका
Etiology	हेतुकी
Eustachian tube	यूस्टेशी नलिका
Exhaustion	श्रांति
Exocrine	बहिःस्रावी
Expiration	निःश्वसन
Fallopian tube	डिम्बवाहिनी नली/फैलोपी नलिका
Family planning	परिवार नियोजन
Ferment	किण्व
Fermentation	किण्वन
Fertilization	निषेचन
Fever	ज्वर
Fibrom	तंतु-अर्बुद
First aid	प्रथम सहायता
Fissure	विदर
Fistula	नालव्रण
Flatulence	आध्मान
Flea	पिस्सू

Fontanelle कलान्तराल
Forearm प्रकोष्ठ
Fracture अस्थिभंग
Frontal lobe ललाट पालि

Gall bladder पित्ताशय
Ganglion/Ganglia गंडिका
Gastric juice जठर रस
Gastritis आमाशयशोथ
Gauze गॉज़/जाली
Genetics आनुवंशिकी
Geriatrics जराचिकित्सा
Germ रोगाणु
Germinal layer जननिक स्तर
Gestation सगर्भता अवधि
Gland ग्रंथि
Glaucoma सबलकाय, ग्लॉकोमा
Glomerulus कोशिकास्तवक
Glycosuria शर्करामेह
Gonad जनद, जननग्रंथि
Gonorrhea सुजाक
Goitre घेंघा
Grey matter धूसर द्रव्य
Gum मसूढ़ा

Haemolytic रुधिरलयनी
Hay fever पराग ज्वर
Health स्वास्थ्य
Heart हृदय
Heart disease हृद्रोग
Heart failure हृद्पात
Hepatitis यकृत्शोथ
Heredity आनुवंशिकता
Hernia हर्निया
High blood pressure अति रक्त दाब
Histochemistry ऊतक-रसायन
Hook worm अंकुश कृमि
Horny शृंगी
Hydrocoel जलवृषण
Hydrophobia जलभीति/हाइड्रोफोबिया
Hydrotherapy जलचिकित्सा
Hyperacidity अतिअम्लता
Hypermetropia दूरदृष्टिता/दीर्घदृष्टि
Hypothalamus अधश्चेतक

Immunity प्रतिरक्षा
Immunization रोगक्षमीकरण, प्रतिरक्षीकरण
Impulse आवेग
Incidence आघटन
Incisor कृंतक
Incus निहाई
Infection संक्रमण
Inferior Vena Cava निम्न महाशिरा
Infective संक्रामी
Infestation पर्याक्रमण
Ingestion अन्तर्ग्रहण
Inguinal वंक्षण
Inhalation अभिश्वसन
Inheritance वंशागति
Inflammation शोथ
Insecticide कीटनाशी
Inspiration प्रश्वसन
Intercostal muscles अन्तरापशुर्क पेशियां
Internal आन्तरिक
Intravenous अंत:शिरीय
Investigation अन्वेषण, खोज
Involuntary अनैच्छिक
Iris परितारिका
Irritation क्षोभ
Islets of Langerhans लैंगरहेन्स द्वीपिकाएं
Isolation पृथक्करण
Isotope समस्थानिक

Jaundice पीलिया/कामला

Joint जोड़/संधि

Kidney वृक्क
Kidney tray वृक्क ट्रे

Laboratory प्रयोगशाला
Large intestine/colon बड़ी आंत/बृहदांत्र
Larva डिम्भक
Laryngitis स्वरयंत्रशोथ
Larynx स्वरयंत्र
Lateral पश्र्वीय
Laxative मृदुविरेचक
Lesion विक्षति
Ligament स्नायु
Liver failure यकृत्पात
Lobe पालि
Lobule पालिका
Longitudinal अनुदैर्घ्य
Lung फेफड़ा, फुप्फुस
Lymph लसीका
Lymph node लसीका पर्व
Lymphocyte लसीका कोशिका

Malignancy दुर्दमता
Malignant दुर्दम
Malnutrition कुपोषण
Malleus घन
Management प्रबंध
Marasmus सूखारोग
Mastoiditis कर्णमूलशोथ
Measles खसरा, मीजल्स
Medicine 1. औषध, भेषज 2. आयुर्विज्ञान 3. कायचिकित्सा 4. औषधि
Medicine chest दवाई पेटी
Medulla 1. अंतस्था 2. मज्जा
Medulla oblongata मेरुरज्जु शीर्ष
Membrane झिल्ली, कला
Meningitis मस्तिष्कावरणशोथ
Menopause रजोनिवृत्ति
Menstruation ऋतुस्राव/रजोधर्म/आर्तव
Metabolism चयापचय
Microbe सूक्ष्मजीव
Microscope सूक्ष्मदर्शी
Midwife प्रसूति सहायक
Miliary tuberculosis कंगुयक्ष्मा
Milk teeth दूध के दांत
Molar चर्वणक
Monocyte एककेन्द्रक श्वेतकोशिका
Motor nerve प्रेरक तंत्रिका
Mucous membrane श्लेष्मा झिल्ली
Muscle पेशी
Myopia निकटदृष्टिता

Nasal नासा
Necrosis ऊतकक्षय
Nephron वृक्काणु
Nerve तंत्रिका
Nerve cell तंत्रिका-कोशिका
Nerve fibre तंत्रिका तंतु
Neurolgia तंत्रिकार्ति
Neuritis तंत्रिकाशोथ
Neurosis विक्षिप्ति
Non-specific immunity अविशिष्ट रोगक्षमता
Nose नाक
Notification अधिसूचना
Nucleus केन्द्रक
Nursing परिचर्या
Nutritional disorders पोषणज विकार

Objective manifestations यथार्थ अभिव्यक्ति
Obstetrics प्रसूतिविज्ञान
Oedema शोफ
Oesophagus/gullet ग्रासनली
Omentum वपा
Optic nerve दृक् तंत्रिका

Optimum	इष्टतम
Orbit	नेत्रगुहा, नेत्रकोटर
Organ	अंग
Osteomalacia	अस्थिमृदुता
Otosclerosis	कर्णगहन सम्पुट काठिन्य
Ovary	अंडाशय
Ovulation	अंडोत्सर्ग
Ovum	अंडाणु
Oxygenation	आक्सीजनीकरण
Pacemaker	गतिप्रेरक
Palliative	प्रशामक
Pancreas	अग्न्याशय
Papule	पिटिका
Paralysis	पक्षाघात, लकवा
Parasite	परजीवी
Parathyroid	परावटु
Parotid gland	कर्णपूर्व ग्रंथि
Pathology	विकृतिविज्ञान
Pelvic girdle	श्रोणि मेखला
Pelvis	श्रोणि
Penis	शिश्न
Peripheral	परिसरीय
Peristalsis	पुर:सरण
Peritoneum	पर्युदर्या
Permanent	स्थायी
Pernicious anaemia	प्रणाशी अरक्तता
Pharmacology	भेषजगुणविज्ञान
Pharynx	ग्रसनी
Physical	भौतिक
Physiology	शरीरक्रियाविज्ञान
Physiotherapy	भौतिकचिकित्सा
Pigment	वर्णक
Piles	बवासीर, अर्श
Pimple	पिटिका
Pituitary	पीयूषिका
Placenta	अपरा
Platelet	बिम्बाणु
Poisoning	विषाक्तन
Posterior	पश्ज
Postnatal	जन्मोत्तर/प्रसवोत्तर
Posture	संस्थिति
Predisposition	पूर्वप्रवृत्ति
Pregnancy	सगर्भता
Premolar	अग्रचर्वणक
Presbyopia	जरादूरदृष्टि
Preventive Medicine	निरोधक आयुर्विज्ञान
Prickly heat	अंघौरी/घर्मराजिका
Primary	प्राथमिक
Primary Health Centre	प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र
Prognosis	पूर्वानुमान
Proliferation	प्रचुरोद्भवन
Prophylaxis	रोगनिरोध, निरोध
Prostate	पुरस्थ
Protoplasm	जीवद्रव्य
Psychosis	मनोविक्षिप्ति
Puberty	यौवनारम्भ
Pulse	स्पंद, नाड़ी
Pupil	तारा
Purgative	रेचक
Pus	पूय
Pustule	पूयस्फोटिका
Rabies	अलर्क
Radioactive isotope	रेडियोसक्रिय आइसोटोप
Radius	बहि:प्रकोष्ठिका
Rash	पित्तिका
Rationalization	यौक्तिकीकरण
Reaction	प्रतिक्रिया; अभिक्रिया
Rectum	मलाशय
Red blood corpuscle	लाल रक्त कणिका
Reflex action	प्रतिवर्ती क्रिया
Rehabilitation	पुनरुत्थान
Relapsing fever	पुनरावर्ती ज्वर

Relaxation शिथिलन
Replacement प्रतिस्थापन
Reproduction जनन
Reproductive organ जननेंद्रिय/जनन-अंग
Respiration श्वसन
Retina दृष्टिपटल/रेटीना
Rheaumatic fever आमवात ज्वर
Rod शलाका
Round worm गोल कृमि
Routine नेमी

Saliva लार/लाला
Sanitation स्वच्छता
Scald तप्तद्रवदाह
Schizophrenia विखंडित व्यक्तित्व
Scale शल्क
Scabies पामा
Sciatic nerve आसन तंत्रिका
Sclera श्वेतपटल
Scrotum वृषण-कोश
Secondary द्वितीयक
Secretion स्राव; स्रवण
Section काट, सेक्शन
Semicircular canal अर्धवृत्ताकार नलिका
Seminiferous tubule शुक्रजनक नलिका
Sensation संवेदना
Sensitivity सुग्राहिता
Sensory संवेदी
Sepsis पूतिता
Septum पट
Sex लिंग
Sexual लैंगिक
Shock स्तब्धता
Sign चिह्न
Sinusitis वायुविवरशोथ
Skeleton कंकाल/पंजर
Skin त्वचा

Skull करोटि, खोपड़ी, कपाल
Small intestine छोटी आंत/क्षुद्रांत्र
Sociology समाजविज्ञान
Sperm शुक्राणु
Sphenoidal जतूक
Sphincter अवरोधिनी
Spinal cord मेरुरज्जु, सुषुम्ना
Spleen प्लीहा
Sputum थूक, कफ
Sterility बंध्यता
Stapes रकाब
Sterilized निर्जीवाणुक
Squint भेंगापन
Stomach आमाशय
Stone अश्मरी, पथरी
Strangulation विपाशन
Structure संरचना
Subclinical लक्षणहीन
Subcutaneous अवत्वचीय
Submicroscopic उपसूक्ष्मदर्शी
Superior Vena Cava ऊर्ध्व महाशिरा
Surgery शल्यविज्ञान, शस्त्रकर्म
Survival उत्तरजीविता
Susceptibility सुग्राह्यता
Syndrome संलक्षण
Systemic दैहिक
Symptoms लक्षण
System तंत्र
Systole प्रकुंचन

Table 1. सारणी 2. मेज, टेबल
Tape worm फीता कृमि
Temperature तापमान
Tendon कंडरा
Testis वृषण
Tetanus धनुस्तम्भ/टेटेनस
Therapeutics चिकित्साशास्त्र

Thorax वक्ष
Thyroid अवटु
Tissue ऊतक
Tongue जिह्वा, जीभ
Toxaemia विषरक्तता
Toxoid जीवविषाभ
Trachea श्वासनली
Tracheitis श्वासप्रणालशोथ
Traction कर्षण
Trachoma रोहे
Transverse colon अनुप्रस्थ बृहदांत्र
Tranquilizer प्रशांतक
Triceps त्रिशिरस्का
Tricuspid valve त्रिकपर्दी कपाट
Triple vaccine त्रिविध वैक्सीन/ट्रिपल वैक्सीन
Tubectomy नलिका-उच्छेदन
Tubercle bacillus यक्ष्मा दंडाणु
Tuberculosis यक्ष्मा
Tumour अर्बुद
Tympanic membrane कर्णपटह झिल्ली

Ulcer व्रण
Ulna अंतःप्रकोष्ठिका
Ureter गवीनी
Urethra मूत्रनली/मूत्रमार्ग
Urinary bladder/bladder मूत्राशय
Uterus गर्भाशय
Uvula काकलक

Vaccine टीका/वैक्सीन
Vagina योनि
Varicose अपस्फीत
Vas deferens शुक्रवाहिका
Vasectomy शुक्रवहा-उच्छेदन
Vein शिरा
Vena cava महाशिरा
Veneral diseases रतिज रोग
Ventilation संवातन
Ventricle निलय
Vertebra कशेरुका
Vesicle पुटिका, आशय
Vessel वाहिका
Virus विषाणु/वाइरस
Vital statistics जन्म-मरण सांख्यिकी
Voluntary ऐच्छिक
Vomitting कै/वमन

Weaning स्तन्यमोचन
White blood cell श्वेत रुधिर कोशिका
White matter श्वेतद्रव्य
Whooping cough/Pertussis काली खांसी/कुकुर खांसी
World Health Organisation विश्व स्वास्थ्य संगठन
Worm कृमि

Yellow spot पीतबिंदु

• • •

अनुक्रमणिका

• • •

जुगनु ऑफसेट, दिल्ली-110032 द्वारा मुद्रित